वर्ष २] सस्ती-साहित्य-माला [पुस्तक ५

चीन की आवाज़



अनुवादक
वैजनाथ महोदय बी० ए०

चीन की आवाज़

अर्थात्

[लॉवेज डिकिन्सन के "Letters from John Chinaman" का हिन्दी अनुवाद]



अनुवादक

बैजनाथ महोदय बी० ए०



प्रकाशक—

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मंडल

अजमेर



प्रथम बार]　　१९२७　　[मूल्य ।-)

प्रकाशकः—
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती है। मंडल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम पुस्तक के अन्त में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नंबर यहाँ लिख रखिये ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें।

मुद्रक—
गङ्गाप्रसाद भोतीका,
एम० ए०, बी० एल०, काव्यतीर्थ
"वणिक् प्रेस"
१, सरकार लेन,
कलकत्ता

दो शब्द



चीन में आजकल जो स्वाधीनता का युद्ध हो रहा है उसे ध्यान में रखते हुए यह पुस्तक चीन का लोक-हृदय जानने में पाठकों की बड़ी सहायता करेगी ऐसी हमें आशा है। मूल पुस्तक अंगरेजी में है। गुजराती अनुवाद के पाठकों को उसका परिचय देने के लिए गुजरातके विख्यात साहित्य-मर्मज्ञ श्री काका कालेलकरजी ने जो प्रस्तावनात्मक 'परिचय' लिखा है उसे तथा उसी पुस्तक के अन्त में दिये हुए उनमें 'सहचार' नामक निबन्ध को भी इस पुस्तक में ले लिया है। साथ ही गुजराती अनुवादक महाशय ने स्थान स्थान पर जो उपयोगी टिप्पणियां दी हैं उनका हिन्दी अनुवाद भी इस पुस्तक के अन्त में प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए हम लेखक तथा प्रकाशक महाशय के हृदय से अनुगृहीत हैं।

प्रकाशक

लागत का ब्योरा

कागज़	...	...	१३५) रु०
छपाई	...	...	१३०) ,,
बाइंडिंग	...	...	१५) ,,
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च			१७०) ,,

कुल ४५०) रुपया

कुल प्रतियां २१००

लागत मूल्य प्रति कापी =)॥

परिचय



अंगरेजी में एक किताब है Letters of John Chinaman. अब तो वह पुरानी हो गई। पर फिर भी अंगरेजी साहित्य में तो उसका स्थान अब भी ऊंचा ही है। दो संस्कृतियों का अध्ययन, इतने समभावके साथ उनकी तुलना, और सो भी इतनी मजेदार शैली में शायद ही किसीने की हो। तुलना संक्षिप्त पर साथ ही उतनी ही अधिक विशद भी है। बरसों पहले महात्माजी ने इस पुस्तक का साररूप अनुवाद देने के लिए उसे अपने हाथ में लिया था और उनके 'इण्डियन ओपीनियन' में 'पूर्व और पश्चिम' शीर्षक

वाले लेख में वह सार छप भी चुका । अतः गुजराती है पाठकों के लिए यह वस्तु अपरिचित नहीं । * फिर भी यह सोच कर कि, इस उत्कृष्ट ग्रन्थका संपूर्ण अनुवाद भी गुजराती साहित्य में एक उपादेय चीज़ होगी, इसको प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ-कार ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि ये पत्र एक ऐसे देशभक्त तथा मानवप्रेमी चीनी गृहस्थ द्वारा लिखे गये हैं, जो इंग्लैंड में रह चुका है, वहां की सभ्यता को हजम कर चुका है तथा जो अंगरेजी जनता में अपने देश के विषय में फैली हुई गलतफहमी को दूर करने के लिए लालायित है। पर बात तो यह है कि, लोवेज़ डिकिन्सन स्वयं ही बड़े ही सुसंस्कारी अंगरेज़ हैं। अपने देश की सरकार द्वारा चीन के साथ जो अन्याय हो रहा था, उसे देख कर उनकी सात्विकता तथा न्यायनिष्ठा को बड़ा आघात पहुंचा। चीन राष्ट्र, उसकी संस्कृति,तथा उसका स्वातंत्र्य, इन तीनों के प्रति ग्रन्थकार के दिल में सहानुभूति है। और यूरोपियन राष्ट्र अपने स्वार्थ के कारण अंधे होकर जिस तरह पूर्वीय देशों को लूट रहे हैं, तथा उनका तेजोवध कर रहे हैं, उसे देखकर, अपने देश के लोगों को एक बार चिता देने की इच्छा से उन्होंने यह पुस्तक लिखी है। "मानव-जीवन की सफलता के विषय में प्रत्येक राष्ट्र का आदर्श भिन्न-भिन्न हो सकता है। पर फिर भी प्रत्येक में अपनी अपनी विशेषता भी जरूर होती है। क्षीण-बल राष्ट्रों में भी इतनी ऊंची संस्कृति हो सकती है, जो अत्यंत बलवान् राष्ट्रों की संस्कृति की अपेक्षा श्रेष्ठ हो। और संभव है, मानव-जाति को

---

* यह परिचय 'काका साहब'ने गुजराती अनुवाद के लिए लिखा था।

उसीसे शान्ति प्राप्त हो।" इत्यादि विचार विजयमत्त राष्ट्रों के सामने पेश करने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है, और वह प्रयत्न पूर्णतया सफल भी हुआ है। यह सत्य है, कि इंग्लैंड के दबे छिपे तथा कौशलपूर्ण हमलों से अकुला कर, कोई पचीस वर्ष पहले चीनियों ने स्थान स्थान पर जो उपद्रव तथा बलवा किया था, उसी प्रसंग को ले कर ये पत्र लिखे गये हैं;परन्तु इस छोटी सी पुस्तक में वस्तुत: हमारे युग के उसी विराट प्रश्न की चर्चा की गई है,उन्हीं विनाशक परिणामों की आलोचना की गई है जो पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा पूर्व के राष्ट्रों के सताये जाने पर अनिवार्यतः उत्पन्न होंगे।

एक अत्यत महान् तथा नाजुक विषय पर कैसी अधिकार-युक्त चर्चा! दोनों सभ्यताओं के प्रति समदृष्टि रखते हुए एक भी पक्ष के दिल को किसी प्रकार की चोट न पहुंचाते हुए, तथा दोनों पक्षोंमें सद्भावजात ऐक्य साधन की इच्छा से, इतनी संक्षिप्त पर साथ ही प्रभावोत्पादक शैली में किया गया यह प्रयत्न साहित्यक्षेत्र में सचमुच अपूर्व है! पहले पहल तो पाठक इस पुस्तक द्वारा इस तरह आकर्षित हो जाता है, कि एक उपन्यास की तरह इसे हाथ में लेते ही समाप्त करने पर ही इसे छोड़ने को जी चाहता है। पर यही इसका एक दोष भी कहा जा सकता है। अतः गंभीर विषय तथा उसकी अधिकारयुक्त चर्चा का अध्ययन तो खूब ध्यान के साथ और बार-बार होना बड़ा जरूरी है।

लेखक ईसाई धर्म तथा समस्त धर्मों के प्रति जिस दृष्टि-कोण से देखते हैं, वह भी पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये विना नहीं रह सकता। धार्मिकता का वह कम आदर नहीं करता। तथापि रूढ़ ईसाई धर्म की उपयोगिता के विषय में उसे

गहरा संदेह है। लेखक के दृष्टिकोण को देख कर वह समाज जरूर सन्तुष्ट होगा, जो शास्त्रों के शब्दार्थ की मूर्ति-पूजा से घबड़ा गया है। हां, संभव है कितने ही लोगों को इसमें कुछ कुछ नास्तिकता की बू तक आवे। पर ऐसे पाठकों को याद रखना चाहिए कि डिकिन्सन के मुख्य कथन को इससे कोई बाधा नहीं पहुंचती। पाठकों को यह भी शङ्का हो सकती है, कि चीनियों का कान्फ्यूशियनधर्म सचमुच इतना बुद्धिवादी है भी या नहीं, जितना कि ग्रन्थकार बता रहा है? पर यह शङ्का भी इस पुस्तक के विषय में कोई बाधा नहीं पहुंचा सकती। पाठक तटस्थभावसे ग्रन्थकार के प्रत्येक विधान को जांच लें और अन्त में वे जरूर इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि भिन्न भिन्न परम्परा वाले दो समाजों के बीच, न्याय और सहयोग संस्थापित करने के लिए पारस्परिक व्यवहार में वह संस्कारी समभाव होना एक अनिवार्य वस्तु है, जिससे कि लेखक ने इस ग्रन्थ में काम लिया है।

शुरू से ही पाठकों को ग्रन्थकार की शैली में एक विशेषता दिखाई देगी। किसी बात का विवेचन करते हुए, उसे पद-पद पर अपने दायें-बायें देखने की आदत है। लेखक इस बात के विषय में बराबर चिन्तित है, बड़ा सतर्क है, कि पाठक उसका आशय पूरी-पूरी तरह समझ लें, कहीं गलत ख्याल न हो, कोई बात रह न जाय। यही नहीं, बल्कि अपने स्थान को छोड़ कर उसके पेश होने में देरी तक न होने पावे। इस तरह आवश्यक मनोभूमिका तैयार करते ही वह तेजी से आगे बढ़ता चला जाता है। ग्रन्थकार की शैली से तादात्म्य होते ही हम भी इस बात को महसूस करने लग जाते हैं कि इस विषय को दूसरी तरह पेश ही नहीं किया जा सकता था।

॥

कार्लाइल ने ठीक ही कहा है, कि भाषाशैली कहीं लेखक की पोशाक तो है नहीं जो उसे वह जब चाहे पहन ले और उतार दे। वह तो उसकी सजीव त्वचा है। इसी कथन को हम जरा व्यापक रूप में इस तरह पेश कर सकते हैं कि प्रत्येक लेखक अपने संस्कार तथा मनोरचना के अनुसार और विषयानुरूप एक विशिष्ट शैली में ही अपने विचारों को पेश कर सकता है। यह छोटी सी पुस्तक इस सिद्धान्त का एक उत्कृष्ट नमूना है। भाषा की सुविधा के ख्याल से अनुवाद के साथ-साथ, शैली में भी कुछ-कुछ परिवर्तन करके, इस वस्तु को एक जुदी तरह से पेश किया जा सकता था। परन्तु अनुवादक का धर्म इसकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म है। उसे तो चाहिए कि वह ग्रन्थकार को, जहां तक हो सके, अपने मूल स्वरूप ही में नवीन पाठकों के सामने पेश करे। हां, यदि ऐसा करने में अनुवाद की भाषा में कोई आंतरिक कठिनाई ही हो तब तो दूसरी बात है। परन्तु अनुवादक को तो चाहिए कि वह अपने देश भाइयों के सामने भिन्न-भिन्न प्रदेश के उच्च विचारकों के चिंतन-फल के साथ साथ उनकी नई-नई शैलियों को भी पेश करके अपनी भाषा को समृद्ध बनाता रहे। परन्तु यह करते हुए उसे एक बात जरूर ध्यान में रखनी चाहिए। यह प्रयत्न वह अपनी ही जिम्मेदारी पर करे, इस तरह का द्विविध प्रयत्न करते हुए, यदि वह सफल हुआ, तब तो धन्यवाद का पात्र होगा, अन्यथा 'अनुवादक' का सिक्का उसके मत्थे मढ़ दिया जायगा। और कहीं एक बार भी उसके सिर पर यह सिक्का मढ़ा गया कि साहित्य-क्षेत्र में इस तरह बिगड़ी हुई आबरू को पुनः प्राप्त करना उसके लिए लोहे के चने चबाने के समान ही दुष्कर होगा। साहित्य सेवक

चाहे फांसी की सजा को तीन बार बरदास्त कर लेगा पर 'अनुवादक' के सिक्के को तो वह कभी बरदास्त नहीं कर सकता।

अनुवाद की जोखिमों के बारे में इतना कह देने पर अब प्रस्तुत अनुवाद के विषय में केवल इतना ही कह देना काफी होगा कि यह अनुवाद उपर्युक्त दृष्टि से सफल हुआ है। मातृभाषा का उपासक स्वभाषा की शुद्धि के विषय में तो जरूर ही जागृत रहता है। पर भाषान्तर पूरी तरह सफल तभी हो सकता है जब अनुवादक अनुवाद्य ग्रन्थ के विषय को पूर्णतया समझ गया हो उसे हज़म कर गया हो तथा वह मूल-लेखक की विवेचन-पद्धति के साथ समभाव रख सकता हो। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर अनुवाद की सफलता के विषय में जरा भी चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।

प्रत्येक भाषा का लेखक अपने पाठकों की मनोभूमिका का अंदाज़ लगा लेता है। हमारे यहां धार्मिक तथा सामाजिक ग्रन्थों को लिखते समय लेखक इस बात को मान कर ही अपना ग्रन्थ लिखना शुरू करता है कि पाठक अमुक अमुक बातें तो जरूर ही जानते हैं। यूरोपियन लोग इस पूर्व संदर्भ को नहीं जानते,इसलिये उन्हें इन ग्रन्थों को पढ़ते समय लेखक का उद्देश समझने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। उसी प्रकार यूरोप के ग्रंथ भी यही समझ कर लिखे होते हैं कि वहां की सामाजिक मान्यताएं, इतिहास, अर्थशास्त्र की मीमांसा तथा प्रचलित साहित्यिक उपमाओं आदि का ज्ञान पाठकों को जरूर ही होगा। पर यदि उसी वस्तु को हम अपने पाठकों के सामने पेश करना चाहें, तो हमें उन

अध्याहृत कल्पनाओं को उनके लिए अवश्य ही विशद कर देना होगा।

इस आवश्यकता को ध्यान में रख कर जहां कहीं अनुवादक को ऐसी सहायता देना जरूरी मालूम हुआ, उन्होंने टिप्पणियां जोड़ दी हैं। पर यदि किसी प्रसिद्ध लेखक ने अपने लेखों में इसी विषय से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात का सुन्दर तथा स्पष्ट विवेचन किया है तो अनुवादक ने कितने ही स्थानों पर उतना हिस्सा उस लेखक के लेखों से ही उद्धृत कर लिया है। इससे पाठकों का एक विशेष लाभ भी हुआ है। विषय के स्पष्टीकरण के साथ-साथ इसी विषय पर अनेक विचारकों के विचार उन्हें अनायास मिल जाते हैं। विद्यार्थियों को इससे यह लाभ है कि प्रस्तुत पुस्तक के अतिरिक्त इसी विषय पर उन्हें अन्य कौन-कौन सी किताबें पढ़नी चाहिए, इसका भी कुछ कुछ परिज्ञान हो जाता है।

संसार में राग, द्वेष, अज्ञान तथा स्वार्थ के कारण इतनी गलतफहमी और वैमनस्य फैल गया है कि दो व्यक्तियों के बीच पैदा हुए इस दुर्भाव को दूर करने का यदि कोई प्रयत्न करे तो आजकल तो उसे भी सत्ययुग की सेवाकार्य समझना चाहिए। फिर यदि कोई दो देशों, दो महान् भूखण्डों अथवा दो संस्कृतियों के बीच एक दूसरे को समझने के लिए समभाव पैदा करने की कोशिश करे उसका तो कहना ही क्या? ऐसे विचारों का प्रचार, जानबूझ कर अपने दुःखों को बढ़ानेवाली मनुष्य-जाति की एक उच्च सेवा ही है। और मैं आशा करता हूं कि पाठक भी इस उच्च सेवा में जरूर हाथ बँटावेंगे।

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर।

चीन की आवाज़

१

हाल ही में चीन में जो घटनायें[1] घटी हैं, उनके कारण दो बातें पुनः हमारे सामने उपस्थित हो रही हैं। एक तो पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का तात्विक विरोध, और दूसरी, इन दोनों सभ्यताओं का एक-दूसरे के विषयमें अज्ञान, तथा उनका पारस्परिक तिरस्कार और यही आज की इस परिस्थिति का प्रधान कारण है। इस समय जो घोर उपद्रव हो रहे हैं उनको अपनी आंखों देखते हुए भी, मैं बहुत समय से मौन धारण किये बैठा रहा। पर इस अनुदिन बढ़ती हुई रोष की भावना और इस आशा ने सम्भव है वह आशा निरा भ्रम ही हो—कि शायद मैं इन में से कुछ गलत-फहमियों को दूर कर सकूं मुझे अपना मौन छोड़ कर उन विचारों को ब्रिटिश जनता के सन्मुख उपस्थित करने को विवश कर दिया, जो इधर कई दिनों से मेरे दिल में भीतर-ही-भीतर उमड़ रहे थे। मैं वर्त्तमान मामले के विषय में कुछ भी कहना नहीं चाहता। बल्कि मेरा उद्देश तो इस समय केवल यही है कि जितनी अच्छी तरह से हो सके, मैं ब्रिटिश जनता को यह समझा दूं कि हम

पश्चिमी सभ्यता को किस दृष्टि से देखते हैं, तथा क्यों इसके प्रभाव से मुक्त रहना चाहते हैं। मेरा यह भी उद्देश्य है कि मेरे देश-भाइयों तथा उनकी नीति के विषय में ब्रिटिश जनता ने जो मत कायम कर लिया है उसे मैं अपने इस प्रयत्न द्वारा दुरुस्त करूं तथा उनके विषय में अधिक सच्चा ख्याल उत्पन्न करूं। मैं समझता हूं कि इस कार्य के लिये मैं बिलकुल अयोग्य भी नहीं हूं। इंग्लैंड के दीर्घ निवास के कारण मुझे आपकी संस्थाओं के विषय में कुछ कहने का अधिकार तो हो ही गया है। और साथ ही इतने अधिक काल तक अपने देश से बाहर रहने के कारण हमारी संस्थाओं के विषय में कुछ कहने के अधिकार को मैंने खो भी नहीं डाला है। चीनी चाहे जहां चला जाय, वह चीनी ही बना रहेगा और यद्यपि मैं पश्चिमी सभ्यता की कितनी ही सिद्धियों की तारीफ भी करता हूं; तथापि मुझे उसमें अब तक कोई ऐसी चीज नहीं मिली, जिसे देखकर मुझे अपने पूर्व में जन्म प्राप्त होने पर दुःख हो। शायद अंग्रेज यह सुन कर चौंकेंगे। हमें जंगली समझने की तो आपको आदत हो गई है, पर यह अस्वाभाविक भी नहीं; क्योंकि आपका ध्यान तो हमारी ओर तभी जोरों से आकर्षित होता है न, जब हम अपने देश भाइयों का खून करते हैं? और इन आकस्मिक उपद्रवों-दङ्गों को देख कर ही तो आप जल्दी जल्दी में यह ख्याल बना लेते हैं, कि ये लोग तो जान-बूझकर खून-खच्चर करने वाले राष्ट्र के निवासी हैं। परन्तु आजकल आपकी फौजें चीन में गजब ढहा रही हैं, उसे देख कर पश्चिमी संस्कृति के साधारण स्वभाव के विषय में अनुमान करना जितना योग्य होगा, उतना ही योग्य आपका वह उपर्युक्त अनुमान भी होगा जो

आपने हमारे विषय में किया है। आपको हमारे गुण्डों के कार्यों से—नहीं, मैं तो कहूंगा कि हमारी सरकार के कार्यों से भी,—हमारे राष्ट्र के विषय में अपना कोई ख्याल नहीं बना लेना चाहिए। क्योंकि चीन की वर्त्तमान सरकार हमारे राष्ट्र की प्रतिनिधि नहीं है। तथापि मैं तो यह भी मानता हूं कि इन दंगों के विषय में, (यद्यपि चीन के समस्त शिक्षित लोगों ने इन उपद्रवों की कड़े शब्दों में निन्दा ही की है) आप यूरोप निवासियों को और भी अधिक गम्भीरता के साथ—आजतक जितनी गम्भीरता से किया है उससे भी अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए; और हमें उनके लिए उलहना या दोष देने के पहले ज़रा अपने मिजाज को शान्त भी कर लेना चाहिए। क्योंकि ये कृत्य तो उस गहरे अविश्वास और नापसन्दगी का, जो आपकी सभ्यता के विषय में हमारे दिल में है, वाह्य चिन्ह मात्र हैं, और जिसका प्रभाव हमारे पश्चिम के साथ वाले सम्बन्ध पर ज्यादह से ज्यादह पड़ रहा है, और यह अनुचित भी नहीं है। आप स्वभावत: ही हमारे शक्कीपन या भ्रम तथा अज्ञान को ही हमारे इस अविश्वास और नापसन्दगी का कारण बतावेंगे। पर मेरा तो ख्याल है कि वह अविश्वास और नापसन्दगी युक्तिसंगत ही है। और मैं पाठकों से अनुरोध करूंगा कि वे मेरे दृष्टि-विन्दु से गम्भीरता तथा शान्तिपूर्वक विचार करें।

हमारी सभ्यता संसारमें प्राचीनतम है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह उत्तम ही है। किन्तु साथ ही मैं विनयपूर्वक कहना चाहता हूं कि इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि वह खराव से खराव सभ्यता है। इसके विपरीत यह प्राचीनता तो यह

सिद्ध करती है कि हमारी संस्थाओं ने हमें जो स्थिरता प्रदान की है वह यूरोप के राष्ट्रों में हमें ढूंढे नहीं मिलती। पर हमारी सभ्यता केवल सनातन ही नहीं, बल्कि हम तो मानते हैं कि, उसमें नैतिक व्यवस्था भी है। इसके विपरीत आपकी सभ्यता में हमें केवल आर्थिक अन्धेर ही दिखाई देता है। मैं अभी इस वाद में उतरना नहीं चाहता, कि आपका धर्म भी हमारे धर्म की अपेक्षा अच्छा है या नहीं। वह जो कुछ भी हो, पर यह तो निश्चित है कि हमारे धर्म का प्रभाव जितना हमारे जीवन पर पड़ रहा है, उसकी अपेक्षा आप के धर्म का प्रभाव आप पर कहीं कम है। आप ईसाई-धर्म के प्रचार करने का दावा करते हैं, पर आपकी सभ्यता तो कभी ईसाई बनी ही नहीं[२]। तहां हमारी सभ्यता के तो रोम-रोम से कान्फ्यूशियन[३] धर्म टपकता है। पर उसे कान्फ्यूशियन कहने के मानी तो ये हुए कि वह नीति-परायण है। कम से कम यह तो जरूर ही है कि वह प्रत्येक बात में नीति-अनीति का विचार सब से पहले करता है। तहां आप तो (जैसा कि हमारा ख्याल है) आर्थिक बातों का विचार ही सब से पहले करते हैं। इस दृष्टि से किसी बात को तय कर लेने पर, जहांतक हो सकता है उसे आप नीति की भाषा में घटाने का प्रयत्न करते हैं।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए कुटुम्बसंस्था विषयक हमारी तथा आपकी दृष्टि की तुलना करें। एक विदेशी की नजर में तो आपके यहां कुटुम्ब-संस्थाका यही काम दिखाई देता है कि जब तक बच्चा बड़ा हो कर अपने पैरों पर खड़ा रहने योग्य नहीं हो जाता, तब तक वह उसके पालन-पोषण तथा रक्षा का एक साधन मात्र है। जितनी जल्दी हो सकता है, आप अपने बच्चों को पाठ-

शाला में भेज देते हैं, जहां पर वे तेजी से अपने घर के संस्कारों से मुक्त हो जाते हैं। ज्यों ही वे सयाने होते हैं आप उन्हें, यदि आप ही के शब्दों में कहें तो,अपना भाग्य खोजने या आजमाने के लिए संसार में छुट्टा छोड़ देते हैं, और अक्सर माता-पिता के आश्रय से निकलते ही वे उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को स्वीकारने तक से इन्कार करने लग जाते हैं। जहां चाहें वे जा सकते हैं, जो करना चाहें कर सकते हैं और जिस प्रकार चाहें कमा सकते हैं, और अपने कमाये द्रव्य का उपभोग भी कर सकते हैं। अब उनके लिए यह अपनी पसन्दगी की बात रही कि वे कुटुम्ब के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रक्खें या तोड़ दें। आपके यहां समाज का घटक व्यक्ति है और सब व्यक्ति स्वतन्त्र हैं। किसी पर भी समाज की सत्ता नहीं और न किसी का समाज के साथ वैसा घनिष्ट सम्बन्ध ही है। आप ही के शब्दों में कहना चाहें तो, आपका समाज 'प्रगतिशील' है। आप हमेशा आगे बढ़ते रहते हैं। प्रत्येक आदमी इस बात को अपना कर्त्तव्य समझता है कि वह अपने लिए एक नवीन रास्ता ढूंढ निकाले। और प्राय: उसके लिए इसके सिवा दूसरी गति भी तो नहीं होती। आप इसमें एक प्रकार से हीनता मानते हैं कि आदमी जिस स्थिति में पैदा हो, उसी में पड़ा रहे। आप सोचते हैं "मनुष्यता तो इसी में है कि आदमी साहस करे, झगड़े, प्रतिस्पर्धा करे, और विजयी हो।" आपका समाज, जो बड़ी-बड़ी हलचलें करता रहता है, समस्त भौतिक कलाओं में जो सफलता प्राप्त करता है इसका श्रेय निसन्देह आपके समाज की इस उपर्युक्त विशेषता को ही है। पर इसी विशेषता से एक दूसरा परिणाम भी निकलता है, जिसपर

चीनियों की नजर सब से पहले पड़ती है। और यह है आपके समाज की अशान्ति, अन्धाधुन्धी और (जैसी कि हमारी धारणा है) नीति का अभाव। आपके यहां तो जीवन की सुख-सामग्रियां बढ़ाने को सब को इतनी 'हाय' पड़ी हुई है कि न तो है किसी को सन्तोष और न है किसी को जीने की फुरसत। आप तो मनुष्य मनुष्य के बीच केवल एक मात्र रोकड़िया' (आपके ही एक लेखक का यह शब्द है) सम्बन्ध को ही पहचानते हैं।

अब, हम पूर्व के लोगों के विचार में तो ये सब जंगली समाज के लक्षण हैं। हम सभ्यता की प्रगति का हिसाब सुख-सामग्री की वृद्धि से नहीं लगाते। बल्कि इससे लगाते हैं कि फलां मनुष्य का जीवन किस तरह का था और वह कितना महत्वपूर्ण था? जहां मनुष्य मनुष्य के बीच दया वा स्थिरता को स्थान नहीं, जहां भूतकाल के लिए पूज्यभाव नहीं, जहां केवल भविष्य ही को चूसने की लोलुपता लबालब भरी है, तहां हमारा तो ख्याल है, सच्चा समाज ही नहीं। और यदि आपकी सम्पत्ति आपकी विद्याओं तथा आपकी कलाओं में आपके साथ प्रतिस्पर्धा करने की कुञ्जी आपकी संस्थाओं का अनुकरण हो तो, ऐसा करने की शक्ति और क्षमता होने पर भी हम आपके साथ इस चढ़ा-ऊपरी में उतरना नहीं चाहते।

इन सब बातों में हमारी कार्यपद्धति आपके मार्ग से ठीक उलटी है। हम पहले समाज का विचार करते हैं और तब व्यक्ति का। हमारे यहां तो यह नियम है कि मनुष्य उन्हीं सम्बन्धों को लेकर जन्म ग्रहण करता है जिन्हें उसे ठेठ तक निबाहना पड़ता है! वह कुटुम्बीजन की हैसियत से पैदा होता है और मरता भी

है इसी हैसियत में। उसके समस्त जीवन-सिद्धान्त और व्यवहार इस परिस्थिति के अनुकूल बने रह कर ही घेड़े जाते हैं। पितृपूजा-माता-पिता का सम्मान, आज्ञापालन और पति तथा पिता के कर्त्तव्य आदि की शिक्षा समाज में उसे ठेठ बाल्यावस्था से ही देना शुरू कर दिया जाता है। विवाह होते ही कुटुम्ब टूट नहीं जाता। पति कुटुम्ब ही में रहता है और पत्नी पति के कुटुम्ब में मिल जाती है। यही कुटुम्ब हमारे समाज का घटक होता है। इस कुटुम्ब की अपनी शामिल जमीन होती है। मन्दिर तथा अन्य शामिल विधि भी होते हैं और साथ ही भीतरी झगड़ों को निपटाने के लिए इनमें पंचायतें भी होती हैं। बिना किसी अपने ही दोष के चीन में कोई व्यक्ति अलग नहीं हो सकता। यदि धनिक बन जाना आपके यहां के समान इसके लिए आसान नहीं है तो उसके लिए भूखों मरना भी यहां के इतना आसान नहीं है। यदि उसे चढ़ाऊपरी करने की जरूरत नहीं है, तो किसी को ठगने या उस पर जुल्म करने का प्रलोभन भी उसे नहीं होता। महत्त्वाकांक्षा तथा आपत्ति का भय इन दोनों आधियों से वह एक-सा मुक्त होता है। अर्थ और काम के पीछे न पड़ने के कारण वह धर्म और मोक्ष के लिए स्वतन्त्र रहता है। प्रकृति की लीला को देखने, सौजन्य का विकास करने, तथा अपने भाई बान्धवों के साथ सेवायुक्त एवं निःस्वार्थ सम्बन्ध जोड़ने की स्वाभाविक वृत्ति उसमें होती है, और उसे इसके लिये अवसर भी मिलते रहते हैं। और हमें इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इन सब बातों के परिपाकस्वरूप साधारणतया जो मनुष्य तैयार होता है वह नीति तथा संस्कारिता की दृष्टि से यूरोप के अधिकांश जनसमाज की अपेक्षा कहीं बढ़ा-चढ़ा

होता है। यद्यपि हम आपकी व्यवहारिक तथा वैज्ञानिक सिद्धियों की महत्ता को मानते हैं तथापि आपके बड़े-बड़े शहरों में हमें जिस अशिष्ट व्यवहार, हलकी नीति तथा भ्रमिक दृश्यों का साक्षात् करना पड़ता है उनको पैदा करने वाली सभ्यता की मुक्तकंठ से प्रशंसा ही करते रहना हमारे लिए असम्भव है। हम स्वीकार करते हैं कि हम ऐसे लोग नहीं हैं जिन्हें आप 'प्रगतिशील' कह सकें, पर हम तो देखते हैं कि आपकी यह प्रगति बड़ी महंगी चीज़ है। आपके आर्थिक लाभों की अपेक्षा हमें हमारे पारमार्थिक लाभ ही अधिक पसंद हैं। निश्चय ही हम तो आर्थिक लाभ को छोड़ कर भी उन्हीं संस्थाओं को पकड़े रहेंगे, जो, हम विश्वास करते हैं, हमें पारमार्थिक लाभ पहुंचावेंगी।

२

अपने पिछले पत्र में आपकी और हमारी सभ्यता के बीच जो मुख्य मुख्य भेद हैं उनको दिखाने का मैंने प्रयत्न किया था। यदि इन भेदों के कारण हमारा आपका झगड़ा हो गया तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है? हाल की ये घटनायें इस कल्पना को शायद अधिक मजबूत करें कि इन झगड़ों में आक्रामक हम ही थे। पर इसमें सत्य का लवलेश भी नहीं है। अगर हमारी छेड़-छाड़ न की जाती तो हम कभी पश्चिम से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए नहीं जाते। कोई कारण ही नहीं था। क्योंकि न तो हमें दूसरों को धर्मभ्रष्ट करना है और न अपना व्यापार ही बढ़ाना है। हम यह जरूर मानते हैं कि हमारा धर्म आपके धर्म की अपेक्षा अधिक बुद्धिग्राह्य है, हमारी नीति अधिक ऊंची है, और हमारी संस्थाएं अधिक संपूर्ण हैं। पर हम जानते हैं कि जो चीज हमारे विकास के लिए अनुकूल है वह दूसरे के विकास के लिए शायद न भी अनुकूल साबित हो। हमारा यह भी ख्याल नहीं है कि परमात्मा ने हमें संसार का उद्धार करने

होता है। यद्यपि हम आपकी व्यवहारिक तथा वैज्ञानिक सिद्धियों की महत्ता को मानते हैं तथापि आपके बड़े-बडे शहरों में हमें जिस अशिष्ट व्यवहार, हलकी नीति तथा भ्रमिक दृश्यों का साक्षात् करना पड़ता है उनको पैदा करने वाली सभ्यता की मुक्तकंठ से प्रशंसा ही करते रहना हमारे लिए असम्भव है। हम स्वीकार करते हैं कि हम ऐसे लोग नहीं हैं जिन्हें आप 'प्रगतिशील' कह सकें, पर हम तो देखते हैं कि आपकी यह प्रगति बड़ी महंगी चीज़ है। आपके आर्थिक लाभों की अपेक्षा हमें हमारे पारमार्थिक लाभ ही अधिक पसंद हैं। निश्चय ही हम तो आर्थिक लाभ को छोड़ कर भी उन्हीं संस्थाओं को पकड़े रहेंगे, जो, हम विश्वास करते हैं, हमें पारमार्थिक लाभ पहुंचावेंगी।

२

अपने पिछले पत्र में आपकी और हमारी सभ्यता के बीच जो मुख्य मुख्य भेद हैं उनको दिखाने का मैंने प्रयत्न किया था। यदि इन भेदों के कारण हमारा आपका झगड़ा हो गया तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है? हाल की ये घटनायें इस कल्पना को शायद अधिक मजबूत करें कि इन झगड़ों में आक्रामक हम ही थे। पर इसमें सत्य का लवलेश भी नहीं है। अगर हमारी छेड़-छाड़ न की जाती तो हम कभी पश्चिम से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए नहीं जाते। कोई कारण ही नहीं था। क्योंकि न तो हमें दूसरों को धर्मभ्रष्ट करना है और न अपना व्यापार ही बढ़ाना है। हम यह जरूर मानते हैं कि हमारा धर्म आपके धर्म की अपेक्षा अधिक बुद्धिग्राह्य है, हमारी नीति अधिक ऊंची है, और हमारी संस्थाएं अधिक संपूर्ण हैं। पर हम जानते हैं कि जो चीज हमारे विकास के लिए अनुकूल है वह दूसरे के विकास के लिए शायद न भी अनुकूल साबित हो। हमारा यह भी ख्याल नहीं है कि परमात्मा ने हमें संसार का उद्धार करने

या उसे सुधारने के लिए ही भेजा है।१ फिर हम यह तो कैसे मान सकते हैं कि यह काम खून-खच्चर से हो सकता है? दूसरे लोगों को सुधारने की जिम्मेदारी अपने सिर पर लेने की बात तो दूर है। यदि हम अपनी समस्याओं को ही हल कर सकें तो भी हम परमात्मा के अनन्त उपकार मानेंगे।

और जिस प्रकार आपको धर्मभ्रष्ट करने की इच्छा से हम आपके काम में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते, उसी प्रकार अपने व्यापार के लिए भी हमें ऐसी दस्तन्दाजी करने की आवश्यकता नहीं है। आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से भी हम स्वयं पूर्ण हैं। जिस चीज़ का हम उपयोग करते हैं उसे हम ही पैदा कर लेते हैं और जो पैदा करते हैं उसका उपयोग भी कर लेते हैं। दूसरे राष्ट्रों के माल की न तो हमें जरूरत है और न हमने उनसे कभी वह मांगा ही है। अपने माल के लिए दूसरों से उनका बाजार खुलवाने के लिए युद्ध छेड़ना जितना अन्याय्य है उतना ही अदूरदर्शितापूर्ण भी है। हमारा ख्याल है कि जो समाज राजनैतिक स्थिरता का इच्छुक हो उसे आर्थिक स्वावलम्बन जरूर प्राप्त कर लेना चाहिए। और विदेशों से विशाल व्यापार करना सामाजिक अध:पात की जड़ है।

अन्य सभी बातों की तरह इसमें भी आपका सिद्धान्त इससे विपरीत है। आप अपने ही धर्म को एकमात्र सच्चा धर्म समझते हैं। यही नहीं, बल्कि यदि आवश्यक हो तो आप तो तलवार के बल पर भी अपने धर्म को संसार की तमाम जातियों के सिर पर लाद देना अपना कर्तव्य समझते हैं।२ पर दूसरों पर आक्रमण करने के लिए आपके पास तो एक इससे भी अधिक बलवान कारण है।

आपके समाज की आर्थिक रचना ही इस ढंग की है कि वह हमेशा फाकेकशी की सरहद पर बना रहता है। आप जिन चीज़ों का उपयोग करना चाहते हैं उनको पैदा नहीं कर सकते और जो चीजें आपको पैदा करनी पड़ती हैं उसका आप उपयोग नहीं कर सकते। अपना माल बेचने तथा आपकी भोजन-सामग्री के लिए कच्चा माल इकट्ठा करने के लिए बाजारों का ढूंढ़ना, आपके लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। चीन एक ऐसा बाजार है या हो सकता है। और पिछले कुछ बरसों के आपके हमारे व्यवहार में हमने यह देख लिया कि आप हमारे बाजार ही खुले कराना चाहते हैं। इस हेतु को यदि आप छिपाना भी चाहें तो इससे क्या? मैं यहां पर इस बात का विवेचन नहीं करूंगा कि इस नीति में न्याय और धर्म कहांतक है। आप तो स्वार्थान्ध हैं। अतः आपके सामने इस बात की सैद्धान्तिक चर्चा करना व्यर्थ है। इसलिए मेरा प्रयत्न तो यही होगा कि मैं आपको समझा दूं कि आज की परिस्थिति के विषय में हमारा क्या ख्याल है तथा हम आपके आक्रमणों से क्यों चिढ़ते हैं।

एक मामूली ब्रिटिश व्यापारी को यह बात जरूर ही विचित्र दिखाई देती है कि जिस बात को वह हमारी राष्ट्रीय साधन-समृद्धि का विकास कहता है उसी में हम बाधा क्यों उपस्थित कर रहे हैं? उसे तो वस्तुमात्र को लाभ और हानि के दृष्टि-कोण से देखने की आदत हो गई है न? और इस दृष्टि से देखते हुए वह मानता है कि यदि यह साबित किया जा सकता है कि फलां रास्ते पर चलने से आर्थिक उन्नति जरूर ही होगी तब तो उस मार्ग का अवलम्बन करने के विषय में कोई आशंका ही न होनी

चाहिए। वह मानता है कि यदि चीन का प्रदेश उसकी पूंजी तथा व्यापार के लिए खुल जाय तो उसका यह हेतु सफल हो सकता है। इसलिए वह और आगे बढ़ कर यह भी मान लेता है कि उसके साहस का विरोध करने के बदले स्वागत करने ही में हमारा भी लाभ है। शायद उसका यह ख़्याल उसकी अपनी दृष्टि से ठीक होगा। पर उसकी दृष्टि कहीं हमारी दृष्टि तो है नहीं। हमारी तो यह चाल है कि इसके विपरीत किसी भी गम्भीर और महत्वपूर्ण काम को करने के पहले हम केवल यही देख कर नहीं रुक जाते कि हमारी सम्पत्ति पर उसका क्या असर गिरता है, बल्कि यह भी देखते हैं कि इससे हमारे राष्ट्र का क्या कल्याण होगा, (क्योंकि इसे हम एक बिल्कुल जुदी चीज समझते हैं।) आप हमेशा जीवन की सुख-सामग्री का विचार करते हैं, तहां हम जीवन के सौरभ का विचार करते हैं। और जब आप हमें कहते हैं (हां, आपके कहने के मानो यही हैं) कि हमें अपने समस्त समाज में कायापलट कर देना चाहिए, किसानों का राष्ट्र न रह कर व्यापारियों और कारखाने वालों का राष्ट्र बन जाना चाहिए, काल्पनिक सम्पत्ति के लिए हमें अपनी आर्थिक और राजनैतिक स्वाधीनता को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए और हमारे उद्यम को ही नहीं, बल्कि समस्त रीति-रवाजों तथा नीति और समाज-संस्थाओं तक को नये सांचे में ढाल लेना चाहिए —जब आप यह कहते हैं—तब हम ज़रा इस बात को सूक्ष्म नजर से देख लें तो क्षमा कीजिए कि जिन चीजों को आप चीन में प्रविष्ट करवाना चाहते हैं उनका खुद आपके समाज पर क्या परिणाम हुआ है।

हमारा ख़्याल है कि इस जांच के परिणाम ऐसे नहीं जो हमें आपकी तरफ ललचावें। उस कहानी वाले भूत की तरह आपने चढ़ाऊपरी के भूत को मुक्त कर दिया है और अब आप देखते हैं कि वह आपके काबू से बाहर निकल गया है। पिछले सौ वर्ष के कानून आपकी आर्थिक अव्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के विफल प्रयत्न नहीं तो और क्या हैं ! गरीब, शराबखोर, अपंग, मरीज तथा बूढ़े अपाहिजों आदि की समस्याओं का भूत आपकी छाती पर सवार है। मनुष्यता तथा व्यक्तिगत स्नेह के सभी सम्बन्धों को आपने एकबारगी तोड़ डाला है और अब आप उसके स्थान पर ऐसी सरकार की स्थापना करने का वृथा प्रयत्न करना चाहते हैं जिसके कोई आत्मा ही नहीं। आपकी सभ्यता का मुख्य लक्षण उसकी भीतरी गैर जिम्मेदारी है। आपने ऐसी शक्तियों को मुक्त कर दिया है, जिन्हें आप अपने वश में नहीं रख सकते। आप अपनी ही मशीन की पकड़ में जकड़ लिये गये हैं। व्यापार और उद्यम के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के स्थान पर कम्पनी से और कारीगर के स्थान पर औजारों से काम लेने का प्रयत्न करते हैं। सब को अपने अपने सूद और लाभ ही की पड़ी है। सिवा सरकार के, मजदूरों के कल्याण से किसी को कोई सरोकार ही नहीं है। और इस काम को करने में सरकार भी तो असमर्थ ही है। क्योंकि जिन वस्तुओं का सम्बन्ध मजदूरों के कल्याण से है, वे सरकार की सत्ता के बाहर हैं। आप तो मांग और उपज पर ही पूर्णतया निर्भर हैं जिसे न आप नियमित कर सकते हैं और न उनकी गति-विधि का पता आपको पहले से लग सकता है। कहीं किसी देश में एक

फसल बिगड़ गई, किसी देश की सरकार ने अपने यहां के आयात-निर्यात के करों में परिवर्तन कर दिया कि हजारों मील के फासले पर बसे हुए देश के लाखों आदमियों के उद्यम में उथल-पुथल मच जाती है। आपके जीवन किसी खान खोलने वाले के भाग्य, किसी वैज्ञानिक की खोज अथवा किसी रमणी की तरंगों पर—नहीं आप ही के अपने बनाये साधनों पर निर्भर हैं। कैसी दयनीय दशा है! आपकी पूंजी तो एक जीती-जागती काली की मूर्त्ति के समान है जो प्रतिपल बलिदान मांगती है। इसकी खुराक देने में जरा भी देर कीजिए कि वह आप ही पर टूट पड़ेगी और आपका गला घोंट देगी। आप इतना माल स्वेच्छापूर्वक नहीं, बदर्जे लाचारी पैदा करते हैं। आप अपनी पसन्दगी का माल नहीं बरतते, बल्कि वह बरतते हैं जो आप पर जबरन लादा गया है। आप जिसे मुक्त व्यापार४ बताते हैं, उसके समान जकड़ा हुआ व्यापार तो कभी देखने में भी नहीं आया। और यह बंधन समझदारी का नहीं, घड़ी-घड़ी पर बदलने वाली तरंगी अबुद्धि का है।

एक चीनवासी की दृष्टि में आपके राष्ट्र की आन्तरिक सम्पत्ति की दशा यह है। विदेशों के साथ आपका जो सम्बन्ध है वह भी इससे अधिक उज्ज्वल नहीं है। पचास वर्ष पहले लोगों का ख्याल था कि देश-विदेशों में व्यापारी-सम्बन्ध प्रस्थापित हो जाने पर शान्तियुग की स्थापना होगी। आज भी आपके देश में, मालूम होता है, ऐसे कई पड़े हैं, जो इस श्रद्धा को मजबूत पकड़े हुए हैं। परन्तु समस्त घटना-क्रम ही इस श्रद्धा के विपरीत जा रहा है। लक्षणों से तो ऐसा मालूम होता है कि इस व्यापारी

चढ़ाऊपरी के कारण जितने युद्ध होने की सम्भावना है उतने पहले किसी भी राजा की विजिगीषा तथा धर्माधिकारियों की धर्मान्धता के कारण नहीं हुए होंगे। अगर कहीं पृथ्वी के पृष्ठ भाग पर ऐसा एक भी कोना दिखाई दे जिसे किसी ने लूट नहीं लिया है तो उस पर ये यूरोप के लोग भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ते हैं। अबतक तो इन्होंने सिर्फ उन्हीं राष्ट्रों को लूटा है, जिन्हें वे अपने फिर्के से बाहर समझते थे। पर जब जब कभी वे लूट की संपत्ति का आपस में बंटवारा करने को बैठते हैं तब तब वे एक-दूसरे की ओर बड़ी विषैली और ईर्ष्या-भरी नज़र से देखते हैं। और निश्चय ही आगे पीछे जब बंटवारे के लिए कोई चीज बचा न रहेगी, तब वे आपस ही में एक-दूसरे पर टूट पड़ेंगे। यही तो आपके सैनिक सुप्रबन्ध के सच्चे मानी हैं; या तो दूसरे को निगल जावें या दूसरा ही आपको निगल जावे। और यही होगा भी। जिन व्यापारी सम्बन्धों पर आपने दूसरे देशों के साथ मित्रता का सम्बन्ध जोड़ने की आशा की थी, उन्होंने आपको ऐसे प्रतिस्पर्धी बना दिया है कि आप आपस में एक-दूसरे का गला घोट देने पर उतारू हो गये हैं, और उस भयंकर यादवस्थली के नजदीक आपको आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया है।

मेरा तो ख्याल है कि आपकी सभ्यता का वर्णन करते हुए मैं अन्ध द्वेष के प्रवाह में नहीं बहा जा रहा हूं। मैंने पहले से यह धारणा भी नहीं बना ली है कि यूरोप के लोग चीन के लोगों की अपेक्षा स्वभावतः ही अधिक मूर्ख और दुष्प्रवृत्त होते हैं। इसके विपरीत हमारे धर्म का यह एक मुख्य सिद्धान्त है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एकसा होता है और वह संयोग के अनुसार ही भला या बुरा

बन जाता है। इसलिए यदि आपकी आन्तरिक या बाह्य समाज-रचना उतनी ही सदोप है जितनी कि हम मानते हैं तो उसका कारण यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि आपका राष्ट्र-स्वभाव मूलतः सदोष है। बल्कि ठीक तो यह मालूम होता है कि दोप उन राजनैतिक तथा सामाजिक संस्थाओं में है, जिन्हें आप हमारे देश में दखल करने का आग्रह कर रहे हैं। और क्या आप आश्चर्य कर सकते हैं यदि इस परिस्थिति में हम अपने अधीनस्थ प्रत्येक साधन को हमारे देश में आपके बढ़ते हुए प्रभाव को नष्ट करने में लगा दें? और क्या आपको सचमुच आश्चर्य होगा यदि हमारे देश के समझदार लोग आपके भेजे आदमियों पर चीनियों द्वारा किये गये जुल्मों पर दुःख प्रकट करने पर भी यह सोचने लगें कि आपके इस साहस के सफल होने पर जो अनिष्ट परिणाम निपजेंगे, उनके मुकाबले में ये जुल्म कुछ भी नहीं हैं।

३

हाल ही में मैंने आपके किसी अखबार में पढ़ा था कि यूरोप के राष्ट्रों का अन्तिम उद्देश्य तो है 'चीन को सुधार देना'। यदि यह सत्य है तो वे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन उपायों का अवलम्बन कर रहे हैं वे सचमुच अजीब हैं। किन्तु मैं यहां पर उनके विषय में कुछ कहना नहीं चाहता। मैं जानता हूं कि चीन में आपके लोगों के हाथों जो लूट-पाट, पागलों की सी तोड़ फोड़, शैतानी, खून-खच्चर और स्त्रियों का सतीत्व नाश आदि किया गया है, उसे आप यहां इंग्लैंड में कभी अच्छा नहीं कहेंगे। मुझे तो विश्वास है कि यदि आपका वश हो तो आप इन अत्याचारों को रोक भी दें। मैं यह भी मानने के लिए तैयार हूं कि यह सब उच्छृंखल सोल्जरों के उन्माद का परिणाम था। इन बातों की पुनः पुनः व्यर्थ निन्दा करने के लिए नहीं, बल्कि किसी दूसरे ही हेतु से मैंने यहां इनका उल्लेख किया है। जब जब कभी आप अपनी सभ्यता की तारीफ करते हैं, तब तब मेरे दिल में तो यही सवाल खड़ा होता है कि आपकी सभ्यता ने

कैसे कैसे आदमी पैदा किये हैं। चीनकी वर्तमान घटनाएं इस प्रश्न का जो उत्तर देती हैं वह तो कदापि संतोषजनक नहीं है। परन्तु मैं इस उत्तर पर ज्यादह जोर नहीं देना चाहता। यह भी हो सकता है कि संस्कृतिमात्र, क्या हमारी और क्या आपकी, दोनों केवल ऊपरी दिखाव की—शिष्टाचार की वस्तुएं हों। और प्रत्येक मनुष्य की हृदय-गुहा में केवल पशुता ही छिपी हो जो किसी आकस्मिक घटना के कारण या जान-बूझ कर पिंजरे का द्वार खुलते ही अपने शिकार पर झपटने की ताक ही में बैठी रहती हो। कम से कम यह तो जरूर सत्य है कि चीन में हम लोग भी आप ही के इतने दोष-भाजन हैं। और हमारा उलहना उलट कर हमीं पर चरितार्थ होता है। इसलिए इन असाधारण दृश्यों की बात को छोड़ कर मैं हमारे दैनिक—मामूली जीवन की ही बात करूंगा। मेरा सवाल यह है कि हम कैसे आदमी हैं, और आप स्वयं कैसे लोग हैं जो आप हमें जंगली बता रहे हैं।

हम कैसे आदमी हैं? इस सवाल का जवाब देना कठिन है। इस विषय में कई दिनों से मेरे दिमाग में खूब विचार उमड़ रहे हैं। मैं आपको यह बात कैसे समझाऊं, जो मेरे दिल में भर रही है! इसके लिए तो मेरे पास सिवा इसके और कोई उपाय ही नहीं कि आपके इस काली (धूंए के कारण) राजधानी के राजमार्गों पर ठिठुरा देने वाले जाड़े के दिनों में घूमते हुए मेरे स्मृति-पट से जिस दृश्य का चित्र हटाये नहीं हटता, जहां तक हो सके मैं उसी का हूबहू वर्णन आपके सामने कर दूं।

दूर, बहुत दूर, पूर्व में, सूर्य के सुन्दर प्रकाश में (आप को तो जितना भी कुछ प्रकाश मिलता है, उसे आप काजल और धूंए से

बिगाड़ डालते हैं) एक विशाल विपुलवाहिनी के तीर पर वह मकान खड़ा है, जिसमें मेरा जन्म हुआ था। हजारों घरों में से वह एक है। पर ये सभी मकान अलग-अलग, दूर-दूर अपने अपने बगीचे में खड़े हैं, उनका रंग सफेद या भूरा है। उनकी छोटी बैठक बड़ी भली मालूम होती है। इतने स्वच्छ हैं मानों अपनी मुसक्यान से परिवर्ती प्रदेश को प्रकाशित न कर रहे हों! सरितातट पर सैकड़ों कोस तक फैला हुआ हरियाली का वह एक समुद्र है जिसमें ये भूरे और लाल नलिये वाले छोटे छोटे मकान आदमी की नज़र को एक दम अपनी ओर खींच लेते हैं। कहीं कहीं रमणीय वृक्षावलि के बीच से किसी ऊंचे चैत्य का सुवर्ण-जटित शिखर अपनी चमक से हमारी आंखों को चौंधिया डालता है। नदी को पार करने के लिए स्थान-स्थान पर पुल बने हुए हैं। नीचे जल में नावों, किश्तियों की भीड़ सी लगी रहती है और अपने स्वच्छ चमकीले प्रवाह पर वह विपुलवाहिनी न जाने कितने समृद्धिशाली ग्रामों के व्यापार का वहन करती रहती है! क्योंकि यह सारा प्रदेश संपन्न किसानों से आबाद है, जो अपने पूर्वजों के जोते और दिये खेतों को जोतते हैं। वे कह सकते हैं कि जिस जमीन पर हम काम करते हैं उसे हमने तथा हमारे बड़े-बूढ़ों ने तैयार किया है। क्योंकि देखिए न! जहां किसी समय वीरान टेकड़ियां थीं वहीं आज ठेठ उन टेकड़ियों की चोटी तक कपास, चावल, गन्ना, नारङ्गी तथा चाय के हरेगद पौधे झूम रहे हैं। नदी के पानी को मोड़ कर जो नहरें बनाई गई हैं वे इन टेकड़ियों को रौप्य मेखला की तरह अपने गर्भ में धारण किये हुए हैं। इनका पानी सैकड़ों चमकते

हुए जलप्रपातों से गिरता हुआ अनेक धाराओं में बहता, खेलता, कूदता और किलकता चला जाता है। वह धबधब करता हुआ बड़े बड़े कुंडों में गिरता है, और कलकल निनाद करता हुआ उनमें से बाहर निकल कर कहीं जमीन में गायब हो जाता है और फिर थोड़ी दूर पर प्रकट होकर पुनः बहने लग जाता है। इस तरह वह खुले हाथों सारी जमीन को समभावपूर्वक उर्वरता, हरियाली तथा जीवनदान करता हुआ चला जाता है। उन टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों तथा छोटे २ पुलों पर होकर चलते हुए आप चारों ओर भूतकाल को कितनी ही पीढ़ियों का कारीगरी तथा उनके आजकल के बालकों को मिहनत - परिश्रम को देख सकते हैं। इस तरह ऊपर चढ़ते चढ़ते अंत में आप ऐसे स्थान पर जा पहुंचते है, जहां मनुष्य पीछे रह जाता है और आपको सर्वत्र केवल प्रकृति का ही साम्राज्य दिखाई देता है। टेकड़ी पर रंग-बिरंगे वन्य फूलों की इतनी समृद्धि है मानों प्रकृति ने आस्मानी, सुनहरी और गुलाबी रंग के बड़े बड़े कालीन ही बिछा रक्खे हों। इस स्थान पर मैं न जाने कितनी बार घंटों नीरव शान्ति का आनन्द लूटने के लिए आकर बैठा हूंगा ?—ऐसी नीरव शान्ति कि 'हमारे एक कवि के शब्दों में कहना चाहें तो मैदान पर के वृक्षां को छाया को मर्मर-ध्वनि तक आदमी वहां से सुन ले।' कभी कभी नीचे दूर दूर, जलप्रवाहों के उस पार से, एक दूसरे को पुकारते हुए मजदूरों की लंबी आवाज़ अथवा पूजा के समय मैदान के मन्दिरों में सायं प्रातः होने वाले घण्टानाद ही इस अखण्ड शान्ति का भंग करते थे। कैसी अनुपम शान्ति ! कैसी ध्वनियां ! कैसी अप्रतिम सुगन्धि और कैसे मनोहारी रंग ! इन्द्रियां अपने विषयों में मुग्ध हो जाती हैं। उनकी सूक्ष्मता

इतनी बढ़ जाती है कि आपकी इस उत्तर की आबोहवा में आपको कल्पना तक नहीं हो सकती। वह बाह्य सृष्टि का सौन्दर्य आत्मा और हृदय को अनायास अपने साथ समरस बना देता है। यदि चीन में सद्व्यवहार है, यदि वहां कला है, सदाचार है, तो उसका कारण ढूंढ़ने के लिये दूर जाने की जरूरत नहीं है। हां, मनुष्य के आंखें होनी चाहिए। यह सब हमें प्रकृति ने सिखाया है। और कम से कम इस बात में तो हम आपसे जरूर ही अधिक भाग्यशाली हैं। पर साथ ही यह भी सत्य है कि प्रकृति से शिक्षा लेने योग्य शालीनता भी तो हममें थी। हमारा ख्याल है कि इसका श्रेय हमारी बुद्धि को भी है। क्योंकि ज़रा सोचिए तो, यहां इस रमणीय प्रदेश में हजारों प्राणी बसते हैं। पर फिर भी उनके लिए सिवा परम्परागत रूढ़ि के, दूसरा कानून ही नहीं। अपने गृहराज्य के सिवा वे किसी दूसरी सत्ता को जानते तक नहीं। वे उद्यमी हैं, पर उनके जैसे उद्यम को आपने अपने यूरोप में शायद ही कहीं देखा और सुना हो। वह उद्यम स्वतन्त्र मनुष्यों का उद्यम है। बड़े-बूढ़ों से प्राप्त की जमीन पर अपने बच्चों, प्रिय जनों के लिए मिहनत करके वे उसे अपने परिश्रम से समृद्ध बनाते हैं और पुनः अपने बच्चों के लिए छोड़ जाते हैं। बस यही इनकी महत्त्वाकांक्षा है। उन्हें धन की राशियों की नहीं पड़ी है, और यदि प्रत्येक पुश्त में कुछ आदमियों को दूर विदेशों में जाना पड़ता है तो उनके दिल में एक आशा हमेशा बनी रहती है—और साधारणतया वह आशा व्यर्थ नहीं होती—आशा यही कि आखिर हम अपनी जन्मभूमि को लौट जावेंगे और उन लोगों और स्थानों में जाकर अपने शेष दिन बितायेंगे, जिनसे बाल्य तथा यौवन काल की

पुण्य प्रेम-भरी मधुर स्मृतियां सम्बद्ध हैं। ऐसे राष्ट्र में भयंकर प्रति-स्पर्धा के लिए स्थान कहां ? न कोई सेठ है, न कोई नौकर। तमाम सामाजिक व्यवहारों में समानता—सच्ची और सजीव समानता ओतप्रोत है। मेरे इन देश-बन्धुओं की विशेषता है आरोग्यप्रद परि-श्रम, आवश्यक फुरसत, निर्व्याज आतिथ्य, वह स्वाभाविक संतोष जो मूर्ख आकांक्षाओंसे अस्पृष्ट है, और उनकी विशेषता है वह सौन्दर्य-भावना जो उत्तम से उत्तम सृष्टि-सौंदर्य से पुष्ट होकर यदि सुन्दर कला कृतियों में नहीं तो, कुलीन सुश्लिष्ट विवेक में आविर्भूत होती है। पर यह स्मृति की जादू तो नहीं ? मैं अपने यौवन के दृश्यों पर काव्य तो नहीं कर रहा हूं ? सम्भव है, यही हो। पर यह तो मैं जरूर जानता हूं कि कुछ कुछ इसी प्रकार का जीवन—जमीन पर मिहनत करना और समानता, तथा न्याय की नीव पर खड़ा किया हुआ जीवन—चीन के इस छोर से उस छोर तक—प्रस्फुरित और विकसित हो रहा है। ओ चीन के भावी 'सुधारको'! इसके बदले में चीन को देने के लिए आपके पास क्या है ? आपका धर्म ? अफ़सोस! इसके नाम पर तो आप अकथनीय अत्याचार कर रहे हैं। आपका चारित्र्य ? बताइए, इसके दर्शन हमें कहां होंगे ? आपकी बुद्धि ? आह! यह आपको कहां लिये जा रही है ? चीन के जीवन का जो चित्र मैंने आपके सामने चित्रित किया है इसके उत्तर में आप मेरे सामने इंग्लैंड का कौन-सा चित्र चित्रित करेंगे ? इसी प्रश्न का उत्तर देने का अब मैं प्रयत्न करूंगा।

४

चीन के जीवन का एक नमूना पेश करते समय मैंने किसान वर्ग को पसन्द किया था। इसका कारण यह था कि किसान हमारी सभ्यता के फल का एक उत्कृष्ट नमूना है। चीन में शहर भी हैं। शायद आपके यूरोप के जैसे महान् राक्षसी शहर भी होंगे। परन्तु वे तो हमारे राजनैतिक समाज-शरीर पर की मसें हैं। इस शरीर का खास ढांचा तो खेती ही है। आपके यहां तो यह सब उलटा है। इसलिये आपके यहां ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसे सच्चा ग्रामीण जीवन कहा जा सकता हो। आप अपने इंग्लैंड के देहातों के चित्र को ज़रा अपनी आंखों के सामने खड़ा कीजिए। वहां आप क्या देखते हैं? एक ओर परती की जमीन पड़ी हुई है, तो दूसरी ओर बंगले खड़े हैं, बगीचे लहरा रहे हैं। मजदूरों की हालत दयनीय है। मुश्किल से रोटी मिल जाती है तो झोंपड़े का ठिकाना नहीं। ग्राम निर्जन हो रहे हैं और वाड़ियां सूनी पड़ी हुई हैं। वहां गन्दगी है, पशुवृत्ति है और दुर्गुण हैं। यह है इंग्लैंड के देहातों का चित्र जो आप ही के द्वारा

चित्रित किया गया है। इंग्लैंड में जो कुछ भी भला बुरा है उसका सारा श्रेय प्रधानतः शहरों को ही है। शहरों से बाहर जो कुछ भी है, वह या तो अपने जीवन के लिए शहरों पर निर्भर है, या वह मृत्युके पथ पर है।१ इसलिए यदि आपकी सभ्यता पर मैं अपना सच्चा मत देना चाहूं और साथ ही यह भी चाहूं कि आपके साथ कहीं अन्याय न होने पावे तो मुझे देहात को छोड़ कर आपके नागरिक जीवन का ही अवलोकन करना चाहिए। पर यह करते हुए भी मैं उन बातों का अनावश्यक वर्णन करके आसान विजय को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करूंगा जो साफ-साफ दिखाई देती हैं और जिनकी बुराई को मेरे साथ साथ आप भी कबूल करते हैं तथा जिनपर आप दुःख भी प्रकट करते हैं। जनसंख्या से उभड़ते हुए आपके मजदूरों के मुहल्ले आपके शराबखाने, आपके कंगालखाने तथा आपके जेल – ये सब ऐसी वस्तुएं हैं जिनको देख कर आदमी को दुःख हुए बिना रह नहीं सकता। पर आप तो उन अनिष्टों को भी दूर करने के प्रयत्न कर रहे हैं, जिनके ये उपर्युक्त चीजें केवल बाह्य परिणाम हैं। मुझे इसमें भी सन्देह नहीं कि आपको अपने इन प्रयत्नों में बहुत काफी सफलता प्राप्त हो सकेगी। पर यहां पर मुझे तो उस उद्दिष्ट ध्येय के औचित्य पर विचार करना है जिसकी तरफ आप अपनी पूरी शक्ति के साथ तेजी से दौड़ते हुए जा रहे हैं। आपकी सभ्यता का फल कौन है ? वही जिसे आप एक 'प्रतिष्ठित पुरुष' कहते हैं। मैं यहां पर उसीका चित्र आपके सामने चित्रित करना चाहता हूं। क्योंकि यही तो आखिर आपकी सभ्यता का स्वाभाविक और अनिवार्य फल है।

अब यह आदमी कैसा है। इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते हुए मुझे ज़रा हिचकिचाहट हो रही है। क्योंकि मैं ठहरा एक बाहरी – विदेशी आदमी। आपके आतिथ्य का लाभ ले चुका हूं। मुझे यह अच्छा नहीं मालूम होता कि इस आतिथ्य का बदला मैं इस तरह दूं जो आपकी नज़र में अविनयपूर्ण दिखाई दे। पर यदि मेरे हाथों आपकी कुछ भी सेवा हो सकती हो तो वह यही है। मैं इससे अधिक महान सेवा की कल्पना ही नहीं कर सकता कि मैं उन कितने ही (मेरी दृष्टि में) महत्त्वपूर्ण सत्यों को आपके दिल को नाहक चोट न पहुंचाते हुए आपके गले उतार दूं, जिनकी तरफ़ आप बड़ी अजीब तरह से आंखें मूंदे बैठे हुए हैं। मेरा ख्याल है कि आपने गलत राह पकड़ ली है। मेरा जी खूब चाहता है कि मैं आपको सचेत कर दूं। मुझे इसकी पर्वाह नहीं कि मेरी चेतावनी व्यर्थ होगी। मेरे लिए इतना काफी है कि यह चेतावनी मैं मित्र भाव से आपको दे रहा हूं, और मैं आशा करता हूं कि आप उसका स्वीकार भी उसी भाव के साथ करेंगे।

जब मैं अपने दिल पर कई वर्षों के अध्ययन और अवलोकन के बाद खिंची गई एक साधारण अंगरेजी नागरिककी तस्वीर को पुनः पुनः देखता हूं, तब मेरी आंखों के सामने कैसा आदमी उपस्थित होता है? मैं एक ऐसे आदमी को देखता हूं जिसका प्रकृति से नाता टूट गया है, और जिसे कला ने भी पोषण नहीं दिया है।[२] वह शिक्षित है पर संस्कारवान् नहीं, उसे ग्रहण-शक्ति है पर विचार-शक्ति नहीं। उसे जिस धर्म की आज्ञाओं की शिक्षा दी गई है उनमें उसका विश्वास ही नहीं। क्योंकि वह देखता है कि जीवन

के प्रत्येक व्यवहार में इन आज्ञाओं का उल्लंघन होता है। अतः अपने हृदय के अन्तस्तल में वह सोचता है कि अपनी इस नास्तिकता को, जिसे प्रकट करने की हिम्मत वह नहीं रखता, धार्मिकता की ओट में छिपाए रखने में ही बुद्धिमानी है। रूढ़ी इसका धर्म है। विशेष उल्लेखनीय बात तो यह है कि उसका सदाचार भी उसके लिए अपने धर्म के समान ही एक शिष्टाचार की वस्तु बन गया है। दया, शील, त्याग, पार्थिव जगत् तथा उसके वैभवों के प्रति तिरस्कार इत्यादि शब्द उसे बचपन ही से रटाये गये हैं, पर अबतक उसके लिए वे कोरे शब्द ही बने हुए हैं। क्योंकि उसने न तो कभी किसी को उनपर अमल करते देखा और न यह करने की खुद उसे कभी सूझी। इन शब्दों में इतना प्रभाव है कि वह उसे दम्भी बना देते हैं। तथापि वह असर इतना जोरदार भी नहीं होता कि वह उसे अपने दम्भ का ख्याल करा सके। एक ओर इस मनुष्य के सामने ऐसा कोई नैतिक आदर्श भी नहीं होता जिसे वह अपने समाज में प्रत्यक्ष होते हुए देख सकता हो। और दूसरी ओर एक निर्वीर्य आदर्श की केवल मौखिक पूजा करके वह अपने आपको ठगता रहता है। इस तरह चारों ओर से निराधार हो जाने पर उसके लिए सिवा इसके और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता कि वह दूसरों का अनुकरण करता रहे। इसलिए आध्यात्मिक वस्तुओं की उपेक्षा करके वह पूर्णतया पार्थिव वस्तुओं के पीछे पड़ जाता है। बस, वह तो केवल एक निर्जीव औजार बन जाता है'।

वही क्या, आपका सारा समाज इस तरह के लोगों का बना हुआ है। आपके कार्य ही आपकी कसौटी हैं। आपने दिवालिया बन कर

दीपावलि का उत्सव मनाया है। एक तरफ यान्त्रिक कला का अद्भुत विकास है और दूसरी ओर आध्यात्मिक बुद्धि का दिवाला! यंत्र तो आप हर तरह के बना सकते हैं और उनका पूरी तरह उपयोग भी कर सकते होंगे। पर आप एक मकान नहीं बना सकते, एक कविता भी नहीं लिख सकते और न कोई चित्र ही चित्रण कर सकते। फिर भक्ति तथा आत्मोन्नति की कौन कहे! ज़रा आप अपनी सड़कों की तरफ दृष्टि डालिए। संदूकों पर संदूकें पड़ी हुई हैं। सब एक-सा हैं। उनमें वे तमाम चीजें हैं जो बेकाम हैं। उपयोगी चीजों का एकदम अभाव है। इसे आप स्थापत्य के नाम से गौरवान्वित कर रहे हैं। और आपका साहित्य क्या है? बड़े बड़े गम्भीर शब्दों में लिखे दैनिक पत्रों के निःसार लेख, तरह तरह के किस्से, पहेलियां, शब्दों के खेल तथा पुलिसकोर्ट के निकम्मे मामलों की खबरों से भरे अखबार। आपके चित्र कैसे हैं? ये तो रंगीन कहानियां, तुच्छ प्रसंगों का चित्रण, तथा नौसिखे चितेरों द्वारा इधर उधर मारे हुए कलम के फांसे। इनमें न तो कहीं स्वतन्त्र प्रतिमा दिखाई देती है और न कहीं होता है प्राचीन परम्परा का दर्शन। आपकी बाह्य तथा अन्तरिन्द्रियां भी जड़ हो गई हैं। आपकी आंखों में अन्धियारी छा गई है और कान बेकाम हो गये हैं। आकलन-शक्ति का स्थान तर्क ने ग्रहण कर लिया है। और आप अपना समस्त जीवन ऐसी नींव पर खड़ा करते हुए जा रहे हैं जिसकी आपने जांच तक नहीं की है। आपकी यह रेल कहां तक पहुंचेगी, इसकी आपके पास न तो कोई योजना है और न इसका कोई अनुमान ही आप कर सकते हैं। जहां देखिये तहां साधन ढेरों से पड़े हैं पर साहस

का कहीं पता ही नहीं है। समाज एक जबरदस्त यंत्र बन गया है। पर वह भी सुचारु रूप से चलने के बदले चूं-चूं बोल रहा है। यों है आपकी सभ्यता का वह चित्र जो मेरी आंखों के सामने खड़ा होता है। तथापि मैं यह नहीं कहूंगा कि समस्त विचारशील चीनी लोग ऐसे ही चित्र को देखते हैं। क्योंकि चीनियों का स्वभाव भी तो आपसे उलटा है। किसी भी राष्ट्र पर—उसकी समस्त जनता के सिर पर दोप मढ़ना उन्हें स्वभावतः नापसन्द है। अगर मैंने यह भूल कर डाली हो तो मैं इसके लिए अत्यन्त उकसाया गया हूं, पर मेरी आत्मा आपसे क्षमा मांगने के लिए मुझे अभी से प्रेरणा करने लग गई है। तथापि मैं जो कुछ भी कह गया हूं उसमें एक भी बात ऐसी नहीं जिसे मैं वापिस ले सकूं। हमारे देशवासियों की इस पुकार में कि "चीन तो केवल चीनियों के लिए ही है" यदि कुछ पाठकों को मेरे लेखों ने कोई नवीन अर्थ सुझाया हो तो मुझे अपने इस लेख के लिए दुःख न होगा।

५

पश्चिम के संसर्ग में जब मैं पहले-पहल आया, तब जिस चीज से मैं सब से अधिक प्रभावान्वित हुआ वह थी आपकी बुद्धि की विशेषता और विशालता। मैंने देखा कि आपने ऐसी ऐसी बातों में तथा क्षेत्रों में अपनी बुद्धि को आजमाया है, जिनका हमें ख्याल भी नहीं हुआ था। और उनमें आपने अद्भुत सफलता को भी प्राप्त किया है। फिर आपने पृथक्करण तथा प्रयोगों की सहायता से प्रकृति के कार्य तथा शक्ति का रहस्य भी समझ लिया है। और इन शक्तियों का आपने जिस जिस तरह उपयोग किया है वह मेरी घर-बैठी बुद्धि को तो लगभग जादू के समान ही प्रतीत हुआ। और आज इतने गहरे परिचय के बाद भी आपकी इन सिद्धियों के विषय में मेरे दिल में वैसा ही आदर बना हुआ है। और मैं आपके इस दावे को कुबूल करता हूं कि आप हमसे बढ़े-चढ़े हुए हैं, और इसमें इन सिद्धियों का हिस्सा बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण है। और यदि मेरे कितने ही अधिक चतुर देश भाई इन सिद्धियों को चीन में दाखल करने के लिए उत्साहपूर्वक

प्रयत्न कर रहे हैं तो मुझे इससे आश्चर्य भी नहीं होता। इन सुधारकों के उत्साह से मुझे सहानुभूति है, परन्तु मैं उनके इस स्वप्नका समर्थन नहीं कर सकता। यों पहले-पहल देखने से यह निर्णय आपको विचित्र मालूम होगा, पर मैं उन कारणों को आपके सामने गिनाये देता हूं, जिनकी वजह से मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं।

सच्ची बात तो यह है कि पिछली सदी के आपके इतिहास के अध्ययन तथा आपकी समाज-रचना के अधिक घनिष्ठ परिचय ने मेरे पूर्व दृष्टि-विन्दु में बहुत परिवर्तन कर दिया है। मैंने अब इस बात को देख लिया कि केवल महान् से महान् आविष्कार—शोधक बुद्धि के बड़े से बड़े सफल प्रयोग ही समाज के कल्याण के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मैंने दूसरे यह भी देख लिया कि जो बुराई केवल श्रम बचाने वाले यंत्रों का आविष्कार करने ही में व्यस्त है, वह, सम्भव है, संपत्ति को बढ़ा कर समाज की सेवा करने के बजाय उद्यम को अस्तव्यस्त करके समाज की असेवा और हानि ही अधिक करे। क्योंकि मैं इस बात को नहीं मानता कि धनकी वृद्धि अर्थात् सुखसामग्री की वृद्धि हमेशा कल्याणप्रद ही होती है। सब से अधिक महत्त्व तो इस बात का है कि संपत्ति का बंटवारा किस तरह हो रहा है तथा राष्ट्र के चारित्र्य पर उसका प्रभाव किस तरह पड़ रहा है। और इस दृष्टि से जब मैं चीन में पश्चिमी सभ्यता के प्रवेश की सम्भावना का ख्याल भी करता हूं तो मैं डर जाता हूं।

एक उदाहरण देकर मैं अपनी बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर सकूंगा। चीन में जब पहले पहल हमने पेकिंग तथा टिएन्टसिन के बीच रेल बनवाना शुरू किया तो उसे देख कर आसपास के

लोगों ने उसका ऐसा विरोध किया कि बात की बात मे वहां खुल्ल-मखुल्ला एक बलवा हो गया। लोगों ने रेल की पट्टियों को उखाड़ डाला, पुलों को नष्ट कर दिया और काम को आगे बढ़ना असम्भव कर दिया। हमने क्या किया ? उन्हें तितरवितर करने के लिए फौज भेजने के बदले चीन की प्रथा के अनुसार अपने एक अधिकारी को उपद्रवियों से मिल कर उनके दृष्टिकोण को समझ लेने के लिए भेजा और, जैसा कि अक्सर होता ही है, उन लोगों का दृष्टिबिन्दु बिलकुल उचित था। ये बेचारे मल्लाहे थे। नौकाओं में माल और सवारियों को यहां से वहां, इस पार से उस पार पहुंचा कर वे अपनी गुजर बसर करते थे। इससे इन्हें यह आशंका हुई कि यदि रेल चल जायगी तो हमारी रोज़ी डूब जायगी। सरकार ने उनकी बात के औचित्य और न्याय को कबूल किया और उसने इन लोगों को विश्वास दिला दिया कि रेल से उनकी रोज़ी को विशेष हानि नहीं पहुंचेगी। बस, अब तो अशांति का कोई कारण ही नहीं रहा। यह किस्सा इस बात का एक उत्कृष्ट नमूना है कि ऐसे सवालों के समय हम लोग अपनी वृत्ति कैसी रखते हैं।

जिन जिन अंगरेजों को मैंने यह किस्सा सुनाया उन्हें आश्चर्य हुआ और कितने ही तो इसे सुन कर गुस्सा भी हो गये। उन्हें यह बात महाभयंकर प्रतीत हुई कि सरकार ने प्रजा की ऐसी बातों पर विचार ही कैसे किया ? वे तो हमेशा मांग और उपज के नियम की ही बातें करते रहते हैं। वे तो यही सोचते रहते हैं कि समस्त श्रमजीवियों को अंत में तो मालिक से ही काम पड़ेगा। प्रतिस्पर्धा, प्रगति, "मजूरी के बहाव" तथा "अन्तिम फल" की ही

बातें उनके दिमाग़ में चक्कर खाया करती हैं। मैं खुद भी इन बातों को थोड़ा बहुत सोचता समझता हूं। पर इससे मैं एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर से अपना ध्यान नहीं हटा सकता। नवीन पद्धतियों को शुरू करने के मानी यही हैं कि कम से कम कुछ समय के लिए तो जरूर मजदूरों की रोजी अव्यवस्थित हो जाती है। उनमें दारिद्र, कष्ट तथा फाकेकशी फैल ही जाती है। आपका औद्योगिक इतिहास इस बात के अनेकों प्रमाण पेश कर सकता है। और मुझे बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि यद्यपि आपने इन पिछले वर्षों में यांत्रिक कला को संपूर्णता को तो पहुंचा दिया है, तथापि आपने इसके कारण अपने मजदूरों में जिस अशान्ति और यन्त्रणाओं को उत्पन्न कर दिया है उनको कम करने का प्रयत्न तक नहीं किया है। यदि कहीं ऐसा प्रयत्न आपने किया भी हो तो यह निश्चित है कि आपको सफलता नहीं मिली है, पर इसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि यह बात तो आपकी आदत में शुमार हो गई है कि संपत्ति के मुकाबले में जीवन आपके लिए कोई मूल्य ही नहीं रखता। चीन की बात जुदी है। चीनवासी के लिए संपत्ति इतनी प्रलोभन की वस्तु नहीं है। पश्चिम की उद्यम-पद्धति को चीन में बड़े पैमाने पर शुरू करने तथा उसके फलस्वरूप चीन की चालीस करोड़ जनता में अनिवार्यतः मचनेवाली उथल-पुथल और अन्धा-धुन्धी का खयाल होते ही मैं तो कांप जाता हूं। शायद आप कहेंगे कि यह उथल-पुथल तो अल्पकालीन होगी। पर मैं तो देखता हूं कि पश्चिम में यह एक हमेशा की उपाधि हो गई है। पर इस बात को भी जाने दीजिए। मेरा

सवाल तो यह है कि इससे हमारा कल्याण ही क्या होगा ? इससे आपका लाभ और हमारी हानि स्पष्ट है। बताइए हमारा क्या उपकार होगा ? शायद आपको यह सवाल अजीब दिखाई दे। यदि चीनवासी इसे महत्त्वपूर्ण समझें तो आपको उन्हें क्षमा करना चाहिए। "बेशक आप कहेंगे कि इससे आपको धन मिलेगा।" हम कहते हैं ठीक है, धन मिल जायगा, पर क्या हम जीवन के आनन्द से वंचित नहीं होंगे ? क्या हम भी आपही के जैसे नहीं बन जायेंगे ? और क्या आप आशा करते हैं कि हम इसे शान्तिपूर्वक देख सकेंगे। अब क्या मैं यह गिना दूं कि इससे आपका क्या क्या उपकार हुआ ? इसमें शक नहीं, कि आपके पास हमारी अपेक्षा ऐसी कई वस्तुओं का संग्रह ज्यादह है जो जीवन के लिए कम आवश्यक हैं। आपलोग अधिक खाते-पीते हैं और अधिक सोते भी हैं। पर उनकी उन्नति यहीं समाप्त हो जाती है। आपलोग हमारी अपेक्षा कम प्रसन्न हैं, संतोषी कम हैं, उद्यमी भी इतने नहीं हैं और न आप हमारे इतने कानून को मानने वाले ही हैं। आपका पेशा शरीर और मन इन दोनों दृष्टियों से अधिक घातक है। आपके लोग जानवरों की तरह कारखानों में और शहरों में ठूंस दिये जाते हैं। न इनका प्रकृति से कोई नाता रहा और न जमीन पर इनकी कोई सत्ता ही है। इन सब बातों का वर्णन मैं पहले कर चुका हूं। यहां इसकी पुनरुक्ति तो केवल इसी लिए कर रहा हूं कि आप उस वृत्ति को ठीक-ठीक तरह से समझ लें जो वैसे आपको शायद विपरीत दिखाई दे। इस वृत्ति को रखने वाला मनुष्य ऐसा है जिसके दिल में पश्चिम के बुद्धि-चातुर्य के कामों के विषय में सच्चा आदर है, तथापि

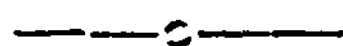
जिसे इस बात के विषय में गहरा संदेह है कि कहीं इस बुद्धि और चातुरी का उपयोग अस्थान तो नहीं हो रहा है; कम से कम वह इतना एकांगी तो नहीं जिससे लाभ के इतनी ही हानि भी हो। निःसन्देह आप इस गलती को दुरुस्त कर लेने योग्य बुद्धिमान और कुशल भी हैं। हां, आप इसे दुरुस्त करके संसार को जरूर दिखा देंगे कि प्रकृति पर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करने में आप जितने कुशल हैं, उतने ही कुशल मनुष्यों का संगठन करने में भी आप जरूर हैं। पर तब तक यदि आपकी पश्चिमी पद्धतियों के विषय में हमारे दिल में अधिक से अधिक आदर होते हुए भी यदि इन्हें हमारे देश में प्रचलित करते हुए हम हिचकिचावें तो हमें क्षमा कीजिएगा। माफ कीजिए यदि हमें मालूम हो कि इनके प्रवेश के साथ साथ चारों ओर अव्यवस्था और अन्धाधुन्धी फैल जायगी; जैसा कि अन्यत्र पाया गया है। इस तरह यदि इन सिद्धियों के प्रवेश से होने वाले लाभ हमें महंगे दिखाई दें तो क्षमा कीजिएगा।

पर मुझे एक और भी बात का विचार होता है। वह बात जरा है तो अस्पष्ट, पर इसलिए वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक देश में समाज का बहुत बड़ा हिस्सा शारीरिक परिश्रम करने वाला होता है। इसका परिमाण जितना आपके समाज में है उससे कम हमारे समाज में नहीं है। ज्यादह तो हरगिज़ नहीं। यंत्र-सामग्री के व्यवहार से इस संख्या में कोई फर्क नहीं देखने में आया है। परन्तु दूसरी ओर प्रत्येक समाज में ऐसे आदमी भी होते हैं, बल्कि होना चाहिए भी, कि जो इस अर्थ की दासता से मुक्त हो गये हों, और जिन्हें उच्चतर ध्येयों के अवलम्बन करने का

समय ०। ।२ सदियों से चीन म संस्कार-प्रधान विद्याओं के सेवन के लिए एक पृथक वर्ग ही निर्माण कर दिया गया है। और शासन-संचालन का काम भी इसीको सौंप दिया गया है। यह वर्ग कोई कड़क वंश परम्परागत जाति नहीं है। ऐसा प्रत्येक आदमी उसमें शामिल हो सकता है, जिसमें आवश्यक कुशलता तथा एक विशिष्ट जीवन-सैली हो। और इस विषय में हमारे राष्ट्र ने अपने दरवाजों को जितना खुला रक्खा है उतना शायद संसार की किसी भी जाति ने नहीं रक्खा। इस शासकवर्ग को हमारे यहां जो शिक्षा अनिवार्यतः ग्रहण करनी पड़ती है, आपके यहां उस पर टीकाएं होती हैं। पर मैं यहां पर उसका बचाव करने का प्रयत्न नहीं करूंगा। मैं तो यहां सिर्फ यही कहना चाहता हूं कि इस रिवाज की बदौलत हम अपने समाज में —नीचे से लेकर ठेठ ऊपर तक के वर्गों में—बुद्धि और आत्मा संबन्धी वस्तुओं के प्रति जो आदर उत्पन्न और विकसित कर सके हैं उसका यूरोप में मिलना मुश्किल है। ख़ास कर इंग्लैंड में तो इसका नामोनिशान भी नहीं। चीन में विद्वत्ता के विषय में जितना और जिस तरह का आदर है, मेरा ख्याल है, आप उसे समझ भी न सकेंगे। पर इसके लिए कारण भी ऐसा ही है। हमारे संत-कवियों ने कई पुश्तों पहले से अपने वंशजों को समझाया था कि मनुष्य का कल्याण धन में नहीं, सत्ता में नहीं, और न इन हजारों सांसारिक प्रवृत्तियों में है। बल्कि वह तो उस सूक्ष्म समझदारी में है जो जीवन के सादे से सादे तथा विशाल से विशाल सम्बन्धों के विषय में विकसित की गई है। भावनाशील बनना तथा ऐसा बनने के लिए भावना को व्यक्त करना, और

इतना भी न बने तो प्रकृति में जितना लालित्य है, मनुष्य में जो कुछ भी हृदयग्राहक तथा भावनाप्रेरक है, और जो कला द्वारा व्यक्त हो गया है, उसे समझ लेना ही हमारे ख्याल से मनुष्य के लिए काफी है। यह आदर्श भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चन्द्रिकोज्ज्वल उद्यान में विकसित गुलाब, हरी-हरी दूब से छायी हुई भूमि पर फैली हुई वृक्षों की छाया, पूंछ फैलाए मोर का उन्माद, बादाम की मंजरी, चीड वृक्ष की भीनी-भीनी महक, द्राक्षासव के प्याले और सतार का सुर, और इन सब के साथ जीवन और मरण का कारुण्य, चिर विरह का अनुगामी गाढ़ आश्लेष, विफल भिक्षा, काल का वह मनोहर क्षण जो संगीत और प्रकाश को वहन कर उस चिरपरिचित अनन्त भूतकाल की छाया और शांति में हमेशा के लिए विलीन हो जाता है, वे भूल-भुलैयाएं, वह उड़ता हुआ पक्षी और वायु में फैलता हुआ वह सौरभ इत्यादि समस्त चीजें हमारे यहां हैं और उनका रहस्य-संदेश समझ लेने की शिक्षा हमें दी जाती है। और इसी ललित आनन्द को साहित्य कहते हैं। यह है हमारा धन। इसे तो आप हमें कदापि नहीं दे सकते। हां, उलटे आप यह हम से छीन जरूर सकते हैं। यांत्रिक करघों के कर्कश 'सटासट' के बीच आप इस वीणा के झङ्कार को नहीं सुन सकते और कारखानों के उस काले-कलूटे धुएं में उसे आप देख भी नहीं सकते, और पश्चिमी जीवन के भयंकर प्रवाह तथा आवर्त में वह तो जीता भी न बचे। जब मैं आपके व्यापारियों को— जिन आदमियों की आप अधिक-से-अधिक तारीफ करते हैं—देखता हूं, जब मैं उन्हें प्रतिक्षण, प्रतिदिन, प्रतिवर्ष, सिर पर पड़ी हुई और बेलज्जत मिहनत की चक्की में पिसते

हुए देखता हूं, और देखता हूं कि जो कुछ भी निर्जीव तथा थोड़ी-सी फुरसत उन्हें मिलती है उसमें भी वे अपने दिन भर के काम की चिन्ताएं ही किया करते हैं, और श्रम की अपेक्षा तुच्छ स्वार्थ की चिन्ताओं के भार से अधिक दबे जाते हैं, जब इस सब परिस्थिति को देख कर मैं हमारे प्राचीन उद्यम की सादगी का विचार करता हूं तब मुझे बड़ा सन्तोष होता है। संतोष मुझे यह देख कर होता है कि आपके इन नवीन जोखिम भरे मार्गों की अपेक्षा हमारे पुराने और परिचित रास्ते कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। उनसे तो हमारे पैर इतने परिचित हो गये हैं कि उनपर चलते हुए हम आकाश के विस्तीर्ण पत्थर फैले हुए उस शाश्वत तारा-मण्डल तक को निहार सकते हैं। हमारे हृदय में इतनी शान्ति होती है।



६

यूरोपियन लोग हमारी शासन-व्यवस्था की जितनी विरोधी तथा तिरस्कारयुक्त टीकायें करते हैं, शायद ही उससे अधिक किसी अन्य संस्था की करते होंगे। हमारे अधिकारियों को बहुत कम तनख्वाह मिलती है, इसलिए वे कई बार नाजायज तरीकों से धन कमाने की लालच के वश हो जाते हैं। इसे देख कर विदेशी लोग बड़े चिढ़ते हैं। पर यह बात तो स्पष्ट ही खराब है। अतः उसके बचाव में मैं कुछ भी कहना नहीं चाहता। तथापि इसके साथ ही मुझे यह तो जरूर कह देना चाहिए कि इस तरह के भ्रष्टाचार आपके यहां जितना गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं उसके मुकाबले में चीन के भ्रष्टाचार तुच्छ दिखाई देते हैं। आपके यहां सरकार का काम इतना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है और वह इतना सर्वव्यापी हो गया है कि आप शायद ही ऐसी किसी जाति की कल्पना कर सकते हों जो अपना काम लगभग पूर्णतया विना सरकार के ही कर रही हो।१ तथापि हम ऐसी ही जाति हैं। हम सरकारकी सत्ता और शासन से इतने स्वतन्त्र

रह पाये हैं कि यूरोप के लोगों को इसका विश्वास तक न हो सकेगा। और इसका कारण है हमारी सभ्यता की सादगी तथा उसकी स्वाभाविकता, हम लोगों का सरल शांति प्रिय स्वभाव, (विदेशियों के आक्रमणों के कारण वे यदि अपनी शांति को खो बैठें तो बात जुदी है) और इनके अतिरिक्त हमारी कुटुम्ब-संस्था, जो एक छोटा-सा राज्य हो है, और जो स्वयं एक राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक घटक है। इनके साथ साथ और भी कई बातें ऐसी हैं, जो हमारी इस स्वाधीनता की पोषक हैं। यदि आज पेकिंग की सरकार कोई ऐसा काम कर डाले जिसे उसे नहीं करना चाहिए, या वह कोई ऐसा कार्य करने से इन्कार कर दे जो उसे करना चाहिए, तो उसका हमारी देश की सर्वसाधारण जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। सिवा इसके कि उन कार्यों में लोकमत या जनता की मांग-सम्बन्धी हलचल की प्रतिध्वनि हो। अन्यथा, जैसा कि आप विदेशियों को कई बार का कड़ुआ अनुभव हो चुका है, ये कृत्य केवल कागज ही पर रह जाते हैं। सरकार स्वयं भले ही कितने ही समझौते और संधियां करे, उसकी यह सामर्थ्य नहीं कि वह लोकमत की सीमा को नांघ कर उनपर अमल कर सके। और यदि पश्चिम के राष्ट्र इस सरकार द्वारा अपनी इच्छा प्रजा पर लादना चाहेंगे तो, जैसा कि पहले कई बार हो चुका है, भविष्य में भी सनातन तथा दृढ़ परम्परावाली इस विशाल जाति का निष्क्रिय विरोध उनके इन प्रयत्नों को विफल कर देगा। और संसार की कोई शक्ति इस प्रचण्ड निष्क्रिय विरोध को रोक नहीं सकेगी। सम्भव है विग्रह का तूफान क्षणभर के लिए इस सागर के पृष्ठभाग पर क्षोभ

मचा दे, उसे शायद फेनाच्छन्न कर दे, पर वह न तो कभी उसकी निर्मल अगाध गहराई को, जिसमें चीन की शान्त समाधिस्थ आत्मा बस रही है, पहुंच सकता है और न उसका मन्थन करके उसे क्षुब्ध ही कर सकता है।

हां, यदि कोई हम लोगों में क्रान्ति कर देना चाहे तो उसे पहले उनके हृदय तथा बुद्धि पर प्रतीति द्वारा अधिकार करना चाहिए। यहां, यूरोप में आपको यह पाठ पढ़ने में बहुत देर लगती है। पर इस बात को हमारे शासन-सिद्धान्तों में शामिल किये और उनपर अमल करते सदियां बीत गईं। हमारे देश में सरकार पूर्णरूपेण प्रजा की सम्मति पर ही निर्भर है। यहां तक कि उसका अनुकरण करना तो दूर को बात है, पर आपके लिए उसे ठीक ठीक समझ लेना भी मामूली बात नहीं होगी। यंत्रों को बढ़ा-बढ़ा कर जिस वस्तु का साध्य करने का आपने व्यर्थ प्रयत्न किया है, वह स्वाभाविक परिस्थिति के कारण हमें अनायास ही प्राप्त है। हमारी मुख्य-मुख्य संस्थाएं, जो हुकुमी लोगों द्वारा खड़ी की गयीं, सत्ता के हाथ की कठपुतलियां नहीं हैं। वे तो उस उत्क्रान्ति के प्रतीक हैं जिसके अनुसार जनता ने अपने जीवन को निर्माण किया। न तो किसी सरकार ने उनको उत्पन्न किया है और न किसी भी सरकार को इतनी शक्ति है कि वह उनमें कोई परिवर्तन कर सके। और यदि समय-समय पर नयी परिस्थिति का सामना करने के लिए उनमें नवीन नियमों को जोड़ने की आवश्यकता दिखाई देती है, तो वे उनमें तभी जोड़े जाते हैं जब लोकमत उसकी मंजूरी देता है या उनकी उपयोगिता, सामर्थ्य तथा लोकप्रियता के विषय में सब को निश्चय हो जाता

है। यदि एक शब्द में कहना चाहें तो हमारे यहां कानून एक बाहरी नियन्त्रण नहीं बल्कि राष्ट्रीय जीवन का एक स्वाभाविक धर्म सूत्र है। और कानून की किताब में लिखे जाने के पहले वह जनता के जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। यही कारण है कि चीन में सरकार न तो निरंकुश है और न अनिवार्य ही है। यदि कल ही हमारी प्रान्तीय या बड़ी सरकार का अस्तित्व लोप हो जाय तोभी हमारा जीवन ज्यों का त्यों लगभग पहले ही का सा रहेगा। जिस कानून को हम शिरोधार्य करते हैं, वह हमारे जातीय स्वभाव के अनुकूल होता है और सदियों के अनुभव के बाद बनाया जाता है। यदि बाहरी भय या लालच को हटा दिया जाय तोभी हम उसका उल्लंघन न करेंगे। परिस्थिति के कितने ही ज्वार-भाटे आये और चले गये, पर फिर भी हमारी कुटुम्ब-व्यवस्था तो ज्यों की त्यों कायम है, और हमारा स्वभाव भी पहले ही का सा व्यवस्थाशील, उद्यमी और मितव्ययी बना हुआ है। चीन को बनानेवाली चीजें ये हैं। आजतक हम चुपचाप सरकार को स्वीकार जरूर करते आये हैं, तथापि उसकी सत्ता तभी तक टिकी रह सकेगी २ जब तक वह समझेगी कि उसका काम अपना आतंक जमाना, रौब गांठना नहीं बल्कि लोक सेवा है। वह तभी तक टिकेगी जब तक वह प्राचीन समाज-व्यवस्था के सिद्धान्तों को अटल समझ कर उनका स्वीकार करती रहेगी, उनको व्यवहार में परिणत करती रहेगी, और समय-समय पर उन्हें उचित रूप देकर उनकी रक्षा करती रहेगी। चीन बदलता नहीं है। ये उपद्रव जिन्हें आपने इतना महत्त्व दे रक्खा है, और जिनका कारण स्वयं आप ही हैं, इस बात के चिन्ह नहीं हैं कि

हमारी सभ्यता का दिवाला निकल गया, उसकी अलीशान इमारत टूट कर गिर पड़ी। आप तो केवल किनारे पर टकराने वाली लहरों की आवाज़ मात्र सुन सकते हैं। पर इस महासागर की अगाध शान्ति तो दूर, बहुत दूर तक, जहां तक आपकी दृष्टि भी नहीं पहुंच सकती, उस नीलवर्ण क्षितिज की रेखा तक फैली हुई है, जहां तक आपकी नौकाएं भी नहीं पहुंच सकतीं।

पश्चिम में सरकार और शासन-यंत्र की कल्पनाएं कितनी भिन्न हैं? उनमें मूलभूत सिद्धान्तों का नहीं, अनेकों असंबद्ध कानूनों का साम्राज्य है। ऐसी कोई बात जड़ नहीं पकड़ सकती जिसे आपने हेतुपूर्वक बड़े प्रयत्नों से नहीं बोया है। और जिसे बोया है उसे बिना बार बार बोये काम नहीं चलता। पिछले सौ बरसों में आपने अपने समाज-मन्दिर की सभी मंजिलें तोड़ गिराई हैं। संपत्ति और विवाह, धर्म नीति, अधिकार तथा वर्ग के भेद, और वह सब कुछ जो मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध में गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण है, जड़ से उखड़ गया है, उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, और वे कालके प्रवाह पर तैर रहे हैं। इसीलिये तो आपकी सरकारों को इतना काम रहता है। और अगर आपका छिन्न-भिन्न समाज कुछ अंशों में भी टिका हुआ है, जीवित बचा है, तो उसका श्रेय इन सरकारों को ही है। आपके यहां सरकारों का जितना महत्त्व है, हमें पूर्व में तो उसका ख्याल भी नहीं हो सकता। मेरा तो ख्याल है कि यही हालत आपके लिए एक अनिष्ट है। पर मैं देखता हूं कि यह अनिवार्य भी है। सब से अधिक आश्चर्य तो मुझे उस यंत्र की नाजुकता पर होता है जो इतने गुरुतर भार का आधार है। मैं जानता हूं कि होशियार

आदमियों को चुनने की कोई अचूक और विश्वसनीय पद्धतिका आविष्कार करना अथवा उसे उत्पन्न करना बहुत मुश्किल है। शायद वह असम्भव भी हो। तथापि यह विचित्र तो है ही कि जिन आदमियों के हाथों में आप इतने महत्त्वपूर्ण काम सौंप देते हैं उनकी नैतिक तथा बौद्धिक पात्रता की आप अपनी तसल्ली तक नहीं कर लेते। हम चीन में अपने राज्यकर्ताओं को चढ़ाऊपरी की परीक्षाओं द्वारा चुनते हैं। पर इसकी आप हंसी उड़ाते हैं, तिरस्कार भी करते हैं। मैं मानता हूं कि आपका यह तिरस्कार करना सर्वथा अस्वाभाविक नहीं है। पर फिर भी आप नीचे के वर्ग के लोगों की पसंदगी करते समय इसी पद्धति को काम में लाते हैं। और कुछ न सही, इस पद्धति में एक गुण तो जरूर है। इसकी जड़ में यह सिद्धान्त है कि राज-तंत्र की सारी जगहें प्रत्येक मनुष्य के लिए खुली है, फिर वह श्रीमान् हो या गरीब। हां, उसे अपनी बुद्धिमत्ता और कुशलता का आवश्यक प्रमाण दे देना चाहिए। जो यह नहीं कर सकता उसका तो सवाल ही नहीं है। चुनाव-पद्धति की तुलना में मेरा ख़्याल है कि इसमें जरूर ही अधिक अक्लमन्दी है: क्योंकि आखिर चुनाव के मानी क्या हैं? आप उत्तर देंगे 'लोक-प्रतिनिधित्व'। पर क्या आप अपने हृदय के अन्तस्तल में इस बात को स्वीकार नहीं करते कि ये चुनाव के मानी ही नहीं हैं, हो नहीं सकते? यह प्रतिनिधित्व लोक अर्थात् जनता का—समाज का—नहीं। यह तो वर्ग-विशेषों का है। और इन वर्गों को किस बात की चिन्ता है? शायद आप कहेंगे सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए वे उत्सुक हैं। पर क्या जमींदार, शराब बनाने वाले, रेलवे कम्पनियों के मालिक आपके

सच्चे राज्यकर्ता नहीं हैं ? और क्या जब तक आपकी वर्तमान समाज-रचना कायम रहेगी, इसके अतिरिक्त और कुछ हो भी सकता है ? मैं जानता हूं कि आपके यहां एक ऐसा भी पक्ष है जो उपर्युक्त वर्गों के विपक्ष में जनता का हजारों गुना पशुबल आजमाना चाहता है। पर यदि यह एक उपाय व्यवहार्य भी हो तो मुझे वह पसंद नहीं। क्योंकि आपके समाज में यह सर्व-साधारण भी तो उन अनेकों वर्गोंमें से एक है। आपने जो समाज-यंत्र बना रक्खा है उसका उद्देश यही मालूम होता है कि अपनी-अपनी स्वार्थ-साधना की ताक में बैठी हुई भिन्न भिन्न कट्टर शक्तियों को अखाड़े में एकत्र कर लड़ाया जाय,जिससे लड़ते-लड़ते वे ऐसे परिणाम पर पहुंचें कि जिसमें समस्त समाज का कल्याण हो। इस पद्धति के विषय में मेरे दिल में जरा भी उत्साह या सहिष्णुता नहीं है, उतनी भी नहीं जो आपके यहां साधारणतया बताई जाती है। प्रत्येक चीनी में चारित्र्य के लिए स्वभावतः ही आदर होता है, और आदर होता है उसके दिल में इस भावना के प्रति भी कि बुद्धि को सर्वोच्च स्थान दिया जाय। संभव है,आपके यूरोप की उस उपर्युक्त पद्धति के प्रति अपना उत्साह या सहिष्णुता भी प्रकट करते हुए मेरी वह स्वाभाविक विवेक-बुद्धि मुझे रोक रही हो। पर जिस समय सरकार के सामने इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पड़े हुए हैं, और सिवा उनको हाथ में लेने के सरकार के लिए कोई चारा नहीं रह जाता, मेरे दिल में हठात् यह विचार पैदा होता है कि क्या ही अच्छा हो यदि इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने के लिए सरकार ऐसे अच्छे उपायों का अवलम्बन करती जिससे प्रजा के सर्वश्रेष्ठ बुद्धिशाली पुरुष इन

प्रश्नों में दिलचस्पी लेने लगें। और इस मत का एक विचार से समर्थन भी किया गया है। आपके विद्यापीठों में तथा अन्यत्र भी मैंने ऐसे पुरुषों को देखा है जिन्होंने आपकी धारा-सभाओं में पेश होने वाली प्रश्नों का गहरा अध्ययन किया है, जिनकी बुद्धि निर्मल है, जिनकी निर्णय-शक्ति पक्षपातशून्य है, जिनका उत्साह निःस्वार्थ और शुद्ध है, तथापि जिन्हें अपने ज्ञानको मूर्त रूप देने को आशा ही नहीं है। क्योंकि वे स्वभावतः अपने संस्कारों तथा रहन-सहन के कारण ही चुनाव की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अयोग्य बन जाते हैं। यहां तो पार्लियामेन्ट का सभ्य बन जाना ही मानो एक स्वतंत्र पेशा बन गया है, और ज्ञात होता है कि जिन गुणों के कारण मनुष्य को सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने का मौका मिलता है वे उन गुणों से जुदे, बल्कि विरोधी होते हैं जो प्रजा के लिए हितकर होते हैं, जिनसे उसकी सेवा होने की आशा रहती है।

—:—

७

जहां राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय स्वभाव के बीच गहरे और तात्विक भेद हों, वहां सामान्यतया उनसे मिलते-जुलते धार्मिक मान्यताओं के भेद भी पाये जाते हैं क्योंकि राष्ट्र तो देह है, और धर्म उसकी आत्मा है अथवा उसे होना चाहिए। राष्ट्रीय संस्थाओं को अनुप्राणित करने वाली, उनको धारण करने वाली वस्तु धर्म ही है। मैं जानता हूं कि मनुष्य प्राय: धर्म का यह अर्थ नहीं करते, क्योंकि कई बार देखा गया है कि वे धर्म और लोकभ्रम को एक ही समझते हैं। यहां पर मैं इन दोनों को पृथक कर धर्म ही के विषय में कुछ कहना चाहता हूं। किन्तु इसके पहले एक बात कह दूं कि चीन की जनता में भी उतना ही लोकभ्रम फैला हुआ है, जितना कि यूरोप के किसी भी देश की जनता में है।१ हमारे यहां चीन में बौद्ध-धर्म तथा ताओ संप्रदाय२ में भी उतनी ही दु:खद और हास्यास्पद प्रथाएं एवं मान्यतायें घर किये बैठी हैं जितनी आपके ईसाई धर्म द्वारा पुष्ट की गई हैं। आपके समान हमारे चीनी लोग भी विधियों, प्रार्थनाओं तथा

व्रत-मानताओं द्वारा प्रकृति की गति में हस्तक्षेप करने तथा व्यक्तिगत आर्थिक लाभ प्राप्त करने की आशा रखते हैं। जिस प्रकार रोमन कैथोलिक लोग संतों में विश्वास करते हैं उसी प्रकार चीनी लोग भूत-पिशाचों को मानते हैं। वे मूर्तियों को मानते हैं, ऐन्द्रजालिक विद्या से काम लेते हैं, और धर्माधिकारियों के पाखंड का पुष्ट करते हैं। पर मैं इनका जिक्र नहीं करूंगा; क्योंकि ये धर्म के अंग नहीं। ये तो बाह्य और फजूल बातें हैं जिनकी सच्चे धर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं। मैं तो इनमें केवल मानव स्वभावकी कमजोरी को देखता हूं। भिन्न भिन्न जीवों की स्वाभाविक विकृति का यह तो प्रकाशन मात्र है। जिस आदर्श और जिस धर्म की नींव पर हमारी संस्कृति की रचना हुई है वह तो इससे बिलकुल जुदी वस्तु है। आज मैं उसी के विषय में जो यूरोपियनों में भारी गलतफहमी का विषय बनी हुई है, दो शब्द कहना चाहता हूं।

कई बार कहा जाता है कि कान्फ्यूशियस का धर्म धर्म ही नहीं। यदि धर्म के मानी उन आगमों के समूहों से हो जो इस लोक से सर्वथा भिन्न किसी अतिमानुषी परलोक से सम्बन्ध रखते हैं, तब तो कान्फ्यूशियस धर्म के विषय में किया गया उपर्युक्त विधान सर्वांश में ठीक होगा, क्योंकि कान्फ्यूशियस का तो यह एक प्रधान हेतु था कि अतिमानुषी परोक्ष वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाली चर्चा को ही रोक दिया जाय। और जो मनुष्य इस गुरु का सच्चा शिष्य है वह बराबर इस बात में अपने गुरु का अनुकरण करने का प्रयत्न करता है। एक चीनी आचार्य कहते हैं, 'धर्म से बच कर रहो' अर्थात् इन लोकभ्रमों से बच कर रहो। इस

अर्थ में और केवल इसी अर्थ में कान्फ्यूशियन धर्म अधार्मिक है। फिर यह भी कहा जाता है कि कान्फ्यूशियन धर्म तो केवल सदाचार की स्मृति है। कान्फ्यूशियन धर्म का जरूर यही आदर्श और उद्देश है कि मनुष्य को सदाचार में प्रवृत्त किया जाय। और इस बात को देखते हुए यह उपर्युक्त कथन भी अधिकांश में सत्य है। पर मेरे कहने का मतलब तो यह है कि इन सब विधानों की दूसरी बाजू को देखा जाय तो कान्फ्यूशियन धर्म केवल उपदेश नहीं, ठोस जीवन दिखाई देगा। इस धर्म की आज्ञाओं में जो सिद्धान्त समाविष्ट हैं वे हमारी समाज-रचना में जीवित हैं। अत: वे केवल पोथी की बातें नहीं, बल्कि दैनिक व्यवहार की बातें हैं। पितरों की पूजा द्वारा जो कौटुम्बिक तथा राजवंश के ऐक्य का साधन हुआ है वह भी कोरा धर्म सिद्धान्त नहीं है, बल्कि प्रत्येक चीनवासी के नित्य व्यवहार की वस्तु है, फिर वह बौद्ध, 'ताओ' संप्रदायी अथवा ईसाई हो। वह तो इस पितृपूजा को एक सच्ची महत्त्वपूर्ण वस्तु समझता है। इसके अनुसार तो भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल की जीवित पीढ़ियां एक अखंड जीवन-प्रवाह है। सब का जीवन शाश्वत है, अनंत है। यह एक जुदी बात है कि इन में से कुछ ही लोग एक निश्चित काल में इस भूतल पर रह सकते हैं। इस तरह उस सामाजिक मान्यता में राष्ट्र को संगठित करने की अमोघ शक्ति है जो पितृ-पूजा की जड़ में छिपी हुई है। इसका चीन पर जो गहरा प्रभाव पड़ा है उसे तो आदमी देखने पर ही समझ सकता है। परन्तु इसका एक दूसरा उदाहरण भी है जिससे आप अधिक परिचित हैं। रोम की सभ्यता से मेरा मतलब है।

तो, यह हमारे राष्ट्रीय धर्म का ऐसा अंग है जो सब से पहिले और अधिक से अधिक ध्यान आकर्षित करता है। एक दूसरा भी अंग है, जिसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर किसी प्रकार कम नहीं। कान्फ्यूशियन धर्म का आदर्श कर्मयोग है। अठारहवीं सदी में चीन में आये हुए आपके निरीक्षकों ने चीन के राजा का साल में एक बार हल चलाने की विधि की ओर बड़े जोर के साथ ध्यान आकर्षित किया था और सचमुच बनिस्बत पीछे से आने वाले निरीक्षकों के उन पहले लोगों में अधिक समभाव था। और वे हमारी संस्कृति के हृदय को भी अधिक अच्छी तरह पहचान सके थे। हमारे धर्म का मूल सिद्धान्त है मज़दूरी करना और खास कर ज़मीन पर मज़दूरी करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। और इसीलिए, हम सब रिद्धि-सिद्धि की देने वाली माता वसुधा की पूजा करते हैं,इसीलिए हम प्रकाश और वर्षा के देने वाले द्यौष्पिता की वन्दना करते हैं, और हमारी समाज-रचना का ध्येय यह व्यवस्था कर देना है कि सब को जमीन मिल सके। हमारे राष्ट्र का सादा और सब की समझ में आने योग्य यही आदर्श भी है,कि सब स्वेच्छापूर्वक अपना जीवन समर्पण कर दें, और द्यावा-पृथिवी का आशीर्वाद प्राप्त कर सब शांतिपूर्वक हिलमिल कर परिश्रम करें। हमारी सामाजिक संस्थाओं में भी इसी कल्पना को हमने मूर्त स्वरूप प्रदान किया है। यदि इसके अतिरिक्त आप ऐसे दर्शनशास्त्रों को भी देखना चाहें, जिनमें हमारे सादे आदर्श पर अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया गया है, तो हमने अपने पंडितों के लिए वे भी बना रक्खे हैं। उन्हें पढ़ाया जाता है कि मानव-समाज एक आध्यात्मिक और शाश्वत चैतन्य है, और वह

पुश्त दरपुश्त काल के पट पर प्रकट होता रहता है। यह चैतन्य क्या है? स्वर्गलोक और मर्त्यलोक, अन्तिम आदर्श और वर्तमान परिस्थिति को जोड़ने वाली कड़ी है। मनुष्य-जीवन का आदर्श और उद्देश्य यही है कि हम सेवा-भावपूर्वक, अविरत श्रम करके धरातल को ही नन्दनवन बना दें, अर्थात् उस परम कल्याण को भूतल पर मूर्तिमन्त उपस्थित कर दें, जो अभी केवल कल्पनामय अस्तित्व ही रखता है, और इस आदर्श को चरितार्थ करते हुए हम मनुष्य का मनुष्य के साथ, तथा मानव-मात्र का उस दिव्य अक्षरसे अभिन्न सम्बन्ध प्रस्थापित और मज़-बूत करते हैं। क्या इस श्रद्धा को धर्म का नाम शोभा नहीं देता? मैं नहीं कहता कि जन साधारण इस श्रद्धा को अपने हृदय में जागृत रूपसे धारण किये हैं, क्योंकि किसी भी राष्ट्र में सर्वसाधारण चिन्तनशील नहीं होते, किन्तु मेरा यह दावा तो जरूर है कि हमारे राष्ट्र की जनता का जीवन ही इस तरह व्यवस्थित किया गया है कि उसका इन धर्मतत्वों से बराबर मेल बना रहता है। हां, हमारे समाज के मामूली मनुष्य ऋषि-मुनियों के उन उपदेश वचनों को पालन करने का दावा नहीं करते, पर उनके आचरण में तो वे जरूर होते हैं। हमारा ख़याल है कि प्रत्येक समाज की जड़ में दो सिद्धान्त होने चाहियें। एक तो मनुष्यमात्र में भ्रातृ-भाव और दूसरा परिश्रम की प्रतिष्ठा। और हमारी समस्त सांसारिक संस्थाएं इसी तरह बनाई गई हैं कि उनके द्वारा इन दोनों तत्त्वों का सम्पूर्ण महत्व हमारे सर्वसाधारण के चित्त पर भली भांति अंकित हो जाता है।

एक शिक्षित चीनी की दृष्टि में कान्फ्यूशियन धर्म का सार

ऊपर लिखे अनुसार है। यूरोप में इतने साल मैं रहा, तथापि ईसाई धर्मका रहस्य और महत्त्व समझने में मुझे कहीं अधिक कठिनाई को अनुभव करना पड़ता है। किन्तु आपके धर्म-ग्रन्थ, आपका इतिहास, तथा आपके वर्तमान जीवन ने मुझपर जो असर डाला है, उसकी यदि कुछ झांकी मैं आपको दिखाऊं तो क्षमा कीजियेगा। मैंने जो निरीक्षण किया है, उसमें इस बात का अधिक ध्यान नहीं रक्खा कि आपके धर्म में सत्य कितना है। मैं यह भी नहीं मानता कि उसकी इस तरह जांच करने की योग्यता मुझमें है, किन्तु मैंने तो उसको इसी दृष्टि से देखा है कि उस धर्म का प्रभाव आपके समाज पर कितना पड़ा है। दूसरी सब बातों को छोड़ दें, तो आपकी और हमारी सभ्यता में केवल इसी बात के विषय में जो महदन्तर है, उसे देख कर तो मैं दंग रह गया। मुझे यह तो जरा भी नहीं मालूम होता कि आपके समाज की नींव धर्म पर स्थित है, और यदि मैं ख्रिस्ती धर्म का स्वभाव समझने में गलती नहीं कर रहा हूं, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं। क्योंकि आपका आदर्श, जिसे बायबल आपके सामने रखता है और जो आपके धर्म-वेत्ताओं की चर्चा का विषय है, पृथ्वी पर मजदूरी करने में नहीं, बल्कि परलोक-चिन्तन से सम्बन्ध रखता है। वह मानव जाति का ऐक्य साधन करने की चेष्टा नहीं करता, बल्कि साधुओं का संघ बनाने का आदेश करता है। मैं यह निर्णय देने की धृष्टता नहीं करूंगा कि यह आदर्श हमारे आदर्श की अपेक्षा बढ़ कर है या नहीं, किन्तु मैं यह तो जरूर मानता हूं कि आपका आदर्श कम व्यवहार्य है। और इस बात को प्रत्येक आदमी मानेगा

कि ऐसी कल्पना के आधार पर किसी भी स्थिर समाज की इमारत खड़ी करना यदि असम्भव नहीं, तो नितान्त कठिन तो जरूर है, जिसमें सांसारिक जीवन एक ऐसे नाटक का विष्कंभक समझा गया है जिसका मध्य-विन्दु अथवा कर्मकेन्द्र कहीं संसार के बाहर हो । क्या मैं यह बताऊं कि यदि सच्चे दिल से ईसाई धर्म का पालन किया जाय तो उसका फल क्या हो ? सांसारिक दृष्टि से जो चीजें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मालूम होती हैं, उनकी उपेक्षा होगी, और सामाजिक जीवन में कूद पड़ना, उसमें पूर्णतया लिप्त हो जाना धर्म-विरोधी कहा जायगा, अर्थात् पारलौकिक वैभव की चकाचौंध सांसारिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य में अन्धाधुन्धी मचा देगी। मुझे तो ईसाई धर्म के सच्चे पालन का स्वाभाविक परिणाम यही दिखाई देता है, और यदि मेरा ख्याल ठीक हो तो आपके श्रद्धायुग में भी आपकी सभ्यता की दशा यही थी। जिस समय ईसाई धर्मतत्त्वों को व्यवहार में परिणत करने का बीड़ा उठाया गया, तब क्या अवस्था हुई ? ज़रा यूरोप के इतिहास का अवलोकन कर लीजिए, विरागी जीवन, मठसम्बन्धी व्रत, धर्माधिकारियों की निरंकुश सत्ता, स्वर्ग-नरक के व्यापक प्रश्नों के सामने जीवन-मरण के तुच्छ सवाल फीके पड़ जाते, और समाज में उनके प्रति उपेक्षा दिखाई देती। भिक्षा की प्रतिष्ठा थी, द्रव्य के प्रति तिरस्कार था, बुद्धि की प्रगति रुक गई थी, कल्पना की अधिकता थी, नरपति और धर्मपतियों के बीच लड़ाइयां ठन गई थीं, शरीर और आत्मा के बीच विग्रह मचा हुआ था, और जहां देखिए तहां पक्षपात, कलह, अन्धाधुन्धी तथा बुद्धि और नीति की हत्या ! बस यही दृश्य उस असाधा-

रण युग में दिखाई देता था। ४ भौतिक और नैतिक जगत् के तमाम सत्यों की सेना के सामने एक विचित्र आदर्श केसरिया बाना पहन कर खड़ा हो गया और ठान दिया उसने जीवन-मरण का भीषण संग्राम। पर इस संग्राम में उसे पराजित होना पड़ा। पश्चिमी संसार इस संग्राम के कीचड़ में कूदने के पहिले जितना धर्मशून्य था; ठीक उतना ही धर्मशून्य वह उस कीचड़ से बाहर निकलने पर भी पाया गया। बल्कि अब तो वह साफ-साफ कहने भी लग गया कि हमें तो केवल इस संसार से मतलब है। अपनी जागृत जिज्ञासा को उसने छिपाया नहीं। बड़े उत्साह के साथ प्रकृति की तमाम शक्तियों को अपने वश करने तथा सौंदर्य, सम्पत्ति, बुद्धि-चातुर्य, चारित्र्य तथा सत्ता को प्राप्त करने का अडग निश्चय करके निकल पड़ा। तब से लेकर आज तक आपकी संस्थाओं में ईसाई धर्मतत्त्व प्रतिष्ठित करने का कोई प्रयास आपने नहीं किया, यद्यपि आप ईसाई होने का दावा उसी प्रकार करते आये हैं, और आज भी कर रहे हैं। इसके विपरीत आपकी यह इच्छा रही है कि पुराने जमाने के प्रत्येक अवशेष को तोड़ गिराया जाय। राष्ट्र से धर्म को तथा श्रद्धा और विधि को कर्म से जुदे कर दिये जायँ। और यह तो आप खुद ही कबूल करते हैं कि आपने अपने समाज को आर्थिक तथा राजनैतिक शक्तियों की शरण में लाकर खड़ा कर दिया है। इसका जो परिणाम हुआ उसका वर्णन करने का प्रयत्न मैंने अपने पिछले एक पत्र में किया है।

इस तरह यद्यपि आपके समाज का विकास एक ओर अर्थ और काम की नींव पर हुआ है, तथापि दूसरी तरफ आपने अपने

धर्म को भुला नहीं दिया है। सिर्फ एक बात है, उसकी जड़ जो स्वभावतः समाज-संस्थाओं में होती है, कट गई है, और इसीलिए मैंने उसके वर्तमान स्वरूप को विघातक अथवा निर्माल्य कहा है। जो ईसाई होने का दावा करते हैं—और ऐसा तो शायद ही कोई होगा जो किसी न किसी प्रकार यह दावा नहीं करता हो—वे या तो उस धर्म की केवल शाब्दिक-पूजा द्वारा उस आदर्श के दावों को पूरा करते हैं जिसने प्रत्येक मनुष्य-प्राणी को अपने बन्धनों में बांध लिया है और शांत चित्त से अपने दैनिक व्यवसाय में लग जाते हैं, या ये दावा करने वाले ईसा के उपदेशों से पूर्णतया प्रभावान्वित हो हठात् क्रान्तिकारियों की श्रेणी में जा खड़े होते हैं। क्योंकि यदि इन उपदेश-तत्त्वों को पूर्णतया स्वीकार किया जाय, और उनका ठीक ठीक अर्थ भी किया जाय तो मालूम होगा कि ये आपकी समस्त सामाजिक रचना के विपरीत हैं। इन तत्त्वों का उपदेशक प्राचीन काल का एक पूर्वी, निरक्षर, कूपमंडूक, अनघड़ था। इसके उपदेशों की विशेषता भ्रातृभाव और विश्वप्रेम की कोमल हृदयस्पर्शी भावना में नहीं, बल्कि उसकी उस उपेक्षा और तिरस्कार-वृत्ति में है, जो वह मनुष्य के उन तमाम सद्गुणों की ओर प्रकट करता है जो उपर्युक्त दो वृत्तियों से भिन्न है। वह ऑगस्टस५ तथा टाइबिरियस६ का प्रजाजन था तथापि उसे न तो रोमन साम्राज्य के इतिहास का कोई ग्यान था और न उसके भावी का ही कुछ खयाल था। वह वर्जिल७ और लिवी८ का समकालीन था तथापि वह उस भाषा को पढ़ तक नहीं सकता था, जिसमें वे अपने ग्रन्थ लिख गये। साम्राज्य के एक दूरवर्ती प्रान्त में उसका जन्म हुआ था, पेशा सुतारी का था

और उसका स्वभाव कवि अथवा औलिया का सा था। राष्ट्र की समृद्धि के लिए विज्ञान के जिन तत्त्वों का आविष्कार किया गया था, उनका परिचय प्राप्त करने का मौका तक उसे अपने अल्प जीवन में नहीं मिला होगा, न उसने अपना झुकाव ही उस ओर बताया। संपत्ति की उत्पत्ति और विनिमय, सत्ता का विभाग मजदूरी, जायदाद तथा व्यापार-सम्बन्धी नियम किसी भी बात में दिलचस्पी लेना तो बहुत दूर की बात है, वह इन्हें समझता तक नहीं था। अतः धार्मिक संप्रदाय की स्थापना करने वाला इससे अधिक सुयोग्य पुरुष शायद ही कभी संसार में पैदा हुआ हो। पर साथ ही राज्य-स्थापना तथा उसका शासन संचालन करने वाला इससे अधिक अयोग्य पुरुष भी भूतल पर शायद ही उत्पन्न हुआ हो। पर फिर भी पश्चिम के राष्ट्रों ने, जो लूट, हिंसा और जबरदस्ती आदि बातों में सर्वगुण-सम्पन्न हैं, इसी पुरुष के बनाये आत्मनिग्रह के मुग्ध सिद्धान्तों को वेदवाक्य समझ रक्खा है। फिर यदि आपका इतिहास युद्ध-विग्रह, उथल-पुथल, कतल और अंधाधुन्धी की एक लम्बी कहानी हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है? फिर यदि धार्मिक और राष्ट्रीय शक्तियां आपस में कभी खुल्लम-खुल्ला युद्ध और कभी सुलह करें, जो दोनों पक्षों को लज्जित कर देते हों, तो कौन आश्चर्य की बात है? कहा जाता है कि आपके समाज ने अपने धर्म-तत्त्वों को अपने अन्दर ओतप्रोत कर लिया है। तथापि जब हम ईसाई धर्म के तत्त्वों को भलीभांति समझने वाले कुछेक व्यक्तियों को लाचार हो आपका समाज छोड़ कर जाते हुए देखते हैं तो हमें कोई आश्चर्य भी नहीं होता। आदर्श के गगन में विहार करने वाले इस धर्म

के भाग्य में विधाता ने यही लिखा है कि वह मानव लोक की संस्थाओं को न तो घड़ सकता है और न उनमें प्राण का सिंचन ही कर सकता है। इस गगन-विहारी धर्म से तो केवल यही हो सकता है कि वह उन शक्तियों को समाज का विरोध करने के लिए समाज के बाहर एकत्र कर दे, जिनका उपयोग समाज-व्यवस्था को भीतर से नियन्त्रित करने में होना चाहिए था। इसका परिणाम क्या होता है? यही कि धर्मरूपी आत्मा शरीरहीन बना रहता है और समाजरूपी शरीर आत्मा से शून्य! आपका समाज आज तक ऐसा रहा और इस समय भी ऐसा ही है। उसमें अतिमानुषी आदर्श होने का दावा किया जाता है, पर यथार्थतः तो इसमें मानवी आदर्श भी नहीं है। समाज-शरीर ज्यों का त्यों पार्थिव ही बना हुआ है और ऊपर आस्मान से उस नाझरथ के ईसा की वाणी प्रेत की वाणी के समान गरज रही है। वह वाणी आज भी उतनी ही निर्मल असंदिग्ध है जितनी उस दिन थी जब उसने गॅलीली के सरोवर के किनारे पर से रोम को दिगन्तव्यापिनी सत्ता को पहले पहल चुनौती दी थी। न उस दिन उसकी आवाज को किसी ने सुना था. और न आज भी उसकी ओर किसीका ध्यान है१।

इस तरह आपने समाज और धर्मके बीच जो सम्बन्ध है, उसके विषय में मैंने अपनी मान्यताके अनुसार निस्पृहता और न्याय-बुद्धिपूर्वक जो मत प्रकट करने की धृष्टता की है. उसे पढ़ कर अधिकांश पाठक मुझसे यदि रुष्ट न होंगे, तो सचमुच उन्हें आश्चर्य तो जरूर होगा। इसलिए इसके उदाहरण और समर्थन के हेतु मैं यहां पर एक उदाहरण भी पेश कर दूं तो अच्छा होगा। यह

उदाहरण इतना संसार-विदित और प्रकट है कि इसका असर उन लोगों पर तक हुए बिना न रहेगा जो सत्य का साक्षात् करने के बड़े अनिच्छुक हैं।

यदि ईसा के उपदेशों में कोई ऐसा उपदेश है जो सब से पहले हमारा ध्यान आकर्षित करता है तो वह है उसका हिंसा मात्र का विरोध। न्यू टेस्टामेन्ट के शुभ संदेशों को निष्पक्ष भाव से पढ़ने वाले का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित हुए बिना रह नहीं सकता कि ईसा ने इस सिद्धान्त पर बार-बार कितना जोर दिया है। "अगर तेरे दाहिने गाल पर कोई एक चांटा जमा दे तो बांया गाल उसके सामने कर दे।" ये हैं उसके शब्द। वे उसके हृदय के अंतस्तल से निकले हैं। इनमें भाषा का अलंकार नहीं। ये इस तरह भी नहीं लिखे गये कि महज संपूर्णता के ख्याल से ऐसी बातें लिख दी जायँ कि जो वाञ्छनीय होने पर भी असंभव हों। नहीं, इन शब्दों में तो आंतरिक श्रद्धा है, सत्य है। और उनमें झलकती है उनका उच्चार करने वाले की चारित्रिक और सदाचरण-सम्बन्धी तपस्या। इन शब्दों में जो सिद्धान्त समाविष्ट है उस पर भले ही दो मत हो सकते हैं। मनुष्य-जाति के बहुत बड़े हिस्से ने सदा इस बात को कबूल किया है कि समाज की रक्षा के लिए शारीरिक बल आवश्यक है। इसके बिना न सुरक्षितता हो सकती है, न समाज में व्यवस्था टिकी रह सकती है और न शांति ही कायम रह सकती है। परन्तु इन विचारों को रखने वाला ईसाई—अर्थात् ईसा का अनुयायी सच्चा नहीं हो सकता। और यदि पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने सम्पूर्ण इतिहास में इसी मत को माना है—और इसमें सन्देह नहीं, कि ये यही मानते भी आये हैं, तो वे

अपने को चाहे और कुछ भी कह लें, पर वे सच्चे ईसाई तो कदापि नहीं हैं। तथापि इस अनुमान को कबूल करने से उन्होंने हमेशा इन्कार ही किया है। उनके धर्म-संस्थापक के शब्दों से जो अर्थ निकलता है उससे विपरीत अर्थ ही उन्होंने अपने लिए ढूंढ़ा है। वे मानते हैं कि कैद और फांसी के आधार पर रचे हुए उनके समस्त कानूनों का समर्थन ईसा ने किया है। यही नहीं बल्कि उनकी हिमायत और सिफारिश तक की है। वे तो यह भी मानते हैं कि उनको समस्त लड़ाइयों के लिए ईसाके वचनों का आधार पाया जाता है।—हां, उन लड़ाइयों के लिए भी जो मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति तक को ऐसी मालूम होती हैं कि जिनका बचाव शायद ही हो सकता है, तथा जो अधिक से अधिक अन्यायपूर्ण हैं। नहीं, बल्कि वे तो यहां तक कह डालते हैं कि ईसा का ऐसा ही उपदेश है। उन्हें पता तक नहीं कि उनके ये ख्याल कितने भ्रमपूर्ण हैं और इनमें ईसा के उपदेशों की कितनी विडम्बना हो रही है।

मेरे उपर्युक्त कथन के लिए यदि कोई उदाहरण देकर पुष्ट करने की आवश्यकता हो तो उसके लिए मुझे इतिहास के पन्ने नहीं उलटने होंगे। जो उदाहरण मेरे दिमाग में इस समय सब से अधिक ताजा है, वही अगर यहां लिख दूं, तो काफी होगा। पश्चिम के राष्ट्रों ने हाल ही में चीन पर जो हमला किया है, उसे छोड़ कर और किस उदाहरण को मैं पेश करूं? मैं यह कबूल करता हूं कि इस आक्रमण के लिए मजबूत कारण भी पेश किया गया था। बल्कि उसे उकसाया भी गया था। फिर भी शुरू शुरू में बखेड़ा पैदा करने

वाले हम नहीं थे। पर जिस बात को देखकर मैं दंग रह गया, अथवा साफ-साफ कह दूं न, मैं अवाक् रह गया, वह तो यह थी कि पश्चिमी राष्ट्र ईसा के उपदेश को सामने रख कर अपने कुकृत्यों को समर्थन करने की कोशिशें करते हैं। और इन राष्ट्रों में एक ऐसा भी ईसाई सत्ताधीश है, जो अपनी सेना को बदला लेने के लिए भेजते समय एक गाल पर चांटा पड़ जाने पर हमें अपना दूसरा गाल सामने करने की आज्ञा देने वाले पुरुष के नाम की दुहाई देकर अपनी सेना को केवल आक्रमण करने के लिए ही नहीं, केवल कत्ल करने की ही नहीं; बल्कि किसी प्रकार का विचार न करते हुए सब की—शरणागतों की भी कत्ल करने की सिफारिश करता है। मैं ऊपर कह चुका हूं कि जिस धर्म का नाम आपकी ज़बान पर है, उसका प्रभाव कुछ व्यक्तियों के जीवन पर भले ही कितना ही पड़ा हो, पर आप के सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन पर तो इसका बहुत थोड़ा—बल्कि कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। मेरे इस कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए चीन के मामले से बढ़कर उदाहरण और कौनसा मिल सकता है? यह धर्म किसी दीन दुर्बल एकान्तसेवी साधु वैरागी के जीवन पर भले ही असर डालता हो, पर जो राष्ट्र के सूत्रधार हैं उनके जीवन पर तो इसका प्रभाव कभी पड़ा ही नहीं। फिर केवल इस कोरी डींग से क्या होना जाना है कि इस धर्म का रहस्य हमारे धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है? ऐसी मूर्खता भरी बात का विरोध मैं नहीं करना चाहता। आपके धर्म-संस्थापक का वचन है "इनके परिणाम (फल) से तुम इन्हें पहचान लो।" मैं भी आपको इसके फल दिखा कर चुपचाप रहना चाहता हूं। आपके कथनानुसार भले ही कान्फ्यू-

शियन धर्म धर्म ही न हो। भले ही इसकी सदाचार-स्मृति उतने ऊंचे दर्जे की न भी हो। पर यह वही धर्म है जिसने संसार के इतिहास में चीन को सच्चे दिल से हिंसा की निन्दा करने वाला तथा बुद्धि और न्याय की पूजा करने वाला एक मात्र राष्ट्र बना दिया है। आप कहीं यह न समझ लीजिएगा कि मैं इस विषय में अपने विधान पेश करते समय पक्षपात से काम ले रहा हूं। लीजिए, मैं अपने कथन के समर्थन में आप ही के एक देशभाई के शब्द यहां लिखे देता हूं। यह पुरुष हमें बहुत दिन से जानता है तथा उसका हमारा सम्बन्ध भी बहुत निकट का रहा है। इसने हमारे राष्ट्र की जो सेवा की है उसे एक भी स्वदेश-प्रेमी चीन-वासी कदापि भुला नहीं सकता। आपके अखबारों के विशेष संवाददाताओं की लिखी अज्ञानभरी निन्दाओं के बदले ज़रा थोड़ी देर के लिए सर रावर्ट हार्ट १० के वचन सुनिए। चीनियों के विषय में वे कहते हैं—

"ये लोग सभ्य व्यवस्था को मानने वाले, बुद्धिमान, मितव्ययी और उद्यमी हैं। वे प्रत्येक बात को सीख और कर भी सकते हैं। उनके विवेक की तो सीमा ही नहीं। चातुरी की तो वे पूजा करते हैं। सत्य पर तो उनका ऐसा अटल विश्वास है कि उसकी सहायता के लिये अथवा उसपर अमल कराने के लिए सत्ता की आवश्यकता का विचार भी उनको असह्य मालूम होता है। वे साहित्य-प्रिय हैं और स्थान-स्थान पर उनकी साहित्य-सभाएं अथवा साहित्य-मंडलियां होती हैं। उनमें बैठ कर वे अपने निबन्ध और कविताएं पढ़ते तथा उनपर चर्चा करते हैं। उनका नीति-शास्त्र तो बड़ा ही सुन्दर है और उसके अनुसार उनका

आचरण भी है। वे उदार हैं, महाशय हैं और उन्हें स्वभावतः सत्कर्म करने का शौक भी होता है। वे कभी किसीके एहसान नहीं भूलते। यदि किसीने उनके साथ कोई भलाई की हो तो वे उसके प्रत्युपकार में उससे भी अधिक सेवा या भलाई करके दिखाते हैं। यद्यपि वे जानते तो हैं कि धन के द्वारा भी सेवा कराई जा सकती है, तथापि समाज में उसी का सब से अधिक आदर होता है जिसके पास सम्पत्ति के अतिरिक्त सद्गुण भी हों। वे व्यवहार-कुशल होते हैं, हर एक बात सीखने के बड़े उत्सुक होते हैं। उनकी समझदारी का तो कहना ही क्या? वह तो अद्भुत है। वे उत्तम कारीगर, विश्वसनीय मजदूर और व्यापार व्यवहार में उन्होंने अपनी जो साख बना रक्खी है, उसे तो हर कोई कबूल करता है और तारीफ ही करता है। "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव" इस आज्ञा का जितना संपूर्ण और निरपवाद पालन इस देश में होता है शायद ही उतना पृथ्वी के किसी अन्य देश में या भूतकाल में या वर्तमान काल में हुआ हो। सच तो यह है कि यह सूत्र उनके कौटुम्बिक, सामाजिक, सरकारी और राष्ट्रीय जीवन की कुंजी है। और इसी कुंजी के कारण वे 'उस भूमि में दीर्घायु होकर बसते हैं जो परमात्मा ने इन्हें दे रक्खी है।'११

ये हैं श्रीयुत राबर्ट हार्ट के वचन। इससे अधिक अच्छा प्रमाण-पत्र मैं नहीं चाहता। इसमें कोई अतिमानुषी गुण नहीं है, आत्म-निग्रह की बात नहीं है। अथवा उन वस्तुओं का पागल अस्वीकार नहीं, जो मनुष्य-स्वभाव की अंगभूत हैं। यहां तो एक बुद्धिगम्य आदर्श के अनुसार जीवन है। और यहां पर इस आदर्श

में इतनी गहरी और प्रभावशाली श्रद्धा है कि उसने शारीरिक बल के प्रयोग को अधिकांश में दबा दिया है। यहां तो फिर सर-राबर्ट के वचन उद्धृत कर देने को जी चाहता है। "सत्य पर उनका ऐसा अटल विश्वास है कि उसकी सहायता के लिए अथवा उसपर अमल कराने के लिए सत्ता की आवश्यकता का विचार तक उनके लिये असह्य हैं।" हां, हम लोग शान्ति के उपदेश को स्वीकार न करने वाले उसपर अमल करते हैं। आप उसका स्वीकार करते हैं और आप ही उसे अपने पैरों तले रौंद डालते हैं! और इस विधि-विडम्बना को तो देखिए! उसी ईसा के अनुयायी अपने हाथमें शस्त्र और अग्नि लेकर हमें सिखाने के लिए आये हैं कि जब तक सत्य को सत्ता का सहारा नहीं मिल जाता, तब तक वह निर्वीर्य होता है। अच्छा है, आप निश्चिन्त रहें। यह पाठ तो हम जरूर पढ़ लेंगे। पर हमने इसे याद किया नहीं और यूरोप की शामतें आई नहीं। स्मरण रहे, आप चालीस करोड़ के राष्ट्र को शस्त्र-सेवी बना रहे हैं। जब तक आपके चरण इस भूमि में नहीं पड़े थे, तब तक इस राष्ट्र को अन्दर तथा बाहरी राष्ट्रों के साथ सिवा शान्ति के साथ रहने के और कोई इच्छा नहीं थी। आपने ईसा का नाम लेकर शस्त्र धारण करने के लिए आह्वान किया है। कान्फ्यूशियस का नामोच्चार करके हम उसका उत्तर दे रहे हैं।

८

हमारे राष्ट्र और पश्चिम के बीच आज जो राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध है, तथा जिन घटनाओं के कारण आज की यह दु:खद परिस्थिति उत्पन्न हुई है, उन सम्बन्धों और घटनाओं की विस्तृत चर्चा को मैं अभी तक जान-बूझ कर टालता रहा। अब तक तो मैंने यही प्रयत्न किया है कि अपनी सभ्यता के सामान्य स्वरूप के विषय में आप के दिल में सहानुभूति उत्पन्न करूं, जिन मुख्य मुख्य बातों में आपकी सभ्यता और हमारी सभ्यता में अन्तर है उसकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करूं, तथा वे बातें भी दिखा दूं जिनमें आपका और हमारा शाश्वत और तात्विक विरोध है, जिनमें यदि हम समझौता किसी प्रकार कर भी लें तो उसे टिकाये रखना मुश्किल है। तथापि सहानुभूतिशील पाठक भी मुझसे कुछ अधिक आशा करते हैं, और मैं उनकी इस आशा को उपेक्षा भी नहीं कर सकता। अतः यदि उनको सन्तुष्ट करना ही मुझे अभीष्ट है, तो वदर्जे लाचारी आज के इन झगड़ों की चर्चा भी मुझे करनी ही होगी। क्योंकि मेरे पाठक मुझसे पूछेंगे—और उनका यह प्रश्न अनुचित न होगा—कि जिन

गुणों का आरोप आप अपने राष्ट्र में करते हैं यदि सचमुच वे सभी गुण उसमें हैं, यदि सचमुच आपका राष्ट्र इतना न्यायी, ऐसा सच्चा, इस तरह खून-खच्चर से डरने वाला है तो बताइए उसके द्वारा ऐसा अन्तरराष्ट्रीय सभ्यता का भंग कैसे हो पाया, जिसकी मिसाल सुधरे हुए संसार के इतिहास में कहीं ढूंढ़े नहीं मिलती ? यह कैसी बात है कि इसके हाथ से इतना बड़ा अपराध हो गया, जिसका आघात उन राष्ट्रों की नीति भावना पर भी हुआ जो आपके कथनानुसार आपकी अपेक्षा कम सुधरे हुए और कम दयावान् हैं ?

इसके उत्तर में मैं कहूंगा, कि मैंने यह दावा तो कभी नहीं किया था कि चीन साधुओं का राष्ट्र है। मैंने तो केवल यही कहा था, और उसपर मैं अब भी दृढ़ हूं, कि यदि इनको विना कारण न छेड़ा जाय, जिस व्यवस्था के वे आदी हैं, उसमें यदि अधिक हस्तक्षेप नहीं किया जाय, तो उनके समान शांति-प्रिय और कानून का सन्मान करने वाली जनता आपको पृथ्वीतल पर और कहीं न दिखाई देगी, अतः यदि वे अपने सामाजिक बन्धनों को तोड़ कर निरंकुश बन गये हों, यदि क्षण भर के लिए उन्होंने पशु का सा बर्ताव किया भी हो, (क्या आपकी और क्या हमारी सभ्यता इस पाशविकता को केवल नियन्त्रित मात्र कर सकती है, उसे नष्ट तो कदापि नहीं कर सकती) तो उस उपद्रव की भयङ्करता से यही सिद्ध होता है कि उन्हें कितना अधिक उकसाया गया होगा ! क्या आपको पता है कि उन्हें कितना उकसाया गया था ? मेरा तो खयाल है, आप नहीं जानते होंगे। तब लीजिए मैं संक्षेप में उसका ब्योरा आपको सुनाए देता हूं।

आपके व्यापारी जब चीन में पहले पहल आये तब हमने उन्हें कहीं निमन्त्रण-पत्रिका नहीं भेजी थी, तथापि उनके आने पर यद्यपि हमने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत नहीं किया, तथापि सहिष्णुतापूर्वक उन्हें रहने दिया। जब तक उन्होंने हमारे कानूनों का पालन किया, उनके व्यापार और आमदरफ्त को बरदाश्त करने के लिए हम राज़ी थे। हां, यह तो हमारी हमेशा शर्त बनी रही है कि वे हमारी सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था में कभी हस्त-क्षेप न करें। आरम्भ में तो आपके देशभाइयों ने हमारी शर्तों को मन्जूर कर लिया; और कई वर्ष तक यद्यपि बीच बीच में झगड़े हो जाया करते थे, तथापि उनके और हमारे बीच कोई भारी बखेड़ा नहीं हुआ। पहले पहल जिस बात पर बखेड़ा हुआ उसका कारण आप ही का अनुचित बर्ताव था. जिसका बचाव करनेकी हिम्मत आपको कभी नहीं हुई है। आप प्रधानतया अफीम का व्यापार हमारे देश में करते थे। हमने देखा कि यह चीज़ हमारे राष्ट्र के आरोग्य और नीति को नष्ट कर रही है और हमने उसे बन्द कर दिया, तथापि आपके व्यापारियों ने कानून से बचा कर चीन में गुप्त रीति से अफीम भेजना जारी रक्खा। तब लाचार हो हमें बात को अपने हाथ में लेना पड़ा और अफीम के समस्त संग्रह को जप्त करके उसका नाश करना पड़ा। इसी बहाने आपकी सर-कार ने हमसे युद्ध ठान दिया। आपने हमारे प्रदेश पर चढ़ाई कर दी, हमसे जबरन दण्ड लिया, और हॉङ्कॉङ्ग टापू भी छीन लिया।१ क्या इसे आप शुभ आरम्भ कहेंगे? क्या आपने यह खयाल कर लिया कि इससे हमारे चित्त पर बृटिश राष्ट्र की न्याय-बुद्धि, प्रामाणिकता और सचाई का अच्छा प्रभाव पड़ेगा?

खैर, वरसों वीत गये। झंडे के अधिकारों के विषय में फिर बात बढ़ गई और फिर हमारी आपकी तलवारें लड़ गईं। हम तो अभी तक मानते हैं कि इस झगड़े में भी न्याय हमारे ही पक्ष में था, पर इस वार भी आपने इसे एक वहाना वना कर नई मांगें पेश कीं। फरांसीसियों को मिला कर आपने हमारी राजधानी पर अधिकार कर लिया और ऐसी शर्तें हमारे सामने रक्खीं जिन्हें किसी भी यूरोपियन राष्ट्र के सामने रखने की आपको हिम्मत न होती। हम तो लाचार थे, मान गये। सैनिक शक्ति हमारे पास नहीं थी। पर क्या आपका यह खयाल है कि आपके इस वर्ताव से हमारी न्यायवुद्धि पर आघात न हुआ होगा? इसके वाद भी यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र ने किसी न किसी वहाने हमारे प्रदेश का थोड़ा वहुत हिस्सा हज़म करना शुरू किया। और हम उसका प्रतिकार नहीं कर सके। इससे क्या आप यह खयाल करते हैं कि आपके जाति-भाइयों के इस आक्रामक वर्ताव के कारण हमारे हृदय को कुछ भी चोट नहीं पहुंची? यदि कोई चीनवासी आपके और हमारे पिछले साठ वर्षों के सम्वन्ध के इतिहास का निरीक्षण करे, तो क्या उसकी नज़र में आप लोग किसी समुद्री चोर या डाकू की अपेक्षा अच्छे दिखाई देंगे? माना कि यह मत कुछ कठोर है और मैं स्वयं उससे पूरी तरह सहमत नहीं हूं। आपके सरकारी दस्तावेजों का अध्ययन करने पर मुझे विश्वास हो गया कि आप भी सच्चे दिल से यह मानते थे कि आपके पक्ष में कुछ न्याय है। मानव सम्वन्धों की विविधता तथा अटपटेपन को देखते हुए मैं स्वयं इस वात से इन्कार नहीं कर सकता कि आपके पक्ष में भी कुछ

सत्य का अंश हो सकता है। फिर भी मैं आपसे कहूंगा कि इन छोटी छोटी बातों पर जो बेहद वाद-विवाद हुआ है उसे छोड़ दीजिए और परिस्थिति की मुख्य मुख्य बातों पर ही विचार कीजिए। हम दो में से शुरू से कौन छेड़छाड़ करता आया है और कौन आक्रामक रहा है? हमारे पक्ष को खराब से खराब शब्दों में यों रक्खा जा सकता है कि हमने अपने समाज, रीति रिवाज़, कानून और राजनीति को एक विदेशी सभ्यता के प्रभाव से सुरक्षित रखने का हठपूर्वक निश्चय कर लिया। और चूँकि आप नफे के भूखे थे,हमारे प्रदेश में घुस कर अपने माल के साथ अपनी संस्कृति और विचारों को भी यहां प्रविष्ट कर देने पर तुल गये थे। इसके बाद छिड़ने वाले युद्ध में यदि हम आक्रामक रहे हों तो उसके बचाव में हम आत्मरक्षा की दलील को पेश कर सकते हैं। यदि इससें हमारे हाथों कोई अन्याय हुआ हो तो वह ठोंस ठोंस तथा चिरकालीन न्यायके मुकाबले में नगण्यसा है। पर आपके हाथों तो अन्याय ही अन्याय हुआ है। उसमें न्याय नगण्यसा है।

जरा सोचिए, हमारा राष्ट्र एक प्राचीन गौरवशाली महा-राज्य है, जो सदियों से अपनेको सभ्यता के शिखर पर खड़ा हुआ मानता आया है। ऐसे गरबीले राष्ट्र के सिर पर आपने कैसी शर्तें लाद रक्खी हैं? व्यापार के लिए हमारे बन्दर-गाहों को आपने हमसे जबरदस्ती खुले करवाया है। हमारे राष्ट्र को रसातल को पहुंचाने वाली अफीम को भी लेने के लिए आपने हमें मजबूर किया है, आपने हमारे देश में रहने वाले अपने लोगों को इस देश के कानून से मुक्त कर दिया है। हमारे दरियायी व्यापार को आप हड़प बैठे हैं। भीतरी

नदियों के व्यापार पर भी आपकी लोलुप दृष्टि है ही। और जब जब कभी हमने आपकी मांगों का प्रतिकार करने का प्रयत्न किया है, तब तब बराबर आपने उलटे नई मांगें पेश की हैं। बल्कि आप तो उल्टे हमपर हमले करने तक से बाज नहीं आये। पर फिर भी आपने इन तमाम मौकों पर यही बताने का प्रयत्न किया है, मानों आप सुधरे हुए राष्ट्र हैं और प्रतिपक्षी जंगली। आपने हमें मजबूर किया कि हम आपके पादरियों को अपने देश में रहने दें।२ और इन पादरियों की अज्ञानमूलक धर्मान्धता पर उत्तेजित हो जब कभी हम लोगों ने संख्याबद्ध हो उनका सामना किया, तो बस, इसी बहाने आपने फिर गजब ढा दिया। अर्थात् हम तो अब यही मानने लग गये हैं और इस मान्यता में कोई अनौचित्य भी नहीं है कि जहां कहीं क्रूस पहुंचा, कि उसके पीछे तलवार भी बनी हुई है, अर्थात् वहां जरूर ही लड़ाई होगी। धर्म तो आपके लिए लड़ाई का एक हथियार मात्र है। बस, आप इससे अधिक सरोकार धर्म से नहीं रखते। जरा सोचिए आप जिस प्रकार का बर्ताव हमारे साथ कर रहे हैं, ऐसा ही यदि किसी अंग्रेज के साथ करते तो उसके हृदय पर क्या असर होता। फर्ज कीजिये कि लिवरपूल, ब्रिस्टल और प्लीमाउथ पर हमने हमेशा के लिए अधिकार जमा लिया है और आपके प्रदेश में हमने अपने हजारों आदमियों को बसा कर उन्हें आपके कानून की सत्ता से मुक्त कर दिया है; यह भी फर्ज कीजिए कि आपके किनारों पर तथा बड़ी बड़ी गहरी नदियों में भी हमारे ही जहाज आपकी नौकाओं को हटा-हटा कर अलग कर रहे हैं; मान लीजिये कि इस बात की

ज़रा भी परवा न करते हुए कि शराब का आपके राष्ट्र पर, उसके आरोग्य और नीति पर क्या असर पड़ता है, हमने यही ठान ली कि हम उसे बिना महसूल आपके देशमें भेजेंगे; और अंत में यह भी फर्ज़ कर लीजिये कि आपके मुख्य मुख्य शहरों में हमने अपने आदमी रख दिये हैं, जो आपके धर्म के उपदेशों का विरोध करते हैं और जो उन मान्यताओं की बुनियाद को ही उखाड़ उखाड़ कर फेंक रहे हैं, जिनपर आपके समाज का आधार है। कल्पना कीजिए कि आप इन सब बातों में मजबूर कर दिये गये हैं, अब यदि इस स्थिति में आपके लोगों का एक दल चिल्लाता हुआ, शोर करता हुआ आवे और चीनी राजदूत के भवन को घेर कर प्रत्येक चीनी धर्म-प्रचारक को चुन चुन कर मार डाले तो बताइये क्या इससे आपको आश्चर्य होगा? क्या आपको उनके इस कार्य पर रोष होगा? तब चीनमें जो जघन्य घटनाएं हुई हैं, उनपर आश्चर्य करने का हक़ आपको कैसे हासिल हो सकता है, फिर इस तरह मारे रोष के आंखें लाल करने का आपको क्या अधिकार है? आप हमारे बर्ताव में ऐसी किस अनुचित और आसुरी बात को देखते हैं? आपका कथन है कि राजदूत का भवन तो आन्तरराष्ट्रीय कानून के अनुसार एक पवित्र स्थान समझा गया है। ठीक है, पर आप इस बात को कैसे भूल रहे हैं कि आपने अपने इन राजदूतों को हमारे यहां रखने के लिए हमें तलवार के बल पर मजबूर किया है और हमने चीन में इनकी हस्ती को हमेशा अपने राष्ट्र का अपमान ही समझा है। पर आप कहेंगे चीन के लोगों ने सभ्यता को ताक में रख कर, अविचारपूर्वक क्रूर कर्म किये हैं।" आपका आक्षेप ठीक है। पर मैं पूछूंगा आपकी फौजों द्वारा चीनी

प्रजा पर किये गये अत्याचारों की आपके पास क्या सफाई है ? ओ ईसाई राष्ट्रो ! ज़रा ख्याल तो कीजिए आपकी फौजों ने कैसे कैसे अत्याचार किये हैं ? पेकिंग से ले कर समुद्र-किनारे तक के प्रदेश से, जिसमें एक समय दूध और शहद की नदियां बह रही थीं, जरा जाकर पूछिए तो ! आपकी फौजों द्वारा कत्ल किये गये पुरुषों की लाशों को और उनके बलात्कार के शिकार बने हुए बालकों और स्त्रियों के हाल तो जरा जा कर देख लो। अपराधियों के साथ में आपके अन्धे अत्याचारियों द्वारा पिसे गये उन निरपराधी लोगों की करुण कथाएं तो जरा सुन लो ! आपके ईसा से – हां, उस मानवप्रेमी ईसा से ही जरा पूछ लो, जिसकी सेवा करने का आप दम भर रहे हैं। इन सब को अपने बुलाइए और उनसे न्याय की याचना कीजिए। हमने तो अपने देश को बचाने के लिए लाचार हो सिर को हथेली पर ले लिया था। और आप ? आपने तो खून का बदला खून से लिया, अपराध के जबाव में अपराध किया। और यह करते हुए क्षणभर ठिठक कर आपने इस बात का विचार तक नहीं किया कि जिन अपराधों का बदला लेने को आप जा रहे थे वे आपके अन्याय के ही अनिवार्य फल थे।

खैर, अब तो · यदि हमेशा के लिए नहीं तो कुछ समय के लिए तो जरूर—यह प्रकरण समाप्त हो गया। और मैं भी गड़े पत्थर नहीं उखाड़ना चाहता। तथापि भूतकाल के अनुभव के आधार पर ही हम अपनी भावी नीति को स्थिर कर सकते हैं। जब तक आप यह भलीभांति नहीं समझ लेते कि जिन घटनाओं के कारण समस्त यूरोप धूज गया है वे दीर्घकालीन अन्याय के

उत्तर में विधाता द्वारा दिया गया जवाब है, जब तक आप सत्य को नहीं समझ लेंगे, आपकी और हमारी सभ्यता के बीच बहुत गहरा अन्तर है, विरोध हो है तथापि उसके कारण हम आपको जंगली तो कदापि नहीं कह सकते, उसी प्रकार जब तक आप यह नहीं कबूल कर लेते कि हमें भी जंगली कहने का आपको कोई अधिकार नहीं है, जब तक आप हमें एक सुधरा हुआ राष्ट्र समझ कर हमारे कानूनों और रीतिरिवाजों का आदर करना नहीं सीख लेंगे, जब तक आप हमारे साथ भी ठीक वैसा ही सलूक नहीं करने लग जाते जैसा कि आप किसी यूरोप के राष्ट्र के साथ करते हैं जब तक आप ऐसी ऐसी बेहूदी शर्तें हम पर लादने से बाज न आवेंगे जिन्हें किसी पश्चिमी राष्ट्र के सिर पर मढ़ने का आपको स्वप्न में भी ख़्याल नहीं हो सकता, तब तक आपके और हमारे बीच शान्ति और मित्रता की आशा करना व्यर्थ है। संसार के अधिक से अधिक अभिमानी राष्ट्र का आपने अपमान किया है। सीधे से सीधे और न्यायी लोगों पर आपने घृणित अत्याचार किये हैं। और आप इसका परिणाम भी देख चुके हैं। यदि पहले आपका बहाना अज्ञान था तो अब कभी उसे पेश न कीजिए। हमें ठीक ठीक तरह समझने की कोशिश कीजिए और उद्योग कीजिए अधिक अच्छी तरह समझने का अपने आपको भी। और इसी उद्देश से ये पत्र भी लिखे और प्रकाशित किये गये हैं। यदि यह करते हुए मैंने आपके दिल को दुखाया हो तो मुझे सचमुच इस पर दुःख है, पर यदि सत्य ही आपको बुरा लग रहा हो तो इसके लिए न तो मैं आपसे क्षमा मांगूंगा और न इसकी जरूरत ही है।

टिप्पणियां

पत्र पहला

नं०—१ पृ० १३

बॉक्सर का उपद्रव और उसके बाद की घटनाएं—इ० स० १८९८ के लगभग चीन में एक क्रान्तिवादी दल खड़ा हो गया था। उसी का नाम 'बॉक्सर' था (मूल शब्द कवां के मानी है मुष्टि, और त-कवां अर्थात् मुष्टि प्रहार करना) इस दल का जन्म क्यों हुआ? इसके उत्तर में दो कारण पेश किये जा सकते हैं। एक तो चीन पर ईसाई पादरियों द्वारा किया गया धर्म्मान्ध आक्रमण और दूसरा पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा किया गया शनैः शनैः किन्तु अप्रतिकार्य प्रवेश। तथा इन दोनों के कारण चीन की जनता में फैला हुआ गोरों के प्रति द्वेष। १८९८ में जर्मनी क्यौचाऊ निगल गया, ब्रिटेन ने वेहाइवे पर अपना अधिकार जमा लिया और रूस ने पोर्ट आर्थर को अपनी बगल में दबा लिया। चीन की सरकार बड़ी शिथिल थी। वह गोरों के इन आक्रमणों का किसी तरह प्रतिकार नहीं कर सकती थी। फलतः लोग बड़े ही अकुला गये। उसी

वर्ष इस दल का प्रादुर्भाव हुआ। दो ही वर्षों में इसका बल खूब बढ़ गया और १९०० में इसने पहला धड़ाका उड़ा दिया। बोक्सरों ने चीन की राजधानी पेकिङ्ग के परिवर्ती के प्रदेश पर चढ़ाई कर दी। जितने भी गोरे उनके हाथ पड़े, सब को तलवार के धार उतार दिया। मिशनरियों तक को नहीं छोड़ा। पेकिङ्ग की गलियों में जर्मन राजदूत का खून कर डाला तथा और भी कितने ही उपद्रव किये। शेष राष्ट्रों के राजदूतों ने एकत्र होकर पेकिङ्ग के दरवाजे बन्द कर लिये। बोक्सरों ने शहर को घेर लिया। तब परराष्ट्रों के राजदूत शहर का बचाव करने लगे। शीघ्र ही यूरोप के राष्ट्रों और अमेरिका ने एक संयुक्त सेना भेज कर घेरा उठवा दिया। अब गोरों के अत्याचारों का आरम्भ हुआ। सशस्त्र सैनिकों पर ही नहीं वरन् "कितने ही गोरे सोल्जरों ने तो चीन की निःशस्त्र प्रजा तक पर घोर अत्याचार किया।" (एच० जी० वेल्स)। बलवा तोड़ देने पर चीन से भारी दंड मांगा गया और उस दंड की वसूली के बदले कुछ प्रदेश और बहुत से खास हक छीन लिये।

नं०—२ पृ० १६

ईसा के उपदेश का मुख्य सिद्धान्त है अप्रतिकार। ईसा ही वह पहला पुरुष था जिसने 'आंख के बदले में आंख और दांत के बदले दांत' वाले सिद्धान्त को मानने वाले यहूदियों और पशुबल को ही सर्वोपरि समझने वाले पगनों की दुनिया में, शरीर-बल के त्याग, दुश्मनों तक पर प्रेम करने तथा अत्याचारी को भी आशीर्वाद देने का सात्विक संदेश सुनाया था। पर इस शुभ संदेश को जिन लोगों में प्रकट किया गया, जिनमें इसका प्रचार हुआ, वे उसको ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं थे, उनके रोम रोम में तो इसके विपरीत बातें भरी हुई थीं। इसलिए ईसाई धर्म के काफी प्रचार हो जाने पर भी यूरोप ने ईसा के शान्ति सन्देश को कभी दिल से नहीं स्वीकृत किया। प्रसिद्ध समाज-शास्त्री बेंजामिन किड इस विषय में लिखते हैं, "पश्चिम की सभ्यता का विकास शरीर-बल पर हुआ है। इस सभ्यता का प्रचार करने वाले मनुष्य ने युगों पहले, असंख्य युगों पहले, लड़-झगड़ कर ही अपना प्रचार किया था। इसने जितनी भी संस्थाओं की स्थापना की है, उन सब में अपनी

लड़ाकू वृत्ति तथा इस मान्यता को प्रतिष्ठित किया है कि संसार में शरीर-बल ही परम तत्त्व है। परन्तु इसको जिस धर्म की विरासत मिली है वह तो निरन्तर शरीर-बलका निषेध ही करता रहा है। यह धर्म इसके विकास में जहां तहां अपनी टांग अड़ा कर इसकी इस कल्पना का विरोध करता है कि शरीर-बल ही सर्वोपरि है और यह मनुष्य भी सदियों से अपनी इस असाधारण विरासत से झगड़ता रहा है। बल्कि अपने अंतस्तल में तो उसने कई बार इस धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा तक को एक बारगी अंतिम विदा देने का प्रयत्न किया है। इस धर्म को बुद्धि के क्षेत्र में परास्त करने के लिए उसने अपने विज्ञान और फिलसुफी को आदेश दे रक्खा है। अश्रद्धा का, सांसारिक बुद्धि का अभेद्य किन्तु लचीला कवच पहन कर और हृदय में शरीर-बल के सिद्धान्त का मजबूत रीति से प्रतिष्ठित करके वह संसार में दिग्विजय करता गया। अपने राष्ट्रीय युद्धों में भी इसने 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले सिद्धान्त की ही पूजा की है। सामाजिक प्रश्नों को हल करते समय भी इसने इसी सिद्धान्त की दीक्षा ली है कि समाज के बल की रक्षा तो तभी होगी जब मुंह पसार कर संसार में विचरण करने वाली पाशविक सत्ता के फौलादी पंजे रंक तथा दीन दुखी जनों को एक बारगी पिस देंगे।"

"विश्वशांति की हिमायत करने वाले धर्म के सिद्धान्तों के नाम राष्ट्रों और जनता द्वारा चारों ओर मचाये गये भीषण नर-हत्या-काण्ड हैं आपके पश्चिम के इतिहास का मुख्य विषय! ऊपर से देखते हुए हमें इन झगड़ों में जो कुछ भी दिखाई दे, पर सच्ची बात तो यह है, कि स्वत्व, सत्य और न्याय का अन्तिम हिसाब तो लगभग पूर्ण रूप से शरीर-बल की विजय प[र] ही हुआ है। दोनों ओर के लड़ने वाले जाहिर करते हैं कि हम ईसाई ध[र्म] के सिद्धान्तों के लिए ही युद्ध कर रहे हैं। उसी प्रकार विजय मिलने पर भ[ी] वे खून से भीगे हुए अपने झण्डों को मंदिरों और प्रार्थना-भवनों में ले जा[ते] हैं। पगन लोग भी तो यही करते थे। वे तो कुछ ही खास खास स्थानों प[र] सत्य और न्याय का अर्थ शरीर-बल की विजय से करते थे, पर पश्चिम क[ी] सभ्यता ने तो अपने समस्त इतिहास में यही दावा किया है, कि वह ईसा[ई] धर्म की बुनियाद पर खड़ी की गई सभ्यता है; और फिर भी उसके प्रत्ये[क]

विकास और प्रगति की जड़ में आपको युद्ध ही दिखाई देगा, यह विकास या तो युद्ध की घुड़की दिखा कर किया गया है, या युद्ध इसके साथ ही साथ अथवा आगे पीछे हुए हैं।

(दि लायन्स ऑफ पॉवर, पृष्ठ ७ से ४; फिर पृष्ठ १५६ और १६०)

नं०—३ पृ० १६

कॉन्फ्यूशियस् । ई० न० पूर्व ५५० से ४७८ । भगवान् बुद्ध के समकालीन चीनी सन्त। कान्फ्यूशियन तो लेटिन उच्चारण है, चीनी उच्चार कुन-फुच है। कुनफुच अर्थात् फिल्उफत्-कुन दार्शनिक कुन्। चीन देश में लू नामक एक छोटी सी तहसील है, बस वही है इस महापुरुष की जन्मभूमि। जिस काल में इनका जन्म हुआ था, चीन अनेक छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, कोई सर्वोपरि सत्ता नहीं थी। बस, चारों ओर अंधाधुंधी, जैसा कि इनके एक शिष्य ने कहा है, "धर्म का लोप हो चुका था, और संसार का विनाश नज़दीक था, चारों ओर ऊटपटांग उपदेश और जुल्म का साम्राज्य फैला हुआ था। मंत्री लोग राजा को, और लड़के अपने पिता को हत्या कर डालते थे। यह देख कान्फ्यूशियस् कांप गये और उन्होंने देशसुधार का काम अपने हाथों में ले लिया।" बाल्यावस्था में पिता की मृत्यु और दारिद्रय के कारण उनका चित्त पढ़ने में खूब लगा। उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हो गया। विवाह के बाद उन्होंने राज्य में नौकरी कर ली और तीन वर्ष के बाद जिज्ञासुओं के लिए एक विद्यालय खोल कर उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया। गरीब से गरीब लोगों को भी वे सदाचार का पाठ पढ़ाते और उनके जीवन की गुत्थियों को सुलझा देते। संगीत और चीन का इतिहास इनके प्रिय विषय थे। पर इस समय 'लू' में अंधाधुंधी शुरू हो गई और कान्फ्यूशियस् को वहां से चल देना पड़ा। इस समय इनका शिष्य-मंडल काफ़ी बढ़ गया था और उन्हें साथ में लेकर ही वे प्रवास करते थे। वे किसी ऐसे राजा की खोज में थे, जो उनके लिए ऐसी सहूलियतें कर देता, जिससे वे अपने पूर्वनिर्धारित सिद्धान्तों और जीवन-तत्त्वों को मूर्त स्वरूप दे सकते। पूरे पंद्रह वर्ष इस तरह प्रवास और एकांत में बीत गये।

जब वे बावन वर्ष के हुए, तब उन्हें शुंगटू शहर का न्यायाधीश बना दिया गया। यहां इन्होंने धर्म-राज्य की स्थापना की। "राजा को बलवान् बना कर उन्होंने सरदारों को दबा दिया। राज्यतंत्र में भारी परिवर्तन हो गये; असत्य और दुराचरण का लोप हुआ और लोग स्वामिनिष्ठ तथा विश्वसनीय बन गये। स्त्रियां चारित्र्यशील और आज्ञाधारक हो गईं, कुन-फुच प्रजा की ध्यान-मूर्ति बन गये, और उनका नाम प्रातःस्मरणीय हो गया।" यह स्थिति बहुत दिन तक न टिकी, कान के कच्चे राजा ने शीघ्र ही उन्हें हटा दिया। फिर कान्फ्यूशियस का भ्रमण शुरू हुआ। पुनः तेरह वर्ष तक वे अपने शिष्यों को लेकर घूमते रहे। अब तो इनके शिष्यों की संख्या तीन हजार तक पहुंच चुकी थी, जिनमें सत्तर-अस्सी तो असाधारण विद्वान थे। कान्फ्यूशियस की एक मात्र इच्छा यही थी कि कोई राजा उनके उपदेश को स्वीकार कर ले; पर उनके जीवन भर यह मुराद पूरी नहीं हुई। मृत्यु के तीन वर्ष पहले अर्थात् उन्सठ वर्ष में वे अपने घर पर लौटे। मृत्यु के पहले उन्हें अपने अंत की सूचना भी मिल गई थी। मेरा गुरु पद स्वीकार करने वाला कोई चतुर राजा नहीं दिखाई देता और "मेरा अंत काल तो आ पहुंचा।" ये थे उनके आखिरी शब्द। "उनकी मृत्यु की खबर बिजली की तरह सारे देश में फैल गई। जिस पुरुष की जीवितावस्था में सब ने उपेक्षा की थी, उसकी मृत्यु हो जाने पर प्रत्येक आदमी, सारा समाज़ अपनेको न्योछावर करने लगा। उस दिन जो बाढ़ आई थी, आज उसे तेईस सदियां हो गईं पर वह ज्यों की त्यों बनी हुई है।"

कान्फ्यूशियस एक तरह से प्रत्यक्षवादी थे। "ईश्वर परलोक जैसी परोक्ष वस्तुओं के पीछे समय खोने के बदले इसी लोक को सुधारें, जिस मानवता के बीच हम रहते हैं उसीकी दशा को अच्छी बनावें, अपने सदाचार से इस भूमि पर ही नन्दनवन बसा दें"; बस यही उनके जीवन के सूत्र थे, वे मानते थे कि मनुष्य ही मनुष्य का सेवा-पात्र इष्ट-दैवत है; उन्होंने देखा कि समाज में पांच सम्बन्ध मुख्य हैं, राजा-प्रजा, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, ज्येष्ठ-कनिष्ठ-बन्धु, और मित्र। जब आदमी विकारवश होता है, तब ये सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं, और समाज में अराजकता फैल जाती है। अर्थात् यदि मनुष्य

इन सम्बन्धों को ठीक कर लें, अपने कर्तव्यों का यथार्थ पालन करते जांय, तो समाज अपने आप सुखी होगा। यह है उनके उपदेश का निष्कर्ष, और उन्हें पूरी आशा थी कि समाज इस तरह बराबर सुखी किया जा सकता है, (तुलना कीजिए बुद्ध भगवान् के सिगाल सुत्त से, "गृहस्थों के कर्त्तव्य से बुद्धलीला-सार-संग्रह पृ० २४६)

संसार में रह कर ही वे सेवा करना चाहते थे। वासना-जय तथा मुक्ति उनके तत्वज्ञान का विषय नहीं था। एक बार जब संसार-त्याग के विषय में उन्हें प्रश्न किया गया, तब उन्होंने कहा था, "संसार का त्याग कर पशु-पक्षियों के साथ में कैसे रह सकता हूं? पशु-पक्षियों से हमारा समान भाव कैसे हो सकता है? दुःखित मनुष्यों को छोड़ कर मैं सहवास के लिए और किसे खोजता फिरूं? यहां मेरी जरूरत इसी लिए है कि यहां चारों ओर अव्य-वस्था है, यदि राष्ट्र में सब लोग धर्म का पालन करते होते तो मुझे उसकी स्थिति में कोई परिवर्त्तन करने की जरूरत नहीं होती।" कान्फ्यूशियस ने चीनी समाज के लिए, एक आचार-स्मृति तय्यार की है; जो आज भी वहां प्रचलित है। बौद्ध अथवा ताओ संप्रदाय के चीनी भले ही आज चाहे जिसका तत्वज्ञान मानें, पर अपने ऐहिक व्यवहार में तो वे कानफ्यूशियस की स्मृति का ही अनुसरण करते हैं।

पत्र दूसरा

नं०—१ पृ० २२

गोरे राष्ट्रों का ख्याल है कि गोरों को छोड़ संसार की अन्य समस्त जंगली जातियों को सुधारने का काम परमात्मा ने इन्हींको सौंप रक्खा है। इसको 'गोरों का गुरुतर भार' (Whiteman's burden) कहते हैं। उनकी यह धारणा कितनी निःसार है यह बताते हुए एच० जी० वेल्स लिखते हैं—

"उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में लोगों का यह ख्याल था कि समस्त संसार को यूरोप की अधीनता में आ जाना चाहिए, और यही स्वाभाविक और अनिवार्य भी है। यूरोप ने ऐसा स्वांग रचाया मानो वह इस

परमाथ का साधन करने के लिए बड़ी अनिच्छापूर्वक परोपकारी वृत्ति धारण कर रहा हो। मि० रडयार्ड किपलिङ्ग ने इसे 'गोरों का गुरुतर भार' कहा है। पर इसका सच्चा अर्थ तो है संसार की लूट और सत्ता। और इस काम में यूरोप के राष्ट्रों में ऐसी भारी प्रतिस्पर्धा शुरू हुई कि वे एक दूसरे को मात करने लगे। उस समय इनके घर का हाल क्या था? उनके देश की जनता अर्ध-शिक्षित अथवा निरक्षर थी; मुट्ठीभर मनुष्य—ज्यादह से ज्यादह कुछ हजार—वैज्ञानिक खोज में लगे हुए थे; आन्तरिक शासन-व्यवस्था में ऐसी खींचातानी मची हुई थी कि वे या तो विनाश के तौर पर खड़े हो गये थे या वहां इसी तरह की उथल-पुथल मची हुई थी। आर्थिक व्यवस्था का यंत्र बड़ी मुश्किल से शुरू किया गया था। पर वह भी चूं चूं बोल रहा था। धार्मिक संस्थाओं में बेहद गंदगी फैल गई है। पर फिर भी ये यूरोपीयन राष्ट्र सचमुच यही मानते थे कि पूर्व एशिया की समस्त प्रजाओं को वे ऐसे यूरोप की अधीनता में भी हमेशा के लिए रख सकेंगे।" (आउटलाइन्स आफ हिस्ट्री, पृ० ६५१)

एक तो घर की ऐसी हालत थी और दूसरे, हेतु भी दुष्ट था। इस हालत में यूरोप के राष्ट्रों ने—गोरों ने इस 'गुरुतर भार' को वहन किस तरह किया, यह तो संसार जानता ही है। यदि हेतु शुद्ध होता तो संसार की चाहे सेवा होती या न होता, किन्तु यूरोप की दशा तो जरूर सुधर जाती। कल्याण कर्म करते हुए कोई दुर्गति को नहीं पहुंच सकता। पर यूरोप ने तो संसार का भार अपने सिर पर लेके बाद में उसे अपनी जेब में रख कर उसे चट कर जाने का ही यत्न किया है। फल क्या हुआ? यूरोप की भौतिक उन्नति भले ही चाहे कितनी ही हो गई हो, उसकी योजना-शक्ति तथा कार्य-शक्ति भले ही कितनी ही विकसित हो गई हो, इसके विद्वान तथा मानव-हितैषी मुट्ठीभर सज्जनों ने भले ही सुन्दर २ मनोराज्यों की रचनाएं की हों, पर उसकी करतूतें प्रत्येक भोलेभाले देश में शाप रूप ही साबित हुई हैं। यूरोप का समाज-वृक्ष सड़ गया है। यही नहीं, बल्कि ये परोपकारी लोग जहां जहां पहुंचे हैं, वहां वहां सब दूर इन्होंने अपनी गन्दगी को भी फैला दिया है।

पर क्या जनहित के बहाने सारे संसार को हजम कर जानेका इनका स्वार्थ सिद्ध हो गया या हो भी सकता है? अपने पारस्परिक ईर्ष्या तथा

मत्सर के कारण ये लोग बाह्य दुनिया के साथ साथ अपना संहार भी कितनी अच्छी तरह कर सकते हैं,इसका भीषण नाटक हाल ही में इस विश्व की रंगभूमि पर खेला गया था। अब तो बालक बूढ़े किसी के भी दिल में इस विषय में कोई संदेह नहीं रह गया कि यूरोप के हेतु का क्या सच्चा अर्थ करना चाहिए।

नं०—२ पृ० ५२

सत्य अनेक विध है। किसी भी अपूर्ण मनुष्य को संपूर्ण सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। इस बात को जो शख्स महसूस करता है, उसमें सत्य के ज्ञान के साथ साथ अधूरेपन की नम्रता तथा दूसरे के प्रति सहिष्णुता भी बराबर होती है। इसीको दूसरे शब्दों में अहिंसा कहा जाता है। पर जहां इस बात का भान नहीं होता, वहां दुराग्रह और अंधभक्ति का होना स्वाभाविक है। वहीं पर हमसे भिन्न या विपरीत ख्याल रखने वाले पर जबर्दस्ती अपना मत लादने की वृत्ति भी प्रबल होती है। इसी कारण धर्म के नाम पर अत्याचार होते हैं। संसार में दो धर्मों के नाम पर अधिक से अधिक खून बहा है—इस्लाम और ईसाई धर्म। ईसाई लोगों का यह दृढ़ विश्वास था और आज भी है कि संसार में केवल ईसाई धर्म ही सच्चा धर्म है। केवल ईसा ही परमात्मा का एक मात्र बेटा है और उसका अनुगमन करने वाले ही परम पद को प्राप्त कर सकते हैं। शेष सब घोर अज्ञानी हैं और वे घोर नरक को प्राप्त करेंगे। प्रख्यात इतिहासकार लेकी ने विस्तृत रूप से उदाहरणों और दलीलों द्वारा यह बताया है कि किस तरह ईसाई धर्म के अनुयायियों ने अपने अन्दर तथा अन्य धर्मानुयायियों पर नाना प्रकार के क्रूर अत्याचार किये हैं। उनका मुख्य प्रेरक कारण यही मूढ़ धारणा थी। वह लिखता है—"अन्यत्र एक स्थान पर ईसाइयों द्वारा किये गये अत्याचारों के इतिहास को मैंने विस्तृत रूप से जांचा है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि कई स्थानों पर तो वे अत्याचार उन सिद्धान्तों का स्वाभाविक, तर्क-शुद्ध और अनिवार्य परिणाम हैं, जिनको ईसाइयों ने अपना धर्मतत्त्व मान रक्खा है। वे सिद्धान्त ये हैं:—सच्ची धार्मिक मान्यता के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। यदि धार्मिक मान्यता में कहीं भ्रम रह जाय तो वह एक भारी अपराध है; ईसाई अत्या-

चारियों ने जितने अनाचार और जुल्म किए हैं, और मानवजाति की प्रगति में बाधायें खड़ी की हैं, लगभग उन सब की जड़ में ये दो मान्यतायें ही बताई जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्मशास्त्री तो यह भी प्रतिपादित करते कि अश्रद्धालु मनुष्यों की मृत्यु के बाद जो दशा होती है उसका ख्याल भी बड़ा भयंकर और थर्रा देने वाला है। अतः ऐसे अज्ञानी मनुष्यों की गलती को धो डालने के लिए उन्हें यदि इसी जन्म में कष्ट दिया जाय, तो उससे किसी को घबड़ाना न चाहिए।" हिस्ट्री आफ यूरोपियन मॉरल्सः प्रकरण ३।

नं०—३ पृ० २३

इस पत्र में जिस आर्थिक असहायता का वर्णन किया है उसकी जड़ को जब हम ढूंढने लगते हैं, तब पता चलता है कि आज की इस स्थिति का कारण यंत्र-युग के आरम्भ में छिपा हुआ है। मनुष्य की अपेक्षा यंत्र थोड़े समय में अधिक काम करता है। इससे मनुष्य की मिहनत और परिश्रम बच जाते हैं। यह है यंत्र का लाभ। पर भाफ या बिजली से चलने वाले यंत्रों का प्रयोग सफल और लाभदायक करने के लिए अनेक यंत्रों को एक स्थान पर इकट्ठा करके बड़े पैमाने पर उद्यम चलाना अनिवार्य है। पुराने जमाने में लोग अपने अपने घर छोटे पैमाने पर काम करते थे; तहां इस जमाने में उसी काम को बड़े पैमाने पर करने के लिए मिलों और कारखानों की स्थापना की जाती है। फलतः भाफ और बिजली की सहायता से माल तेजी से, ढेरों से तैयार होता है। इतनी तादाद में जब माल पैदा होता है तब उसका उपयोग करने वालों को खोजना पड़ता है; अर्थात् एक ओर तो जीवन की आवश्यकताएं बढ़ाने का उद्योग किया जाता है, इसीमें मनुष्य-जीवन का उत्कर्ष बताया जाता है, तहां दूसरी ओर उन देशों को, जिनमें इतने बड़े पैमाने पर माल तैयार होने नहीं लगा है, तलवार और बंदूक के बल पर उस माल को खरीदने पर मजबूर किया जाता है। फलतः उस देश के उद्यम टूट जाते हैं और लोग बेकार हो जाते हैं। फिर भी माल तो आवश्यकता से अधिक ही पैदा होता रहता है। इसीलिए मनुष्य को इस माल को खपाने

के लिए नित्य नये बाजार और नित्य नये प्रदेश ढूंढने पड़ते हैं। अब यंत्रशक्ति को काम में लाने वाले तमाम राष्ट्रों में चढ़ा-ऊपरी होने लगती है। बलवान की विजय होती है। व्यापार-वृद्धि के लिए मुल्क जीते जाते हैं। यदि यह कहें कि विगत महायुद्ध का मुख्य कारण यही व्यापारी चढ़ा-ऊपरी थी, तो अत्युक्ति न होगी।

इस तरह माल के निकास के लिए बाजारों का बने रहना अत्यावश्यक है। यदि एक भी बाजार बन्द हो जाय, तो उस देश का माल जहां का तहां पड़ा रहे, कारखाने बन्द हो जायँ और बेकारी खूब बढ़ जाय। जर्मनी से इंगलैंड ने नुकसानी के बदले बहुत भारी दंड लिया। तब जर्मनी ने सस्ता माल पैदा करके इंगलैंड के माल को बाजारों में परास्त करना शुरू किया। इसका फल हुआ इंगलैंड की बेकारी। यही है वह असहायता। इसीका वर्णन इस पत्र में किया गया है।

बरट्रेंड रस्सेल ने जापान का उदाहरण देकर इस अनर्थ-परम्परा की विनाशकता का यों वर्णन किया है:—"जापान के सामने आज बड़ी विकट समस्या उपस्थित है। आबादी बढ़ती जा रही है। उसके पोषण के लिए उद्यमों का बढ़ाना जरूरी है। पर इसके लिए चीन के कच्चे माल को हथियाना बड़ा आवश्यक है। अब यदि वह चीन के कच्चे माल को हथियाने जाता है तो उसे अमेरिका और यूरोप के आर्थिक स्वार्थ में हस्तक्षेप करना पड़ता है, और यह काम क्या आसान है? इसको सफलतापूर्वक करने के लिए बहुत बड़ी जल-थल-सेना रखना अनिवार्य है। फलतः मजदूरों से करों का बढ़ना भी अनिवार्य है। और व्यापार तो बढ़ता रहे पर मजदूर कंगाल बने रहें, इस परिस्थिति का क्या परिणाम हो सकता है? उनमें असन्तोष बढ़ेगा, समाज-सत्ता-वाद बढ़ेगा, गरीबवर्ग में [illegible] तथा राजनिष्ठा शिथिल होगी और इसके फलस्वरूप जिस बुनियाद पर सारे राष्ट्र की इमारत खड़ी की गई है वही कमजोर होगी। बाहर से जापान अमेरिका के साथ होने वाले भावी युद्ध के डर से तथा चीन के पुनरुत्थान के भय से त्रस्त है, तो भीतर से उसे मजदूरों का [illegible] कम्पित कर रहा है।" दी प्राॅस्पेक्ट्स [illegible], पृ० ११२-३

इस पत्र में पश्चिमी संस्कृति की जो टीका की गई है, उसकी नीचे लिखे महात्मा गांधी तथा कविवर रवीन्द्रनाथ के मत के साथ जरा तुलना कीजिए।

"पश्चिमी संस्कृति के मानी हैं पश्चिम का वर्तमान आदर्श, और उसके आधार पर खड़ी की गई हलचलें; अर्थात् पशुबल का प्राधान्य, धन को ही ईश्वर समझना, ऐहिक सुखों की प्राप्ति में ही अपने काल का अधिकांश हिस्सा लगा देना, यान्त्रिक शक्ति को बढ़ाने के लिए मानसिक शक्ति का बेहद व्यय, विनाशक आविष्कारों की खोज में करोड़ों रुपयों को बहाना, और यूरोप के बाहर के राष्ट्रों को तुच्छ समझना। मैं इस संस्कृति को सर्वथा त्याज्य समझता हूं।"

—गांधीजी ('गांधीजी का नवजीवन; पृ० ७२५)

"जिस राजनैतिक सभ्यता ने यूरोप की भूमि में पैदा होकर शीघ्र फैल जाने वाली घास के समान सारे पृथ्वीतल को आक्रान्त कर लिया है उसकी जड़ में ही बहिष्कार-वृत्ति है। वह निरंतर जागृत रह कर दूसरे लोगों को परास्त करती है या उनको जड़ से उखाड़ देती है। उसकी वृत्ति मांसाहारी और नर-भक्षक है। अन्य राष्ट्रों की साधन-संपत्ति पर वह नाच रही है, और उनका सर्वस्व डकार जाने पर तुली हुई है। अन्य राष्ट्रों की कीर्ति अथवा उन्नति देख कर उसे भय होता है। और उसे वह 'संकट' का उपनाम दान देती है।

भक्तता को कभी अनुभव नहीं किया था। ऐसा कभी नहीं देखा गया कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को पूरी तरह निगल जाय। पृथ्वी के बड़े बड़े हिस्सों को एक एक लज्जतदार कौर में सफाचट करने वाले यन्त्र भी नहीं देखे गये थे। संसार ने कभी मत्सर के ऐसे कराल रूप को भी नहीं देखा था जो एक दूसरे के मर्मस्थल को फाड़ने-ताड़ने के लिए अपनी भयङ्कर दंष्ट्राओं और पंजों को फैला कर मौके की ताक में तैयार बैठा हो। यह राजनैतिक सभ्यता या सुधार शास्त्र-शुद्ध है पर मानव-कल्याण-कारी नहीं है। जिस प्रकार एक लखपति अपनी आत्मा को बेच कर धन के ढेर कमा लेता है उसी प्रकार इसने भी उसी एक वस्तु पर अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित कर दिया है। इसीलिए यह सार्वभौम हो रही है। वह ईश्वर और उसकी सृष्टि का द्रोह करती है। झूठ का माया-जाल फैलाने में इसे जरा भी लज्जा या संकोच नहीं होता। अपने मंदिरों में इसने लोभ की विशाल मूर्तियां खड़ी कर दी हैं। अपनी असीम खर्चीली पूजाविधियों में ही वह गौरव मानती है। और इस सब को वह देशाभिमान बताती है। पर मैं भविष्यवाणी करके कहता हूं कि यह अधिक समय तक नहीं चल सकती, क्योंकि संसार में नीति का साम्राज्य अटल है। उसकी नजर से न मानव व्यक्तियां और न संघ ही छूट सकते हैं। राष्ट्र के नाम पर इन नीति-नियमों को आप ठुकराते जाएं और फिर भी व्यक्तियों की हैसियत से उनसे लाभ भी उठाते रहें यह गाडा अधिक दिन तक नहीं चल सकता। नीति-नियमों की जड़ को आप जिस तरह उखाड़ते जा रहे हैं उसका प्रत्याघात समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर हो रहा है। जहां आप इस प्रत्याघात को अपनी आंखों नहीं देख सकते वहां समाज की जड़ें भीतर ही भीतर खोखली हो रही हैं। मनुष्य में जितनी भलाइयां हैं उन सब के प्रति अविश्वास और संदेह उत्पन्न होते जा रहे हैं। और यही तो समाज के जरठ होने के लक्षण हैं। आप यह तो पूरी तरह समझ लें कि इस राजनैतिक सभ्यता की, इस राष्ट्राभिमान के धर्म की यह कसौटी बहुत लम्बी नहीं है। प्राचीन ग्रीस का प्रदीप जिस भूमि पर प्रज्वलित हुआ था वहीं पुनः वह विलीन भी हो गया। रोम की सत्ता भी मर कर अपने विशाल साम्राज्य के खंडहरों के नीचे दब गई। परन्तु जिन सभ्यताओं की जड़ समाज में और मनुष्य के आध्यात्मिक आदर्श

में है वे सभ्यतायें आज भी चीन और भारतवर्ष में अपने तेज से जगमगा रही हैं। आज के ज़माने में यंत्रबल के नाप से नापते हुए, ये सभ्यताएं भले ही दुबली-पतली दिखाई दें, परन्तु सूक्ष्म बीज की तरह इनमें अब भी चैतन्य भरा हुआ है। जब इनका समय आवेगा, आकाश से कृपा की वृष्टि होगी तब इनमें नवीन अंकुर प्रस्फुटित होंगे, नव-पल्लव-श्री से वे मंडित होंगी, अपनी शीतल शाखाएँ चारों तरफ फैलावेंगी और फूलेंगी, फलेंगी तथा संसार को समृद्धिमय बनावेंगी। परन्तु सत्ता की इन ऊंची इमारतों को और लोलुपता के इन टूटे-फूटे यंत्रों को तो ईश्वर की वृष्टि भी नवांकुरित नहीं कर सकती, क्योंकि ये जीवन-कोटि में थे ही नहीं, बल्कि ये तो समस्त जीवन के विरोधी थे। ये तो उसी तत्त्व के अवशेष हैं जो उस अनंत के सामने बगावत करके चूर-चूर हो गया।"

—रवीन्द्रनाथ (नेशनालिजम् पृ० ५९-६२)

पत्र चौथा

नं०—१ पृ० ३६

जबतक मनुष्य का जीवन अन्न पर निर्भर रहेगा, तबतक खेती ही एक मात्र सामाजिक महत्वपूर्ण पेशा रहेगा। और खेती के कारण मनुष्यों को भी देहात में ही रहना होगा, और यही स्वाभाविक, इष्ट स्थिति भी है। अन्न-वस्त्रों के अतिरिक्त मनुष्य की दूसरी जरूरतों को पूर्ण करने के लिए तथा परस्परावलम्बी समाज को सुयंत्रित बनाने के लिए बाजार हाट तथा कुछ शहर भी जरूर ही उत्पन्न होंगे; जबतक मनुष्य चाहेगा कि वह आज की भांति राज्यतंत्र द्वारा नियंत्रित होता रहे तबतक राजधानियां और उनकी गंदगी भी अनिवार्य है, किन्तु मनुष्य-जाति का मुख्य केन्द्र तो देहात ही हैं, जिनका खेती से सजीव सम्बन्ध होता है।

कर जहां तहां शहर बस गये। देहात् का सार-सर्वस्व नाज, बुद्धि, देहात् का पुरुषार्थ, तथा वहां की मज़दूरी को भी वे अपनी ओर खींच कर ले आते हैं। शहर देहात् की आवश्यकताएं पूर्ण करने के बदले आज उन्हीं को आजीविका का साधन बनाये बैठे हैं. वे ग्रामों को इसीलिए जीने दे रहे हैं, कि उनको इनकी आवश्यकता है। इस कृत्रिम स्थिति के कारण मनुष्य का आरोग्य, उसकी आयु, चारित्र्य और उसके संतोष को भारी आघात पहुंचा है। हां, अन्य सब बातों में तो वह प्रगति करता जा रहा है!

नं०—२ पृ० ३७

"यदि बालक खूब खाले, लोभ करे, लड़े-झगड़े, तो उसे यह सब फब जाता है, क्योंकि उसमें मुग्धता होती है। वही बालक जब बड़ा होता है तब प्रकृति से उसका उतना गाढ़ा सम्बन्ध नहीं होता, अब उसे वह मुग्ध सौन्दर्य नहीं प्राप्त हो सकता। अब तो वह प्रयत्न-पूर्वक संस्कार, विवेक और कला को विकसित करे तभी कहीं काम चले। प्रकृति की दी हुई किसी चीज को एक बार गवां देने पर पुनः वह तपस्या द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। तपोवन में अनायास प्राप्त शकुन्तला का अनादर करने वाले दुःष्यन्त को जब तक वह वर्षों तक पश्चात्ताप के आंसू नहीं बहायेगा, उसे शकुन्तला की पुनः प्राप्ति नहीं हो सकती। खोई हुई मुग्धता को न्यूनता को कला के संस्कार द्वारा ही पूरा किया जा सकता है।" —काका कालेलकर

नं०—३ पृ० ३६

"किसी बढ़िया कहानी को यदि कोई छंदोबद्ध कर दे, तो हम उसे जरूर बड़े चाव से पढ़ेंगे। परन्तु इस पद्यावलि को हम काव्य तो नहीं कह सकते। काव्य-गुण तो एक जुदी ही चीज़ होती है, हृत्तंत्री के तारों को एक अलौकिक रीति से छेड़ देने वाली दैवी शक्ति जिस कविता में हो, वही काव्य के नाम को प्राप्त कर सकती है। छंदोबद्ध वार्ता एक चीज़ है, और काव्य दूसरी। यही बात चित्र-कला के विषय में भी चरितार्थ होती है। चित्रकार यदि किन्हीं प्रसंगों को केवल चित्रों में अंकित कर दे, तो हम

उसे कलाकार नहीं कारीगर कहेंगे। किसी कहानी को सिर्फ छंदोबद्ध अथवा वर्णबद्ध कर देने भर से उस में प्रतिभा नहीं आ सकती। काव्य और कला आंतरिक वस्तुएं हैं। इनका सम्बन्ध हृदय से है, हुनर से नहीं।"

—काका कालेलकर

पत्र पांचवां

नं०—१ पृ० ४३

जिस वस्तु का संग्रह संसार में कम होता है और ज़रूरत ज्यादह, वह महंगी होती है। इसके विपरीत जिस वस्तु का संग्रह अधिक होता है, किन्तु ज़रूरत कम होती है, वह स्वभावतः सस्ती होती है। इस तरह उपज अधिक और मांग कम हो तो सस्ताई, और मांग अधिक, किन्तु उपज कम हो तो महंगाई, यही है मांग और उपज का नियम। यदि एक ही धंधे में अधिक चढ़ा-ऊपरी होने लगे, तो मांग की अपेक्षा माल अधिक पैदा होगा, और माल का भाव गिर जायगा। इस चढ़ा-ऊपरी के कारण बड़े बड़े कारखाने और कंपनियां बन जाती हैं। इसलिए देहात के मजदूरों को अपना गांव छोड़ कर शहरों में जाना पड़ता है। मजदूर एक ही जगह स्थिर बस कर रहने के बदले यदि इधर उधर घूमने लग जांय। जहां मांग ज्यादह हो वहां चले जांय तो उन्हें दाम भी ज्यादह मिलें और उद्योग में भी तरक्की हो सके। पर इस तरह घूमने में यदि मजदूरों को कुछ समय बेकार रहना पड़े, तो? हां ठीक है, किन्तु यह बहुत थोड़े समय के लिए होगा। मांग और उपज के नियम के अनुसार जहां इन मजदूरों की मांग होगी वे शीघ्र ही वहां चले जावेंगे। किसी को बेकार न रहना होगा। इससे लाभ यह होगा कि देश के छोटे छोटे उद्योगों के बदले बड़े बड़े उद्योग तरक्की करेंगे, माल खूब पैदा होगा, बहुत से मजदूरों को मजदूरी मिलेगी, अन्य देशों से संपत्ति खिंच कर यहां आवेगी, और अन्त में देश का भी सब तरह प्रगति हो जायगी। यह सब एकाएक न दिखाई देगा। प्रारम्भ में मालूम होगा कि कुछ ही लोगों को फायदा हो रहा है, पर आगे चल कर निःसंदेह

वह सब ठीक हो जायगा। अर्थशास्त्री इस तरह दलील करते हैं। इसी का विरोध इस पुस्तक के लेखक ने किया है।

नं० — २ पृ० ४७

विद्या का सेवन करने वाला और राज्यसंचालक एक जुदा वर्ग - अर्थात् समाज के ब्राह्मण और क्षत्रिय, "अर्थ के दासत्व से मुक्त रहें", इसका अर्थ यदि यह हो कि इनको अपनी आजीविका के लिए शारीरिक परिश्रम न करना पड़े तो यह सिद्धान्त विवादास्पद है; यदि इसके मानी यह हों कि दूसरों की बनिस्बत जीवन-कलह इन वर्गों के लिए कुछ सौम्य हो, तब तो बात कुछ समझ में आ सकती है। इस वर्ग की पृथक् रचना इस विनिमय के सिद्धान्त पर खड़ी की गई है, कि जन-साधारण को ज्ञान और रक्षा मिले और ज्ञान-दाता तथा रक्षक को शारीरिक मज़दूरी से कुछ हद तक मुक्त कर दिया जाय। परंतु इस भिन्न वर्ग ने तो ज्ञान को सेवा का साधन बनाने के बदले उसे विलास का क्षेत्र बना रक्खा है, और उसने जन-साधारण की मिहनत पर ही जीना शुरू कर दिया जिसकी उसे सेवा करनी चाहिए थी। यह श्रम-विभाग तो विपरीत है। मनुष्य को अपनी आजीविका के साधन पैदा करने के लिए शारीरिक परिश्रम करना ही चाहिए। यह तो उसका प्रथम कर्तव्य है, इस तत्व को संसार के सामने आग्रह के साथ पहले पहल पेश करने वाले पुरुष महात्मा टॉल-स्टॉय थे। देखिए वे क्या कहते हैं; "मनुष्य अपने को राज्य-संचालन के योग्य समझे अथवा प्रजा की रक्षा करने योग्य, वह अपने को धर्मोपदेश करने का अधिकारी माने या शिक्षाप्रचार में उपयोगी समझे, वह खुद को इस योग्य माने कि जीवन की सुख-सामग्रियों को बढ़ाने के आविष्कार करे, अथवा वह अपने को प्रकृति के नियमों को खोजने के योग्य समझे, चाहे वह अपने आप को सनातन सत्यों को कला द्वारा मूर्त रूप देने योग्य समझे, परन्तु प्रत्येक समझदार आदमी निर्विवाद रूप से अपना पहला कर्तव्य तो यही समझेगा कि कि वह अपने खुद के तथा दूसरों के निर्वाह के लिए प्रकृति से अन्न वस्त्र प्राप्त करने के साधनों में खुद भाग ले। यह सब से पहला कर्तव्य है। इसका मुख्य कारण तो यही है कि जीवनेच्छा मनुष्य की सब से बड़ी वासना है। यदि

मनुष्य जीवित हो तो आप उसकी रक्षा कर सकते हैं, उसे शिक्षा दे सकते हैं, और उसके जीवन को आनन्दमय बना सकते हैं; परन्तु इस कथन में तो सिवा हिंसा के और कुछ नहीं, कि प्रकृति से अपनी आजीविका प्राप्त करने में मैं किसी से हाथ न बटाऊंगा, बल्कि दूसरों के परिश्रम पर ही जीऊंगा।

(व्हाट शैल वी डु? उत्तरार्ध: पृ० २०३)

पत्र छठा

नं०—१ पृ० ५०

हमारे यहां सरकार को इतना महत्त्व क्यों नहीं दिया गया था, और पश्चिम ही में उसे क्यों इतना महत्त्व दिया जा रहा है? इस प्रश्न का उत्तर रवीन्द्रनाथ के भाषण से लिये गये नीचे लिखे उदाहरण को पढ़ने से अधिक स्पष्ट रूप से ख्याल में आ सकता है, "जिस संस्था को अंगरेजी में 'स्टेट' कहते हैं वह हमारे देश में आधुनिक भाषा में सरकार के नाम से परिचित है। यही सरकार प्राचीन भारतवर्ष में राजशक्ति के रूप में विद्यमान थी। परन्तु अंगरेजी 'स्टेट' हमारी राजशक्ति से भिन्न है। वहां तो जन-कल्याण सम्बन्धी समस्त कामों का भार सरकार के हाथों में सौंप दिया जाता है। पर भारत में यह बहुत कम परिमाण में किया गया है। देश में जो गुरुस्थान पर विराजते थे वे बिना किसी प्रकार का वेतन लिये ही धर्म और विद्या की शिक्षा जनता को देते रहते थे। यह नहीं कि इनका पालन करना तथा इनके काम को आगे बढ़ाना राजा का कर्त्तव्य ही नहीं था। वह था तो जरूर, पर कुछ ही अंशों में। यथार्थतः तो यह काम प्रत्येक गृहस्थ का समझा जाता था। फलतः राजा यदि इस काम से अपना हाथ खींच लेता, अथवा देश में एकाएक अराजकता फैल जाती तो समाज की धार्मिक अथवा लौकिक शिक्षा का काम पूरी तरह बंद नहीं हो जाता था। निःसन्देह बाँध बनवाना भी राजा का काम था, पर वह भी इसी तरह बनवाता जिस तरह कि समाज के अन्य धन-सम्पन्न लोग। इससे यह होता कि राजा यदि लापरवाह हो जाता तो जनता को पानी की तकलीफ नहीं उठानी पड़ती थी।

९

इससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि भिन्न भिन्न सभ्यता की प्राणशक्ति भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठित होती है। जनसमाज के कल्याण का भार—जिम्मेदारी—जिस स्थान में होगा, वही देश का धर्मस्थान कहा जाता है। उस स्थान पर चोट पहुंचने से समस्त देश का आघात पहुंचता है। यदि इंगलैंड की राजशक्ति नष्ट हो जाय, तो समझना चाहिए कि देश का विनाश हो गया। और इसी लिए यूरोप में राजनीति का इतना जंजाल फैला हुआ है। इसके विपरीत, हमारे देश पर सभी आपत्ति गुजर सकती है जब यहां का समाज पशु हो जाय। इसीलिए राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के लिए अपने प्राण देना हमने अभीतक नहीं सीखा है। पर सामाजिक स्वातंत्र्य की रक्षा तो हमने हर तरह से करने की कोशिश की है। भिखारियों को भीख देने से लेकर प्रजा को धार्मिक शिक्षा देने तक सारी बातें इंगलैंड में स्टेट के सिपुर्द हैं। हमारे देश में ये बातें सर्वसाधारण के धर्म व्यवहार अर्थात् आचार पर निर्भर रहती हैं। इसी लिए अंग्रेजों का जीवन स्टेट पर निर्भर है और हमारा जीवन धर्म-व्यवस्था पर।' समूह, पृ०-२-४।

नं०—२ पृ० ५३

इन शब्दों को लिखे शायद ही एक दशक हुआ होगा, कि इतने में चीन की वह सरकार उखड़ गई और चीन में प्रजातंत्र की स्थापना हो गई। लगभग तीन सौ वर्ष से उत्तर से आये हुए मांचू राजाओं की सत्ता चीन पर थी। सन् १९११ के अक्टूबर में इसके विरुद्ध एक भारी बलवा हुआ। बलवे का उद्देश था चीन को इन मांचू राजाओं की सत्ता से मुक्त करना। उस समय चीन का राजा नाबालिग था और उसकी माता शासन संचालन करती थी। दोनों ओर से चार वर्ष तक लड़ाई तथा नाना प्रकार की कोशिशें होती रहीं। अन्त में सन् १९१२ को फरवरी की १२ तारीख को राजा और राजमाता के सिंहासन-त्याग की घोषणा की गई और दूसरे ही दिन से स्वतंत्रता स्थापित हो गई। शिर पर लम्बी चोटियां रखने का रिवाज मांचू राजाओं ने चीन में प्रचलित किया था। चीन ने उसे छोड़ दिया। एक झपाटे में लाखों चोटियां काटी गई। चीन में दो सरकारें हो

गई। एक उत्तर—पेकिङ्ग में और दूसरी कैंटन—दक्षिण में। पेकिङ्ग की सरकार पुरानी सरकार के अधिकारियों की बनी और गोरों के पक्ष की थी। दक्षिण की सरकार राष्ट्रमान्य सरकार हो गई। इसके चालक प्रजा-पक्ष के आदमी थे। पेकिङ्ग में भिन्न सरकार का अस्तित्व चीन की स्वाधीनता की अपूर्णता को प्रकट कर रहा था। उसे दूर करने के लिए तथा चीन में एकमात्र प्रजासत्तक राज्य की स्थापना करने के लिए चीन का वर्तमान स्वातंत्र्य युद्ध शुरू किया गया है।

पत्र सातवां

नं०—१ पृ० ५८

जिस प्रकार खानों में सोने के साथ साथ मिट्टी मिली हुई होती है उसी प्रकार धर्म में लोकभ्रम भी मिले हुए होते हैं। व्यापक अर्थ में तो धर्म के मानी होते हैं सनातन सम्बन्ध या नियम। जला देना अग्नि का धर्म है। भूख लगना प्राणिमात्र की देह का धर्म है। बालक पर प्रेम करना माता का धर्म है। बहुमति के वश हो जाना संघ का धर्म है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना आत्मा का धर्म है। स्वार्पण करना हृदय का धर्म है। इन समस्त विधानों में न्यूनाधिक परिमाण में धर्म का एक ही अर्थ समाविष्ट है। भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्धों के यथार्थ दर्शन पर धर्म की रचना की गई है। जब तक मनुष्य इन शाश्वत नियमों को नहीं जान लेता तब तक झूठे अनुमान करता रहता है और उन्हीं को धर्म समझ लेता है। महादेव को स्नान कराने से वर्षा होगी, यज्ञ करने से बच्चे होंगे, बकरे मुर्गे तथा अन्य प्राणियों के मारने से परमात्मा प्रसन्न होगा। ईश्वर की पूजा-विधि में जरा-जरा सी भी गलती होगी तो वह कोपायमान हो जायगा, इत्यादि कल्पनायें लोकभ्रम के उदाहरण हैं। मनुष्य के समान ईश्वर भी विकाराधीन होगा, यह ख्याल करके उसकी तरह तरह से खुशामद करना, उसे रिश्वत देना, इत्यादि इत्यादि भ्रम मनुष्य के उपजाये हैं। अग्नि की

ज्वाला बुझ जाने पर उस में से जिस प्रकार धुआं निकलने लगता है उसी प्रकार मनुष्य-बुद्धि और मनुष्य-हृदय जब जड़ हो जाते हैं, जागृति मन्द हो जाती है तब ये भ्रम सूझते हैं। इन लोकभ्रमों को दूर करने का उपाय यह नहीं कि नास्तिकता का पानी डाल कर इस आग को हम बुझा दें, बल्कि सच्चा उपाय तो यही है कि ऐसे अवसरों पर जिज्ञासा और अनुभव की फूंक से धार्मिकता को सचेत करके धर्म की ज्योति को पुनः प्रकट कर देना। शिक्षा और गहरे चिन्तन ही से लोकभ्रमका नाश, और धर्म का उदय होता है। अज्ञान अथवा कुज्ञान,या भय तथा लालच धर्म के शत्रु हैं, इन्हीं में से लोकभ्रम पैदा होते हैं। ऋषि मुनि तथा धर्म-संस्थापक जहां तक अपनी श्रद्धा और अपने निजी अनुभव की बात करते हैं, वहां तक तो उसमें शुद्ध सत्य और सनातन धर्म होता है। पर वे अथवा उनके अनुयायी रूढ मान्यताओं अथवा अपनी कल्पनाओं को गफलत से या अज्ञान के कारण जितना ही धर्म में मिल जाने देते हैं उतनी ही अशुद्धि उस धर्म में आ जाती है। और जब धर्म के अन्धे अनुयायी इन्हीं पर जोर देने लगते हैं तब धर्म-सेवकों के हाथों ही धर्म का पराजय होता है।

नं०—२ पृ० ५८

ताओ-सम्प्रदाय—कान्फ्यूशियस के समय ही चीन में लुत्सु नामक एक तत्वज्ञ हो गये। उनके द्वारा प्रवर्तित दर्शनशास्त्र और सम्प्रदाय को ताओ-सम्प्रदाय कहा जाता है। यह तत्त्वज्ञान हमारे शांकर वेदान्त से इतना मिलता जुलता है, कि उसे उसकी उपमा भर देने से ही पाठकों को इस सम्प्रदाय के स्वरूप की कल्पना हो जायगी। ताओ के मानी हैं—ईश्वर अथवा ब्रह्म। ताओ एक है, अनादि है, अनन्त है, उपनिषदों में जो वर्णन ब्रह्म का पाया जाता है ठीक उसी प्रकार का वर्णन ताओ तत्त्वज्ञान में ताओ का पाया जाता है। शंकराचार्य के केवल-द्वैत तथा मायावाद के समान अद्वैत मत और मायावाद इसमें भी है।

नं०—३ पृ० ६३

ईसाई-धर्म की परलोक-परायणता के विषय में लेखक ने यहां पर से

टीका की है, उसके असंख्य उदाहरण स्वयं ईसा तथा ईसाई साधु-भक्तों के वचनों से चुन कर बताये जा सकते हैं। स्वयं ईसा ने कहा है—'मेरा धर्म-राज्य इहलौकिक नहीं, पारलौकिक है। परलोक में सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही कितने ही ईसाइयों ने हंसते हंसते अपने प्राण अर्पण कर दिये हैं। इहलोक-विषयक यह उदासीनता तथा परलोक-विषयक यह परायणता प्रत्यक्षवादी डिकिन्सन को नहीं भाई। और इसीलिए उसने कान्फ्यूशियन धर्म की इतनी तारीफ की है, क्योंकि वह प्रत्यक्षवादी है।

नं०—४ पृ० ६५

मध्य-युग में ईसाई-धर्म के विषय में यहां पर जो मत दिया गया है उसके विपरीत मत देखने के लिए इस अवतरण को पढ़िए:—

"मध्ययुगीन यूरोप में, मनुष्यका जीवन सादा और स्वाभाविक था। मनुष्य के विकार और वासनाएं बड़ी प्रबल थीं। परन्तु इस काल में तो मनुष्य शरीर और आत्मा के विग्रह को शान्त करने के उपायों की खोज में लगा हुआ था। यूरोप उस समय जवान था। उसकी जवानी में जोश भी था। उसके इस उपद्रवों भरे शासनकाल में सांसारिक तथा धार्मिक शक्तियों ने भी यूरोप के स्वभाव पर अपना खूब प्रभाव फैलाया तथा उसे सम्पूर्णतया चारित्रशील बना देने के लिए जो ताड़ परिश्रम भी किया था। मनुष्यता के उत्कर्ष से जहांतक सम्बन्ध है, उसकी समस्त प्रगति इस तपस्या के युग की—हां, सम्पूर्णता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा की गई तपस्या के इस युग की ही आभारी है।"

रवीन्द्रनाथ पर्सनालिटी, पृ० ३३

नं०—५ पृ० ६६

रोम का प्रजा-सत्तक राज्य कोई पांच सौ वर्ष तक टिका रहा। एक छोटे से शहर से बढ़ते-बढ़ते रोम एक विशाल और संपन्न नगर बन गया, बल्कि एक महान् साम्राज्य की वह राजधानी बन गया। इन पांच सदियों के पूर्वार्ध में रोम सब तरह से प्रगति के ऊंचे से ऊंचे शिखर पर जा पहुंचा। बाद में शनैः शनैः कई तरफ से इस में गन्दगी भी घुलने लग गई। जीवन विलासी बन गया, बार बार भयंकर कत्लें हुईं। फल यह हुआ कि स्वातंत्र्य की भावना नष्ट हो गई और अन्त में रोम में पुनः राजा की सत्ता प्रस्थापित हो गई। तथापि 'राजा' शब्द तो लोगों में इतना अप्रिय था कि पहले राजा अपने आप को राजा नहीं, सीज़र कहलाते। जूलियस सीज़र राजा होने के पहले ही मारा गया। इसलिए पहला सीज़र तो ऑगस्टस् ही था। इसके सिंहासन पर बैठते ही संसार के इतिहास में नवीन युग का उदय हो गया। इसके पहले का युग प्रजासत्ता का युग था। ऑगस्टस् से राजशासन का आरम्भ हुआ जो लगभग १८ सदियों तक चलता रहा। इसके बाद फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय से पुनः प्रजासत्ता का युग आया है।

नं०—६ पृ० ६६

टाइबीरियस (ई० स० १४—ई० स० ३७) ऑगस्टस् का अनुगामी। इसी के राज्यकाल में ई० स० ३० में ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया था।

नं०—७ पृ० ६६

वर्जिल (ई० स० पूर्व ७०—ई० स० पूर्व १९) रोम का महान् कवि। इसका बड़े से बड़ा काव्य ईनिड है। ट्रॉय के युद्ध से बचे हुए एक वीर के पराक्रम का वर्णन तथा रोम की स्थापना का वर्णन इसमें है।

नं०—८ पृ० ६६

लीवी (ई० स० पूर्व ५९—ई० स० १७) रोम का महान् इतिहासकार। इसने रोम की स्थापना से लेकर ई० स० पूर्व ९ तक का इतिहास लिखा है।

नं०—९ पृ० ६८

ईसा और उसके जीवन के विषय में एच्० जी० वेल्स ने अपने इति-

हास में कितने ही सुन्दर उद्गार लिखे हैं। इन में से एक अवतरण नीचे है।

"ईसा इतना महान् था कि उसके शिष्य उसे पहचान भी न सके। और उसने जो असंदिग्ध वचन कहे हैं उन्हें सुन कर श्रीमान् तथा समृद्ध लोग इन विचित्र वस्तुओं से त्रस्त हो गए। ईसा के उपदेशों में उन्हें अपना विनाश दिखाई देने लगा। पर इसमें कौन आश्चर्य की बात है ? सम्भव है, अनुयायियों की अपेक्षा धर्माधिकारी, राज्याधिकारी तथा धनिक लोग ही ईसा को अधिक अच्छी तरह समझ गये हों। समाज की सेवा करते हुए उन्होंने जो कुछ भी खानगी सम्पत्ति इकट्ठी की थी उसे वह विश्वप्रेमी धार्मिक जीवन के प्रकाश में बाहर घसीट कर ले आया। किसी भयंकर नैतिक शिकारी की तरह वह मनुष्यों को अपने अपने गरम गरम बिलों से ढूंढ-ढूंढ कर बाहर निकालता। उसके उस धर्मराज्य के उज्ज्वल प्रकाश में सम्पत्ति, विशेष अधिकार अहंकार या रूढ़ि किसी की गुज़र नहीं सकती थी। सिवा धर्म-प्रेम के और कोई प्रेरक बल या पारितोषिक उसके पास नहीं था। यह देख कर लोग तो चौंधिया गये, अन्धे बन गये। इस परिस्थिति में यदि वे घबड़ा कर इसकी जबान बन्द करने के लिये उठ खड़े हुए हों तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है। जब अपने शिष्यों के सामने भी वह अपने पूरे तेज को प्रकट करता तब वे भी घबड़ा जाते। इस अवस्था में यदि धर्माधिकारियों को यह मालूम होने लगे तो क्या आश्चर्य कि अब तो तभी शांति नसीब हो सकती है जब या तो वह ईसा मर जाय या खुद वे ही उखड़ जांय। इस गगन-विहार को सैनिक तो कुछ भी नहीं समझते थे। वे तो यह देख कर दिङ्मूढ़ बन गये। उन्होंने देखा कि हमारी तमाम तालीम और तैयारियां मिट्टी में मिली जा रही है। इन सैनिकों ने ईसा के आन्दोलन की हंसी उड़ाई, उसके सिर पर कांटों का मुकुट पहनाया, जुलूस के लायक बनाये, और उसे नकली राजा बना कर यदि अपने दिल की ज्यों त्यों तसल्ली कर ली, तो इसमें भी कौन आश्चर्य की बात है ! क्योंकि उसका अनुसरण करना कोई हंसी खेल नहीं था। उसके उपदेशों पर अमल करने के मानी थे एक अपरिचित तथा भयंकर जीवन में प्रवेश करना, पुरानी आदतों को छोड़ देना,

अपने विकारों पर संयम रखना, और ऐसे सुख के लिए पुरुषार्थ करना जिस पर एकाएक मनुष्य को विश्वास भी न हो।

और यदि आजतक भी इस गॅलिलियन की महिमा को हमारे तुच्छ हृदय नहीं जान सके तो इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

(आउटलाइन्स ऑफ हिस्ट्री पृ० २६२)

नं०—१० पृ० ७२

सर रॉबर्ट हार्ट—उन इनेगिने गोरों में से थे जो अपने राष्ट्र का कल्याण करते हुए अन्य निर्बल राष्ट्रों का भी भला चाहते हैं, तथा उनसे प्रेम करते हैं। ई० स० १८५४ में १९ वर्ष की अवस्था में वे चीन में गये। एक अत्यन्त छोटे पद से इन्होंने अपनी नोकरी शुरू की थी। इसी समय चीन में गोरों के विरुद्ध एक उपद्रव हुआ था, उसके परिणाम-स्वरूप चीन को दण्ड किया गया। और गोरों के पास जाने तथा वहां से आने वाले माल पर महसूल लेने का काम गोरों ने अपने हाथ में ले लिया और उसी में से अपने दण्ड की रकम वसूल करना उन्होंने शुरू कर दिया। ई०स०१८६३ में सर रार्बट हार्ट को इस महसूल-विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल का स्थान दिया गया। उस समय चीन के चौदह बंदरगाहों का महसूल वे वसूल करते थे। धीरे-धीरे बंदरगाहों की संख्या बढ़ कर ३२ हो गई। तन-तोड़ मिहनत करके और कुशलता के साथ सर रॉबर्ट हार्ट ने अपनी सरकार की आयको लगभग चौगुना कर दिया। पर साथ ही उन्होंने चीनी अधिकारियों का भी पूर्ण विश्वास संपादन कर लिया। सर रॉबर्ट हार्ट जो पैसे इकट्ठे करते उसमें से चीन का बहुत सा कर्ज (दण्ड) अदा हो जाता। बरसों तक अंगरेजी तथा अन्य देशों के राजदूत भी हर कठिनाई के समय इनसे सलाह-मशविरा करते। ईस्वी सन् १८८५ में ब्रिटिश सरकार ने इन्हें अपना राजदूत बनने के लिए कहा। परन्तु उन्होंने यह पसंद नहीं किया कि (उस समय चीन और यूरोपके बीच उनका जो) मध्यस्थ का स्थान (था उसे) छोड़ कर एक पक्ष के ही गिने जायं। अतः राजदूत बनने से इन्कार कर दिया। व्यापार,धर्म,

अथवा राजनैतिक बात में जब कभी कोई विवाद होता तो चीन सहित अन्य सभी राष्ट्रों के सचिव भी बिला गफलत इनकी सलाह लेते। ई० स० १८६३ से १९०७ तक के लम्बे काल में वे सिर्फ तीन ही बार यूरोप को गये थे। चीन में इतने अधिक काल तक रह लेने के कारण वे कितनी ही बातों को चीनियों के दृष्टिकोण से देख सकते थे। चीन के प्रान्तों में डाकखाने को भी इन्होंने व्यवस्थित किया। सन् १९०८ में किसी मतभेद के कारण रा० हार्ट ने अपना इस्तीफा पेश कर दिया और इंग्लैंड चले गये। ब्रिटिश सरकार तो उनसे प्रसन्न थी ही, किन्तु चीन की सरकार ने भी इन्हें अपने देश की ऊंची से ऊंची पदवियां दी थीं। इस पुस्तक में जो अवतरण दिया गया है उसे हार्ट के "These from the Land of Sinim" नामक पुस्तक से लिया गया है।

नं०—११ पृ० ७३

तुलना कीजिए :—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

—मनुस्मृति अ० २, १२१

पत्र ८ वां

एक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। ई० स० १७६५ तक तो प्रतिवर्ष अफीम की सिर्फ २०० संदूकें ही जाती थीं और सो भी बतौर दवा के। धीरे-धीरे इसकी बिक्री और आयात भी बढ़ने लगी। अतः उससे डर कर ई० स० १७६५ में चीन की सरकार ने अफीम के प्रयोग को हमेशा के लिए बन्द कर दिया। परन्तु अंगरेजों ने किसी मुसीबत के समय चीन की सरकार की सहायता करके अफीम की आयात को पुनः शुरू करवा दिया और वह बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ गई कि ई० स० १८२० में चार हजार संदूकों तक चली गई। चीन की सरकार चौंकी। दूसरे ही साल उसने उन जहाजों को अपने बंदरों से निकाल भगाया जो अफीम लेकर आये थे। ई० स० १८३४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के परवाने की मियाद खतम हो गई। इसलिए अंगरेज सरकार ने व्यापार को अपने हाथों में ले लिया और अपने अधिकारी को वहां भेजा। चीनी अधिकारी बरसों से अफीम की आयात को रोकने के लिए झगड़ते थे, और उसे बन्द करने के लिए अटूट प्रयत्न कर रहे थे। अन्त में अंगरेज कॅप्टन ईलियट ने अंगरेज व्यापारियों से सब अफीम लेकर चीनियों को सौंप देना कुबूल किया। उसने उन अंगरेज व्यापारियों से यह भी शपथ लिवाई कि वे पुनः कभी अफीम का व्यापार नहीं करेंगे। ई० स० १८३६ में अफीम की २०२८३ पेटियां चीनियों को दी गईं और उन्होंने इस विनाशक वस्तु को समुद्र में ले जा कर डुबो दिया। इसकी कीमत तथा अन्य छोटी-मोटी बातों के कारण झगड़ा खड़ा हुआ और ई० स० १८४० में अंगरेजों ने चीन से युद्ध करने की घोषणा कर दी। अंगरेजों का कथन यह है कि चीनी सरकार ने उनके समस्त व्यापार को बंद कर दिया था इससे लड़ाई सुलगी। खैर, चीन की फौजें हार गईं। और चीन के सेनानायक ने अंगरेजों को हाँगकाँग का टापू तथा छः लाख डालर बतौर दंड के देना कुबूल किया। पर इस सुलह को चीनी सरकार ने पसंद नहीं किया। इसलिए उसने उस सेनापति को हटा दिया और पुनः युद्ध-घोषणा कर दी। अंगरेजी सेना ने कँटन शाँगहाई तथा अन्य छः स्थान सर कर लिये। चीनी सरकार फिर डर गई। फिर उसने सुलह की बातचीत शुरू की। इस बार अङ्गरेजों ने हाँगकाँग टापू के साथ साथ २१ लाख डॉलर (लगभग ६५॥ लाख रुपये) दंड-

रूप में वसूल किये और शांगहाई सहित अन्य चार बंदर अपने व्यापार के लिए खुले करवा लिये ।

चीन में अधिकांशतया तो भारत से ही अफीम जाती थी। यह अफीम की निर्यात कहीं बंद न होने पावे, इसीलिए तो चीन के साथ यह "अफीम-युद्ध" छेड़ा गया। इस अफीम के साथ साथ भारत की सेना भी अनेकों बार चीन में गई थी। १८५७ के टेइपिंग बलवे के समय वहां मद्रास की फौज गई थी और १९०० के बोक्सर बलवे में सिक्ख और बंगाल लॅन्सर्स चीनियों को दबाने के लिये गये थे। आज के स्वतंत्र्य युद्ध में भी भारत के विरोध करते हुए भी भारत की फौज चीन में भेजी गई है। हमारी अफीम और फौजें चीन को दबाने के लिए भेजी जांय और सो भी हमारी इच्छा के खिलाफ ! अपनी असहायता का इससे अधिक बड़ा सबूत और आप क्या चाहते हैं ?

पर सौभाग्यवश अब चीन में भारत की अफीम जाना तो बंद हो गया। अफीम-युद्ध के बाद चीन की सरकार ने अफीम को चीन से निकाल बाहर करने के अनेकों प्रयत्न किये। चीन में भी अफीम की पैदाइश को उसने बहुत घटा दिया। चीन की सरकार तो ब्रिटेन को भी कई बार चीन में अफीम न भेजने तथा अपने देश-सुधार में सहायता करने के लिए कहा करती थी। अन्त में ई० स० १९०७ में दोनों के बीच यह तय हुआ कि चीन में भारत से जो ६७००० पेटियां जाती थीं उनमें से हर साल अङ्गरेज सरकार ५,१०० पेटियां कम करती जाय। ई० स० १९११ में १५४४० और १९१२ में ६७०० पेटियां गई थीं। पर चीन की सरकार तो अफीम को एक दम अपनी सीमा से बाहर करने के लिए अधीर हो रही थी। उसने फिर ब्रिटेन से विनती की और अन्य राष्ट्रों की सिफारिश से भी काम लेकर १९१३ में भारत का चीन से जो अफीम का व्यापार चल रहा था, उसे हमेशा के लिए बंद कर दिया।

लाख रुपया की। ७६६० पेटी) अफ़ीम दूसरे देशों को भेजी। उसका ब्यौरा यों है:—

जावा	३००० पेटी	स्याम	१७०० पेटी
भारतीय चीन	१२३० ,,	जापान	७५० ,,
हांगकांग	५३०		

इसके अतिरिक्त भारत-सरकार ३,१६७ पेटियां हांगकांग तथा स्ट्रेट्स सेटलमेन्ट में अबतक भेजती है। हांगकांग चीन का एक बंदर है जो अङ्गरेजों के अधीन है। भला अभीतक वहां इतनी अफ़ीम क्यों भेजी जाती है? कितने ही जन-हितैषी तो इस बात के प्रयत्न में हैं कि संसार से अफ़ीम की खेती ही उठा दी जाय। हाल ही में उसीलिए संसार के महाराष्ट्रों की परिषद् भी हुई थी। किन्तु अङ्गरेज सरकार ही एक ऐसी सरकार थी जिसने इसका अधिक से अधिक विरोध किया।

नं०—२ पृ० ८०

१९०७ की मनुष्य-गणना के अनुसार चीन में १० लाख रोमन कॅथॉलिक तथा ढाई लाख मनुष्य प्रॉटेस्टण्ट पन्थ के अनुगामी थे। अर्थात् १९०७ में कुल १२,५०,००० ईसाई चीन में थे। इन दोनों पंथ को मिशनें चीन के प्रत्येक प्रान्त में स्थापित हो गई हैं।

यह अमर श्रद्धा ही एक महान् तपस्या है। इसके बल पर भविष्य को भी मजबूर होकर बलात् कुशल स्वरूप धारण करना पड़ेगा।

मनुष्य-सृष्टि में एक असाधारण युग निकट चला आ रहा है। मानवता का चारित्र्यबल, ज्ञानबल और कर्मबल तीन संस्थाओं में एकत्र हो गया है—धर्म, संस्कृति और जाति। ये तीन चीजें मनुष्य-जाति की सब से बड़ी संस्थाएं हैं। मानव-समाज कभी जाति को प्रधानता देता है तो कभी धर्म को और कभी संस्कृति को। परन्तु यथार्थतः ये तीनों चीजें अलग-अलग नहीं हैं। मानवजीवन की ये तो भिन्न भिन्न बाजुएं हैं। घूम फिर कर एक-एक बाजू ऊपर आती जाती है और उस उस दिशा में मानव समाज को उन्नत बना कर अपना काम करती चली जाती है।

मनुष्य-जाति की आत्मा एक है, हृदय एक है, बुद्धि एक है, और खून भी उसकी नसों में वही दौड़ता है। पर फिर भी वह कई हिस्सों में बंट गई है, और इसका कारण आसानी से समझ में आ सकता है। परमात्मा की अतर्क्य योजना के अनुसार ये हिस्से कभी अलग अलग हो स्वतंत्र रूप से अपनी उन्नति करते हैं तो कभी नजदीक आकर, एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालकर, एक दूसरे में नवीनता का संचार करते हैं। दोनों क्रियाएं इष्ट हैं, हितकर हैं। प्रत्येक समय इन दोनों में से किसी का न किसी का उत्कर्ष ही होता है।

दो जातियां, धर्म या संस्कृतियां जब एक दूसरे के नजदीक आती हैं तब वहां शांति नहीं रह सकती, एक संस्कृति चाहती है कि वह दूसरी को हटा दे; नष्ट कर दे या निगल जाय। यदि ऐसा न हुआ तो कभी कभी वे तेल और पानी की तरह अलग अलग रहना ही पसंद करती हैं, तो कभी कभी दूध और पानी की तरह एक जीव हो जाना चाहती हैं। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिनमें दो संस्कृतियां एक दूसरे के साथ इस तरह एक रस होकर मिल गई हों। ऐसे समय अक्सर दोनों एक दूसरे पर अपना असर डालते हुए भी भिन्न रह कर एक नवीन रूप ही धारण कर लेती हैं; अथवा जिस प्रकार दो रासायनिक द्रव्यों के संयोग से एक तीसरा ही नवीन पदार्थ बन जाता है उसी प्रकार इन संस्कृतियों का भी हाल होता है।

संस्कृतियों का यह पारस्परिक सम्बन्ध एक वैवाहिक सम्बन्ध का सा है। हमारे धर्म-शास्त्रों में आठ प्रकार के विवाह-सम्बन्धों का वर्णन है। उनमें चार तो शिष्ट, संस्कारी और धर्म-प्रधान विवाह हैं और शेष चार अशिष्ट, कुसंस्कारी और स्वभाववादी। जहां तक संस्कृतियों के सम्बन्ध का सवाल है मनुष्य जाति अभीतक असंस्कारी है। इसलिए राक्षस-विवाह अथवा पिशाच-विवाह की प्रथा द्वारा ही संस्कृतियां एक दूसरे से सम्बद्ध होती हुई पाई जाती हैं।

राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाछलात्।

विजेता हमेशा मानते हैं कि हम अच्छे रहे। परन्तु युद्ध अथवा छल से मिली हुई संस्कृतियों में प्रत्येक के दोष दूसरी में घुसे बिना कभी रही नहीं सकते। इस सर्वसाधारण नियम से एक भी राष्ट्र छूट नहीं सकता। परन्तु विजितों के इस संतोष में कोई मजा नहीं है कि 'चलो विजेता भी हमारे संसर्ग से बिगड़ जायंगे और अन्त में उनका भी पतन हो जायगा।' मेरे साथ साथ तेरा भी विनाश होगा। इस विचार से सन्तोष पा लेना कापुरुष के स्वभाव को ही शोभा दे सकता है। मनुष्यता तो इसीमें है कि मनुष्य अपने आप को उन्नत बनावे।

अनुष्ठा होता है। बस, इसी के द्वारा जीवन के सच्चे उद्देश का साक्षात्कार मनुष्य को होता है और वह सफल भी होता है।

पहले प्रकार के जीवन में—जहां दूसरे को मार कर जीने का रिवाज़ होता है, वहां उस व्यक्ति में जिजीविषा—जीने की इच्छा—प्रबल होती है, जो दूसरे का शिकार होता है। इसीलिए वह हमारी दया के पात्र हैं। पर जीने की इच्छा किसे न होगी? जीने का प्रयत्न हमेशा आदर उत्पन्न करता है। अपनी जान बचाने के लिए लड़ने वाले का पक्ष हमेशा न्याय्य पक्ष ही होता है। यदि इस युद्ध में इसे विजय मिल जाय तो उसमें असाधारण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस शक्ति को यदि अपने धर्म का ख्याल करके धर्महित के लिए खर्च किया जाय तो कितना अच्छा हो! पर अभी मनुष्य-जाति यहां तक नहीं पहुंची है। जो यही जीवन भर चाहते थे अब उन्हें दूसरों को जीतने की इच्छा होने लगी है। जिजीविषा से विजिगीषा पैदा होती है, और इसीमें अधःपात के बीज बोये जाते हैं।

लड़ाकू धर्मों में हम इसी क्रम को देखते हैं। प्रत्येक वर्ग की लौकिक लड़ाइयों में भी यही दोष पाया जाता है। समर्थ हुआ नहीं कि आदमी धर्म को भूला नहीं। **समर्थो धर्ममाचरेत्** इस वचन का मूलतः चाहे जो अर्थ रहा हो किन्तु आज तो हम उसका यह भी अर्थ घटा सकते हैं कि समर्थ होने पर मनुष्य को धर्म की रक्षा और भी अधिक करनी चाहिए। धर्म का नाश करने वाला स्वयं अपना ही नाश करता है। धर्म से यथाक्रम और यथामर्याद अर्थ और काम की भी प्राप्ति हो सकती है। किन्तु अन्धा काम और अधीर अर्थ धर्म की ही जान का गाहक होता है और अन्त में अपनी जान से भी हाथ धो बैठता है।

परन्तु 'अन्त में' के मानी क्या होते हैं? कब? भोग के साथ ही साथ रोग के बीज बो दिये जाते हैं। परन्तु उसका परिणाम हमें एक दम नहीं दिखाई देता। इसलिए लोग इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि अधर्म से मनुष्य का नुकसान नहीं होता। इसके विपरीत उससे तो उलटी चैन की बन्सी बजती है। धर्म तो कायरों के लिए है।

इस भ्रम का कारण है अन्धा स्वार्थ और अज्ञान से पैदा होने वाली

संकुचितता। सुख किस तरह प्राप्त हो सकता है, प्रगति की खास पहचान क्या है, सत्ता का अन्तिम परिणाम क्या है ? इत्यादि विषयों में मनुष्य की कल्पना अभी जंगली दशा में ही है। इसीलिए तो वह कलह में प्रवृत्त हो जाता है।

आज की संस्कृति कौशल-प्रधान है। ज्ञान की मर्यादा को बढ़ा कर उसके द्वारा कौशल को प्राप्त करना, सत्ता को अपने अधीन करना, उसे बनाये रखना, बढ़ाना और अन्त में अनाम भोगों को भोगना यही है इसकी लालसा। पर जब ज्ञान खूब बढ़ेगा, उसके कारण हृदय का विकास होगा, कौशल परोपकारी होगा, सत्ता का उपयोग सेवा के लिए होगा, और सार्वत्रिक उत्कर्ष से ईर्ष्या के बदले सब प्रसन्नता को अनुभव करेंगे, तब नवीन संस्कृति फैलेगी। और कई लोग इसी दिशा में प्रयत्न कर भी रहे हैं। पर न विजिगीषु लोग इन्हें समझ सकते हैं, और दुःख है कि, न इन्हें जिगीषिषु ही समझ सकते हैं। इन दोनों की पकड़ छुड़ाने का यत्न करने वाले लोग दोनों को अप्रिय लगते हैं।

अपनी अपनी जीवन-रहस्य की कल्पना के अनुसार तीन मुख्य संस्कृतियां संसार में सत्ता का उपभोग कर रही हैं। आर्य-संस्कृति, जिसमें पारसी, हिन्दू, बौद्ध आदि सभी समाविष्ट हैं, इस्लामी संस्कृति और ईसाई संस्कृति। इन तीनों संस्कृतियों के शुद्ध स्वरूप को देखने से इनके बीच का भेद स्पष्ट रूप से हमारी आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। पर इसका कोई कारण हमें ढूंढे नहीं मिलता कि इनमें विरोध क्यों है। मनुष्य जब तक यह कहता है कि "मेरी बात सच्ची है, अच्छी है" तब तक तो वह ठीक राह पर है। पर जब वह यह कहने लगता है कि "जो मुझसे सहमत नहीं हैं उनकी बात झूठ है, खराब है" तब वह द्रोह करने लग जाता है। अज्ञान में जितना अभिमान और कहां हो सकता है? संकुचित हृदय में जितनी कठोरता होती है उतनी और कहां मिल सकती है? स्वार्थ में जो आत्म-घातक लोभ होता है भला वह अन्यत्र कहीं मिल सकता है?

तो इस तमाम लड़ाई का निवारण कैसे हो? पहले महात्माओं की दृष्टि में परिवर्तन होना आवश्यक है। उनकी जीवन-विषयक कल्पना शुद्ध हो

जानी चाहिए। उनमें उस समवृत्ति की आवश्यकता है जिससे वे एक दूसरे को ठीक ठीक तरह से समझ सकें। उनमें उस द्विविध अभय का आजाना आवश्यक है जो न आप डरता है, न दूसरे को डराता है। मनुष्य को गिना के साथ साथ समवृत्ति और संतोषजन्य आनन्द का भी आस्वाद लेना चाहिए।

'सन्तोष' शब्द भले ही सौम्य दिखाई दे, भले ही इसमें किसीको पराक्रम न दिखाई दे, पर अन्ततो गत्वा इसीमें पुरुषार्थ और श्रेय भी है। सम्राट ययाति ने ठीक ही कहा है:—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्॥

मनुष्य-पिता मनु ने कहा है:—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नात् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

उन्मत्त मनुष्य तो ख्याल करता है कि ये सब कोमल-चित्त साधु पुरुषों की सदिच्छायें मात्र हैं। हम इनकी उपेक्षा कर सकते हैं। अच्छे-अच्छे सम्राटों ने यह करके देख लिया है और अब भी बड़े-बड़े सम्राट इस प्रयोग को करके देख लेंगे। पर—

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

एशिया में हूणों का बड़ा भयंकर उपद्रव था। वे अक्सर शहरों और बस्तियों पर आक्रमण करते और लूटपाट मचा कर चले जाते। चीन भी हूणों के उपद्रवों से बचा नहीं था। अकेला इनका सामना करना वू-टून के लिए मुश्किल था। इसलिए उसने अपने एक राजदूत को मध्यएशिया के अन्य देशों में भेजा, जिससे उन्हें मिला कर सब साथ-साथ हूणों से युद्ध ठान दें। इस दूत का नाम था चँग किंग। वह ठेठ 'ऑक्सस' नदी के प्रदेश तक हो आया, परन्तु कोई सहायक मित्र नहीं मिला, किन्तु उसे एक खास फायदा हुआ। उसके इस पर्यटन के कारण उसे अपने परिवर्ती देशों का खासा ज्ञान हो गया। राह में उसे कई व्यापारियों के संघ मिले जो भारत और मध्यएशिया के अन्य देशों से व्यापार करते हुए यहां वहां घूमते थे। उन से उसे पहले पहल भारत का परिचय प्राप्त हुआ। वह लौट कर अपने मालिक के पास गया और उसे अपने इस प्रवास का विवरण लिख कर दे दिया। इसमें वह 'सेनऊ' (भारत को—सिन्धु—सिनहू—सिनऊ—सेनऊ) को एक बड़ा ही उर्वर और समृद्ध देश बताता है और कहता है कि यह चीन के पड़ोस ही में है। बस इसी समय से इन दोनों देशों को, जोड़ने का प्रयत्न होने लगे।

परन्तु यह तो सरकारी प्रयत्न था। दन्तकथाओं से तो अनुमान होता है कि भारत का और चीन का सम्बन्ध इससे भी प्राचीन रहा होगा। सम्भव है इनमेंसे अधिकांश निराधार भी हों। पर बतौर मिसाल के यहां एक दो दन्तकथाओं का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा।

कहा जाता है कि ई० पू० २१७ में अशोक ने अपने यहां से ७८ भिक्षुओं को धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। वे ठेठ चीन की राजधानी को पहुंचे थे। दूसरे यह भी कहा जाता है कि चीन के प्रसिद्ध ताओ संप्रदाय के प्रवर्त्तक लाओ ट्सू के तत्त्वज्ञान पर भारत के तत्त्वज्ञान का प्रभाव पड़ा है। किन्तु इन प्रमाणों की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। पर यह तो निःसन्देह सत्य है कि चीन का वर्तमान नाम तो विदेशियों को भारत से ही प्राप्त हुआ। व्युत्पत्ति यों हुई होगी—ट्सिन-सिना-चीन। 'ललिता-विस्तार' नामक ग्रन्थ के चीनी अनुवाद में उस भाषा को--चीनी को ट्सिनी भाषा कहा

जाता है। इसके बाद बुद्धसाहित्य में भी उसे ह्विसन की भूमि कहा गया है।

कई दन्तकथाओं से पता चलता है कि ईसा के पहले ही चीन में बुद्धधर्म का प्रवेश हो चुका था। कहा जाता है कि ई० पू० १२१ में हो किय़ू हूणों को जीत लेने पर अपने साथ एक सोने का बना हुआ आदमी लाया था। ई० स० ६८ में कहा जाता है मिंगटीको ने स्वप्न में इसी सुवर्ण मनुष्य को देखा था। तब उसने अपने दो राजदूतों को बुद्ध भिक्षुओं को लाने के लिए भेजा। और राजा के आज्ञानुसार ये काश्यप, मातङ्ग और धर्मरत्न तीन भिक्षुओं को ले भी आये। इन्हीं भिक्षुओं ने पहले पहल धर्मपद आदि बुद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। यह अनुवाद अब तक चीन के त्रिपिटक में रक्खा हुआ है। निःसंदेह यह है तो पुराना ही, परन्तु विद्वानों में अभी ठीक ठीक समय इसके अनुवाद का निश्चय नहीं हुआ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि हिन्येन सिंग नामक चीन का एक राजम-राय भारतीय सिथियनों के दरबार से पहले पहल बुद्धधर्म के ग्रन्थ लाया था। चीन के दरबार में पहली सदी में सीथियनों के रहने का उल्लेख भी पाया जाता है। इन पहले पहल आये हुए भिक्षुओं के लिए जो मठ बनाया गया था, वह चीन की धार्मिक जागृति करने के काम में बहुत आया। इत्यादि प्रमाणों से पाया जाता है कि चीन और भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना है।*

चीन में सामाजिक और राजनैतिक जीवन

पूर्वोक्त पत्रों टिप्पणियों आदि से पाठकों को चीन के विषय में बहुत कुछ कल्पना हो गई होगी । निःसन्देह चीनी जंगली तो नहीं हैं जैसा कि अधिकांश पश्चिमी राष्ट्र समझते थे। इसके विपरीत वे संसार के सभ्य तम राष्ट्रों में से एक हैं। वे बुद्धिमान हैं, उत्तम निरीक्षक हैं, सीधे सच्चे हैं, उद्यमशील हैं, दयालु हैं, शिष्ट हैं, और अपनी प्रथाओंका पालन करते और उन्हें पकड़े रहने में भी बड़े पक्के हैं। ४००० वर्षों का उनका क्रम बद्ध इतिहास हमें प्राप्त होता है । शूकिंग नामक उनके एक इतिहास में एक ऐसा दस्तावेज पाया जाता है जिसमें ईसा के पूर्व २३ वीं सदी में राज्य में किये गये सर्वे (भू-मिति) का वर्णन है। होलकौम अपनी The Real Chinaman नामक पुस्तक में लिखता है कि "इतने दीर्घ इतिहास के किसी भी हिस्से में यह नहीं पाया जाता कि उन्होंने कहीं अपनी शासन-प्रणाली में उल्लेखनीय परिवर्तन किया हो।" ऐसा समय नहीं पाया जाता जब वे अपने वर्तमान प्रदेश में नहीं थे, जब उनमें राजा की संस्था नहीं थी, जब वे खेती नहीं करते थे, या जब वे स्वयंपूर्ण नहीं थे। उनके देश पर चढ़ाइयां भी हुईं। तार्तर, मन्चूरियन, मुसलमान, ईसाई, जापानी, डच, पुर्तगीज और अंगरेजों ने उनपर आक्रमण किये। परन्तु इन आक्रमणों

का उनपर ऐसा गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, और न उनके शान्तिमय जीवन में कोई खलल पड़ी। विदेशी आक्रमणों द्वारा विजित होने के बदले वे इन आक्रमणों और आक्रमणकारियों को भी हजम कर गये।

मुद्रणकला का आविष्कार यूरोप-वासियों से ५०० वर्ष पहले चीनी लोगोंने कर लिया था। और बारूद का तो इनसे भी पहले। पर उन्होंने मनुष्यों को मारने के लिए उनका प्रयोग तब तक नहीं किया जब तक कि यूरोपियनों ने उन्हें नहीं सिखाया था। खगोल-शास्त्र में तो ईसा के २००० वर्ष पूर्व ही उन्होंने कितने ही महत्त्वपूर्ण आविष्कार कर लिये थे। कोई सात आठ सौ वर्ष पहले वे कागजी सिक्के को भी आजमा चुके हैं। सैनिक के पेशे को तो अभी अभी तक वे घृणा की दृष्टि से देखते आये हैं।

उन्हें इनकी कोई परवा ही न हो। इसका परिणाम यह हुआ कि अफीम-युद्ध के कुछ ही पहले जब १८३५ में चीन को आधुनिक सभ्यता का सामना करना पड़ा तो राजा से लेकर रंक तक सब एक अगाध आश्चर्य-सागर में डूब गये।

परन्तु जितना चीन हमारी हलचलों और सभ्यता आदि से अनजान रहा है प्रायः उतने ही हम भी उससे अनजान हैं। चीनी लोग प्रायः भूले जा रहे हैं कि हम उनके आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक बुद्ध की भूमि के निवासी हैं। क्योंकि आजकल तो हमारे शासकों द्वारा भेजे हुए पंजाबी और गुरखा सैनिकों को देख कर ही उन्हें हमारे विषय में अपना मत कायम करना होता हैं। चीन का जन-समाज इस बात को बहुत कम जानता है कि देश के शासन-संचालन में हम कितने बेबस हैं। वे शायद ही जानते होंगे कि शासक हमारे विरोध की जरा भी परवा न करके हिन्दुस्तानी फौजों को अपनी साम्राज्य-लोलुपता को पूर्ण करने के लिए संसार में जहां चाहें भेज सकते हैं?

इसमें सन्देह नहीं कि चीन का सामाजिक जीवन बनिस्बत किसी पश्चिमी देश के, भारतीय आर्यों के आदर्श, रहन-सहन, और जीवन-शैली से बहुत अधिक मिलता-जुलता है। भारत के समान वर्ण-विभाग चीन में भी है। परन्तु यहां की भाँति लोहे के सांचे में ढला हुआ नहीं, वह तो गुण-कर्म-विभागशः है। ब्राह्मण, किसान, कारीगर और व्यापारी इस तरह वहां चार वर्ण हैं, परन्तु प्रत्येक चीनी इनमें से किसी भी वर्ण से ब्राह्मण वर्ण में शामिल हो सकता है। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। और इसी वर्ग में से राज्य के अधिकतर अधिकारी चुने जाते हैं। परन्तु ब्राह्मण-वर्गका द्वार सब के लिए एकसा खुला है। उसके लिए आवश्यक तपस्या जो चाहे कर ले, और उसमें शामिल हो जाय। श्रीयुत यूजेन सायमन का कथन है कि आपको चीन में ऐसा एक भी परिवार नहीं मिलेगा, जिसका कोई न कोई निकटस्थ या दूरवर्ती रिश्तेदार इस ब्राह्मण-वर्ग में अपनी तपस्या के बल पर शामिल नहीं हो गया हो। और इस वर्ण-परिवर्तन के कारण चीन के सामाजिक जीवन में एक अजीब एकता की भावना फैल गई है। वर्ण केवल प्रयत्न

साध्य होने के कारण न तो वहां के ब्राह्मण वृथा अभिमानी हैं और न अन्य वर्ण के लोग हीन रहते हैं। चेस्टर हॉलकोम का कथन है कि सदियों तक सम्राट पद को छोड़कर राज्य का शासन ऐसे पुरुषों के हाथों में रहा है जो अज्ञात और गरीब माता-पिता के पुत्र थे।

वर्णाभिमान से शायद ही कोई देश अछूता हो। समस्त देशों में उच्च वर्ण के लोग अपने दिल में "आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" कह कर निचली श्रेणियों के पुरुषों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु चीन में यह नहीं है। वहां सब से अधिक जोर शिष्टाचार पर दिया जाता है। एक भिखारी का भी सभ्य से सभ्य पुरुष के समान उचित सम्मान किया जाता है।

इस तरह इनके सामाजिक जीवन में समानता कूट कूट कर भरी हुई है। व्यापार और जमींदारी को वहां कभी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। २५० एकड़ से अधिक जमीन का किसी आदमी के पास होना हीनता समझा जाता है। मुनाफे पर जमीन देना एक हेय बात समझी जाती है। देश में बड़ी बड़ी इस्टेट तथा बिना जमीन वाले आदमी न बढ़ जावें, इस ख्याल से वहां परती की जमीनों पर विशेष कर लगाया जाता है। सारा देश पांच-पांच सात-सात एकड़ के टुकड़ों में बटा हुआ है। बड़े से बड़े परिवार के पास भी ४० एकड़ से अधिक जमीन शायद ही आपको दिखाई देगी। किसान खूब मिहनत करके इन जमीनों को उपजाऊ बनाते रहते हैं। पाठक इन जमीनों और नहरों का सुन्दर वर्णन पिछले पत्रों में पढ़ ही चुके हैं। यूजेन सायमन चीनियों की कृषि-पद्धति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि वे साल में एक ही टुकड़े से पांच पांच छः छः फसलें लेते हैं।

यहां की नहरें देखने ही लायक हैं। सैकड़ों मीलों तक फैली हुई नहरों के प्रवाह हमें चान्दी की तरह चमकते हुए दिखाई देते हैं। हजारों वर्षों से इन नहरों की प्रथा चीन की सार्वजनिक सेवा का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गई है और हर गांव पर सार्वजनिक या खानगी दानों की सहायता से लोग उन्हें बढ़ाते ही जा रहे हैं। यही वहां का खेती का सब से बड़ा साधन भी है। इन नहरों के बिना वहां की विशाल खेती टिक ही नहीं सकती। बड़ी बड़ी नहरों पर बिजलियां भी चलती हैं।

चीन में रेल आदि का प्रचार बहुत कम है, परन्तु फिर भी व्यापार तो बहुत बड़े पैमाने पर होता है। हर जगह से हर दूसरी जगह बराबर चीजें लाई ले जाई जाती हैं। पर यह होता है सब पुराने ढंग की सवारियों पर, जिनके कारण बेहद समय बरबाद होता है। सरायें हमेशा व्यापारियों से भरी रहती हैं। नदियां और नहरें माल की नावों से हमेशा भरी रहती हैं। सड़कें, रास्ते और पहाड़ों की घाटियां गाड़ीवानों और माल से लदे ऊंट, खच्चर, घोड़े और गधे वालों की चिल्लाहट तथा पुकारों से सदा गूंजते रहते हैं। देश के हरएक अच्छे कस्बे और शहर में बेंक वगैरह हैं जहां व्यापारी अपने पैसे रख या निकाल सकते हैं। सरकारी डाकखाने के अलावा खानगी डाकखाने भी देशी कम्पनियों ने खोल रक्खे हैं, जो चिठ्ठियां पार्सल आदि लेकर पहुंचाते रहते हैं।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण पेशा है खेती। प्रत्येक परिवार की यही कोशिश होती है कि उसको अपनी जमीन हो, एक छोटासा कब्रस्तान हो और हो पितृपूजा के लिए एक पवित्र स्थान। लोग शहरों में भी जाते तो हैं, किन्तु कुछ समय वहां रह कर जमीन खरीदने योग्य पैसा इकट्ठा करने भर के लिए। वह हुआ नहीं कि वे वहां से रवाना हुए नहीं। हरएक आदमी की सबसे भारी महत्त्वाकांक्षा यही होती है कि कुछ जमीन खरीद कर वह स्वाधीनता-पूर्वक जीवन व्यतीत करे।

चीन के समाज का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है पारिवारिक जीवन। यह अधिकांश में है तो भारतीय अविभक्त-कौटुम्बिक-प्रथा का सा, किन्तु चीनियों ने अपनी इस संस्था में बहुत कुछ भव्यता और स्नेह को बनाये रक्खा है। गृहस्थ और उसकी धर्म-पत्नी के साथ साथ उनके लड़के, बहुएं, लड़कों के बच्चे, गृहस्थ के भाई, उनके लड़के-वाले आदि सब शामिल ही रहते हैं। जमीन जायदाद बड़े लड़के की पैतृक संपत्ति और विरासत होती है। छोटा लड़का विवाहोपरान्त अपने पिता के साथ रह सकता है। परन्तु ज्योंही वह खाने-कमाने योग्य हो जाता है, वह अपने लिए जमीन का एक टुकड़ा खरीद कर वहां परिवार की एक नवीन शाखा को स्थापित कर देता है।

पितृ-पूजा चीन की अपनी विशेषता है जो दूसरे किसी देश में उस रूप में नहीं पाई जाती। गंभीरता में वह कुछ-कुछ हमारे श्राद्धों से मिलती-जुलती है। किन्तु इससे कहीं अधिक संपूर्णता उसमें है। मृतात्माएं मानो हमारे आसपास निवास करती हैं, हमारे कार्यों को देखती रहती हैं, और हमपर तथा हमारे आसपास होने वाली घटनाओं पर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। यही उनकी पितृपूजा का रहस्य है।

प्रत्येक चीनी गृहस्थ अपने पितरों की पूजा के लिए एक अलग कमरा रखता है। यदि वह बहुत गरीब है तो किसी कमरे के एक कोने को इसी-के लिए वह सुरक्षित रख छोड़ेगा। वहां एक पटिये पर प्रत्येक पितृ-देवता की स्मारक टिकिया रक्खी रहती है

परिवार के किसी व्यक्ति द्वारा कोई अपराध या लज्जास्पद बात हो गई हो तो उसपर यह अदालत विचार करके अपना निर्णय देती है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसका फायदा समस्त देश को होता है। अन्य देशों में जो काम पुलिस और मॅजिस्ट्रेट को करना पड़ता है, वही यहां पर इस घरेलू अदालत में बखूबी कर लिया जाता है। चीन में कुल का सम्मान सब से पवित्र वस्तु समझी जाती है। और इसी दृष्टि से उसकी रक्षा भी की जाती है। माता-पिता के साथ बुरी तरह पेश आना वहां एक महान् अपराध गिना जाता है। उनपर हाथ चलाने के लिए तो सिवा देहान्त शिक्षा के दूसरा प्रायश्चित्त ही नहीं। अन्य ऐसे अपराधों पर बड़ी सख्त सजायें हैं, जिनसे कुल की पवित्र कीर्ति पर कालिमा लगने की सम्भावना हो। इसलिए प्रत्येक परिवार अपने घर के लोगों पर कड़ी से कड़ी नजर रखता है। और यदि किसी बैठक में परिवार के किसी मनुष्य के खिलाफ चोरी, झगड़ा या अन्य प्रकार के ऐसे ही दुर्व्यवहार की शिकायत पेश हो तो उसकी बड़ी ही सावधानी और चिन्तापूर्वक जांच होती है। अभियुक्त यदि निर्दोष पाया गया तो उसे छोड़ दिया जाता है, किन्तु यदि वह अपराधी साबित हुआ तो घर के लोगों द्वारा ही वह सजा पाता है। (सजा, दण्ड, शारीरिक ताड़न, या घर से निर्वासन तक के रूप में दी जाती है) इस जांच-पड़ताल और अपना इतिहास लिखने के काम में प्रत्येक परिवार इतनी दक्षता और सचाई से काम लेता है कि किसी सरकारी अदालती मामले में सबूत की आवश्यकता पड़ने पर इन पारिवारिक इतिहासों को अंतिम प्रमाण के बतौर माना जाता है। किसी को स्वप्न में भी ख्याल नहीं हो सकता कि फलां गृहस्थ ने अपने पारिवारिक इतिहास में फलां बात को झूठ लिखा होगा।

इस घरेलू अदालत की बैठक शुरू होते ही सब से पहला प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य ने राज्य के कर तो दे दिये? जरा ख्याल कीजिए, इस सब कार्यवाही का उन छोटे छोटे बच्चों पर कितना बढ़िया असर पड़ता होगा? इसी सुशिक्षा सुसंस्कार के कारण चीनी समाज का नैतिक लेवल इतना ऊंचा है। चीन के व्यापारी की साख इतनी भारी है। आज उसका शब्द ही अन्य देशके व्यापारियों के लिए दस्तैवज है।

इस तरह परिवार की इन सामयिक बैठकों में कितने ही मामूली मामलों का निपटारा आसानी से हो जाता है। पुलिस की आवश्यकता बहुत कम रह जाती है। अतः सरकारी अदालतों में तो वही मामले जाते हैं जो जटिल और बिगड़े हुए होते हैं। गृहनिर्वासित लोगों के मामले ही इनमें अधिक होते हैं। और चूंकि घरेलू अदालतों में इनकी सब पूर्ण तैयारी हो जाती है, इन मामलों का निर्णय देने में सरकारी अदालतों को कोई देर नहीं लगती। पश्चिमी न्याय का अभिनय वहां नहीं होता, यह सत्य है, परन्तु अपने निर्णयों में ये अदालतें पश्चिम की सुधरी हुई अदालतों की तुलना में जरूर अधिक खरी साबित हो सकती हैं।

संक्षेप में चीनी समाज में एकता की व्यापक भावना और व्यवहार है। वह जमीन पर—खेती पर अपना गुजर बसर करता है, वह पारिवारिक जीवन को विशेष महत्त्व देता है जिसमें घरेलू अदालतें, पितृ-पूजा आदि कई बातों का समावेश है।

फलतः उनका सामाजिक संगठन अत्यन्त सीधा-सादा और चिरस्थायी है। लोकसत्ता की भावना उनमें कूट कूट कर भरी है, और वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। उनमें न वकील होते न सिपाही। सिपाही का पेशा तो गत हजारों वर्ष तक तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। गत बोक्सर के उपद्रव तक तो उसे पुनरुज्जीवित करने की उनकी कल्पना भी नहीं थी। परन्तु इसके मानी यह नहीं कि चीन में कोई बुराई है ही नहीं। वहां साम्यवाद की कुछ बुराइयां भी पैठ गई हैं। अधिकारियों में रिश्वतखोरी बहुत है। चीनी अधिकारियों की रिश्वतखोरी और अधःपतन का पता नीचे लिखी कहानी से ठीक-ठीक चल सकता है।

करने पर प्रत्येक अधिकारी अपने लिए कुछ रख करके फिर आगे भेजता है। फलतः सरकार गरीब रह जाती है।

इसके जवाब में चीनी लोगोंका कथन है कि सरकार से अधिकारियों को बहुत कम तनख्वाहें मिलती हैं। उदाहरणार्थ चीन के बड़े से बड़े वाइसराय की तनख्वाह १५००) सालाना है। और उसके सारे दफ्तर का खर्चा १५०००) वार्षिक। पर इससे तो कहीं अधिक खर्चा हो जाता। और इसके लिए उसे अन्य तरह से रुपया पैदा करना ही पड़ता।

इन सब कारणों से मध्यवर्ती सरकार बड़ी कमजोर बनी रही। उसमें न तो जनता पर शासन करने की शक्ति थी और न बाहर से आने वाले शत्रुओं का मुकाबला करने की। फल यही हुआ कि व्यापार और जमीन के लोभी विदेशियों ने सम्राट को गांठ लिया उससे मनमानी संधियां कर लीं और देश में जड़ जमा कर बैठ गये। पहले पहल तो चीनी लोग इन विदेशियों को उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखते रहे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि ये तो अपने पैर बढ़ाते ही जा रहे हैं तब चीन में एक व्यापक जागृति फैल गई।

परन्तु ए० कार्पेन्टर का कथन है कि चीन की सब से अधिक आश्चर्य-जनक और मनोरंजक वस्तु तो उसकी हान् लिन एकेडेमी और उसका व्यापक प्रभाव है। इस देश में ज्ञान की बहुत भारी कद्र है। प्रतिवर्ष हजारों विद्यार्थी पेकिंग आदि अनेकों शहरों में ज्ञान की प्राप्ति और परीक्षाओं के लिए जाते हैं। इस संस्था की उपाधि प्राप्त कर लेने पर वे उस सर्वश्रेष्ठ वर्ग में शामिल हो जाते हैं जिसको हम विप्रवर्ग कह सकते हैं। गरीब से गरीब परिवार भी अपने बच्चे को शिक्षित करके इस वर्ग में शामिल करने के लिए कठोर परिश्रम और असीम प्रयत्न करते हैं। कहा जाता है कि सन् १९२० में ही इस संस्था से निकले हुए लगभग ७,००,००० ग्रेज्यूएट चीन में मौजूद थे।

इस हान् लिन कॉलेज या एकेडेमी की स्थापना ई० स० ७४० में अर्थात् लगभग १२०० वर्ष पूर्व 'हॅन' राजवंश के एक सम्राट द्वारा हुई थी। उसने एक सलाह-समिति के बतौर इसकी स्थापना की थी। इसका काम था

सरकार को सलाह देना और उसके कार्यों की समालोचना करना। आखिरी सम्राट के समय इसके २४० सभ्य थे। वह प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात का विचार करती और अपने निर्णयों को छपा कर जनता के प्रति प्रकट कर देती। चूंकि इसमें देश के आला दिमाग होते थे, इसके निर्णयों को बड़ा महत्व दिया जाता, लाखों करोड़ों की संख्या में वे छपाये जाते, और जनता में वितरित कर दिये जाते। यदि जनता उन्हें पसंद करती तो सरकार उन्हीं सूचनाओं के अनुसार कानून बना देती। चीन में शायद ही कोई ऐसा कानून हो जो इस तरह जनता द्वारा पहले स्वीकृत नहीं कर लिया गया हो।

पश्चिमी सभ्यता का सब से पहले परिचय तो चीन को तब हुआ जब उन्हें अफीम लेने के लिए मजबूर करने के लिए अंगरेजों के जंगी जहाजों ने कैंटन में अपनी मांगें पेश कीं। इस घटना ने दो बातों को चीनियों के सामने साफ तौर से रख दिया। (१) एक तो यह कि पश्चिम में ऐसे राष्ट्र हैं जो राक्षसों के समान शक्तिशाली और विनाशक शस्त्रधारी हैं और (२) दूसरे, अपना मतलब गांठने के लिये वे इन शक्तियों का उपयोग करने में किसी प्रकार भी विचार और विवेक से काम नहीं लेते।

में जबरदस्ती अपने दूतावास कायम कर दिये। पश्चिमी राष्ट्रों के पशुबल से पराजित हो चीनियों को उन्हें अपने देश में स्थान देना पड़ा। इसके बाद तो पश्चिम के जंगी जहाजों की संख्या और मांगें बराबर बढ़ती ही गई। अन्त में १८९४-९५ में जब चीन को जापान ने पराजित कर दिया तब तो ये राष्ट्र उस देश को आपस में बांटने तक का विचार करने लग गये।

पचास-साठ वर्ष तक इस तरह विदेशियों के साथ काम पड़ने पर अब कहीं विगत शताब्दि के अन्त में सारे राष्ट्र की नींद खुली। चीनी लोग जिन्हें जंगली और नीच समझ कर तिरस्कार और उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे उनके यांत्रिक और वैज्ञानिक आविष्कारों को देख कर सारे चीनी आश्चर्य से चकित हो गये। बल्कि उन्हें वे और भी अधिक द्वेष की दृष्टि से देखने लग गये। जापान पहले ही संभल चुका था, पर चीन अभीतक नींद में ही था। उसने आंखें मसल कर देखा और परिस्थिति की गंभीरता उसके ख्याल में आ गई। बात की बात में बोक्सर नामक एक महान आन्दोलन खड़ा हो गया। इसमें कई खामियां थीं, पर उसमें यह निश्चय तो कूट कूट कर भरा हुआ था कि इन विदेशियों को निकाल बाहर कर दिया जाय। साथ ही हैंनलिन एकेडेमी ने भी देश की पढ़ी-लिखी जनता में प्रचार शुरु कर दिया।

बहुत गम्भीर विचार और विवाद के बाद उसने देश के प्रति एक अपील प्रकाशित की। यह अपील उसने चीन के बड़े से बड़े वाइसराय चँग-चिह-टुंग को दे दी। उसने सम्राट की सम्मति लेकर देश के कोने कोने में ट्रैक्ट के रूप में इसकी लाखों प्रतियां बंटवा दीं।

अपील काफी बड़ी है। परन्तु उसमें नीचे लिखी बातों पर खास तौर से जोर दिया गया था—

(१) आधुनिक शस्त्रास्त्रों और सैनिक व्यवस्था का अंगीकार करके चीन की फौज को मुस्तैद बना दिया जाय।
(२) पश्चिमी विज्ञान और शिक्षा-पद्धति को चीन की स्कूलों में दाखिल किया जाय।
(३) पश्चिमी देशों में प्रवास करके वहां के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का चीनी-भाषा में अनुवाद करके पश्चिमी ज्ञान का प्रचार किया जाय।

(४) पर साथ ही चीन के सामाजिक जीवन और उसकी प्राचीन धार्मिक संस्थाओं को न छोड़ा जाय।

(५) रेलवे बना कर देश के सुदूर प्रान्तों को जोड़ दिया जाय।

(६) यूरोप के राष्ट्रों में कभी विश्वास न किया जाय। इत्यादि इत्यादि।

इस कार्यक्रम पर तेजी से अमल किया जाने लगा है। हम देखते हैं कि जापान तो बहुत कुछ कर गुजरा, किन्तु चीन जापान की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्ध और अनुभवी है। पहले पहल यद्यपि वह फूंक फूंक कर धीरे धीरे चलता रहा तथापि आज उसने अपनी गति इतनी तेज कर ली कि सारे संसार की आंखें उसकी ओर लग गईं। और शीघ्र ही उसकी शक्ति इतनी बढ़ जायगी कि उसको रोकना संसार के किसी भी राष्ट्र के लिए कठिन हो जायगा। चीन बुद्धिमान है। वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति करने में उसे कोई देर नहीं लगेगी। आज चीन के हज़ारों विद्यार्थी विदेशों में भिन्न भिन्न विद्याओं में प्रवीण होकर अपने राष्ट्र के उद्धार में दत्त-चित्त हो गये हैं।

सन् १९११ में चीन में महान् शान्तिमय क्रान्ति हो गई और १९१२ में वहां के सम्राट को पदच्युत करके प्रजा-सत्ता की स्थापना भी हो गई। यद्यपि इन बीच के वर्षों में चीन के जनरलों में व्यक्तिगत सत्ता के लिए प्रतिस्पर्धा होती रही, तथापि जब से डॉ॰ सनयत सेन तथा उनके राष्ट्रीय दल ने अपना काम शुरू किया है चीन बराबर आगे ही बढ़ता जा रहा है। आज इस राष्ट्रीय दल की सत्ता समस्त दक्षिण चीन में यांगट्सी नदी तक फैली हुई है और उसका एकमात्र विरोधी जनरल चंग-त्सो-लिन रह गया है। संसार चीन के इस पवित्र यज्ञ की समाप्ति के दिन की उत्कण्ठापूर्वक राह देख रहा है।

'त्याग-भूमि'



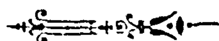
(राजस्थान की, जीवन, जागृति, बल और बलिदान की एकमात्र
सचित्र, सस्ती एवं सुन्दर मासिक पत्रिका)

अर्थात्

मालवमयूर—का विकसित और उन्नत रूपान्तर



सम्पादक—श्री हरिभाऊ उपाध्याय
,, श्री क्षेमानन्द 'राहत'

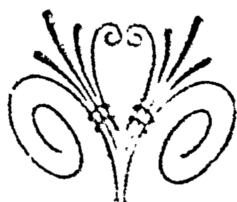


पृष्ठ—संख्या ६४, मूल्य ३) वार्षिक

व्यवस्थापक—'त्यागभूमि'
सस्ता—साहित्य—मण्डल,
अजमेर

हमारे ज़माने की गुलामी

(महात्मा टाल्स्टाय)



अनुवादक
'सत्येन्द्र'

वर्ष २]　　　　सस्ती-साहित्य-माला　　　　[पुस्तक ४

हमारे ज़माने की गुलामी

अर्थात्

[महात्मा टाल्स्टाय "The Slavery of Our Times" का हिन्दी अनुवाद]



हमारे ज़माने की गुलामी

अर्थात्

[महात्मा टाल्स्टाय "The Slavery of Our Times" का हिन्दी अनुवाद]

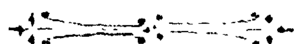


वर्ष २] सस्ती-साहित्य-माला [पुस्तक ४

हमारे ज़माने की गुलामी

अर्थात्

[महात्मा टाल्स्टाय "The Slavery of Our Times" का हिन्दी अनुवाद]



प्रकाशक:—
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता मंडल की पुस्तकों का विषय उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती है। मंडल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम पुस्तक के अन्त में दिये हुए हैं, उन्हें एक वार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नंबर यहाँ लिख रखिये ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर जरूर लिखा करें।

मुद्रक —
गङ्गाप्रसाद भोतीका,
एम० ए०, बी० एल०, काव्यतीर्थ
वणिक् प्रेस, नं० १, सरकार लेन,
कलकत्ता।

दो शब्द

यह छोटी सी पुस्तक रूस के जगद्वन्द्य महात्मा टॉल्स्टॉय की एक अद्भुत कृति है। इसमें उस बीमारी का निदान और चिकित्सा है जो संसार में फैली हुई है, और जिसके लिए हमारे कितने ही भाई इस देश में भी लालायित हैं। सामाजिक विषमता और अनाचार से उत्पन्न होनेवाली बुराइयों पर इसमें इतनी स्पष्ट रीति

प्रकाशकः—

जीतमल लूणिया, मन्त्री

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती है। मंडल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम पुस्तक के अन्त में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नंबर यहाँ लिख रखिये ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें।

मुद्रक—

गङ्गाप्रसाद भोतीका,

एम० ए०, बी० एल०, काव्यतीर्थ

वणिक् प्रेस, नं० १, सरकार लेन,

कलकत्ता।

दो शब्द

यह छोटी सी पुस्तक रूस के जगद्वंद्य महात्मा टॉलस्टॉय की एक अद्भुत कृति है। इसमें उस बीमारी का निदान और चिकित्सा है जो संसार में फैली हुई है, और जिसके लिए हमारे कितने ही भाई इस देश में भी लालायित हैं। सामाजिक विषमता और सत्तावाद से उत्पन्न होनेवाली बुराइयों पर इसमें इतनी स्पष्ट रीति से विचार किया गया है कि जितना शायद ही अब तक किसी ने किया है। सरकारों का ऐसा नग्न, किन्तु यथार्थ चित्र खड़ा कर दिया है, कि जिसे हमने भी कभी नहीं देखा था। पर वे यहीं न ठहरे। इस विषमता और बुराई से समाज को मुक्त करने का एक अनुपम रास्ता भी उन्होंने इसीमें बता दिया है। रास्ता वही है जिस पर महात्माजी इस देश में अमल कर रहे हैं।

इन सब विशेषताओं को देखते हुए यह पुस्तक सार्वभौम और सार्वकालिक महत्त्व रखती है। स्पष्ट विचार, मौलिकता, ओज और गहरी भीगी हुई मानवहितेच्छा इत्यादि बातों में यह केवल अप्रतिम है। सात वर्ष के अपूर्व आन्दोलन के बाद भी जिन्होंने भारत की समस्या न समझी हो, जो उसकी दुर्दशा का पूरा पूरा ख्याल न कर सकते हों, महात्माजी के आन्दोलन का रहस्य और चरखे का मर्म न समझे हों, मुझे विश्वास है, यह किताब उनकी खूब सहायता करेगी।

इसका विषय इतना महत्त्वपूर्ण है, शैली इतनी हृदयंगम है, और प्रदेश ऐसा रमणीय है कि पाठकों को शायद ही इस बात का ख्याल हो पाएगा कि वे किस बेढंगी सवारी पर सवार हो इस दिव्य प्रदेश की यात्रा कर रहे हैं। किन्तु इतने पर भी यदि कोई शब्द, कोई गलत मुहावरा, कोई रचना-दोष या वाक्यप्रयोग उन्हें कहीं खटका भी तो, मैं आशा करता हूं, वे उदारतापूर्वक मुझे क्षमा करेंगे।

।

महात्मा टॉल्स्टॉय की इस अप्रतिम पुस्तक का अनुवाद करना सचमुच मेरे लिये है तो एक अनधिकार चेष्टा ही। परन्तु यहां तो युद्ध-काल है। माता की मुक्ति के लिए हम सब व्याकुल हैं। एक एक क्षण अनन्त गर्भ है। घड़ी घड़ी पर चालें बदली जा रही हैं, प्रतिदिन कोई न कोई किला या प्रदेश दोनों ओर से हारा या जीता जा रहा है। आग लगी है; उसकी लपलपाती हुई ज्वालायें यहां, वहां, नीचे, ऊपर दौड़ दौड़ कर हमारे भवन को भस्मसात करने को हैं। पर उसके अन्दर एक बीमार भी है, जिसकी बीमारी पल पल पर बढ़ती जा रही है। किसी न किसी नये और भीषण रोगके लक्षण प्रतिक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसे समय कोई सहृदय मनुष्य अधिकार अनधिकार चेष्टा का विचार करते हुए कैसे अलग खड़ा रह सकता है। उसका हृदय कहता है इस समय तुझसे जो कुछ भी बन पड़े करने लग जा। खड़ा न रह। सहृदय पाठकवृन्द, मेरी यह अनधिकार चेष्टा इसी आन्तरिक प्रेरणा का पालन है।

भगवती शारदा के मन्दिर को सुशोभित करना, उसके भव्य भवन को नाना रत्नों से जगमगा देना मेरा उद्देश नहीं है। उसके लिए तो देश में उस कला-कौशलमयी माता के कई पुजारी मौजूद ही हैं। मेरा यह प्रयास है उस युद्ध में कुछ सहायक होना उस भयंकर आग में अपनी शक्ति के अनुसार एक आध घड़ा पानी डाल देना। मेरा प्रयास है उस मरीज की थोड़ी-सी ही क्यों न हो, सेवा-शुश्रूषा करना। साहित्य-मंडन नहीं, देशप्रेम मुझे इस अनधिकार चेष्टा में प्रेरित कर रहा है। और आशा है कि पाठक साहसके लिए जरूर क्षमा करेंगे।

—'सत्येन्द्र'

विषय-सूची ।



विषय		पृष्ठ
१—हमारे ज़माने की गुलामी	...	९
२—वर्तमान पद्धति का विज्ञान द्वारा समर्थन	...	१२
३—यंत्रालय	...	१५
४—साम्यादर्श का दिवाला	...	२५
५—सुधार अथवा स्वाधीनता	...	३२
६—गुलामी की जड़ हमारे भीतर है	...	३६
७—गुलामी क्या है ?	...	४२
८—ज़मीन जायदाद और कर सम्बन्धी कानून	...	४५
९—गुलामी की जड़—कानून	...	५४
१०—सुसंगठित हिंसा कानूनों की जननी है	...	५९
११—सरकारें क्या हैं ?	...	६४
१२—सरकारें कैसे उठाई जांय ?	...	७५
१३ प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य	...	८८
१४—अंतिम कथन	...	९८

लागत का ब्योरा

कागज़	...	...	१२३) रु०
छपाई	...	...	११५) "
बाइंडिंग	...	...	१२) "
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च			१३०) "

कुल ३९०) रुपया

कुल प्रतियां २१००

लागत मूल्य प्रति कापी ≡)

आदर्श पुस्तक-भंडार

हमारे ज़माने की गुलामी

खुद सत्तामद और विषयविलास तथा अनेक कु-विकारों के
गुलाम; परन्तु दूसरों को, जो कि नीति सदाचार और
धर्म-पालनमें शायद उनसे श्रेष्ठ हों, अपने गुलाम
बनाने की महत्वाकांक्षा रखने और उसको
अपना जन्मजात अधिकार समझनेवाले

भूले हुए, दुराराध्य
धनी, मानी और सत्ताधारियों

को

बलात् समर्पण

— अनुवादक

हमारे ज़माने की गुलामी



अंगरेज लेखक अंकों का हिसाब लगा कर इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि उच्च वर्गों के लोगों की औसत उम्र करीब पचपन वर्ष होती है; और अस्वास्थ्यकर पेशा करनेवाले मजदूरों की उम्र उन्तीस वर्ष। इस यथार्थ सत्य से हम अपनी आंखें नहीं मूंद सकते।

इस प्राणनाशक परिश्रम से हम प्रतिदिन लाभ उठाते रहते हैं। अतः यदि हम पशु नहीं हैं तो यह जान लेने पर हमें एक क्षण भर भी चैन न पड़नी चाहिए। पर बात ठीक इसके विपरीत है। हम सम्पन्न लोग उदारता और भूतदया के हिमायती—जो न केवल मनुष्य के दुःखों से बल्कि अन्य प्राणियों के दुःखों से भी दुःखी हो जाते हैं, इस परिश्रम का अविरत उपयोग करते रहते हैं और उत्तरोत्तर अधिकाधिक धन एकत्र करने की कोशिश करते हैं अर्थात् ऐसे कामोंसे अधिकाधिक लाभ उठाते हैं। और विशेषता यह कि इससे हमें जरा भी कष्ट नहीं होता। एक उदाहरण लीजिए। हमें ज्ञात होता है कि रेल में काम करने वाले कुछ मज़दूर सैंतीस सैंतीस घंटे काम करते हैं और गंदे स्थानों में रह रहे हैं। हम फौरन एक निरीक्षक को, जो काफी तनख्वाह पाता है, इसकी

तहकीकात करने के लिए भेजते हैं। हम उन्हें बारह घंटे से अधिक काम करने से मना कर देते हैं। और (उनकी आय के इस तरह एक तिहाई घट जाने पर भी) उन्हें खूब खाने पीने और अपना जीवन अच्छी तरह व्यतीत करने के लिए छोड़ देते हैं। साथ ही हम रेलवे कम्पनी को इन मजदूरों के रहने के लिए एक बड़ा सा सुविधा-जनक मकान बनाने के लिये भी मजबूर करते हैं। अब खूब निश्चिन्त हो मजे में हम पुनः उस रेल से माल भेजना और मंगाना शुरू कर देते हैं और अपनी तनख्वाहें, मुनाफा और जमीन तथा मकानों का किराया उसी तरह वसूल करने लग जाते हैं। पर जब हम सुनते हैं, बल्कि देखते भी हैं, कि स्त्रियां और लड़कियां अपने घरबार छोड़ छोड़ रेशम की मिलों में आकर काम करती हैं, और अपना तथा अपने बच्चों का जीवन नष्ट करती हैं; हम जानते हैं कि अधिकांश धोबनें जो हमारे कपड़ों को धो धो कर कलप चढ़ाती और इस्तरी करती हैं, क्षयी हो कर मर जाती हैं; हम यह भी जानते हैं कि दिनमें चन्द मिनिटों के लिये हमारा दिल बहलाने वाले अखबारों को कम्पोज करने और छापने वाले बेचारे कम्पोजीटर भी इसी भीषण रोग के शिकार हो हो कर असमय काल कवलित होते हैं, तब यह सब जान लेने पर भी हम मुंह बना कर केवल इतना ही कह कर रह जाते हैं कि ऐसा होना है तो बड़े दुःख की बात; किन्तु हमारे किये क्या हो सकता है। हमारे दिल पर उस का कुछ असर ही नहीं होता। हम उसी तरह उन मिलों के बने कपड़े खरीदते रहते हैं, उसी तरह इस्तरीदार धुले कपड़े पहनते रहते हैं और उसी प्रकार पहले की भांति अखबारों से अपना दिल भी बहलाया करते हैं। हमें इसकी बड़ी चिन्ता

होती है कि दूकानों पर काम करने वाले मुनीमों को कहीं अधिक समय तक काम तो नहीं करना पड़ता ! इससे भी अधिक चिन्ता होती है हमें अपने बच्चों को, जो देर-देर तक पाठशालाओं में पढ़ते रहते हैं। हम इक्के और गाड़ी वालों को अधिक सवारियां बैठालने से मना करते हैं जिससे घोड़े और बैलों को अधिक कष्ट न होने पावे। इतना ही नहीं, बल्कि इस गरज़ से कि वृच-ड़खानों में मारे जाने वाले प्राणियों को मरण-वेदनायें अधिक न होने पावें, उनकी हत्या करने के अच्छे से अच्छे और सुधरे हुए उपायों की खोज भी हम करते रहते हैं। पर ज्योंही उन गरीब मजदूरों का सवाल हमारे सामने आता है हम एकदम आश्चर्यजनक रीति से अन्धे हो जाते हैं। बेचारे मजदूर, अनेक यातनायें भोग कर, परिश्रम करके बरबाद होते रहते हैं और हम उस परिश्रम का फल अपने भोग-विलासों में लगाते हैं—आनन्द करते रहते हैं !

वर्तमान पद्धति का विज्ञान द्वारा समर्थन

हम लोगों के इस आश्चर्यजनक अंधेपन की मीमांसा केवल एक ही प्रकार से की जा सकती है। जब लोग दुराचारी हो जाते हैं तब वे अपने दुराचार का समर्थन करने के लिए एक तत्त्व-ज्ञान का आविष्कार करते हैं। इसकी सहायता से वे सावित करते हैं कि उनका दुराचार वास्तव में दुराचार ही नहीं, बल्कि ऐसे नियमों का परिणाम है जिनको बदल देना हमारी शक्ति के बाहर है। यह बात प्राचीन काल से चली आई है। तब कहा जाता था कि परमात्मा की लीला अपरंपार है, अपरिवर्तनीय है। वह अपनी इच्छा के अनुसार किसीको राजा बना देता है और किसीको रंक; किसीके भाग्य में लिख देता है कि वह दरिद्र ही बना रहे, नित्य कठिन परिश्रम करके अपना पेट पालता रहे और किसीको वैभव के उच्चतम शिखर पर बैठा देता है।

इसी विषय पर ढेरों किताबें लिखी गईं और अगणित व्याख्यान तथा उपदेश भी दिये गये। यथा संभव प्रत्येक दृष्टि से इस विषय को विशद किया गया, बताया गया कि परमात्मा ने ही अमीर और गरीब—मालिक और गुलाम—भिन्न भिन्न प्रकार के लोग बनाये हैं। इनको अपनी अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह भी कहा गया कि गुलामों को इसका बदला परलोक में मिल जायगा। लोगों को समझाया गया कि गुलाम गुलाम ही रहेंगे, और उन्हें गुलाम रहना भी

चाहिए, तथापि यदि मालिक उनके साथ दयापूर्ण व्यवहार करेंगे, तो उनकी दुर्दशा न रह जायगी। अंत में, जब कि गुलामों की प्रथा उठा दी गई, तो कहा गया कि परमात्मा ने कुछ लोगों को संपत्ति इस लिए दे रक्खी है कि वे उसके कुछ हिस्से को अच्छे कामों में लगाया करें, इस लिए यदि कुछ लोग धनी रहें और अन्य गरीब भी बने रहें, तो कोई अनिष्ट बात नहीं है।

बहुत समय तक ये दलीलें अमीर और गरीब दोनों (खास कर अमीरों) का समाधान करती रहीं। पर एक दिन अवश्य ही इनकी निःसारता सब पर प्रकट हो गई और गरीबों में असंतोष फिर बढ़ गया। वे अपनी परिस्थिति को जानने लग गये। अब पुनः नवीन मीमांसाओं की आवश्यकता उपस्थित हुई और ठीक समय पर वे पेश भी की गईं। अब की बार ये मीमांसायें विज्ञान और अर्थशास्त्र का रूप धारण करके आईं। अर्थशास्त्र ने श्रम-विभाग और मनुष्यों में परिश्रम के फल के बटवारे के नियमों को खोजा। उसने बताया कि श्रमविभाग और परिश्रम के फलोपभोग उपज और मांग, पूंजी, किराया, मजदूरी, क़ीमत और मुनाफा आदि पर निर्भर है। स्थूल दृष्टि से कहना चाहें तो वे ऐसे नियमों पर निर्भर हैं जिनमें मनुष्य कभी रद्दोबदल नहीं कर सकता और जो उसकी आर्थिक हलचलों का हमेशा नियमन करते हैं।

बड़े लंबे समय तक लोग इस दलील से संतुष्ट रहे कि यह परमात्मा की ही इच्छा है कि कुछ लोग दास बने रहें और कुछ उनके मालिक। पर इससे मालिकों की क्रूरता को उत्तेजन मिला। फलतः धीरे धीरे मालिकों की निर्दयता इतनी बढ़ गई कि गुलाम

उसके प्रतिकार का कोई उपाय ढूंढ़ने लगे और इस उपर्युक्त दलील की सच्चाई में संदेह उत्पन्न हो गया।

अर्थशास्त्र द्वारा पेश की गई इस नवीन दलील की भी यही हालत हुई। कुछ समय तक इसने बड़ी बड़ी आशायें दिखाईं। श्रमजीवियों से कहा गया कि आर्थिक उत्क्रान्ति बहुत तेजी से आगे बढ़ रही है। उसके नियम अटल हैं। कुछ लोगों को धन-संचय करके और दूसरों को जीवन भर अविरत परिश्रम करके, उस संपत्ति को बढ़ाने का यत्न करते रहना चाहिए। इस तरह उन्हें धीरे धीरे उस महान परिवर्तन के लिए अपने को तैयार करना चाहिए जब कि माल पैदा करने के तमाम साधनों पर राष्ट्र का अधिकार हो जायगा। पर ये सब आशायें व्यर्थ हुईं। यह सिद्धान्त तो कुछ लोगों को अपने भाइयों के प्रति पहले से भी अधिक निर्दय बनाने लगा। फलतः अब तो वह सर्व साधारण में भी, जिन्हें विज्ञान ने अन्धा नहीं बना दिया है, गहरे सन्देह उत्पन्न करने लग गया है।

यंत्रालय

पर श्रमजीवियों की इस दुरवस्था का कारण यह नहीं कि माल को पैदा करने के तमाम साधनों को पूंजीपतियों ने अपने अधीन कर रक्खा है। सच्चा कारण तो वह है जो उन्हें अपने देहात से निकाल भगाता है। सबसे पहली बात वही है। दूसरे, विज्ञान इन्हें भले ही इस घृणित जीवन से उस दूरवर्ती भविष्य में मुक्त करने का आश्वासन देता रहे, पर उनकी मुक्ति न तो काम का समय घटाने से,न मजदूरी बढ़ाने से और न उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देने से ही हो सकती है।

यह सब उनकी दशा को सुधार भी नहीं सकते। रेल, किसी कपड़े की मिल या कारखाने में काम करने वाले श्रमजीवी की दुर्दशा का प्रधान कारण कम या ज़्यादह समय तक काम करना नहीं है। किसान कभी कभी दिन में अठारह अठारह घंटे काम करते हैं, बल्कि यहां तक कि कभी कभी वे छत्तीस छत्तीस घंटे तक एकसा काम किया करते हैं और फिर भी वे अपने को सुखी समझते हैं। श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण यह भी नहीं कि वह रेलवे या मिल, (जिनमें वे काम करते हैं,) उनकी अपनी नहीं होती ; बल्कि सच्चा कारण तो यह है कि उन्हें मजबूर हो कर हानिकर, अस्वाभाविक और ऐसी जगहों और परिस्थितियों में काम करना पड़ता है जहां जान का खतरा होता है;

साथ ही शहरों में उन्हें खराब, तग और गंदे मकानों में रह कर ऐसा जीवन व्यतीत करना पड़ता है जिसमें कदम कदम पर प्रलोभन और पतन की सामग्री होती है। और इतने पर भी मजबूर होकर दूसरे की आज्ञा में रह उसके इच्छानुसार काम करना पड़ता है।

कुछ दिनों से परिश्रम का समय घटा दिया गया है और मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ा दी गई हैं। पर यदि उनकी बढ़ी हुई विलासपूर्ण आदतों का ख्याल न करें तो इससे उनका सच्चा कल्याण नहीं हुआ है। यह ठीक है कि अब वे कलाइयों पर घड़ियां लगाने लगे हैं, बीड़ी-सिगरेट अधिक पीने लग गये हैं और शराबखोरी आदि भी बढ़ गई है। पर इससे उनका क्या कल्याण हुआ? उनकी स्वास्थ्य, चारित्र्य और स्वाधीनता कितनी बढ़ गई?

मजदूरों के काम का समय घट गया है और उनकी तनख्वाहें बढ़ गई हैं। पर आज जहां चाहें जाकर देखिए, देहात में काम करने वाले मजदूरों की अपेक्षा इन कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का स्वास्थ्य, उनकी औसत उम्र आदि अत्यंत असंतोष-जनक दिखाई देंगी। आप उन्हें नीति और सदाचार में भी देहात के मजदूरों की अपेक्षा पतित देखेंगे। ग्रामीण जीवन अत्यंत स्वाभाविक अतएव नीतिवर्धक, स्वतंत्र, स्वास्थ्यकर और नवीनता से भरा हुआ होता है। पारिवारिक जीवन के लिए देहात बड़े ही अनुकूल होते हैं। किसान का पवित्र जीवन आत्मा के विकास के लिए स्वभावतः परमोपयोगी है। क्या ऐसे सुंदर स्वाभाविक जीवन से बिछुड़ने पर मनुष्य का पतन अनिवार्य नहीं?

कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं—"परिश्रम का समय कम कर देने

पर, मजदूरों की तनख्वाहें वढ़ जाने पर, और कल-कारखानों में स्वास्थ्य-वर्धक सुधार कर देने के वाद पहले की अपेक्षा मिल-मजदूरों के स्वास्थ्य और चारित्र्य में काफी तरक्की हो जाती है। कदाचित् यह सत्य हो। शायद यह भी सत्य हो कि इधर इधर और कुछ स्थानों में देहात में रहने वाले श्रमजीवियों की अपेक्षा कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का जीवन, जहां तक वाहरी वातों से सम्बन्ध है, अधिक अच्छा दिखाई दे। पर यह तो कुछ ही स्थानों की वात है, सो भी उस हालत में, जव कि सरकार और समाज ने, विज्ञान के आदेशों से प्रभावान्वित हो, देहात की जनता के स्वत्वों को वलि चढ़ा कर भी. कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को स्थिति सुधारने के लिए वह सव कुछ कर डाला जो कि वे कर सकते थे।

यदि मिल-मजदूरों की दशा (ऊपर ऊपर देखते हुए) कुछ स्थानों में देहात की जनता से अच्छी भी दिखाई दे तो इससे क्या सिद्ध होता है? यही न कि मनुष्य वाहरी दिखावे को अच्छे से अच्छा वनाये रख कर भी समस्त प्रकार के नियन्त्रणों द्वारा जीवन को संकटापन्न वना सकता है? दूसरे, वह यह न सिद्ध करता है कि आखिर संसार में इतना वुरा और अस्वाभाविक जीवन ही नहीं जिसके अन्दर पुश्तों तक रहने पर भी मनुष्य अपनेको उसके अनुकूल न वना सकता हो।

मिल-मजदूरों और आम तौर से शहर के मजदूरों की दुर्दशा का कारण यह नहीं कि उन्हें कम वेतन पर वहुत समय तक एकसा काम करना पड़ता है। उनकी दुरवस्था का सच्चा कारण तो यह है कि प्रकृति की गोद से स्वाभाविक जीवन से छुड़ा

कर वे शहर का नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किये जाते हैं, उनको स्वाधीनता नष्ट की जाती है, और वे दूसरे की अधीनता और आज्ञानुसार अनिवार्य और एकसा काम करने के लिए बाध्य किये जाते हैं।

अतः कारखाने के और शहर के मजदूर ऐसी दुरवस्था में क्यों हैं तथा उनकी दशा क्योंकर सुधर सकती है, आदि प्रश्नों का उत्तर यह नहीं हो सकता कि पूंजीपतियों ने उत्पादक साधनों को अपने अधीन कर रक्खा है। उनकी दशा काम का समय घटाने, वेतन बढ़ाने, या उत्पादक साधनों को समाज की सम्पत्ति बना देने से भी सुधर नहीं सकती।

इस लिए जब जब हमारे सामने यह सवाल खड़ा होता है कि मिल-मजदूर और शहर के श्रमजोवियों की दुरवस्था का कारण क्या है, और उनकी इस दुरवस्था को दूर करने के लिए क्या किया जा सकता है, तब हम उसके उत्तर में यह नहीं कह सकते कि पूंजीपतियों का उत्पादक साधनों को अपने अधीन कर लेना इस विषमावस्था का कारण है; न उसका उपाय बतलाते हुए यह भी कह सकते हैं कि काम का समय कम कर देने, मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ा देने, तथा उत्पादक साधनों को तमाम राष्ट्र की सम्पत्ति बना देने से उनको वह दुरवस्था दूर हो सकती है।

इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए हमें यह बता देना होगा कि वे क्यों अपने स्वाभाविक जीवन को विसार, प्रकृति की मनोहर गोद से बिछुड़, इन कारखानों के मोह-जाल में आ फंसे हैं! साथ ही यदि हमें उनके कल्याण की कामना है तो हमें ऐसे उपाय ढूंढ़ कर निकालने चाहिए जिससे उनको अपने स्वाधीन

ग्रामीण जीवन को छोड़ कारखानों में मर कर इस निघृ`ण गुलामी को अंगीकार करने की कोई आवश्यकता ही न रहे।

बेचारे श्रमजीवी शुरू से देहात में रहते आये हैं। उनके पूर्वपुरुष भी वहीं रह रहे थे। अब भी करोड़ों लोग वहीं रह रहे हैं। फिर वह क्या बात थी जिसने उनको उन कारखानों में दिन-दिन भर मरने के लिए देहात से भगाया और अपनी इच्छा के विरुद्ध अब भी भगा रही है? इस प्रश्न का उत्तर ही हमें शहर के मजदूरों की दुरवस्था का ठीक ठीक कारण बता सकता है।

हां, इंग्लैंड, बेलजियम, जर्मनी आदि देशों में ऐसे लाखों मजदूर हैं जो पुश्तों से कारखानों में काम करते आये हैं और अब भी वहीं काम करके वे अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहे हैं। पर क्या वे अपनी इच्छा से वहां रह रहे हैं? हरगिज़ नहीं। वे तो एक तरह से मजबूर होकर वहां रहते हैं। अवश्य ही एक समय उनके पिता, दादा या परदादा अपने प्रिय कृषी-जीवन को छोड़ उसके बदले में शहर के कारखानों में कठिन परिश्रम का जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किये गये थे।

कार्ल मार्क्स कहता है—'पहले इन किसानों से बलपूर्वक इनकी जमीनें और जायदाद छीन कर उनको राह का भिखारी बना दिया गया। फिर निर्दय कानूनों की रचना द्वारा उन्हें कैद कर, कोड़े मार-मार, अनेक प्रकार के कष्ट दे कर उन्हें किराये की मजदूरी करने के लिए मजबूर किया गया।' इसी लिए शहर के मजदूरों की दुर्दशा को दूर करने का सवाल स्वभावतः उन बुराइयों को हटाने के लिए भी हमें आकर्षित कर लेता है जो इन-

को अपने प्यारे ग्रामों को छोड़ शहर के खराब और गन्दे जीवन की ओर ढकेलने में कारणीभूत हुई और हो रही हैं।

अर्थशास्त्र यद्यपि सरसरी तौर पर हमें उनके इस निर्वासन का कारण तो बता देता है ; पर उनको दूर करने की चेष्टा नहीं करता। वह तो केवल वर्तमान कल-कारखानों में काम करने वालों की अवस्था को सुधारने का यत्न मात्र करता है। मानो वह मान लेता है कि मजूरों का वहां रहना एक अनिवार्य अटल बात है। यही नहीं, बल्कि वह तो मानो यह आवश्यक समझता है कि चाहे कुछ भी हो जाय कारखानों में काम करने वालों को यहीं बने रहना चाहिए। हां, और जिन्होंने अभी देहात और अपनी खेती को छोड़ा नहीं है वे भी ऐसा ही करें और उनमें आकर शामिल हो जायं।

अर्थशास्त्र को यह निश्चय है कि सभी किसानों को एक न एक दिन कारखानों के मजदूर बनना होगा। संसार के समस्त ऋषि और कवियों ने मानवजाति के सुख के आदर्श को हमेशा सरल और प्राकृतिक कृषीजीवन में हो देखा है। संसार के समस्त श्रमजीवियों ने भी जिनकी आदतें अभी बिगड़ी नहीं हैं अन्यान्य प्रकार की मजदूरी की अपेक्षा कृषीसम्बन्धी मजदूरी को ही हमेशा पसन्द किया है, और अब भी कर रहे हैं। समस्त संसार जानता है कि कारखानों में काम करना हर हालत में स्वास्थ्य के लिए हानिकर और एक ही प्रकार का होता है तथा कृषी-कार्य अत्यन्त स्वास्थ्यकर और विविध। अरे, खेती तो स्वाभाविक है, स्वतन्त्र है—किसान मज़े में अपने इच्छानुसार काम और विश्रान्ति ले सकता है। इसी लिए कहा है—'उत्तम खेती, मध्यम

वान। कारखाने का काम तो यन्त्राधीन है, अस्वाभाविक है, भले हो वह यन्त्र खुद अपना ही क्यों न हो। खेती तो आद्य और मूलभूत है और कल-कारखाने उसके अनुगामी। विना खेती के उनका अस्तित्व ही असम्भव है। पर फिर भी अर्थशास्त्र (हमारी आंखों में धूल झोंक कर) जोरों से प्रतिपादन करता है कि किसानों को इस ग्राम-निर्वासन के कारण जरा भी कष्ट नहीं होता; वल्कि वे तो इसे चाहते और इसके लिए प्रयत्न करते हैं।

---

(२)

साम्यवादी तो सबसे अधिक आगे बढे हुए अर्थशास्त्री माने जाते हैं न, जो तमाम उत्पादक साधनों पर समाज का प्रभुत्व स्थापन कर देना चाहते हैं? पर वे भी वर्तमान श्रमविभाग के सिद्धान्त के अनुसार ही काम करना चाहते हैं और अपने कारखानों से भी उन्हीं और उतनी ही वस्तुओं को पैदा करना चाहते हैं जो कि अभी की जा रही हैं।

उनका ख्याल है कि आज और उस नवीन युग में, फर्क सिर्फ यही होगा कि आज जिन वस्तुओं का उपयोग केवल हम कर रहे हैं, भविष्य में वे सब को मिलने लग जावेंगी। वे तो उस अनागत युग का अस्फुट चित्र अपनी आंखों के सामने खड़ा करते हैं और देखते हैं कि उत्पादक साधन समाज की अधीनता में आते ही ये—विज्ञानवेत्ता और शासक वर्ग के लोग—भी किसी न किसी काम में लग जायँगे। कोई मैनेजर, कोइ डिजाइनर, [नमूने बना कर देने वाले] कोई विज्ञानशास्त्री और कोई चित्रकार

शिल्पकार के काम को करेंगे। पर जब उनसे पूछा जाता है कि मुंह पर कपड़ा बांध शीशे को भट्टी में कौन डालेगा, हथौड़े को हाथ में लेकर उसे पीटेगा कौन, खानों से कोयला या कच्ची धातु को कौन निकालेगा; गटरें, पाखाने आदि कौन साफ करेगा? तब वे या तो चुप हो जाते हैं या भविष्यवाणी करते हुए कहते हैं—'उँह, तब तक तो गटरें साफ करने और पृथ्वी के गर्भ में घुस कर नाना प्रकार के द्रव्यों को निकालने की कला में हम इतनी प्रगति कर लेंगे कि इन कामों को करते हुए भी मनुष्य को प्रत्यक्ष आनन्द होगा।' यह है उनकी भावी आर्थिक प्रगति का चित्र जो हम बेलमी और विज्ञान के ग्रन्थों में देखते हैं।

उनकी योजना इस प्रकार है—तमाम श्रमजीवी अपनी संयुक्त संस्थायें बना लेंगे, और उनके द्वारा तथा हड़ताल और प्रातिनिधिक सभाओं में भाग ले ले कर अपने अंदर अपूर्व संगठन उत्पन्न कर लेंगे। फिर वे ज़मीन और कारखानों को अपने अधीन कर लेंगे। तब उनके जीवन में अपूर्व परिवर्तन हो जायगा। उनके चेहरे सतेज होंगे और शरीर बलवान। कीमती कपड़ों से वे अपने शरीरों को सजावेंगे और त्यौहारों के दिन इस तरह आनन्द के साथ बितावेंगे कि ग्रामीण जीवन की उन्हें याद तक न आवेगी। ईंट और पत्थर की बड़ी बड़ी इमारतें उनको उन दरिद्र झोंपड़ों की अपेक्षा अधिक पसंद होंगी। पेड़-पौधे, बेलें और मूक पशुओं के साथ जीवन बिताने की अपेक्षा वे इन धुंआं उगलने वाली ऊंची ऊंची चिमनियों वाले, अद्भुत यन्त्रों से सजे हुए कारखानों में काम करना अधिक पसंद करेंगे और खेतों के विविध, स्वास्थ्य-

यह है वह भीतरी कारण, जो विज्ञानवेत्ताओं को—बुद्धिमान और शिक्षित परन्तु संस्कारहीन पुरुषों को—एक सरासर झूठ को जोरों के साथ और दृढ़ता के साथ प्रतिपादन करने पर मजबूर करता है। इसी मोहजाल में फंस कर वे कहते फिरते हैं कि मजदूरों का, किसानों का अपने ही फायदे के लिए सहज सुन्दर प्राकृतिक कृषी-जीवन छोड़ कर अपने शरीर और आत्मा का घोर अधःपात करने के लिए मिलों और कारखानों में जाना चाहिए।

——:०:——

साम्यादर्श का दिवाला



क्षण भर के लिए हम साम्यवादियों के कथन को मान लेते हैं। (यद्यपि वह खुल्लम-खुल्ला निराधार और मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है)। हम फर्ज करते हैं कि देहातियों के लिए अपने गांवों में रह कर गृहोद्योगों के द्वारा जीवन-निर्वाह करने की अपेक्षा शहरों में बस कर कारखानोंमें गुलाम की तरह मजदूरी करना ही अधिक अच्छा है। पर फिर भी स्वयं उनके आदर्श ही में, जहां कि इन अर्थशास्त्रियों के कथनानुसार उनकी आर्थिक उत्क्रान्ति संसार को ले जा रही है एक ऐसी बात रह जाती है जो उस आदर्श ही का खण्डन करती है और जिसको सुलझाना बिल्कुल असम्भव है। आदर्श यह है कि उत्पादक साधनों का प्रभुत्व प्राप्त कर लेने पर श्रमजीवियों को भी वही सुविधायें और सुख-सामग्रियां मिलेंगी जो कि आज केवल धनवानों को ही मिल रही हैं। सभी अच्छा खावेंगे, अच्छा पहनेंगे, अच्छे-अच्छे मकानों में रहेंगे, नाच-गान सुनेंगे, नाटक देखेंगे, अखबार और किताबें पढ़ेंगे, मोटरों में घूमेंगे इत्यादि इत्यादि। पर चूंकि अब प्रत्येक मनुष्य को ये चीजें मिलेंगी उनकी पैदायश का भार भी सब पर बंट जाना उचित है। फलतः यह भी निश्चित हो जाना जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य कितने घंटे काम करे।

पर यह हो कैसे ?

अंकों के द्वारा हम यह जान सकते हैं (पर पूरी तरह कदापि नहीं) कि पूंजी, स्पर्धा और आवश्यकताओं से जकड़े हुए समाज के मनुष्यों को किन किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होती है। पर यह कौन बता सकता है कि उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना डालने वाले स्वतंत्र समाज के मनुष्यों को आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किन-किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होगी ?

ऐसे समाज की आवश्यकतायें और मांग निश्चित नहीं की जा सकती। ये बेहद बढ़ जायंगी। आज जो चीजें धनी-से-धनी आदमी ही के पास मिल सकती हैं उन्हें कल प्रत्येक आदमी प्राप्त करने की इच्छा करेगा। अतः ऐसे समाज की आवश्यकताओं का अंदाजा लगाना बिल्कुल असम्भव है।

फिर एक दूसरा यह सवाल खड़ा होता है कि लोगों को हम उन चीजों को बनाने के लिए कैसे तैयार करेंगे जिन्हें कुछ लोग आवश्यक समझते हैं और कुछ न केवल अनावश्यक बल्कि हानिकर भी।

मान लीजिए कि समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक जान पड़े कि हर एक आदमी दिन में छः घंटे काम करे। पर एक स्वतंत्र समाज में एक मनुष्य को उन छः घंटों तक काम करने के लिए कौन मजबूर कर सकता है, जब कि वह जानता है कि उसका वह समय अनावश्यक और हानिकर चीजों को बनाने में बरबाद होगा ?

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आजकल यंत्रों की सहायता द्वारा थोड़े से थोड़े परिश्रम में ज्यादह से ज्यादह चीजें तैयार की जा सकती हैं। सचमुच, इस दृष्टि से यंत्र-सामग्री द्वारा हमारा बहुत उपकार हुआ है। पर हम इससे भी अधिक उपकृत हैं उस श्रम-विभाग के सिद्धान्त के, जो सुन्दरता और पूर्णता की चरम सीमाको पहुंच गया है। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि कारखाने वाले इन चीजों की बदौलत खूब फायदा उठाते हैं और हमें भी उन के उपयोग से आनंद और सुख होता है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वाधीन लोग बिना बल-प्रयोग के आगे भी इन चीजों को इसी प्रकार उत्पन्न करते रहेंगे। निःसन्देह वर्तमान श्रमविभाग की सहायता से ही 'क्रप' आश्चर्यजनक तोपें जल्दी से जल्दी और कुशलता के साथ बना सकता है। एक दूसरा शख्स उसी कौशल के साथ रेशम के कपड़े तेजी से बना सकता है। क, ख, और ग इतर, केशवर्धक तेल और ताश की सुंदर जोड़ियां बनाते हैं। 'म' बढ़िया खूशबूदार शराब बनाता है। निःसन्देह ये चीजें उन्हें पैदा करने वाले कारखाने वाले और इनके उपयोग करने वाले दोनों के लिए बड़ी लाभदायक हैं। पर तोपें, शराब और तेल तो उन लोगों के लिए उपयोगी हैं जो चीन के बाजार को अपने हाथ में लेना चाहते हैं, या जिन्हें शराब में अंधाधुंध हो पड़े रहना है या जिन्हें अपने बालों की चिन्ता है। पर आपको ऐसे भी कई पुरुष मिलेंगे जो इन चीजों को बनाना हानिकर समझते हैं। अब इन्हें उन चीजों को बनाने के लिए आप किस तरह मजबूर कीजिएगा ?

पर यह भी जाने दीजिए। हम क्षण भर के लिए यह भी मान

पर यह हो कैसे ?

अंकों के द्वारा हम यह जान सकते हैं (पर पूरी तरह कदापि नहीं) कि पूंजी, स्पर्धा और आवश्यकताओं से जकड़े हुए समाज के मनुष्यों को किन किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होती है। पर यह कौन बता सकता है कि उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना डालने वाले स्वतंत्र समाज के मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किन-किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होगी ?

ऐसे समाज की आवश्यकतायें और मांग निश्चित नहीं की जा सकती। ये बेहद बढ़ जायंगी। आज जो चीजें धनी-से-धनी आदमी ही के पास मिल सकती हैं उन्हें कल प्रत्येक आदमी प्राप्त करने की इच्छा करेगा। अतः ऐसे समाज की आवश्यकताओं का अंदाजा लगाना बिल्कुल असम्भव है।

फिर एक दूसरा यह सवाल खड़ा होता है कि लोगों को हम उन चीजों को बनाने के लिए कैसे तैयार करेंगे जिन्हें कुछ लोग आवश्यक समझते हैं और कुछ न केवल अनावश्यक बल्कि हानिकर भी।

मान लीजिए कि समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक जान पड़े कि हर एक आदमी दिन में छः घंटे काम करे। पर एक स्वतंत्र समाज में एक मनुष्य को उन छः घंटों तक काम करने के लिए कौन मजबूर कर सकता है, जब कि वह जानता है कि उसका वह समय अनावश्यक और हानिकर चीजों को बनाने में बरबाद होगा ?

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आजकल यंत्रों की सहायता द्वारा थोड़े से थोड़े परिश्रम में ज्यादह से ज्यादह चीजें तैयार की जा सकती हैं। सचमुच, इस दृष्टि से यंत्र-सामग्री द्वारा हमारा बहुत उपकार हुआ है। पर हम इससे भी अधिक उपकृत हैं उस श्रम-विभाग के सिद्धान्त के, जो सुन्दरता और पूर्णता की चरम सीमाको पहुंच गया है। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि कारखाने वाले इन चीजों की बदौलत खूब फायदा उठाते हैं और हमें भी उन के उपयोग से आनंद और सुख होता है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वाधीन लोग बिना बल-प्रयोग के आगे भी इन चीजों को इसी प्रकार उत्पन्न करते रहेंगे। निःसन्देह वर्तमान श्रमविभाग की सहायता से ही 'क्रप' आश्चर्यजनक तोपें जल्दी से जल्दी और कुशलता के साथ बना सकता है। एक दूसरा शख्स उसी कौशल के साथ रेशम के कपड़े तेजी से बना सकता है। क, ख, और ग इतर, केशवर्धक तेल और ताश की सुंदर जोड़ियां बनाते हैं। 'म' बढ़िया खूशबूदार शराब बनाता है। निःसन्देह ये चीजें उन्हें पैदा करने वाले कारखाने वाले और इनके उपयोग करने वाले दोनों के लिए बड़ी लाभदायक हैं। पर तोपें, शराब और तेल तो उन लोगों के लिए उपयोगी हैं जो चीन के बाजार को अपने हाथ में लेना चाहते हैं, या जिन्हें शराब में अंधाधुंध ही पड़े रहना है या जिन्हें अपने बालों की चिन्ता है। पर आपको ऐसे भी कई पुरुष मिलेंगे जो इन चीजों को बनाना हानिकर समझते हैं। अब इन्हें उन चीजों को बनाने के लिए आप किस तरह मजबूर कीजिएगा ?

पर यह भी जाने दीजिए। हम क्षण भर के लिए यह भी मान

लेते हैं कि कुछ चीजों के बनाने में योग देने के लिए उनको भी सहमत करने का कोई उपाय मिल जाता है (यद्यपि सिवा बल-प्रयोग न तो कोई दूसरा उपाय है और न हो सकता है)। अब आगे यह सवाल खड़ा होता है कि इस स्वाधीन समाज में जहां न तो स्पर्धा है और न मांग-पूर्ति के नियम, यह कौन निश्चित करेगा कि अमुक वस्तु पहले बनाई जाय और अमुक बाद में ? कारखाने तो अब किसी एक पूंजीपति के नहीं राष्ट्र की संपत्ति होंगे। इस प्रश्न का निपटारा कौन करेगा कि पहले हमें सैबेरिया का रेल-मार्ग और पोर्ट आर्थर की किलेबंदी करनी चाहिए और बाद में देहात की सड़कें, या इसके उलटे। पहले क्या हो ? पहले बिजली की बत्तियां लगाई जायँ खेती के लिए या नहरें खोदी जायँ ? यह प्रश्न हल हो नहीं पाता कि एक दूसरी समस्या हमारे सामने आ खड़ी हो जाती है। कौन आदमी किस काम को करे ? स्पष्ट ही आसान और हलके काम की तरफ ही सब झुकेंगे। बड़े बड़े हथौड़ों से लोहा पीटना और टट्टी-गटरों का साफ करना तो कोई भी स्वीकार न करेगा। काम बांटते समय लोगों को अपना अपना काम करने के लिए किस तरह ललचाया जायगा ?

संसार का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ गणितज्ञ भी हमें इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। अगर किसी ने उत्तर बताया भी तो वह अमली नहीं, कोरा सैद्धान्तिक होगा। ज्यादह से ज्यादह यही कहा जा सकता है कि ऐसे अधिकारी नियुक्त किये जायँगे जो इन बातों का यथावत् नियमन करते रहेंगे। कुछ लोग इन प्रश्नों का निर्णय करेंगे और अन्य सब उनका पालन।

अतः कल-कारखानों के राष्ट्र की सम्पत्ति हो

जाने पर भी ये तीन कठिनाइयां तो बनी ही रहेंगी — काम का बटवारा, उत्पादन का परिमाण और तीसरी है काम का चुनाव। साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सुसंगठित समाज में एक चौथी और भी अधिक महत्वपूर्ण कठिनाई उपस्थित होगी। और वह है श्रम-विभाग का तरीका। समाज में आज जो श्रम-विभाग का तरीका प्रचलित है वह तो श्रमजीवियों की आवश्यकताओं पर ही निर्भर है। एक मजदूर आज अपने जीवन भर पृथ्वी के अन्दर खानों में काम करना या किसी वस्तु का केवल शतांश हिस्सा बनाते रहना अथवा यंत्रों के कोलाहल के बीच अपने हाथों को नीचे ऊपर करते रहना इसलिए पसंद करता है कि बिना उसके वह अपना निर्वाह नहीं कर सकता। पर भविष्य में, जब कि आदमी के पास उत्पादक साधन अपने ही होंगे, जब कि उसे किसी खास चीजोंकी आवश्यकता ही न होगी, तब बिना बल-प्रयोग के उसे आत्मा और शरीर का नाश करने वाली आज के जैसी मजदूरी करने के लिए मजबूर करना असंभव होगा। इसमें शक नहीं कि श्रम-विभाग जनता के लिए लाभदायक और स्वाभाविक भी है। पर स्वाधीन समाज में श्रम-विभाग एक निश्चित – बहुत थोड़ी—हद तक ही संभवनीय होगा। और आज तो हमने उस हदको बहुत पीछे छोड़ दिया है।

यदि एक आदमी केवल जूते ही बनाता रहे, उसकी स्त्री बुनती रहे, एक दूसरा आदमी खेती करता रहे; और तीसरा लुहारी का काम करे और ये सब अपने काम में कुशलता प्राप्त करने पर अपने परिश्रम के फल का आपस में विनिमय—लेन देन—करते रहें तो यह श्रम-विभाग निःसन्देह सब के लिए लाभदायक

होगा। स्वाधीन समाज के लोग भी स्वभावतः अपने परिश्रम का विभाग इसी तरह करेंगे। पर आजकल का श्रम-विभाग तो स्वाधीन समाज में नितान्त हानिकर होगा। इस जमाने के श्रम विभाग के सिद्धान्त के अनुसार तो आज एक आदमी वस्तु का एक शतांश हिस्सा बनाता है, दूसरा १४०० (फारेनहीट) डिग्री गरमी वाली भट्टी के सामने तपता है, और तीसरे को प्राण-नाशक गैसों में काम कर अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। भले ही इस श्रम-विभाग से सुन्दर सुन्दर चीजें बड़े पैमाने पर तैयार हो सकती हों, कम कीमत में बिकती हों पर इसके कारण संसार में मनुष्य की सब से अधिक कीमती चीज़ का नाश होता है और वह है मनुष्य का प्राण। इसलिए आजकलका श्रम-विभाग तो स्वाधीन समाज में बिना बल-प्रयोगके असंभव है। रौबटस् का कथन है कि "पारस्परिक श्रम-विभाग मानव-जाति को एकता के सूत्र में बांध देता है।" यह सत्य है, पर केवल स्वाधीन श्रम-विभाग ही, स्वेच्छापूर्वक अंगीकृत श्रम-विभाग ही, एकता का पोषक हो सकता है, दूसरा नहीं।

यदि लोग एक सड़क बनाने का निश्चय करें और सभी काम में भिड़ जायँ – एक आदमी खोदने लगे, दूसरा पत्थर ढो दे, तीसरा उन्हें फोड़ता जाय, इत्यादि तो वह श्रम-विभाग अवश्य ही एकता का पोषक होगा।

पर यदि काम करने वालों की इच्छा के विपरीत एक सैनिक महत्त्व की रेल, कोई भारी प्रासाद अथवा पैरिस का प्रदर्शिनी को भरने के लिए मूर्खतापूर्ण चीजों का बनाना शुरू किया जाय, और उसके लिए एक आदमी को बलपूर्वक लोहा लाने के लिए

कहा जाय, दूसरे से कोयला खुदवाया जाय, तीसरे को सांचे बनाने के लिए पीटा जाय, चौथे की पीठ पर कोड़े मार कर उसे पेड़ काटने के लिए कहा जाय, और पांचवें को हंटर दिखा कर उनको आरे से काटने के लिए मजबूर किया जाय, और इनमें से एक को भी यह पता न हो कि यह सब किस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किया जा रहा है, तब तो इस श्रम-विभाग से एकता नहीं उलटे द्वेष और केवल द्वेष ही बढ़ेगा।

अतः साम्यवाद की बुनियाद पर संगठित हुए स्वाधीन समाज में, जिसमें उत्पादक साधन और औजार राष्ट्र की सम्पत्ति रहेंगे प्रत्येक आदमी श्रम-विभाग को अंगीकार वहीं तक करेगा, जहां तक कि उसे वह लाभदायक प्रतीत होगा और चूंकि प्रत्येक आदमी स्वभावतः अपनी वृत्ति और प्रवृत्तियों में विकास और विविधता देखने के लिए समुत्सुक रहता है आज का सा श्रमविभाग तो उस स्वाधीन समाज में एक दम असम्भव सा हो जायगा।

यह सोचना केवल भ्रम है कि उत्पादक साधन राष्ट्र के हाथों में आते ही प्रत्येक चीज की पैदाइश बेहद बढ़ जायगी। इस भ्रम को अपने हृदय में स्थान देना मानों यह आशा करना है कि गुलामों को आज़ाद कर देने पर भी हमारे दीवानखाने, नृत्यशालायें, घर पर बनाये कालीन, रेशम की रस्सियां और मनोहर बागीचे जिनमें वे गुलाम दिन दिनभर काम करते रहते थे उसी प्रकार बने रहेंगे, जैसे कि पहले थे। अतः यह कथन नितान्त भ्रम पूर्ण है कि साम्यवाद के आदर्श युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होगा, और उसे वे सब चीजें अपने उपयोग और उप भोग के लिए मिलती रहेंगी जो आज केवल धनी लोग ही खरीद और काम में ला सकते हैं।

सुधार अथवा स्वाधीनता

वैज्ञानिक तथा उनकी देखा-देखी अन्य सम्पन्न वर्ग के लोग भी हमारी इस वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को सुधार कहते हैं। इस सुधार में, जिसका अंग रेलें, तार, छाया-चित्र-कला (Photography) एक्सरेज, शफाखाने, प्रदर्शिनियां और प्रधानतः तमाम सुख-सामग्रियां हैं, ये लोग कुछ ऐसी पवित्रता और दिव्यता का दर्शन करते हैं कि वे इस बात का विचार तक बरदाश्त नहीं कर सकते कि इसे या इसके किसी छोटे से अंश को भी नष्ट नहीं भ्रष्ट तक करना ठीक होगा। हां, और सब बातों में मन-माना परिवर्तन भले ही हो जाय पर इस सुधार-सामग्री को कोई हाथ न लगाने पावे।

पर ज्यों-ज्यों हम अधिकाधिक गहरा विचार करते हैं त्यों त्यों हमें इस बात का और भी स्पष्ट ज्ञान होता जा रहा है कि इस सुधार की हस्ती तो तभी कायम रह सकती है जब काम करने वालों को—मजदूरों को—काम करने के लिए मजबूर किया जाय। पर वैज्ञानिकों का यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि यह सुधार हमारे लिए सब से अधिक कल्याण की वस्तु है। पहले जमाने के न्यायकार कहते थे कि संसार में न्याय ही सर्वोपरि है, इसी प्रकार वैज्ञानिक भी अपने इस विश्वास के बल पर जोरों से

प्रतिपादन करते हैं कि न्याय रहे या डूबे सुधार की तूती ही चारों ओर बोलनी चाहिये। और ये केवल कहते नहीं बल्कि वैसा ही कर भी रहे हैं। इन सुधारों को छोड़ अन्य सब बातों के सिद्धान्त और व्यवहार में भले ही परिवर्तन हो जाय; पर कारखानों, मिलों और खास कर दूकानों पर जो जो भी कुछ बिकता है उसमें किसी प्रकार की न्यूनता न होनी चाहिये।

पर मेरा ख्याल है कि विश्वबन्धुत्व के नियम को मानने वाले, अपने पड़ोसी पर भी अपने ही जैसा प्यार करने वाले संस्कारवान् पुरुषों को इसके ठीक विपरीत ही प्रतिपादन करना चाहिए।

बिजली की बत्तियां, टेलीफोन, प्रदर्शिनी, प्रमोदवन, नृत्यशालायें और रंगभूमियां अच्छी चीजें होंगी। सिगरेट, दियसलाई की पेटियां और मोटर गाड़ियां भी अच्छी होंगी। पर ये हमारा क्या उपकार करती हैं? रेलें हमें तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचा देती हैं और कल-कारखानों के द्वारा सस्ती और सुन्दर चीजें हमें मिलती हैं, मिलें हमें बढ़िया कपड़ा देती हैं। पर इन सब चीजों का जितना ही जल्द सत्यानास हो अच्छा है, यदि इनके बनाने के लिए फी सैकड़ा ९९ मनुष्यों को अपना सुन्दर ग्रामीण जीवन छोड़ कर कारखानों में गुलाम बने रह नाना प्रकार के रोगों का शिकार हो अकाल-मृत्यु के अधीन होना पड़ता है। लंदन और पीटसबर्ग में बिजली की बत्तियां लगाने, प्रदर्शिनी की इमारतें बनाने, बढ़िया से बढ़िया रंग बनाने और उत्कृष्ट तथा महीन कपड़ा तेजी से बुनने के लिए यदि केवल कुछ ही लोगों को नष्ट, बरबाद करना या अल्पजीवी बना देना

अनिवार्य हो तो ऐसे सुधारों से बाज़ आना ही अच्छा है। लंदन और पिटर्सबर्ग को गैस के प्रकाश से प्रकाशित करना ही भला है। ऐसी प्राणनाशक प्रदर्शिनियों, रंगों और महीन कपड़ों का न होना ही अच्छा है। परमात्मा के लिए ऐसे कामों को न कीजिये जिनसे अपने दूसरे भाइयों को अपनी स्वाधीनता या प्राणों को बलि चढ़ाना पड़ता हो। सच्चे संस्कारवान् पुरुष तो पुनः इस बात पर तैयार हो सकते हैं कि वे घोड़ों पर ही सफर करें या माल असबाब यहां से वहां पहुंचावें और जमीन को भी लकड़ी या हाथों से ही जोतें। बल्कि वे उन रेलों में बैठना कभी स्वीकार न करेंगे जिनके नीचे प्रतिवर्ष कई आदमी पिस जाते हैं जैसा कि शिकागो में होता है। सच पूछा जाय तो रेल के संचालकों को अपनी सड़क इस तरह बना लेनी चाहिए जिससे इतनी प्राणहानि ही न होने पावे। किन्तु शिकागो की रेलवे कम्पनी के संचालक अपनी रेल की सड़क इसी लिए नहीं बदलते कि बनिस्बत सड़कें बनाने के रेल में दबने वाले अभागों के कुटुम्बों को मुआवज़ा दे देना उन के लिए अधिक फायदेमन्द है। सच्चे और सहृदय मनुष्यों का तो न्याय को ही सर्व प्रथम मानना चाहिए। जहन्नुम में जावें ये सुधार जो नित्य मनुष्य की स्वाधीनता और प्राणों का बलिदान मांगते रहते हैं। हमारा ध्येय वाक्य यह हो 'न्याय की वेदी पर स्वार्थ का बलिदान हो।' न कि 'स्वार्थ की वेदी पर न्याय का वध करो।'

पर सुधार—सच्चा सुधार नष्ट नहीं किया जा सकता। सचमुच हमें फिर लौट कर न तो अपनी जमीनें लकड़ी से जोतनी होंगी और न मशालों से अपने भवनों को प्रकाशित करना होगा।

अपनी स्वाधीनता को बलि चढ़ा कर भी मनुष्य ने यह जो वैज्ञानिक प्रगति की है वह व्यर्थ न होगी। यदि हम केवल यह याद रक्खें कि हमें अपने स्वार्थ के लिए अपने दूसरे भाइयों के जीवन को नष्ट न करना चाहिए तो हम आवश्यक निर्दोष सुधारों का आविष्कार भी जरूर कर सकेंगे। हम अवश्य ही अपने जीवन को ऐसे सांचे में ढाल लेंगे जिससे अपने भाइयों की स्वाधीनता को विना ही नष्ट किए प्रकृति पर हमारा प्रभुत्व प्रस्थापित करने वाले तमाम अविष्कारों का उपयोग करने में हम समर्थ हो सकेंगे।

गुलामी की जड़ हमारे भीतर है

कल्पना कीजिये कि एक विदेशी देहाती हमारे शहरों में आता है। वह न हमारे इतिहास से परिचित है और न कानूनों से। हम उसे अपने नागरिक जीवन के विविध अंग दिखाते हैं और पूछते हैं कि इस नवीन जगत में वह कौन सी बात है जो उसे अपने जगत से एक दम भिन्न दिखाई देती है। वह फ़ौरन् यही कहेगा कि हमारे और यहां के जीवन में सब से बड़ा फ़र्क यही है कि यहां कुछ लोग तो केवल आराम करते हैं और शेष सब दिन भर उन के लिए मरते रहते हैं। पहले प्रकार के लोग हृष्ट-पुष्ट हैं, उन के हाथ स्वच्छ और कोमल हैं, पोशाक सुन्दर है, बढ़िया मकानों में रहते हैं, बहुत थोड़ा, हल्का सा काम करते हैं या बिलकुल ही नहीं करते और दिन भर अपना दिल बहलाया करते हैं। इनके मनोरञ्जन की सामग्री भी ऐसी वैसी नहीं होती। बेचारे अन्य लोग बरसों कठोर परिश्रम कर इनके मनोरञ्जन की सामग्रियां बनाते रहते हैं और ये दूसरे प्रकार के लोग? ये कैसे हैं? गंदे झोपड़ों में रहते हैं, फटे पुराने कपड़ों से अपने दुबले-पतले शरीर को ढांपते हैं, और सुबह से शाम तक उन लोगों के लिए काम करते हैं जो इधर का तिनका उठा कर उधर नहीं रखते, बल्कि हमेशा केवल मनोरञ्जन ही किया करते हैं।

भले ही आजकल के गुलामों और मालिकों के बीच का फर्क इतनी स्पष्टता के साथ न दिखाई देता हो जितना कि पहले के गुलामों और मालिकों में दिखाई देता था, भले ही आजकल के गुलाम थोड़े ही समय के लिए गुलाम हों और बाद में मालिक बन जाते हों, भले ही कुछ लोग गुलाम और साथ ही गुलामों के मालिक भी हों, पर इन दो वर्गों के मिश्रण से यह इन्कार नहीं किया जाता कि आजकल समाज में पहले की भांति गुलाम और गुलामों के मालिक ऐसे दो वर्ग नहीं हैं। बीच में संध्या काल के होते हुए भी कोई यह नहीं कह सकता कि प्रत्येक २४ घंटे का काल स्पष्टतः दिन और रात में विभक्त नहीं है।

आजकल के (गुलामों के) मालिकों के पास यदि कोई एक निश्चित गुलाम नहीं है तो इससे क्या? उनके पास वे रुपये तो हैं जिनको आवश्यकता सैकड़ों गुलामों को है। और इन सैकड़ों में से वह भला आदमी हर किसी गुलाम को चुन कर उसे अपना एहसानमन्द बना उसके द्वारा अपने मकान के परनाले और पाखाने साफ करवा सकता है।

हमारे इस युग में केवल वे ही गुलाम नहीं हैं जो कल-कारखानों और मिलों में काम करते हैं, जिन्हें अपने जीवन निर्वाह के लिए अपने को उन कारखानों के मालिकों के हाथ पूरी तरह बेच देना पड़ता है। बल्कि तमाम किसान भी तो गुलाम ही हैं जो दूसरे की जमीन में दूसरे ही का अनाज बोते हैं, दिन दिन भर मरते हैं, और दूसरे ही के खलिहान में उसके लिए उस अनाज को इकट्ठा करते हैं। गुलाम वे किसान भी तो हैं जो साहूकारों का रुपया नहीं—उसका सूद चुकाने के लिए अपने

खेतों में कड़ी मिहनत करते रहते हैं और फिर भी जीवन भर पार नहीं पाते। गुलाम वे असंख्य लोग भी हैं—रसोइये, महरियां, दरबान, कोचवान, अर्दली, इत्यादि, जो अपने जीवन भर अत्यंत अस्वाभाविक और अप्रिय पेशे कर अपने पेट का गड्ढा येन केन प्रकारेण भरने की चेष्टा में सुध बुध भूल जाते हैं।

गुलामी अपने पूरे जोश में है; पर हम उसे देख नहीं सकते—ठीक उसी तरह जैसा कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में वह यूरोप में थी और वहां के लोग उसे देख नहीं सकते थे।

यूरोप के उस जमाने के लोग सोचते कि इन गरीबों को मजबूर कर हमारी जमीन इनसे जुतवा लेना एक स्वाभाविक बात है। यह भी एक स्वाभाविक, अनिवार्य आर्थिक व्यवस्था है कि उनको हमारी आज्ञा का पालन करना चाहिए। इसे वे गुलामी नहीं कहते थे।

यही स्थिति आज हमारी हो रही है। इस युग के लोग इन मजदूरों की दशा को एक स्वाभाविक और अनिवार्य बात समझते हैं और इसे भी वे गुलामी नहीं कहते।

पर हमारी जागृति भी ठीक उसी तरह धीरे धीरे हो रही है जैसे कि अठारहवीं शताब्दी के अंतिम काल में लोगों की हुई थी। पहले उन्हें किसानों का पूरी तरह अमीरों के अधीन होकर रहना स्वाभाविक और अनिवार्य प्रतीत होता था, पर शीघ्र ही उनकी आंखों ने देखा कि यह सरासर अनुचित, अन्यायपूर्ण और अनीतिमय कार्य है। इस कलंक को जितनी ही जल्दी धोकर साफ किया जाय उतना भला है। इसी प्रकार हमारी भी आंखें अब धीरे धीरे खुल रही हैं। हम भी देखते हैं कि इन मजदूरों की

दशा, जो हमें पहले बिलकुल मामूली और यथार्थ मालूम होती थी, अशोभनीय है, और इसमें परिवर्त्तन करना परमावश्यक है।

इस युग की गुलामी का सवाल आज ठीक उसी अवस्था में से गुजर रहा है जिसमें से अठारहवीं शताब्दी के अंत में पश्चिमी यूरोप में और उन्नीसवीं सदी के द्वितीय अर्ध में रूस और अमेरिका में गुलामी की निघृ'ण प्रथा का सवाल गुजर रहा था।

पर इस समय केवल पुरोगामी विचारों के लोग ही इस अन्याय को जानने लगे हैं। अधिकांश लोगों को तो इस बुराई का अभी कुछ ख्याल ही नहीं है।

इसका कारण क्या है? मजदूरों को इस जीती-जागती नवीन गुलामी को अधिकांश लोग क्यों नहीं देख पाते? इसका एक प्रधान कारण यही है कि हमारे अंदर से वह निघृ'ण गुलामी की प्रथा अभी अभी उठी है। यथार्थ में देखा जाय तो पहली प्रथा अब बहुत पुरानी अतः बेकाम सी हो गई थी। दूसरे, एक नवीन और सूक्ष्मतर गुलामी की प्रथाका आविष्कार भी हो चुका था। इस नवीन प्रथा के अनुसार हम एक नहीं अनेकों गुलाम खरीद सकते हैं। क्रीमिया के तातार अपने कैदियों के साथ जो व्यवहार करते थे वही हमने इस गुलामी की प्रथा के साथ किया। क्रीमिया के निवासियों ने अपने कैदियों को मुक्त करने के एक नवीन तरीके का आविष्कार किया। वे पहले अपने कैदियों के पैरों के तलुए छील डालते थे, फिर सूवर के बालों के छोटे छोटे टुकड़े करके उन जखमों पर डाल देते थे। इतना कर लेने पर वे कैदियों की बेड़ियां काट कर उन्हें स्वतंत्र कर देते थे। अमेरिका

और रूस में गुलामी की प्रथा को नष्ट करते समय भी इसी नीति से काम किया गया। गुलामी जड़ से नहीं काटी गई, बल्कि केवल ऊपर से उसकी कलम कर दी गई जिससे वह और भी जोश के साथ पनपने लगी। जब लोगों का यह यकीन हो गया कि मनुष्य बिना ही बेड़ियां और काठ के खोड के हमारा गुलाम बना रह सकता है तो यह अनावश्यक था कि उसे व्यर्थ ही जकड़ दिया जाय। इससे तो बल्कि हमारे काम में हानि होने की सम्भावना थी। (उत्तरी अमेरिका के निवासियों ने इसी से तो पुरानी गुलाम प्रथा को नष्ट करने के लिए जोरों से मांग की। क्योंकि इस समय नवीन-पैसे की-गुलामी ने अपना प्रभाव अच्छी तरह लोगों पर जमा दिया था। दक्षिणी अमेरिका के लोगों को अभी इस देवी की शक्ति के अच्छी तरह दर्शन नहीं हो पाये थे, इसलिए उन्हों ने उस पुरानी प्रथा को नष्ट करने के लिये अपने अनुमति नहीं दी।)

रूस में गुलामी की प्रथा का अंत तभी किया गया जब धनिकों ने अपने अन्दर जमीनों का बटवारा पूरी तरह कर लिया था। जब किसानों को जमीनें दी गईं तब उन पर बेहद कर्जा बना हुआ था। इस तरह जमीन की गुलामी का नाश हुआ और पैसे की गुलामी उन पर सवार हुई। यही बात शेष यूरोपमें भी हुई। जमीनों के कर तब हलके किये गये जब वे किसानों के हाथों से निकल कर अमीरों के पास चली गईं, जब किसान खेती करना भूल गये, जब वे शहरों में आकर हमेशा के लिए बस गये, और जब वे पूरी तरह पूंजी पतियों के अधीन हो गये। इंग्लैंड में भी तभी अनाज पर के कर उठाये गये। अब जर्मनी और अन्य देशों में भी मजदूरों

पर के कर उठाकर इन धनिकों पर लगाये जा रहे हैं क्योंकि ये मजदूर भी आखिर हैं तो उन्हीं की अधीनता में! गुलामी का एक प्रकार तब तक नहीं नष्ट किया जाता जब तक दूसरा अधिक अच्छा प्रकार उसका स्थान ग्रहण नहीं कर लेता। यह देवी अनेकरूपा है। कभी एक और कभी दूसरा और कभी कभी एक साथ अनेकों रूप दिखा कर वह लोगों को अपने अधीन किया करती है। जनसमाज का एक छोटा सा हिस्सा अपने हाथों में धन और अधिकार को सम्मिलित कर सब भाइयों पर अपना आतंक जमाये रखता है। और यही—थोड़े लोगों द्वारा अधिक लोगों का गुलाम बना लिया जाना—हमारी दुर्दशा का सच्चा कारण है। अतः इन श्रमजीवियों की दुरवस्था को दूर करने के उपाय ये हैं—सब से पहले हम यह कबूल कर लें कि हमारे समाज में गुलामी की प्रथा—किसी आलंकारिक भाषा में नहीं बल्कि सरल से सरल अर्थ में—विद्यमान है। अर्थात् अल्प-संख्यक लोगों के हाथों में बहुसंख्यक लोग जकड़े हुए हैं। दूसरे इस गुलामी के कारणों को ढूंढ़ना और तीसरे उन कारणों को जान लेने पर उनको दूर करने के लिये जी जान से यत्न करना।

गुलामी क्या है ?

इस युग की गुलामी का प्रधान कारण क्या है ? वे कौनसी शक्तियां हैं, जो कुछ लोगों को दूसरों का गुलाम बना देती हैं ? यदि हम रूस, यूरोप, और अमेरिका के तमाम श्रमजीवियों से—उन सब मजदूरों से—जो कलकारखानों में, मिलों में और भिन्न भिन्न शहरों तथा देहात में स्थान स्थान पर हमें मजदूरी करते हुए दिखाई देते हैं, पूछें कि तुम क्यों इस तरह मजदूरी कर रहे हो तो वे निश्चय ही यह उत्तर देंगे कि क्या करें पेट ले आया। जब और कुछ न रहा तो यही करना पड़ता है और घर घर मारे मारे घूमना पड़ता है। उनकी इस मजबूरी के कारण क्या हो सकते हैं ? यही कि, या तो उनके पास कोई जमीन नहीं रह गई, जिसमें वे काम कर अपना निर्वाह कर सकें, या उनसे इतने कर मांगे गये कि बिना अपना परिश्रम या जमीन बेचे वे उन्हें दे नहीं सकते थे। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे कारखानों में इस लिए रहते हैं कि उन्होंने अपनी आदतें बिगाड़ ली हैं, अधिक विलासी बन गये हैं। मनुष्य अपनी स्वाधीनता और परिश्रम को बेच कर ही विलास का उपभोग कर सकता है।

पहली दो बातें अर्थात् (१) जमीन का अभाव या आवश्यकता और (२) कर, उसे अपना परिश्रम बेचने को मजबूर

करते हैं, और तीसरी बात अर्थात् उसकी बढ़ी हुई और असंतुष्ट कामनायें या आवश्यकतायें—उसे उस गुलामी में जकड़े रखती है।

हम कल्पना कर सकते हैं कि हेनरी ज्यार्ज की योजना के अनुसार जमींदारों से जमीनें निकाल कर श्रमजीवियों की गुलामी के पहले कारण को दूर किया जा सकता है। एक कर की योजना के अलावा हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि तमाम करों को रद्द कर या गरीबों से उठा कर उनको अमीरों पर लगाया जा सकता है। पर तीसरी बात सब से कठिन जान पड़ती है जब तक यह वर्तमान आर्थिक संगठन बना रहेगा, आदमी उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकता कि जब धनी लोग अधिकाधिक और विलासी आदतों को अख्तियार न करेंगे। यही आदतें धीरे धीरे गरीबों में भी जो कि नित्य इन श्रीमानों के सम्पर्क में आते रहते हैं, फौरन् फैल जावेंगी क्योंकि यह बिलकुल स्वाभाविक बात है, सूखी जमीन पानी को फौरन् सोख लेती है। वर्तमान आर्थिक संगठन के रहते हुए हम यह भी ख्याल नहीं कर सकते कि ये आदतें इन गरीब लोगों के लिए इतनी आवश्यक न हो जावेंगी कि वे उनके शिकार बन अपनी स्वाधीनता को बेचने के लिए भी तैयार होंगे।

इसलिए यह तीसरी शर्त यद्यपि मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, (अर्थात् मामूली तौर पर हमें मालूम होता है कि आदमी प्रलोभन का प्रतीकार कर सकता है) और यद्यपि विज्ञान यह मंजूर नहीं करता कि वह भी श्रमजीवियों की दुर्दशा का एक कारण है तथापि यही इस गुलामी का सब से अधिक मजबूत और दुर्निवार कारण है।

अमीरों के पास रहने वाले श्रमजीवियों को प्रायः नई आवश्यकतायें हमेशा सताती रहती हैं और उनकी पूर्ति तभी हो सकती है जब वे उसके लिए अधिक से अधिक समय कठिन परिश्रम करते हैं। अतः अमेरिका और इंग्लैंड के मजदूरों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता होती है उससे दस गुनी अधिक मजदूरी मिलने पर भी वे ठीक पहले ही की तरह गुलाम बने रहते हैं।

——:o:——

ज़मीन जायदाद और करसम्बन्धी कानून

समाज में ऐसे कोई नियम और परिस्थितियां हैं जो श्रमजीवियों को पूंजीपतियों के अधीन रहने पर मजबूर करती हैं। जर्मनी के साम्यवादियों ने इन सब को एकत्र कर उन्हें एक नवीन नाम दे दिया है। वे इन्हें 'वेतन के लोह नियम' कहते हैं। लोहे से उनका मतलब है कठोर—अपरिवर्तनीय। पर इन नियमों में ऐसी एक भी बात नहीं जिसको हम बदल न सकते हों। ये तो हमारे जमीन जायदाद और करों से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य के बनाये कानूनों के उपनियम मात्र हैं। कानून तो आखिर मनुष्यों ही की सृष्टि है। उन कानूनों को तोड़ने-मरोड़ने का मनुष्य को पूरा अधिकार है। तो गुलामी का जनक कोई प्राकृतिक नियम नहीं बल्कि मनुष्य का बनाया कानून ही है। प्रकृत उदाहरण में स्पष्ट और निश्चित है कि हमारे युग की यह गुलामी भी किसी भी प्राकृतिक नियम का फल नहीं बल्कि कर, जमीन और जायदाद सम्बन्धी मनुष्य के बनाये कानूनों का परिणाम है। समाज में ऐसे कानून हैं जिनके अनुसार एक ही मनुष्य अपरिमित जमीन का मालिक हो सकता है और वह बाप से बेटे को विरासत में या मृत्युपत्र की रूसे मिलती चली जाती है या किसी दूसरे शख्स को बेंच दी जा सकती है। एक

दूसरे प्रकार के कानून हैं जिनके अनुसार प्रत्येक को उससे मांगे जाने वाले तमाम कर बिना किसी पूछताछ के दे देना चाहिए। एक तीसरे प्रकार का कानून भी है जिसके अनुसार मनुष्य अपने पास की तमाम वस्तुओं का फिर वह किसी भी उपाय से प्राप्त क्यों न की गई हो, संपूर्णतया मालिक बन जाता है और इन्हीं कानूनों का परिणाम है यह गुलामी।

इन तमाम कानूनों के हम इतने आदी हो गये हैं कि वे हमें बिलकुल न्याय्य और आवश्यक प्रतीत होते हैं, जैसे कि गुलामी की प्रथा पुराने जमाने में मालूम होती थी। और यह स्वाभाविक भी है। पर समय पाकर लोगों ने गुलामी की प्रथा की भयंकरता का दर्शन किया और उन कानूनों की न्यायता के विषय में सन्देह करने लगे जो गुलामी को प्रचलित रक्खे हुए थे। इसी प्रकार वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के दुष्परिणामों के प्रकट होते ही हमारे दिलों में भी स्वभावतः जमीन जायदाद, और कर-सम्बन्धी वर्तमान कानूनों में, जिनके कारण यह स्थिति पैदा हो गई है, अनायास ही संदेह उत्पन्न होने लग गया है।

पुराने जमाने के लोग पूछते थे, क्या यह उचित है कि कुछ लोग दूसरों को खरीद कर अपना दास बना लें, जिनका किसी चीज़ के ऊपर कोई अधिकार ही न हो, बल्कि उल्टा वे जो कुछ भी पैदा करें अपने मालिक को ही दे दिया करें? उसी प्रकार अब हमें भी अपने आप से यह सवाल पूछना चाहिए कि क्या यह न्याय्य है कि मनुष्य उस जमीन का उपयोग न करे जो दूसरे के नाम पर दर्ज हो? क्या यह न्याय्य है कि मनुष्य से उसके परिश्रम के फल का जितना बड़ा हिस्सा कर के रूपमें मांगा जाय,

वह दे दिया करे ? क्या यह न्याय्य है कि मनुष्य किसी ऐसी वस्तुका उपयोग न करे जो दूसरे की सम्पत्ति समझी जाती है।

+ + +

क्या मनुष्य को ऐसी जमीन का उपयोग नहीं करना चाहिए जो दूसरे की सम्पत्ति हो पर जिसे वह अन्य मनुष्य स्वयं जोतता न हो ?

कहा जाता है कि यह कानून खेती की तरक्की को ध्यान में रखते हुए बनाया गया है। दलील यह है। खेती की यदि उन्नति करनी है तो जमीन पर मनुष्य की मालिकी होना लाजिमी है। यदि जमीनें परम्परा द्वारा अर्थात् बाप से बेटे के पास न जा सकें, यदि उसके अधिकार के विषय में अनिश्चितता बनी रहे तो लोग एक दूसरे को निकाल भगावेंगे। अनिश्चितता के कारण कोई अपनी ज़मीन पर, उसको सुधारने की गरज से, दिल से परिश्रम न करेगा। क्या यह सच है ? इसका उत्तर तो भूतकाल का इतिहास और वर्तमान की घटनायें देंगी। इतिहास कहता है कि जमीनें किसी मनुष्य के अधिकार में इसलिए नहीं दी गईं कि वह निश्चिन्त हो उसपर मिहनत करे, बल्कि बात यह थी कि विजेताओं ने जनता से ज़मीनें छीन कर उन लोगों को दे दीं जिन्होंने उनकी सहायता की। अतः यह सिद्ध है कि किसानों की तरक्की की भावना से प्रेरित हो कर ज़मीनें उनकी अधीनता में नहीं दी गईं। वर्तमान वस्तुःस्थिति भी उपर्युक्त दावे की असत्यता को प्रमाणित करती है। हां, कहा जरूर यों जाता है कि ज़मीनों की मिल्कियत उनपर मिहनत करने वालों को यह विश्वास दिलाती

है कि जमीनें उनसे छीनी नहीं जायँगी। पर यथार्थ में ठीक इसके विपरीत ही हर जगह हुआ है और हो रहा है। जमीनों के स्वामित्व के अधिकार से, जिससे कि बड़े बड़े जमींदारों ने बेहद फायदा उठाया है और प्रतिदिन उठाते रहे हैं, यही न फल हुआ है कि आज वे बहुसंख्यक किसान दूसरों की जमीनें जोत रहे हैं, और उनके मुहताज हो गये हैं? जब जमींदारों की इच्छा हो किसान बेदखल किये जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध है कि जमीनों के स्वामित्व का वर्तमान तरीका, किसानों के इस अधिकार की रक्षा नहीं करता कि वह जमीन पर बहाए हुए अपने पसीने के फल का आप ही उपभोग करें। बल्कि हो यह रहा है कि कड़ी मिहनत से काम करने वाले किसान के हाथ से जमीन निकाल कर निकम्मे जमींदारों के हाथों में सौंपने का वह एक तरीका है। अतः यह खेती के बनाने का नहीं उसे बिगाड़ने का तरीका है।

× × ×

करों के विषय में यह कहा जाता है—लोगों को कर इसलिये देना चाहिये कि वे सब की सम्मति से, भले ही वह सम्मति मूक ही हो, लगाये गये हैं। दूसरे, उनका उपयोग जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति और लाभ के लिये किया जाता है। क्या यह भी सच है?

इस का भी उत्तर इतिहास और वर्तमान घटनायें भली भांति दे सकती हैं। इतिहास यह डंके की चोट कहता है कि कर कभी सर्व साधारण की सम्मति से नहीं लगाये गये। बल्कि इसके

विपरीत हुआ यह है कि जब किसी जाति ने दूसरी जाति पर (युद्ध करके या अन्य किसी चाल से) अपनी सलतनत कायम की तब उसने विजित जाति पर अपने कर लगा दिये, इस गरज़ से नहीं कि उन करों को ले कर वह सर्व-साधारण के उपयोगी कामों में लगा दे बल्कि सिर्फ अपने ही लाभ के लिए। और यही आज भी हो रहा है। वे ही लोग कर ले रहे हैं जिनके हाथों में शक्ति है। यदि इन करों के किसी हिस्से का उपयोग किसी सार्वजनिक काम के लिए किया भी जाता है तो वह काम भी ऐसा ही होता है जिससे लाभ के बजाय जनता की हानि ही अधिक होती है।

एक उदाहरण लीजिए। रूस में एक किसान की आय का पूरा तीसरा हिस्सा करों के रूप में उससे वसूल कर लिया जाता है; और राज्य की आय का केवल पचासवां हिस्सा जनता की सब से बड़ी आवश्यकता अर्थात् शिक्षा पर खर्च किया जाता है। खैर, सो भी अच्छी हो सो नहीं। बच्चों को पढ़ाने का ढंग ऐसा विचित्र है कि उनकी बुद्धि को ही वह पढ़ाई कुचल डालती है। फलतः जनता को लाभ तो नहीं उलटे हानि ही अधिक होती है। शेष उनचास हिस्से अनावश्यक और हानिकर बातों में मसलन फौज को सजाने, सैनिक रेलें, किले, जेल आदि बनाने, पादड़ियों का भरण-पोषण करने, अदालत चलाने, मुल्की और फौजी अफसरों की तनख्वाहें चुकाने तथा इन करों को उगाहने वाले अधिकारियों की तनख्वाहें आदि में खर्च होती हैं।

यही बात न केवल फारस, तुर्किस्तान और भारत में बल्कि उन तमाम देशों में हो रही है जो सुसंगठित ईसाई राष्ट्र हैं और जहां प्रजा-सत्तात्मक राज्य भी है। कर वसूल करते समय कर-

दाताओं की इच्छा, अनिच्छा, सम्मति-असम्मति की कोई परवा ही नहीं करता, न इस बात की भी परवा की जाती है कि कर केवल उतने ही वसूल किये जायं जितने आवश्यक हों। यह भी नहीं। कर तो ज्यादह से ज़्यादह जितना वसूल किया जा सकता है ले लिया जाता है। (यह बात किसी से छिपी नहीं कि प्रातिनिधिक राज्यसभाओं का संगठन कैसा होता है और उनमें बैठने वाले सदस्य जनता के कहां तक सच्चे प्रतिनिधि होते हैं।) फिर वे कर सर्वसाधारण के लाभ के लिए भी खर्च नहीं किये जाते बल्कि उन्हीं कामों के लिए खर्च होते हैं जिन्हें शासक-वर्ग अपने लिए आवश्यक समझते हैं। और ये बातें यही न हैं -क्यूबा या फिलिपाइन्स के महायुद्ध का संचालन, ट्रान्सवाल की सम्पत्ति हड़पने और हजम करने के उपाय आदि! अतः यह दलील, कि लोगों को कर इसलिए देने चाहिएं कि वे उनकी सम्मति से लगाये गए हैं और वे उन्हीं के लाभ के लिए खर्च होते हैं, उतनी ही व्यर्थ और अन्याय्य है जितनी कि जमीनों को मनुष्यों की खानगी सम्पत्ति बना देना खेती की उन्नति के लिए परमोपयोगी और आवश्यक है, यह बताने वाली दलील है।

× × ×

क्या यह ठीक है कि लोगों को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए उन आवश्यक चीजों का उपयोग नहीं करना चाहिए जो दूसरों की सम्पत्ति हैं ?

कहा जाता है कि उपार्जित वस्तुओं पर मनुष्य का स्वत्व इस लिए प्रस्थापित किया जाता है कि काम करने वाले को इस बात का विश्वास रहे कि उसके परिश्रम का फल कोई उससे छीन न सकेगा।

क्या यह सच है ?

सरासर झूठ। आपके आस-पास संसार में क्या हो रहा है ? उधर केवल एक दृष्टिपात करके देख लीजिये कि वास्तविकता इस कथन के कितनी विपरीत है।

समाज में उपार्जित वस्तुओं पर स्वत्व प्रस्थापन करने के अधिकार या कानून का परिणाम ठीक ठीक वही हुआ है जिसे वह रोकना चाहता था। यही कि श्रमजीवियों द्वारा जो चीजें पैदा की गई हैं और की जा रही हैं वे सब उन लोगों के पास हैं और ज्यों ज्यों वे पैदा होती जाती हैं, उनके द्वारा ले ली जाती हैं, जिन्होंने उन चीजों को पैदा नहीं किया।

जमीन के स्वामित्व के उस कानून की बनिस्बत यह कथन और भी अधिक अन्यायपूर्ण है कि उपार्जित वस्तुओं पर स्वत्व प्रस्थापन का अधिकार श्रमजीवियों को इस बात का निश्चय दिला देता है कि अपने परिश्रम के फल का उपभोग वे ही करेंगे। यह भी उसी शुष्क सिद्धान्त पर आधार रखता है जो जमीन वाले कानून की जड़ में है। पहले तो उनके परिश्रम का फल उनसे अन्याय और बलपूर्वक छीन लिया जाता है और फिर बीच में एकाएक कानून कूद पड़ता है। अब वही चीजें जो कि श्रमजीवियों से अन्याय और बलपूर्वक छीन ली गई हैं उन लोगों की निजी सम्पत्ति कहाने लग जाती हैं जिन्होंने कि उन चीजों को चुरा लिया है, श्रमजीवियों से जबरदस्ती छीन लिया है।

संपत्ति : मसलन् एक कारखाना अनेकों छल-कपट से प्राप्त कर उसमें श्रमजीवियों के परिश्रम का फायदा उठाया जाता है, पर फल समझा जाता है धनिकों के परिश्रम का और एक पवित्र

वस्तु मानी जाती है। पर कैसा आश्चर्य है कि उन कारखानों में मरने वाले मजदूरों का जीवन, उनका परिश्रम, उनकी निजी संपत्ति नहीं, बल्कि कारखाने के मालिक की, समझी जाती है बशर्ते कि वह मजदूरों की आवश्यकता या गरज का फायदा उठा कर उन्हें किसी ऐसे प्रकार से बांध ले जो कानूनन समझा जा रहा हो। लाखों मन नाज व्यापारी लोग असामियों से जबरदस्ती या अन्य कितने ही उपायों द्वारा छीन लेते हैं और वह धनियों की सम्पत्ति कहाने लग जाता है। खेत में किसान परिश्रम करता है, नाज बोता है, उसकी रक्षा करता है, पर वह किसी दूसरे ही शख्स अर्थात् जमींदार की सम्पत्ति समझी जाती है। यह क्यों? इसलिए कि उसने किसानों से जमीन को छीनने वाले किसी अपने पितामह या प्रपितामह से उस जमीन को विरासत में पाया है। कहा जाता है कि कानून सब की सम्पत्ति की निष्पक्ष भाव से रक्षा करता है, फिर वह मिल-मालिक हो या उस मिल का कोई कर्मचारी, पूंजीपति हो या धनहीन मजदूर, जमींदार हो या किसान। पर यह निष्पक्षता कैसी? दो योद्धाओं में से एक के तो हाथ जकड़ दिये जाते हैं और दूसरे को शस्त्र दे दिये जाते हैं और फिर यह कहा जाता है कि अब हम किसी का पक्ष नहीं करेंगे। मतलब यह कि न्याय और गुलामी पैदा करने वाले उन तीन प्रकार के कामों की आवश्यकता का कारण सरासर असत्य है। उतना ही असत्य जितनी कि पुरानी गुलामी-प्रथा के समर्थन में पेश की गई न्याय और आवश्यकता की दलीलें थीं। ये तीनों प्रकार के कानून और कुछ नहीं, पुरानी गुलामी-प्रथा के सिंहासन पर अधिकार जमाने वाली उससे अधिक

शक्तिशाली गुलामी मात्र है। पुराने जमाने के लोगों ने कानून बना कर एक जाति के लोगों को दूसरी जाति के मनुष्यों को बेचने-खरीदने और अपनी अधीनता में रख उनसे मनमाना काम लेने का अधिकार दे दिया और गुलामी का जन्म हुआ। आज भी समाज में कुछ लोगों ने ऐसे कानून बनाये कि कोई उस जमीन का उपभोग न करे जो दूसरे की समझी जाती है; प्रत्येक मनुष्य उन सब करों को बिना उजर दे दें जो उनसे मांगे जावें और किसी ऐसी चीज़ का उपयोग न करें जो दूसरे की सम्पत्ति मानी जाती हो। और यही है हमारे युग की इस गुलामी की जड़।

गुलामी की जड़—कानून



हमारे ज़माने की यह गुलामी ज़मीन जायदाद और कर-सम्बन्धी तीन प्रकार के कानूनों का परिणाम है। इसलिए जितने भी लोग उन श्रमजीवियों की दशा को सुधारना चाहते हैं, सब के प्रयत्न ज्ञातत: अथवा अज्ञातत: इन्हीं तीनों प्रकार के कानूनों के खिलाफ रहेंगे।

कोई मजदूरों पर के करों को उठा कर धनिकों पर लादने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरे जमीन का व्यक्तिगत स्वामित्व ही नष्ट कर देना अपना धर्म समझते हैं। न्यूजीलैंड और अमेरिका के किसी राज्य में इस दिशा में प्रयत्न भी हो रहे हैं। आयर्लैंड में जमींदारों के अधिकारों को नियन्त्रित करने की हलचल का उद्देश भी यही है। सुधारकों का एक तीसरा दल है – साम्य-वादी। ये उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना आय और विरासतों पर कर बढ़ा देना और पूंजीपति मालिकों के अधिकारों को नियन्त्रित करना चाहते हैं।

यह देख कर मनुष्य को स्वभावत: यही मालूम होगा कि अब के कानून रद हो जावेंगे और फलत: गुलामी का भी अंत अनक़रीब है। पर हमें केवल उन शर्तों का अधिक सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण करने की देर है, जिनके अनुसार कानून की ये धारायें

रद की जा रही हैं अथवा इसके लिए प्रयत्न हो रहा है और हमें यकीन हो जायगा कि मजदूरों को दशा को सुधारने के ये सब सैद्धान्तिक और व्यवहार्य उपाय पुरानी गुलामी के स्थान पर एक नवीन प्रकार की गुलामी को प्रतिष्ठित करने के कानून की रचना मात्र हैं। कैसे, सो देखिये। मजदूरों पर से करों को उठा कर धनवानों पर उन्हें लादने वाले शेष सब बातों सम्बन्धी कानूनों को ज्यों के त्यों रहने देंगे। पर यथार्थ में इन्हीं चीजों पर करों का भार है। मसलन् जमीनों, उत्पादक साधनों और अन्य वस्तुओं का स्वामित्व। इसलिए ज़मीन और ज़ायदाद-सम्बन्धी कानूनों को अछूता रहने देने से करों के उठ जाने पर भी मजदूर, जमींदारों और पूंजीपतियों के उसी प्रकार गुलाम बने रहते हैं।

कुछ लोग, मसलन् हेनरी ज्यार्ज और उसके साथी ज़मीनों के स्वामित्व-सम्बन्धी कानूनों को तो रद कर देना पसंद करते हैं, पर उनके स्थान पर जमीनों पर भारी किराया लगा कर इस सुधार को किसानों के लिए निरर्थक बना डालते हैं। इस किराये से गुलामी जरा भी नहीं घटेगी, बल्कि एक नवीन गुलामी मात्र निर्माण होगी। क्योंकि किसी वर्ष फसल न पकने के कारण किसान को तो अवश्य अपनी जमीन का किराया या कर चुकता करने के लिए रुपये लेने को किसी साहूकार की शरण लेनी पड़ेगी। और वह वहां गया नहीं कि गुलामी में फँसा नहीं।

अब साम्यवादियों की योजना का निरीक्षण करें। सिद्धान्त में वे खानगी सम्पत्ति और उत्पादक साधनों के स्वामित्व-सम्बन्धी कानूनों को रद कर करों से सम्बन्ध रखने

कानूनों को रद कर देनेसे गुलामी का अन्त नहीं हो सकता। इससे तो केवल गुलामी के प्रकारों में ही परिवर्तन होता है जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। न इन तीनों प्रकार के कानूनों को रद करने ही से गुलामी नष्ट हो सकती है। इससे तो एक और भी नई गुलामी का उदय होगा जिसके चिह्न हम अभी से देख रहे हैं। मजदूरों के काम के घंटे, उम्र और स्वास्थ्य, पाठशालाओं में अनिवार्य उपस्थिति, वृद्धावस्था में जान का बीमा कराने तथा आकस्मिक घटना आदि के कारण काटे जाने वाले दामों द्वारा तथा कारखाने के निरीक्षण आदि सम्बन्धी कानूनों द्वारा मजदूरों की स्वाधीनता को नवीन रूप से जकड़ना फिर शुरू हो गया है। यह और कुछ नहीं, केवल संक्रमण-कालीन कानून हैं जो एक नवीन और अननुभूत प्रकार की गुलामी का निर्माण करने जा रहे हैं।

अब यह स्पष्ट है कि गुलामी का कारण कोई खास एक या दूसरी ही तरह का कानून नहीं बल्कि सभी कानून मात्र हैं। गुलामी का कारण यह है कि हमारे समाज में कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने मतलब के कानून बना सकते हैं और दूसरों को उन पर चलने के लिए बाध्य कर सकते हैं। अतः संसार से तब तक गुलामी का अन्त नहीं हो सकता जब तक लोगों के हाथों में कानून बनाने की शक्ति या अधिकार बना रहेगा।

प्राचीन काल में लोगों के लिए गुलामों को रखना फायदेमन्द था। इसलिए उन्होंने तत्सम्बन्धी कानून बनाये। बाद में पाया गया कि जमीन रखना, कर लेना और अपनी चीजें अपने ही पास रख लेना अधिक फायदेमन्द है, तो इसके संबन्ध

में कानून बने। अब लोग देखते हैं कि श्रम-विभाग के वर्तमान स्वरूप और सभ्यता को बनाये रखना अच्छा है तो इस संबन्ध में भी कानून बनने लगे। लोगों को इस वर्तमान व्यवस्था के अनुसार कानूनों द्वारा मजबूर करने के उपाय होने लगे। अतः गुलामी की जड़ है कानून—यह वस्तुस्थिति कि संसारमें कुछ लोग ऐसे हैं जो कानून बना सकते हैं।

पर कानून क्या है? वह क्या वस्तु है जो इन लोगों के हाथों में कानून बनाने की शक्ति रख देती है?

सुसंगठित हिंसा कानूनों की जननी है

कानून कैसे बनाये जाते हैं ? कानून बनाने की शक्ति मनुष्यों में कैसे आती है ?

इस विषय का तो एक भारी शास्त्र ही है जो राजनीति से भी शायद अधिक प्राचीन, अधिक कुटिल और अधिक भ्रामक है। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, इसके सेवकों ने पिछली सदियों में लाखों किताबें लिख डाली हैं जो आपस ही में प्रायः एक दूसरे का विरोध करती हैं। राजनीति इस प्रश्न का उत्तर नहीं देती कि हमारी आदर्श राज्यव्यवस्था कैसी है। उसी प्रकार यह न्याय-विवेक-शास्त्र भी अधिकारों की मीमांसा, कर्त्ता-कर्म, राज्य विषयक कल्पनायें तथा इसी प्रकार के कितने ही ऐसे वक्तव्यों और विवरणों से भरा पड़ा है जिसे न तो इस विषय के विद्यार्थी और न स्वयं शिक्षक ही भली-भांति समझ सकते हैं। और मजा यह कि अंत में यह प्रश्न यों ही रक्खा रह जाता है कि कानून-रचना क्या है ?

विज्ञान कहता है कि कानून-रचना सम्पूर्ण जनता की इच्छा का प्रदर्शन है। पर यदि हम सूक्ष्मता-पूर्वक देखने लगें तो हमें स्पष्टतया ज्ञात होगा कि यह कल्पना मिथ्या है। समाज में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है जो कानूनों का भंग करते

हैं या कम से कम ऐसा करने की इच्छा तो जरूर रखते हैं। जहां कहीं वे कानूनों को भंग नहीं करते वहां इस इच्छा का अभाव नहीं बल्कि उससे मिलने वाली सजा का डर है। तब यह स्पष्ट है कि जब स्वेच्छा-पूर्वक कानूनों का पालन करने वालों की संख्या से उसका भंग करने वाले ही अधिक हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि कानून सम्पूर्ण जनता की इच्छा से ही बनाये जाते हैं ?

कानून कई प्रकार के हैं। एक कहता है कि तार के खम्भों को कोई चोट नहीं पहुंचावे। दूसरा आज्ञा करता है कि लोगों को अमुक व्यक्तियों का आदर करना चाहिए। तीसरा आदेश करता है कि प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्यत: सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये या पंच बन कर न्याय में सहायता करनी चाहिए। चौथा हुक्म करता है कि कोई अमुक सीमा-प्रदेश से बाहर अमुक अमुक चीजें न ले जावे। पांचवां आज्ञा करता है कि जो जमीन दूसरे की सम्पत्ति समझी जाती हो उसका मालिक के सिवा कोई उपभोग न करे। छठा कहता है कि जो जाली रुपये बनायेगा उसे अमुक अमुक सजा दी जायगी। सातवां कहता है दूसरे की चीजों का कोई उसकी बिला इजाजत के उपयोग न करे। इस तरह सैकड़ों कानून हैं।

ये सब और अन्य कितने ही कानून अत्यन्त जटिल हैं और न जाने कितने भिन्न भिन्न हेतुओं को ले कर बनाये गये हैं। पर इनमें से एक भी जन समस्त की इच्छा को प्रकट नहीं करता है। हां, इनमें एक सर्वसामान्य बात जरूर है। यदि कोई उनको पालन करने से इन्कार करता है तो कानून के रचयिता उसके

पास सशस्त्र सैनिक भेजते हैं, जो कानून की अवज्ञा करने वाले को इस अपराध के लिए मारते, पीटते, कैद कर देते या जान से मार डालते हैं।

उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य उससे मांगे जाने वाले करों को देने से इन्कार कर दे तो यही सलूक उससे भी होगा। सशस्त्र पुरुष आवेंगे और उससे कर मांगेंगे। यदि वह देने से इन्कार करेगा तो बलपूर्वक उसके यहां से निकाल कर ले जायंगे। यदि वह इसमें भी आपत्ति करेगा और प्रतिकार करने के लिए खड़ा हो जायगा तो उसे पीटा जायगा, कैद कर लिया जायगा या वहीं गोली मार दी जायगी। दूसरे की मालिकी की जमीन का उपयोग कानून की आज्ञा के खिलाफ करने वाले की भी यही दशा होगी। दूसरे की वस्तुओं का अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा अपने काम को सरल करने के लिए उपयोग करने वाले को भी यही दंड दिया जायगा। शस्त्रधारी पुरुष आकर उससे उस वस्तु को छीन लेंगे। उसने प्रतिकार करने की कोई तैयारी दिखाई नहीं कि उन्होंने उसे मारा, कैद किया या गोली चलाई नहीं। यही सजा उन पुरुषों का निरादर करने वाले को भी दी जायगी जिनका आदर करने के लिये कानून आदेश करता है। सैनिक शिक्षा प्राप्त करने से इन्कार करने वाले और नकली सिक्के बनाने वाले को भी निःसन्देह यही दण्ड दिया जायगा।

प्रतिष्ठित कानूनों की प्रत्येक अवज्ञा के लिए सजा रक्खी हुई है। अवज्ञाकारी को कानून के रचयिता पीटते हैं, कैद करते हैं या जान से मार डालते हैं।

अंगरेज और अमेरिका के शासन-विधानों से लेकर जापान और तुर्किस्तान तक कितने ही शासन-विधान बने जिनके अनुसार लोगों को यह विश्वास करना पड़ता है कि उनके देश में माने जाने वाले तमाम कानून उनकी अपनी इच्छा से ही बने हुए हैं। पर इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि प्रत्येक एकायत्त निरंकुश शासन वाले ही नहीं बल्कि इंग्लैंड, अमेरिका जैसे नाम-मात्र को स्वाधीन माने जाने वाले देश में भी कानून देश की जनता की इच्छा के अनुसार नहीं, बल्कि शासन-यन्त्र के संचालकों के इच्छानुसार बनाये जाते हैं, फिर वे एक हों या अनेक और वे फायदेमन्द भी होते हैं उन्हीं शासकों के लिए। लोगों को उन कानूनों का पालन करने के लिए मजबूर करने का भी एकमात्र तरीका है कोड़े, कैद, या फांसी। सिवा इसके दूसरा उपाय ही नहीं है।

और हो भी नहीं सकता। क्योंकि कानून के मानी हैं अमुक नियमों अर्थात् सत्ताधारियों की इच्छा का पालन करने का आदेश। इसका पालन कराने का एक ही मार्ग है कोड़े, कैद या फांसी। जहां कानून है वहीं ऐसी शक्ति भी जरूर है जो उनका पालन करने के लिए लोगों को मजबूर कर सकती हो। इस शक्ति का नाम है हिंसा-बल-प्रयोग। साधारण बल-प्रयोग नहीं जो मामूली मनुष्य गुस्से में एक दूसरे के प्रति करते हैं। यह तो सत्ताधारियों का सुसंगठित बल-प्रयोग है, जो वे दूसरों के द्वारा अपने बनाये कानूनों का (अर्थात् अपनी इच्छा का] पालन कराने के लिये करते हैं।

अंतः यह समझना निरा भ्रम है कि कानूनों की रचना कर्त्ता-

कर्म या अधिकारों तथा स्वत्वों की रक्षा के ख्याल से होती है। यह ख्याल करना भी गलत है कि कानून जनता की इच्छा के अनुसार या ऐसे ही अन्य अनियमित और विविध कारणों को लेकर बनाये जाते हैं। कानून तो इसलिए बनाये जाते हैं कि सत्ताधारियों के हाथों में वह सुसंगठित शक्ति होती है जिसके द्वारा वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए अन्य लोगों को मजबूर कर अपनी मनमानी करा सकते हैं।

अतः कानून-रचना की सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य अवश्य और ठीक ठीक परिभाषा यह होगी:—

कानून वे नियम हैं जिनको हिंसा के बल पर देश के शासन का संचालन करने वाले बनाते हैं और जिनकी अवज्ञा के पुरस्कार में अवज्ञा करने वाले को कोड़े, कैद या फांसी की सजा दी जाती है।

यह परिभाषा उस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देती है कि लोग किस अधिकार के बल पर कानून बनाते हैं। यह बल वही सुसंगठित हिंसा है, जो लोगों से उनकी इच्छा के खिलाफ इन कानूनों का पालन कराती है।

सरकारें क्या हैं ?

क्या लोग बिना सरकारों के रह सकते हैं ?

श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण गुलामी है। गुलामी का कारण है कानून-रचना और कानूनों की रचना सुसंगठित हिंसा के बल पर की जाती है। इसके मानी ये हुए कि यदि श्रमजीवियों की दशा का सुधार अभीष्ट है तो पहले इस सुसंगठित हिंसा को नष्ट करना अत्यावश्यक है।

पर सुसंगठित हिंसा ही तो सरकार है। और बिना सरकार के हम कैसे जी सकते हैं ? सरकार के अभाव में तो अव्यवस्था तथा अराजकता फैल जायगी, अब तक इतने यत्न से हमने जो सुधार किये हैं वे सब नष्ट हो जायंगे और समाज में फिर वही जंगली जमाना लौट आवेगा।

जिनके लिए वर्त्तमान व्यवस्था फायदेमन्द है उनका यह सोचना स्वाभाविक है। नहीं; बल्कि यह तो उन लोगों के लिए स्वाभाविक है जिनके लिए यह व्यवस्था फायदेमन्द न होने पर भी वे इसके इतने आदी हो गये हैं कि इसमें परिवर्त्तन की कल्पना तक को बरदाश्त नहीं कर सकते। वे कहेंगे सरकारों को पृथ्वीतल से मिटाते ही समाज पर घोर से घोर आपत्तियां उमड़ आवेंगी। लूट-मार, चोरी, और खून-खच्चर होने लगेंगे और अंत में दुष्ट लोग इतने बलवान् हो जावेंगे कि पुनः अपने हाथों में सत्ता लेकर तमाम भले आदमियों को अपना गुलाम बना लेंगे।

पर क्या यह हमारे लिए नई बात है ? यह तो गुजर चुका है। अब भी वही हो रहा है। और भविष्य की लूट-मार खून-खराबी की आशंका यह सिद्ध नहीं कर सकती कि वर्त्तमान व्यवस्था अच्छी है।

कहते हैं—"वर्त्तमान व्यवस्था को हाथ लगाया नहीं और बड़ी से बड़ी आपत्तियां समाज पर उमड़ी नहीं।"

एक हजार ईंटों का एक ऊंचा पतला स्तम्भ बनाया हुआ है। उसकी एक भी ईंट को छू दीजियेगा कि तमाम स्तम्भ का स्तम्भ धड़ाम से गिर पड़ेगा और चूर-चूर हो जायगा।

पर यह आशंका कि ऐसे स्तम्भ की एक ईंट को छूते ही सारा स्तम्भ गिर कर चूर-चूर हो जायगा यह सिद्ध नहीं करती कि ईंटों को ऐसे अस्वाभाविक और खतरनाक तरीके से एक पर एक रखना बुद्धिमानी का काम है। इसके विपरीत सिद्ध तो यह होता है कि ईंटों को इस खराब और खतरनाक रीति से कभी न रखना चाहिए। बल्कि उलटा उनको इस तरह सुरक्षितता के साथ रखना चाहिए कि बिला किसी प्रकार के खतरे की आशंका के मनुष्य उसका उपयोग कर सके। यही बात वर्तमान राज्य-व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। सरकारों का संगठन अत्यंत अस्वाभाविक और अस्थायी है। यह बात उनकी उपयोगिता को सिद्ध नहीं करती कि ज़रासा धका लगते ही वह धड़ाम से गिर पड़ेगा। बल्कि यह भय तो इस बात को सिद्ध करता है कि यदि किसी काल में वह समाज के लिए आवश्यक रहा भी हो तो आज वह बिलकुल अनावश्यक और इसीलिए हानिकर तथा खतरनाक है।

वह हानिकर और खतरनाक इसलिए है कि समाज में जो कुछ भी बुराई है उसपर इस वस्तुस्थिति का असर बहुत बुरा हो रहा है। बुराई का कम होना तो दूर की बात है बल्कि वह बढ़ती ही जा रही है, और भी अधिक ही होती जा रही है। इस संस्था के कारण या तो उसे पोषण मिल जाता है या वह अधिक आकर्षक बन जाती है अथवा वह पूरी तरह छिपा दी जाती है।

सुशासित मानी जाने वाली हिंसा के बल पर शासन करने वाली राज्यसंस्थाओं में जहां कहीं भी हमें सुख-समृद्धि दिखाई देती है वह केवल मिथ्या है—ऊपरी है, दिखाव मात्र है। इस दिखाव को असत्य साबित करने वाली तमाम चीजें—तमाम भूखे, रोगी और बुरे से बुरे दुर्गुणी लोग दूर एक तरफ छिपे हुए रहते हैं जहां हम उन्हें देख नहीं सकते। पर इसके मानी यह कदापि नहीं कि वे हुई नहीं। इसके विपरीत वे जितने ही हमारी आंखों से छिपे रहेंगे उतने ही वे अधिक बढ़ेंगे और उसी परिमाण में उन्हें इस दुर्दशा में डालने वाले शासक उनके प्रति अधिक निष्ठुर होंगे। यह ठीक है कि इस सरकारी कार्य अर्थात् सुसंगठित हिंसा में किसी प्रकार हस्तक्षेप करना अथवा उसका रोकना उनकी बाहरी सुव्यवस्था को भी अस्त-व्यस्त कर देता है। पर इससे जो अव्यवस्था दिखाई देती है वह इस हस्तक्षेप का परिणाम नहीं बल्कि उस छिपी दुरवस्था का दर्शन मात्र है। और यह दुरवस्था का दर्शन ही हमें उसे दूर करने में सहायक होता है।

अभी अभी तक—उन्नीसवीं सदी के अंत तक लोगों में यह ख्याल बड़ा मजबूत सा हो गया था कि हम बिना सरकार के

रही नहीं सकते। पर ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों हमारे जीवन और लोगों के विचारों में भी परिवर्तन होता जा रहा है। अब तो संसार की सरकारें भले ही लोगों को उस अस्वाभाविक और बच्चों को सी अवस्था में रखने का प्रयत्न करें जिसमें कि एक दुखी आदमी किसी न किसी से शिकायत करने की सुविधा को अच्छी समझता है। उसी प्रकार लोग—खासकर यूरोप और रूसके श्रमजीवी लोग भी अब इस बचपन से पार हो रहे हैं और अपनी दुर्दशा का यथार्थ कारण समझने लग गये हैं।

आज कल कई लोग शासकों से कहते हैं:—

"क्या आपका यह कहना है कि यदि आपका यहां राज्य न हो तो पड़ौसी राष्ट्र मसलन जापान या चीन हमें अपने अधीन कर लेंगे? पर यह हो कैसे सकता है। हम रोज तो अखबारों में पढ़ते हैं कि कोई हम पर आक्रमण करने के लिए नहीं आ रहा है। केवल आप ही हम पर राज्य कर रहे हैं। क्यों? इसका कारण हम नहीं जानते। पर हां, आप हमें आपस में लड़ा कर दिन-बदिन अधिक बुरा बनाते जा रहे हैं। फिर अपने लोगों की रक्षा के बहाने फौज, दर्याई बेड़ा, सैनिक रेलें आदि के लिए नये नये कर लगा कर हमें और भी अधिक बरबाद किये डालते हैं। पर असल में ये सब चीजें आप अपने दम्भ और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए बनाते हैं और बाद में अन्य राष्ट्रों से युद्ध छेड़ते हैं जैसा कि आपने इस समय शांतिप्रिय चीन के साथ युद्ध छेड़ रक्खा है। आपका कहना है कि आप हमारे ही लाभ के लिए जमीन के स्वामित्व की रक्षा करते हैं। पर

यही न आपकी इस दया का नतीजा होता है कि तमाम जमीनें रुपयों का सूद खानेवाली कम्पनियों के हाथों में, जो कभी परिश्रम नहीं करतीं, चली गई हैं या तेजी से जा रही हैं और हम— अर्थात् देश के असंख्य किसान निराधार बनाये जा रहे हैं— उन काहिलों के गुलाम बनाये जा रहे हैं। आप अपनी सत्ता के बल पर जमीन के स्वामित्व की रक्षा नहीं करते, बल्कि आप तो जमीनों को उन गरीबों से छीनते जा रहे हैं जो उन पर परिश्रम कर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। आपका कहना है 'हम प्रत्येक मनुष्य को उसके अपने परिश्रम के फल का उपभोग करने देते हैं।' पर करते हैं आप इसके ठीक विपरीत। दोहाई है आपकी इस सरकार की और उसकी करतूतों की जिसकी बदौलत हम काम करने वालों को, अच्छी अच्छी कीमती चीजें पैदा करने वालों को कभी अपने परिश्रम का पूरा फल नहीं मिल पाता बल्कि जीवन भर उन काहिलों की अधीनता और गुलामी में ही सड़ना पड़ता है।"

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में यूरोप के श्रमजीवियों की यह मनोदशा थी। और इधर इधर तो वे उस निद्रा से—जिसमें कि सरकारों ने उन्हें डाल रक्खा है—बड़ी तेजी से जाग रहे हैं। पिछले पांच-सात वर्षों में यूरोप और अमेरिका के शहरों और देहात में ही नहीं बल्कि रूस के देहात के लोगों तक में अपूर्व जागृति की लहर फैल गई है।

लोग कहते हैं कि बिना सरकारों के समाज को वे आवश्यक संस्थायें कैसे नसीब होंगी जिनके द्वारा वह अपने बच्चों को सुशिक्षित कर सकता है, जो उसके सार्वजनिक जीवन को उन्नत बना सकती हैं।

पर हम ऐसा क्यों मान लें ? यह सोचने के लिए हमारे पास क्या आधार है कि गैर सरकारी लोग अपने लिए भी उतनी अच्छी संस्थायें निर्माण न कर सकेंगे या उनका संचालन इतनी अच्छी तरह न कर सकेंगे जितनी कि सरकारी अधिकारी दूसरों के लिए करते हैं।

इसके विपरीत इस जमाने में हमें तो बल्कि यह अनुभव हो रहा है कि कितनी ही बातों में गैर सरकारी लोग अपने जीवन को सरकारी लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह चलाते हैं। सरकार से ज़रा भी सहायता न लेते हुए और कहीं कहीं तो सरकार के बार बार हस्तक्षेप करने पर भी लोग कई प्रकार के सामाजिक कार्य और संस्थायें उत्तम रीति से निबाहते आ रहे हैं। श्रमजीवियों की संस्थायें, सहयोग-संस्थायें, रेलवे कम्पनियां, और कितनी ही कला-पोषक तथा शिक्षा-संस्थायें इसका जीता जागता प्रमाण हैं। यदि सार्वजनिक कार्यों के लिए सार्वजनिक कोष या चन्दे की आवश्यकता है और वह सचमुच एक परोपकारी, उपयोगी कार्य है तो हम क्यों समझ लें कि स्वाधीन लोग बिना किसी बलप्रयोग के ऐसे काम के लिए चन्दा न देंगे ? हम क्यों समझें कि बिना बलप्रयोग के अदालतें चल ही नहीं सकतीं। वादी और प्रतिवादी जिनपर विश्वास करते हैं ऐसे पंचों द्वारा न्याय प्राप्त करने की प्रथा नई नहीं है। और न उसके लिए बलप्रयोग की ही आवश्यकता है। लंबी गुलामी के कारण हम इतने पतित हो गये हैं कि हम ऐसी शासन-संस्थाओं की कल्पना ही नहीं कर सकते जिनमें बल का प्रयोग न किया जा रहा हो। फिर भी यह सत्य नहीं। रूस की कितनी ही

जातियां जो दूर दूर के प्रदेशों में बसने को चली जाती हैं, जहां हमारी सरकार उनके कार्यों में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करती, अपना कारोबार बिना ही बल के प्रयोग के कर रही हैं। वे कर वसूल करती हैं, उनकी अपनी शासन संस्थायें हैं। अदालतें पुलिस आदि सब हैं। और जब तक सरकारें उनमें हस्तक्षेप नहीं करतीं, बराबर तरक्की करती जाती हैं। उसी प्रकार यह मान लेने के लिए भी हमारे पास कोई कारण नहीं कि लोग सब सम्मति से यह प्रश्न हल नहीं कर सकेंगे कि समाज की आवश्यकताओं के लिए किसे कितनी जमीन दी जाय।

मैं ऐसी जातियों को जानता हूं—मसलन उरल की कोसाक जाति —जो जमीन को खानगी सम्पत्ति मानती ही नहीं। फिर भी उनके समाज में ऐसी व्यवस्था और समृद्धि है जो हमारे सुधरे हुए समाज में, जहां जमीन के स्वामित्व की रक्षा बलप्रयोग से की जाती है, नहीं पाई जाती। मैं ऐसी भी जातियों को जानता हूं जिनमें खानगी सम्पत्ति जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। यह तो मेरी जानकारी की बात है कि रूस के किसान जमीन के स्वामित्व की कल्पना को भी मंजूर नहीं करते थे। जमीन के स्वामित्व का सरकारी सत्ता के द्वारा समर्थन उस स्वामित्व के कलह को मिटाता नहीं बल्कि और भी उग्र कर देता है, और कहीं कहीं तो उसे उत्पन्न भी कर देता है।

यदि जमीन के स्वामित्व की इस तरह रक्षा नहीं की जाती और फलतः जमीनों की कीमत भी बढ़ नहीं जाती तो लोग कभी आज जैसे तंग जगहों में रहना पसंद न करते। वे तमाम संसार भर में फैल जाते और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते।

अब भी संसार में काफी जमीन है, पर यहां तो जमीन के लिए एक सा युद्ध जारी रहता है। और सरकार अपने जमीन के स्वामित्व सम्बन्धी कानूनों के रूप में जनता को इस युद्ध में लड़ने के लिए शस्त्रास्त्र देती रहती है। और इस युद्ध में फायदा किसका होता है ? उनका नहीं जो उसपर मजदूरी करते हैं, बल्कि फायदा तो वे उठाते हैं जो काहिल लोग सरकार के साथ बलप्रयोग में हाथ बँटाते हैं।

यही बात परिश्रम से उत्पन्न होने वाली चीजों के विषय में समझिए। जिन चीजों को मनुष्य अपने परिश्रम से बनाता है, जिनकी उसे सचमुच आवश्यकता है, उनकी रक्षा तो समाज करेगा, लोकमत करेगा, न्याय और पारस्परिक समता की भावना करेगी, उसकी रक्षा के लिए बलप्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी।

एक ही मालिक के पास हजारों लाखों एकड़ परती की जमीन और जंगल पड़ा हुआ है और उसके पड़ोस ही में हजारों गरीब किसान जलाऊ लकड़ी के लिए मारे मारे फिरते हैं। ऐसी जगह जरूर बल प्रयोग द्वारा उस मालिक के स्वामित्व की रक्षा करनी पड़ेगी। उसी प्रकार उन कल-कारखानों की रक्षा भी बल प्रयोगसे ही करनी होगी जहां मजदूरों की कई पुश्तें ठगती चली आई हैं और अब भी ठगी जाती हैं। उससे भी अधिक ऐसी रक्षा की आवश्यकता होगी उस साहूकार को जो लाखों मन नाज अपने कोठों में इसलिए भर रखता है कि अकाल के समय इसे वह तिगुनी कीमत में बेच सके। पर पूंजीपति और सरकारी अफसर को छोड़ आपको एक भी इतना निर्दय और अधम आदमी न मिलेगा जो एक श्रमजीवी किसान से उसकी फसल को

या बच्चों के लिए दूध देने वाली उसकी पाली हुई गायको अथवा उसके हल, बक्खर या हंसिया को, जिससे कि वह काम कर अपना पेट पालता है, ले ले। पर मान लीजिए कि यदि कोई आदमी दूसरे से ऐसी काम की वस्तुयें जबरदस्ती छीन भी ले, तो उसके इस कार्यसे समाज में इतना रोष उत्पन्न हो जायगा कि उस आततायी के लिए उन वस्तुओं को अपने पास रख छोड़ना भी कठिन हो पड़ेगा। पर वही आदमी जब देख लेगा कि उसके इन कार्यों का समर्थन करने वाली, समाज के पुण्यप्रकोप से उसकी रक्षा करने वाली एक सुसंगठित हिंसा-संस्था है तब तो वह जरूर ही ऐसे ऐसे काम और भी अधिक निर्भय हो कर करेगा।

कई लोग कहते हैं कि जमीन के स्वामित्व के अधिकार को जरा नष्ट तो करके देखिएगा, परिश्रम के फलाधिकार को जरा शिथिल तो कीजिए, कि आपको उसी क्षण मालूम हो जायगा कि इसका क्या नतीजा निकलता है। कोई परिश्रम करने का कष्ट न उठावेगा। किसीको यह विश्वास नहीं रहेगा कि आज जो चीज उसके पास है वह कल भी उसके पास बनी रहेगी या नहीं। पर हम इसका उत्तर यों देंगे। बड़ी- बड़ी जायदादें नीति-पूर्वक इकट्ठी नहीं की जातीं। जायदाद की बलपूर्वक रक्षा करने की प्रथा ने जनता के इस विवेक को यदि नष्ट नहीं तो बेहद कमजोर तो जरूर कर दिया है कि मनुष्य किस चीज का उपयोग कितना करे। इस घृणित प्रथा ने मनुष्य के स्वाभाविक सांपत्तिक अधिकार को, जिसके बिना समाज का जीवन असंभव है, जो अब भी लोक हृदय में कुछ अंशों में वर्तमान है, बिलकुल कमजोर बना दिया है।

अतः यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं कि बिना सुसंगठित बलप्रयोग की सहायता के हम अपना जीवन भलीभांति नहीं चला सकेंगे।

हां, यह कहा जा सकता है कि घोड़ों और बैलों से विवेकवान् मनुष्य प्राणी बलप्रयोग द्वारा काम ले सकता है। पर मनुष्य अपने ही जैसे दूसरे मनुष्यपर बल प्रयोग क्योंकर कर सकता है ? क्यों मनुष्य सत्ताधिकारियों के बलप्रयोग का शिकार हो ? इस बात का क्या प्रमाण है कि सत्ताधिकारी उन लोगों की अपेक्षा अधिक सुज्ञ हैं जिनपर कि वे बल का प्रयोग करते हैं ?

केवल यही बात उन लोगों की बुद्धिहीनता का परिचय देती है कि वे अपने ही जैसे मनुष्यों पर बल का प्रयोग करते हैं। अत्याचार सहने वालों की अपेक्षा अत्याचार करने वाले अधिक बुद्धिहीन हैं। चीन में 'मन्दारिन' पद के लिए होने वाली परीक्षाओं से यह सिद्ध नहीं होता कि अच्छे से अच्छे और होशियार आदमियों को सत्ताधीश बनाया जाय। परम्परागत विरासत अथवा पदवृद्धि की योजना, या सुसंगठित देशों की चुनाव-प्रणाली भी हमें इस बात का यकीन नहीं दिलाती कि इन विभिन्न रीतियों से सत्ता प्राप्त करने वाले निश्चय ही होशियार और भले आदमी होते हैं। इसके विपरीत यह एक सिद्धान्त है कि वे ही लोग प्रायः सत्ता को शीघ्र धारण कर लेते हैं जिनमें विवेक और नीति की मात्रा कम होती है।

कोई प्रश्न करता है—लोग बिना सरकार के—बिना बलप्रयोग के जी कैसे सकते हैं ? पर इसके विपरीत सवाल तो यह

होना चाहिए कि विवेकवान् लोग उचित सामञ्जस्य को छोड़ हिंसा को अपने सामाजिक जीवन का आवश्यक अंग कैसे माने हुए बैठे हैं और अबतक जी रहे हैं ?

केवल दो बातें हो सकती हैं, या तो लोग विवेकशील हैं या अविवेकशील। यदि वे अविवेकशील हैं तो फिर सभी ऐसे हैं और प्रत्येक बात का निपटारा हिंसा के द्वारा होना जरूरी है। फिर कोई कारण नहीं कि कुछ लोगों को बलप्रयोग का अधिकार मिले और दूसरों को नहीं। उस हालत में सरकारी हिंसा के लिए स्थान ही नहीं है। यदि मनुष्य विवेकशील हैं तो उनके सभी कार्य्यों में विवेक को प्रधानता मिलना जरूरी है। फिर उन लोगों की इच्छा को कोई महत्त्व न मिलना चाहिए जो थोड़ी देर के लिए सत्ता को अपने हाथ में धारण कर लेते हैं। उस हालत में भी सरकारी हिंसा के लिए कहीं स्थान नहीं रह जाता।

सरकारें कैसे उठाई जायँ ?

गुलामी की जड़ कानून है। कानूनों के बनाने वाली सरकारें हैं। अतः केवल सरकारों को नष्ट करने ही से लोग इस गुलामी से मुक्त किये जा सकते हैं।

पर सरकारें नष्ट कैसे की जायँ ?

अब तक हिंसा द्वारा सरकारों को नष्ट करने के लिए जितने प्रयोग और प्रयत्न किये गये उनका यही फल हुआ है कि पदच्युत सरकारों के स्थान पर पहले से भी अधिक भीषण सरकारें स्थापित हो गई हैं।

भूतकाल में इस तरह के जो प्रयत्न हुए हैं, उनका जिक्र मैं नहीं करता। साम्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार पूंजीपतियों के राज्य का विनाश, उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना, और संसार में एक नवीन अर्थव्यवस्था का निर्माण भी हिंसात्मक संगठन के बल पर ही स्थापित होने को है और उसी उपाय द्वारा उसकी रक्षा—संचालन भी होगा। अतः हिंसा के बल पर हिंसा का उच्चाटन न तो कभी भूतकाल में हुआ है, न भविष्य में कभी हो सकता है। अतः गुलामी का अंत भी कभी हिंसा के द्वारा नहीं हो सकता है।

बस, इसे ब्रह्मवाक्य समझिए।

बदला और गुस्से को छोड़ कर बल का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब हम किसी से कोई काम उसकी इच्छा के खिलाफ कराना चाहते हैं। पर अपनी इच्छा के प्रतिकूल दूसरे की मनमानी करने की अनिवार्य अवस्था ही का नाम गुलामी है। अतः जब तक मनुष्य की इच्छा के खिलाफ उससे काम लेने के लिए हिंसा का प्रयोग होता रहेगा, गुलामी भी अवश्य ही बनी रहेगी।

हिंसा द्वारा गुलामी को नष्ट करने का उद्योग मानो आग से आग बुझाने का, पानी से पानी रोकने का या एक गड्डे को भरने के लिए दूसरा गडढा खोदने का यत्न करना है।

अतः यदि संसार से हमें गुलामी नष्ट करना है तो इसका उपाय हमें नवीन प्रकार की हिंसा की स्थापना में नहीं मिल सकता। इसके लिए तो उन कारणों को हमें सब से पहले नष्ट करना चाहिए जो सरकारी हिंसा के लिए अनुकूलतायें उत्पन्न कर देते हैं। सरकारें जो हिंसा कर सकती हैं अथवा अन्य अल्पसंख्यक लोग भी जो अधिक लोगों पर हिंसा अथवा बल का प्रयोग कर सकते हैं उसका कारण यही है कि वे अल्प (संख्यक) लोग पूरी तरह सशस्त्र हैं और ये बहुसंख्यक लोग या तो बिलकुल निःशस्त्र हैं या उनके पास बहुत थोड़े शस्त्र हैं।

संसार में जितने देशों की स्वाधीनता का हरण हुआ है सब इसी तरह। यूनानी और रोम के विजेताओं ने इसी तरह दूसरे देशों को पादाक्रान्त किया था। इसी तरह इंग्लैंड के विजेता पहले विलियम ने भी किया था। पिजारो को भी इसी कारण विजय

मिली और आज आफ्रिका और एशिया के निवासियों की स्वाधीनता भी इसी तरह हरण की जा रही है। शान्ति के समय भी सभी सरकारें इसी प्रकार अपने अधीनस्थ लोगों को दबाये रखती हैं।

पहले की तरह अब भी एक जाति दूसरी जाति पर इसी लिए राज्य कर सकती है कि एक सशस्त्र है और दूसरी निःशस्त्र।

पुराने जमाने में क्या होता था ? अपने अगुआओं की सरदारी में लड़ाका लोग निहत्थे अरक्षित देश-निवासियों पर टूट पड़ते थे, उनको दीन बना देते और उन्हें लूट लेते थे। लूट का माल सब अपने अपने साहस और निर्दयता के हिसाब से आपस में बांट लेते थे। प्रत्येक लड़ाका जानता था कि वह हिस्सा उसके लिए फायदेमन्द है। अब क्या हो रहा है ? श्रमजीवियों में से कुछ लोगों को चुन कर शस्त्र और तनख्वाहें दी जाती हैं। ये अरक्षित लोगों पर हमला करते हैं, हड़तालियों पर गोलियां चलाते हैं, बलवाखोरों पर तोपें चलाते हैं, दूसरे देश के निवासियों पर चढ़ाइयां कर उन्हें जीतते हैं और लूटते हैं और अपने परिश्रम का फल देने के लिए उन्हें मजबूर करते हैं। और यह सब करते किस लिए हैं ! अपने खुद के लिए नहीं, बल्कि उन लोगों के लिए जो केवल दूर से यह सब तमाशा देखते रहते हैं, जो अपनी जान को जरा भी जोखिम में नहीं डालते।

विजेता और सरकारों के बीच फर्क सिर्फ इतना ही है कि विजेता अपने सिपाहियों को साथ ले कर स्वयं अरक्षित लोगों पर हमला करते थे। यदि ये कुछ प्रतिकार करते या किसी प्रकार उनके अधीन होने से इन्कार करते तो वे अपनी धमकियों को

सत्ता कर उन्हें नाना प्रकार की यंत्रणाओं में डालते, उन्हें तलवार के धार उतारते या फांसी पर लटका देते थे। सरकारें यह सब खुद नहीं करतीं। जब कोई इनके अधीन होने से इन्कार करते हैं, तब उन स्वाधीनता-प्रिय निःशस्त्र लोगों को ये सरकारें स्वयं नहीं मारतीं, या फांसी पर लटकातीं। वे यह काम दूसरों से करवाती हैं, जिनको धोखा दे कर वे खास कर इसी काम के लिए पशुवत् बनाये रखती हैं और जिनको वे विशेष कर उन्हीं लोगों में से चुनती हैं जिनपर कि वे अत्याचार करना चाहती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले हिंसा का प्रयोग व्यक्तिगत प्रयत्न था, विजेताओं के साहस, निर्दयता, चपलता के द्वारा होता था। पर अब वह कपट-व्यवहार के द्वारा होता है।

अतः पुराने जमाने की हिंसा के प्रतिकार के लिए यह आवश्यक था कि शस्त्र-बल का प्रतिकार शस्त्र-बल के द्वारा ही किया जाय। पर अब वह बात नहीं रही। देश और जातियां प्रत्यक्ष हिंसा द्वारा नहीं, कपट-व्यवहार से जीती जा रही हैं इस लिए अब इस हिंसा को रोकने के लिए हमें उस कपट की ही कलई खोल देनी चाहिए जो थोड़े से सशस्त्र लोगों को अधिकांश लोगों पर हिंसा का आतंक जमाये रखने में सहायता करता है।

इस कपट-व्यवहार का मूल यह है—वे अल्पसंख्यक लोग जो अपने पूर्वज विजेताओं से परम्परा द्वारा विरासत में सत्ता प्राप्त करते हैं, बहुसंख्यक लोगों से कहते हैं आप लोग संख्या में हैं बहुत ज्यादह, पर आप मूर्ख और अशिक्षित हैं। आप न तो अपना शासन कर सकते हैं और न कोई समाजोपयोगी कार्य ही करने की योग्यता रखते हैं। इसलिए इन सब चिन्ताओं का भार

हम लोग अपने सिर पर ले लेते हैं। हम आपको विदेशी शत्रुओं से भी बचावेंगे और देश की भीतरी शासन-व्यवस्था भी संभाल लेंगे। न्याय के लिए अदालतें खोल देंगे, उनका आपकी तरफ से काम-काज भी हमीं चला लेंगे। आपकी सार्वजनिक संस्थायें पाठशालायें, सड़कें और डाक वगैरह की देख-भाल भी हमीं कर लेंगे। आपके फायदे की जितनी भी चीजें हैं हम उन सब का संचालन आपके लिए करते रहेंगे। इसके बदले में आपको केवल हमारी कुछ छोटी-छोटी मांगें पूरी करनी होंगी। एक तो आपको अपनी आय का एक छोटा सा हिस्सा इन सब बातों के खर्च के लिये पूर्णतया हमारे अधिकार में दे देना होगा और दूसरे आपमें से कुछेक लोगों को सेना में काम करना होगा जो आपकी अपनी रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। और अधिकांश लोग इसे स्वीकार कर लेते हैं। इसके लाभ-हानि का पूरा विचार करके नहीं—इसका तो उन्हें कभी पूरा मौका ही नहीं मिलता—बल्कि महज इसी लिए कि वे जन्मतः ही अपने आपको इस परिस्थिति में पाते हैं।

कहीं कभी किसी के दिल में इसके विषय में संदेह उत्पन्न भी होता है तो वह केवल अपने ही विषय में विचार करके रह जाता है। और सोचता है कि यदि इन बातों से मैं इनकार करूंगा तो मुझे बहुत हानि उठानी पड़ेगी। प्रत्येक आदमी इन शर्तों का अपने फायदे के लिए उपयोग करने की आशा रखता है। वह सोचता है कि सरकार को अपनी आय का एक छोटा सा हिस्सा दे देने और सेना में नौकरी करना स्वीकार कर लेने से मेरी बहुत भारी हानि नहीं होगी।

पर सरकारों के हाथों में पैसा और सिपाही आए नहीं और वे अपने वचनों को भूला नहीं। प्रजा-जनों की रक्षा और कल्याण का विचार छोड़ वे पड़ोसी राष्ट्रों को सताने का मौका ढूंढ़ कर कोई लड़ाई सुलगाने की ताकमें बैठी रहती हैं। प्रजा के सच्चे कल्याण की बात तो दूर रही, पर वे उसे उल्टा बरबाद और पतित करती हैं।

आरब्योपन्यास (Arabian Night) में एक मजेदार कहानी है। एक बटोही था। दुर्भाग्यवश वह एक निर्जन द्वीप में छोड़ दिया गया। वहां उसे एक झरने के पास एक बूढ़ा मनुष्य बैठा हुआ दिखाई दिया। बूढ़े के पैर बहुत दुबले-पतले और कमजोर दिखाई देते थे। बूढ़े ने बटोही से प्रार्थना की कि भाई! जरा मुझे अपने कंधे पर बिठा कर इस नाले के उस पार ले चलो तो आपका बड़ा कल्याण होगा। पथिक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसे अपने कंधे पर ले लिया। ज्योंही बूढ़े ने देखा कि मैं पथिक के कंधे पर अच्छी तरह बैठ गया हूं उसने अपने पैरों के बीच पथिक की गर्दन को जोर से धर दबाया। बूढ़ा उसे किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता था। अब वह ऊपर बैठे बैठे उस पथिक को मनमाना इधर-उधर अपने घोड़े की तरह हांकने लगा। पेड़ों से पके पके फल तोड़ तोड़ कर पथिक को बिना दिये ही आप खाने लगा। और उस बेचारे को तरह तरह की गालियां देने लगा।

धन (कर) और जन (सिपाही) के द्वारा सरकारों की सहायता करने वालों की भी ठीक यही हालत है। इस धन से सरकारें तोपें खरीदतीं—बनवाती हैं और किराये के सिपाही, जो

केवल पशु होते हैं, तैयार करती हैं, हृदयहीन, गुलामवृत्तिवाले सेनानायक निर्माण करती हैं। और ये सेनानायक वरसों, युगों तक उन सिपाहियों को पशु-जीवन की तालीम दे दे कर उनकी ऊंची और कोमल भावनाओं को नष्ट कर डालते हैं। जब इस तरह वे सब तैयार हो जाते हैं तब कहा जाता है कि सेना उत्तम प्रकार की तालीम पाकर तैयार हो गई। इस तालीम के मानी मनुष्य को पशु बनाना है—जो लोग इस तालीम को कुछ समय तक प्राप्त करते हैं और उसकी अधीनता में रहते हैं वे मानव-जीवन में जो कुछ भी श्रेष्टता है उससे हाथ धो वैठते हैं और अपनी स्वतन्त्र विवेचन-शक्ति को खो वैठते हैं तथा मनुष्यों को मारने वाले यन्त्रों की भांति अपने अफसरों के इशारे पर प्रत्येक काम विना विचारे करने लग जाते हैं। आधुनिक सरकारों की इस धोखेबाज़ी का किला यही तालीमयाफ्ता फौजें हैं जिनके द्वारा वे दूसरे देशों की स्वाधीनता को हरण करती हैं। इन फौजों की अपनी इच्छाशक्ति तो होती ही नहीं। अतः अब उनके हाथों में हिंसा और हत्या का यह भीषण शस्त्र होता है, तब पशु-वल द्वारा देश को वे फौरन् अपनी अधीनता में कर लेती हैं। और एक वार किसी देश या जाति की स्वाधीनता का अपहरण कर लेने पर फिर ये सरकारें उसे छोड़ने भी क्यों चलीं ? तब तो ये उन्हें अपना शिकारगाह सा बना लेती हैं। धर्म और स्वदेश-प्रेम की झूठी शिक्षा दे दे कर उनकी वुद्धि को भ्रष्ट करती हैं। और ये सरकारें जो लोगों को गुलाम बना कर उन्हें नाना प्रकार की यन्त्रणाओं में डालती हैं, अपने प्रति स्वामिभक्ति की शिक्षा दे उन वेचारे विजितों को और भी खराबी करती हैं।

समझती हैं, वह एक बड़ा से बड़ा जुर्म है जो कि मनुष्य-प्राणी कर सकता है। सरकारों के दुष्ट हेतु का वह यथार्थ परिचय देता है।

इस फौजी तालीम के मानी हैं मानव-बुद्धि और स्वाधीनता का गला घोंटना। वह आदमी को पशु से भी गयाबीता बना देती है। फौजी तालीम में बढ़ा आदमी ऐसे ऐसे बुरे काम कर डालता है जो मामूली आदमी कभी नहीं कर सकता। वह तो राष्ट्रीय और रक्षात्मक युद्धके लिए भी अनावश्यक है। बोअरों ने इस बात को अभी अभी सिद्ध करके दिखा दिया है। उसकी आवश्यकता तो केवल उन भीषण हत्याकांडों के लिए ही होती है जो अपने भाई-बन्दों और देश भाइयों को मारने के लिए होते हैं, जैसा कि दूसरे विलियम ने बता दिया है।

ये सरकारें उस पथिक के कन्धे पर बैठने वाले भयंकर बूढ़ेके जैसा ही बरताव कर रही हैं। बूढ़े ने उस पथिक का उपहास किया, अपमान किया, क्योंकि वह जानता था कि जब तक मैं इसके कन्धे पर सवार हूं यह मेरे ही अधीन है।

सरकारें भी ठीक यही जघन्य व्यवहार कर रही हैं। नालायक आदमियों के ये छोटे छोटे दल जिनका नाम 'सरकारें' हैं और जो राष्ट्रों और जातियों पर अपना आतंक फैलाये हुए हैं, ये जनता को महज लूट लूट कर अधिक गरीब ही नहीं बनाते बल्कि एक और भी सब से बड़ा पाप करते हैं। बचपन से देश की सन्तति की बुद्धि में कुसंस्कार डाल डाल कर उनकी मति को ही पलट देते हैं। इन सरकारों को और उनसे उत्पन्न होने वाली गुलामी को नष्ट करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इनकी इस मक्कारी को हम सब पर जाहिर कर दें।

यूजेन स्कमिट नामक किसी जर्मन लेखक ने बुडापेस्ट के एक 'ओन स्टाट' नामक अखबार में एक लेख लिखा था, जिसके भाव और भाषा दोनों सत्य और साहसपूर्ण थे। अपने अधीनस्थ लोगों को सुरक्षितता का आश्वासन देने वाली सरकारों की तुलना उसने काला ब्रियन नामक एक डाकूराज से की थी। काला ब्रियन उसके प्रदेश में से प्रवास करने वाले पथिकों से कहता, "यदि कुशलपूर्वक प्रवास करना चाहते हो तो इतने रुपये यहां रख दो। स्कमिट पर उस लेख के लिए मुकदमा चलाया गया था; पर ज्यूरी ने उसे दोष-मुक्त कर छोड़ दिया।

इन सरकारों ने हमारी बुद्धि को इस तरह चक्कर में डाल रक्खा है कि यह तुलना भी हमें एक अतिशयोक्ति, एक पहेली, एक मज़ाक सी मालूम होती है। पर यथार्थ में यह पहेली या मजाक नहीं है। अगर इस तुलना में कोई दोष है तो वह यही है कि इन सरकारों की करतूतें उस काला ब्रियन डाकूराज की करतूतों से कई गुनी अधिक अमानुष और हानिकर हैं। वह डाकू तो अक्सर धनिकों को ही लूटता था पर ये सरकारें अक्सर गरीबों को ही लूटती हैं, और धनवानों में भी उन्हीं की रक्षा करती है जो इन अपराधों में उसकी सहायता करते हैं। डाकू यह सब करते हुए अपनी जान को जोखिम में डालता था, पर ये सरकारें तो तनिक भी जोखिम नहीं उठातीं, इनकी तमाम करतूतें धोखेबाज़ीसे भरी हुई हैं। डाकू किसी को अपने दल में शामिल होने के लिए मजबूर नहीं करता था, पर ये सरकारें तो लोगों को सिपाही बनने के लिए मजबूर भी करती हैं। डाकू को जो लोग कर देते थे, सब को एक सी सुरक्षितता का काम मिलता था; पर इन सर-

कारों के राज्य में तो जितना ही कोई उनकी इस सुसंगठित धोखेबाजी में सहायता करता है उतनी ही उसे केवल सुरक्षितता ही नहीं बल्कि इनाम इकराम भी मिलते हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि बादशाह, राजा, और राष्ट्रपति आदि की (मय उनके शरीर-रक्षकों के) रक्षा की जाती है। और वे ही उस धन का सब से बड़ा हिस्सा खर्च कर सकते हैं जो करों के रूप में लोगों से इकट्ठा किया जाता है। सरकारों के इन अपराधों में शरीक होने वाले इनसे दूसरे नम्बर में हैं—सेनानायक, मन्त्री, पुलिस विभाग के प्रधान कर्मचारी, और गवर्नर से लेकर पुलिस के मामूली से मामूली सिपाही तक जो सब से कम सुरक्षित और सब से कम तनख्वाह पाते हैं। इधर जो सरकारों के अत्याचारों और अपराधों में उनका साथ नहीं देते, उनकी नौकरी करने, कर देने, अदालतों में जाने, आदि से इनकार करते हैं, उनपर हिंसा का प्रयोग किया जाता है, जैसा कि डाकू लोग करते हैं। डाकू जान बूझ कर लोगों में दुर्गुणों का प्रचार नहीं करते, पर सरकारें अपना मतलब साधने के लिए बचपन से लेकर बड़े होने तक लोगों में झूठे धार्मिक और मूर्खतापूर्ण स्वदेश-प्रेम के संस्कारों को भर भर कर बिगाड़ती रहती हैं। पर यह तो कुछ नहीं के बराबर है। निर्दय से निर्दय डाकू—स्टेंका रजीन और कार्टूक की भी इन दुष्ट सरकारों की दुष्टता, निर्दयता, और यन्त्रणायें देने के नवीन नवीन तरीके ढूंढ़ने की शक्ति के साथ तुलना नहीं की जा सकती। उस भयंकर जॉन, ग्यारहवें लुई, और एलिजाबेथ के जमाने के महादुष्ट राजाओं की तो मैं बात ही नहीं करता हूं। मैं तो हमारी इन सुधरी हुई सुव्यवस्थित 'उदार' चेता सरकारों की बात कह

उपेक्षायोग्य नहीं हैं। इनके मानी हैं सरकारों के द्वारा अविरत होने वाले और तालीमयाफ्ता फौजों की सहायता से आगे किये जाने वाले पापों में प्रत्यक्ष सहायता करना—स्वयं अपने भाइयों और बहनों के विनाश में सहायक होना।

भले ही सरकारें अपनी स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए लोगों की बुद्धि में भ्रम डालती रहें, अब उनकी भक्ति और आदर का ज़माना तेजी से बीत रहा है। लोगों को अब यह जान लेने का समय आ गया कि सरकारें न केवल अनावश्यक हैं बल्कि हानिकर और अत्यन्त अनीतियुक्त संस्थायें हैं, जिनकी करतूतों में एक प्रमाणिक और स्वाभिमानी मनुष्य कभी भाग नहीं ले सकता और न उसे लेना ही चाहिए। वह न कभी उनसे होने वाले फायदों का लाभ ही उठा सकता है और न उठाना ही चाहिए।

ज्यों ही लोग इस कथन की यथार्थता को समझ लेंगे त्यों ही वे स्वभावतः ऐसे कार्यों में भाग लेना अर्थात् सरकारों को सिपाही और धन द्वारा सहायता करना, बंद कर देंगे। और जनता के अधिकांश हिस्से ने उन्हें सहायता देना बद किया नहीं कि वह धोखेबाजी, जो लोगों को गुलाम बनाये हुए है, नष्ट हुई नहीं।

लोगों को गुलामी से मुक्त करने का यही एकमात्र उपाय है।

———————

समर्थन कर प्रतिष्ठित कर देना चाहते हैं। यही बुराई है। बस यही उन्हें बन्द कर देना चाहिए।

श्रमजीवी लोगों की बुद्धि भी इस गुलामी से ऐसी भ्रष्ट हो गई है कि यदि उनको अपनी स्थिति खराब मालूम होती है तो वे सोचते हैं कि यह तो उनके मालिकों का दोष है जो उन्हें बहुत कम वेतन देते हैं और उत्पादक साधन अपने हाथों में रखते हैं। उन्हें कभी यह नहीं सूझता कि उनकी दुर्दशा का कारण स्वयं वेही हैं, न उन्हें यही सूझता है कि यदि वे अपना, अपने भाइयों का भला चाहते हैं तो केवल उन्हें अच्छे से अच्छे काम करने चाहिए बल्कि पहले स्वयं ही इस बुरे काम को छोड़ देना चाहिए जिससे उनकी इतनी दुर्दशा हो रही है। कैसा आश्चर्य है कि वे उन्हीं बातों के द्वारा अपनी आर्थिक अवस्था सुधारना चाहते हैं कि जिसके कारण वे इस गुलामी में फंस गये हैं। श्रमजीवी अपनी बुरी आदतों से लाचार हो अपनी मनुष्यता और स्वाधीनता को तिलांजलि देकर, नीच अनीतियुक्त नौकरियां करते फिरते हैं। अथवा अनावश्यक और हानिकर चीजें बनाते फिरते हैं। सब से बुरी बात यह है कि कर वगैरा दे कर या प्रत्यक्ष नौकरी करके वे सरकारों को चलाते हैं और अपनी स्वाधीनता को भी खोकर गुलाम बनते हैं।

यदि हम अपनी दशा सुधारना चाहते हैं तो श्रमजीवी तथा संपन्न वर्ग को भी यह जान लेना चाहिए कि केवल अपने अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखने ही से काम न चलेगा। सेवा त्याग पर निर्भर है। अतः लोग यदि सचमुच केवल अपना ही नहीं वरन् अपने भाइयों का भी कल्याण चाहते हैं तो उन्हें वह जीवनशैली

छोड़ देनी चाहिए जिसके कि वे अबतक आदी बने हुए हैं। इतना ही नहीं बल्कि अब तक उन्हें जो लाभ हो रहे थे उनको भी तिलांजलि देने को उद्यत हो जाना चाहिए। उन्हें तैयार हो जाना चाहिए एक भीषण युद्ध के लिए - सरकारों के खिलाफ नहीं, अपने और अपने प्रियजनों की कमजोरियों की अपूर्णताओं के खिलाफ और सरकार की आज्ञाओं की अवज्ञा के पुरस्कार में जो जो भी कठिनाइयां आवें उनका सामना करने के लिए।

इसलिए इस प्रश्न का उत्तर कि हमें क्या करना चाहिए? अजहद सरल और निश्चित है। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के लिए अधिक से अधिक योग्य और व्यवहार्य है। पर स्मरण रहे कि वह ठीक वैसा नहीं जैसा कि संपन्न वर्ग और श्रमजीवी अपेक्षा करते हैं। सम्पन्न लोग समझते हैं कि हम तो दूसरों की गलतियां सुधारने के लिए ही नियुक्त हुए हैं, (अपनी नहीं, क्योंकि अपने को तो वे पहले ही से सर्वगुणसम्पन्न मान लेते हैं)। उधर श्रमजीवी सोचते हैं, नहीं उनको यकीन है कि उनकी इस दुरवस्था का कारण स्वयं वे नहीं (बल्कि पूंजीपति) हैं। वे सोचते हैं कि हमारी हालत तो तभी अच्छी हो सकती है जब हम पूंजीपतियों से वे सब वस्तुयें ले लें जिनका उपयोग वे कर रहे हैं और किसी प्रकार ऐसा नियम कर दें जिससे आज जो सुविधायें केवल धनिकों को ही नसीब होती हैं सब को मिलने लग जायं। यह ख्याल भ्रमपूर्ण है। मैं जो सूचित करना चाहता हूं वह इससे बिलकुल भिन्न है और सब के लिए एकसा उपयोगी और व्यवहार्य है, क्योंकि वह सूचना केवल उसी व्यक्ति से काम लेने को कहती है जिसपर हम में से प्रत्येक का उचित

और पूर्ण अधिकार है। यह व्यक्ति है स्वयं उसका शरीर। सूचना यही है कि यदि मनुष्य केवल अपनी नहीं वरन् अपने भाइयों की भी दशा सुधारना चाहता है तो उसे वे बातें नहीं करनी चाहिए जो उसे या उसके भाइयों को गुलाम बनानेवाली हों। इसलिए स्वयं उसे तथा उसके भाइयों को दुर्दशा में डालने वाले कार्यों से बचने के लिए मनुष्य को न स्वेच्छा से और न मजबूर करने पर भी सरकार के किसी काम में भाग लेना चाहिए। वह न तो सिपाही न फील्ड मार्शल और न राज्यका प्रधान मंत्री भी बने। वह सरकार का कभी कर इकट्ठा न करे, न गवाह बने और न उसका न्यायाधीश पंच, गवर्नर, पार्लियामेण्ट का सदस्य अथवा हिंसा से संबन्ध रखने वाला कोई पद धारण करे। यह हुई एक बात।

दूसरे, वह मनुष्य प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से कभी सरकार को स्वेच्छा से कर न दे; न सरकारी कर के रूप में इकट्ठे किये हुए धन का वह स्वयं ही उपयोग करे, फिर वह उसे तनख्वाह के रूप में मिलता हो या पेन्शन या इनाम के रूप में; वह कभी सरकारी संस्थाओं का भी उपयोग न करे क्योंकि वे भी तो जनता पर जुल्म करके इकट्ठा किये गये धन की सहायता से ही चलाई जाती हैं। यह हुई दूसरी बात।

तीसरे, यदि मनुष्य केवल अपना नहीं बल्कि सर्वसाधारण का कल्याण चाहता है तो उसे अपनी जमीन जायदाद तथा अपने तथा अपने प्रियजनों की रक्षा के लिये सरकार को अपील नहीं करनी चाहिए। वह केवल उतनी ही जमीन और अपने तथा दूसरों के परिश्रम से उत्पन्न की हुई चीजें रखे जिनके लिए दूसरे लोग किसी प्रकार उससे दावा न करते हों।

यह सुन कर लोग कहेंगे "यह तो असम्भव है, सरकार के सभी कामों में भाग लेने से इन्कार करना मानो जीने से इन्कार

करना है। यदि आदमी सिपाही बनने से इन्कार करेगा फौरन जेल में ठूस दिया जायगा, यदि मनुष्य कर देने में आनाकानी करेगा उसे सजा होगी, और उसकी जायदाद से कर वसूल कर लिया जायगा। जिस मनुष्य की आजीविका का कोई दूसरा साधन नहीं है वह यदि सरकारी नौकरी करने से भी इन्कार कर दे तो वह बाल-बच्चों सहित भूखों मर जायगा। वही हालत उस आदमी की भी होगी जो सरकार से मिलने वाली सुरक्षितता को अस्वीकार करेगा। सरकारी संस्थाओं का तथा उन वस्तुओं का जिनपर सरकार के द्वारा कर लगाया गया है उपयोग करने से इन्कार करना भी असंभव है क्योंकि अक्सर तमाम आवश्यक वस्तुओं पर सरकार ने कर लगा ही तो रक्खा है। उसी प्रकार सड़कें, डांक आदि सरकारी संस्थाओं का उपयोग करने से आदमी कैसे इन्कार कर सकता है?

निःसन्देह यह सत्य है कि इस ज़माने में सरकार की हिंसा में भाग लेने से इन्कार करना मनुष्य के लिये बहुत कठिन है। यह ठीक है कि प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन इस तरह नहीं निबाह सकता कि वह सर्वांश में सरकारी हिंसा से अछूता रहे। पर इसके मानी यह तो कदापि नहीं कि वह ऐसा शनैः शनैः भी नहीं कर सकता। मैं मानता हूं कि प्रत्येक मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अनिवार्यतः सेना में भरती होने की आज्ञा से इन्कार करदे (यद्यपि ऐसे आदमी हैं और आगे भी होंगे) तथापि प्रत्येक मनुष्य स्वेच्छापूर्वक सेना, पुलिसदल, न्याय, और मुल्की नौकरी में भरती होने से तो जरूर इन्कार कर सकता है। ऊंची तनख्वाह वाली सरकारी नौकरी के बजाय कम तनख्वाह वाली किसी

खानगी नौकरी को तो वह जरूर पसंद कर सकता है। मैं मानता हूं कि प्रत्येक आदमी अपनी जमीनों को तो नहीं छोड़ सकता (यद्यपि संसार में ऐसे भी त्यागी पुरुष हैं) पर ऐसी जायदाद की अन्याय्यता और अनौचित्य को स्वीकार करते हुए वह उसको यथा सम्भव कम तो अवश्य कर सकता है। मैं यह भी मानता हूं कि प्रत्येक आदमी न तो अपनी सम्पत्ति का और न अपनी उपयोगी चीजों का एकाएक त्याग कर सकता है (यद्यपि संसार में ऐसे लोग भी हैं) तथापि अपनी आवश्यकताओं को घटा कर लोगों के हृदय में ईर्ष्या और लोलुपता उत्पन्न करने वाली चीजों के संग्रह को यथा सम्भव कम तो जरूर कर सकता है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक पदाधिकारी सरकारी नौकरी का त्याग भी नहीं कर सकता (यद्यपि ऐसे कितने ही पुरुष हैं जो अप्रामाणिक सरकारी नौकरी करने के बजाय भूखों रहना पसंद करते हैं) पर हिंसा के उत्तरदायित्व से यथासम्भव बचने के लिए वह अधिक तनख्वाह वाली नौकरी को छोड़कर कम तनख्वाह पर काम करना तो अवश्य स्वीकार कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सरकारी पाठशाला का उपयोग करने से भी इनकार नहीं कर सकता (यद्यपि ऐसे लोग हैं) पर सरकारी स्कूलों के बजाय प्रत्येक मनुष्य यथासम्भव खानगी पाठशालाओं का उपयोग भी अवश्य कर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा कर साथ ही साथ परिग्रह को भी कम कर सकता है और सरकारी संस्थाओं से भी यथाशक्ति दूर रह सकता है।

दो जुदी जुदी स्थितियां है। एक तो पशुबल पर प्रस्थापित वर्तमान अवस्था और दूसरा ज्ञानयुक्त और आचार द्वारा प्रस्थापित

करना है। यदि आदमी सिपाही बनने से इन्कार करेगा फौरन जेल में ठूस दिया जायगा, यदि मनुष्य कर देने में आनाकानी करेगा उसे सजा होगी, और उसकी जायदाद से कर वसूल कर लिया जायगा। जिस मनुष्य की आजीविका का कोई दूसरा साधन नहीं है वह यदि सरकारी नौकरी करने से भी इन्कार कर दे तो वह बाल-बच्चों सहित भूखों मर जायगा। वही हालत उस आदमी की भी होगी जो सरकार से मिलने वाली सुरक्षितता को अस्वीकार करेगा। सरकारी संस्थाओं का तथा उन वस्तुओं का जिनपर सरकार के द्वारा कर लगाया गया है उपयोग करने से इन्कार करना भी असंभव है क्योंकि अक्सर तमाम आवश्यक वस्तुओं पर सरकार ने कर लगा ही तो रक्खा है। उसी प्रकार सड़कें, डांक आदि सरकारी संस्थाओं का उपयोग करने से आदमी कैसे इन्कार कर सकता है ?

निःसन्देह यह सत्य है कि इस ज़माने में सरकार की हिंसा में भाग लेने से इन्कार करना मनुष्य के लिये बहुत कठिन है। यह ठीक है कि प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन इस तरह नहीं निबाह सकता कि वह सर्वांश में सरकारी हिंसा से अछूता रहे। पर इसके मानी यह तो कदापि नहीं कि वह ऐसा शनैः शनैः भी नहीं कर सकता। मैं मानता हूं कि प्रत्येक मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अनिवार्यतः सेना में भरती होने की आज्ञा से इन्कार करदे (यद्यपि ऐसे आदमी हैं और आगे भी होंगे) तथापि प्रत्येक मनुष्य स्वेच्छापूर्वक सेना, पुलिसदल, न्याय, और मुल्की नौकरी में भरती होने से तो जरूर इन्कार कर सकता है। ऊंची तनख्वाह वाली सरकारी नौकरी के बजाय कम तनख्वाह वाली किसी

खानगी नौकरी को तो वह जरूर पसंद कर सकता है। मैं मानता हूं कि प्रत्येक आदमी अपनी जमीनों को तो नहीं छोड़ सकता (यद्यपि संसार में ऐसे भी त्यागी पुरुष हैं) पर ऐसी जायदाद की अन्याय्यता और अनौचित्य को स्वीकार करते हुए वह उसको यथा सम्भव कम तो अवश्य कर सकता है। मैं यह भी मानता हूं कि प्रत्येक आदमी न तो अपनी सम्पत्ति का और न अपनी उपयोगी चीजों का एकाएक त्याग कर सकता है (यद्यपि संसार में ऐसे लोग भी हैं) तथापि अपनी आवश्यकताओं को घटा कर लोगों के हृदय में ईर्ष्या और लोलुपता उत्पन्न करने वाली चीजों के संग्रह को यथा सम्भव कम तो जरूर कर सकता है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक पदाधिकारी सरकारी नौकरी का त्याग भी नहीं कर सकता (यद्यपि ऐसे कितने ही पुरुष हैं जो अप्रामाणिक सरकारी नौकरी करने के बजाय भूखों रहना पसंद करते हैं) पर हिंसा के उत्तरदायित्व से यथासम्भव बचने के लिए वह अधिक तनख्वाह वाली नौकरी को छोड़कर कम तनख्वाह पर काम करना तो अवश्य स्वीकार कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सरकारी पाठशाला का उपयोग करने से भी इनकार नहीं कर सकता (यद्यपि ऐसे लोग हैं) पर सरकारी स्कूलों के बजाय प्रत्येक मनुष्य यथासम्भव खानगी पाठशालाओं का उपयोग भी अवश्य कर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा कर साथ ही साथ परिग्रह को भी कम कर सकता है और सरकारी संस्थाओं से भी यथाशक्ति दूर रह सकता है।

दो जुदी जुदी स्थितियां है। एक तो पशुबल पर प्रस्थापित वर्तमान अवस्था और दूसरा ज्ञानयुक्त और आचार द्वारा प्रस्थापित

एकता वाले समाज का आदर्श। धीरे धीरे मानव समाज पहली स्थिति से दूसरी की ओर चढ़ रहा है। और इन दोनों के बीच में अनंत सीढ़ियां हैं। ज्यों ज्यों हम उस हिंसा में भाग लेने, उससे लाभ उठाने और उसके आदी बनने से अपने को बचाते रहेंगे त्यों त्यों और उसी परिभाषा में हम उस आदर्श की तरफ बढ़ते जावेंगे।

हम यह नहीं जानते और न उन झूठे वैज्ञानिकों के समान भविष्य कथन ही कर सकते हैं कि किस प्रकार ये सरकार कमजोर होंगी और किस तरह लोग स्वाधीन होंगे। न हम यही मानते हैं कि उस स्वाधीनता के मार्ग में चलते चलते मनुष्य-समाज किन किन अवस्थाओं में से गुजरेगा। पर हम यह जरूर मानते हैं कि जो शख्स सरकार की करतूतों की अपराध्यता तथा हानि-करता को पूर्णतः समझ कर उनका उपयोग करने या उनमें भाग लेने से इन्कार करने का प्रयत्न करेंगे उनका जीवन बिलकुल भिन्न होगा। वह वर्तमान जीवन की अपेक्षा जिसमें लोग सरकारी हिंसा में भाग लेते हुए, उसका लाभ उठाते हुए सरकारों के खिलाफ झगड़ने का बहाना करते हैं, और नई हिंसा के द्वारा पुरानी हिंसा को नष्ट कर देना चाहते हैं, जीवन के नियमों और सदसद् विवेक बुद्धि के कहीं अधिक अनुकूल होगा।

मुख्य बात यह है कि हमारा वर्तमान जीवन बहुत बुरा है। इसपर सभी सहमत हैं। वर्तमान दुर्दशा का और गुलामी का कारण है हिंसा जिसका उपयोग तमाम सरकारें करती हैं। इस हिंसा को नष्ट करने का एकमात्र उपाय है उसमें भाग लेने से इन्कार कर देना। अतः यह प्रश्न व्यर्थ है कि सरकारी हिंसामें भाग लेने से इन्कार करना सरल है या कठिन अथवा उसका फल हमें शीघ्र

मिलेगा या देर से; क्योंकि लोगों को गुलामी से मुक्त करने का केवल वही एक उपाय है, दूसरा हुई नहीं।

हिंसाका उन्मूलन कर मानव समाज अहिंसा और प्रेमधर्म को प्रत्येक जाति और देशभर में कब प्रतिष्ठित कर देगा? यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। लोग जितने अंशों में, जितनी ही अधिक संख्या में और जितनी ही अधिक शक्ति के साथ इस तत्व को समझेंगे उतनी ही उस आदर्श की तरफ हमारी गति तेज होगी। हम में से प्रत्येक आदमी अलग अलग हैं। प्रत्येक आदमी अपनी थोड़ी या अधिक जागृति के अनुसार थोड़े या अधिक परिमाण में इस मानवोपकारी आन्दोलन की प्रगति में सहायक या बाधक हो सकता है। प्रत्येक को दो में से एक रास्ता चुनना होगा। या तो वह परमात्मा की इच्छा के खिलाफ बालू पर अपने चार दिन के मायाधीन जीवन का नाशवान् घर बना ले या वह परमात्मा के आदेश के अनुसार सच्चे जीवन के अमर आन्दोलन में शरीक हो जाय।

पर शायद मैं गलती करता हूं। मानव-इतिहास का अवलोकन करने से शायद हम इस नतीजे पर नहीं पहुंचते। शायद मानवता गुलामी से आजादी की तरफ न भी बढ़ रही हो। शायद यह भी सिद्ध कर दिया जा सके कि हिंसा प्रगति का एक आवश्यक अङ्ग है। शायद यह भी सिद्ध हो जाय कि ये हिंसात्मक सरकारें भी मानव-समाज का एक आवश्यक अङ्ग हैं और यदि सरकारें नष्ट हो गईं तथा लोगों के जानोमाल की रक्षा का साधन नष्ट कर दिया गया तो मनुष्यजाति की बड़ी दुर्दशा होगी।

हम यह मान लेते हैं कि शायद यही बात सच हो और कहते हैं कि शायद हमारा अब तक का कथन भ्रमपूर्ण हो। पर मानव-

समाज के सर्वसाधारण विचार के अतिरिक्त मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत भलाई-बुराई के प्रश्न का भी तो विचार करना पड़ता है न ? मानव-समाज के जीवनसम्बन्धी सर्वसाधारण नियम जो कुछ भी हो मनुष्य वह बात तो कदापि नहीं कर सकता जिसे वह केवल हानिकर ही नहीं, बल्कि अन्याय्य भी समझता है ।

बहुत सम्भव है कि यह विचारशैली इतिहास से सिद्ध हो सकती हो कि व्यक्तिगत और सरकारी हिंसा का विकास एक शासन-संस्था राज्य है और शायद वह सत्य भी हो, पर हमारे जमाने का प्रत्येक प्रामाणिक और शुद्ध हृदय वाला आदमी कहेगा — "इन सब तर्कों को मैं नहीं मानता । ये सच हों या झूठ । मैं तो यह अच्छी तरह जानता हूं कि खूनखराबी बुरी बात है और मुझे सेना में भरती होने के लिए कह कर फौज खड़ी करने और उसे तैयार करने अथवा तोपें खरीदने और जंगी जहाज बनाने के लिए मुझ से धन मांग कर आप मुझे उस खूनखच्चर में शरीक करना चाहते हैं । पर न तो मैं यह कर सकता हूं और न करूंगा ही । मैं उस धनका उपयोग करना भी नहीं चाहता जो आपने गरीब भूखे लोगों से खून करने की धमकियां दे दे कर एकत्र किया है और न आगे कभी उसका उपयोग करूंगा । आपके द्वारा सुरक्षित जमीन और जायदाद को भी मैं रखना नहीं चाहता; क्योंकि मैं जानता हूं कि आपकी यह रक्षा खून और हत्या पर निर्भर है ।

"ये सब बातें मैं तब तक कर सकता था जब तक कि मैं उनकी बुराई नहीं समझ पाया था । पर एक बार उस बुराई को देख लेने पर अब मैं न तो उनकी तरफ से अपनी आंखें मूंद सकता हूं और न इन बुराइयों में भाग ले सकता हूं ।

"मैं जानता हूं कि इस हत्यारी व्यवस्था द्वारा हम इस कदर जकड़ दिये गये हैं कि इससे पूरी तरह बच निकलना अत्यन्त कठिन है। पर फिर भी इसमें भाग न लेने के लिये मैं अपनी शक्ति भर कोशिश करूंगा। मैं इस हत्या में शरीक नहीं हो सकता और मैं इस बात का प्रयत्न करूंगा कि खून और हत्या की धमकियां दे दे कर जो भी कुछ प्राप्त किया जाता है और सुरक्षित रक्खा जाता है उसका कभी उपयोग न करूंगा। मेरे तो केवल एक ही जान है, फिर मैं अपनी इस संक्षिप्त – चार दिन की – जीवन-यात्रा में अपनी आत्मा की आवाज के खिलाफ कोई काम क्यों करूं और क्यों आपकी इन भयंकर करतूतों में शरीक होऊं? यह मैं नहीं कर सकता और न करना चाहता ही हूं।

"और इसका नतीजा क्या होगा? मैं नहीं जानता। मैं तो केवल इतना जानता हूं कि अपनी अंतरात्मा की आज्ञा के अनुसार काम करने से कोई अकल्याण और अमंगल नहीं होगा।"

इस तरह हमारे जमाने के प्रत्येक प्रामाणिक और शुद्ध हृदय वाले आदमी को उन तमाम दलीलों के जवाब में उत्तर देना चाहिए जो सरकारों की तथा हिंसा की आवश्यकता को सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं। उस भयंकर काम में शरीक होने के लिए जो आज्ञायें और निमन्त्रण दिये जायँ उनके उत्तर में भी उसे यही साफ साफ कह देना चाहिये।

इस तरह हम अपनी बुद्धि की सहायता से तर्क करते हुए जिस नतीजे पर पहुंचते हैं उसका समर्थन और पुष्टि प्रत्येक मनुष्य की अंतरात्मा भी करती है जो सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि प्रामाण्य है।

अंतिम कथन



उपर्युक्त कथन को पढ़ कर कितने ही लोग कहेंगे—"पर यह तो वही पुराना पुराण है। एक ओर तो आप वर्तमान व्यवस्था का विनाश करने का आग्रह कर रहे हैं पर उसके स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था नहीं बताते और दूसरी ओर अकर्मण्यता का उपदेश करते हैं। सरकार की करतूतें खराब हैं। वही हालत जमींदारों, पूंजीपतियों, साम्यवादियों और क्रान्तिकारी अराजक दलों की भी है। अर्थात् सभी व्यवहार्य कार्य खराब हैं। केवल एक प्रकार की नैतिक, आध्यात्मिक,अनिश्चित हलचल जिसका नतीजा घोर अव्यवस्था और अकर्मण्यता है, अच्छी है।" मैं जानता हूं कि अनेक गम्भीर और शुद्ध हृदय के लोग भी शायद यही सोचेंगे और कहेंगे।

अहिंसा से लोग चौंकते क्यों हैं। इसलिए कि अहिंसा के राज्य में उनकी सम्पत्ति अरक्षित रहेगी। प्रत्येक मनुष्य दूसरे से वह प्रत्येक वस्तु ले सकेगा जिसकी उसे आवश्यकता होगी अथवा जिसे वह महज़ पसन्द करेगा और उसको कोई सजा न होगी। हिंसा द्वारा जान और माल की रक्षा के जो लोग आदी हो गये वे सोचते हैं कि ऐसी रक्षा के अभाव में समाज में हमेशा अव्यवस्था और पारस्परिक संघर्ष का लीलास्थल बना रहेगा।

मैं पीछे समझा चुका हूं कि हिंसा के बल पर जानोमाल की जो रक्षा की जाती है उससे यह अव्यवस्था और संघर्ष घटता

नहीं, वल्कि उलटा बढ़ता ही है ; इस बात के समर्थन में अब मैं उन तमाम युक्तियों को नहीं दोहराऊंगा, पर मैं क्षण भर मान लेता हूं कि यदि अहिंसा-नीति के फलस्वरूप समाज में अव्यवस्था भी हो जाय तो उस हालत में उन लोगों को क्या करना चाहिए जो उन संकटों के मूल कारणों को समझ गये हैं ?

यदि हम जानते हैं कि शराबखोरी के कारण हम बीमार हो गये हैं तो हमें '(इस आशा से भी कि शराब की मात्रा घटा देने से हम अच्छे हो जावेंगे) शराब न पीते रहना चाहिए। न हमें अदूरदर्शी डाक्टरों की दवा लेकर ही शराब पीते रहना चाहिये।

यही बात हमारे सामाजिक रोग की भी है। हम जानते हैं कि हमारी सामाजिक दुरवस्था का कारण यही है कि कुछ लोग दूसरों के प्रति हिंसा का प्रयोग करते हैं। इसलिए सरकारी हिंसा का समर्थन कर अथवा उसके स्थान पर क्रान्तिकारी अराजक वा साम्यवादियों की हिंसा को प्रतिष्ठित करके हम समाज की दशा को सुधारने की आशा नहीं कर सकते। यह तब तक हो सकता था जब तक कि जनता की दुरवस्था के मूलभूत कारण को हमने स्पष्ट रूपसे नहीं देखा था। पर इस बात के निश्चित रूप से प्रत्यक्ष करने पर कि एक दल द्वारा दूसरे दल पर अत्याचार होने के कारण ही समाज की यह दुर्दशा हो रही है तब हमारे लिए यह असंभव है कि हम पुरानी हिंसा को कायम रखें या उसके स्थान पर दूसरी नवीन प्रकार की हिसा को प्रतिष्ठित कर दें। शराबखोरी से बीमारियों के शिकार बने आदमी के लिए उन बीमारियों से छूटने का केवल यही उपाय है कि वह बीमारियों के मूलभूत कारण—शराब—को छोड़ दे। उसी

प्रकार समाज को इस दुरवस्था से मुक्त करने का भी एकमात्र उपाय यही है कि हम हिंसा से जो कि इस बुराई और दुःखों का मूल कारण है बाज आवें, उसका प्रचार न करें और न उसका समर्थन करें।

अहिंसा क अवलम्बन करने का केवल यही कारण नहीं है कि वह हमारी तमाम सामाजिक बुराइयों का एकमात्र रामबाण उपाय है, बल्कि हमारे जमाने के प्रत्येक मनुष्य के नैतिक सिद्धान्त के वह पूरी तरह अनुकूल भी है। यदि इस जमाने का आदमी इस बात को एक बार समझ ले कि उसकी जान या जायदाद की रक्षा हत्या या हत्या के भय के आधार पर की जा रही है तो वह फिर कभी आत्मिक शान्तिपूर्वक उन चीजों का उपयोग न कर सकेगा जो हत्या या हत्या के भय-प्रदर्शन द्वारा उसे प्राप्त हुई हैं। फिर वह उन हत्याओं अथवा हत्या के भय-प्रदर्शन में भी क्यों भाग लेने चला? अतः जनसाधारण को दुःखों से मुक्त करने के लिए जिस तत्त्व (अहिंसा) की आवश्यकता है वही प्रत्येक मनुष्य को आत्मिक शान्ति के लिए भी परमावश्यक है। इसलिए इस बात में अब प्रत्येक मनुष्य को कभी सन्देह न होना चाहिए कि वह अपने तथा समाज के कल्याण का ख्याल कर कभी हिंसा में भाग न ले, उसका समर्थन न करे और न उसका उपयोग ही करे।

———

निकलती जावेंगी, वैसे वैसे वार्षिक ग्राहकों के पास मण्डल अपना पोस्टेज लगाकर पहुँचाता जायगा। जब १६०० या २२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँच जावेंगी, तब उनका वार्षिक मूल्य समाप्त हो जायगा।

(२) वार्षिक ग्राहकों को उस वर्ष की-जिस वर्ष में वे ग्राहक बनें-सब पुस्तकें लेनी होती हैं। यदि उन्होंने उस वर्ष की कुछ पुस्तकें पहले से ले रखी हों तो अगले वर्ष की ग्राहक-श्रेणी का पूरा रुपया यानि ४) या ८) दे देने पर या कम से कम १) या २) जमा करा देने तथा अगला वर्ष शुरू होने पर शेष मूल्य भेज देने का वचन देने पर, पिछले वर्षों की पुस्तक जो वे चाहें, एक एक कापी लागत मूल्य पर ले सकते हैं।

(३) दोनों मालाओं का वर्ष—जनवरी मास से शुरू होकर दिसम्बर मास में समाप्त होता है। मालाओं की पुस्तकें हर तीसरे महीने इकट्ठी निकलती हैं और तब ग्राहकों के पास भेज दी जाती हैं।

(४) जो ग्राहक जिस माला के ग्राहक बनते हैं, उन्हें उसी माला की एक एक पुस्तक लागत मूल्य पर मिल सकती है। अन्य पुस्तकें मगाने के लिये उन्हें आर्डर भेजना चाहिये। जिनपर नियमानुसार कमीशन काट कर वी० पी० द्वारा पुस्तकें भेज दी जावेंगी। पत्र देते समय अपना ग्राहक नम्बर जरूर लिखना चाहिये।

सस्ती-साहित्य-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (ले०—महात्मा गांधी)

(१) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≈) सर्वसाधारण से ।।।)

शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० टी०) पृष्ठ १२३, मूल्य ।≈) स्थायी ग्राहकों से केवल ।)

(३) **दिव्य जीवन**—संसार-प्रसिद्ध स्विट मार्सडन के The Miracles of Right Thought का हिन्दी अनुवाद। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।) सर्व साधारण से ।=) चौथी वार छपी है।

(४) **भारत के स्त्री-रत्न**—(पांच भाग) इस ग्रन्थ में वैदिक कालसे लगाकर आजतक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पातिव्रत्य-परायण, विद्वान् और भक्त कोई ५०० स्त्रियों का जविन-वृत्तान्त होगा। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ॥।) सर्वसाधारण से १) आगे के भाग शीघ्र छपेंगे।

(५) **व्यावहारिक सभ्यता**—यह पुस्तक बालक, युवा, पुरुष, स्त्री सभी को उपयोगी है। पृष्ट १०८, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)॥ दूसरी वार छपी है।

(६) **आत्मोपदेश**—(यूनान के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी महात्मा एपिक्टेटस के विचार) पृष्ठ १०४, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)

(७) **क्या करें?**—(ले०—महात्मा टाल्सटाय.) इसमें मनुष्य जाति के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों पर वहुत ही सुंदर और मार्मिक विवेचन किया गया है। प्रथम भाग पृष्ठ २६६ मूल्य ॥=) स्थाई ग्राहकों से ।≡) दूसरा भाग छप रहा है।

(८) **कलवार की करतूत**—(टाल्सटाय) इस नाटक में कुव्यसनों के दुष्परिणाम दिखाये गये हैं। पृष्ठ ४० मूल्य -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) **जीवन-साहित्य**—म० गांधी के सत्याग्रह आश्रम के प्रसिद्ध विचारक और लेखक काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और माननीय लेख—प्रथम भाग पृष्ट २१६ मूल्य ॥) ग्राहकों से ।=) इसकी भूमिका बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने लिखी है।

उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की इस माला के प्रथम वर्ष में प्रकाशित हुई हैं। दूसरे वर्ष की पुस्तकें कवर पृष्ठ पर देखें।

<u>सस्ती-प्रकीर्ण-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)</u>

(१) **कर्मयोग**—(ले० अध्यात्म योगी अश्विनी कुमार दत्त) पृष्ठ सं० १५२, मूल्य केवल ।=) स्थायी ग्राहकों से ।)

(२) **सीताजी की अग्नि-परीक्षा**—(ले० [illegible]

विद्यासागर) सीताजी की 'अग्नि-परीक्षा' इतिहास से, विज्ञान से तथा अन्य उदाहरणों द्वारा सिद्ध की गई है। पृष्ठ १२४, मूल्य ।-) ग्राहकों से ≈)॥

(३) कन्या-शिक्षा—सास,ससुर आदि के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, घर की व्यवस्था कैसी करनी चाहिये आदि बातें, कथारूप में बतलाई गई है। पृष्ठ सं० ८४, मूल्य केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≈)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन —हमारा प्राचीन जीवन कैसा उच्च था पर अब पाश्चात्य आडम्बरमय जीवनकी नकल कर हमारी अवस्था कैसी शोचनीय हो गई है। अब हम फिर किस प्रकार उच्च बन सकते हैं-आदि बातें इस पुस्तक में बताई गई हैं। पृष्ठ २६४, मूल्य ॥-) ग्राहकोंसे ।≈)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—प्रसिद्ध आयरिश वीर टेरेंस मेकस-विनीकी Principles of Freedom का अनुवाद—प्रत्येक स्वतंत्रता प्रेमी इसे अवश्य पढ़े। पृष्ठ सं० २०८ मूल्य ॥), स्थायी ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले०प० देवशर्मा विद्यालंकार) भू०ले० पद्म-सिंहजी शर्मा—इसमें अनेक ग्रन्थों को मनन करके एकांत हृदयके सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक विषयों पर बड़े ही सुन्दर, हृदयस्पर्शी मौलिक विचार लिखे गये हैं। पृष्ठ सं० १७६, मूल्य ।≈) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह—(ले० बंगालके प्रसिद्ध लेखक श्रीचण्डीचरण सेन) इस उपन्यास में ईष्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में भारत के लोगों पर अँग्रेजों ने कैसे कैसे भीषण अत्याचार किये और यहां का व्यापार नष्ट किया उसका रोमांचकारी वर्णन तथा कुछ देश-भक्तों ने किस प्रकार मुसीबतें सहकर इनका मुकाबला किया उसका गौरव-पूर्ण इतिहास वर्णित है। पृष्ठ २८० मूल्य केवल ॥≈) स्थायी ग्राहकों से ।≈)॥

(८) स्वामीजी (श्रद्धानन्दजी) का बलिदान और हमारा कर्तव्य(ले०पं०हरिभाऊ उपाध्याय) पृष्ठ१२८मूल्य ।-) स्थाई ग्राहकोंसे ।)

(९) युरोप का इतिहास—(प्रथम भाग) पृष्ठ ३६० से ऊपर। मूल्य ॥।≈) स्थाई ग्राहकों से ॥-)दूसरे तीसरे भाग क़रीब इतने ही पृष्ठों के होंगे। मूल्य लगभग बारह बारह आना रहेगा। इसमें सम्पूर्ण योरोपका आजतकका इतिहास आगया है। जुलाई सन् २७ तक सब भाग छप जावेंगे।

इस प्रकार उपरोक्त नौ पुस्तकें लगभग १७८० पृष्ठों की इस माला के [illegible] में निकली हैं। दूसरे वर्ष की पुस्तकें कवर के चौथे पृष्ठ पर देखें।

विद्यासागर) सीताजी की 'अग्नि-परीक्षा' इतिहास से, विज्ञान से तथा अन्य उदाहरणों द्वारा सिद्ध की गई है। पृष्ठ १२४, मूल्य ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(३)कन्या-शिक्षा—सास,ससुर आदि के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, घर की व्यवस्था कैसी करनी चाहिये आदि बातें, कथारूप में बतलाई गई है। पृष्ठ सं० ६४, मूल्य केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—हमारा प्राचीन जीवन कैसा उच्च था पर अब पाश्चात्य आडम्बरमय जीवनकी नकल कर हमारी अवस्था कैसी शोचनीय हो गई है। अब हम फिर किस प्रकार उच्च बन सकते हैं-आदि बातें इस पुस्तक में बताई गई है। पृष्ठ २६४, मूल्य ॥-) ग्राहकोंसे ।≈)॥

(५)स्वाधीनता के सिद्धान्त—प्रसिद्ध आयरिश वीर टेरेंस मेक्सविनीकी Principles of Freedom का अनुवाद—प्रत्येक स्वतंत्रता प्रेमी इसे अवश्य पढ़ें। पृष्ठ सं० २०८ मूल्य ॥), स्थायी ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले०प० देवशर्मा विद्यालंकार) भू०ले० पद्मसिंहजी शर्मा—इसमें अनेक ग्रन्थों को मनन करके एकांत हृदयके सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक विषयों पर बड़े ही सुन्दर, हृदयस्पर्शी मौलिक विचार लिखे गये हैं। पृष्ठ सं० १७६, मूल्य ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह—(ले० बंगालके प्रसिद्ध लेखक श्रीचण्डीचरण सेन) इस उपन्यास में ईष्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में भारत के लोगों पर अँग्रेजों ने कैसे कैसे भीषण अत्याचार किये और यहां का व्यापार नष्ट किया उसका रोमांचकारी वर्णन तथा कुछ देश-भक्तों ने किस प्रकार मुसीबतें सहकर इनका मुकाबला किया उसका गौरव-पूर्ण इतिहास वर्णित है। पृष्ठ २८० मूल्य केवल ॥≈) स्थायी ग्राहकों से।≥)॥

(८) स्वामीजी (श्रद्धानन्दजी) का बलिदान और हमारा कर्तव्य(ले०पं०हरिभाऊ उपाध्याय) पृष्ठ१२८मूल्य ।-) स्थाई ग्राहकोंसे।)

(९) युरोप का इतिहास—(प्रथम भाग) पृष्ठ ३६० से ऊपर। मूल्य ॥।≈) स्थाई ग्राहकों से ॥-)दूसरे तीसरे भाग करीब इतने ही पृष्ठों के होंगे। मूल्य लगभग बारह बारह आना रहेगा। इसमें सम्पूर्ण योरोपका आजतकका इतिहास आगया है। जुलाई सन् २७ तक सब भाग छप जावेंगे।

इस प्रकार उपरोक्त नौ पुस्तकें लगभग १७८० पृष्ठों की इस माला के प्रथम वर्ष में निकली हैं। दूसरे वर्ष की पुस्तकें कवर के चौथे पृष्ठ पर देखें।

सस्ती-साहित्य-माला में नीचे लिखी पुस्तकें

दूसरे वर्ष में छप गई हैं

(१) तामिल वेद—(१५०० वर्ष पूर्व लिखित कुरल नामक प्रसिद्ध तामिल ग्रन्थ का अनुवाद) इस ग्रन्थ का वेदों के समान उस प्रांत में आदर है। धर्म और अर्थ पर पूर्ण विवेचन है। पृष्ठ २४८ मूल्य ॥≈) स्थाई ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष—(महात्मा टाल्स्टाय) पृष्ठ १५६ मूल्य ।≈) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई—(अनु० बा० रामदास गौड़ एम० ए०) यह वही निबन्ध है जिस पर म० गांधी ने लेखकों को १०००) इनाम दिया है।

(४) हमारे ज़माने की गुलामी—यह पुस्तक आपके हाथ ही में है।

सस्ती-प्रकीर्णमाला (दूसरा वर्ष)

(१) ब्रह्मचर्य विज्ञान— ब्रह्मचर्य विषय पर सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। कोई बात छूटने नहीं पाई है। पृष्ठ ३७४ प्रचार के लिये मूल्य केवल ।।।-) ग्राहकों से ॥-)॥। प्रत्येक घर में इसकी एक एक कापी अवश्य रखना चाहिये।

(२) युरोप का इतिहास दूसरा व तीसरा भाग—प्रथम भाग पहले वर्ष में छपा था। यह दोनों भाग जिसमें ग्रन्थ समाप्त होता है जुलाई सन् २७ तक छप जावेंगे।

दोनों मालाओं के ८) भेजकर वार्षिक ग्राहक बन जाइये।

वर्ष भर में अठारह बीस पुस्तकें मिलेंगी—नियम पुस्तक के अन्त में दिये हुए हैं।

नीचे लिखी पुस्तकें दोनों मालाओं में छपेंगी

(१) आत्मचरित्र (म० गांधी लिखित) पृष्ठ लगभग ५००
(२) चीन की आवाज—बहुत ही अनूठी पुस्तक-पृष्ठ लगभग १२०
(३) गोरों का प्रभुत्व—(बा० रामचन्द्र वर्मा) पृ० २५०
(४) श्रीकृष्णचरित्र—श्रीरामचरित्र (सी० वी० वैद्य)

इसके अलावा बीसियों ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं।

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर

वर्ष १]

सस्ती विविध पुस्तकमाला
(सस्ती प्रकीर्णक पुस्तकमाला)

[पुस्तक ५

स्वाधीनताके सिद्धान्त



लेखक—
टेरेन्स मैक्स्विनी



हिन्दी-प्रेमियोंसे अनुरोध

इस मण्डलके स्थायी ग्राहक होनेके नियम पुस्तकके अन्तमें दिये हुए हैं। आप उन्हें एक बार अवश्य पढ़ लें और अपनी रुचिके अनुसार स्थायी ग्राहक होकर व अपने मित्रों-को बनाकर इस मण्डलकी पुस्तकोंके प्रचारमें सहायता पहुंचावें।

वर्ष १] सस्ती विविध पुस्तकमाला [पुस्तक ५

(सस्ती प्रकीर्णक पुस्तकमाला)

स्वाधीनताके सिद्धान्त



मूल लेखक

आयर्लैंडके प्रसिद्ध आत्मत्यागी वीर

टेरेन्स मैक्स्विनी



अनुवादक

पं० हेमचंद्र जोशी बी० ए०



प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल

अजमेर

प्रकाशक—

जीतमल लूणिया, मंत्री

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल,

अजमेर

लागत का ब्योरा

कागज	१६८)
छपाई	२२७)
बाइंडिंग	२५)
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	२५३)
कुल जोड़	७०३)

प्रतियां २०००

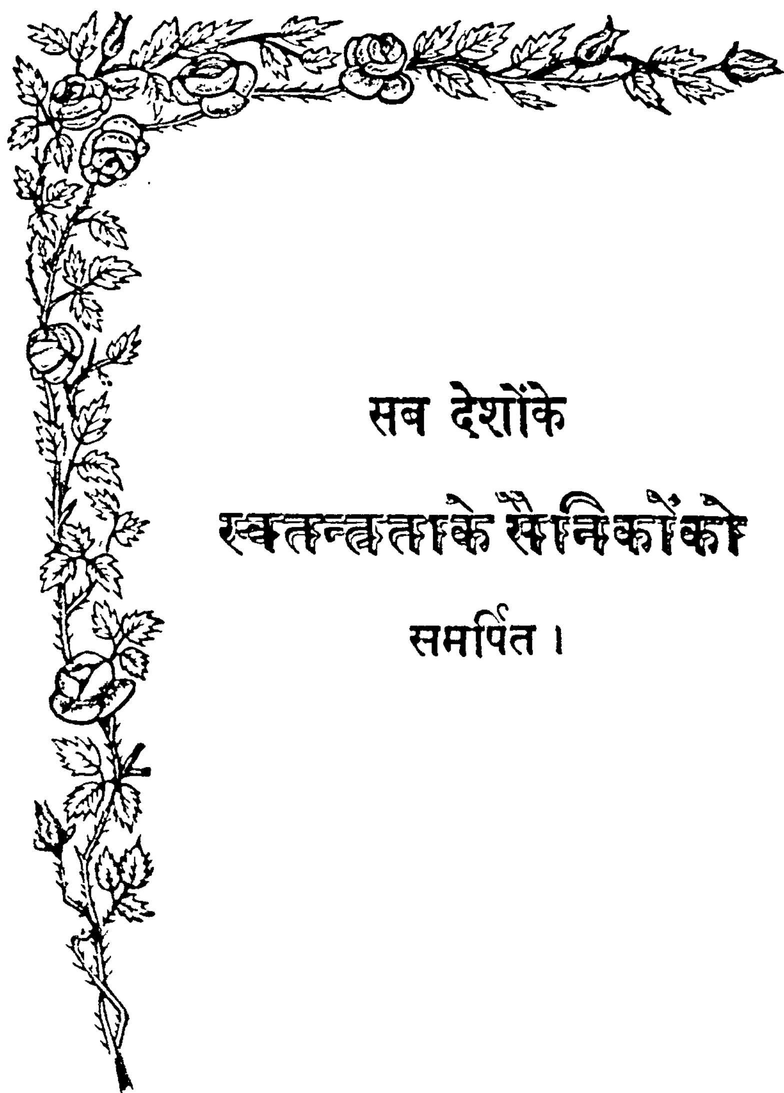
एक प्रति का मूल्य ।-)॥

मुद्रक—

रामकुमार भुवालका

"हनुमान प्रेस"

३, माधो सेठ लेन, कलकत्ता।



सब देशोंके

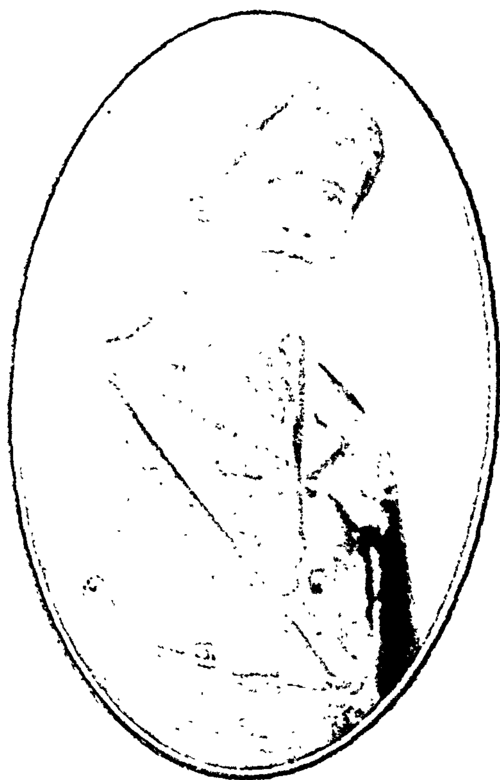
स्वतन्त्रताके सैनिकोंको

समर्पित।

विषय-सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
१	टेरेन्स मैक्स्विनीकी संक्षिप्त जीवनी	(१—२५)
२	स्वाधीनताका मूल	१
३	सम्बन्ध-विच्छेद	१०
४	नैतिक बल	२४
५	शत्रु और मित्र	४०
६	शक्तिका रहस्य	५४
७	आचार-व्यवहारमें सिद्धान्त	७३
८	दृढ़ भक्ति	६८
९	नारी-धर्म	११५
१०	साम्राज्यवाद	१२६
११	सशस्त्र प्रतिरोध	१४२
१२	कानूनका सच्चा अर्थ	१४६
१३	सशस्त्र प्रतिरोध—कुछ आपत्तियां	१६१
१४	अन्तिम शब्द	१७०

स्वाधीनता के सिद्धान्त



टेरेन्स मैक्स्विनी

टेरेन्स मैक्स्विनीकी संक्षिप्त जीवनी



१—बाल्य काल

कार्कके लार्ड मेयर टेरेन्स मैक्स्विनी संसारके उन थोड़े महात्माओंमेंसे हैं जो मरी हुई जातिको अपना प्राण देकर नया जीवन दे जाते हैं। जिस देशमें मैक्स्विनी पैदा हुए वह भारतके समान आत्मसम्मानरहित तथा चरित्रभ्रष्ट देश नहीं है। आयर्लैण्डमें प्रायः ३०० सालसे स्वाधीनताका युद्ध चल रहा है। इस अवधिमें वहां कई वीर ऐसे पैदा हुए हैं जिन्हें पाकर कोई भी जाति गर्व कर सकती है। टोन, उल्फ, मिचल, माइकेल डेविट आदि स्वाधीनताके उपासक जिस भूमिमें जन्मे हैं वह धन्य है। जिस जातिके लिये इमन डे वेलेरा, काउन्टेस मार्केविग्ज, ओकेनल सरीखे नेता लड़े और लड़ रहे हैं वह गुलाम नहीं रह सकती। किन्तु जिस राष्ट्रने एक टेरेन्स मैक्स्विनीको जन्म दिया है वह संसार भरको स्वतन्त्रताका पथ दिखानेका दम भर सकता है।

टेरेन्स मैक्स्विनी १८७६ ई०की २८ वीं मार्चको कार्कनगरमें पैदा हुए। छोटेपनमें ही उनके पिता मर गये। इससे सारे परि-

बालके पालन पोषणका भार उनकी माताके सर पड़ा। इस वीर महिलाने अपना धर्म निबाहा। मैक्स्विनीको बचपनसे ही राष्ट्रीय शिक्षा मिली। आयर्लैण्डमें उन दिनों रेडमण्डके दलका प्रभुत्व होनेके कारण यद्यपि देशमें मनुष्यता कम रह गयी थी तौभी इधर उधर कई लोग स्वतंत्रताके भावोंको हृदयके अन्दर ढककर हिफाजतके साथ बचाये हुए थे। कार्क नगरमें ऐसे लोग बहुत बसते थे। उन दिनों वहां यह एक रिवाज सा पड़ गया था कि छोटे बच्चे सप्ताह भरमें कोई न कोई कविता याद करते थे और रविवारको अपने माता पिताको सुनाया करते थे। कविता राष्ट्रीय होती थी। इसमें विद्रोहके भाव जितने अधिक होते थे उतनी ही अधिक वह पसन्द की जाती थी। मैक्स्विनीके पिता कट्टर देश भक्त थे। मैक्स्विनीने उनसे राष्ट्रीयताकी शिक्षा ली। मैक्स्विनीने अपनी मातासे कई गुण सीखे। उनकी आध्यात्मिकता, भगवानपर अटल विश्वास और धर्ममें दृढ़ भक्ति—ये गुण उन्हें अपनी मातासे मिले थे।

उन्हें स्कूली शिक्षा भी अच्छी मिली थी। उस समय आयलैंण्डमें हजारों राष्ट्रीय स्कूल थे। उनका एक बोर्ड भी था किन्तु इनकी हालत वर्तमान समयके भारतके राष्ट्रीय स्कूलोंसे कुछ ही अच्छी थी। राष्ट्रीय विद्यालयोंकी यह दुर्दशा देखकर जातिके कई शिक्षाप्रेमी हितैषियोंने अपने स्कूल अलग खोल रखे थे। कार्कमें कुछ रोमन कैथलिक पादरियोंने ऐसे कई स्कूल स्थापित कर रखे थे। यह उन राष्ट्रीय स्कूलोंसे कई दर्जा अच्छे थे

जो चन्दा वसूल करना और लड़कोंको बिगाड़ना अपना धर्म समझते हैं। मैक्स्विनीने इन देशके दुखसे दुखी पादरियोंके स्कूलमें शिक्षा पायी। ये देशप्रेमी धर्मात्मा अपनी स्वतन्त्र पुस्तकें पढ़ाते थे किन्तु इण्टरमिडियट दर्जेमें बोर्डद्वारा निर्धारित इतिहासकी कुछ रद्दी किताबें पढ़ानी पड़ती थीं। ये लाचार होकर उन्हें पढ़ाते थे किन्तु अगर मगरके साथ ये बताते थे कि इन इतिहासोंमें जाति के विरुद्ध कौन कौनसी झूठी बात लिखी गयी हैं, इन झूठी बातोंके लिखनेसे लेखकको क्या लाभ हुआ है, छात्रोंकी क्या हानि होगी, आदि। ऐसे स्कूलमें मैक्स्विनीकी राष्ट्रीयताका बढ़ना स्वाभाविक था। मैक्स्विनी उन दिनों ध्यानमें मग्न रहता था और यह ध्यान सदा देशका होता था। वह स्कीमें बनाया करता था और ये स्कीमें देशोद्धारकी होती थीं। उसके विषयमें यह कहा जा सकता है कि जन्मसे ही उसे मातृभूमिकी लगन थी। एक बार उसके घरमें राकफेलरकी अतुल सम्पत्तिकी चर्चा छिड़ी। सबसे पूछा गया यदि तुम्हारे पास इतना धन होता तो तुम क्या करते? जब मैक्स्विनीकी बारी आई उसने गम्भीरतासे उत्तर दिया "मैं आयर्लैंडको स्वाधीन करता।" दर्जेमें जब आयरिश इतिहासपर वादविवाद होता था तो मैक्स्विनीमें देशप्रेमका यह भाव बहुधा स्पष्ट रूपसे दिखायी देता था।

मैक्स्विनीने १५ सालकी उम्रमें स्कूल छोड़ दिया और कार्क-की डायर एण्ड कम्पनीके यहां नौकरी कर ली। वह सदा प्रसन्नचित्त और कार्यमें व्यस्त रहता था। मैक्स्विनी ही व्यापा-

रिक जीवन पसन्द नहीं था किन्तु उसकी सदा यह आदत रही कि जो काम हाथमें लेता उसे पूरा कर छोड़ता। इसलिये वह थोड़े ही दिनोंमें एकाउण्टेण्ट हो गया और सन् १६११ ई० तक यही काम करता रहा। १६११ में वह व्यापारका अध्यापक हुआ। उसे पढ़नेकी धुन थी, इस बातकी प्रबल इच्छा थी कि मैं बी० ए० पास कर लूं। इसलिये वह पढ़ने लिखनेमें सदा व्यस्त रहता था। दिन भर आफिसमें काम करता, रातको आठ बजे सो जाता और दो बजे रातको उठकर अध्ययन करता। इस प्रकार बड़ी चेष्टा करके सन् १६०७ ई० में उसने बी० ए० डिग्री प्राप्त कर ली।

२—राष्ट्रीयताका उदय

मैक्स्विनी स्कूल छोड़नेके समयसे ही विचार कर रहा था कि कौन दल देशका उद्धार कर सकता है। उस समय फीनियन दल ध्वंसावशेष था। यह दल आयर्लैण्डको स्वाधीन न कर सका था किन्तु इसके सदस्योंको विश्वास था कि इस पीढ़ीमें नहीं, दूसरी पीढ़ीमें नहीं, किन्तु कभी न कभी तो आयर्लैण्ड प्रजा तन्त्रवादी स्वतन्त्र राष्ट्र बनेगा ही। मैक्स्विनी यद्यपि विश्वास करता था कि राष्ट्रको स्वाधीन करनेका काम शीघ्र आरम्भ करना चाहिये तौभी वह कुछ कुछ इसी दलमें मिला। १८६६में इन्होंने 'यंग आयर्लैंड सोसाइटी' खोली। यह नवयुवक-दल-रचनात्मक कार्य, देशी भाषाका प्रचार, आयरिश उद्योग धन्धोंका पोषण और

ब्रिटिश फौजमें आयरिश सिपाहियोंको भरती न होने देनेका उद्योग करना चाहता था। इस बीच सिनफिन आन्दोलनका जन्म हो रहा था। १८६६ में आर्थर ग्रिफिथने 'यूनाइटेड आयरिशमन' नामक पत्र निकाला। इस पत्रके द्वारा वह सब समितियां संघबद्ध कर ली गयीं जो इङ्गलैण्डसे अलग होना और खुले आम आयरिश स्वतन्त्रताका प्रचार करना चाहती थीं इस प्रकार सिनफिनका बीज बोया गया और नीति निर्धारित की गयी।

मैक्स्विनीको यह विश्वास हो गया था कि जबतक आयरिश भाषा देश भरमें नहीं फैलेगी तबतक देशका कुछ काम नहीं हो सकता। 'गेलिक लीग' नामक संस्था उन दिनों आयरिश भाषाका प्रचार कर रही थी। मैक्स्विनी इसमें भरती हो गया। उसने बड़े कड़े परिश्रमसे आयरिश भाषा सीखी और देहातमें रहकर उसका प्रयोग समझा। १६१० में 'आयरिश फ्रीडम' नामक पत्र निकाला गया। इसने सिनफिन दलकी नीति भली भांति स्पष्ट कर दी। इसमें साफ २ लिखा गया कि हमलोग उस विचार परम्पराको लेकर खड़े हुए हैं जिसे हमारे पहले नेता हमें दे गये हैं। हम इङ्गलैण्ड और आयर्लैंडका पूर्ण विच्छेद चाहते हैं, हम आयरिश प्रजातन्त्रके पक्षपाती हैं। इस पत्रके निकलते ही सब नवयुवक इसकी तरफ हो गये और कहना चाहिये कि सारा आयर्लैंड उसी तरफ गया। मैक्स्विनी भी इसमें था। मैक्स्विनीकी पुस्तक 'स्वाधीनताके सिद्धान्त' इसीमें क्रमशः छपी थी। इस समय लोग आश्चर्य करते हैं कि मैक्स्विनीको किस प्रकार

आयलैंडकी भावी दशाका ज्ञान पहले ही हो चुका था। किन्तु यह पुस्तक एककालीन या एकदेशीय नहीं है। इसके सिद्धान्त सदा सर्वत्र लागू होंगे।

३—आयरिश स्वयंसेवक

आयलैंडके लिये वह समय बड़े सौभाग्यका था जब ब्रिटिश सरकारने अल्स्टरवालोंको स्वयंसेवक-दलमें भरती होनेका अधिकार दिया। यह रियायत इसलिये की गयी थी कि अल्स्टर अंगरेजी साम्राज्यकी छत्रछायामें रहना चाहता था। किन्तु इङ्गलैण्डके बड़े बड़े राजनीतिज्ञ ऐसी चूक कर गये कि इसके लिये वे अबतक पछता रहे हैं। आयलैंडके नवयुवकोंने इस आज्ञाका स्वागत किया। वे ताड़ गये कि आयलैंडका अब मौका आगया है। जब अल्स्टरमें स्वयंसेवक भरती हो सकते थे तो और जगह उन्हें कौन रोक सकता था। बस, धूम मच गयी। जो नवयुवक रात दिन सोचा करते थे कि आयलैंडकी पल्टनें किस प्रकार खड़ी की जा सकती हैं वे हर्षसे नाचने लगे। सारे आयलैंडमें स्वयंसेवकोंकी भरती होने लगी। थोड़े ही दिनोंमें ३० हजार स्वयंसेवक भरती हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि उनके पास हथियार बहुत थोड़े थे किन्तु उनमें उत्साह था, वे शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और उन्हें विश्वास था कि समयपर हथियार भी मिल जायंगे। यह उत्साह देखिये, कई बूढ़े भी इसमें भरती हो गये।

मैक्विस्नीके लिये भरतीका यह आन्दोलन ईश्वरकी महान्

रूपा थी। भगवानने उसे स्वभावसे ही सैनिक पैदा किया था। वह जी जानसे इस आन्दोलनमें कूद पड़ा। सप्ताहमें एक बार ड्रिल होती थी किन्तु वह सारे सप्ताह रणनीतिका अध्ययन करता था। उसे पूरा भरोसा था कि आयर्लैण्डका उद्धार ये स्वयंसेवक ही करेंगे जो समय आनेपर नियमित रूपसे सेनामें भरती किये जाते हैं। मैकिस्वनीको अपनी विजयपर पूरा विश्वास था। उसे कभी यह सन्देह नहीं होता था कि आयर्लैण्ड स्वतन्त्रताके युद्धमें हारेगा। उसने अपना उत्साह, उमङ्ग और आशा स्वयंसेवकोंमें भर दी। आयर्लैंडमें धड़ाधड़ स्वयंसेवक भरती होने लगे किन्तु नरमदलवालोंने अपना सारा जोर इस आन्दोलनके विरुद्ध लगाया। किन्तु जिस जातिमें स्वतन्त्रताके भाव पैदा हो जाते हैं वहां कुछ इने गिने स्वार्थी लोगोंको छोड़कर सभी मातृ-भूमिके सैनिक हैं। उन्हें भरती होनेसे कौन रोक सकता है। नरमदलवाले कुछ न कर सके। अन्तमें उन्हें स्वयं भी भरतीमें भाग लेना पड़ा। कुछ दिनों बाद इङ्गलैण्डकी जर्मनीसे लड़ाई छिड़ गयी। मैकिस्वनी आदि प्रजातन्त्रवादियोंने समझा कि अब मौका आ गया। इस वक्त यदि इङ्गलैण्ड दबाया जाय तो उसे भागनेमें देर न लगेगी। किन्तु रेडमण्डने इन स्वयंसेवकोंका प्रयोग इङ्गलैण्डकी सहायता करनेके लिये करना उचित समझा। बस सब स्वयंसेवक इङ्गलैण्डकी तरफ होने लगे। मैकिस्वनी घबराया और उसने इङ्गलैण्डके विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। स्वयंसेवकोंमें दो दल हो गये। २॥ लाख

स्वयंसेवकोंमेंसे कुल ८००० प्रजातन्त्रवादियोंकी तरफ रहे। कार्ककी स्थिति और भी खराब थी। किन्तु मैक्स्विनीने बड़ी शान्तिसे काम लिया। वह जितने स्वयंसेवक मिले उन्हें लेकर गांव गांव फिरा और नये स्वयंसेवक भरती करनेकी चेष्टा की। यह उत्साह देखकर अन्य स्थानोंके और स्वयंसेवकोंने भी रङ्गरूट भरती किये।

१६१४ की १६ वीं सितम्बरसे कार्कसे 'फायनाफेले' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। इसका सारा भार मैक्स्विनीपर था। इसके लेखोंसे आयरिश जातिमें नया उत्साह पैदा हुआ। जो पीछे हट गये थे वे आगे बढ़े। इसके पहले अङ्कमें मैक्स्विनीने लिखा कि "वर्तमान संकटके कारण यह पत्र निकाला जा रहा है। यह समाचारोंका नहीं, सिद्धान्तोंका प्रचार करेगा। हम आयर्लैण्डके लिये कमसे कम यह चाहते हैं कि वर्तमान अवसरसे आयर्लैण्डके लिये वह राजशक्ति प्राप्त कर लें जिससे यह बाहर भीतरका अपना इन्तजाम निज ही करे।" एक दूसरे अङ्कमें उसने लिखा, "हम आयर्लैंडमें आग लगा देना चाहते हैं। हमारा विचार है कि हमारा व्यक्तिगत बलिदान इस कार्यके लिये बहुत कम है। जरा बलिदानका अर्थ तो समझिये। आयर्लैण्डमें शत्रुका रक्त बहाया जा सकता है किन्तु पहले उसका खून नहीं बहाया जाना चाहिये क्योंकि इससे प्रतिहिंसावृत्ति जागृत हो सकती है। किन्तु आयरिश भूमिमें पहले आयरिश रक्त बहाना चाहिये। फिर आप देखेंगे, स्वाधीनताका

उद्धार करनेके लिये ऐसा जहाद आरम्भ होगा जिसे शैतानकी सारी शक्तियां नहीं हरा सकतीं। हमें मिचलके वे शब्द याद रखने चाहिये जो उसने फांसीपर चढ़ते समय वीर गर्जनके साथ लार्ड क्लारेण्डनसे कहे थे, 'माइ लार्ड! मैं जानता था मुझे फांसीपर लटकना पड़ेगा; किन्तु मैं यह भी भली भांति जानता था कि विजय मेरे साथ रहेगी और मेरे साथ है।' हम इस विजयका महत्व नहीं समझे हैं किन्तु अब शीघ्र समझ जायंगे। हमें समझना चाहिये विजय दो प्रकारकी होती है और मिचलकी जैसी विजय सांसारिक विजयकी सीढ़ी है। हमारे स्वयंसेवक अभी तत्पर नहीं हैं, उन्हें पूरी शिक्षा नहीं मिली न उनकी परीक्षा ही हुई है। आवश्यकता है कि मिचलके उक्त सिद्धांतका प्रचार हो जिससे वे कार्यसाधन या मरणके लिये सदा तैयार रहें। एक शुद्ध बलिदान यह काम कर सकता है। यह उनकी आत्मामें नयी रूह फूंकेगा और दैवी ज्योति जलावेगा और आयलैंडका भाग्य उनके हाथोंमें सुरक्षित रहेगा।" इस पत्रका अन्तिम अङ्क उसी सालकी पांचवीं दिसम्बरको निकला। उसके बाद सम्बन्धविच्छेदी पत्र आयलैंडमें बन्द कर दिये गये। इस पत्रके लिये मैक्स्विनीको अपना प्यारा पुस्तकालय बेंच देना पड़ा। शायद ही कभी वह इन पुस्तकोंको बेचता किन्तु देशके नामपर उसने यह बलिदान किया। पत्रके कुल ११ अङ्क निकले पर वह अपना काम कर चुका था।

१९१५ में आयरिश जातिकी आंखें खुलीं। उसने देखा कि

साम्राज्यके लिये स्वयंसेवक बनना चाहता है। इस बीच मैक्स्विनीने पूरी चेष्टा की कि उसके दलमें स्वयंसेवक भरती हों। अबतक वह फुरसत निकालकर स्वयंसेवक भरती करता था किन्तु उसने अब नौकरी छोड़ दी और सारा समय इसी काममें लगाया। वह अपनी बाइसिकलपर कार्कके जिले भरमें दौरा करता था और जहां जाता था वहीं आग भड़का देता था। १९१५ के आरम्भमें ही उसने कार्क जिलेको उत्तम रूपसे सङ्गठित कर दिया। उसका उन दिनोंका परिश्रम देखकर मुंहसे यही शब्द निकलते हैं—'यदि स्वाधीनताका उपासक हो तो ऐसा हो।'

४—पहली गिरफ्तारी।

गवर्नमेण्ट फौरन ताड़ गयी कि मैक्स्विनीने आयर्लैंडमें राजविद्रोहकी आग फैलायी है। बस, १३ जनवरी १९१६ को मैक्स्विनी अपने घरपर गिरफ्तार कर लिये गये। मकानकी तलाशी ली गयी कि कहीं हथियार छिपे हुए न हों। माल बरामद नहीं हुआ किन्तु पुलिस कागज-पत्र उठा ले गयी। मैक्स्विनीके ऊपर यह अभियोग लगाया गया कि तुमने दूसरी जनवरीको बालिनोमें राजद्रोही भाषण दिया। मैक्स्विनी महीनों हवालातमें सड़ते रहे। पार्लामेण्टमें सवाल पूछा गया। उत्तर मिला कि मैक्स्विनीका अपराध बहुत बड़ा है किन्तु धीरे धीरे रहस्य खुला कि मैक्स्विनीके पास उनके छोटे भाई जानकी चिट्ठियां थीं जो उस

समय बर्लिनमें था। सन्देह यह हुआ कि आयरिश स्वयंसेवक जर्मनीसे मिले हुए हैं और उनके कोषमें जर्मनीका रुपया है। खुफिया पुलिसके बड़े बड़े दिग्गजोंने माथा लड़ाया कि इन पत्रोंमें शब्दोंका इन अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। जान मैक्स्विनी गिरफ्तार कर लिया गया। उसके कागज-पत्रोंकी तलाशी हुई। किन्तु कहीं भी इस जर्मन षड्यंत्रका पता न चला। यह बर्लिन जर्मनीकी राजधानी नहीं किन्तु एक अन्य स्थानका नाम था। मामला शुरू हुआ। बड़े दाव पेंच खेले गये। किन्तु मजिस्ट्रेट राष्ट्रीय दलके थे। उन्होंने हंसी मजाककी तौरपर मैक्स्विनीको एक शिलिंग जुर्माना किया। इस निर्णयसे आयरिश स्वयंसेवक भरती करनेमें बड़ी सहायता मिली। उधर जनतामें इङ्गलेण्डकी ओरसे लड़नेका उत्साह धीमा पड़ गया।

आयरिश रिपब्लिकन ब्रदरहुड यथाशीघ्र बलवा करनेकी तैयारी करने लगा गवर्नमेण्ट यह देखकर घबरायी कि आयर्लैण्डमें ब्रिटिश सेनाके लिये रङ्गरूट तो भरती नहीं हो रहे हैं और आयरिश स्वयंसेवकोंका दल बढ़ रहा है। २३ अप्रेल सन् १९१६ ई० का दिन सारे देशमें एक साथ गदर करनेका नियत किया गया। मैक्स्विनी बगावतका पूरा पक्षपाती था। जब दिन निकट आने लगा उसकी नींद और भूख हराम हो गयी। वह दिनभर दौड़ धूप मचाता था और रातको सोचता था कि किस प्रकार सफलता प्राप्त होगी। उसके भाग्यसे वह दिन आ गया था जिसके स्वप्न वह छोटेपनसे देखा करता था। सब तैयारियां हो चुकी थीं,

स्वयंसेवक आशा लगाये हुए थे अब कलको देश उठ खड़ा होगा। किन्तु २२ अप्रेलके पत्रोंमें स्टाफके मुखिया प्रोफेसर मैकनीलकी सूचना छपी कि "किसी बड़े संकटके कारण वह आज्ञा रद्द की जाती है जो आयरिश स्वयंसेवकोंको कलके लिये दी गयी थी।" इस आज्ञासे २३ तारीखका बलवा रुक गया। आयरिश रिपब्लिकन ब्रदरहुडने आज्ञा निकाली कि २४ तारीखको बलवा किया जाय। इस गड़बड़ीसे कहीं बलवा हुआ, कहीं नहीं हुआ। कार्कमें कुछभी नहीं हुआ। कार्कके लार्डमेयर वहांके स्वयंसेवकोंसे सन्धि करने आये और उनसे हथियार सौंप देनेको कहा। शर्त यह थी कि स्वयंसेवकोंको दण्ड न मिलेगा किन्तु वचन तोड़ा गया और तीसरी मईको मैक्स्विनी गिरफ्तार कर कार्कके जेलमें बन्द कर दिये गये। हफ्ते भर बाद वे डब्लिन भेजे गये और वहांसे वेकफिल्ड जेलमें पहुंचाये गये और अन्तमें उत्तरी वेल्सकी फ्रनगाक छावनीमें नजरबन्द किये गये। सारे देशमें सनसनी फैल गयी और यही बात बलवाई चाहते थे। वे खूब जानते थे कि बलवा वर्त्तमान बलहीन स्थितिमें सफल नहीं हो सकता। किन्तु जब कई बड़े बड़े देशभक्त स्वतंत्रताके इस युद्धमें अपने प्राणोंकी आहुति देंगे तो उन मूर्दोंमें भी जान आ जायगी जो जातिद्रोही और कायर हैं। फल यही हुआ देशकी चेतनतामें बिजुली दौड़ गयी। आयरिश लोकमत बलवेके पक्षमें हो गया। अगस्त महीनेमें गवर्नमेण्टने समझा कि इन नेताओंको लोगोंकी पहुंचसे बाहर रखना चाहिये। इसलिये ये लोग रीडिंग

जेलमें रखे गये। दिसम्बरकी २४ तारीखको ये सब छोड़ दिये गये। इङ्गलैण्डके प्रधानमंत्रीने कहा कि हम इस कार्यद्वारा आयर्लैण्डमें ऐसी स्थिति पैदा करना चाहते हैं कि वहांका लोकमत सन्धिके अनुकूल हो जाय। छुटे हुए नेताओंने फिर वही काम हाथमें लिया जिसे वे छोड़कर गये थे। फल यह हुआ कि २२वीं फरवरी सन् १९१७ ई०को मैक्स्विनी फिर गिरफ्तार कर लिये गये और इङ्गलैण्डके ब्रामयार्ड स्थानको भेजे गये। वहां वे नजरबन्दीमें रखे गये। जूनके अन्तमें यह आज्ञा रद्द की गयी और मैक्स्विनी कार्कको लौट आये। उनकी रफ्तार वही रही जो पहले थी। अक्तूबरमें वे फिर गिरफ्तार किये गये। ६ माहकी जेलकी सजा मिली। उन्होंने जेलके अन्दर भोजन छोड़ दिया और नवम्बरमें वे बरी कर दिये गये। १९१८ के मार्च महीनेमें वे फिर गिरफ्तार कर लिये गये। उनसे कहा गया अपनी ६ महीनेकी सजा पूरी करो। चौथी सितम्बरको उनके ६ महीने पूरे हुए और वे जेलके फाटकपर पहुंचते ही गिरफ्तार कर लिये गये और इंगलैण्डकी लिङ्कन जेलमें भेज दिये गये। इस जेलमें डे वेलेरा आदि नेता भी रखे गये थे। अभियोग यह था कि ये लोग जर्मनीसे मिलकर षड्यन्त्र रच रहे हैं। इन सब बातोंसे आयर्लैण्डमें प्रजातन्त्रकी लहर बढ़ती गयी।

५---आयरिश प्रजातन्त्र

जिन दिनों सिनफिनमें कम आदमी थे उन दिनों उसकी

-नीति पार्लामेण्टको अस्वीकार करके आयरिश प्रतिनिधियोंको हटानेकी थी। किन्तु अब जबकि इसका ज़ोर बढ़ गया तो इसने अपने मेम्बर खड़ेकर आयरिश शासन-सभा बनानेकी सोची। इसका अर्थ यह था कि जब देशका बहुमत प्रजातंत्रवादियोंको अपने प्रतिनिधि चुनकर इङ्गलैण्डका राज्य नहीं चाहता है तो उनसे जबरदस्ती मनवाना असम्भव है। इस प्रकार 'डेल इरान' अर्थात् आयरिश शासन-सभाकी उत्पत्ति हुई। दिसम्बर १६१८ के चुनावसे मालूम हुआ कि १०५ मेम्बरोंमेंसे ७३ मेम्बर प्रजा-तन्त्रवादी चुने गये हैं और अधिकांश वे हैं जो नजरबन्द हैं। इनमें मैक्स्विनी भी चुना गया था। १६१६ के मई महीनेमें सब नजरबन्द छोड़ दिये गये। आयरिश शासन-सभाने अपनी अदालतें, अपनी पंचायतें तथा बोर्ड स्थापन किये। आयरिश स्वयंसेवक प्रजातन्त्रकी सेनामें परिणत हो गये। अब इंगलैण्ड-के साथ नियमित रूपसे युद्ध आरम्भ हो गया।

कार्कके चुनावमें टामस कर्टिन लार्ड मेयर चुना गया। किन्तु कुछ छद्मवेशी गुंडोंने उसे गोलीसे मार दिया। आयलैंडवाले कहते हैं ये गुंडे पुलिसवाले थे। जूरीने लायड जार्जको अपराधी बताया। इस स्थानकी पूर्तिके लिये मैक्स्विनी चुने गये। मैक्स्विनी पदका भूखा नहीं था; किन्तु वह समय संकटका आगया था और लोग घबरा रहे थे। पहले लार्ड मेयर टामस कर्टिनकी हत्यासे यह आशंका हो रही थी कि लार्ड मेयरका पद या तो खाली रह जायगा या इसपर अंगरेज सरकारका

कोई पक्षपाती रखा जायगा। ऐसी स्थितिमें मैक्स्विनीने जनताको ढाढ़स बंधानेके लिये यह पद स्वीकार किया। इस अवसरपर मैक्स्विनीने जो भाषण दिया उसमें उसने कहा था—"मैं एक सैनिकके रूपमें यह पद स्वीकार कर रहा हूं। पहला लार्ड मेयर मारा गया है उसकी खाली जगह भरनेके लिये मैं आया हूं। यह समय साधारण नहीं है। पहले लार्ड मेयरकी हत्यासे यह मालूम पड़ता है कि हमें भयभीत करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इस धमकीका उत्तर देना हमारा पहला कर्तव्य है। इसका उचित उत्तर यही है कि हम निर्भय, शान्तचित्त और अपने उद्देश्यमें डटे रहें। यही बात दिखलानेके लिये मैं यह पद स्वीकार कर रहा हूं। ×+×× हमारा यह संग्राम प्रतिहिंसावृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये नहीं है। यह तो सहिष्णुताका युद्ध है। इसमें उनकी विजय नहीं होगी जो शत्रुको अधिक यन्त्रणा पहुंचायंगे किन्तु उनकी जो अधिक यन्त्रणा सह सकेंगे। साथ ही साथ हम अपना वह अधिकार भी नहीं छोड़ेंगे जिससे दुष्टों और हत्यारोंको अपने अपराधका दण्ड दिया जाता है। ××× कभी २ अपने वर्तमान दुःखसे छटपटाकर हम बिना विचारे मूर्खतासे चिल्ला उठते हैं कि हम बहुत बड़ा बलिदान कर रहे हैं। किन्तु इसका कारण यह है कि जातिके शूरवीर और सबसे श्रेष्ठ रत्नोंको ही जीवनदान करना पड़ता है। इससे छोटा बलिदान इसका उद्धार नहीं कर सकता। इस कारण ही हमारा संग्राम धर्मयुद्ध है। इसे देशके लिये मरे हुए इन वीरोंके रक्तने

पवित्र कर दिया है और यह शहीद हमारी विजयको पक्की कर गये हैं। जो काम उन्होंने अधूरा छोड़ा है वह हम उठा रहे हैं; निभाना भगवानके हाथ है। हम तो अपनी बारीमें अपना बलिदान चढ़ानेको आये हैं। हम निरपराधका रक्त बहाने नहीं आये; हम तो अपना खून बहायंगे और यह सब अपने देशके उद्धारके लिये। शत्रुसे हम साफ साफ कहेंगे हमको दया नहीं चाहिये और न हम आपसे कोई समझौता करेंगे। किन्तु दयामय भगवानसे हम हाथ जोड़ प्रार्थना करेंगे 'हे भगवन्! हमें शक्ति दीजिये जिससे धैर्यके साथ काम कर सकें, चाहे कितने ही कष्ट क्यों न पायं देशको विजयी बना दें,।" पाठक इससे मालूम करेंगे कि किस भयानक समयमें मैक्स्विनीने लार्ड मेयरका संकटपूर्ण पद स्वीकार किया था।

मैक्स्विनीने जी जानसे प्रयत्न किया कि कार्क नगरमें सुप्रबन्ध रहे। सुबह दस बजे वह आफिस जाता था और रात दस बजे वापिस आता था। उसे दिखाना था कि प्रजातन्त्र-वादी आयर्लैण्डमें स्वराज्य ही नहीं किन्तु सुराज्य भी रख सकते हैं। इस पदके साथ साथ मैक्स्विनी उन दिनों कार्क ब्रिगेडका कमांडिंग अफसर भी था। जहां कहीं प्रजातन्त्रवा-दियोंने म्युनिसिपलिटियों तथा अन्य बोर्डोंको अपने हाथमें लिया वहीं ईमानदारी, कमखर्ची और अपने अच्छे इन्तजामसे जनताको अपने वशमें कर लिया। यह देखकर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट घबरायी। उसने उनकी अदालतें बन्द कर दीं, म्युनि-

सिपलिटीके बड़े बड़े पदाधिकारियोंको गिरफ्तार कर लिया और प्रजातन्त्रवादियोंको दबानेकी प्रबल चेष्टा की। १२ वीं अगस्तको रातके ८ बजे कार्कके सिटी हालको भी सेनाने घेर लिया। मैक्स्विनी और उसके दस साथी गिरफ्तार कर लिये गये। इनपर न कोई अभियोग लगाया गया न तलाशीमें कोई संदेहजनक वस्तु वहां मिली। रातको १२ बजे सिटी हालपर फिर दूसरा धावा हुआ और मैक्स्विनीकी चिट्ठियोंका निजू दराज खोला गया जिसमें कुछ कागजपत्र मिले। इन कागजोंके आधारपर ४ अभियोग लगाये गये। कोर्ट मार्शलमें इनका मामला किया गया। इस मामलेकी रिपोर्ट 'कार्क इग्जमिनर' नामक स्थानिक पत्रके १७ वीं अगस्तके अङ्कमें इस प्रकार छपी थी:—

"लार्ड मेयर राइट ओनरेबल टेरेन्स मैक्स्विनीने गिरफ्तारीके बाद भोजन नहीं किया था। उनमें दुर्बलताके चिह्न प्रकट हो रहे थे। एक आराम कुर्सीपर वह बिठलाये गये। दोनों तरफ बन्दूकधारी दो सिपाही खड़े थे। इनके कई मित्र और साथी वहां उपस्थित थे। जो आदमी अदालतमें आता था उसका नाम धाम पूछकर रजिस्टरमें लिखा जाता था और उसकी तलाशी ली जाती थी। जब लार्ड मेयरसे पूछा गया "क्या तुम्हारा कोई वकील भी है?" तो उन्होंने उत्तर दिया "मैं तुम्हारी कार्रवाईके बारेमें एक बात कहना चाहता हूं। तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध यह है कि मैं कार्कका लार्ड मेयर हूं, इस

नगरका सबसे बड़ा मजिस्ट्रेट हूं और मैं घोषणा करता हूं कि तुम्हारी अदालत गैरकानूनी है। आयरिश प्रजातन्त्रके कानूनोंके अनुसार इसमें भाग लेनेवाले गिरफतार किये जा सकते हैं।"

इसके बाद सरकारी वकीलका बयान हुआ और कई लोगोंकी गवाहियां हुईं। अन्तमें मजिस्ट्रेटने मेक्स्विनीसे पूछा कि "आपको कुछ कहना है?" मेक्स्विनी कुर्सीसे उठने लगा। किन्तु मजिस्ट्रेटने कहा—"नहीं, आप कमजोर हैं, बैठे रहिये।" लार्ड मेयरने उत्तर दिया—"आपकी कार्रवाई समाप्त होनेतक मैं खड़ा रह सकता हूं। उसके बाद मैं जीऊं या मरूं एक बात है। मैं कह चुका हूं कि आपकी कार्रवाई गैरकानूनी है। मैं जो कुछ कहना चाहता हूं वह अपने बचावके लिये नहीं। आप लोग समझेंगे और बहुत शीघ्र समझेंगे कि आयरिश प्रजातन्त्र वास्तवमें विद्यमान है। मैं आपको स्मरण दिलाना चाहता हूं कि जो अपराध किसी राष्ट्रके प्रधानके प्रति किया जाता है वह सबसे बड़ा है और उसकी अवैधता और भी बढ़ जाती है जब कि ऐसे पुरुषको गिरफतार करनेके साथ साथ उसका मकान और कमरा जबरदस्ती खोला जाता है और वहांसे उसके कागज-पत्र उठा लिये जाते हैं। महाशयो! मैं थोड़ी देरके लिये स्थिति उलट कर आपको कटघरेमें रखना चाहता हूं। मेरी तलाशीमें एक कागज ऐसा मिला है जिसमें जूरीने मेरे भूतपूर्व पदाधिकारीकी हत्याके विषयमें ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और उसकी पुलिसको एकमत होकर खूनका अपराधी बताया था। अब आप

स्पष्ट रूपसे समझ सकते हैं कि आज इस गैरकानूनी अदालतमें भी पहले इस बातका फैसला होता; किन्तु वह कागज छिपा दिया गया है। ऐसा करना उन खूनियोंका अपराध सिद्ध करना है। इससे आप समझ सकते हैं कि मेरी स्थिति संकटपूर्ण है क्योंकि मैं किसी समय मारा जा सकता हूं। आप शायद पहले कागजको छिपाकर किसी दूसरे आदमीपर अभियोग खड़ा करना चाहते हैं; किन्तु मैं कहूंगा कि इन सबका जिम्मेवार मैं हूं। आप लोगोंने एक मजेकी बात और की है। मैंने एक चिट्ठी पोपको लिखी थी। वह ओलिवर प्लंकेटको दीक्षा देनेके समय लिखी गयी थी। वह पोपके पास पहुंच चुकी होगी। जब वह यह सुनेंगे कि यह पत्र भी मेरे पास रहनेसे राजविद्रोही गिना गया है तो क्या ही हंसेंगे।"

इसपर सरकारी वकीलने कहा--"इस पत्रके कारण आपपर कोई अभियोग नहीं लगाया गया है। यह पत्र आपको लौटा दिया जायगा। "यह सुनकर लार्ड मेयर बोले"—अब इतने दिनों बाद इस भूलसुधारसे कोई लाभ नहीं। हां, मेरी एक और चिट्ठी पुलिस ले गयी है। पैरिसकी म्युनिसिपल काउन्सिलके अध्यक्षने यह पत्र मेरे पास भेजा था जिसमें कार्कके बंदरगाहके विषयमें कई बातें पूछी गयी थीं। मैंने इसका उत्तर दिया और जवाबकी एक नकल अपने पास रख ली। अब फ्रेञ्च सरकार यह सुनकर खूब हंसेगी कि पैरिसकी म्युनिसिपलिटीके अध्यक्षके लिये यह अपराध है कि वह मुझसे पत्रव्यवहार करे और मेरी

जेवमें रहनेसे यह पत्र राजविद्रोही हो गया है। और लीजिये; कई विदेशीपत्र-संपादकोंके विजिटिंग कार्डस् तलाशीमें मिले और वे भी राजविद्रोही गिने गये। मुझे इन वातोंकी कुछ परवा नहीं है। किन्तु यह अनुचित है कि दूसरोंको फंसानेके लिये एक स्थानपर मिले हुए कागज दूसरे स्थानपर मिले हुए बतलाये जायं। इस विषयमें सैनिकों और अफसरोंने विश्वासघात किया है। मैं साफ साफ कहूंगा कि मुझे यह देखकर बड़ा दुःख हुआ क्योंकि मैं आयरिश प्रजातन्त्रका सैनिक हूं और प्रत्येक सैनिकका आदर करना चाहता हूं। मैं फिर उन राजविद्रोही शब्दोंकी याद दिलाता हूं जो मैंने अपने निर्वाचनके समय कहे थे। मैंने कहा था "मैं किसीसे दयाकी भिक्षा नहीं मांगता हूं और न समझौता ही करना चाहता हूं। मैं यही सिद्धान्त मानता हूं; मैं कोई दया नहीं चाहता।"

लार्ड मेयरको कैदकी सजा दी गयी। उन्होंने कहा—"मैं यह कह देना चाहता हूं कि आप मनचाही सजा दीजिये किन्तु मैं शीघ्र ही इसका अन्त कर दूंगा। मैंने वृहस्पतिवारसे कुछ नहीं खाया है इसलिये मैं महीने भरमें ही मुक्त हो जाऊंगा।" इसपर मजिष्ट्रेट बोला—"क्या कैदकी सजा मिलनेपर आप भोजन करना छोड़ देंगे?" लार्ड मेयरने उत्तर दिया—"मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूं कि मैंने अपनी पराधीनताका समय निश्चित कर लिया है। अब आपकी सरकार चाहे जो करे। जिन्दा रहूं या मर जाऊं किन्तु महीने भर के भीतर स्वाधीन हो जाऊंगा।"

उनको दो सालकी सजा हुई। दूसरे रोज सुबह तीन और चार बजेके बीच जहाजपर सवार कराकर वे वेल्सके पेम्ब्रोक डकपर पहुंचाये गये और लण्डन भेज दिये गये। १८ अगस्तकी सुबहको ४ बजे वे ब्रिक्सटन जेलके गवर्नरको सौंप दिये गये। अब उस यन्त्रणाका आरम्भ हुआ जो संसारमें उथल पुथल मचा गयी।

६—महात्माका अनशन व्रत

ब्रिक्सटन जेलमें जो वीरता मैक्स्विनीने दिखलायी वह उसे ही नहीं सारे आयर्लैंडको अमर कर गयी है। मैक्स्विनीने प्रण किया था कि महीने भरमें स्वाधीन हो जाऊंगा। पतितोंके उद्धारक भगवानने कहा—"तुम सदा स्वाधीन हो, किन्तु उन गिरे हुए लोगोंको अपने अपूर्व त्याग और सहिष्णुताके उदाहरणसे उठा जाओ जो गुलामीको गलेका हार समझ कर उससे चिपटे हुए हैं।" इसलिये महात्मा मैक्स्विनीने तिल तिल करके अपना मांस और अपनी हड्डी उन देवताओंको खिला दी जो बिना इतने बड़े क्रूर बलिदानके पराधीन देशको जगानेको तैयार नहीं रहते।

इस विषयपर लार्ड मेयरके पादरी फादर डोमिनिकने अपनी आंखों देखी जो बातें लिखी हैं हम यहां उनमेंसे कुछ देंगे। पाठक ध्यानसे पढ़ें और मनन करें कि देशका कार्य उन लोगोंसे नहीं होता जो जेलमें जाकर चोरीसे भी पूरी कचौड़ी खाते हैं, माल-पुवे उड़ाते हैं और इतना साहस नहीं करते कि कमसे कम

सिग्रेट, तमाखू आदि दुर्गुण तो छोड़ दें जिनका व्यवहार करनेसे साधारणसे साधारण नौकरशाहीके कर्मचारी—जेल दारोगाके सामने उनकी त्यागी महान् आत्मा झुक जाती है। सुनिये, फादर डोमिनिक क्या कहते हैं—"मैं बीसवीं तारीखको लेडी मेयरके साथ लण्डनके लिये रवाना हुआ। दूसरी सुबह वहां पहुंचा। लार्ड मेयरको देखते ही मालूम हुआ कि इनकी हालत बहुत खराब है। चेहरा पीला पड़ गया था, मुंह सूख गया था और कमजोरी अपना राज्य जमा चुकी थी। किन्तु बुद्धि बिलकुल स्पष्ट थी और वह दृढ़प्रतिज्ञ थे कि भले ही उनकी जान चली जाय किन्तु वे जेलके बाहर निकल कर रहेंगे। वह अस्पतालके उस कमरेमें थे जहां आयर्लैण्डका सिंह रोजर केसमेण्ट बन्दी था। कई अंगरेजी पत्रोंने छापा था कि लार्ड मेयरने भोजन शुरू कर दिया है या उठनेके योग्य हो गये हैं, आदि। यह सब बातें सरासर झूठ थीं। लार्ड मेयरने गिरफ्तारीके बाद भोजन किया ही नहीं। लार्ड मेयर मैक्स्विनी ब्रिक्सटन जेलमें सदा शान्त होकर पलंगपर लेटे रहते थे। कारण यह था कि वह अपनी जीवनी शक्तिको सुरक्षित रखना चाहते थे। देशके लिये मरनेको तैयार रहते हुए वह यह देखनेको बड़े इच्छुक थे कि आयरिश झंडेको संसारकी जातियां सलामी दें।"

"कलम दम नहीं रखती कि उनकी दारुण यन्त्रणाओंका वर्णन करे। सोचिये और अनुभव करनेकी चेष्टा कीजिये कि तुम्हारे कन्धेमें, पीठमें, घुटनोंमें तथा बदनके प्रत्येक जोड़में कितना दर्द

होगा यदि एक दिन भी लेटे रहना पड़े। ऐसी स्थितिमें घुटनों-को हिलाने डुलानेसे कितना आराम मालूम पड़ता है किन्तु इस वीर सैनिकको यह आराम भी न मिला। उसके घुटनोंका मांस सूख गया था और उसमें इतनी ताकत भी न थी कि वह अपने बदनके कपड़ोंका भार ही उठा सके। एक दिन नहीं सत्तर दिन तक लगातार इस वीरने यह यातना सही। इस कष्ट और यन्त्र-णाके साथ साथ अनशन व्रतकी तकलीफ थी। मुझसे कहा गया था कि कुछ दिन भूखे रहनेके बाद फिर खानेकी इच्छा ही नहीं रहती। मैंने लार्ड मेयरसे इस विषयपर प्रश्न किया। उन्हें बेहोश होनेके दिनतक भोजन करनेकी इच्छा थी। एक बार तो उन्होंने कहा कि मैं एक प्याला चायके लिये इस भूखकी हालत-में एक हजार पाउण्ड भी दे देता। ज्यों ज्यों भोजन न मिलनेसे खून कम होता गया उनको स्नायविक दुर्बलताने घेर लिया। उनको हृद्रोग हो गया, सिरमें सूई चुभनेके समान दर्द होने लगा, आंखें अन्धी होने लगीं और कान बहरे होने लगे। उस समयकी मानसिक व्यथाका विचार कीजिये जब वह अपनी पत्नी, बहन और भाइयोंको देखते थे। इनके उपस्थित रहनेसे उन्हें आराम भी था, किन्तु इनसे अलग होनेका दुःख और यह विचार कि मेरा दुःख देखकर इन लोगोंके हृदयमें क्या भाव उठते होंगे उन्हें घोर कष्ट दे रहा था। इसपर भी वह न कभी गिड़गिड़ाये और न नाममात्रको डगमगाये। उन्होंने ईश्वरको धन्यवाद दिया कि उसने उन्हें वह मौत दी है जो संसारमें कम लोगोंके भाग्य-

में होती है। डाक्टरों और दाइयोंने अच्छी सेवा की किन्तु अन-शन व्रतके कारण यह लोग भी उनसे नाराज थे। वे इसे बेव-कूफी समझते थे। लार्ड मेयरको समझाने बुझानेकी चेष्टा करके, उनके परिवारकी याद दिलाकर और यह कह कर कि यदि आप जीते रहते तो आयर्लैण्डके लिये कितना काम कर सकते थे उन्होंने इनको बड़ा दुःख दिया। अपनी यन्त्रणा भूलकर लार्ड मेयरको उन साथियोंको याद आती थी जो कार्ककी जेलमें कैद थे। वे नितप्रति उनका समाचार पूछते थे और उनके लिये प्रार्थना करते थे। उन वीरोंके विषयमें वह कहते थे कि जबतक हमारे पास ऐसे नवयुवक और ऐसे पुरुष हैं आयरिश प्रजातन्त्रको कोई भय नहीं। इनकी तुलना अंगरेजोंसे कीजिये, शिक्षित अंगरेजोंसे कीजिये, इन डाक्टरोंसे कीजिये जो हमारे पास हैं तो आपको मालुम हो जायगा कि वे कितने श्रेष्ठ हैं। वे नितप्रति ईश्वरकी वन्दना करते थे और कहते थे कि मुझे इससे शक्ति मिल रही है। धन्य है टेरेन्स मैक्स्विनी ! धन्य है आयरिश प्रजातन्त्रकी सेनाका कार्क ब्रिगेडका कमांडिंग अफसर !! धन्य है कार्कका लार्ड मेयर !!!"

अनशन व्रतके चौहत्तरवें दिन लार्ड मेयर मैक्स्विनी परलोक सिधारे। उनके मित्र ओ हेगार्टी कहते हैं कि यदि डाक्टर उन्हें बेहोशीकी हालतमें कुछ दिन पहले भोजन न कराते तो वह दिन और जीवित रहते। इस वीरने अपना वचन

रख और जेलका दरवाजा तोड़ डाला। लण्डनके टाइम्सने ठीक ही कहा था "इस वीरने मौतको वरण करके अपना साहस और दृढ निश्चय संसारको दिखला दिया।" ब्रिटिश गवर्नमेण्टने उनके मरनेके कुछ दिन पहले उनकी दो वहनोंको वलात्कार जेलसे वाहर कर दिया। जव वे मर गये तो उनकी लाश उनकी स्त्रीको देनेमें आनाकानी की। जव लाश मिली भी तो रास्तेमें रोक ली गयी। कार्कमें जव यह लाश पहुंची तो अजीव हालत थी। सिटी हालमें जहां यह रखी गयी थी दर्शकों-का मेला लग गया। ३१वीं अक्तूवर सन् १९२० ई० को अपने ४१ वें वर्षमें मैक्स्विनी स्वर्गस्थ हुए। इनकी कब्रपर आयर्लैण्डके राष्ट्रपतिने कहा था कि "जोन आफ आर्क स्वर्गमें अपने इस सहयोद्धाका स्वागत कर रही होगी।" इनसे उपयुक्त शब्द और कहां मिलेंगे।

स्वाधीनताके सिद्धान्त

प्रथम परिच्छेद

स्वाधीनताका मूल

(१)

हमें स्वाधीनताके लिये संग्राम क्यों करना चाहिये ? क्योंकि स्वाधीनताके इस संग्रामका वास्तविक अर्थ और इसकी ओर प्रवृत्त करनेवाली असली शक्तिको बहुत कम लोग समझते हैं और इस कम समझनेका विचित्र फल देखनेमें आ रहा है। एक ही पक्षके लोग अपने आदर्श और कार्यक्रमके विषयमें महान् व गम्भीर भेदोंके कारण बिछुड़ गये हैं।

(२)

मैं अपनी मातृभूमिमें देख रहा हूं कि कार्यके परिणामसे उसके साधनोंको भला या बुरा बतानेका सिद्धान्त सर्वत्र काममें लाया जा रहा है। निन्दनीय कूटनीतिको काममें लानेके लिये एक पक्ष दूसरेको दोष देता है किन्तु ऐसे उपायोंको काममें लानेसे यदि उसे गर्हित विजय प्राप्त हो तो उसे कुछ भी संकोच नहीं होता इसलिये आवश्यक है कि साफ बात कही जाय। वह युद्ध जिसमें

शुद्ध साधनोंसे काम नहीं लिया जाता विजयको पराजयसे भी अधिक कलंकित कर देता है। मैं यह बात स्पष्टरूपसे कह रहा हूं, क्योंकि हम ब्रिटिश राज्यसे अलग होनेके पक्षमें हैं और मैं यह दलील भी सुन रहा हूं यदि हो सके तो अंग्रेजोंकी शक्तिको चकनाचूर कर देनेके लिये हमें किसी विदेशी राष्ट्रसे सन्धि कर लेनी चाहिये। भले ही वह राष्ट्र किसी दूसरे देशकी स्वाधीनता-को नष्ट भ्रष्ट करनेमें लगा हुआ हो। यदि देश प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे दूसरी जातिकी स्वाधीनताका हरण करके स्वतंत्र बने, तो उसके सिरपर वही शाप पड़ेंगे जो वह युगोंसे स्वयं अत्याचारके ऊपर बरसाता आ रहा है।

मैं समझने लगा हूं कि हमारे लिये यह सम्भव है कि नीच उपायोंसे स्वाधीनता पा लें। इसलिये यह और भी आवश्यक है कि हम अपनी नीतिकी घोषणा करें और समझें कि हम कहां खड़े हैं। मैं तो इस सिद्धान्तको पकड़कर खड़ा हूं कि आत्मिक पराजयका मूल्य बड़ीसे बड़ी सांसारिक विजय भी नहीं चुका सकती। जो पक्ष इसके विरुद्ध है वह पक्ष मेरा नहीं हो सकता।

(३)

हमारी स्वाधीनताका दावा किस बुनियादपर है? बालकोंके स्वाभाविक उत्साह और वृद्धोंके अनुभवपर। प्रथम जब कि लड़के स्कूलोंसे ताजे बाहर निकलते हैं, उनकी आयु बीसके नीचे होती है, वे प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक वस्तुके विरुद्ध आक्रमण

करनेको तैयार रहते हैं, तो वो बातें कहनेमें आनन्द लेते और स्वाधीनताके विषयमें छाती खोलकर खूब बातें करते हैं किन्तु इतनेहीमें संतुष्ट हो जाते हैं कि हम बड़ी निर्भीकता पूर्वक बातें छांट रहे हैं। इसके बाद बचपन चला जाता है, स्थितिकी भलीभांति परीक्षा करनेके लिये हम मैदानमें आते हैं और संसारमें अपना निश्चित कार्य ग्रहण करते हैं। कई वर्षतक संसारका अनुभव प्राप्त करते हैं, जीवनके कठोर संग्राममें पड़ते हैं और घोर संकटोंके बाद हममें स्थिरता आ जाती है। हमारा हृदय गहरी बातोंमें पैठनेके लिये उत्सुक होता है। तब इतना ही यथेष्ट नहीं समझा जाता कि हम पराक्रमकी बातें करें। हमारी बातोंसे सत्यकी ध्वनि निकलनी चाहिये। ये दो कारण न होते तो शायद ही कोई मनुष्य प्यारी मातृभूमिपर बलि जानेके लिये तत्पर होता।

(४)

परिस्थिति मिल जाती है। पराधीन राष्ट्रमें ठीक उसका उलटा होता है। जब एक देश दूसरे देशको अपने अधीन रखता है तो दास देशका साम्पत्तिक और नैतिक नाश होता है और लूट खसोटका शिकार बननेके कारण उसकी सम्पत्ति घटती है। विजयी जाति अपनी प्रभुता जमानेके लिये जिन दूषित आचरणोंका व्यवहार करती है उनसे विजित जातिका नैतिक पतन होता है। इस नैतिक नाशसे राष्ट्रको बचानेके लिये गुलामीसे लड़ना पड़ता है। दास देशमें दोष फलते और फूलते हैं। जो आदमी यह बात भलीभांति हृदयङ्गम कर लेता है उसके लिये इसके विरुद्ध लड़नेके सिवा और चारा ही नहीं रहता। दासताके साथ हम सन्धि नहीं कर सकते। राज्यमें शासनकर्त्ताओंका कर्त्तव्य होता है कि वह प्रजाके उत्तमसे उत्तम गुणोंका उत्कर्ष करें। विदेशी शासन घृणितसे घृणित दोषोंको बढ़ानेमें सहायता करता है। हमारे इतिहासमें इसके कई उदाहरण मिलते हैं। जब राजघरानेके लोग यहां पधारते हैं तब अपने शासनको जड़ मजबूत करनेवालोंपर रिआयतों और उपाधियोंकी बौछार करते हैं। कृपा उनपर की जाती है जो राष्ट्रीय हितका घात करते हैं। जरा सोचिये तो सही! जिन मनुष्योंका सम्मान किया जाना चाहिये था वे ऐसे लोगोंकी तुलनामें कुछ नहीं समझे जाते जो निन्दाके पात्र हैं। दुराचारी राजनीतिज्ञके भीतर भी कुछ सद्गुण छिपे रहते हैं। स्वतंत्र राष्ट्र इन्हें जगाकर इनका उत्कर्ष करता है पर विदेशी सरकार नीच वृत्तियां काममें लानेके लिये उसे उपाधि

परिस्थिति मिल जाती है। पराधीन राष्ट्रमें ठीक उसका उलटा होता है। जब एक देश दूसरे देशको अपने अधीन रखता है तो दास देशका साम्पत्तिक और नैतिक नाश होता है और लूट खसोटका शिकार बननेके कारण उसकी सम्पत्ति घटती है। विजयी जाति अपनी प्रभुता जमानेके लिये जिन दूषित आचरणोंका व्यवहार करती है उनसे विजित जातिका नैतिक पतन होता है। इस नैतिक नाशसे राष्ट्रको बचानेके लिये गुलामीसे लड़ना पड़ता है। दास देशमें दोष फलते और फूलते हैं। जो आदमी यह बात भलीभांति हृदयङ्गम कर लेता है उसके लिये इसके विरुद्ध लड़नेके सिवा और चारा ही नहीं रहता। दासताके साथ हम सन्धि नहीं कर सकते। राज्यमें शासनकर्त्ताओंका कर्त्तव्य होता है कि वह प्रजाके उत्तमसे उत्तम गुणोंका उत्कर्ष करें। विदेशी शासन घृणितसे घृणित दोषोंको बढ़ानेमें सहायता करता है। हमारे इतिहासमें इसके कई उदाहरण मिलते हैं। जब राजघरानेके लोग यहां पधारते हैं तब अपने शासनकी जड़ मजबूत करनेवालोंपर रिआयतों और उपाधियोंकी बौछार करते हैं। कृपा उनपर की जाती है जो राष्ट्रीय हितका घात करते हैं। जरा सोचिये तो सही! जिन मनुष्योंका सम्मान किया जाना चाहिये था वे ऐसे लोगोंकी तुलनामें कुछ नहीं समझे जाते जो निन्दाके पात्र हैं। दुराचारी राजनीतिज्ञके भीतर भी कुछ सद्गुण छिपे रहते हैं। स्वतंत्र राष्ट्र इन्हें जगाकर इनका उत्कर्ष करता है पर विदेशी सरकार नीच वृत्तियां काममें लानेके लिये उसे उपाधि

देती है। ऐसे प्रलोभनसे अवश्य ही दुर्नीति बढ़ती है। मनुष्य देवता नहीं है और उत्तमसे उत्तम परिस्थितिमें भी उसे उचित कार्य करना कठिन मालूम पड़ता है। जब बुरा काम करनेके लिये चारों तरफसे प्रलोभन मिलता है तो उसमें स्वतः नीच भाव प्रकट होने लगते हैं। देशके सौभाग्यसे हममेंसे अधिकांश इस बुरे प्रभावके वश नहीं होते। किन्तु हमारा विश्वास अपने ऊंचे आदर्शसे हट जाता है। हम आदर्शकी अवहेलना करने लगते हैं। हमारे भीतर सद्वृत्तियां रहती हैं किन्तु हम उन्हें विकसित नहीं होने देते। प्रत्येक मनुष्यका हृदय महान् और सुन्दर आदर्शके लिये उत्सुक रहना चाहिये किन्तु जो भूमि सर्वत्र उजड़ी हुई है और बरबाद हो गयी है वहां इस बातकी आशा करना निराशाके गड्ढेमें गिरना है। स्वतंत्रताके शब्दका गूढ़ अर्थ यह है कि बल-प्रयोगसे हमारी आत्माका हनन कोई नहीं कर सकता।

सफल हो जायंगे तो हमारे बाद सबसे अधिक लाभ इङ्गलैंडका ही होगा। यह बातअद्भुत सी जान पड़ती है किंतु सत्य यही है। इसकी सत्यतामें इसलिये बाधा नहीं पड़ती कि अंग्रेज लोग इस समय शायद ही इसे समझते अथवा इसका मूल्य जानते हैं। हमारे मुल्ककी सैनिक शक्ति इस समय हास्यप्रद है। स्वाधीन आयलैंड इसे ठीक करेगा—शत्रुके आक्रमणोंके विरुद्ध अपना सैन्यबल बढ़ायेगा। इससे इङ्गलैंड आयलैंडकी ओरसे होनेवाले शत्रुके आक्रमणसे बच जायगा। मेरी समझमें इतना बड़ा मूर्ख कोई न होगा जो यह विचार करे कि स्वतंत्र आय-लैंड बिना किसी मतलब दूसरोंसे झगड़ा करेगा। हम निष्पक्ष रहेंगे। हमारी सहज बुद्धि हमें निष्पक्ष बनाये रखेगी और हमारा सत्यप्रेम भी हमें झगड़ेसे अलग रखेगा।

स्वाधीन राष्ट्रके ऊपर यह जिम्मेदारी होती है कि वह दूसरे राष्ट्रकी स्वाधीनताका शत्रु न बना रहे। सर्वजातीय स्वाधी-नता सार्वभौमिक रक्षाका पथ साफ करती है। यद्यपि यह सत्य है कि जबतक संसारमें जालिम सरकारें हैं एक राष्ट्र चाहे वह कितना ही भला क्यों न हो संसारकी दशा नहीं सुधार सकता तौ भी उसका कर्तव्य है कि अपना राजकाज इस ढंगसे चलावे कि वह सार्वभौमिक स्वतंत्रता और भ्रातृत्वके अनुकूल हो। आश्चर्यजनक होनेपर भी ठीक बात यह है कि इङ्गलैंडसे सम्बन्ध टूट जानेपर ही हमारी उससे टिकाऊ मित्रता हो सकती है क्योंकि आयलैंडका कोई भी निवासी इतना मूर्ख

नहीं है जो चिरकालके लिये इंगलैंडसे लड़ते रहना चाहे। यह बात बुद्धिके बाहर है। हमारी स्वाधीनताके संग्रामके स्वच्छ अभिप्रायका प्रमाण यह है कि हमारी स्वतंत्रता शत्रुको हानि पहुंचानेके बदले उसका उपकार करनेके लिये होगी। यदि हम शत्रुको क्षति पहुंचाना चाहते हैं तो हमें आज कलकी ही हालतमें अर्थात् उसके लिये भयका हौआ बनकर रहना चाहिये। ऐसे अवसर मिलते रहेंगे किन्तु वे हमें शायद ही दुखी बनावें। यथार्थमें विचार किया जाय तो कुछ देशोंको स्वतंत्र कर देनेसे ही स्वाधीनताका कार्य पूरा नहीं होता। स्वाधीनताके द्वारा नाना जातियोंमें भ्रातृत्व और संसारमें सच्चा बंधुत्व स्थापित होना चाहिये।

(६)

मैंने बहुत सोच विचार कर लिखा है जिससे कोई इस प्रबंधका अर्थ समझनेमें भूल न करे। मेरा प्रयोजन स्पष्ट है।

हमारी अंतरात्मा हमें बतला रही है

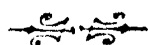
संख्यामें कम होनेपर भी युद्धक्षेत्रमें डटे रहना चाहिये। वह मनुष्यत्वके जन्मसिद्ध अधिकारके लिये लड़ रहे हैं। बहुसंख्यक लोगोंको न तो इस स्वत्वको मेटनेका कोई अधिकार है और न इसे नाश करनेकी ही ताकत है। अत्याचारी लोग सत्यके इन सैनिकोंको तंग कर सकते हैं, देश-निकाला दे सकते हैं, फांसी पर लटका सकते हैं पर स्वतंत्रताका नाश नहीं कर सकते। आवश्यकता नहीं है कि पलटनें स्वाधीनताकी रक्षा करें और महात्मा इसकी घोषणा करें। हां कवियोंने सदा इसकी महिमा गायी है और असंख्य जनता अन्तमें इसे स्वीकार करेगी। केवल एक व्यक्ति स्वतंत्रताकी रक्षा करके सिद्ध कर सकता है कि मनुष्यसे इसे कोई जुदा नहीं कर सकता। और चूंकि ऐसे अकेले आदमीकी हार कभी नहीं होती इसलिये स्वाधीनता तथा सत्य सदैव अमर रहे हैं।

आयर्लैंडकी ऐसी दशा कभी नहीं हुई कि सारे देशमें केवल एक ही आदमी स्वतंत्रताका भक्त रहा हो। उसकी ऐसी दशा कभी हो भी नहीं सकती। हम सदियोंसे इसलिए जीवित नहीं हैं कि हमपर किसी दूसरेका आधिपत्य हो। प्रस्तुत संग्रामका वास्तविक अर्थ, इसकी आध्यात्मिकता तथा यह ज्ञान कि उचित साधनोंसे स्वतंत्रता प्राप्त करना. मनुष्य जातिमें भ्रातृभाव फैलानेके लिये उद्योग करना है, प्रत्येक देशवासीका यह कर्त्तव्य बना देता है कि वह अधिकांश लोगोंकी उपेक्षा करके सत्यका अवलंबन करे। जिसपर बहुमतके विरोध करनेका

कठिन अवसर आता है उसे बहुत बड़ा भार वहन करना पड़ता है किन्तु वह यह जानते हुए डटा रहता है कि उसकी विजय अधिकांश लोगोंको उस प्रिय आदर्शकी ओर ले जायगी जिसका उन्हें पता भी न था। वह अपने आदर्शके लिये गुप्तरूपसे तिरस्कृत होकर, प्रकटमें भ्रमपूर्ण सिद्धांत फैलानेका दोषी समझा जाकर, आपत्कालमें अटल रहकर और कभी न हारकर, कभी हताश न होकर तथा अपने थोड़ेसे सहयोद्धाओंको आनेवाले शुभ दिनके लिये उत्साहित करते हुए उनको अपनी सचाईको सिद्ध करते हुए, लड़ता रहेगा। यदि वे थोड़ेसे स्वतन्त्रताके सैनिक खेत रह जायं तो प्राण देते समय अपने आदर्शकी उच्चताको संसारके सामने उज्ज्वल करके रख जाते हैं। उनके बलिदानसे देश उनके आदर्शके प्रति चौकन्ना हो जाता है और जिसने देशको जगाया तथा आदर्शकी रक्षाकी उनकी सत्यता सिद्ध हो जाती है। सत्यता सिद्ध होती है उसी सारी जातिकी आवाजके विरुद्ध जिसके विरुद्ध वह एक समय अकेला खड़ा हुआ था। जिस समय वह मैदानमें अपने प्राणकी आहुति देता है उसी समय वह सारी जातिका नायक बन जाता है।



द्वितीय परिच्छेद



सम्बन्ध-विच्छेद

(१)

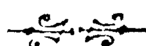
जब हम ब्रिटिश साम्राज्यसे अलग होनेके लिये यह दलील पेश करते हैं कि सम्बन्ध टूटनेपर ही हमारा देश पूरी उन्नति कर सकेगा और इसीके द्वारा इंगलैण्डके साथ हमारी पक्की सन्धि हो सकेगी तो हमारे शत्रुओंमें नाना प्रकारके भाव देखनेमें आते हैं। कुछ लोग इसपर सरसरी तौरपर और जोशमें आकर विचार करते हैं और अपने दलका ध्यान रखते हुए समझते हैं कि यह नरम अथवा निष्पक्ष दलपर आक्षेप किया गया है। दूसरे लोग इसपर मोटा विचार करते हैं, किन्तु अपने दिलमें सोचते हैं कि हम वैज्ञानिक रूपसे इसकी आलोचना कर रहे हैं और मुस्कुराकर इस प्रश्नको वेहूदा समझ अपने दिलसे बाहर कर देते हैं। अपने ही देशके नरम तथा निष्पक्ष दलसे वर्तमान समयमें इस विषयपर लड़ना ठीक नहीं है। किन्तु इन लोगोंके कारण हम लोगोंका दिल नहीं टूटना चाहिये क्योंकि यह लोग भी जनताके साथ खिंचे हुए चले आवेंगे। एक शुभ दिन आयगा जब एक महत्कार्य या एक वीरोचित बलिदानसे देशकी चेतनतामें बिजलीसी दौड़ जायगी और जनता

अपनी कुंभकर्णी निद्रा और दुराग्रहसे एकाएक सम्बन्ध तोड़ देगी और सत्य, वीर तथा साधु रूपसे स्वतन्त्रताकी जय मनाते हुए आगे बढ़ेगी। हमें उस शुभ मुहूर्तके लिये काम करना और तैयार रहना चाहिये।

(२)

ब्रिटिश साम्राज्यसे बाहर हो जानेके प्रश्नपर बारीक आलोचना करनेवाले सज्जनके भावोंके लिये कुछ अंशमें हम भी दोषी हैं। क्योंकि हमने कभी यह समझानेकी चेष्टा नहीं की कि सम्बन्ध-विच्छेदकी नीति उत्तम और बुद्धिमानीकी है। हमने अबतक विच्छेदकी नीतिको अपना अधिकार समझकर छातीसे लगा रखा है। इसके लिये लड़ाई की है, आत्मत्याग किया है और प्रतिज्ञा की है

द्वितीय परिच्छेद



सम्बन्ध-विच्छेद

(१)

जब हम ब्रिटिश साम्राज्यसे अलग होनेके लिये यह दलील पेश करते हैं कि सम्बन्ध टूटनेपर ही हमारा देश पूरी उन्नति कर सकेगा और इसीके द्वारा इंगलैण्डके साथ हमारी पक्की सन्धि हो सकेगी तो हमारे शत्रुओंमें नाना प्रकारके भाव देख-नेमें आते हैं। कुछ लोग इसपर सरसरी तौरपर और जोशमें आकर विचार करते हैं और अपने दलका ध्यान रखते हुए सम-झते हैं कि यह नरम अथवा निष्पक्ष दलपर आक्षेप किया गया है। दूसरे लोग इसपर मोटा विचार करते हैं, किन्तु अपने दिलमें सोचते हैं कि हम वैज्ञानिक रूपसे इसकी आलोचना कर रहे हैं और मुस्कुराकर इस प्रश्नको वेहूदा समझ अपने दिलसे बाहर कर देते हैं। अपने ही देशके नरम तथा निष्पक्ष दलसे वर्तमान समयमें इस विषयपर लड़ना ठीक नहीं है। किन्तु इन लोगोंके कारण हम लोगोंका दिल नहीं टूटना चाहिये क्यों-कि यह लोग भी जनताके साथ खिंचे हुए चले आवेंगे। एक शुभ दिन आयगा जब एक महत्कार्य या एक वीरोचित बलि-दानसे देशकी चेतनतामें बिजलीसी दौड़ जायगी और जनता

अपनी कुंभकर्णी निद्रा और दुराग्रहसे एकाएक सम्बन्ध तोड़ देगी और सत्य, वीर तथा साधु रूपसे स्वतन्त्रताकी जय मनाते हुए आगे बढ़ेगी। हमें उस शुभ मुहूर्तके लिये काम करना और तैयार रहना चाहिये।

(२)

ब्रिटिश साम्राज्यसे बाहर हो जानेके प्रश्नपर बारीक आलोचना करनेवाले सज्जनके भावोंके लिये कुछ अंशमें हम भी दोषी हैं। क्योंकि हमने कभी यह समझानेकी चेष्टा नहीं की कि सम्बन्ध-विच्छेदकी नीति उत्तम और बुद्धिमानीकी है। हमने अबतक विच्छेदकी नीतिको अपना अधिकार समझकर छातीसे लगा रखा है। इसके लिये लड़ाई की है, आत्मत्याग किया है और प्रतिज्ञा की है कि प्राण जानेपर भी इसे प्राप्त करेंगे, किन्तु हमने जीवनविज्ञानमें इसका निर्दिष्ट स्थान नहीं समझा है। चाहे दार्शनिक विचारकने इसपर अधिक विचार न किया हो तौभी उसने एक त्रुटि सुझायी है। हमें इस प्रश्नपर तात्विक रूपसे भी अवश्य विचार करना चाहिये—प्रश्नके भीतर घुसकर न कि सरसरी तौरपर। दर्शन और विज्ञान इस सत्यकी घोषणा करते हैं कि सारा संसार अखण्ड और अविरोधी है और ज्ञानकी वृद्धिके साथ साथ ऐसे नियम आविष्कृत हो सकते हैं जिनसे विश्वकी व्यवस्था और एकताका और भी निरूपण हो जायेगा। इसलिये यदि हम विच्छेदवादियोंका पक्ष उचित सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें दिखलाना चाहिये कि यह विच्छेद

हमारे राष्ट्रीय जीवनमें सामञ्जस्य, एकता तथा उन्नतिका प्रचार करेगा। यह संसारके अन्य राष्ट्रोंमें हमें उचित स्थान दिलायगा और हमें अपने उस राष्ट्रीय उद्देश्यको पूरा करनेमें सहायता देगा जिसे हम स्वाधीनताके संग्राममें सदा यह सोचते हुए सामने रखते आये हैं कि वह महान् आदर्श हमारे उद्योगकी प्रतीक्षा कर रहा है।

(३)

वह श्रेष्ठ सङ्कल्प जा हमारे जोवनका सर्वस्व है, जो हमारे सामने कठोर कर्तव्य निर्धारित करता है, जिसका अर्थ आत्मबलिदान, परमप्रयास, वर्षोंतक धैर्य और संभवतः उद्देश्य-सिद्धिसे पहिलेही मृत्युका आलिङ्गन करना है, इतना शक्तिशाली होना चाहिये कि इसकी सत्यता उन सिद्धान्तोंको स्पष्ट करनेसे प्रमाणित हो जाय जो उसके मूलमें हैं, तथा उसका औचित्य दिखाते हैं अन्यथा हम उसके लिये आत्मसमर्पण नहीं कर सकते। अब हम स्पष्ट करके बतलायंगे जिससे मालूम हो कि यह नीति देशवासियोंमें नयी जान डालनेवाली तथा उन्हें उत्तेजना देनेवाली है। किन्तु इसपर विचार करनेके पहिले हमें कई ऐसे दुराग्रहोंको छोड़नेके लिये तैयार रहना पड़ेगा जिन्होंने चिरकालसे हमारे दिलपर जड़ कर रखी है। यदि हम ऐसा करना नहीं चाहते तो सत्यको जलाञ्जलि देनी होगी।

इस कार्य्यमें आगे बढ़ते हुए हमारा उत्साह भी बढ़ता जायेगा और जब हम यह बात सदा ध्यानमें रखेंगे कि स्वत-

न्वताका ध्येय सब जातियोंके लिये सुख तथा मोक्ष प्राप्त करना है और देशको, न कि स्वार्थमें डूबे हुए इसके किसी छोटे टुकड़ेको मनुष्यके लिये अधिक मनोरम निवासस्थान बनाना है तो हम अन्तमें अवश्य विजयी होंगे।

इस विचारसे यह विषय सब विचारशील पुरुषोंके लिये महत्त्वपूर्ण तथा चित्ताकर्षक बन जाता है। हमारा जो आलोचक मुस्कुराकर इसे टाल देता वह अब उत्सुकतासे इसपर विचार करेगा तो भी उसका विश्वास इसपर जम नहीं सकता। वह उजाड़ की हुई जन्मभूमिकी ओर अंगुली उठाकर शत्रुके बलके साथ इसकी दुर्बलताकी तुलना करके यह प्रतिपादित कर सकता है कि तुम्हारे विचार अच्छे हैं, किन्तु वे स्वप्नमात्र हैं। इसके मानो हैं कि उसके दिलमें हमारी बात कुछ न कुछ जमी है। यह भी एक लाभ है।

(४)

हमारा वैज्ञानिक समालोचक देशकी उजड़ी हालत दिखाकर एक साधारण भूल करता है। वह विना हेतु मान लेता है कि देशभक्त मातृभूमिके भलेके लिये जो काम करता है उसका फल उसे अपने ही जीवनकालमें मिल जाना चाहिये। यह निस्सन्देह झूठ बात है क्योंकि मनुष्यजीवन वर्षोंसे गिना जाता है और जातिका जीवन सदियोंसे। और चूंकि राष्ट्रका कार्य भविष्यमें उसे पूर्णावस्थाको पहुंचानेके लिये हाथमें लिया जाता है देश-

भक्तको ऐसे ध्येयके लिये परिश्रम करनेको तैय्यार रहना चाहिये जिसकी प्राप्ति दूसरी पीढ़ीमें हो।

देखिये, व्यक्ति अपने जीवनका कार्यक्रम किस प्रकार निर्धारित करता है। बचपन तथा किशोर अवस्थामें वह तैयारी करता है जिससे उसका यौवन और प्रौढ़ावस्था जीवनका सर्वश्रेष्ठ युग हो सके। शरीर हृष्ट पुष्ट हो, मन सबल हो जिससे बुद्धि निर्मल बने; उद्देश्य महान् रहे और उच्चाकांक्षा हृदयमें वास करे तथा इन गुणोंकी सिद्धि एक निश्चित महान् कार्यकी सफलताद्वारा प्राप्त की जा सके। उसी मनुष्यकी प्रौढ़ावस्था उत्तम होती है जिसने जीवनका पहिला भाग भली प्रकार विताया हो और शक्ति संचय की हो। प्रारम्भिक अवस्थामें खेत तैयार किया जाता है और बीज बोया जाता है जो विभवके समय पूर्णावस्थामें पहुंचता है। यही बात जातिके लिये भी लागू है। हमें पूर्ण उन्नतिके लिये खेत तैयार करना और बीज बोना चाहिये। हमें यह बात ध्यानमें रखकर देशके कार्यमें उद्यत होना चाहिये कि जातिकी अभिलाषा एक पीढ़ीमें नहीं बल्कि कई पीढ़ियोंमें पूरी होगी। इसका आनन्द आनेवाली पीढ़ियां भोगेंगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम ध्येयको अपनी दृष्टिसे परे समझ कर निरुत्साह तथा निरानन्दसे काम करें। हम अपनेही जीवनमें इस आशास्थलपर पहुंच सकते हैं यद्यपि हम इसके सब महान् चमत्कारोंका इस क्षुद्र जीवनमें पता नहीं लगा सकते। यह आनन्दके दिन कई युगोंमें आयेंगे। कई लोग हमारी उस महान् विजयका उत्सव मनानेके

लिये जो हमारी पूर्ण स्वतंत्रताको स्थापित करेगी जीवित नहीं रहेंगे तौभी वे विना पुरस्कार पाये न रहेंगे क्योंकि उन्हें भावी विजयकी मूर्तिके दर्शन प्राप्त होंगे। जब जान बूझकर ऐसे भविष्यके लिये परिश्रम किया जाता है तब आत्मा ऊंची उठती है। जब हम समझते हैं कि हमारे उद्देश्यको जनताने भलीभांति समझकर ग्रहण कर लिया है तो अत्याचार इस उद्देश्यका नाश नहीं कर सकता। हमारे देशका भाग्य बन गया और उसकी स्वाधीनता अटल रहेगी यह जानकर क्या आत्मा कम आनन्दित होती है? ऐसे एक नेताके विरुद्ध मनमाने आक्षेप करते जाइये किन्तु उसका हृदय आनन्दमें मग्न रहता है और यह उसे अदम्य उत्साह देता है और अन्तमें सिद्ध हो जाता है कि वही बुद्धिमान रहा। उसके विचार भूतकालके विषयमें स्पष्ट होते हैं। अपने समयके छिपे हुए सत्यका वह पता चला लेता है और जीवनके श्रेष्ठ अनुभवसे इस सत्यकी तुलना करके काममें जुटता है। इससे उसकी सत्यता प्रमाणित हो जाती है, क्योंकि अन्तमें उसका कार्य्य प्रकट होता है, परिपक्व होता है और सौगुना फलता है। यह थोड़े समयमें फल न दे किन्तु जब वह अपने प्राणोंकी आहुति देता है तुरन्त उसकी महिमा फैल जाती है। उसका जीवन आदर्श रहता है क्योंकि उसके प्राण धर्मयुद्धमें गये हैं। वह थोड़े ही समयका बलिदान करके अनंत कालकी सेवा कर चुका है: वह महात्माओंकी सङ्गति करने स्वर्ग चला गया है और उनके साथ उसका नाम सदा स्मरणीय बना रहेगा।

(५)

यह सब पढ़ चुकनेपर भी लोग आजकलकी भीषण दशाको देखेंगे और इसी बुरी स्थितिसे होश हवास खोकर कहेंगे "ब्रिटिश साम्राज्यकी ताकत देखिये और साथही अपनी बर्बाद हालतकी ओर निगाह कीजिये। तुम्हारी सब आशाएं निरर्थक हैं?" उनसे मैं कहूंगा, "इस शुद्ध सत्यको ध्यानमें रखो, जातियां जीवित रहती हैं और साम्राज्य नष्ट होते चले जाते हैं। प्राचीन कालके साम्राज्य आज कहां हैं? आजकलके साम्राज्योंके भीतरभी उनके नाशका बीज छिपा हुआ है। जिन जातियोंने प्राचीन साम्राज्योंको उठते हुए तथा राज्य करते हुए देखा है आज उनके वंशधर उनके प्रतिनिधि बनकर विद्यमान हैं। पर इन जातियोंका जिन अत्याचारी शासकोंसे पाला पड़ा था वे मरगये हैं और दफ़नाये जाचुके हैं। जातियां जीवित रह गयीं और साम्राज्य उजड गये। संसारकी वर्तमान जातियोंके वंशधर उस समय भी जिन्दा रहेंगे जब कि वे साम्राज्य जो इस समय प्रभुताके लिये लड़रहे हैं सब मिट्टीमें मिल जायेंगे। हमारा अस्तित्व बना रहेगा और हमारे कार्यकी सफलताका परिमाण तथा हमारे भावी पदका गौरव बतावेगा कि हममें मातृभूमिके प्रति कितनी भक्ति थी।"

(६)

क्या सब दलोंके विचारशील पुरुषोंकी यह अभिलाषा नहीं है कि हमारी इस लम्बी लड़ाईका अन्त हो जाय और प्रतिष्ठा-

पूर्वक स्थायी सन्धि होजाय ? इस सन्धिकी शान्तिमें देशका प्राण दम लेसकता है, उसमें नयी जान आ सकती है और वह अपनेको व्यक्त कर सकता है। इस शान्तिमें ही संगीत, कला और काव्य स्वतंत्रताके आह्लादको अनवरत आनन्दके साथ प्रवाहित कर सकते हैं। हमारे आजकलके दमनका साक्षीस्वरूप यह अगाध साहित्य ज्योति पाकर जगमगा सकता है। हम सब यही स्वप्न देख रहे हैं, क्योंकि जबतक हमारा ब्रिटिश साम्राज्यसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रहेगा तबतक हम कुछ न कुछ पराधीन बने रहेंगे। इसका प्रतिवाद कोई नहीं कर सकता। ऐसा मूर्ख कौन है जो आशा करे कि जबतक ब्रिटिश साम्राज्यकी अधीनता जतलानेवाला सम्बन्ध है तबतक ब्रिटिश पारलामेन्टके साथ हमारी टक्कर न होगी। यदि कोई ऐसा है तो वह संसारके अनुभव तथा इतिहासके विरुद्ध जाता है। इस सम्बन्धके भीतर दो स्वार्थ छिपे रहेंगे। अङ्गरेज अपना स्वार्थ चाहेंगे और हम अपना, और ये दोनों एक दूसरेके विरुद्ध होंगे।

सोचिये, यूरोपके प्रत्येक राष्ट्रके भीतर संकीर्ण और उदार दलोंमें कैसा बखेड़ा होता है। एक दलकी आंखोंमें दूसरे दलके विचार सदाही छल कपटसे भरे हुए, शंकाजनक तथा उलटे जंचते हैं और ये दल किसी तरह सहमत नहीं होते। कभी २ तो ये एक दूसरेके ऊपर विश्वासघातका दोष मढ़ते हैं। इनमें सुलह कभी नहीं होती। दलबन्दीका यही नियम है। ऐसी स्थितिमें जबकि इस झगड़ेमें दो जातियोंका प्रश्न आपड़ता है,

जबकि जनता दलोंमें विभक्त नहीं,बल्कि जातियोंमें बंटी हुई होती है तब सन्धिकी आशा कहां ? यह निश्चयही निष्फल आशा है। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि हमारी जाति इसलिये भिन्न नहीं है कि हम 'गेलिक' वंशके हैं किन्तु हम इसलिये अलग हैं कि हमारे देश अलग अलग हैं और हम मानवजातिके भिन्न भिन्न परिवारोंसे बने हुए हैं। यदि हम सब अङ्गरेजोंके ही वंशज होते तो भी हममें भेद रहता। इसका ऐतिहासिक उदाहरण अमेरीकाका संयुक्त राज्य है। इससे मेरी बात सहजमें समझमें आसकती है।

जब किसी आदमीके लड़के बड़े हो जाते हैं वे अपना अलगर कुटुम्ब कर लेते हैं और स्वच्छन्द होकर रहते हैं। उनका अपने पूर्वजोंके प्रति सदा प्रेम रहता है। किन्तु यदि पिता अपने लड़केकी गृहस्थीमें हस्तक्षेप करना चाहे और उसके कार्यको अपनी मर्जीपर चलाना चाहे तो उसी वक्त टण्टा खड़ा हो जाता है। इस विषय-पर अधिक विचार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। यदि आय-लैंडके सब लोग अंग्रेजोंके वंशज होते और इस रिश्तेसे इङ्गलैंड दावा करता कि उससे आयर्लैंडका सम्बन्ध बना रहे और उसका उसपर आधिपत्य रहे,तो फौरन झगड़ा शुरू हो जाता और इसका एकही परिणाम होता अर्थात् हमारा संबन्ध विच्छेद हो जाता।

हम चाहे किसी जातिके होते, इंगलैंडके साथ स्वभावतः पड़ोसी बनकर रहते। किन्तु अंग्रेजोंने हमें धोखा देना और तङ्ग करना पसन्द किया। और अब यह दशा हो गयी है कि कई

पीढ़ियों तक आपसमें सद्भाव रहनेपर इन बातोंकी स्मृति धुलेगी। मैं फिर फिरयही बात कहता हूं जिससे टिकाऊ सन्धिके विषयमें हमारे विचारोंमें अस्पष्टता न रहे। जबतक पराधीनताका दिखलावटी संबन्ध भी रहेगा, शान्ति नहीं रह सकती। इस सम्बन्धके प्रति रोष प्रकट करने तथा इसे ललकारनेके लिये हमारे मनुष्यत्वका तेज प्रदीप्त हो उठेगा। इंगलैंडसे संबन्ध-विच्छेद तथा समानता ही उससे मित्रताका संबन्ध फिर स्थापित कर सकती है और कोई बात शान्ति स्थापित नहीं कर सकती। क्योंकि मानव चरित्रका इतिहास यही शिक्षा देता है कि व्यक्तिगत उन्नतिसे ही सर्वसाधारणमें सद्भाव फैलता है।

हम भले पड़ोसी हो सकते हैं किन्तु साथही साथ भयंकर शत्रु भी हो सकते हैं। हमारा परम्पराका शत्रु अब और अधिक हमें अपनी बगलमें रखकर चैनसे नहीं रह सकता। वर्तमान समय हमारे लिये आशाप्रद है। हमारा भविष्य प्रगतिकी ओर जा रहा है। हम अभीष्टको प्राप्त करेंगे। हमें चेष्टा करनी चाहिये कि हम योग्य निकलें।

(७)

हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि हम अयोग्य न पाये जावें। सच बात यह है कि हमें इसी बातका बड़ा अन्देशा है। यदि अपनी स्वाधीनता प्राप्त करनेमें, देशको समृद्ध करनेमें, भविष्यको उन्नत करनेमें हम अन्य राष्ट्रोंकी भूलोंसे सबक न

सीखें और महाशक्तियोंकी अपेक्षा अपना जीवन अच्छा न बनावें तो हम एक उत्तम अवसरको हाथसे गंवा देंगे तथा इतिहासके पृष्ठोंमें हम असफल गिने जायंगे। आज तक बाह्यविचारकी दृष्टिसे हम असफल गिने गये हैं, यद्यपि सदियों तक स्वतन्त्रताके संग्रामको जारी रखनाही हमारी जाज्वल्यमान विजय है। मैदान मारने पर भी यदि हम जीतका दुरुपयोग करेंगे तो हमारी असल हार हो जायगी।

एक समय हम यूरोपके अग्रणी थे। स्वाधीनताको भली भांति उपलब्ध करके हम फिर एक बार इसे रास्ता दिखलायंगे। हमें उस भ्रमसे सतर्क रहना चाहिये जो सर्वत्र फैला हुआ है। याने आज कल जैसे इंगलैंड, फ्रांस तथा जर्मनीपर किसीका दबाव नहीं है उसी प्रकार हम भी दबावसे छूटना चाहते हैं और कुछ नहीं चाहते। हमें इस भ्रमसे भी बचा रहना चाहिये कि यदि हम किसी प्रकार स्वाधीनता तक पहुंच जायं तब हम मनुष्योचित जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर सकते हैं। किन्तु इस बीच हम अपनी जीवनचर्याके विषयमें विशेष सावधान नहीं रह सकते। यह भ्रमकी विकट छाया हमारे पथको अन्धकारमय कर देती है और सुन्दर मनुष्य-जीवन तथा हमारे बीचमें पर्दा डाल देती है। यह भ्रम ही हमें उस भीषण जीवनकी ओर घसीट सकता है जिसने संसारमें आजदिन तबाही मचा रखी है। हमें सावधान रहना चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि हमें धनी, निर्धन, मालिक, मजदूर, आदिके झगड़े

आजही तय कर देने चाहिये, किंतु मेरे मतमें प्रत्येक व्यक्तिको समझ लेना चाहिये कि उसका कर्त्तव्य उच्चविचारयुक्त तथा उदारचरित बनना है। हमें यह सोचना चाहिये कि हमारा साथी हमसे ठगे जानेके लिये नहीं, बल्कि भाईकी तरह हमारी सहानुभूति प्राप्त करनेके लिये तथा गिरी हुई दशासे उठाये जानेके लिये पैदा हुआ है।

न तो स्वराज्य, न साधारणतंत्र और न अराजकतंत्र ही हमारा उद्धार कर सकते हैं। हमारी स्वतन्त्रता हमें शुद्ध हृदय और महान् आदर्शके ही द्वारा प्राप्त हो सकेगी। यही तत्त्वज्ञान है जिसका प्रचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

हमें इस समय इसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये क्योंकि हमारा आजका काम हमारे भविष्य जीवनका निर्णय करेगा। यदि स्वाधीनताके इस संग्राममें हम सतर्क न रहेंगे तो भविष्यमें निर्मल न रह सकेंगे। मैं ऐसे कई लोगोंको जानता हूं जो उदार चरित्रके प्रति उदासीन नहीं हैं किन्तु इस आशंकासे कि शुद्ध जीवन हमारे कार्यमें अड़चन डालेगा और सफलताको असम्भव बना देगा, निष्ठुर नैतिक जीवनसे डरते हैं। हमें यह विचारकर अपनी गलती सुधार लेनी चाहिये कि समय हमारे अनुकूल हो रहा है। हमारे देशकी ताक़त बढ़ रही है और शत्रुकी मुट्ठी ढीली पड़ रही है।

जनता किश्तोंसे अधिकार लेनेमें सन्तुष्ट नहीं है। उसकी शक्ति अपने स्वत्वोंको प्राप्त करनेके लिये अधिकाधिक बढ़ रही है और

वह इन्हें लेनेके लिये उपयुक्त हथियारोंसे सुसज्जित है। अपने ही समयमें हम बहुत आगे बढ़ गये हैं। एक घटना इसे स्पष्ट कर देती है। बीससे भी कम साल हुए कि देशी भाषा तिरस्कारकी दृष्टिसे देखी जाती थी। आज इसके उद्धार करनेका आन्दोलन इतना प्रबल हो गया है कि राष्ट्रीय विश्वविद्यालयमें इसे आवश्यक पाठ्य विषयोंमें रखना पड़ा है। इस शुभ चिह्नको देखकर क्या किसीको अब भी सन्देह हो सकता है कि समय स्वाधीनताका मार्ग नहीं बना रहा है और हम विजयकी ओर कूच नहीं कर रहे हैं?

इसमें मुझे नाममात्र भी सन्देह नहीं है कि हम स्वाधीनता लेंगे किन्तु इसका मुझे पूरा भरोसा नहीं है कि हम उसका सदुपयोग कर सकेंगे। क्योंकि जगतमें सर्वत्र देखा जाता है कि इसका कितना शोचनीय दुरुपयोग किया जा रहा है। यह हमारा सुनिश्चित विचार होना चाहिये और हमें इसका बीड़ा उठा लेना चाहिये कि हमारा भावी इतिहास किसी भी तत्कालीन राष्ट्रसे कम गौरवपूर्ण न हो। निस्सन्देह हम समृद्धि बढ़ानेकी चेष्टा करेंगे पर हमारी उत्कट इच्छा आदर्श बननेकी रहेगी।

हम अपनी शक्ति बढ़ायंगे—दूसरे देशोंको गुलाम बनानेके लिये नहीं बल्कि उनसे भ्रातृभावको बढ़ाने तथा संसारकी निर्बल जातियोंकी रक्षा करनेके लिये। हम अपनी संस्थाओंका गौरव बढ़ायंगे इस लिये नहीं कि उनसे राष्ट्रकी स्थिरताका निश्चय हो बल्कि नागरिकोंका सुख बढ़ानेके लिये। तभी हम प्राचीनकालके

समान यूरोपके पथप्रदर्शक बन सकेंगे। हम सारी दुनियांको अर्थलोलुपता, निष्ठुर शासन तथा ईर्ष्यापूर्ण और क्रूर राजनीतिके दुःस्वप्नसे जगा देंगे। संसार हमारी फिरसे जगी हुई आत्मा तथा एक नवीन और सुन्दर आदर्शको देखकर आश्चर्यमें मग्न हो जायगा और हम अपने राष्ट्रकी नींव वास्तविक स्वाधीनतापर रखेंगे जो सदा बनी रहेगी।



तृतीय परिच्छेद

नैतिक बल

(१)

किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर विचार करनेमें सबसे बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि शब्दोंको तोड़ मरोड़कर उनका मौलिक तथा वास्तविक अर्थ बिगाड़ दिया जाता है। इसलिये यदि हम सफल विचार करना चाहते हैं तो हमें पहिले अपने शब्दोंका अर्थ निश्चित कर लेना चाहिये। हमारी दुर्बलतासे उत्पन्न प्रत्येक भूलको क्षमा करनेके लिये देशभक्तिका नाम बदनाम किया जाता है, किन्तु देशभक्तिके यदि कुछ माने हैं तो वह यह हैं कि वह मनुष्यको पूर्ण आत्मबलवाला तथा संकटके समय दृढ़प्रतिज्ञ बनावे। जहां आंशिक स्वराज्यकी जरा भी वृद्धि हुई लोग आयरिश जातिकी विजयघोषणा करने लगते हैं और होमरूलको पूर्ण स्वाधीनता समझकर उसकी महिमाके गीत गाते हैं। लेकिन जबतक हमारे ऊपर पड़ोसी राज्यका कुछ भी दबाव है और हम उसे अपनेसे बड़ा मानते हैं तबतक हम कुछ हदतक गुलाम ही हैं। इसलिये जो स्वाधीनताके लिये संग्राम कर रहे हैं वे इस सिद्धान्तको मानते हैं और पूरी आज़ादीके लिये डटे रहते हैं। आंशिक स्वाधीनता कोई वस्तु नहीं है। जब

हम स्वाधीनताको मुर्दादिल आदमियोंके हाथमें छोड़ देते हैं तो हम अपने कार्यको दूषित कर देते हैं तथा परिणाममें बाधा डाल देते हैं।

दूसरी ओर अटल सिद्धान्तवाला मनुष्य है। सर्वसाधारण उसे किस दृष्टिसे देखते हैं? जब उसके हाथमें स्वतंत्रताका काम आजाता है तब वह सदा ही समझौतेसे दूर रहनेवाला जंगली तथा उजड्ड आदमी समझा जाता है। हम बहुधा उसका नाम सुनकर ही नाक भौं सिकोड़ते हैं और उसकी वीरताकी प्रशंसा करनेके बदले यही समझते रहते हैं कि क्या कभी युक्तिपूर्वक बातें करनेपर उसकी समझमें हमारा सिद्धान्त आ सकता है। यह नहीं जानते कि सच्चा अनमेली आदमी सत्य-का निष्कपट उपासक है।

पराधीनताके विरुद्ध लड़नेवालोंमें कई लोग स्वतंत्रताके पक्षमें इस लिये कार्य करते हैं कि इङ्गलैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी इसके द्वारा ऐश्वर्यशाली बन गये। किन्तु जब हम उन साधनोंपर विचार करते हैं जिनके द्वारा इन देशोंने शक्ति प्राप्त की है तो मालूम होता है कि हमारे यह मित्र सच्ची स्वाधीनता तथा स्वेच्छाचारी जीवनमें फर्क नहीं समझते। मेरी समझमें तो किसी विषयपर विचार करनेके पहिले हमें विशेष अर्थयुक्त शब्दोंकी परिभाषा ठीक कर लेनी चाहिये। एक ऐसे ही शब्दकी परिभाषा मैं यहां भलीभांति बता देना चाहता हूं। आजकल वादविवादमें जितने चिकने चुपड़े शब्द काममें लाये जाते हैं

उनमें सबसे अधिक गड़बड़ी "नैतिक बल" के अर्थके विषयमें फैली हुई है।

(२)

आयर्लैण्डमें प्रायः सौ वर्षसे प्रत्येक ऐसे राजनीतिज्ञकी दुर्बलता छिपानेके लिये जो मातृभूमिकी पूरी स्वाधीनताके लिये लड़नेको अनिच्छुक अथवा भयभीत रहता है 'नैतिक बल' शब्दका निरन्तर दुरुपयोग किया जाता रहा है। वर्त्तमान समयमें ऐसे आदमी देखनेमें आते हैं जिनमें नैतिक साहसका अभाव होनेपर भी वे नैतिक बलके नामपर काम कर रहे हैं। दूसरी ओर ऐसे आदमी हैं जिनकी नस नसमें नैतिक बल भरा हुआ है पर वे पशुबलके उपासक बतलाये जाकर हंसीमें उड़ा दिये जाते हैं। इस गड़बड़ीको साफ करनेके लिये हमें नैतिक बल और नैतिक दुर्बलताका भेद समझ लेना चाहिये।

यह भेद महत्त्वका है। चाहे हम नैतिक साहस कहें, चरित्र-बल कहें या नैतिक शक्ति कहें सबका अर्थ एक ही है। यह मन और हृदयका वह श्रेष्ठ गुण है जो मनुष्यको पशुबलकी प्रत्येक शक्तिके सामने अजेय खड़ा रखता है। मैं इसका नाम नैतिक बल रखता हूं और इसकी परिभाषा यों करना चाहता हूं कि नैतिक-बली वह है जो किसी कामको उचित, आवश्यक तथा श्रद्धाके योग्य समझ फलकी परवा न कर सत्यके समान इसकी रक्षा करनेको डटा रहता है। वह चञ्चल सिड़ी नहीं है

जिसे अपने पागलपनके परिणामकी नाममात्र भी परवा न हो, जो एक बावलेपनकी आशा कर रहा हो और इससे जो तबाही फैलेगी उसके प्रति उदासीन हो। कदापि नहीं; उसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि सच्ची बात ही अच्छी बात है और उचित रूपसे पालन की हुई इस भली बातका बुरा परिणाम नहीं हो सकता। ऐसा वीर अपने कार्यकी भली या बुरी गतिको शान्त-चित्तसे देखता है। किसी कड़ी परीक्षाके समय अपने साहसपर पूरा भरोसा न होनेके कारण चाहे वह घबड़ावे किन्तु अपने पक्षकी श्रेष्ठता और अपने कार्यके परिणामकी महत्तापर वह सदा शान्तिसे विश्वास रखता है। ऐसे बली पुरुषकी अपने साहसके प्रति घबड़ाहट शीघ्र दूर हो जाती है क्योंकि महान् कार्य महान् आत्माओंको पैदा करता है। ऐसे कई लोग जो डर डरकर काम हाथमें लेते हैं वीर गतिसे मरते हैं। यह बात महान् आदर्शोंकी रक्षाके लिये लड़नेवाले मनुष्योंकी आश्चर्यजनक तथा अपूर्व प्रसन्नचित्तताका रहस्य बतलाती है। दुर्बलप्रकृतिके लोग इस रहस्यको कम समझते हैं। स्वाधीनताका सैनिक समझता है कि सत्यके संग्राममें वह आगे बढ़ा हुआ है। वह जानता है कि उसकी विजय संसारको सुन्दर बनायगी। यह भी उसे मालूम है कि यदि उसे दूसरोंको कष्ट देना पड़े या स्वयं कष्ट भोगना पड़े तो वह पीड़ितोंके उद्धारके लिये, पराधीनताकी जंजीरसे जकड़े हुओंके बन्धनोंको तोड़नेके लिये, जो देशके लिये जान दे रहे हैं

उनका गौरव बढ़ानेके लिये, तथा देशकी भावी सन्तानको मुक्त तथा निश्चिन्त बनानेके लिये होगा। इस संग्रामके प्रत्येक पहलूमें जो शक्ति उसे सम्हाले हुए रखेगी उसके लिये सबसे पहले दृढ़ तथा धीरचित्तकी आवश्यकता है। सार यह है कि उसमें नैतिक बल अवश्य हो। उस पुरुषको जो सेनाके साथ आक्रमण करनेमें ही धीर रह सकता है जब अकेला खड़ा रहना पड़ेगा तब उसकी वीरता काफूर हो जायगी। सब देशबन्धुओंको यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिये कि जबतक मातृभूमि अपनी निजकी पलटनें नहीं खड़ी कर सकती ऐसे आदमियोंकी बराबर आवश्यकता पड़ेगी जो अकेले खड़े होकर लड़नेकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो सकें। यह सबसे विकट, सबसे श्रेष्ठ और वह परीक्षा है जो निश्चित तथा महान् विजय दिलाती है क्योंकि एक सशस्त्र पुरुष असंख्य जनताका सामना नहीं कर सकता और न एक सेना अगणित दलोंपर विजय प्राप्त कर सकती है। लेकिन संसारके सब साम्राज्योंकी सारी सेनाएं एक सच्चे आदमीकी आत्माको नहीं जीत सकती, यह अकेला आदमी बाजी मार ले जाता है।

(३)

प्रत्येक दास भावका विरोध करनेकी जिसे नैतिक बलके नामसे आश्रय मिलता है हमने इतनी बड़ी आवश्यकता समझी कि हममेंसे वे लोग जो अपनी मनुष्यताका प्रमाण देना चाहते

थे गला फाड़ फाड़कर चिल्लाने लगे कि साथ साथ शारीरिक बलकी भी परख होनी चाहिये। विपरीत समयकी नीचताले हम जितना अधिक जलने लगे उतना ही अधिक तथा बार बार हम शारीरिक बलकी परखके लिये पुकार मचाने लगे कि "फिर नया जीवन दान करनेवाला समय आ पहुंचा है और दूषित वायु शुद्ध की जानी चाहिये।" हमने अजेय आत्मावाले पुरुषकी सबसे कड़ी परीक्षाकी पक्की जांच वह रखली है जो अत्याचारीकी एक मात्र शक्ति है अर्थात् पशुबलका अवलम्बन। हमने युद्धक्षेत्रोंकी मारकाटके झूठे गीत गाये हैं। हमने शत्रुके रक्तसागरको तैरनेकी प्रशंसा की है मानो रक्तमय युद्धक्षेत्र अतीव सुन्दर है। हमने शान्तिके प्रति बड़ी घृणा दिखलायी है मानो प्रत्येक रण पुलकित करनेवाला है। किन्तु युद्धक्षेत्रमें एक प्रसिद्ध सेनापतिने कहा था कि समर रौरव है। यह भले ही अत्युक्ति हो किन्तु इस चेतावनीमें वह भीषण सत्य है जो सदा ध्यानमें रहना चाहिये। यदि हममेंसे कोई अब भी ऐसी बातको छोड़नेके लिये निवेदन किये जानेपर नाक भौं सिकोड़ता है जिसे वह प्रतिहिंसाके लिये परम आवश्यक समझता है तो उसे अपने हृदयके भीतर टटोलना चाहिये और विचार करना चाहिये कि किसी बदनाम विश्वासघाती अथवा दोषीकी मृत्युसे उसके हृदयपर कैसे भाव उत्पन्न होते हैं। ऐसे अवसरपर हृदयमें शान्ति प्राप्त नहीं होती, किन्तु भयका भाव प्रधान होता है। मृत्यु हम सबको

विचारशील बना देती है। किन्तु मौतसे दूर रहनेपर बहुधा यह बात विश्वासयोग्य नहीं जंचती और मनुष्य स्वतन्त्रतारूपी जहाजको शत्रुके रक्तको चीरते हुये पार करनेकी स्तुति गला फाड़कर करता रहता है। मैं उससे कहता हूं "बस रुक जा"। तू अपनी भूलको साधारण दुर्घटनाको भयंकरता तथा मुर्गे मेढ़ों आदिकी लड़ाईपर विचार करके सुधार सकता है।

(४)

हां, युद्धका सामना करना पड़ता है और खून बहाना पड़ता है। आनंदसे नहीं—किन्तु दारुण आवश्यकताके कारण—क्योंकि जातिमें ऐसी घोर नैतिक वीभत्सता वर्तमान है जो दारुण शारीरिक वीभत्सतासे बहुत गिरी हुई है। निर्भीक आत्माके लिये स्वाधीनता अपरित्याज्य है और इसलिये घोरसे घोर यंत्रणा सहकर भी स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये। आत्मा शरीरसे बड़ा है। और युद्धकी न्याय्यताका यही प्रमाण है। यदि लड़ाई करनेमें आगा-पीछा सोचनेसे प्रस्तुत स्वाधीनताका हरण होता है या हम विद्यमान गुलामीमें ही अकर्मण्य होकर पड़े सड़ते हैं तो प्रत्येक मनुष्यका धर्म है कि यदि वह खड़ा है तो लड़ पड़े, यदि गिराकर दबाया हुआ है तो बागी बन खड़ा हो। जबतक स्वाधीनता पक्की न हो जाय उसे शान्तिसे क्षणभर न रहना चाहिये क्योंकि जिस जातिकी आजादी छिन गयी है उसको जो नैतिक महामारी अपना ग्रास बना लेती है वह मनुष्योंके शरीरके एक अंगको दूसरे अंगसे काट देनेसे जो अनर्थ पैदा होता है उससे अधिक अनर्थ-

कारी है। देह नश्वर है; आत्मा अमर है। जीवनमें इससे बड़ा अनिष्ट कोई नहीं हो सकता कि इस अविनाशी अंशका पतन हो जाय। जरा उन सब घृणित बातों तथा नीचताकी ओर ले जानेवाली वृत्तियोंका विचार तो कीजिये जो गुलामीकी हालतमें पड़े हुए लोगोंका खून चूस लेती हैं। अधिकारी लोग अपनी प्रभुता स्थिर रखनेके लिये घूस देते हैं। समय देख अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले लोग प्रत्येक सिद्धान्तका मोल ठहराते हैं। सार्वजनिक जीवन कलुषित हो जाता है। व्यक्तिगत जीवनमें मुर्दादिली छा जाती है। उच्च आदर्शवालोंके लिये कठिन अवसर आ पड़ता है। उन्हें जघन्य आचरणसे मुठभेड़ करनी पड़ती है। उनका धैर्य टूट जाता है और अन्तमें उन्हें स्वाधीनताका वह झण्डा जो कभी बड़ी वीरताके साथ ऊंचा फहराया गया था, चुपचाप छोड़ देना पड़ता है। फल यह होता है कि निरुत्साहियोंकी संख्या बढ़ जाती है और सर्वसाधारणमें अन्धेर, निरानन्द और निराशा फैल जाती है। मातृभूमि सर्वत्र उजड़ती हुई दिखलायी देती है। जिस देशकी स्वतंत्रता हरण होगयी है वहां दुराचार, नीचता, कायरता, असहिष्णुता, तथा प्रत्येक पामर वृत्ति अन्धेरेमें खड्की तरह मैदानपर फलती फूलती है और देशको झुलसा देती है। पराधीन देशका दृश्य और पराधीन लोगोंकी आत्मा घृणास्पद बन जाती है। उन्हें देख तबियत फिर जाती है और वे भयानक मालूम पड़ते हैं—भयानक इसलिये कि उनके द्वारा उच्च सिद्धान्त गिराये गये हैं—और गौरवपूर्ण

भविष्य संकटमें पड़ जाता है। यह कम भयंकर होता यदि भूचाल ऐसे देशको चूर चूर करके महासागरमें डुबो देता। गुलामीकी नैतिक महामारीसे अपनी रक्षा करनेके लिये मनुष्य अचानक हथियार पकड़ते हैं इसकी परवा नहीं करते कि संसारमें इसका परिणाम क्या होगा।

जो लोग पार्थिव फलपर अधिक जोर देते हैं वह भी इससे अपनी रक्षा नहीं कर सकते क्योंकि नैतिक असफलतासे ही शारीरिक ध्वंस शुरू होता है। इसमें कुछ विलम्ब भले ही होजाय किन्तु फल अनिवार्य है। इस प्रकार शारीरिक शक्ति उचित व न्यायसंगत सिद्ध होती है। स्वयं नहीं; किंतु नैतिक बलको प्रकट करनेके कारण। जहां शारीरिक शक्ति उच्च सिद्धांतोंकी नींवपर खड़ी नहीं रहती वहां दुष्टताकी मूर्ति बन जाती है।

सच्चा विरोध नैतिक और शारीरिक बलके बीच नहीं है किन्तु चरित्रबल और चरित्रकी दुर्बलताके बीच है। यही प्रधान भेद सब तरफसे भूला जा रहा है। जब अवसर आ पड़ता है और समय हमें बाध्य करता है तो हथियार उठाना अत्यन्त आवश्यक होजाता है। किंतु इस घोर संकटमें हमें अपना संयम नहीं खोना चाहिए। यदि हम शत्रुका खून बहानेको उछलते हैं, पशु-बलकी कीर्ति गाते हैं तो हम स्वयं अत्याचारी बनकर छलकी पताका फहराते हैं और अपने सिरपर कलंकका टीका लगाते हैं। दूसरी ओर यदि हम ऐसे अवसरपर इस निठुर कार्यको करनेमें हिचकते हैं तो हम आत्मिक बलका अभाव

दिखलाते हैं तथा लड़ाईके सिपाहियोंको दुर्बलता तथा जंगलीपनकी चरम सीमा तक पहुंचने देते हैं और वह चरित्रहीनता तथा विभीषिका पैदा करने देते हैं जो अन्तमें हमारा नाश कर देगी। आजादीका पक्का सिपाही पूरे जोरसे चोट मारने और अच्छी तरह शत्रुको पटकनेमें आनाकानी नहीं करेगा। वह जानता है कि उसकी दृढ़ प्रतिज्ञापर ही स्वाधीनताका उद्धार तथा उसकी रक्षा निर्भर है। किन्तु वह सदा याद रखेगा कि अपनेको काबूमें रखना ही वह उत्तम गुण है जो मनुष्यको जानवरोंसे अलग करता है। प्रतिहिंसावृत्ति अत्याचारी और गुलामोंका कायरतापूर्ण आश्रय है और उदारचरित्रता मनुष्यताका स्वच्छ अलंकार है। तथा वह सदा यह ध्यानमें रखेगा कि वह शत्रुकी जान लेनेके लिये हथियार नहीं उठा रहा है किंतु उसके दुष्कर्मोंका नाश करनेके लिये, तथा इन दुष्कर्मोंका नाश करनेसे वह केवल अपनेहीको स्वाधीन नहीं करता, किन्तु अपने शत्रुका भी उद्धार करता है। हममेंसे अधिकांश लोगोंके लिये सम्भवतः यह स्वप्न बहुत ही बड़ा हो किन्तु उसको जो हमारे देशकी समस्याके मर्मको पहचानता है और अपने चरित्रको सन्मार्गपर रखना चाहता है यह उचित जंचेगा। वह घोरसे घोर संग्राममें यह कदापि नहीं भूलेगा कि आज तथा कलका शत्रु बादको हमारा सच्चा सहयोद्धा बन सकता है।

(५)

यदि यह परम आवश्यक है कि हमको बिना तैयारी किये

लड़ाईमें कूदनेसे पहिले अपना प्रमुख सिद्धान्त निश्चित रूपसे स्थिर करलेना चाहिये, तो यह और भी परम आवश्यक है कि हमें इस समय अपना चित्त शुद्ध करके सत्यकी ओर लगाना चाहिये, क्योंकि हमें यह हानिकर अभ्यास पड़गया है कि समयको अनुपयुक्त बतलाकर महत्वपूर्ण प्रश्नोंको दूसरे समयके लिये स्थगित कर देते हैं। साफ बात यह है कि हममें चरित्रबलका अभाव है और वह गुण जो समरकालमें हमारी रक्षा करेगा गुलामीके समय हमारा उद्धार करनेके लिये उत्तम नीतिका काम देगा।

इसपर अधिक लिखना फिजूल है कि दासताकी दशामें नीच वृत्तियां बढ़ती हैं। जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी दशामें हम अपनेको बाध्य समझकर प्रत्येक अवगुणको सचेष्ट होकर भगावें। स्वाधीनताकी सामान्य अवस्थामें कई क्षणिक दुर्गुण उत्पन्न हो सकते हैं, लेकिन वे अनर्थकारी नहीं होते। जनताकी स्वाधीनताकी उज्ज्वल ज्योतिमें वे उसी प्रकार भस्म होजाते है जिस प्रकार सूर्यके आलोकमें रोगके कीटाणु। जहां स्वाधीनताका गला घोंटा जाता है और लोगोंका चरित्र भ्रष्ट हो जाता है वहां छोटीसे छोटी बुराईको भी बढ़नेके लिये अच्छी भूमि मिल जाती है। वह पनपती और फैलने लगती है। इस प्रकार बुराइयोंकी संख्या बढ़ती है और मुल्क चौपट हो जाता है। यही कारण है कि उदारचरित नेताओंको जो पतित जातिके उद्धारकी चेष्टा करते हैं

प्रत्येक ऐसी छोटी त्रुटि और दुर्बलताका ध्यान रखना चाहिये जो स्वाधीनताके समय हमारी आत्माको अशान्त न कर सके। प्रत्येक कठिनाईका आंखोंके सामने आनेका समय ही उसके निर्णयके लिये उपयुक्त है। इस कार्यमें टालमटोल करना विपत्तिको निमन्त्रण देना है। हमारी अनेक कठिनाइयोंसे हमें दृढ़ निश्चय ही पार उतारेगा। किन्तु किसी विशेष तथा आवश्यक समस्यासे साफ निकल जानेके लिये नीतिका वहाना ढूंढ़ा जाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि सब लोग इस प्रश्नपर सहमत नहीं होंगे। दूसरी ओरसे आवाज आती है कि मूर्ख लोग वहक जायंगे। ऐसे टालवाजोंका कोई न कोई वहाना मिल ही जाता है। कठिनाई यह है कि प्रत्येक पक्ष सत्यके एक अंशको पसन्द करता है। कोई पक्ष सोलहों आने सत्य नहीं चाहता। लेकिन हमें विशुद्ध सत्य अक्षर अक्षर ग्रहण करना चाहिये। हम वह अर्थ नहीं मानना चाहते जिसे अज्ञ जनता भला समझे। और न दार्शनिकोंकी काट छांट ही हमें पसन्द है। हम सत्य—विशुद्ध सत्यके सिवा कुछ नहीं चाहते। प्रत्येक ऐसे कार्यके लिये जो जनताके प्रति हमारा धर्म है और जिसपर विचार करनेका सर्व साधारणको अधिकार है, हमें यही नियम पालन करना चाहिये।

चूंकि हमें ज्वलन्त प्रश्नोंका निर्णय करनेमें घोर कठिनताका सामना करना पड़ता है और इस काममें हम संकटमें भी पड़

सकते हैं इसलिये ऐसे प्रश्नोंपर धूल डालनेकी बुरी प्रवृत्ति हम लोगों में जड़ पकड़ रही है। परन्तु परिणाम चाहे कुछ हो, हमें इसका सामना करना ही चाहिये। बहुमत देखकर लोगोंका मेल कराना भले ही अच्छा हो, पर ऐसा मेल बिना परस्पर विश्वासके नहीं होता। स्वतन्त्रताके संग्राममें यह छिपा हुआ अविश्वास भूतके समान चिपटकर हमारा नाश करनेके लिये प्रबल आशंकामें परिणत हो जायगा। हमें यह तुरंत दूर कर देना चाहिये। हमें जनताको सिखाना चाहिये कि मतभेदकी बातोंपर आदर, सहन-शीलता तथा तेजके साथ विचार करना ठीक है। और जीवनका ऐसा सर्वसम्मत मार्ग ढूंढ़ निकालना चाहिये जो सबके हृदयमें परस्पर विश्वास उत्पन्न कर दे। यह सत्य बात छिपाना हमारे लिये अत्यन्त हानिकारक होगा कि हम वर्तमान समयमें अपने प्रति विश्वास पैदा करनेमें असमर्थ हैं। स्थितिको सुलझानेके लिये सत्यका अवलम्बन ही एक आवश्यक कार्य है। हम तुरंत सफल होनेकी आशा नहीं कर सकते, तो भी यह परम ध्येय सदा दृष्टिके सामने रखना चाहिये। इसके विरुद्ध चारों ओरसे आपत्ति की जायगी। अनुभवी सांसारिक मनुष्य जो अपने ही सुखकी चिन्ता करता है, आपत्ति करेगा। वह नीच व्यापारी जो अपने ही मुनाफेकी परवा करता है एतराज करेगा। वह नीतिज्ञ पुरुष जो सदा बीचबिचावका रास्ता ढूंढ़ निकालना चाहता है उज्र करेगा। एक विशेष प्रकारका धार्मिक निराशावादी जो प्रत्येक प्रस्तावमें संकटकी ही गंध पाता है; तथा कई और

भी आपत्ति करेंगे। हमें स्वार्थीके सुख और व्यापारीके लाभका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु नीतिज्ञ तथा धार्मिक निराशावादीके विषयमें कुछ कहना चाहिये।

नीतिज्ञ पुरुष सत्यपर स्वच्छ विचार करनेके बदले कामके भले बुरे परिणामको देखता है। वह कहता है, "भाई! तुम और हम कुछ विषयोंपर निजू तौरपर वादविवाद कर सकते हैं। हम शिक्षित हैं और बात समझते हैं। मूर्ख लोग कुछ नहीं समझते और उन्हें समझदार मानकर तुम बुराई पैदा करते हो। यह बुद्धिमानी नहीं है।" उसके प्रति मेरा यह उत्तर है "तुम सम्पूर्ण सत्यको प्रकट करनेमें डर रहे हो। मैं सत्यको छिपानेमें डरता हूं। तुम्हें नासमझ लोगोंके सामने बात खोलनेमें हानिकी आशङ्का है। मुझे तुमसे हानिकी आशङ्का है कि तुम बातको दबा रहे हो। मैं यह नहीं कहता कि तुम इन मूर्खोंको सच्ची सच्ची बात कहनेसे ज्ञानी बना सकते हो, पर मेरा कहना है कि अपनी ही आत्मिक उन्नतिके लिये तुम्हें अखण्ड सत्य प्रकट करना चाहिये।"

नीतिज्ञ मित्रकी युक्तियोंमें छिद्र यह है कि वह जीवनको संकुचित बनाकर देखता है और अपने साथ सदा रहनेवाले पदार्थके अपरिमित महत्वको नहीं देखता है। मनुष्य यदि सच बोलनेकी अपेक्षा अपनी अल्पबुद्धिका परिचय देनेकी आवश्यकता अधिक समझता है, तो वह पागलपना करता है। मैं ऐसी नीतिका तिरस्कार करता हूं।

अब मैं दो बात अपने धार्मिक निराशावादीसे कहूंगा। मैं धर्मका गहरा अर्थ लगाता हूं। जीवनके प्रश्नोंको योंही छोड़ देना नहीं बल्कि उनको हल करना मैं धर्म समझता हूं। मैं नतीजेकी लापरवाहीके सबब नहीं किन्तु अपने दृढ़ विश्वासके सामने सिर नवाकर उससे निडर होनेको कहता हूं। भय और धर्म परस्पर विरोधी हैं।

(६)

सारे परिच्छेदका सार यह है कि आजकल तथा आनेवाले संग्रामके प्रत्येक स्वरूपमें सशक्त शरीरसे सबल आत्माकी अधिक आवश्यकता है। हममें जोश होना चाहिये, किन्तु यह चित्तके द्वारा संयत और नियंत्रित होना चाहिये। वर्त्तमान समयमें हमारा मुख्य काम वीरता तथा तेज बढ़ानेका है। यह गुण प्रत्येक मनुष्यकी आत्माको अजेय दुर्ग बना देंगे। सेनाएं हार सकती हैं, किन्तु वीर और तेजस्वी आत्मा सदा अथक रहती है। जिस चोलेमें यह आत्मा वास करती है वह चूर चूर किया जा सकता है; पर यह आत्मा शरीर छोड़ते समय दूसरोंमें जान डाल देती है जिससे उनके हृदयोंमें कार्य करनेके लिये आग सी भड़क उठती है। बस इस संग्रामका परिणाम पूरी विजय है। दृढ़प्रतिज्ञ और सच्चा आदमी अन्तमें अवश्य विजयी होता है। शब्दजाल उसे मैदानसे नहीं भगा सकता, किसी प्रकारकी दुर्बलता उसे पाशविक प्रतिहिंसाको ओर नहीं झुका सकती; न तो वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार छोड़ेगा और न अपनी

प्रकृतिको बिगाड़ेगा। प्रत्येक संकटमें वह अविचलित रहता है और प्रत्येक कार्य उसकी शुद्रताका परिचय देता है।

वीर सहयोद्धाओ! आनन्द मनाओ कि हमारी आत्माओं-पर अभी हमारा ही अधिकार है। इस निर्जीव तथा आनन्द-शून्य समयमें भी हमारे पुराने तेजकी एक झलक फिरसे दिखायी देने लगी है। वह सरगर्म पुराना जोश हमें फिरसे जगा रहा है। हम मातृभूमिके अधिकारोंकी रक्षा करने, उसकी स्वतन्त्रताके लिये जूझने और वर्त्तमान पीढ़ीको गौरवका पद दिलानेको आगे बढ़ रहे हैं। हमारी जीत होगी। शत्रु अपने लड़ाईके जहाज तथा असंख्य सैनिकोंका गर्व करता रहे। रोम और कार्थेजकी फौज आज कहां हैं? पर स्वतन्त्रताकी वह लहर जिसको उन्होंने ललकारा था आज भी मौजें ले रही है और तरुण जातिमें जीवन डाल रही हैं। आओ, हम सब अपना सिर ऊंचा करें। हम संग्राममें अपने झंडेको बहादुरीके साथ पकड़े रहेंगे। हम अपनी आत्माको पृथक्, सिद्धान्तानुकूल, निष्कपट और निर्भीक बनावें और इसे महान् कार्योंके लिये उपयुक्त बनाकर अदम्य बनावें। अदम्य उत्साहके द्वारा ही हमारी पूरी विजय निश्चित होगी।



चतुर्थ परिच्छेद



शत्रु और मित्र

(१)

शत्रु हमारे वे भाई हैं जिनसे हम न्यारे हो गये हैं। इस मौलिक सत्यके आधारपर ही हम स्वदेशके सब दलोंमें यथार्थ देशभक्ति तथा अपने पुराने शत्रु इङ्गलैंडके साथ स्थायी संधि स्थापित करनेकी आशा कर रहे हैं। दुराग्रहके भावोंके कारण अपने ही लोगोंके भिन्न भिन्न दलोंमें बिल्कुल विरोधी विभाग हो गये हैं और आयर्लैण्ड और इङ्गलैंडके बीच घृणाकी ऐसी दीवार खड़ी हो गयी है जिसे पार करना प्रायः असम्भव है। यदि मातृभूमिको पुनर्जीवित करना है, तो देशमें एकता होनी चाहिये। यदि संसारको पुनर्जीवित करना है, तो हमें सारे संसारमें एकता स्थापित करनी चाहिये। यह एकता एक शासकके अधीन रहनेसे नहीं, किन्तु सब जातियोंमें भाईचारा फैलानेसे हो सकती है। इस उच्च लक्ष्यको प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति व राष्ट्रका कर्त्तव्य है। इस लक्ष्यको हम न भूलें, इस हेतु हमें बार बार अपने विचारोंका संशोधन करनेके लिये इस सिद्धांतको मनन करना चाहिये कि मनुष्य जातिकी उत्पत्ति एक आदि पुरुषसे हुई है। हमें संसारकी उस सुन्दरतापर गौर करना चाहिये जो सबकी

पैतृक सम्पत्ति है। हमें उन आशाओं और आशंकाओंपर भी ध्यान देना चाहिये जो मनुष्यजातिमें समान हैं और सबसे अधिक इस बातका ख्याल करना चाहिये कि जगतकी सब जातियोंका स्वार्थ आपसमें उलझा हुआ है।

उक्त बातोंको दिलसे निकाल कर यदि कोई जाति अपने अधीन भूभागको अनीतिपूर्ण शासन तथा पामरताके कार्योंसे कलङ्कित करती है, तो वह संसारकी शांतिको सङ्कटमें डालती है। उक्त सिद्धांतको न जानते हुए भी जब एक पराक्रमी जाति अपने ऐसे पड़ोसीसे भिड़ जाती है जो इस समय उसका वैरी बना हुआ है और वह अपने सहज चरित्रकी आज्ञाके अनुसार वीरता तथा उदारतासे लड़ती है तो वह जाति अपने शत्रुके ध्यानको पवित्र जीवनकी ओर लगा देती है। यह भी सम्भव है कि वह अपने शत्रुका जीवन सुखमय बना दे; उस सुखस्वप्नकी ओर उसका मुंह फेर दे जिस ओर उसकी पापमें डूबी हुई मलीन आत्मा कदापि न जा सकती थी।

(२)

स्वतंत्रता देवीके मंदिरकी ओर जानेवाले यात्रियोंके मेलकी कठिन परीक्षा होगी। देशवासियोंकी मित्रता भी एक दिनमें नहीं स्थापित हो सकती. विदेशियोंसे तो बहुत दिनोंमें मेल हो सकता है।

हमें पथसे हटानेके लिये तथा जो थोड़ेसे सैनिक दृढ़ विश्वासके साथ झंडेको पकड़े खड़े हैं उन्हें तितर बितर करनेके

लिये कितने ही प्रलोभन दिये जायंगे। इसलिये हमें वह सम्बन्ध भली भांति समझ लेना चाहिये जो हम लोगोंको अनेक विघ्न बाधाओंका घोर सामना करते हुए भी स्वतन्त्रताकी ओर आगे बढ़नेमें एक किये हुए है। सच्चा भाईचारेका सम्बन्ध ही ऐसी एकता स्थापित कर सकता है। किन्तु हम इस सत्यको बहुत ही कम हृदयङ्गम करते हैं। जब प्रगाढ़ और प्रचण्ड देशभक्ति भिन्न भिन्न मतोंके लोगोंमें सहयोद्धाओंका भाव भरके उन्हें स्वच्छन्दतापूर्वक एक उद्देश्यके लिये मिला देती है तथा जब सब सच्चे मतोंमें यह मेल देखनेमें आता है तब दूसरे मुर्दादिल और कम मुस्तैद लोग इस ऐक्यको सन्देहकी दृष्टिसे देखते हैं, और यदि वे हममें शामिल भी होते हैं तो अनिच्छा-पूर्वक। और लोग तो पास ही नहीं फटकते और समझते हैं कि स्वतन्त्रताके भक्त भ्रममें भूले हुए हैं। वे यह सोचते हैं कि इस समय मिले हुए इन भिन्न भिन्न मतोंके लोगोंमें फूट पैदा कर देनेके लिये मौका पड़नेपर किसी पुरानी बातको उखेड़ देना ही काफी होगा और वे इतने हीसे पुराने द्वेषमें नया ज़हर मिलाकर एक दूसरेपर टूट पड़ेंगे। इन विचारोंका हमें अपने कार्योंसे खण्डन करना चाहिये।

हमारे अपने देशका ही उदाहरण लीजिये। यहां तीन मतोंके लोग हैं। कुछ कैथोलिक हैं, कुछ प्रोटेस्टेण्ट हैं और कुछ नास्तिक हैं। एक मतके सम्पूर्ण आचार विचार दूसरे मतवालोंको पूर्णतया मान्य न हों, किन्तु इन आचार विचारोंका एक अंश ऐसा है जो

संवकी तंग चहारदीवारीसे बाहर फैला हुआ है और जिसके भीतर हम एक आशा,एक उच्च मनोरथ तथा एक सुन्दर आदर्शसे प्रेरित होकर आपसमें समझौता कर, सहयोद्धा बन परस्पर मिले हुए हैं। हो सकता है कि पृथक् पृथक् मतवालोंके लिये देशकार्यका महत्व कम या वेशी हो; हो सकता है कि आदर्शकी उत्पत्ति और उसका अन्तिम ध्येय दोनोंके लिये एक हो न हो; किन्तु वह सुन्दर और अभ्रान्त पदार्थ जिसके लिये वे लड़ रहे हैं, विशुद्ध, सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन, परस्पर अधिक शिष्ट व्यवहार, समाज और जातिके लिये उच्च आदर्शोंकी स्थापना उत्कृष्ट सहनशक्ति, साहस तथा स्वतंत्रताके विषयमें सबका एक मत है। उक्त बातोंपर चोट पड़नेपर सबमें नैसर्गिक चेतना जागृत होजाती है। इसलिये जो सहानुभूति भिन्न २ मतवालोंको मिला रखती है वह प्रचण्ड, प्रगाढ़ तथा पक्की होती है। इनलोगों-की मेल मुलाकात ध्यानसे देखिये, यह किस प्रेमसे आपसमें मिलते हैं। ज़रा गौरसे देखिये, एक बड़ा काम करने वाला है जिसके मुंहमें झुर्रियां पड़ी हुई हैं। उसका कैसा हार्दिक अभिवादन करते हैं। दूसरेकी आंखें काममें व्यस्त भाईके लिये आतुर हैं; तीसरेकी आंखें विजय-आदर्शसे चमक रही हैं। आप देखेंगे कि इन सबमें परस्पर आन्तरिक श्रद्धा है, ये एक दूसरेको उत्सा-हित करते हैं तथा स्वयं कष्ट उठाते हैं। निरुत्साहका चिन्ह इनमें कभी नहीं पाया जाता, किन्तु सदा महान् विजयकी शुभ

आशा और महासमरका परम आनन्द ही देखा जाता है। भिन्न भिन्न मतवालोंका यह सहयोग दिखाऊ मित्रताका नहीं है, तो भी और लोग यह मेल देखकर आश्चर्य और संशयसे सहम जाते हैं।

भिन्न भिन्न मतोंके यह स्वतन्त्रताके पुजारी अपने अपने मज़हबोंके पूरे पाबन्द हैं, फिर भी इनमें आपसमें इतनी अधिक घनिष्ठता है कि मानो वे सब एकही देवताके सामने सर झुकाते हैं। संकीर्ण विचारवालोंकी दृष्टिमें भिन्न भिन्न मज़हबवालोंमें मारकाट होनी चाहिये, पर स्वतन्त्रताके इस संग्राममें वे सब साथ साथ आगे बढ़ रहे हैं। यह सब क्यों है? सम्भवतः इस प्रश्नका सबसे अच्छा उत्तर वही दे सकेगा जिसका धर्म सबसे कट्टर है। वह कहेगा कि जिस क्षेत्रमें हम सब मिलकर काम कर रहे हैं वहां जिस सत्यने हम सबको मिला रखा है उसका अनुसरण करनेका एक ही सन्मार्ग है और सहज बुद्धिसे इस सन्मार्गमें आकर हम मिल गये हैं।

(३)

किन्तु भिन्न भिन्न मतोंके वे लोग जो मजबूती और ईमानदारीसे मेलको पक्का रखते है कम हैं। × × × × × × × उनके धैर्यकी कठिन परीक्षा होगी और मनुष्योंके लिये यह जांचकी कसौटी है। × × × × धर्म अलग अलग होनेके कारण शत्रुता रखनेसे संसारकी वर्त्तमान समयमें विद्यमान दुर्जनता

और दुष्टता घटनेके बदले और भी बढ़ेगी। इतिहासका कोई उदाहरण उठा लीजिये, प्रतिहिंसाकी निस्सारता तथा मूर्खता साफ प्रकट हो जाती है। ××× निरी हिंसा प्रत्येक उदारचरित्र पुरुषके हृदयमें घृणा पैदा कर देती है। सुनिये, मैजिनी क्या कहता है--"हमें हिंसाके द्वारा देशमें नयी व्यवस्था स्थापित नहीं करनी है। इस प्रकार स्थापित की हुई व्यवस्था पुराने ढंगकी व्यवस्थासे भलेही सुन्दर हो, किन्तु उसकी नींव जुल्मपर रहती है।" × × × हमें खूब तंग किया जायगा कि हम अपने सिद्धान्त छोड़ दें और पुराने झगड़े फिर खड़े करें, किन्तु उस समय हमें डटे रहना होगा। उस समय हमें उस दैवी आत्म संयमसे रहना होगा जिसके भीतर हमारी शक्तिका रहस्य छिपा हुआ है।

(४)

भले ही स्वतन्त्रताके ध्वजा फहरानेवालोंकी संख्या कम हो, तो भी हम जोरसे कह सकते हैं कि हमें अन्तमें सफलताकी आशा है। जनता बिना परिणामकी आशासे न लड़ेगी। वह पूछेगी कि देशकी उन्नतिके क्या लक्षण दिखाई दे रहे हैं और विजयकी ज्योतिकी झलक कहां है। हमारे सौभाग्यसे यदि हम सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो हम उन्नतिके कुछ चिह्न अवश्य ढूंढ़ निकालेंगे। निस्सन्देह हम पुरानी अदावतके बुरे लक्षण देखेंगे। हो सकता है कुछ लोग क्रोधमें आकर दंगा भी कर दें, किन्तु अब उपद्रवी लोग कम रह गये हैं और क्रोधमें वह तीव्रता भी नहीं रह

गयी है। जो लोग पहले दंगा करते थे अब भी करते हैं, किन्तु उनमें अब वह उन्मत्तता नहीं रह गयी है और आजकलके नवयुवक भलेही हमारे आदर्शसे विमुख हों, किन्तु वे विपक्षियोंकी बातों-की ओर भी उदासीन हैं। वे इन बातोंसे अलग हैं और उनपर किसी पक्षका प्रभाव नहीं पड़ा है। इन बातोंको ध्यानमें रखकर हमें निराश न होना चाहिये। जरा विचार कीजिये कि जो इस समय देशका काम कर रहे हैं उन्होंने धीरे धीरे टटोलते हुए वर्त्तमान नीति निश्चित की है। हममें पहले राजनीतिक जीवन अपने समयके लोकमतका अनुसरण करता था, किन्तु आज-कलकी ज्योतिमें वह बातें मन्द पड़ गयी हैं; हमने उन नियमोंको कृत्रिम समझा और उन्हें छोड़ दिया। यह हमारे पूर्वजोंपर आक्षेप नहीं है। XXX जो काम वे अधूरा छोड़ गये हैं हमें उसे हाथमें लेकर पूरा करना चाहिये। हर पीढ़ीका यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपने पूर्वपुरुषोंके अधूरे छोड़े हुए कामको उठावे और उसे पूरा करके यह पैतृक सम्पत्ति अपने वंशजोंके सुपुर्द कर दे। नवयुवक स्वयं यह कर्त्तव्य पहचान लेते हैं और हरेक पीढ़ी अपने संकीर्ण विचारोंको छोड़कर सत्यका विकास करती हुई अपने बाप दादोंसे एक कदम आगे ही बढ़ती है। इस बातको प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभवसे ही समझ सकता है कि इस समय जो गड़े मुर्दे उखाड़ रहे हैं वे शीघ्र नष्ट हो जायंगे और उनका स्थान लेने कोई नहीं आयगा।

(५)

सौभाग्यसे देशवासियोंमें भाईचारा स्थापित करनेकी दलीलें देनेकी अब आवश्यकता नहीं रही; किन्तु साथ साथ हमारे दुर्भाग्यसे जनता न यह बात स्वीकार करती है और न इसे समझती है कि जिन कारणोंसे हमें अपने देशवासियोंके बीच मित्रताका सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये उन्हीं कारणोंसे इङ्गलैंड या किसी दूसरी जातिसे—जिससे हम लड़ रहे हैं या आगे लड़ेंगे—भी मित्रता करनी चाहिये। पड़ोसियोंमें स्नेह होना स्वाभाविक है। एक ही गली या एक ही मुहल्लेमें रहनेवाले दो पड़ोसियोंमें व्यक्तिगत प्रीतिका कैसा मनोहर दृश्य देखनेमें आता है। वे एक दूसरेके सुखमें सुखी होते हैं, आपत्कालमें एक दूसरेकी सहायता करते हैं और अपने प्रतिदिनके काम बन्धुभावसे मिलकर करते हैं। वे हरवक्त एक दूसरेके हितमें मेलकी सार्थकता देखते हैं। मान लीजिये, किसी बुराईके कारण यह मित्र बिछुड़ गये। ऐसे समय पुरानी मैत्री द्वेषमें परिणत हो जाती है। जो पड़ोस हमदर्दीके वक्त उन्हें प्रफुल्लित कर देता था आज उनकी शत्रुताको उतना ही अधिक बढ़ाता है। जब जब उनकी भेंट होती है उनकी बातें एक दूसरेके दिलमें चुभनेवाली होती हैं; उनके भाव परस्पर तंग करनेके होते हैं। जीवनके आनन्दको भ्रष्ट करनेवाला यह तीता रस उनके सात्विक स्वभावको विद्रोही जंचता है। उनके हृदयसे घृणाको बाहर निकाल डालनेकी तथा पुरानी सौहार्दताको फिरसे स्थापित

करनेकी प्रबल लालसा होती है। हृदयके भीतर मेल करनेकी इच्छा रहनेपर भी यह बिछुड़े हुए मित्र एक दूसरेके खूनके प्यासे बने हुए हैं। कभी कभी खराबी इस सीमातक पहुंच जाती है और द्रोह इतना बढ़ जाता है कि पुराना मित्रभाव फिरसे स्थापित न होता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु जबतक कुछ भी आशाकी झलक बाकी रहती है सच्ची आत्मा इस बातपर ध्यान लगाये रखती है; क्योंकि यदि जीवनके पूर्ण सौन्दर्यको फिरसे प्राप्त करना है और उसे सदाके लिये सुरक्षित रखना है, तो पुराना मित्रभाव पुनः स्थापित करनेके लिये सदैव सचेष्ट रहना चाहिये। व्यक्तियोंके समान जातियोंके लिये भी यही बात कही जा सकती है। यह बात जानकर हमें भविष्यमें नयी भूलसे बचा रहना चाहिये। यह भूल अर्थात् साधनको परिणाम समझ लेना पुरानी है किन्तु सदा नये रूपमें दिखायी देती है।

व्यापकसन्धिका लक्ष्य प्रत्येक जातिको विशुद्ध स्वाधीनता देना, आत्मिक सिद्धि, मनुष्यके भीतर छिपे हुए गुणों और जीवनके आनन्द और उसकी पूर्णताको प्राप्त करना है। इसका मतलब यह नहीं है कि चाहे जैसे भी हो कुछ सिद्धान्तोंका हनन करके वह निकृष्ट सन्धि की जाय जो गुलामीके ही समान है। इसका संदेशा उस जातिको होशमें लाना है जिसने अपने उत्पातोंसे दूसरी जातिको दुर्दशाकी ओर धकेल दिया है। यह स्थायी और सम्मानयुक्त सन्धिके लिये खुला मार्ग छोड़ देती है। इसके माने हैं आत्माके देवतुल्य संयमकी रक्षा करना।

नुक्ताचीनी करनेवाले यह भी कहेंगे कि हमलोग महान् युद्धमें फंसे हुए हैं। इसलिये देशवासियोंमें उदात्तवृत्तियां जागृत करनेकी चेष्टा करनेसे उनमें दुर्बलता आ जायगी, क्योंकि जिस जोश देनेवाली हिंसावृत्तिसे रणमें प्रचण्ड प्रोत्साहन मिलता है वह न रहेगी; किन्तु जो वृत्ति न रहेगी वह हमें प्रोत्साहित करनेवाली नहीं है। जब भाई भाइयोंके ही बीच युद्ध छिड़ जाता है; घरेलू संग्राम ठन जाता है; एकही कर्तव्यके कई प्रकारके तात्पर्य आपसके लोगोंको न्यारा न्यारा कर देते हैं; पुत्र पिताके विरुद्ध, भाई भाईके विरुद्ध उठ खड़ा होता है; तब भी उनका झगड़ा एक वंशके होनेके कारण अथवा इस कारण कि द्वेष और घृणाको छोड़कर उनके हृदयके भीतर निकट सम्बन्धका पूरा ज्ञान है ढीला नहीं पड़ता। इसलिये जब तुम मनुष्यको यह शिक्षा देते हो कि उसका शत्रु गहरा विचार करनेपर उसका भाई निकल आता है तो तुम उसे संग्रामसे नहीं हटाते वरन् तुम उसके सामने उसके ध्येयका नया अर्थ रखते हो और उसे एक श्रेष्ठ आदर्श दिखलाकर उत्तेजित करते हो कि वह अपनी धुनमें लगा रहे और लक्ष्यको प्राप्त करे।

(६)

यदि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनेके बाद संसारमें भ्रातृभाव फैलानेके आदर्शके लिये उद्योग करना बाकी रह जाता है तो हमें इस ध्येयको संसारिक जीवोंकी पहुंचके

बाहर न समझना चाहिये। यह आदर्श ध्रुव-तारेके समान हमारा मार्गनिर्देशक होना चाहिये जो हमें भरसक सत्पथपर चलावे। हम हाथमें लिये हुए कार्यको तभी निभा सकते हैं जब हम इस कार्यको उस उद्देश्यके अनुकूल बनावें जो हमें उत्साहित करता रहे। इस उच्च उद्देश्यसे विचलित करनेको हमें कई प्रकारसे फुसलाया जायगा परन्तु जो आत्मिक बल हमारे पक्षको निर्मल और दृढ़ बनाये रखता है प्रत्येक नष्ट करनेवाली शक्तिका प्रतिरोध करेगा। × × ×

जब एक मजहबवाला दूसरे मजहबवालेको अपना भाई समझने लगे तब यह आदर्श हमें उभाड़ेगा और स्वतंत्रताकी पताका हमें अपनी गोदमें उठा लेगी। बस समझ लीजिये कि संग्रामका पहला खेत हमने मार लिया। जब देशके भीतर पूरी एकता स्थापित करनेमें हम कृतकार्य हो जावेंगे तो स्वतन्त्रता हमारी पहुंचके भीतर आ जायगी। इसपर समालोचक प्रश्न उठा सकता है कि "भाई, तुम इङ्गलेण्डके साथ मित्रता करनेपर क्यों जोर डाल रहे हो? वह तो अपना आधिपत्य जमाये रखनेकी शर्तोंपर ही सुलह करेगा।" इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है। यदि ताली बजानेके लिये दो हाथोंकी जरूरत पड़ती है तो क्या इसमें सन्देह है कि मित्रता करनेके लिये भी दो हाथ मिलानेकी आवश्यकता होती है। हां, यह दूसरी बात है कि कोई गुलाम बनकर अपने हाथोंसे फर्शी सलाम करनेका काम

ले। किन्तु इस बातसे हम बेफिक्र हैं। हम दूसरोंको बाध्य करके स्वाधीनता ले सकते हैं और हमें अपनी विजयपर पूरा विश्वास है। दोस्तीका रास्ता अब भी खुला है। इस असमंजससे कई लोगोंकी बुद्धि चक्करमें पड़ जायगी कि एक ओर हमें अपने उदार स्वभावको जीवित रखना पड़ेगा और दूसरी ओर हमें संग्राममें कट्टर और दृढ़प्रतिज्ञ रहना पड़ेगा; हमें एक ओर शांतिकी कामना करनी पड़ेगी और दूसरी ओर पूरी लड़ाई लड़नी होगी; एक ओर हम हृदयमें बन्धुताकी लालसा रखेंगे और दूसरी ओर हानिकर मित्रताको नष्ट भ्रष्ट कर देंगे। इङ्गलेण्डके साथ साहित्यिक, राजनीतिक, व्यापारिक तथा सामाजिक मेल-जोल बिलकुल तोड़ देना होगा, यदि यह मिलाप स्वाधीनता, समानता और सर्वजातीय स्वतन्त्रताकी नींवपर खड़ा न किया जाय। जिस समय हम इस कार्यमें जोरसे लगे रहेंगे सम्भव है कि लोग इसमें स्थायी मित्रताका आभास न पावें, किन्तु हमें इस चेष्टामें सदा लगा रहना चाहिये। सबसे पहले स्वतन्त्रताकी नितान्त आवश्यकता है। हम जब अपने ही पक्षके सैनिकोंमें अपने ध्येयके इस अर्थका निरन्तर प्रचार करते रहेंगे तो शत्रुके हृदयमें भी यह बात जम जायगी। प्रारम्भमें हमारे शत्रु इसे भ्रम वा राजनीतिक जाल समझेंगे, किन्तु एक ऐसा भावपूर्ण समय आयगा जब उनके हृदयोंमें हमारा सिद्धान्त प्रकाश फैलावेगा और एक नये युगका आविर्भाव होगा। ऐसे शुभ अवसरपर दुष्ट-

ताका लोप हो जाता है, घृणा भस्म हो जाती है और मित्रता नया जन्म लेती है। कुछ लोगोंके दिलोंमें यह डर है कि उनकी आत्मरक्षामें वाधा पड़ जायगी। यह डर तब दूर हो सकता है जब यह विश्वास हो जाय कि हमको जबरन् गुलाम बनाये रखनेकी अपेक्षा हमारी आजादीसे शत्रुकी और अधिक रक्षा होगी। इन सन्देहके वादलोंको फाड़कर ज्योतिकी किरणें प्रकाश फैलावेंगी और तेजमय सूर्य संसारको पुलकित करेगा।

मानपूर्वक सन्धि करनेके लिये हमारे शत्रुका आदर्श भी उतना ही ऊंचा होना चाहिये जितना हमारा। इसके बाद यदि वह किसी प्रकारका विरोध भी करेगा तो न्यायका पक्ष लेकर। किन्तु शत्रुकी घोर स्वार्थपरता और साम्राज्यलोलुपता जो कि आजकल उसपर भूत सी सवार है यह आशा नहीं दिलाती कि शीघ्र ही वह परमार्थवादी, साधुचरित और उदार बन जायगा। चाहे कुछ हो, हमें अपने आदर्शको नहीं त्यागना चाहिये। वर्तमान इङ्गलेण्ड भले ही अपनी पामरता और अत्याचारोंके कारण हमारी युक्तियोंकी उपेक्षा करे और हमारी दलीलोंपर पानी फेर दे किन्तु हमारी आत्मा हमारे कार्योंमें गूढ़ सन्तोष प्राप्त करती है। इतना ही नहीं, हमारे शत्रुओंके बीचमेंसे ही प्रतिभाशाली आत्माएं चिल्ला उठती हैं और साक्षी देती हैं कि मनुष्यमात्र एक हैं। वे सिद्ध करते हैं कि बन्धुताका भाव उनके भीतर भी सजग है। यह आदर्श हमें आगे बढ़ानेमें उजालेका काम देता है। इस पथपर हमें सत्यका अवलम्बन करके चलना चाहिये। शत्रुके चाहे

कैसे ही विचार हों हमें परवा न करनी चाहिये। इस कार्यमें कठिनता अधिकाधिक क्यों न बढ़ती जाय किन्तु यह कार्य सफल हो सकता है। राष्ट्रीयताकी व्याख्या तथा इसका गौरवपूर्ण अर्थ इस भ्रातृत्वके सिद्धान्तमें छिपा हुआ है। सारे जगतको अपना घर समझनेवाले लोगोंके पक्षकी यह लाजवाब दलील है। जीवनकी जो श्रेष्ठता और सुन्दरता सब जातियोंका लक्ष्य होना चाहिये उसे जगत भरमें एक जातिके अतिरिक्त और सब जातियां अस्वीकार करें, तोभी वह एक जाति अपने देशके भीतर तबतक उस उद्देश्यको छातीसे लगाये रहेगी जबतक उसका जादू तमाम दुनियांपर न चल जायगा। यदि यह चरम लक्ष्य अभी हमसे बहुत दूर हो, फिर भी इसका अनुसरण करनेमें हमको एकके बाद एक पराक्रमके कार्य करने पड़ेंगे और विक्रमपूर्ण कार्योंकी सिद्धिमें ही सदा सौन्दर्य और आनन्द मिलता रहेगा। वीर लडाकेको सर्वदा उचित पुरस्कार मिलता है। उसकी बुद्धि शुद्ध रहती है, खूनमें जोश रहता है और कल्पनाशक्ति तत्पर रहती है। वह जीवनका अर्थ समझता है, उसे काम करनेमें आनन्द मिलता है और परिणाममें वह सुख्यातिके शिखरपर अपना अधिकार जमा लेता है। इस उच्च चोटीसे कट्टरसे कट्टर संशयात्माके कानोंमें यह सर्वश्रेष्ठ सन्देशा गूंजता हुआ आयगा कि "जब हम आकाश छूनेका प्रयत्न करेंगे तब हम पर्वत-शिखरपर पहुंच सकते हैं।"

——

पञ्चम परिच्छेद

शक्तिका रहस्य

(१)

स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये हमें समर्थ बनना चाहिये। किन्तु इस सामर्थ्यका भेद क्या है ? इसे भली भांति समझना और समझकर व्यक्तिगत जीवनके आधारपर राष्ट्रीय जीवनकी नींव धरना सारे प्रश्नकी कुंजी है। अपने विरोधी अल्पसंख्यक लोगों-को शारीरिक शक्तिसे दबा देना अबाधित शक्तिका ऐसा पक्का लक्षण माना गया है कि इस विषयपर सत्य बातको स्पष्ट करनेमें धैर्य,सूक्ष्मदृष्टि और कुछ मानसिक अनुशीलनकी आवश्यकता है। लेकिन यह काम बड़ा भारी है। हमें अत्यन्त महत्वपूर्ण युद्धक्षेत्र-की सूक्ष्म परीक्षा करनी है, शत्रुकी प्रकृतिका पता चलाना है, अपने साधनोंकी शक्तिका अन्दाजा करना है और तिल तिल करके तबतक शक्ति संग्रह करते रहना है जबतक हम अजेयताका अभेद्य कवच न धारण कर लें।

(२)

सच्चे बलके भेदको जानना अत्यन्त आवश्यक है। दो निम्न प्रकारकी लड़नेवाली सेनाओंकी तुलना करनेसे यह बात साफ

मालूम हो सकती है। एक, सुसंगठित सेना जिसका परिचालन बड़ी योग्यतासे हो रहा है और जो आशा और उम्मेदसे उछलती हुई आगेको बढ़ रही है और दूसरे, नष्ट भ्रष्ट होनेके बाद किसी सेनाके थोड़ेसे बचे खुचे सैनिक जो कि भग्गी पड़नेपर अपने सहयोद्धाओंके समान भगाये नहीं जा सके किन्तु जिनकी आत्मा एक ऐसी आशाके साथ जूझ रही है जिसे सबने निराश होकर छोड़ दिया है। अब हम इन दोनोंपर विचार करेंगे क्योंकि इन दोनोंके मिलानसे हम रहस्यको समझ सकेंगे। सुसंगठित सेना-का साहस उस उच्च कोटिका नहीं है जिसने थोड़ेसे बचे खुचे सैनिकोंको आखिरी दम तक लड़नेके लिये हिम्मत दे रखी है।

पहले सुसंगठित सेनाको ही लीजिये। उसका बल इसलिये है कि उसने युद्धशिक्षा पायी है, उसमें घने मेलका भाव है, उसके सैनिक अपने अफसरोंकी आज्ञाका पूर्णतया पालन करते हैं जिससे सारी पलटनमें एकता हो जाती है। इन बातोंके अतिरिक्त अधिक संख्यामें होनेके कारण अपने सुरक्षित होनेका विश्वास रहता है, दल बनाकर धावा करनेमें उमङ्ग रहती है और अपने सेनानायकोंकी योग्यतापर विश्वास रहता है। इन सब बातोंसे सेनामें साहस और शक्ति रहती है। संगठनसे सेनामें आत्म-विश्वास बढ़ता है, इसीलिये पलटनोंमें कड़ेसे कड़ा दण्ड देकर भी कायदोंकी पाबन्दी करायी जाती है।

सेनाकी शक्ति उसकी संख्याधिकता, एकता, परस्पर तथा सर्दारोंपर निर्भरतामें ही है। जब इस सेनापर अचानक आफत टूट

पड़ती है—कोई बड़ा अफसर मर जाता है, कोई तदबीर ठीक नहीं उतरती है, शत्रु अकस्मात् टूट पड़ता है या कोई और दुर्घटना हो जाती है—तो इसकी शक्ति छिन्न भिन्न हो जाती है, सेनाकी व्यवस्था बिगड़ जाती है, सुरक्षित होनेका विश्वास जाता रहता है और फौरन तबियत भागनेको करती है। कुछ देरतक कवायदकी आदत सेनाको सुव्यवस्थित रखती है, किन्तु भय जोर पकड़ना आरम्भ करता है, सब सतर्कता और आत्मसंयम ताकपर रख दिया जाता है, पीठ फेरते ही व्यूह भंग हो जाता है, सेनामें कुहराम मच जाता है और परिणाममें पूर्ण पराजय प्राप्त होती है। बाहरी कवायदने सैनिकोंको बाहरी ताकत देकर उनकी व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता खो दी है। आभ्यन्तरिक संयमका ध्यान नहीं रखा गया। फलतः जब उनकी सम्मिलित शक्ति नष्ट हो गयी तो उनमें व्यक्तिगत विवशता और त्रास फैल गया।

अब आप उन बचे खुचे सैनिकोंको लीजिये जिनमें उच्च श्रेणीका साहस है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति दृढ़प्रतिज्ञ है, विरोध करनेपर तुला हुआ है और अपने कार्यके प्रत्येक सम्भव परिणामोंको फौरन साफ देख लेता है, तोभी आत्माकी उन्नत अवस्थाके कारण बिना किसी हिचकिचाहटके उन्हें शिरोधार्य करता है। वह सब मानवी आशाओंको पराजयमेंसे विजय निकाल लानेवाली" महान् आशापर न्योछावर कर देता है या यदि वह हारे हुए मैदानको फिरसे न भी ले सका, तोभी आगे बढ़ते हुए शत्रुको रोक लेता है, बिखरे हुए सैनिकोंको फिरसे बटोरता है और युद्धका

कलङ्क धोता है। यह वीरोचित गुण है। जिसमें यह गुण वास करता है वह संकटके समय आज्ञाओंकी अपेक्षा नहीं करता और न परिणामपर ही विचार करता है। उसके विचार फौरन निर्णय कर देते हैं और वह निश्चित बातें सामने धरी हुई पाता है। तीन तेरह होते हुए सैनिक, गिरे हुए झण्डे और विजयी सेना तथा खेत छोड़ना या मृत्युका आलिङ्गन सब ही देखते हैं, किन्तु बहादुर सिपाहियोंको भागने और मरनेमें भी आशा और विजयकी रेखा दिखायी देती है और इस नए आशाके लिये भागना एक किनारे कर दिया जाता है और हार होनेपर मौतका आलिङ्गन किया जाता है। यह गुण है जो हमारा कलङ्क धो देता है। चूंकि हमारे इतिहासमें यह गुण बहुधा देखनेमें आता है इसलिये हमारी विजय अवश्य होगी।

हम इसलिये विजय प्राप्त नहीं करेंगे कि हमने बराबरीके मैदानमें जवांमर्दी दिखायी है, हम इसलिये विजय प्राप्त नहीं करेंगे कि हमारे देशवासियोंने देशदेशान्तरोंमें जाकर शत्रुओंके दांत खट्टे किये हैं; परन्तु हम विजय प्राप्त करेंगे वीरप्रसविनी जन्मभूमिके उन पवित्र स्थानोंकी याद करके जो हमारे उन संग्रामोंके लिये चिरस्मरणीय रहेंगे, जिन्होंने इस जन्मभूमिका नाम संसारकी अजेय जातियोंकी सूचीमें अङ्कित कर दिया है।

संसारके लिये यह रहस्य अभी छिपा ही रह गया है कि आखिरी दमकी जी तोड़ लड़ाई और जीवनदान जातिमें महान्-

से महान् विजयसे भी अधिक नयी जान क्यों डाल देता है। संसार न जाने, पर यह बात सत्य है क्योंकि ऐसे सत्यके सैनिकोंका ध्यान करनेसे ही हमारी आत्मा जगमगा उठती है, हमारा उत्साह फिरसे जाग उठता है और हम आनेवाले संग्रामके लिये कमर कसकर तैयार होते हैं।

(३)

हमें व्यक्तिगत धैर्य, साहस और दृढ़ता प्राप्त करनी चाहिये। यह बात ध्यानमें आते ही हमारा काम आरम्भ हो जाता है। कुछ लोगोंमें यह आशंकाजनक विचार फैला हुआ है कि भविष्यमें कभी न कभी हमें स्वतंत्रताके युद्धमें कूदना ही पड़ेगा किन्तु इस बीच हमें उस समयकी बाट जोहते हुए हाथपर हाथ धरकर बैठा रहना है। यह सर्वनाशी भूल है। इस अर्सेमें हमें अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिये। हम एक गलती और भी करते हैं। हम राष्ट्रीय कार्यको और कार्यों से अलग समझते हैं, हम यह समझते हैं कि सामाजिक, व्यापारिक, धार्मिक तथा अन्य विषयोंका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। फल यह होता है कि हम अवकाशका कुछ समय राष्ट्रीय कामके लिये रख छोड़ते हैं और सारा दिन इस प्रकार बिताते हैं मानो हमारा कोई राष्ट्र ही नहीं है। किन्तु प्रत्येक कालका सम्बन्ध भूत तथा भविष्यसे होता है, इसलिये चाहे मनुष्य कोई काम क्यों न करता हो वह काम दूसरे कामोंके अनुकूल होना चाहिये, उनसे विच्छिन्न नहीं। उत्तम देशभक्त और सैनिक वही बन सकता है जो उत्तम मित्र तथा

उत्तम नागरिक हो। यह नहीं हो सकता कि कोई आदमी एक दायरेमें ईमानदार रहे और दूसरेमें बेईमान बन जाय। चूंकि एक नागरिकको अपने देशके प्रति कर्तव्य पालन करनेके लिये सच्चरित्र और पूर्ण उत्साही होना चाहिये इसलिये उसे अपने भीतर सोये हुए गुणोंका अपने नित्यके जीवनमें उत्कर्ष करना चाहिये। उसे अपना चरित्र मज़बूत बनाना चाहिये और ऐसा करनेके लिये उसे कई ऐसी बातोंसे सम्बन्ध रखना पड़ेगा जो राष्ट्रीय दृष्टिसे अनावश्यक और महत्वहीन सी प्रतीत होती हैं। अपनी दिनचर्यामें मनुष्यके सामने न्यूनाधिक महत्वके जो काम आ पड़ते हैं उनके प्रति उसका कोई न कोई भाव अवश्य होता है। जान या अनजानमें यह भाव जिस प्रकार सधेंगे उससे पता चलेगा कि आंखोंसे ओझल दूसरे क्षेत्रोंमें वह किस ढंगसे कार्य करेगा। व्यापारी व सामाजिक जीवनमें पड़े हुए किसी मनुष्यका उदाहरण लीजिये। उसे अपने कार्यक्रममें दूसरोंसे मिलकर काम करना पड़ता है और अवकाशके समय आमोद प्रमोद भी दूसरोंके साथ मिलकर करना पड़ता है। सब लोग यह जानते हैं कि किन लोगोंके साथ वह अपना काम करता है और किस ढंगके वार्तालापमें उसका आमोदका समय कटता है। मनुष्यको हर रोज दूसरोंसे मिलकर कार्य करना पड़ता है इसलिये आवश्यक है कि उनमें स्नेहभाव (मनमिलाव) हो; तो भी नगण्य छोटी छोटी बातोंपर कई रोज तक जूतीपैजार, लड़ाई झगड़ा, रागद्वेष देखनेमें आता है। हम देखते हैं कि दो आदमी कुत्ते-बिल्लियोंकी

तरह तुच्छसे तुच्छ बातोंपर लड़ते झगड़ते हैं और फिर कई दिन तक नादान बच्चोंकी तरह बोलना तक बन्द कर देते हैं। सामाजिक जीवनमें भी नर नारियोंमें यह दुर्गुण देखे जाते हैं-नीच डाह, व्यक्तिगत आक्षेप, निन्दा करना और ऐसी कमीनी कहानियां गढ़ना जो स्वयं कुछ मूल्य नहीं रखतीं किन्तु उल्टा यह दिखलाती हैं कि गढ़नेवाला मनुष्य और उसकी कही हुई बातें कैसी हीन और घृणित हैं। निर्मल बुद्धिवाला मनुष्य विशुद्ध मनुष्यताका, सब मनुष्योंमें भलमनसाहतके भावका, झगड़ेको मुस्कुराकर उड़ा देनेवाली उदार दृष्टिका और उस ज्ञानका अभाव देखकर निराश होता है जिसके होनेसे सिद्धान्तके लिये लड़े जानेवाले महायुद्धमें दृढ़ताकी आवश्यकता समझकर थोड़ी देर तक रहनेवाली छोटी मोटी बातें हार्दिक घृणासे देखी जाती हैं। क्योंकि इन नीचतापूर्ण और छोटे छोटे झगड़ोंमें कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि दम्भकी गन्ध छिपी हुई है, इसलिये स्वतंत्रताके सैनिकको इन बातोंका विचार रखकर अपनी कार्यशैली निश्चित करनी पड़ती है। बाहरसे यह प्रतीत होता है कि ठीक काम करना हमारे लिये स्वाभाविक और सरल है किन्तु व्यवहारमें ऐसी बात देखनेमें नहीं आती। मनुष्य जब देखता है कि उसके साथ अशिष्टता तथा उद्दण्डताका व्यवहार किया जा रहा है तो फौरन उसकी क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है, बखेड़ा खड़ा हो जाता है और अन्तमें मालूम होता है कि न तो उसका काम ही बना और न बिना झगड़े उसके

किसी सिद्धान्तका हनन हो रहा था। वह व्यर्थ ही आपेसे बाहर हुआ। कई लोग जोशमें आकर कह बैठते हैं कि हम इस विषयपर बहस न करेंगे किन्तु यदि उन्हें अदनासे अदना आदमी भी बीचबाजारमें छेड़ दे तो वे झगड़ा करनेको तैयार हो जाते हैं। × × × ×

हमलोगोंमें छोटी बड़ी बातोंका मूल्य जांचनेकी शक्ति होनी चाहिये जिससे कि हम निर्लज्जताके छोटे छोटे अपराधोंको इतना बड़ा न बनावें कि उन्हें जीवन मरणका प्रश्न समझकर लड़ मरें। छोटे छोटे अपराध या तो दिल्लगीमें उड़ा दिये जाने चाहियें या उनके ऊपर ध्यान ही न दिया जाना चाहिये, किन्तु साथ ही उन संकीर्णहृदय मनुष्योंसे जिनके विचार इन छोटी छोटी बातोंके आगे नहीं पहुंचते हमारी सहानुभूति रहनी चाहिये। हां, ऐसा कर दिखलाना सहज नहीं है। क्रोधी स्वभाववाले पुरुषको बुद्धिसे काम लेनेके पहले ही गुस्सा आजाता है।अपनेको सुधारना उसको कठिन मालूम होगा। बुद्धि होनेपर भी चित्तवृत्तियां पहले ही विद्रोह मचा देती हैं, तोभी धीरे धीरे यह वृत्तियां वशमें की जा सकती हैं और अन्तमें जल्दी गुस्सा हो जानेकी गंदी आदत बदल सकती है और समय पाकर ऐसा हो जाता है कि जो बात पहिले मनुष्यकी क्रोधाग्निको भड़कानेवाली थी आज वह प्रमोदका विषय बन जाती है। इससे कोई यह आशंका न करे कि महान् जीवन-संग्रामकी नस ही मारी जा रही है बल्कि इससे हममें मजबूती आ जाती है और हम पक्के

बनते हैं। हमारे आत्मसंयमका प्रत्येक कार्य ज्ञानके उस गुप्त भंडारको भर रहा है जहांसे हमारी श्रेष्ठ शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार छोटी बातें बड़ी बातों तक पहुंचाती हैं और पदके तथा सामाजिक झगड़े बखेड़ेके विषयमें बुद्धि, उत्साह तथा धैर्यको इतना बढ़ाना चाहिये कि वह रणक्षेत्र या राज-काजमें संकटपूर्ण समयके लिये सब साधनोंसे तैयार रहे।

(४)

हमने मनुष्यके व्यावहारिक तथा सामाजिक जीवनपर विचार कर लिया है। अब हम इसी प्रकार उसके राजनीतिक जीवनपर विचार करेंगे। यहां भी वही हालत है। यहां भी मनुष्य बहुधा तुच्छसे तुच्छ विषयोंपर बुरी तरहसे लड़ते हैं। जिनकी बुद्धि स्वच्छ है वे स्थितिको देखकर प्रतिज्ञा करेंगे कि वे इस बखेड़ेमें नहीं पड़ेंगे, भले ही उनके शम और दमको लोग भला बुरा कहें। राजनीतिक सभामें सबसे पहले प्रायः कौनसी बात आती है? हम आरम्भमें ही यह बात मान लेते हैं कि यह यथार्थमें कार्य करनेवालोंका संघ है। हमारा यह मत सदैव किसी ऐसे उत्तम सिद्धान्तको टाल देनेके दोषको छिपानेके 'काममें आता है जिसकी हमें गले लगाकर रक्षा करनी चाहिये। किन्तु हम करते क्या हैं? पहले तो हमलोगोंको पसन्द आनेवाले कई झूठे किन्तु सत्यसे भासमान होनेवाले कारण दिखाकर सिद्धान्तको एक किनारे कर देते हैं। बस फिर

ऐसी बातोंके लिये एक दूसरेको काट खानेको दौड़ते हैं जिनका सिद्धान्तसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। इसका विशेष उदाहरण देना व्यर्थ है। इस दशाका पता चलानेके लिये किसी सभाको आप देख लीजिये। सभापति स्वयं डावांडोल रहता है, दूसरोंको कायदा बतलाता है और अपनेमें इतना चरित्रबल नहीं है कि स्वयं उन नियमोंका पालन कर सके, सभ्य अध्यक्षकी परवा नहीं करते और आपसमें गप शप लड़ाने लगते हैं। कुछ लोग 'शांति शांति, चिल्लाते हैं, असामयिक बातें बकते हैं या बेतुकी हांकने लगते हैं। कोई समय समयपर यह पूछ उठता है कि सभामें किस विषयपर वादविवाद हो रहा है या सभाका क्या उद्देश्य है, जिससे सिद्ध हो जाता है कि अबतक सारा काम निरर्थक हुआ। इस दृश्यसे सभी परिचित हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि हम समझते हैं कि किसी विशेष स्थान या समयके लोगोंकी यह विशेष चपलता है, किन्तु बात यह नहीं है। सिद्धान्तोंको ताकपर रखनेका यह स्वाभाविक और न्याय-संगत परिणाम है। फिर भी हम प्रतिदिन ऐसा ही कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि हममें मिलकर किसी बातपर उसके सहज परिणाम तक लगे रहनेका साहस नहीं है और सच्चे परिणाम तक पहुंचनेपर उसके लिये लड़नेकी हिम्मत नहीं रहती।

यदि हम अपनी इस त्रुटिको दूर करना चाहते हैं तो यह विस्तृत और महान् कार्यक्षेत्रके लिये आत्मसंयम सीखनेसे ही

हो सकता है। जो महान् कार्य हमने ले रखा है हमें उसकी व्यापकता और महिमा ठीक ठीक समझनी चाहिये और अपनेको उसकी सेवाके योग्य बनानेके लिये हमें अपना चरित्र ऐसा बनाना चाहिये कि कोई उसमें धब्बा न लगा सके, छोटी छोटी बातों और कपटी व्यवहारका अन्त कर देना चाहिये और हमें वीरहृदय, दृढ़प्रतिज्ञ और उदाराशय होना चाहिये। हममेंसे प्रत्येकको यह बात भली भांति समझ लेनी और इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि परीक्षाके समय प्रत्येक दृढ़ सिद्ध हो। सार बात यह है कि यदि घरेलू जीवनमें उन गुणोंका विकास करनेकी आवश्यकता है जो सार्वजनिक जीवनमें काम आते हैं, तो सार्वजनिक जीवनमें और भी अधिक आवश्यक है कि सैनिक तथा राजनीतिज्ञोंके उपयुक्त उत्साह, धैर्य और बुद्धिमत्ता बढ़ायी जाय।

(५)

तात्विक तर्क वितर्ककी अपेक्षा एक साधारण उदाहरण इस विषयको स्पष्टतया हमारे दिलोंपर जमा देगा। हमारे प्राचीन और नवीन इतिहासमें हमारे नेताओंके अपने ऐसे सिद्धान्त त्यागनेके कई उदाहरण मिलते हैं जिनकी रक्षा करनेके लिये वे राजनीतिक अखाड़ेमें कूदे थे। ऐसे अवसरोंपर हमलोग नित्य एक ही बात करते हैं अर्थात् हम ऐसे अपराधीको निरा विश्वासघाती मानते हैं, उसपर निन्दाकी बौछार करते हैं, जीवनभर उसे घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं और उसके माथे-

पर सदाके लिये कलंकका टीका लगा देते हैं। हम कभी यह नहीं ताड़ते कि यह दोष उसके स्वभावका नहीं है किन्तु यह वह दुर्बलता है जिसे मिटानेके लिये उसे शिक्षा नहीं मिली और न आत्म-संयमका ही अभ्यास कराया गया और जिसके कारण पहले ही संकटमें वह अपनेको असहाय पाता है। हालहीमें इङ्गलैण्डके राज्याभिषेकोत्सवके समय अपने कुछ मेयरों तथा लार्ड मेयरोंकी करतूतसे आयर्लैंड क्रोधसे पागल हो उठा था। हमारी राजधानीमें इस क्रोधने भीषण रूप धारण कर लिया था। कई बातें मोटी नज़रसे भी देखी जा सकती हैं, किन्तु कितने आदमी यह जाननेकी चेष्टा करते हैं कि भीतरी रहस्य क्या है। अब मैं एक घटनाको लेकर बतलाऊंगा कि माजरा क्या है? घटना जितनी अधिक चुभती हुई होगी उतनी ही सरस मालूम पड़ेगी। मान लीजिये कि एक पुराना फीनियन (विप्लववादी) मेयर चुना गया है। अब आप देखते चलिये उसके लिये किस कौशलसे जाल फैलाया जाता है और अन्तमें कितनी मजबूतीसे वह फंसाया जाता है। मेयर मजिष्ट्रेट होता है, उसे नियमानुसार राजभक्तिकी शपथ लेनी पड़ती है, किन्तु इस पुराने फीनियनने स्वतंत्र आयर्लैण्डकी भक्तिकी शपथ खायी है। सिद्धान्तके खण्डनका यहांसे श्रीगणेश हुआ। अब और बातें सुनिये। कोई नेता जब किसी उच्च पदपर पहुंचता है तो स्वार्थी लोगोंका एक समूह, उसके तंग हालतमें पड़े हुए मित्र, पदाधिकार चर्चामें आनन्द लेनेवाले राजनीतिज्ञ और उनके

हिमायती उसे चारों ओरसे घेर लेते हैं। मेयरका अदालतमें प्रभाव होता है जिसका वे लोग समय समयपर लाभ उठाना चाहते हैं और इसलिये वे उसे मेयरके पदपर रखना चाहते हैं। वे ऐसे सिद्धान्तको भला नहीं समझते जो उनके हितमें बाधक होता है। वे सब मिलकर उसके पिट्ठू बनते हैं और इस बातको लेकर कि उन्होंने उसे सार्वजनिक जीवनमें पद दिलाया है ऐसा आचरण करते हैं कि मानों उन्होंने उसकी आत्माको मोल ले लिया है। मेयरको बहुधा वही करना होता है जिसे वे लोग उपयोगी समझते हैं, न कि जिसे मेयर उचित समझता है। बस, जिस रोज मेयर बने उसी रोजसे सिद्धान्तकी लड़ाई आरम्भ हो जाती है। जो हो, इस वृद्ध फीनियनमें पूर्वकालका यथेष्ट तेज शेष है कि वह इस पहली लड़ाईमें बचकर निकल आया। तुरत दूसरी परख सामने आ खड़ी होती है। इस बीच डबलिन केसलके अधिकारियोंकी तीव्र दृष्टि उसपर गड़ी रहती है। मेयरको चीफ मजिष्ट्रेटकी हैसियतसे कई विशेष अधिकार मिले रहते हैं। केसलसे इनके छीने जानेकी घुड़की मिलती है। अधिकारी लोग निजी तौरपर घुमा फिराकर शिकायत करते हैं कि "मेयर गैरकानूनी काम कर रहा है; उसे अमुक अमुक काम न करने चाहियें; मजिष्ट्रेटका कर्तव्य अमुक है; उसने राजभक्तिकी शपथ नहीं ली है" इत्यादि। फिर वही पुरानी लड़ाई शुरू हो जाती है क्योंकि डबिलन कैसलके अधिकारी चाहते हैं कि अदालतमें मेयर उनका होकर रहे और अपने पुराने दलसे

बिछुड़ जाय। मेयरके विशेष अधिकारोंको रद्द करके उसपर दबाव डाला जाता है। इससे उसका प्रभाव घट जाता है और उसके सहायक हताश हो जाते हैं। यह सब बातें चुपकेसे की जाती हैं। मेयर फिर भी सिद्धान्तोंपर डटा रहता है, किन्तु उसने इतना अधिक अन्देशा नहीं किया था इसलिये वह चक्करमें पड़ने लगता है और हैरान होजाता है। अब उसपर कई ओरसे आकस्मिक आक्रमण होने आरम्भ होते हैं। सम्राटने भोज दिया है, मेयरके पास निमंत्रण पहुंचता है; आयर्लैंडमें ही आमोद प्रमोद व उत्सव होते हैं, निमन्त्रण आ पहुंचता है; खेल कूद नाच तमाशोंमें भाग लेनेके लिये इङ्गलैण्ड जानेका राहखर्च मिल जाता है; मेयर सब जगह बेरोक टोक जा सकता है; उसे पथ भी दिखला दिया जाता है और मेयर तथा उसकी धर्मपत्नीसे उपस्थित होनेके लिये नम्र निवेदन किया जाता है। अपने ही कामकाजमें अवकाश न मिलनेके कारण लाज रह जाती है और निमंत्रण टाल दिये जाते हैं, पर हमारे नागरिक-शिरोमणिकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। चारों तरफसे इन सामाजिक निमन्त्रणरूपी बाणोंकी वर्षा हो रही है। यह निमन्त्रण नम्र व मधुर भाषामें लिखे रहते हैं, इनमें अशिष्टता व उद्धतताका नाम नहीं रहता। ऐसे निमन्त्रणोंको भला कौन अस्वीकार कर सकता है? अक्ल हैरान होती जाती है, लेकिन मेयर अभीतक फन्देमें नहीं फंसता। नया वार किया जाता है। स्वास्थ्य-रक्षिणी सभाका अधिवेशन होता है, स्वास्थ्यके सम्बन्धमें तो

परमात्माके प्यारे अंगरेज और जंगली आयरिश; फीनियन और उच्च राजकर्मचारी; मजदूर और मालिक किसीमें मतभेद नहीं है। हम सब निश्चय ही रोगाणुओंके शत्रु हैं। बड़ा भारी जलसा होता है, गवर्नर सपत्नीक पधारते हैं और मेयरको सभापतिका आसन दिया जाता है। आखिरकार रोगाणुओंके मायाजालमें वह फंसा लिया जाता है। जिस सभाको लाट साहब और लेडी साहबा पधारकर शोभा बढ़ाती हैं वह वास्तवमें बड़ा भारी मौका है। लाट साहब मेयरके साथ बड़ी मीठी मीठी बातें करते हैं और लेडी साहबाके साथ मेयर की धर्मपत्नीकी खूब घुटती है। इनमें ऐसा गाढ़ परिचय मालूम होता है मानों इन्होंने एक ही कसबेके एकही स्कूलमें साथ साथ पढ़ा हो। हर बातमें प्रशंसाकी झड़ी लग जाती है और जय जयकारके साथ सभा समाप्त होती है। गवर्नर और लेडी साहबा सभासे जाती हैं। इस राजनीतिक युद्धकी बलिहारी है। कैसी शान्तिके साथ घाघ राजनीतिज्ञोंकी तोपोंके मुंहपर कील ठोक दी जाती है और वे राजनीतिसे पृथक् कर दिये जाते हैं! शिष्टाचार यह सब करवाता है। गवर्नर सपत्नीक चले गये किन्तु वह बात भूले नहीं। घर जाकर इस आवभगतके लिये धन्यवादका पत्र भेजा जाता है। मेयरके सुख दुखके समय उसकी याद की जाती है और समयपर हार्दिक बधाई या गाढ़ समवेदनाके पत्र बड़ी बड़ी सरकारी मुहरोंके भीतर बन्द करके भेजे जाते हैं। ऐसा कौन असभ्य होगा जो समवेदनापर रोष प्रकट करे?

इस प्रकार कट्टर लड़ाकेकी शक्ति जड़से उखाड़ दी जाती है। जाल बड़ी सुन्दरतासे बिछाया गया और राजकर्मचारियोंने इसके फन्दोंमें अपना आदमी जकड़ लिया। जिसने डबलिनमें मेयरकी इन करतूतोंको ध्यानसे देखा है उसे यह बात खटकी होगी इसलिये नहीं कि किसी मनुष्यके आत्मसमर्पणकी हंसी उड़ाई जाय, बल्कि इसलिये कि उसने इसका वास्तविक अर्थ, भीतरी रहस्य और इससे उत्पन्न होनेवाली हानिको देखलिया है। जो कोई कर्तव्यसे च्युत होता है उससे कैफियत तलब की जानी चाहिये। जब कोई मनुष्य किसी विश्वास, प्रभाव तथा सम्मानके पदको ग्रहण करता है, चाहे कुछ हो यदि वह अपने उस सिद्धान्तसे विमुख होता है जिसकी उसे धर्मके समान रक्षा करनी चाहिये थी तो इसके लिये वह उत्तरदायी है। युद्ध कसौटी है इसलिये हमें शत्रु और मित्र दोनोंके साथ समान दृढ़तासे व्यवहार करना चाहिये। लेकिन एक पदार्थ मनुष्यकी दुर्बलतासे भी अधिक दुष्ट है:इस फन्देका स्मरण रहना चाहिये।

(६)

इस मोटे उदाहरणने हमारे विवादास्पद सिद्धान्तको भली भांति समझा दिया। जिस मेयरका हमने सरासर अधःपतन देखा है वह अटल रहता यदि उसके लिये इस प्रकार जाल न फैलाया जाता। उसे कभी यह ध्यान भी न आया होगा कि उसे इस षड्यंत्रका सामना करना पड़ेगा। कभी खतम न होनेवाली ये सीधी और टेढ़ी घुड़कियां, ये फुसलानेकी बातें, यह

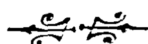
भुलावा, यह कृपादृष्टि, यह उपकार, यह चापलूसी, यह दिखाऊ उदारता, यह कुटिल और कपटी आक्रमण, न मालूम कहांसे निकलते हैं। जो इन बातोंके विरुद्ध दृढ़ रहना चाहता है और घुड़की या चापलूसीसे ऊपर उठना चाहता है उसे उस आत्म-संयममें अभ्यस्त हो जाना चाहिये जो उसे प्रत्येक संकटसे पार होना सिखलाता है। मौका पड़नेपर हम कपड़ोंकी तरह उचित चरित्र ग्रहण नहीं कर सकते। चरित्र घरेलू या सार्वजनिक प्रत्येक ऐसे कामोंसे पुष्ट होता है जिनसे मनुष्यके भाव गठित होते हैं, उसके हृदयमें विश्वास अंकित होते हैं और चित्तका निर्माण होता है। दृढ़चरित्र उसरोज भी स्वयं अपना पारितोषिक प्राप्त कर लेता है जिस दिन हमारी किसी प्रकारकी बाजी नहीं लगी हुई है किन्तु मनुष्य जीवनकी तुच्छ तुच्छ बातोंपर गुस्सेसे पागल होकर लड़ते झगड़ते हैं; क्योंकि जो जीवनकी इन तुच्छ बातोंका ठीक मोल जानता है वह कभी नहीं घबराता। चारों ओर क्रोध रहनेपर उसका यह संयम अनमोल है। जिस चित्तने उसे आपेमें रख रखा था वह तुच्छ बातोंको अपने ध्यानसे बाहर निकालनेके कारण ही जीवनकी उत्तम बातें स्पष्टतया समझ लेता है। उसकी आत्मा उससे कह देती है कि इन बातोंसे व्यक्ति और राष्ट्रके अस्तित्वको दारुण धक्का पहुंचेगा। साधारण आंखें यह संकट नहीं ताड़ सकतीं। ऐसे अवसरपर शत्रु चक्करमें पड़ जाता है और चरित्रवान पुरुष निष्कपट, महाशक्तिशाली और प्रखर बुद्धिवाला सिद्ध हो जाता है।

इस महान् उद्देश्यके लिये हमें शक्तिका रहस्य भली भांति समझ लेना चाहिये कि फौजके साथ वीरतासे संग्राममें जानेके लिये कमर कसे हुए रहना इसका भेद नहीं है इसके लिये ही जिस नियंत्रणकी आवश्यकता है वह उत्तम और बहुमूल्य है। इसका भी अभ्यास और पालन किया जाना चाहिये। लेकिन इससे जनसमूहका साधारण साहस सीखा जाता है। इसपर उसी युद्धक्षेत्रमें निर्भर रहा जा सकता है जो बराबरीका हो तथा जिसमें हार जीतकी दोनों ओर समान सम्भावना हो। परन्तु जब स्वाधीनताको फिरसे स्थापित करनेके लिये उद्योग किया जाता है, जब युद्धके ढंगसे ही दोनों पक्षोंमें जीत हारकी सम्भावना बराबर नहीं है और स्वतंत्रताके सैनिकोंको प्रत्येक प्रकारकी असुविधा है, तब हमें इस कमीको पूरा करनेके लिये अधिक विशुद्ध साहस और अधिक टिकाऊ शक्तिका संग्रह करना चाहिये। असंख्य जनताको अपने साथ लेनेसे काम न बनेगा। उस सेनापतिको, जो साधारण सैनिकोंकी इन सुन्दर कतारोंकी जांच कर रहा है और उस शक्तिका अनुमान करना चाहता है जिसे वह परिचालित करेगा, ध्यानपूर्वक इन सैनिकोंकी परीक्षा करनी चाहिये जिससे पता चल जाय कि इस बहादुर पल्टनसे एक कम्पनी बनानेके लिये कितने ऐसे आदमी मिल सकते हैं जो जीतकी आशा बिसर जानेपर भी युद्धक्षेत्रमें डटे रहेंगे। यदि आवश्यकताके समय प्रयोग करनेके लिये यह शक्ति संचित रखी हुई है, तो वह प्रत्येक संकटका सामना कर सकता है। यदि

दोनों दलोंका वल समान है तो उसकी अद्भुत विजय हो सकती है और यदि लड़ाईके किसी दाव-पेंचसे उसकी सेनाकी रचना विगड़ जाय और सर्वनाश सामने हो, तोभी उसे विखरे हुए सैनिकोंको एकत्रित करके फिर व्यूह रचने और युद्धमें फिरसे विजय प्राप्त करनेकी कुछ आशा बनी रहती है। उसे आशा रहती है कि जिस झंडेने इतने उलट पुलट देखे हैं वह अन्तमें स्वतन्त्रताके प्रकाशमें ऊंचा किया जायगा।



षष्ठ परिच्छेद



आचार व्यवहारमें सिद्धान्त ।

(१)

स्वतन्त्रतापर हमारे यह सब विचार बेकाम हैं यदि हम जीवनमें इनका उपयोग नहीं करते । हम बहुत महीन बुद्धिसे नये नये सिद्धान्त क्यों न निकालते जावें, किन्तु यदि हम अपनी दिनचर्यामें उनका उपयोग करके उनकी जांच पड़ताल न करें तो हम दर्शनशास्त्रके इतिहासमें इधर उधर बिखरे हुए निकम्मे सिद्धान्तोंकी संख्यामात्र बढ़ाते हैं । इस ग्रन्थमें जो सिद्धान्त भरे रखे हैं वे तर्क वितर्कके लिये नहीं, पुस्तक लिखनेके लिये नहीं अथवा सभाएं करनेके लिये नहीं, किन्तु मुख्यतः हमारे लिये जीवनके नियम निर्धारित करनेके लिये हैं । इस बातको भूल जाना अपने समय और शक्तिको बरबाद करना है । इन नियमोंका पालन और अनुसरण करना इनको अपने जीवनका अंग बना लेना है । इन नियमोंके अनुसार चलना हमारे सम्मुख आनेवाली समस्याओंका उचित समाधान करना है । इनको माननेसे दो विरोधी विचारोंमें हम अपने पसन्दका नियम छांट सकते हैं और चारों ओरसे विरोध होनेपर भी और समय

समयपर होनेवाली निराशाको हटाते हुए सत्यके प्रति विश्वास अटल रख सकते हैं। हम इसकी सत्यतासे लोगोंको अचरजमें डाल देंगे। और लोग इसके भक्त या विरोधी चाहे कुछ बनें किन्तु हमारी पीढ़ीके हृदयमें यह धाक जम जायगी कि हमने गुरु भार उठा रखा है।

(२)

अपने सिद्धान्तोंको काममें लानेके पहले हम अपनी स्थिति फिरसे देखेंगे। प्रत्येक देशमें कुछ समय विशेष जागृतिके होते हैं। हमारे आयर्लैंडके इतिहासमें भी कुछ वर्ष ऐसे हैं जो बतलाते हैं कि स्वतन्त्रताके सैनिकोंने महान् सिद्धान्त ग्रहण किया था ; वे सब प्रकारके बलिदानके लिये तैयार हो गये थे ; उन्हें सत्य, पराक्रम, स्वतन्त्रता और अवश्य विजयी होने वाली पताका-पर अचल विश्वास था। इन वर्षों में जनताके आगे एक आदर्श था, खून जोर मार रहा था, देशवासियोंके हृदयमें तेज आग लग रही थी जिसमें पाखंड, छल तथा नीचता झुलस गयी थी और उच्च आकांक्षासे और महान् कार्य करनेके लिये वीर हृदय प्रदीप्त हो उठे थे ; क्योंकि सर खुजलाते हुए झीखने व घिघियाने-वालोंके रहते हुए भी शत्रुको ललकारना व उसकी शक्तिको डिगा देना पराक्रम है, चाहे उसे देशसे निकालनेमें अभी बिल-म्ब ही क्यों न हो। इन तेजस्वी वर्षोंके बाद फिर एक बार निराशाका अन्धकार छा गया। इस समय भी वीर हृदय इधर

उधर बिखरे हुए वर्तमान थे। उनमें विश्वास बना हुआ था परन्तु उनमें संगठन नहीं था और वे गड़बड़में पड़े हुए थे। नेता पछाड़ दिये गये थे और उनकी जगहपर जीवनकी सुन्दरता, भूत कालकी महिमा और भावी आशाको धुंधला करने वाले, मौका मिलनेपर अपना मतलब गांठने वाले, खुशामदी, पाखण्डी तथा सार्वजनिक शीलता और सम्मानको बेचकर खानेवाले मातृ-भूमिपर अपना कलंकित अधिकार जमाने लगे। इतिहासके निरीक्षणसे यह चढ़ाव उतार देखनेमें आता है। एक पीढ़ी तेजसे चमकती है और दूसरी पीढ़ी निराशामें डूब जाती है। यह निर्णय करना हमारे हाथमें है क्योंकि हम ही इसका फैसला कर सकते हैं कि हम अपने समयको व्यर्थ खोयंगे अथवा अपनी जातिके उज्ज्वल इतिहासमें एक ज्योतिर्मय अध्याय और जोड़ जायंगे।

(३)

इनसे शिक्षा ग्रहण करनेके लिये हमें इन दो युगोंकी विशेषताओंको समझना चाहिये। पहले उस आदर्शपूर्ण समयको लीजिये जब देशमें स्वतन्त्रताका झंडा फिरसे फहरानेका उद्योग होता है। जब पहले पहल उत्साहसे मत्त सैनिक अपने हृदयकी जलती हुई आगको, फड़कती हुई आशाको और हृदयपर अंकित हो जानेवाले आदर्शको सर्वत्र फैलाता है, तो इसके साथ साथ देशमें ध्येयकी श्रेष्ठता, सार्वजनिक धर्म, अपना चरित्र अधिक अच्छा बनानेके लिये व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, कार्यमें अधिक

स्थिरता और हृदयकी स्वच्छताके ज्ञानकी जागृति होती है। इससे क्रमशः हीनता, छल प्रपञ्च और विश्वासघात जाति तथा राष्ट्रके हृदयसे उखड़ जाते हैं। राष्ट्रकी स्वतंत्रताका उद्धार करनेका दृश्य हमारी आंखोंके सामने नाचने लगता है और इस प्रवल आकांक्षा और उत्साहके साथ साथ दृढ़ प्रतिज्ञा और दृढ़ बलका मेल रहता है। उत्तम भाव हमें महान् युद्धके लिये प्रेरित करते हैं। यह युद्ध किया जाता है और हमारा दुर्भाग्य होनेपर भी यह युद्ध महान् ही बताया जायगा। हमारे इस स्वप्नको चाहे जो घटना-समूह मलियामेट करदे और हमारी विजयमें कुछ कालके लिये बाधा डाल दे, तोभी यह उज्ज्वल कार्य हमारे आदर्शकी साक्षी देने,सैनिकोंकी न्याय्यता सिद्ध करने और अन्तिम सफलताकी आशा दिलानेके लिये मसालका काम दे रहे हैं।

(४)

अब हम स्वतन्त्रताके युद्धके बीच बीचमें मुर्दनी फैलाने-वाले जो साल आते हैं उनपर विचार करेंगे। ऐसा समय हम लोगोंमें अधिकांश लोगोंने स्वयं देख रखा है। इस विषयपर हम कुछ लिख भी चुके हैं और उन आचार भ्रष्ट करनेवाली बातोंका विस्तृत विवरण नहीं देना चाहते हैं जो हमें कलुषित और निराश करती हैं। हमें इस स्थानपर उन मनुष्योंके उद्योग या कहिये निरुद्योगका विचार करना है जिनका स्वतन्त्रतापर पक्का विश्वास है और जो समय समयपर इधर या उधर

काम करनेके लिये अपनेको बाध्यसा पाते हैं। उन्होंने युद्धकी हार देखी है और उस हारके परिणामस्वरूप वे सुन्नसे हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य तत्कालीन अधिकारियोंको आत्म-समर्पण करना अस्वीकार करते हैं किन्तु उनमें उस समयका दृढ़ विश्वास और उत्साह नहीं है जब कि प्रत्येक बातपर ये अधिकारी ललकारे गये थे और उनका बनना व बिगड़ना इसीपर निर्भर था। यह आदमी बहुत समयतक उदासीन बने रहते हैं किन्तु जब विशेष नीचता या विश्वासघातका काम देखते हैं तो एकाएक उन्हें गुस्सा चढ़ आता है और सहसा वह काम करनेको दौड़ पड़ते हैं। फल कुछ नहीं होता और वे फिर अपनी निस्सहाय अवस्थामें पड़ जाते हैं। उनमें जोर शोरके आन्दोलनके समयके वे उच्च भाव नहीं हैं जो प्रति-क्षण उत्तेजित करते रहते हैं, निश्चित पथ बताते हैं और लड़ाईके लिये निरन्तर जोश उभाड़ते रहते हैं। ऐसे मुर्दादिल चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं कि यह युग किसी कामका नहीं है, शत्रुकी तूती बोल रही है, वह अपने आसनसे उतारा नहीं जा सकता और यदि वे काम करते भी हैं तो अपना मत प्रकट करनेके लिये। वे दुश्मनके दिलमें यह बात जमाना नहीं चाहते कि लड़ाई फिर छिड़ गयी है, हम स्वतंत्रताकी ओर बढ़ रहे हैं और ऐतिहासिकको इस युद्धका वर्णन लिखना तथा इस समयकी महिमा कीर्तन करनी पड़ेगी। उनके कार्योंमें यह गौरवपूर्ण महत्व नहीं होता। जब शासकोंके हानियोंकी डींग इन्हें सुनाती

स्थिरता और हृदयकी स्वच्छताके ज्ञानकी जागृति होती है। इससे क्रमशः हीनता, छल प्रपञ्च और विश्वासघात जाति तथा राष्ट्रके हृदयसे उखड़ जाते हैं। राष्ट्रकी स्वतंत्रताका उद्धार करनेका दृश्य हमारी आंखोंके सामने नाचने लगता है और इस प्रवल आकांक्षा और उत्साहके साथ साथ दृढ़ प्रतिज्ञा और दृढ़ बलका मेल रहता है। उत्तम भाव हमें महान् युद्धके लिये प्रेरित करते हैं। यह युद्ध किया जाता है और हमारा दुर्भाग्य होनेपर भी यह युद्ध महान् ही बताया जायगा। हमारे इस स्वप्नको चाहे जो घटना-समूह मलियामेट करदे और हमारी विजयमें कुछ कालके लिये बाधा डाल दे, तोभी यह उज्ज्वल कार्य हमारे आदर्शकी साक्षी देने, सैनिकोंकी न्याय्यता सिद्ध करने और अन्तिम सफलताकी आशा दिलानेके लिये मसालका काम दे रहे हैं।

(४)

अब हम स्वतन्त्रताके युद्धके बीच बीचमें मुर्दनी फैलानेवाले जो साल आते हैं उनपर विचार करेंगे। ऐसा समय हम लोगोंमें अधिकांश लोगोंने स्वयं देख रखा है। इस विषयपर हम कुछ लिख भी चुके हैं और उन आचार भ्रष्ट करनेवाली बातोंका विस्तृत विवरण नहीं देना चाहते हैं जो हमें कलुषित और निराश करती हैं। हमें इस स्थानपर उन मनुष्योंके उद्योग या कहिये निरुद्योगका विचार करना है जिनका स्वतन्त्रतापर पक्का विश्वास है और जो समय समयपर इधर या उधर

काम करनेके लिये अपनेको बाध्यसा पाते हैं। उन्होंने युद्धकी हार देखी है और उस हारके परिणामस्वरूप वे सुन्नसे हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य तत्कालीन अधिकारियोंको आत्मसमर्पण करना अस्वीकार करते हैं किन्तु उनमें उस समयका दृढ़ विश्वास और उत्साह नहीं है जब कि प्रत्येक बातपर ये अधिकारी ललकारे गये थे और उनका बनना व बिगड़ना इसीपर निर्भर था। यह आदमी बहुत समयतक उदासीन बने रहते हैं किन्तु जब विशेष नीचता या विश्वासघातका काम देखते हैं तो एकाएक उन्हें गुस्सा चढ़ आता है और सहसा वह काम करनेको दौड़ पड़ते हैं। फल कुछ नहीं होता और वे फिर अपनी निस्सहाय अवस्थामें पड़ जाते हैं। उनमें जोर शोरके आन्दोलनके समयके वे उच्च भाव नहीं हैं जो प्रतिक्षण उत्तेजित करते रहते हैं, निश्चित पथ बताते हैं और लड़ाईके लिये निरन्तर जोश उभाड़ते रहते हैं। ऐसे मुर्दादिल चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं कि यह युग किसी कामका नहीं है, शत्रुकी तूती बोल रही है, वह अपने आसनसे उतारा नहीं जा सकता और यदि वे काम करते भी हैं तो अपना मत प्रकट करनेके लिये। वे दुश्मनके दिलमें यह बात जमाना नहीं चाहते कि लड़ाई फिर छिड गयी है, हम स्वतंत्रताकी ओर बढ़ रहे हैं और ऐतिहासिकको इस युद्धका वर्णन लिखना तथा इस समयकी महिमा कीर्तन करनी पड़ेगी। उनके कार्योंमें यह गौरवपूर्ण महत्व नहीं होता। जब शासकोंके हामियोंकी डींग इन्हें चुभती

है तब वे सहसा क्रोधसे पागल हो उठते हैं। उनकी क्षणिक उन्मत्त चेष्टा अपने हृदयको शान्त करनेके लिये ही होती है, वर्त्तमान अत्याचारका नाश करनेके लिये नहीं। हमको यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिये और प्रत्येक काम-चलाऊ उपाय तथा शत्रुको तंग करने व फन्देमें डालनेकी असारता देखकर यह निरर्थक बातें त्याग देनी चाहियें और अपने समयका महत्व बढ़ानेके लिये महान् कार्य करना चाहिये।

(५)

हमें कई त्रुटियां दूर करनी हैं। पहली त्रुटि हमारी यह धारणा है कि हमें स्वतंत्रताके सिद्धान्त विशेष विशेष स्थानोंमें अंगीकार करने चाहियें और कुछ सभाओं और विशेष अवसरोंपर अर्थात् जीवनमें बहुत थोड़े कालके लिये हमें इन सिद्धान्तोंका पाबन्द रहना चाहिये। इन स्थानोंके अतिरिक्त जहां प्रकट या अप्रकट रूपसे दूसरे विचारोंका प्राधान्य होता है हम अपने सिद्धांतोंकी भक्ति छोड़ देते हैं। हमारे सिद्धान्तोंका मुख्य तत्व यह है कि हमें स्वतंत्रताकी पताका अपने साथ सर्वत्र लेजानी चाहिये और इस नियमका उल्लंघन कदापि न किया जाना चाहिये। जीवन स्वयं एक विस्तृत युद्धक्षेत्र है। किसी भी समय मनुष्यके स्वतंत्रताके सिद्धान्त ललकारे जा सकते हैं। उसे इनकी रक्षा तथा उपयोगिता सिद्ध करनेके लिये कटिबद्ध रहना चाहिये। जिन विचारोंको मनुष्य सत्य समझकर ग्रहण करता है वे केवल

वक्तृता और सभाओंमें गला फाड़कर चिल्लानेके लिये ही नहीं हैं। तुम्हारी आत्मा तुम्हें प्रेरित करेगी कि विपरीत स्थानोंमें तुम अपने सिद्धान्तोंके प्रचारक ऋषि बनो। यह सत्य सिद्धान्त तुम्हारी आत्माको निरन्तर अपनी याद दिलाता रहेगा। या तो तुम्हें इसका यश गाना होगा या इसे अस्वीकार करना होगा। और कोई चारा नहीं है; 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। मनुष्य-जीवन किसी उद्देश्यकी ओर जाय, दुराहा अवश्य मिलेगा और उसे इन सत्य और असत्यके दो रास्तोंमेंसे एक अवश्य चुनना पड़ेगा।

मनुष्यको सावधान रहना चाहिये कि कहीं सत्यका रास्ता छूट न जाय। तुम बिना किसी पक्षको ग्रहण किये रह नहीं सकते। घटना-समूह तुम्हें अवश्य एक न एक ओर कर देगा। तटस्थ रहना भी तो एक पक्ष ग्रहण करना है। पुरोहित, कवि, अध्यापक, सार्वजनिक नेता, व्यवसायी, कामकाजी, व्यापारी सबको जवाबदेही करनी पड़ेगी। जीवनके प्रत्येक मार्गमें सत्य विचारका असत्य विचारके साथ अवश्य संघर्ष होगा। बस, संघर्ष हुआ कि लड़ाई लड़नी ही पड़ेगी। इस युद्धमें हम तब हारते हैं जब खाली समयमें अपने दिलको समझानेके लिये बड़े बड़े ग्रन्थोंसे अपने पक्षके प्रमाण ढूंढ निकालना ही यथेष्ट समझते हैं। यह शास्त्रार्थोंके युगकीसी बात हो गयी। आदर्शकी पुकार असर नहीं करती क्योंकि तब सिद्धान्त शास्त्रार्थका विषय समझा जाता है। जो अपने

सिद्धान्तपर विश्वास करके उन मनुष्योंका साथ देते हैं जो इसके लिये लड़ते हैं वे सिद्धान्तके भीतर जान डाल देते हैं और उन लोगोंपर अपना सिक्का जमा देते हैं जिनके कट्टर दिलोंमें और किसी प्रकार असर नहीं हो सकता था। सिद्धान्तके लिये युद्ध करनेसे सबका ध्यान उसकी ओर खिंच जाता है, सब दिलचस्पी लेने लगते हैं और जनता शीघ्र गतिसे आगे बढ़ती है। जहां कहीं स्वतंत्रताकी पुकार हमें अपनी ओर बुलाती है शत्रुका फन्दा भी हमारे लिये लगा हुआ रहता है। × × × ×

हम जानते हैं कि जो पादरी राष्ट्रीय भावोंका प्रचार रोकनेकी चेष्टा करते हैं उन्हें औरोंसे अधिक पुरस्कार मिलता है। यदि अध्यापक राष्ट्रीय विचारोंको कोसते हैं तो उनका वेतन बढ़ाया जाता है और उन्हें उपाधियां मिलती हैं। जो सार्वजनिक नेता राष्ट्रीयताका भण्डा फोडते हैं उन्हें उच्च पद और उपाधियां दी जाती हैं। पेशेदार आदमीको बढ़ती की, व्यापारीको अधिक व्यापारकी और व्यवसायीको व्यवसायकी आशा दिलायी जाती है बशर्ते कि वह स्वतन्त्रका झंडा हाथसे गिरा देगा। सर्वत्र ही सुयोग्य नवयुवकोंके सामने मायावी प्रलोभन आवेंगे। यह प्रलोभन उनके कानमें कहेंगे "तुममें योग्यता है; सिद्धान्तको छोड़ो और प्रकाशमें आओ; सिद्धान्तके कारण तुम अन्धेरेमें पड़े हो। इस समय यह सिद्धान्त किस काम आ रहा है? आओ, कामकाजी बनो।" इस लालचमें पड़कर नवयुवक दुर्बल पड़ जायगा,

उसके वश हो जायगा और दुनियांकी तारीफ लूटनेके लिये प्रकाशमें आजायगा ; किन्तु पुराना सिद्धान्त उसके मर्ममें घाव कर देगा और अन्तमें उस सिद्धान्तका लोप हो जायगा। वह भले ही ऐश्वर्यकी अवस्थामें रहे किन्तु उसकी दुर्दशापूर्ण, आशातीत और पक्की हार हो गयी। जब वह अपने सिद्धान्तको पकड़कर खड़ा है, अधिकारियोंके हाथ सिद्धान्त बेचना अस्वीकार करता है और झंडा उठाये हुए हैं तो और लोग अपने पागलपनेमें उसे बेवक़ूफ और निकम्मा बतलाते हैं; किन्तु जो यह बकते हैं वे नहीं समझते कि इस नवयुवकने संसारके साम्राज्योंकी सब विजयोंसे बड़ी विजय प्राप्त की है। उसकी आत्मामें सच्ची ज्योति और चिरसुन्दरता विराजमान रहेगी। इस उत्साही नवयुवकके हृदयमें स्वतन्त्रताके संगीतका सुरीला स्वर सदा सुनायी देगा। उसके सामने स्वतन्त्रताकी झाँकी बनी रहेगी, इस झांकीने संसारकी सदियोंके संग्रामको स्थिर रखा है, व्यक्तिको उन्नत किया है, राष्ट्रको शक्तिशाली बनाया है और ख़ानाबदोश क़ौमको मरुभूमिसे अपनी आशाके शुभ तीर्थपर पहुंचाया है।

(६)

यदि वर्तमान समयमें हम अपनेको चरितार्थ करना चाहते हैं, तो अपना सिद्धान्त छोड़नेका नाम न लेना चाहिये। इस विषयपर कई सच्चरित्र पुरुष भी भूल करते हैं और जो भाव हमारी असफलताकी जड़ हैं उन्हें वे उचित समझते हैं। हमारी भूल जताना

तथा इसे समझना इतना आसान है कि यह देखकर आश्चर्य होता है कि इतने दिनोंतक हम सब लोगने इसे क्यों न समझा। जो मनुष्य एक स्थानपर अपने सिद्धान्तको स्वीकार करता है और जहां उसपर ललकार पडती है उसे त्याग देता है वह सिद्धान्त घाती है। वह हृदयमें उसपर विश्वास करता हो, सम्वादपत्रोंमें उसके पक्षमें गुमनाम लेख भी छपाता हो तथा फिर कहींपर इस सिद्धान्तके सामने सर झुकावे, किन्तु वह हर समय हर युद्धमें सिद्धान्तपर डटा नहीं रहेगा। ऐसा संकट आपड़नेपर जिसमें सब देशभक्त और कामकाजी आदमियोंके काम करनेकी जरूरत पड़े और जिसमें यह साफ फैसला करना पड़ता हो कि वह राष्ट्रके पक्षमें है या विरुद्ध, वह अपनी मान-मर्यादा देखकर मुखिया बनना स्वीकार न करेगा और सभा-समितियोंसे विना कुछ कहे सुने अनुपस्थित रहेगा। वह चन्दा देकर मेम्बर तो बना रहेगा परन्तु सभामें योग देनेमें वहाने करेगा। वह आपसमें सिद्धान्तपर विश्वास जताकर तथा रिक्त स्थानकी पूर्ति करनेवालोंको गुप्त रीतिसे उत्साह देकर संतोष कर लेता है। उसकी यह वातें भी इतनी दूरसे होती हैं कि दुनिया सुन नहीं सकती। उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह सोचता है कि अधिक साहसी काम करनेसे उसका जीवन संशयमें पड़ जायगा इसलिये उसका मैदानसे दूर रहना न्यायसंगत है। इस विषयपर यही कहा जा सकता है कि उसका दूर रहना न्यायसंगत नहीं है। ऐसे अवसरपर जिसने

स्वयं अपनी जान खतरेमें डाल रखी है उसे दूसरोंको निर्दोष बतलानेका भार अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। यह तो कदापि न होना चाहिये कि डरपोक लोगोंको हृदयमें माने हुए सिद्धान्तकी ओर बढ़ानेके लिये खुले आम नरम सिद्धान्तका प्रचार किया जाय। वे जहां तक सिद्धान्तको मानते हैं उन्हें उसपर अमल करनेके लिये उत्तेजित कीजिये। अपने सिद्धान्त-में कमी न करनी चाहिये क्योंकि ऐसा आदमी बादको समझता है कि वह ऐसी बातें बक गया जिनको वह बिल्कुल नहीं मान सकता; और यदि तुम किसी मनुष्यसे वह करनेको कहोगे जिसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते और ऐसी बातें दूसरोंसे कहते ही जाओगे तो यह तुम्हारे हृदयका बल क्षीण कर देगा और जिस बातको तुम पहले घोर घृणाकी दृष्टिसे देखते थे उसके प्रति धीरे धीरे उदासीन बन जाओगे। तुमको मालूम नहीं होगा किन्तु तुम बदल जाओगे। पुराने मित्र तुमपर रोप प्रकट करेंगे। यह देखकर तुम भी उनपर झुंझ-लाओगे, यह नहीं जानोगे कि तुम कैसे बदल गये हो। विश्वासी पुरुष जिन सिद्धान्तोंपर विश्वास करता है उन्हें कुछ समयके लिये छोड़ नहीं देता या अपने सिद्धान्तके विरुद्ध बात नहीं करता। यदि वह ऐसा करे तो कुछ दिनों बाद वह अपने सिद्धान्तको प्रकट करनेमें घबड़ायगा। दो प्रतिकूल बातोंका सामञ्जस्य करना प्रायः असम्भव है। हमें आधे दिलसे काम करनेकी नीति छोड़ देनी चाहिये।

हमारी नीति पूर्ण, स्वच्छ, अविरोधी तथा अशान्त और जिज्ञासु हृदयोंको सन्तुष्ट करनेवाली होनी चाहिये। जब हम इन अशान्त जिज्ञासुओंको अपनी ओर कर लेंगे तो अकर्मण्य लोग स्वयं उनके पीछे चले आवेंगे। यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिये कि कोई भी मनुष्य अपनेको या अपने साथीको गुरु कर्तव्यसे वरी नहीं कर सकता। इसपर भी हमने कर्तव्य-भ्रष्टताको बुरा नहीं समझा है। इससे हम गड़वड़में पड़े हैं और हमने हानि उठायी है। इस मतिसे कि हम भविष्यमें वीर अग्रणी वनेंगे हम वर्तमान समयमें मनुष्य वननेसे भी वञ्चित रह जाते हैं। हम उस धुंधले भविष्यका दृश्य देखते हैं जब हम महान् कार्य्य करनेको प्रेरित किये जायंगे। हम यह नहीं देखते कि प्रेरणा इस समय भी वर्तमान है, युद्ध छिड़ गया है, हमें गुप्त स्थानसे पताका उठा लेनी चाहिये और वीरताके साथ इसे फहराना चाहिये। संग्रामकी इतनी समीपतासे हृदय दहल सकता है; किन्तु युद्ध छेड़नेके इस भयका अर्थ पराजयके सब बुरे परिणामोंको विना विरोध किये सहन करना है। यह पराजय ऐसी है जो विजयमें परिणत हो सकती थी। यदि हम वीरतापूर्ण भविष्यके लिये अपनेको योग्य वनाना चाहते हैं तो हमें वर्तमान समयमें ही उठ खड़ा होना और मनुष्य वनना चाहिये।

(७)

कभी कभी हमारा वास्ता निष्पक्ष लोगोंसे पड़ जाता है।

युद्धमें ऐसी आवश्यकता आ पड़ती है। हमारे दुर्भाग्यसे अपने बीच ऐसे भी लोग हैं जो आयर्लैण्डकी पुरानी स्वाधीनताको फिरसे स्थापित करनेपर विश्वास नहीं करते। किसी समय हम डिग न जायं इसलिये यह अच्छा है कि हम ऐसे आदमियोंके निकट भी रहें, क्योंकि इनका स्पष्ट सत्यप्रेम हमको ठीक रास्ते-पर लानेके काम आ सकता है। हमें इन निष्पक्षवादियोंको अपनेमें मिलानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जबतक यह नहीं होता इन लोगोंसे हमें निष्पक्ष स्थानपर आपसमें समान प्रयोजनके लिये मिलना चाहिये। किन्तु स्वाधीनताका झंडा हमारे साथ साथ चलेगा। और यह बात सबसे मुख्य है। जब निरपेक्ष लोगोंसे मिलनेमें हम अपना झंडा साथ लिये चलते हैं तो क्या जिस स्थानमें विरोधी मतके लोग मिलते हैं वहां हमें अपनी ध्वजा गिरा देनी चाहिये? अपने साथ साथ सिद्धान्तरूपी झंडा ले चलनेका अभिप्राय यह नहीं है कि हम दूसरोंमें बलात्कारसे अपना मत ठूंसना चाहते हैं, बल्कि यह है कि हम अपने चित्तमें सदा इन सिद्धान्तोंको स्पष्ट-तया रखना चाहते हैं जिससे प्रतिकूल मत हमपर ज़बरदस्ती न लादा जा सके। इस बातका हमें ध्यान रखना चाहिये कि निष्प-क्षतामें कोई फर्क न आने पाये। हमें इस गढ़ेमें गिरनेसे भी सावधान रहना चाहिये कि ऐसे अवसरपर वह बात जिसे हम अपने सिद्धान्तके अनुसार नहीं मानते हमारे द्वारा स्वीकृत समझी जाती है क्योंकि उसका खण्डन करनेसे निष्पक्षता नहीं रह

जाती। निष्पक्षताका आशय यह नहीं है कि हम जिस बातका विरोध नहीं करते उसे मान लेते हैं। निष्पक्षता दो विरोधी पक्षोंमें समभावसे रहनेका नाम है। और चूंकि गम्भीर विषयोंपर हम विभक्त हो रहे हैं इसलिये यह हानिकर विचार हमें दिलसे निकाल डालना चाहिये कि इस मेलके स्थानपर एकत्र होनेसे हम निष्पक्षताके विरोधी सिद्धान्तोंको बुरा बतलाते हैं। दोनों पक्षके लोगोंके लिये जो अपने सिद्धान्तोंको जीवनका अंग बनाये हुए हैं यह प्रशंसाकी बात नहीं है कि वह अनायास ही सिद्धान्तोंको बगलमें दबा लें। नहीं, निष्पक्ष लोग अपने सिद्धान्त भूल जानेको नहीं कहते किन्तु एक दूसरेके सिद्धान्तोंका सम्मान करते हैं। निष्पक्षताका यह सिद्धान्त बहुत ऊंचा और गौरवशाली है। निष्पक्षपातियोंकी सभामें मनुष्यसे अपना सिद्धान्त छोड़नेको नहीं कहा जाता, बल्कि पक्षपातहीन मनुष्य और उसके सिद्धान्त पवित्र समझे जाते हैं।

(८)

जब हम समझ लेते हैं कि राष्ट्रीय भाव जीवनके प्रत्येक कार्य्यसे सम्बन्ध रखते हैं, तो हम मालूम करने लगते हैं कि इन भावोंकी रक्षा करनेके लिये बार बार हमपर अचानक भार आ पड़ता है। जो लोग राष्ट्रीय विचारोंका प्रसङ्ग छेड़ते हैं वे जानबूझकर इनका तिरस्कार करने के लिये ऐसा नहीं करते; उनमें संस्कार ही ऐसा पड़ जाता है कि वे अनजानमें यह बात

ठीक समझ लेते हैं कि वर्तमान या भविष्य कालमें हमारे प्रधान सिद्धान्तके लिये कहीं ठौर नहीं है और वे यह आशा करते हैं कि सब लोग उनसे सहमत हों। उनसे पहला और भीषण संघर्ष उनकी इस धारणापर ही हो जायगा कि वर्तमान दशा बदल नहीं सकती। हमें इससे उल्टी धारणा लेकर लड़नेके लिये शान्तिसे कटिबद्ध रहना चाहिये और अपने पुराने सिद्धान्तोंपर अटल रहकर उनकी न्याय्यता प्रमाणित करनी चाहिये। हमें इस बातका भी पक्का अनुभव कर लेना चाहिये कि हमारे विरुद्ध जिन लोगोंके विचार निश्चित, दृढ़ तथा सधे हुए हैं उनकी संख्या हमारी तुलनामें बहुत कम है। यह थोड़ी संख्या शक्तिशाली अङ्गरेज सरकारको छातीसे लगाती है, बिना हेतुके इसकी अज्ञायें शिरोधार्य करती है और जनसाधारणपर अपना प्रभाव डालनेकी कोशिश करती है। (जनसाधारणके विचार अनिश्चित होते हैं, जिस समय जो शासन करता है उसीके साथ बहते रहते हैं।) हमें इस जनताके भीतर ही सत्य-सिद्धान्तोंको फैलाना है जिससे उनमें अधिक स्थिरता, अधिक उत्साह, अधिक जात्य-भिमानका सञ्चार हो और वे अपनेको जातीयताके योग्य सिद्ध कर सकें। उनको स्वातन्त्र्यवादमें तभी पूर्ण विश्वास हो सकता है जब वे देखने लगेंगे कि हमारे पक्षकी रक्षा पग पगपर की जा रही है। हमारा एक मात्र कर्तव्य अपने सिद्धान्तकी रक्षा करना ही होना चाहिये। यह कर्तव्य हमें खोजना नहीं पड़ेगा; यह स्वयं उपस्थित होगा और इसके साथ हमारी परीक्षा हो जायगी।

इसका एक उदाहरण लीजिये। जब नाना मतके मनुष्य किसी कामके लिये एकत्र होते हैं और महत्वपूर्ण विषयोंकी चर्चा नहीं होती, अकस्मात् अनजानमें या आजमाइशी तौरपर एक आदमी ऐसा सवाल उठा देता है जिससे सभामें मतभेद हो जाय। मान लीजिये वह आयर्लैंडमें अंगरेजोंकी प्रभुता स्वीकार करता है और आर्थिक लाभकी मूर्खतापूर्ण आशासे हमारा स्वाधीनताका दावा छोड़ देता है। बस, इस विषयपर एकत्रित सभ्य बेहूदा बातें बक जाते हैं और कुहराम सा मच जाता है। ऐसी स्थितिमें बहुत सम्भव है कि अयर्लेण्डकी पूर्ण स्वाधीनतापर विश्वास करनेवाला मनुष्य अपने साथ ऐसे मनुष्योंको देखेगा जिन्हें उसका साथ देना चाहिये था किन्तु मातृभूमिके अधिकारोंके विषयमें उनके विचार अस्पष्ट रह गये हैं। ऐसा मनुष्य देखेगा कि दूसरे पक्षके विषयमें भी उनके विचार उतने ही अस्पष्ट हैं। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हैं और जो जिधर घसीटता है उधर ही चले जाते हैं। इसलिये जब लड़ानेवाला मत पेश किया जाता है उस समय यदि वह चतुर और स्वच्छ बुद्धिवाला हो तो उस राजनीतिक दावपेंचकी कलई खोल सकता है और उन्हें हीन, निकम्मा और अपमानकारी सिद्ध कर सकता, इन बातोंसे है वह सभामें और सबोंका मन अपने ढांचेमें ढाल सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि उसे इसके लिये तैयार रहना चाहिये। यह बात हमें भली भांती समझ लेनी चाहिये कि वार्तालापमें बहुधा एक मार्केका शब्द किस प्रकार

ढंग पलट देता है और जिस मनुष्यके विचार जोशीले और साफ होते हैं उसका कैसा रोब जम जाता है। उधर दूसरे लोग उदासीन व अनिश्चित रहते हैं। सिद्धान्तका कट्टर मनुष्य एक भी अच्छा है। कोई नहीं कह सकता जीवनकी घटनायें उसे कहां डाल देंगी। उसके सिद्धान्त उसके मुंहपर ललकारे जा सकते हैं। उसे अपने मतका स्पष्टीकरण करना होगा। ऐसे अवसरपर लोग किसी प्रकार अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। किन्तु हमें अपनी ओरसे आक्रमण न कर अपने सिद्धान्तोंपर डटे रहना चाहिये पर जब दूसरा पक्ष आक्रमण करता है तो उसके लिये तैयार रहना चाहिये। इससे भी कमजोर लोगोंके हृदयमें सिद्धान्तके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है।

हमें दोषारोपण करनेकी आदतसे संक्रामक रोगकी तरह बचना चाहिये,किन्तु हम अपने पक्षकी बातें साफ साफ कहेंगे और शत्रु मित्रके साथ लड़नेके लिये तैयार रहेंगे। किसी समय ऐसा होता है कि ठीक उस जगह जहां इस बातकी सबसे कम आशा होती है इधर उधरसे भटकता हुआ एक मिथ्या सिद्धान्त चटकीले भड़कीले शब्दोंके भीतर छिपकर हमारी बातका खण्डन करनेके लिये आ पहुंचता है। तत्काल वायुमंडलको साफ करनेके लिये एक दो उज्ज्वल शब्द कह दिये जायं। इससे हमारे मित्रोंको ढाढस मिल जाता है और वे संभल जाते हैं। जब हम विरोधियोंके बीच अकेले रहते हैं और विरुद्ध सिद्धान्तवाले यह समझते हैं कि हम उनके साथ हैं और हमारे सहयोगकी आशा रखते हैं, तो हम उन्हें एक

शब्द कहकर रास्तेपर ला सकते हैं; यह शब्द उन्हें रोक देगा। वे समझ जायंगे कि हमारे क्या सिद्धान्त हैं जिनके लिये हम लड़नेको कटिबद्ध हैं। फल यह होगा कि सब हमारा सम्मान करने लगेंगे। चाहे लड़ाई लड़नी पड़े हम उक्त ढंगसे काम करनेपर अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं। इसे हम सरल शब्दों-में कह सकते हैं कि हम अपना झंडा फहरा रहे हैं।

(६)

जो मनुष्य अपने जीवनको वीरतापूर्ण भावोंसे भर देना चहता है उसका किस प्रकार विरोध किया जाता है यहांपर हम उसका थोड़ा उल्लेख करेंगे। उससे लोग कहेंगे कि तुम किस मायाजालमें पड़े हो; सपनेकी सी बातें कर रहे हो; या तो तुम्हारा दिमाग खराब है, नहीं तो तुम मूर्ख हो। ऐसे मौकेपर हमें यह देखना चाहिये कि हमारे समालोचक स्वयं मायाजालमें पड़कर अन्धे तो नहीं बन गये हैं और हमें अपनी मूर्खताका उनकी बुद्धिमत्ताके साथ मिलान करना चाहिये।

× × × ×

उस सम्पन्न पुरुषको लीजिये जो सुखप्राप्तिकी खोजमें इधर उधर भटकता फिरता है और दूसरे लोगोंसे कहता है—"मूर्ख मत बनो, मेरा उदाहरण ग्रहण करो।" थोड़ी देरके लिये उसे अपना पथ-प्रदर्शक मान लीजिये। कुछ समय तक उसके साथ रहनेसे आपको मालूम हो जायगा कि उसका अवकाश हुलड़बा-

जीमें ही कटता है, आनन्दसे नहीं। उसकी उस समयकी दशा देखनेसे जब कि वह बेखबर रहता है पता चल जायगा कि उसका जीवन ग्लानि और सुस्तीमें बीतता है। यह भोग-विलासका पुजारी जीवनके हीन या श्रेष्ठ जिस मार्गपर चले उसे वह भार प्रतीत होगा। श्रेष्ठ जीवन बितानेके लिये वह एक या दो बढ़िया क्लबोंका मेम्बर बनेगा, और भी अधिक विषयासक्त होगा, अधिक अवकाश और अधिक आनन्द ढूंढ़ेगा; किन्तु इस प्रकारके पुरुषका ढंग आप सर्वत्र एकसा ही पावेंगे। जीवन उसके लिये भारी बोझ सा बन जाता है, उसके हृदयमें किसी प्रकारका आनन्द नहीं रहता, कोई उत्तेजना नहीं रहती, शक्ति नहीं रहती और न उमंग हो रहती है। इस दशामें रहनेकी इच्छा कौन करेगा?

एक और मित्र आपकी पीठ ठोककर कहता है "ऐसे भोग विलासी मत बनो किन्तु कामकाजी बनो, भ्रममें मत पड़ो, अनहोनी बातोंमें मत फँसो—भविष्यकी बात कौन जानता है? हमें तो वर्तमान समयसे काम निकालना है। हमारे इस विश्वासी मित्रमें विचार-शक्तिका अभाव है। वह दूसरेको भविष्यसे सम्बन्ध तोड़नेकी शिक्षा देता है और स्वयं ऐसा प्रस्ताव कर रहा है जिसका परिणाम हम भविष्यमें ही जान सकेंगे। हमसे तो वह कहता है कि कौन जानता है कि भविष्यमें स्थिति हमारे अनुकूल होगी और अपने विषयमें भविष्यको अपने अनुकूल माने बैठा है। लेकिन हमारा तो यह दावा है कि भूत कालके समान

भविष्यमें भी हमारे सिद्धान्तोंकी प्रभुता रहेगी। भविष्यकी घटनाओंके लिये कोई कुछ नहीं कह सकता। जो पुरुष हमारे सिद्धान्तोंके लिये हमें स्वप्न देखनेवाला कहता है वह वर्तमान या भूत कालका ऐसा एक भी उदाहरण नहीं दे सकता जिससे सिद्ध हो कि उसके ढंगके लोगोंने कुछ कर दिखाया हो। संसारमें सभी स्वप्न देखते हैं। हां, कुछ लोग दुःस्वप्न देखते हैं और कुछ लोग स्वच्छ नक्षत्र खचित आकाशके नीचे संगीतमय सुन्दर संसारका दृश्य देखते हैं।

(१०)

नवीन उत्साहीको जिसने हालहीमें सिद्धान्तको ग्रहण किया है जानना चाहिये कि उसे ऐसे निराश करनेवाले अवसरोंका सामना करना पड़ेगा जिनका मुकावला सबसे उत्साही, सबसे साहसी और सबसे दृढ़चित्त मनुष्योंको भी करना पड़ा है। हमारा कार्य मनुष्योंका कार्य है और इसमें ऐसे परिवर्तन हुआ ही करेंगे जैसे मनुष्यके कार्यों में सदा हुआ करते हैं। इसलिये प्रत्येक ऐसे कार्यमें भाग लेनेवाले सैनिकको चाहिये कि वह सदा दारुण दुःख सहने और ऐसे समयका सामना करनेको तैयार रहे जिसमें उसे अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीख पड़े। ऐसे समय निराशा भयानक अंधेरे कुहरेकी तरह प्रत्येक सुन्दर वस्तुको और प्रत्येक आशाकी किरणको ढक देती है। इस निराशाके कई कारण हो सकते हैं। दुर्बल

मनुष्यके अधिक परिश्रम करने अथवा कई वर्षोंसे ऐसा प्रयत्न करनेसे जो निरर्थक सा दीखता हो या जिसे लोग भूलसे गये हों यह खिन्नता पैदा हो सकती है। यह म्लानता अपनी ओर ऐसे मनुष्योंको देखकर भी पैदा हो सकती है जिनका इस कार्य्यमें भाग लेना ही एक पहेली है, जिनका न तो चरित्र ही ठीक है, न वे सिद्धान्तका महत्व ही समझते हैं और जिनकी जघन्य, कुत्सित तथा कुटिल नीति तुम्हें निर्जीव बना देती है क्योंकि तुम समझते हो कि जिस मनुष्यके हाथमें हमारी जैसी निष्कलङ्क पताका हो उसे स्वभावतः धीर, वीर और गम्भीर होना चाहिये। यह मुर्दनी तुममें शत्रुके दिखाऊ अतुल बल और उन हजारों मनुष्योंकी लापरवाहीके कारण फैल जाती है जो गद्गद् होकर स्वतन्त्रताके गले तो चिपट जायंगे पर इस समय हताश होकर हाथपर हाथ रखे बैठे हैं। इनके अलावा अपनी बातोंमें मग्न रहनेवाले उस कामकाजी मनुष्यका विरोध भी हमें खिन्न कर देता है जो सदा प्रत्येक उच्च विचार और अटल सिद्धान्तोंकी आलोचना किया करता है।

यह सब कठिनाइयां स्वतन्त्रताके सैनिकको झेलनी होंगी। जो संग्रामसे थक गये हैं उन्हें समझ लेना चाहिये कि जिस समय सङ्कटकी घड़ी आती है उस समय अन्धकारपूर्ण आकाशमें एक चमकता हुआ तारा भी दिखलायी देता है। जहां एक या दो सैनिक हैं वहां वह व्यर्थ मालूम हो पर यदि वे दृढ़ रहें तो उनकी संख्यामें वृद्धि होगी। सत्यका प्रेम संसर्गसे फैलता

है। जिस समय उन्नतिके मार्गमें बाधा उपस्थित होती है उस समय इस बातपर विचार मत करो कि हमारी इस वक्त क्या स्थिति है, पर इस बातको सोचो कि हमने एक समय कैसे उच्चता प्राप्त कर ली थी। इस समय हमारे लिये क्या बचा है और हम आगेको कितना प्राप्त कर सकते हैं। यदि कुछ लोग शिथिल पड़ गये हों और समयके अनुकूल अपने सिद्धान्तोंको बदलने लगे हों तो अधिक दृढ़ होकर उनसे सहानुभूति दिखलाओ। मृत्युको आलिङ्गन करनेकी अपेक्षा सिद्धान्तोंको पूर्णतया पालन करते हुए जीवित रहना कठिन है। कई उदारचरित्र पुरुष कठिन अवसर आ पड़नेपर पूर्ण साहसके साथ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे देते हैं। पर जीवित मनुष्यको सिद्धान्तके लिये समय समयपर बिना चेतावनी मिले ही अग्नि-परीक्षाका भार वहन करना पड़ता है, और चूंकि सिद्धान्तके पालन करनेमें जीवनकी सारी शक्ति होम देनी पड़ती है सिद्धान्तकी मांगें इतनी जबर्दस्त होती हैं कि कई मनुष्य हिम्मत हार देते हैं।

हमें जनसाधारणके दिलमें यह जमा देना है कि जीवित रहना उतना ही साहसका काम है जितना कि जानपर खेलना। किन्तु वर्तमान समयमें हमें भ्रममें डालनेके लिये यह चिकनी चुपड़ी बात कही जाती है कि "तुमसे मातृभूमिके लिये प्राणोत्सर्ग करनेको कौन कहता है तुमसे तो प्रार्थना की जाती है कि उसके लिये जीवित रहो।" इसके साथ इस बातपर जोर नहीं दिया जाता

कि जीवनका उद्देश्य तेजस्वी तथा सत्य आदर्शके लिये प्राण धारण करना है। निरी क्षमा-प्रार्थनामेंही अस्तित्व गंवा देना जीवन नहीं है। यदि जीवनके विषयमें जनतामें ऐसे तुच्छ विचार फैल जायं तो हमें मातृभूमिमें मनुष्योंके स्थानपर ऐसे जीव दिखलायी देंगे जिन्हें भयसे कम्प छूट रही हो। ऐसे प्राणियोंमें न तो जीवित रह सकनेकी शक्ति रहेगी और न जान देनेका साहस ही रहेगा। वास्तवमें महान् संकट आ उपस्थित होगा। इन सब बातोंसे देशमें निराशा छा जायगी। इस उदासीनता और विश्वासघातको, साहसहीन मित्र और लड़ाके शत्रुओंको तथा अपने जीर्ण शरीर और चक्करमें पड़ी हुई बुद्धिको देखकर हममेंसे जो पुराने सिद्धान्तोंका प्रचार कर रहा है वह अपनी आवाजको अवश्य ही अरण्यरोदन समझ सकता है। जबतक खूनमें फिर गर्मी नहीं आजाती और विचारोंमें फिरसे तेजस्विता नहीं समा जाती तबतक इस अरण्यरोदनसे ही काम होता है। हजारों वर्ष पहिले जो बातें नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज समझी जाती थीं उनमें इस समय बल और उत्तेजना दिखायी देती है किन्तु कामकाजी आदमीकी आवाज न पहले उत्तेजित कर सकती थी, न अब कर सकती है।

(११)

अब अन्तमें हम विचार करेंगे कि हमारा निश्चित मत क्या होना चाहिये। अपने विचारोंको आचारमें परिणत करना ही

हमारा मत है। जब हम ऐसा करते हैं हमारा स्वाधीनताका संग्राम गूढ़ तथा सार्थक रूपमें आरम्भ हो जाता है। हमें भविष्य-में अधिक सुगमता देखकर अपना कर्तव्य स्थगित न करना चाहिये। स्वाधीनता प्राप्त करनेके विषयकी बातचीत छेड़नेको बाध्य होना उतना ही सम्भव है जितना कि साधारणतया सैनिक संगठन कर युद्ध छेड़नेको मजबूर होना। हम जब लड़ाई छेड़ने-को मजबूर होनेका उल्लेख कर रहे हैं, कोई यह न समझे कि हम सन्धिकी बातचीतको भुला देनेकी भयानक भूलके अपराधी हैं।

× × × × ×

हम नहीं कह सकते कि भविष्यमें हमारे ऊपर अचानक कौनसी घटना टूट पड़े किन्तु जब हम सर्वदा यह ध्यानमें रखेंगे कि वर्तमान समय ही मार्मिक समय है तो हम हर घड़ी तत्पर रहेंगे। हमको वीरताके साथ अपना सिद्धान्त ठीक कर लेना चाहिये और अपने जीवनको उसके अनुसार चलाना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको अपनी सेनाके साथ बना रहना चाहिये और अपना झण्डा किसीके सामने न गिराना चाहिये। ऐसा करनेसे ही हम अपने चारों ओर अपनी जड़ फैला सकते हैं और इति-हासलेखक हमारे विषयमें लिखेगा कि हमारा काल तेजहीन नहीं बल्कि तेजपूर्ण था। मैं फिर कहूंगा कि युद्धके चढ़ाव उता-रके चक्करमें पड़कर हमें समय देख अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले पुरुषकी हीनता और शत्रुके विश्वासघातसे व्याकुल न होना चाहिये। हमें शान्त तथा संयत रहना चाहिये और बहुतसे

लोग जो साफ नीयतसे या आनेवाले आकस्मिक भयके कारण हमारे दलमें नहीं हैं उन्हें अपने जीवनके ढंगसे अपने सिद्धान्तकी सुन्दरता, सत्यता तथा नित्य-व्यावहारिकता दिखा देनी चाहिये। इससे वे लोग हमारे पक्षमें आजायंगे जिनके दिलपर हमारी बातका असर हो सकता है और हमारा मतभेद यथासम्भव घट जायगा। इससे वे लोग भली भांति समझ लेंगे कि जो अविचलित हो महान् सिद्धान्तकी रक्षा करता है वह अवसरको ताकते रहनेवालेसे अधिक अच्छा काम कर सकता है। तब वे समझेंगे कि स्वप्नमें भी इन्होंने जिस बातको सोचनेका साहस नहीं किया था उससे कितना अधिक काम होना सम्भव है। वे ध्येयको आँखोंके सामने देखेंगे और इस दर्शनसे उनमें स्थायी उत्साह, स्वच्छ बुद्धि और आत्माकी दृढ़ता उत्पन्न होगी। जब इतना हो चुका तो देशका उद्धार दूरका स्वप्न नहीं रह जायगा, किन्तु यथार्थ रूपमें आरम्भ हो जायगा, सब हृदयोंमें फिरसे जीवन शक्तिका सञ्चार हो उठेगा और आयर्लैण्ड स्वतंत्रताके अन्तिम संग्राममें प्रवेश करके सफलतापूर्वक बाहर निकल आयगा तथा संसारके राष्ट्रोंमें अपना उचित स्थान फिरसे ग्रहण करेगा।



सप्तम परिच्छेद

---※---

दृढ़भक्ति

(१)

मनुष्यकी प्रशंसामें सबसे बड़ी बात यह कही जा सकती है कि वह अपने सिद्धान्तका पक्का है। चूंकि हमारे सारे इतिहासमें मातृभूमिकी दृढ़भक्ति ही देशवासियोंका प्रधान गुण रहा है इसलिये इस बातको निर्णय करनेका उपयुक्त समय आ गया है कि कौन मातृद्रोही हैं और कौन दृढ़ देशभक्त। जब मन्दमति सरकारने भली भांति जान लिया कि हम पूरे राजभक्त हैं तो उसने हमारे वीर नेताओंको राजद्रोही बतलाकर न्यायसे वञ्चित करनेकी चेष्टा की। × × ×

जब मनुष्य ऐसी बुराईके विरुद्ध उठ खड़ा होता है जिसने देशमें घर कर लिया हो तो हम इस मनुष्यकी पददलित सत्यके प्रति जो दृढ़भक्ति है उसकी प्रशंसा करते हैं। हम ऐसे बागीकी सराहना नहीं करते जो सिर्फ बगावतके लिये ही राज उलटना चाहता है। हमें यह विषय भली भांति समझ लेना चाहिये, नहीं तो जब हम सदियोंकी चेष्टाके बाद स्वतन्त्रता फिरसे स्थापित करेंगे तो प्रत्येक दुर्जन और विश्वासघातीको हमारी स्वतन्त्रतापर दोष लगानेका अवसर मिलेगा और वह

शत्रुको फिरसे हमारे देशमें घुसानेका षड्यन्त्र रचेगा।

सिद्धान्तके प्रति दृढ़भक्ति साधुस्वभाव पुरुषका सद्गुण है।

आयर्लैण्डमें दृढ़भक्ति (Loyality)शब्दका दुरुपयोग हुआ है और इसको व्यर्थ ही बदनाम किया गया है। यह स्मरण करके कि हमारे सब कालके वीर पुरुषोंमें यह गुण वर्त्तमान रहा है हमें फिर इसे उचित सम्मानका पद देना चाहिये। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें कई ऐसी मार्मिक स्थितियोंका उल्लेख करना पड़ेगा जिनके कारण हमें हैरान और परेशान होना पड़ा है। हमें सरकारके उपकरणोंका उपयोग करते हुए अपने उन स्वत्वोंका प्रतिपादन करना पड़ेगा जिन्हें वह इन्कार करती है। एक बातपर स्थिर रहनेका जो सबसे बड़ा प्रश्न आजकल उपस्थित है उसपर भी ध्यान देना होगा। एक ओर राजनीतिमें भाग्यपर खेलनेवालोंके प्रति और दूसरी ओर निरुत्साहसे काम करनेवाले सत्य-हृदय मनुष्यके प्रति अपने भावोंका विचार करना होगा। दृढ़भक्तिके अन्दर यह सब बातें समा जाती हैं और इससे यह भी मालूम होता है कि जो आदमी स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिये बनावत करता है ठीक वैसा ही है जैसा स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेके लिये प्राण देनेवाला। ऐसा आदमी बदलते हुए समयके साथ साथ अपने रंग ढंगको नहीं बदलता। वह सदा सिद्धान्तका कट्टर भक्त रहता है क्योंकि घोर अन्धकारके समय जब शासक उसे जङ्गली, दुष्ट और राजद्रोही बताकर कलंकित करते हैं तब भी वह पहिलेके समान

अपने पक्षका दृढ़भक्त बना रहता है और अन्ततक वैसा ही बना रहेगा। हां, देशके लिये मृत्युको आलिंगन करनेवाला वीर वास्तवमें राष्ट्रका दृढ़भक्त है और शत्रुका प्रत्येक सहायक और प्रोत्साहक आयर्लैण्डका और आयरिश जातिका द्रोही है।

(२)

जब आप स्वार्थसाधक विरोधीसे अनुरोध करते हैं कि मूल तत्वोंके आधारपर इस विषयकी आलोचना करे तो वह फौरन अपनी दलीलोंकी कमजोरी मालूम कर लेता है और प्रसङ्ग बदलकर आपके आचार और विचारोंकी स्थिरतापर चोट करता है। इसलिये हमें पहले ही समझ लेना चाहिये कि किसी विषयकी व्याख्या करनेमें जो युक्तियां दी जाती हैं उनका सापेक्ष गौरव और महत्व कितना है। सिद्धा-न्तोंका सबसे अधिक महत्व इसलिये नहीं है कि उनके द्वारा किसी विषयमें प्रवीणतासे युक्तियां दी जा सकें किन्तु उनका महत्व इसलिये है कि उनके भीतर एक महान् तत्व छिपा रहता है जो सारे जीवनको उज्ज्वल बनाये रखता है और प्रत्येक छोटे बड़े कार्यको नियममें रखता है। सिद्धान्त व्यक्तिके मनपर प्रकाश डालता है। वह हृदयको उत्साहित करता है, निर्मल बनाता है और बल देता है। वह चित्तको एकाग्र करता है और जीवनकी सब घटनाओंको एक सीधमें लाकर आंखोंके सामने स्पष्ट कर देता है जिससे प्रत्येक मनुष्यको हर बातका

उचित स्थान और परस्पर सम्बन्ध मालूम हो जाता है। सिद्धान्त मनुष्यको उस दर्जेपर पहुंचा देता है जहाँ वह शास्त्रार्थ नहीं करता किन्तु विश्वास करने लगता है। अवतक वह इच्छा और उद्देश्यहीन होकर इधर उधर भटक रहा था, सब शास्त्रोंका रसास्वाद ले चुका हो पर फिर भी घोर निराशा-में डूबा हुआ रहता था। वह नहीं समझता था कि उसकी आत्मामें किस वस्तुका अभाव है। वह इस अभावरूपी व्याधिको दूर करनेके लिये संजीवनी बूटीकी इधर उधर खोज कर रहा था कि इतनेमें महान् ज्योतिका उसपर प्रकाश पड़ता है और बाहरसे बल प्राप्त करनेके बदले वह अपनी आत्माको पहचान लेता है। बस, अन्धेको दो आंखें मिल गयीं। हमारी तत्वबोधकी शक्ति अबतक भ्रमके बादलोंसे छिपी हुई थी। सत्य सिद्धान्तने इन बादलोंको छिन्न भिन्न कर दिया और इस दृष्टिको स्वच्छ, सुन्दर और नवजीवन दान करनेवाली बना दिया। जिसने यह दृष्टि पा ली तर्कका उसपर असर नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दलीलोंको मानता ही नहीं, बल्कि इसके विपरीत वह प्रमाणोंका पूरा पूरा उपयोग करता है। हां, उसकी आत्मामें ऐसा बोध हो जाता है जिसे निरा नैयायिक प्राप्त नहीं करा सकता और यह दुर्ज्ञेय पदार्थ ही उसके नवीन जीवनका रहस्य खोलता है। वह आजतक नास्तिक था, निर्बल था और उसका जीवन निष्फल था। अब वह आस्तिक, सिद्धान्तके लिये लड़नेवाला और विजयी बन गया

है। जो उसे केवल भावुक समझता है उसने उसका पूरा महत्व नहीं समझा। भावुक ऐसे विचारका प्रचार करता है जिसके अनुसार वह संसारको पलटना चाहता है, किन्तु सिद्धान्तका अनुयायी जीवनके एक ऐसे नियमको मानता है जिसके अनुसार उसे काम करना पड़ता है। उसकी आत्मा इतनी तेजीसे आगे बढ़ती है कि कोई भावुकता उसे रोक नहीं सकती। इसके अतिरिक्त उसके पास अपने सिद्धान्तके अनुकूल मौलिक और दिलमें जम जानेवाली दलीलें होती हैं और उसके खूनमें नवीन और चमत्कृत करदेनेवाली जीवन-शक्ति होती है। सिद्धान्तशून्य व्यक्ति अपनी निकम्मी युक्तियोंमें फंसा हुआ तबतक वाद-विवादमें पड़ा रहता है जबतक कि उसकी बुद्धि चकरा नहीं जाती। उसकी समझमें नहीं आता कि प्रत्युत्पन्नमतिवाला मनुष्य किसी भी साध्यको योग्यताके साथ सिद्ध कर सकता है और फौरन अपनी बात लौटाकर उतनी ही योग्यताके साथ दूसरा पक्ष भी सिद्ध कर देता है। हम रातदिन देखते हैं कि सभाओंमें विषय निर्धारित कर दिया जाता है और दोनों पक्षोंके समर्थकोंको नियुक्त करके वादविवाद हुआ करता है। यह वाक्चातुर्य है, बुद्धिका कौशल है, किन्तु तत्वज्ञान आत्माको उत्तेजना देनेवाला है। इसलिये सिद्धान्तकी सत्यता सिद्ध करनेके लिये वाक्चातुर्यकी आवश्यकता नहीं है। यह सत्यता सिद्धान्तके उस गुणमें वर्तमान रहती है जिससे उसपर विश्वास करनेवालेके लिये सारे जीवनका रहस्य

खुल जाता है, जिससे उसका हृदय फड़क उठता है और वह प्रफुल्लित, सुन्दर, बुद्धिमान और साहसी बन जाता है।

(३)

अब हम सिद्धान्तकी स्थिरताका जो प्रश्न उठाया जाता है उसपर विचार करेंगे। हमारे विरोधी कहते हैं "अच्छा महाशय! जब आप अंगरेजी राज्यको नहीं मानते तो उनके सिक्कों और स्टाम्पोंको व्यवहारमें क्यों लाते हैं? आप पारलामेंटको नहीं मानते तो फिर पारलामेंटके कानूनद्वारा स्थापित की हुई काउन्टी कौंसिलोंसे क्यों काम लेते हैं? स्थानिक शासनसे क्यों लाभ उठाते है?" इत्यादि। यह तर्क सुपरिचित हैं और इनका उत्तर भी कुछ कठिन नहीं है। यद्यपि इस समय तोपें नहीं गरज रही हैं तो भी आयलैंण्ड यथार्थमें युद्धकी दशामें है। हम स्वाधीनताको फिरसे प्राप्त करनेके लिये लड़ रहे हैं। संग्राममें संकटके समय शत्रुको ढीला पड़ना पड़ा है और स्थानिक शासन और अन्य कार्योंके मोर्चे लाचार होकर हमें सौंप देने पड़े हैं। हम इनको लड़ाईमें जीते हुए स्थानोंकी भांति समझते हैं और इनके द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाने, अपने देशको जागृत करने व उठाने और शत्रु-सेनाकी अन्तिम चौकी छीन लेनेकी तैयारी करेंगे। यह सर्वथा उपयुक्त है। रणक्षेत्रमें उस सेनापतिकी सदा प्रशंसा की जाती है जो शत्रुके अड्डेपर कब्जा जमाकर उसका अन्तिम विजयके लिये प्रयोग करता है।

इससे विजयके शुभ चिन्ह मालूम होते हैं। दूरसे युद्धकी गति-का अन्दाजा लगानेवालेको इससे पता चलता है कि युद्ध कैसा हो रहा है और विजय किसकी होगी। यदि युद्धक्षेत्रसे यह खबर आ जाय कि हमारे सिपाही शत्रुसे मिल गये हैं और उन्होंने उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली है तथा वे उसके झंडेके नीचे आ गये हैं तो और लोगोंमें आतङ्क छा जायगा। यही प्रश्न विचारणीय है। यदि शत्रु रियायती तौरपर हमें कोई स्थान देता हैं तो उसपर अधिकार जमानेका हमें कोई अधि-कार नहीं है। इन रियायतोंसे स्वार्थ-साधन करनेवाला और अपने सिद्धान्तोंको शत्रुके हाथ वेच देनेवाला अपनेही कर्मोंसे कलङ्कित हो जाता है।

× × × ×

जो हो, स्थानिक स्वराज्यकी मशीनके कलपुर्जे जनताके हाथमें हैं। यद्यपि तत्काल लाभ उठानेके लिये यह मशीन चलायी जा रही है तो भी इससे हम परम ध्येयकी ओर बढ़ रहे हैं। लोग यह बात भले ही न जानें, तो भी वे देशकी सर्वाङ्गसम्पन्न उन्नति करने और प्राचीन गौरव और प्रभाव फिरसे स्थापित करनेके लिये काम कर रहे हैं। जो इस बातका मर्म समझते हैं वे इस उन्नतिकी चालको तेज करनेके लिये प्रत्येक पदपर अपना अधिकार जमाते हैं और उन रियायतोंको काममें लाकर ध्येय-को हमारे सामने और भी स्पष्टरूपसे रख देते हैं। विदेशी सरकार जब अपने विरुद्ध किये जानेवाले आन्दोलनको कमजोर

करनेके लिये रियायतें बख्शती हैं और देशभक्त उसकी इच्छाके विपरीत उन को अपने अधिकार और भी बढ़ानेके काममें लाते हैं, तो वह सरकार लोकसम्मत शासनको पुराने ढर्रेके कुशासनकी ओर लानेकी चेष्टा करती है। इस समय हमारे देशमें इसी प्रकारका झगड़ा चल रहा है। बीच बीचमें शत्रु हमारे आन्दोलनको रोकनेका प्रयत्न करते हैं। फल यह होता है कि विशेष अधिकारोंको प्राप्त करनेके लिये आन्दोलन तीव्र रूप धारण करता है। हमारे समयमें आयर्लैण्डमें कृषकोंकी दशा सुधारनेके लिये घोर आन्दोलन हुआ, होमरूलकी लड़ाई छिड़ी, विश्वविद्यालयोंको जनताके अधिकारमें लानेका उद्योग हुआ, आयरिश भाषाको राष्ट्रभाषा बनानेका प्रयत्न हुआ। परिणाम यह हुआ कि लैण्ड एक्ट, लोकल गवर्नमेंट एक्ट, युनिवर्सिटी एक्ट पास किये गये और विश्वविद्यालयोंमें आयरिश भाषाको गौरवका स्थान मिला। इनमेंसे प्रत्येक अड्डेपर अधिकार जमानेसे हम एक एक कदम आगे बढ़ते गये। हम इसको इसी दृष्टिसे देखते हैं और इसीलिये इनका उपयोग करना उचित समझते हैं। जो पुरुष आयर्लैण्डकी स्वाधीनताको फिरसे स्थापित करनेके पूरे पूरे और गूढ़ अर्थको समझता है उससे यदि कहा जाय कि भाई! हमें स्थानिक शासन और व्यवसायका अधिकार छोड़ देना चाहिये क्योंकि यह सरकारी पक्षके हैं और शत्रु सेनासे सम्बद्ध हैं, तो ऐसी बातको वह ध्यान देने योग्य नहीं समझेगा। जो लोग हमपर आक्षेप करते हैं कि हम कहते कुछ हैं और

करते कुछ हैं, हमें उनको यह मुंहतोड़ जवाब देना चाहिये कि हम शत्रुके मोर्चों पर कब्जा कर रहे हैं।

(४)

सिद्धान्तकी स्थिरताकी मिथ्या धारणाका खण्डन कर चुकनेपर भी हमें एक ऐसी दूसरी धारणाका निरूपण करना है जिसे अभीतक सर्वसाधारणने नहीं समझा है। यदि हम स्वतन्त्रताकी सशक्त सेना तैयार करना चाहते हैं तो हमें ऐसे ही सैनिक भर्त्ती करने चाहियें जो उद्देश्यको भली भांति समझे हुए हों, जो लक्ष्यके लिये पूरे दिलसे सर्वस्व न्योछावर करनेको तैयार रहते हों और जो सदा यह प्रण किये रहते हों कि हम अपने झंडेकी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिये युद्धसे कभी मुंह न मोड़ेंगे। इस बातकी महत्ता तभी मालूम हो सकती है जब हम संसारकी ऐसी घटनाओंपर विचार करते हैं। जबतक मनुष्यका स्वभाव नहीं बदलता प्रत्येक आन्दोलनको ऐसे राजनीतिक बहुरूपिये घेरे रहेंगे जो समयको देखकर अपना काम निकालनेके लिये एक दल छोड़कर दूसरेमें जा मिलते हैं। ऐसे लोगोंका एक ही सिद्धान्त होता है—जिस दलकी प्रभुता हो उसीका पक्ष समर्थन करना—और इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये वे किसी भी दलमें मिलने और किसी भी दलको धोखा देनेमें देर नहीं लगाते। ऐसे आदमीको सब लोग भली भांति जान जाते हैं। ऐसे निष्कपट पुरुषको जो आजतक उल्टे रास्तेपर चल रहा था और

अब सच्चे दिलसे सत्यकी खोज करनेके बाद हमारे झंडेके नीचे आजाता है, हम फौरन पहचान जाते हैं। किन्तु जिस उद्योगमें राजनीतिक बहुरूपिया अपने दलमें भर्ती कर लिया जाता है और उसको प्रभुता दी जाती है वह उद्योग अवश्य विफल होगा। यह बात कुछ विचित्र सी मालूम होगी कि ऐसे लोग भी बड़े बड़े आन्दोलनोंमें भर्त्ती किये जाते है। इसका यही कारण है कि नेता तत्काल लोगोंको अपने दलमें मिला लेना चाहते हैं और जो अभीतक अपने दलमें नहीं आये हैं उन्हें अपनी बढ़ती हुई संख्यासे विश्वास दिलाकर उनके दिलोंमें धाक जमाना चाहते हैं। हम अपने बढ़ते हुए बलकी भावी हानिका ख्याल नहीं करते क्योंकि जब राजनीतिक चालबाज सिद्धान्तकी दुहाई देता हुआ हमारे दलमें घुसता है तो वह बड़ा सुशील और सच्चा मालूम पड़ता है और हम उसे अनुभवी पुरुष समझकर उसका स्वागत करते हैं। अपने बलको बढ़ानेकी चिन्तामें हम उसे बिना भेद भावके मिला लेते हैं। किन्तु हमें अपने आदमी-पर पूरा विश्वास होना चाहिये। हमें स्मरण रखना चाहिये कि इस चालबाजसे शत्रुताकी अपेक्षा मित्रता अधिक हानिकर है। हमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि जनता—जिसका भ्रम दूर करके हम अपने सिद्धान्त की ओर लाना चाहते हैं--चुप चाप हमारी कार्रवाई देख रही है। सम्भव है हमारे सिद्धान्तोंसे जनता हमारी ओर खिंच रही है और हमारी जांच पड़ताल करने-के लिये हमारे पास आ रही है। जनता कुछ न जाने, पर वह

सिद्धान्तभ्रष्ट पुरुषको अवश्य पहचानती है। जब हमारे दल और सभाओंमें वह ऐसे पुरुषको पाती है तो वह हमारी दलीलें सुनने या हमसे प्रश्न करनेके लिये न ठहरेगी। वह हट जायगी और हमसे दूर रहेगी। किसी आदमीकी पहचान उसकी संगतिसे होती है। इस पुरानी कहावतकी व्यापकता जितनी हम समझते हैं उससे बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त उस राजनीतिक चालबाजको भर्त्ती करनेसे हमारे विचार व्यवहारके बीच कुछ अन्तर आ जाता है।

हम स्वतन्त्रताके लिये लड़ रहे हैं, न कि सांसारिक लाभ या सुखकी आशासे। हम इसलिये लड़ रहे हैं कि मनुष्यकी उदार वृत्तियां वाध्य करती हैं कि मनुष्य अपना स्वतन्त्रताका स्वत्व प्राप्त करे जिससे उसका जीवन सुन्दर और पराक्रमी बने। वास्तवमें इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात कोई नहीं हो सकती कि ऐसे धर्मयुद्धमें पामर, कपटी और कोरे स्वार्थी मित्र हमारे दलमें हों। हमें सोलहों आने अपने सिद्धान्तका भक्त होना चाहिये और इस बातकी आशंका नहीं करनी चाहिये कि आरम्भमें हमारी संख्या वहुत कम है। उस जनसमूहकी अपेक्षा जिसकी दृढ़तापर हम निर्भर नहीं रह सकते सच्चे आदमियोंका छोटासा दल अधिक काम करनेवाला होता है। इस दलकी संख्या और शक्ति बढ़ती जायगी। अन्तमें इसके चारों ओर वह सेना एकत्रित हो जायगी जिसे कोई न हरा सकेगा।

(५)

विचार और व्यवहारकी एकताके यथार्थ ज्ञानके कारण हम राजनीतिक चालबाजसे जिस प्रकार बचे रहते हैं उसी प्रकार इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निरुत्साही किन्तु शुद्ध-हृदय मनुष्यसे कैसा व्यवहार होना चाहिये। निरुत्साही पुरुष कहता है कि इङ्गलैण्डसे अलग हो जाना इस समय सम्भव नहीं है और होमरुल या आयर्लैंण्डके लिये स्वतन्त्र पारलामेंट स्थापित करनेका प्रस्ताव करता है। साधारण दृष्टिसे यह बात उचित जंचती है और हमारी इच्छा इस आधारपर अपने देशके दूसरे दलवालोंसे सन्धि करनेकी होती है और सन्धि कर भी ली जाती है। फल यह होता है कि ऐसे लोग एक स्थानपर आकर जमा हो जाते हैं जिनमेंसे कुछ तो पूर्ण स्वतन्त्रतापर विश्वास करते हैं, कुछ आंशिक स्वतन्त्रताको पूर्ण स्वतन्त्रताकी पहली किश्त मान लेते हैं और कुछ केवल आंशिक स्वतन्त्रता को ही अपना ध्येय मान कर उससे सन्तुष्ट हो जाते हैं। थोड़े दिनोंमें ही यह सन्धि टूट जाती है और सब लोग मतभेदके कारण कामसे अपना हाथ खींच लेते हैं। दीर्घ दृष्टिवाला पुरुष जानता है कि प्रत्येक प्रस्तुत कार्य अन्तिम ध्येय और सिद्धान्तके अनुकूल होना चाहिये, इसीसे हमारे उद्देश्यकी सिद्धि हो सकती है। उसे यह भी मालूम रहता है कि इस समय हम जो काम कर रहे हैं उसके भीतर हमारा सिद्धान्त छिपा रहता है। ऐसे समय उसे अपने पक्षका कट्टर अनुयायी बना रहना चाहिये और

वह सिद्धान्त भी मानना चाहिये जिसे और लोग भलेही न मानें किन्तु वह अपने जीवनका व्रत समझता है। किन्तु उसके नये मित्र ऐसे सिद्धान्तसे बंधना अस्वीकार करते हैं जो उसके लिये कानूनके बराबर है पर औरोंके लिये जिसका कुछ मूल्य नहीं है। सारे झगड़ेकी जड़ यही है। जो मित्र किसी समान उद्देश्यको लेकर मिलकर काम करनेका विचार करते हैं वे देखते हैं कि उनके बीच ऐसे विषय छिड़ जाते हैं जो विवादास्पद हैं। वाद-विवाद आरम्भ हो जाता है और बहस गरम हो उठती है, आपसमें गाली गलौज होने लगती है, मनोमालिन्य पैदा हो जाता है और सभा भङ्ग हो जाती है।

अपना मन मारकर जो मित्रता की जाती है उससे मनोरथ तो सिद्ध नहीं होता बल्कि इसके द्वारा जो शुद्धहृदय मनुष्य एकत्र किये गये थे उनके बीच अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। इस प्रस्तावको कार्यमें परिणत करनेसे कुछ लाभ नहीं हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन लोगोंको अपनी पूर्ण मांगोंकी स्वच्छ धारणा है उन्हें सावधानी तथा दृढ़तासे अपना प्रोग्राम तैयार कर लेना चाहिये और अपने ही बलपर आगे बढ़ना चाहिये। इसपर कई लोग दुहाई देने लगते हैं—देखिये! फिर आपसमें फूट पड़ गयी, फिर वही बात आगयी, यह लोग आपसमें मिल ही नहीं सकते, इत्यादि। हम इन लोगोंकी बात सुनकर मुंह नहीं मोड़ेंगे। किन्तु ध्यान रहे कि काम पड़नेपर हमारा पूरा पूरा साथ न दे सकनेवाले शुद्धहृदय मनुष्योंसे

बिना सिद्धान्तोंकी हत्या किये भी मेल हो सकता है। ऐसा स्वतन्त्र मेल हमारा वह मनोरथ सिद्ध कर सकता है जिसे पूरा करनेके लिये हमने सब दलोंको मिलाया था और अन्तमें जिससे हमारा सारा काम चौपट हो गया था।

इस विषय पर सबसे मुख्य बात यह है कि उस सच्चे आदमीकी नीयत बुरी न बतानी चाहिये जो हमसे भिन्न मार्गपर जाना ठीक समझता है। जिस आदमीसे हमारा मतभेद होता है उसकी नीयतपर आक्षेप करना किसी प्रकार भला नहीं कहा जा सकता। बहुधा यह देखनेमें आता है कि वह उतना ही सच्चा है जितने हम। उसने हमसे अधिक समयतक और हमसे अच्छी सेवा की हैं और दूसरोंसे मेल मिलाप रखनेकी फिक्रमें उसने मित्रता-का ढङ्ग स्वीकार किया है। हम उसके ढंगको पसन्द नहीं कर सकते किन्तु उसपर बुरी नीयतका दोष लगाना सरासर अन्याय है और इसका परिणाम सदा ही भयंकर होता है।

कर्मशून्यताको दूर करनेके लिये कई बार हम आपसमें ही लड़ बैठते हैं। हमें ऐसा न करना चाहिये और सबके समान-शत्रुसे ही मतलब रखना चाहिये। हमें ध्यान रखना चाहिये कि यह बड़े पराक्रमका काम है, इसमें स्थिति स्वयं धीरे धीरे अधिकाधिक निश्चित होती जाती है और ऐसा मालूम होता है कि हमें अपनी सारी शक्ति इसके पीछे लगा देनी होगी। मान लीजिये कि एक इञ्जिनियर एक बड़ी इमारत तैयार कर रहा है। वह किसी जगह कुछ असावधान रहा या किसी कठिनतासे नजर बचा गया,

उसकी इस भूलसे सारी इमारत भद्दी हो जायगी और हो सकता है कि सारी इमारत गिर जाय। इसलिये हमें निधड़क हो सिद्धान्तपर डटे रहना चाहिये। जब उक्त सब बातें मिलकर एक अविरोधी पूर्ण सिद्धान्तमें परिणत हो जाती हैं तो देश भरमें ज्योति फैल जाती है और पुराना तेज़ फिर स्पष्ट हो जाता है, नीच मनुष्योंकी नीचता धुल जाती है, डरपोक लोगोंमें उच्च कोटि-की वीरता आ जाती है और निडर लोगोंका पक्ष सिद्ध हो जाता है। मातृभूमि जाग उठती है, उसमें सिद्धान्तके लिये लड़नेका जोश आ जाता है और वह विजयकी ओर प्रयाण करती है।

(६)

सिद्धान्तभक्तिका निस्सन्देह यही सुन्दर अर्थ है। हमें यह अपनी पताकाओंमें लिख लेना चाहिये और सारे संसारमें इसकी घोषणा कर देनी चाहिये। यह अर्थ दुविधाहीन, गौरवपूर्ण, भयशून्य और अपरिवर्त्तनीय है। इस परिच्छेदमें उत्साह, यथार्थता और सावधानीके साथ जो कुछ लिखा गया है उसके संशोधन और परिवर्धनकी कभी आवश्यकता न पड़ेगी, भले ही कुछ कालके लिये भाग्यके पलटनेसे हम अपराधी समझे जायं। यदि स्वतन्त्रताके संग्राममें शुद्ध हो जानेके बाद हम अन्तिम युद्धसे संसारको चौंधिया देनेवाली विजयको प्राप्त करके बाहर निकलेंगे तो हमारी यह दृढ़भक्ति फिर भी बनी रहेगी। यह मध्याह्नके सूर्यके समान चमकती है। इसमें वही रम्यता और स्थिरता

रहती है जिससे हमारे संग्रामके पद पदपर प्रकाश पड़ता गया था। पूर्ण विजय प्राप्त होनेके बाद भी सम्भव है कि यह दृढभक्ति राष्ट्रके विधिनियम बनानेके समय और राजाओं, राष्ट्रपतियों तथा राजनीतिज्ञोंके चक्करमें पड़े हुए इस संसारमें राष्ट्रोंका नया संगठन करनेमें हमें पथ दिखायगी। इसपर एक चलचित्त मनुष्य जिसके हृदयमें कुछ तो नयी ज्योति पड़ी हुई है और कुछ पुराना डर बना हुआ है कहता है "आप बड़ी भारी आशा किये हुए हैं। हम मनुष्य हैं देवता नहीं।" यह बिलकुल ठीक है कि हम देवता नहीं हैं। चूंकि हममें मनुष्यस्वभाव-सुलभ त्रुटियां हैं, हमारा मन भ्रान्त है, हमारा चित्तका वेग सहसा उबल पड़ता है; इसलिये हममेंसे सबसे अधिक आत्मविश्वासी पुरुष भी अपनेको किसी समय दुर्बलतासे सना हुआ पाता है। जब वह आचार तथा विचारमें डावांडोल दिखायी पड़ता है तो उसे कौन ठीक रख सकता है। वह असहाय, अपमानित तथा भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे पुरुषको समझ लेना चाहिये कि हम इस घमंडसे एक उत्तम सिद्धान्त अपने सामने नहीं रख रहे हैं कि हम सुगमता-से उसका पालन कर सकेंगे, किन्तु भली भांति यह समझकर कि हमारे लिये इस सिद्धान्तसे दूर रहना सम्भव नहीं। अटल सत्य यही है। जब संसारमें दृढ़विश्वासी पुरुष पैदा होता है तो जन्मसे ही उसे हृदयबलका इतना सहारा है कि यह बल उसे कभी धोखा नहीं देता। उसका सिद्धान्त उसे पथ दिखलाता है और नये युद्धमें कूदनेके लिये तथा नयी दुनियाओंको जीतनेके

लिये उसकी शक्ति इतनी अधिक बढ़ा देता है कि जगद्विजयी सिकन्दरकी बुद्धिमें भी इस शक्तिका ध्यान न आया होगा। किसी मनुष्यको उसके हृदयका विश्वास और उसका सिद्धान्त योग्य बनाते हैं। यदि नीचसे नीच पुरुष भी सच्चा है और अच्छी सेवा कर रहा है तो वह बड़ेसे बड़े पुरुषके समान है। हमें निकम्मी बातें और क्षुद्र-हृदय मनुष्योंकी कुटिल नीति छोड़ देनी चाहिये और अपनेको मुक्त करनेकी आशासे दिव्य पताका तथा मनुष्य व देवताओंकी दृढ़ सत्यभक्तिका अवलम्बन करना चाहिये।



अष्टम परिच्छेद



नारी-धर्म

(१)

भविष्यमें जो महान् युद्ध होगा उसका पहला मोरचा आज मार लेना है। यह बात स्त्रियोंको भी समझ लेनी चाहिये। संसारमें इतनी नीचता है कि कभी कभी मनुष्यको ऐसा सिद्धान्त पकड़ना पड़ता है जो ऊंचा नहीं है और कभी अपनी मनुष्यताका परिचय देनेके लिये लड़ना पड़ता है। ऐसे अवसरोंपर स्त्रीको उसका साथ देना चाहिये, नहीं तो वह उसे गिरा देगी। स्त्रीके यह बात समझनेपर उसका कर्त्तव्य महत्वपूर्ण बन जाता है और उसके सामने आ खड़ा होता है। मनुष्य बहुधा सन्मार्गके संकीर्ण किनारेपर आकर विचलित हो जाता है, उस समय स्त्री ही उसे निश्चयपर लाती है। यदि वह पतिसे शुद्धचरित्र है तो वह उसे अपने गुणोंसे अलंकृत करेगी और यदि वह उससे नीच होगी तो पतिको और नीचे गिरा देगी। जब दोनोंकी आत्माएं एक सी होती हैं और दोनों उच्च प्रकृतिके होते हैं तो संसारमें उनका ऐसा तेज छा जाता है कि हमें परमात्माके अस्तित्वपर पूरा विश्वास हो जाता है। इससे हमें यह भी—यदि

आजतक न हुआ हो तो—विश्वास हो जाता है कि उनका आश्चर्यमय जीवन अनादि कालसे अनन्त कालतक मंगलमय और सुन्दर है; इससे हमें पता लगता है कि पति और पत्नीके आश्चर्यपूर्ण सम्बन्धकी उत्पत्ति और भविष्य क्या है। एकका रहना दूसरेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि एक दूसरेसे अलग रहता है, यदि वे मेलके साथ नहीं रहते तो एक भी जीवनकी रमणीकता और उसकी ज्योतिकी पूर्णताका अनुभव नहीं कर सकता। प्रत्येक पुरुष और स्त्रीको यह बात भली भांति देख लेनी चाहिये, उन्हें यह भी जान लेना चाहिये कि न मालूम किस समय, सत्यताके बलपर नहीं किन्तु अपने कर्मचारियोंके बलपर शासन करनेवाला कोई छोटा मोटा अधिकारी उनमेंसे किसीको भी ललकार दे। हमारे ऊपर ऐसे ही शासकोंका राज्य है। हमारे कई भाई भोग विलासमें दिन व्यतीत करते हैं और शासकोंकी हां में हां मिलाते हैं। ऐसे आदमी मनुष्य बन कर तंग हालतमें नहीं रह सकते, वे तो बेकार रहकर मजा उड़ाना चाहते हैं। ऐसे मनुष्योंके लिये बरनार्डशाने क्या ही ठीक कहा है कि "उनकी आत्मा गुलाम है।" यदि हमें वीरतापूर्ण भविष्यके लिये तैयारी करनी है तो इस बुराईसे लड़ना पड़ेगा। यदि हम राष्ट्रकी दासताको भगाना चाहते हैं तो पहिले प्रत्येक व्यक्तिकी खुशामदखोरीकी आदत छुड़ानी होगी। भावी युद्धके लिये यही हमारा शिक्षाक्षेत्र है। हमारी ललनाओंको भी यह बात हृदयमें रख लेनी चाहिये। उन महिलाओंको तो अवश्य यह बात

हृदयंगम कर लेनी चाहिये जो आनन्दपूर्ण घृणित जीवनकी अपेक्षा आत्म-सम्मानके साथ भूखों मरना पसंद करती हैं। इसलिये हम सब कार्यकर्ताओंको राष्ट्रीय भावोंसे पूर्ण समझकर निवेदन करेंगे कि यदि तुम्हारे हाथमें स्त्रीशिक्षाका कार्य है तो उन्हें बताओ कि दासभावसे भरी हुई आत्मावाले मनुष्यका तिरस्कार करें और उस ऐश्वर्यसे हार्दिक घृणा करें जो ऐसी आत्माका मूल्य है।

(२)

मैं अपनी वीर स्त्रियोंके विषयमें कुछ लिखना चाहता हूं। जब हम किसी महान् कार्यके लिये अपनेको या दूसरोंको उत्साहित करना चाहते हैं तो उन वीर स्त्रियों और पुरुषोंका उदाहरण देते हैं जिन्होंने इसी तरहकी कठिनाइयां झेली हैं, जो शूरताके साथ युद्धमें कूदे हैं और छाती दिखाते हुए लड़ाईके मैदानसे बाहर हो गये हैं। इन सूरमाओंने ही हमारे लिये जीवन धन्य करनेवाली बपौती छोड़ी है। यह हमारे लिये कम लज्जाका विषय नहीं है कि हम अपने वीर पुरुषोंका इतिहास कम जानते हैं इससे भी अधिक लज्जाका विषय यह है कि हम अपनी वीर स्त्रियोंके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। और जब कभी हम किसीकी महिमा कीर्त्तन करते हैं तो हमारा चुनाव ठीक नहीं होता। ××× हमारे जीवनपर कविताने प्रभाव डाल रखा है। देशभक्तिके हितमें यह प्रभाव ठीक नहीं है। हम किसी प्रेयसीकी सर्वनाशकी

कथा सुनकर दयासे पिघल जाते हैं। हममें अपने लिये और सबके लिये सहानुभूति उमड़ पड़ती है। भावकी लहरोंमें बहकर हम अपनी नसें ढीली कर देते हैं। यह करुणा हमें दुर्बल कर देनेवाली है। इससे मालूम होता है कि खूनके अन्दर खौलती हुई गरमाहट नहीं है, जीवनपर हमारा पूर्ण अधिकार नहीं है और हममें दृढ़ निश्चय नहीं है कि झण्डेको पकड़कर एक स्थानपर डटे रहें और युद्धको समाप्त करें। अब समय आ गया है कि जिस पीढ़ीने सारा क्यूरानकी कीर्तिके गीत सर्वत्र सुने हैं वह अब उससे भी अधिक वीर तथा सुन्दर आदर्शवाली टोनकी धर्मपत्नीका गुणगान करे।

(३)

जब हम स्त्रियोंके विशेषता-प्रदर्शक गुणोंपर विचार करते हैं तो सौजन्य, कोमलता, सहानुभूति तथा करुणाके भाव ध्यानमें आते हैं। और जब किसी स्त्रीमें यह गुण अपना गाढ़ा रङ्ग जमाते हैं और उनके साथ सहनशीलता, साहस एवं वीरताके मनुष्योचित गुण रहते हैं, तो ऐसी स्त्री वीर समझी जाती है। आयरिश नेता टोनकी पत्नी ऐसी ही थी। हम उसकी प्रशंसा निर्भय होकर कर सकते हैं। उसकी हर तरहसे परख हो चुकी और वह हर तरहसे बिल्कुल सत्य उतरी। अपने पतिकी भक्ति कर और उसे देशके कार्यमें उत्साह प्रदानकर उसने जो काम किया उसकी महान् प्रशंसा की जानी चाहिये। यद्यपि

उसका पति मारा गया और वह पतिके प्रेम और उसके उत्साह-पूर्ण जीवनसे वंचित रखी गयी, तिसपर भी उसकी सत्यताने लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया।

प्रश्न उठ सकता है कि टोनकी जीवित अवस्थामें उसकी स्त्रीका पतिके प्रति प्रगाढ़ प्रेम था इसीलिये वह पतिव्रता रही। किन्तु नहीं, उसके इस प्रारम्भिक जीवनमें दयाभाव प्रधान था, लेकिन बादको जब उसके ऊपर दुःख पड़ा उसने ऐसे धैर्यका परिचय दिया कि उसकी वास्तविक महत्ता चमकने लगी। जिस प्रेममें वे दोनों बंधे हुए थे वह साधारण नहीं था। इन दोनोंकी जीवनी पढ़नेसे स्पष्ट और सुन्दर मालूम पड़ती है। टोन धीर, संगठनकर्ता, जबरदस्त लड़ाका, दूरदर्शी, सोचनेवाला, अदम्य उत्साही और जन्मस्नेही नेता था। प्रेममें मग्न बच्चेकी तरह वह प्रेमभरी सादगीसे अपनी स्त्रीको लिखता है "मुझे सदा तुम्हारा और बच्चोंकाही ध्यान रहता है।" इस पत्रका अन्त यों है "मेरी ओरसे बच्चोंका मुंह बार बार चूम लेना। ऐ जीवनधन और प्राणप्रिये! भगवान तुम्हें सदा सुखी रखे।" यह आश्चर्यकी बात नहीं है। जब अपने कार्यके आरम्भमें टोन अमेरिकासे प्रचार-कार्यके लिये फ्रांस जानेकी तैयारी कर रहा था, तो उस समय भी उसे अपने असहाय बाल बच्चोंकी याद आनेसे कष्ट हो रहा था। उसे ख्याल आता था कि इस संकटमें मेरी स्त्री क्या करेगी। क्या वह भेंट होनेपर मुझे छातीसे लगाकर रोवेगी और रोते हुए बाल बच्चोंकी हालत सुनायगी और मेरी प्रतिज्ञाकी बात छेड़ेगी

तथा मुझे प्रेमकी याद दिलाकर गिड़गिड़ायगी कि अब देशका काम भूल जाओ? सुनिये, इस संकटके समयमें अपनी स्त्रीकी धीरताके विषयमें टोन क्या लिखते हैं—"मेरी प्रतिष्ठा और हितके लिये मेरी स्त्रीका साहस और उत्साह नाममात्रको भी नहीं घटा था। उसने मुझसे निवेदन किया 'आप अपनी प्रतिज्ञा-पर डटे रहिये और देशके प्रति अपने धर्मको निभाइये। आपकी अनुपस्थितिमें घरका काम काज मैं संभालूंगी। देशके कामके समय बाल बच्चोंकी तथा मेरी तनिक भी चिन्ता न कीजिये। वह परमात्मा जिसने समय असमय आश्चर्यजनक रीतिसे हमारी रक्षा की है इस दुःखमें हमें न छोड़ेगा।' सच्ची स्त्रीकी यह अचूक वाणी है। जिस समय वह टोनको विदा करती है उसका शरीर कांपता है किन्तु आंखोंसे वह ज्योति निकलती है कि जिसके सामने मनुष्य भी लज्जित हो जाय। वह ज्योति उसके अद्वितीय पति टोनमें ही देखी गयी, किन्तु और कोई मनुष्य उसे पा नहीं सका। इस स्त्रीकी अटल धीरताकी अग्निपरीक्षा भीषण भविष्यमें ली गयी जब देशका काम नष्ट भ्रष्ट हो गया और टोनको अपने प्राण अर्पण करके प्रायश्चित्त करना पड़ा। जब उसका अन्तिम समय आया और उसके भाग्यका निर्णय हो चुका था उसने अपनी स्त्रीको पत्र लिखा। उसकी वीरताका इससे ओजस्वी प्रमाणपत्र और कोई नहीं हो सकता। टोनने लिखा "ऐ प्राण प्यारी! अब विदा दो। मेरे लिये यह पत्र

समाप्त करना असम्भव हो गया है। मेरी [Mary] को मेरा प्रेम जताना और सबसे अधिक यह बात स्मरण रखना कि बाल बच्चोंकी मां-बाप अब तुम्हीं हो। मेरे प्रति अपने प्रेमका पक्का प्रमाण तुम इन बाल बच्चोंकी शिक्षाके लिये अपनी रक्षा करके ही दे सकती हो। शक्तिमान ईश्वर तुम सबका भला करे।" क्या ही सुन्दर पत्र है! जो बात लिखी हुई है उससे अधिक जोर उस बातपर है जो नहीं कही गयी है। स्त्रीके लिये रोना नहीं; अपना नाममात्र दुःख नहीं। इस पत्रमें एक स्थलपर लिखा है—"तुम्हारे और बच्चोंके लिये हृदयमें जो भाव उठ रहे हैं शब्द उन्हें प्रकट नहीं कर सकते। इसलिये यह चेष्टा न करूंगा। किसी प्रकारके दुखड़ेका रोना तुम्हारी और मेरी वीरतामें बट्टा लगाता है।" इसीलिये तो टोनकी स्त्रीने अपने कष्टमय जीवनमें इस दारुण परीक्षाका शान्त चित्तसे सामना किया। टोनका अपनी स्त्रीके प्रति पूर्ण विश्वास बतलाता है कि यह वीर स्त्री पतिकी आज्ञाओंका किस प्रकार पूरा पूरा पालन करती थी। श्रीमती टोनका बादका जीवन पग पगपर साक्षी देता है कि उसने पतिकी अमानतमें खयानत नहीं की। टोनके लड़केने जो पिताके मरते समय निरा बच्चा था अपनी जवानीमें उसने अपनी स्मृतियां लिखीं। एक स्थानपर वह अपनी माताकी सीधी सादी प्रशंसा करता है। देखिये,इस सादगीमें कैसा ओज भरा हुआ है "मेरी बची हुई मांने मेरा पालन पोषण पिताके सब भावों और सिद्धान्तोंके अनुसार किया।" मांकी प्रशंसामें

यह शब्द यथेष्ट हैं। आगे सुनिये। उसने सन्तानकी सेवामें अपनेको मिटा दिया और गर्वके साथ अपनी तथा अपनी सन्ततिकी स्वतन्त्रताका पूरा ध्यान रखा। वह फ्रांसके एक सेनापतिकी स्त्री थी। उसने सहायता स्वीकार नहीं की। फ्रांसके सपूतोंने उसका सम्मान किया।

टोनकी मृत्युके सालभर बाद लूश्यां बोनापार्तेने फ्रांसकी राष्ट्रीय सभामें उसकी प्रशंसा करते हुए ओजस्वी भाषण दिया था कि "यदि टोनकी सेवा आपके भावोंको उत्तेजित करनेके लिये यथेष्ट नहीं है, तो मैं उस उच्च विचारवाली स्त्रीके स्वतन्त्र विचार तथा दृढ़ताका उल्लेख करूंगा जो अपने पति तथा अपने भाईकी कब्रपर आयर्लैण्डकी मुक्तिकी लालसा अपने आंसुओंके साथ बहा रही है। मैं चाहता हूं कि उसके चेहरेपर दुःखके भावोंके साथ २ आयरिश तेज किस प्रकार सना हुआ है यह मैं आपको बतला सकता। वह स्पार्टा (प्राचीन यूनानका एक प्रान्त) की उन रमणियोंकी याद दिलाती है जो अपने देश-भाइयोंके युद्धक्षेत्रसे लौटनेपर उत्सुकताभरी दृष्टिसे सेनाको देखनेके लिये दौड़ पड़ती थीं और जब देखती थीं कि उनके पति, पुत्र और भाई लापता हैं तो आनन्दसे कहती थीं 'उसने अपने देशके लिये प्राण दिये हैं; वह प्रजातन्त्रके लिये मरा है'। "जब फ्रांसमें प्रजातन्त्रका पतन हुआ, नेपोलियन सम्राट् बना और इस हलचलमें उसके स्वत्वोंपर ध्यान न दिया गया, तो वह स्वयं अपने पुत्रको लेकर नेपोलियनके पास गयी और टोनकी सेवाओंका स्मरण

दिलाते हुए उससे प्रार्थना की कि वह उसे पलटनमें भर्ती कर ले। सबको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि नेपोलियनने उसकी बात बड़े आदरसे सुनी और तत्काल उसे स्वीकार कर लिया। उसने यह प्रार्थना अपने एकमात्र बचे हुए पुत्रके लिये की थी। उसके दो बच्चे पहले ही मर चुके थे। लड़कीकी मृत्युका दृश्य बड़ा हृदयविदारक था। अब वह एक लड़केको लेकर खड़ी थी। किसी बच्चेका संरक्षण इतने अधिक अनुरागसे न किया गया होगा और न किसीको गर्वके साथ जीवन आरम्भ करनेका ऐसा पथ सुझाया गया होगा। इस तत्वको भली भांति समझनेके लिये इस बालकके स्मृतिपत्र पढ़ने चाहियें और स्थान स्थानमें इस बातपर विचार करना चाहिये कि इस रमणीने अपने पतिको कैसी वीरताके साथ वचन दिया था कि वह अपने बच्चोंका उत्तरदायित्व ग्रहण करती है और अपने घोर कष्टके दिनोंमें उसे अपने वचनोंका किस प्रकार अक्षरशः पालन करना पड़ा। वह सत्यपर दृढ़ रही। उसकी शक्ति और भक्तिकी उपमा नहीं मिलती। उसके दो बच्चे रोगसे कालके ग्रास बन गये थे और बचे हुए लड़केको उसने किस प्रकार रात दिनकी हिफाजतसे यमके घरसे लौटाया था। इस लड़केको उसने किस प्रकार शिक्षा दिलायी और किस प्रेमपूर्ण गर्वके साथ उसे सैनिक कार्यमें नियोजित किया।

एक बार किसी नीचहृदय पुरुषने इशारेसे कहा कि तुम रुपया मांगनेको हमारे पास आयी हो। उस समय उसके हृदयसे वीरो-

चित अभिमानके यह शब्द निकले कि मैंने इतने संकट झेले किन्तु दूसरेके आगे हाथ फैलाना कभी नहीं सीखा। अपने सब कष्टोंमें वह तेजस्वी, साहसी, शिष्टाचारी और अपने कर्तव्यके प्रति सदा सजग रहती थी। समय पड़ेपर वह कभी अपने कर्तव्यसे च्युत न हुई। उसने अपना धर्म पूरा पूरा निबाहा। वर्षों बाद फिर जब वह अपने लड़केको सेनामें भर्ती करनेको भेजती है, तो उसी प्रकार कांप कांपकर उसे विदा करती है जिस प्रकार कुछ साल पहिले उसने अपने पतिको आश्वासन देकर देशके प्रति धर्म निबाहने भेजा था। आज वह अपने इकलौते बेटेसे अलग हो रही है। उसका हृदय उसके शब्दोंमें ही देख लीजिये—"आजतक मैंने अपनेको यह सोचनेका अवसर भी नहीं दिया था कि मेरा विलियम मेरा है, मेरा इकलौता बेटा है। मैं यही सोचती रही कि टोनका लड़का मुझे सौंपा गया है, किन्तु विदाईके समय प्रकृतिने अपना जोर दिखाया। मैं एक खेतमें बैठ गयी। मेरे सामने सफेद और लम्बी सड़क थी। मैं सड़क भर बेटे ही बेटेको देखती थी। मेरी विचारशक्ति लुप्त हो गयी। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था कि जीवन भरकी सब यन्त्रणाएं एक साथ मेरे ऊपर आ टूटी हैं और मुझे घेरे खड़ी हैं। मुझे उस वक्त एक जबरदस्त चाह हुई और वह चाह सदाके लिये आंखें बन्द कर देनेकी थी। मैं उसी हालतमें रही; मुझे यह नहीं सूझ रहा था कि घरको भी लौटना है। इतनेमें एक छोटी लवा मेरे पासकी झाड़ीसे उड़ी और मेरे सरके ऊपर

चक्कर काटने लगी। ओह! वह हवामें कैसा सुन्दर और प्रफु-ल्लित करनेवाला गान गा रही थी। उसकी ध्वनिने मुझे शान्ति दी और बेहोशीसे जगाया। मेरे हृदयने आवाज दी, यह टोनने तेरे पास भेजी है। मैं अपने निर्जन घरको वापस चली आयी।" यह दृश्य है जो हमारे दिलको मोम बना देता है। कैसी पति-व्रता स्त्री थी! धूपमें बिल्कुल अकेली सर झुकाये घासपर बैठी हुई है; लवाका गान सुनकर समझती है कि पतिने मीठा आश्वासन देनेके लिये इसे भेजा है। ऐसी स्त्रीको देखकर हममें कमजोरी पैदा करनेवाले भाव उत्पन्न नहीं होते। हमें मातृ-भूमि और उसके निवासियोंपर गर्व होता है; हमारे विचार दृढ़ और निश्चित बन जाते हैं; हमारा हृदय कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेकी पुकार मचाता है; हम रोते गिड़गिड़ाते नहीं हैं किन्तु देशका हित करनेके लिये हमारा खून खौलने लगता है।

(४)

नारी-धर्मका यह वीरतापूर्ण उदाहरण हमारी स्त्रियोंहीके नहीं किन्तु हमारे पुरुषोंके सामने भी रखा जाना चाहिये। पाठकोंको इससे मालूम होगा कि देशभक्ति हृदयके कोमल भावोंका नाश नहीं करती बल्कि उल्टा उन्हें जगाती है और विस्तृत करती है। हमको ऐसा विचारनेका अभ्यास पड़ गया है कि सिपाहीमें प्रेम और करुणाका भाव नहीं रहता। हम समझते हैं कि यह गुण उसकी दृढ़ता नष्ट कर देंगे और उस-

का काम चौपट कर देंगे। किन्तु हमें ध्यान रहना चाहिये कि मनुष्योचित गुणोंका अभाव हमारे सब कार्य निरर्थक कर देता है। जबतक हम सयाने नहीं होते और हमारी नसोंमें कविताका रस नहीं बहता तबतक तो हम किसी भी सिद्धान्तके अनुसार काम करनेको तैयार रहते हैं; किन्तु जब प्रकृति हमारे ऊपर अपना राज्य जमाती है तो कट्टर सिद्धान्तवादी किसीको अपने वशमें रख नहीं सकता। हमें यह बात याद रखनी चाहिये और मनुष्य बनना चाहिये। हम शब्दोंमें नहीं तो कार्यतः कह रहे हैं—"आयर्लैंडके लिये कृपया घर गृहस्थीके जञ्जालमें मत फंसिये।" इस दृष्टिसे तो हम यह भी कह सकते हैं·"आयर्लैंडके लिये कृपया अपनी रगोंमें रक्तका प्रवाह रोक लीजिये।" ऐसा होना असम्भव है। यदि सम्भव भी होता तो यह घृणित बात होती। स्त्री और पुरुषको कन्धेसे कन्धा मिलाकर अपने जीवनमें महत्वपूर्ण और स्वच्छ धर्मका पालन करना होता है। इस धर्मके स्थानपर ऐसा प्रकृतिविरुद्ध जीवन व्यतीत करना जिसमें न तो तपोवनके एकान्त वासका ही आनन्द मिले और न संसारमें ही हम कुछ कर सकें विकट और बुरा है।

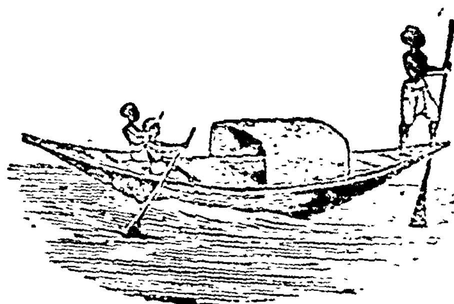
हमारा सौभाग्य है कि टोनकी स्त्री आयर्लैंडमें पैदा हुई। इस उदाहरणसे कोई भी स्त्री सीख सकती है कि बहादुरसे बहादुर आदमीकी टक्करका कैसे बना जाता है। मनुष्यको इस दृष्टान्तसे सबक लेना चाहिये कि स्त्री और पुत्र भले ही कष्ट पावें किन्तु उन्हें गुलाम और कायर बनाना पाप है। संसारमें

ऐसे निष्कपट-हृदय मनुष्य भी वर्त्तमान हैं जो स्वयं अपनी देहमें सब कष्ट सहनेको तैयार हैं, किन्तु वे अपने कुटुम्बियोंका कष्ट नहीं देख सकते। इनको परिवारका स्नेह जकड़ लेता है और पतनकी ओर घसीट ले जाता है। ऐसा कभी न होना चाहिये। यदि कर्तव्यको पालनेसे पुत्र और कलत्रपर आपत्ति आनेका अन्देशा हो और इसीलिये उसे ताकपर रख देना पड़े तो स्त्री, धर्मपत्नी नहीं, भार बन जाती है और सन्तान पतित जीव बन जाती है जो त्रिशंकुकी तरह अधर लटका हुआ है, जो सर ऊंचा नहीं उठा सकता और भगवान तथा मनुष्यके प्रति अपना कर्तव्य निवाहनेके अयोग्य है।

मनुष्यको घबराना न चाहिये कि उसके प्रेमियोंकी अग्नि-परीक्षा हो रही है। उसे शक्तिभर ऐसा बननेकी चेष्टा करनी चाहिये कि वे जांचमें पक्के उतर आयें। इसके बाद सत्यकी महिमा और सत्याग्रही स्वभावकी सत्यताके भरोसेपर अपने प्रेमियोंकी विजय छोड़ देनी चाहिये। परिणाममें ऐसे पुरुष तथा ऐसे प्रेमियोंको वह पुरस्कार मिलता है जिसका उन्हें स्वप्नमें भी ध्यान न था।

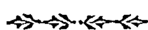
सुनिये, जिस युद्धमें इतनी परीक्षा ली जा रही है वह उनके जीवनमें उन नये और स्वच्छ भावोंको लायगा जिनका समाजके समागममें उसे आजतक पता न चला था। इससे उन्हें अधिक सहानुभूति, परदुःखानुभव, विनय और शक्ति प्राप्त होगी। इस परीक्षासे जीवनके नये पर्दे खुलेंगे और समाजके प्रति हृदय-

में उदार विचार पैदा होंगे। सारांश यह है कि इस यन्त्रणामय परीक्षा द्वारा ही जीवनमें ज्ञान, करुणा और वीरताके अपूर्व सम्मिश्रणका आनन्द मिलता है और ऐसा जीवन, चाहे इसमें कितने ही दोष, लड़ाइयां, झगड़े और यातनाएं क्यों न हों, सदा श्रेष्ठ और मनोहर है।





नवम परिच्छेद

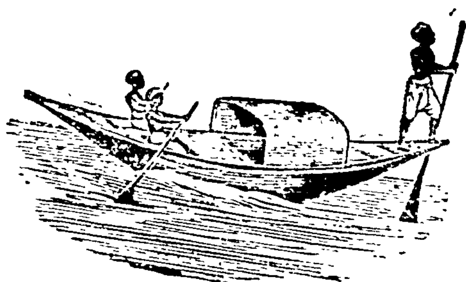


साम्राज्यवाद

(१)

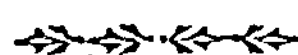
आयर्लैंण्डको होमरूल देनेका वचन मिलते ही तुरन्त साम्राज्य-के कई नये पक्षपाती दिखायी देने लगे हैं। सम्भव है इससे भी भलाई निकल पड़े। इससे हमको साम्राज्यके पक्षपातियोंके साथ पहिलेकी अपेक्षा अधिक निकट जाकर टक्कर लेनेका मौका मिल जायगा। आजतक हमारा युद्ध अस्पष्ट सिद्धान्तोंके ऊपर रहा है। होमरूलके लिये लड़नेवाले साम्राज्यवादियोंने शब्दजाल-के भीतर यह बात छिपायी कि वह साम्राज्यके लिये लड़ रहे हैं। अब होमरूल प्राप्त होने हीको है। इससे हमें कमसे कम एक लाभ होगा। गन्दी हवा साफ हो जायगी। यह बात निश्चित रूप-से तय हो जायगी कि हम राष्ट्रके लिये लड़ें या साम्राज्यके लिये। राष्ट्रके पक्षमें हमें जो कुछ कहना है आगे कहेंगे, किन्तु इस समय हम साम्राज्यवादपर लिखेंगे, क्योंकि हम साम्राज्य-वादियोंकी तरफसे झूठी और पाखण्डपूर्ण बातें सुन रहे हैं। हम साम्राज्यवादकी जांच करेंगे और इसका अत्याचार, निठुरता और पाखण्ड दिखायेंगे। साथ साथ यह भी दिखायेंगे कि साम्राज्य-वादियोंको अपने ऊपर आक्रमण करनेका छोटेसे छोटा मौका

में उदार विचार पैदा होंगे। सारांश यह है कि इस यन्त्रणामय परीक्षा द्वारा ही जीवनमें ज्ञान, करुणा और वीरताके अपूर्व सम्मिश्रणका आनन्द मिलता है और ऐसा जीवन, चाहे इसमें कितने ही दोष, लड़ाइयां, झगड़े और यातनाएं क्यों न हों, सदा श्रेष्ठ और मनोहर है।





नवम परिच्छेद



साम्राज्यवाद

(१)

आयर्लैंण्डको होमरूल देनेका वचन मिलते ही तुरन्त साम्राज्यके कई नये पक्षपाती दिखायी देने लगे हैं। सम्भव है इससे भी भलाई निकल पड़े। इससे हमको साम्राज्यके पक्षपातियोंके साथ पहिलेकी अपेक्षा अधिक निकट जाकर टक्कर लेनेका मौका मिल जायगा। आजतक हमारा युद्ध अस्पष्ट सिद्धान्तोंके ऊपर रहा है। होमरूलके लिये लड़नेवाले साम्राज्यवादियोंने शब्दजालके भीतर यह बात छिपायी कि वह साम्राज्यके लिये लड़ रहे हैं। अब होमरूल प्राप्त होने हीको है। इससे हमें कमसे कम एक लाभ होगा। गन्दी हवा साफ हो जायगी। यह बात निश्चित रूपसे तय हो जायगी कि हम राष्ट्रके लिये लड़ें या साम्राज्यके लिये। राष्ट्रके पक्षमें हमें जो कुछ कहना है आगे कहेंगे, किन्तु इस समय हम साम्राज्यवादपर लिखेंगे, क्योंकि हम साम्राज्यवादियोंकी तरफसे झूठी और पाखण्डपूर्ण बातें सुन रहे हैं। हम साम्राज्यवादकी जांच करेंगे और इसका अत्याचार, निठुरता और पाखण्ड दिखायेंगे। साथ साथ यह भी दिखायेंगे कि साम्राज्यवादियोंको अपने ऊपर आक्रमण करनेका छोटेसे छोटा मौका

देना कितना भयंकर है। साम्राज्यको हम जितना जानते हैं और उसके साथ सम्बन्ध रखनेसे हमें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उससे हम कह सकते हैं कि साम्राज्य बुरी चीज है और हमें स्वयं ही इससे मुक्त होना और आगेको इसके जालमें फंसनेसे बचना नहीं चाहिये, बल्कि संसारके हर किसी ऐसे राष्ट्रका उत्साह और आशा बढ़ानी चाहिये जो साम्राज्यके विरुद्ध लड़ रहा हो।

(२)

माकियावेली एक स्पष्ट लेखक हुआ है। उसने साम्राज्य-वादपर एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तककी पड़ताल करनेसे साम्राज्यवादकी माया कट जायगी। हां, आंखें होते हुए जो न देखना चाहे उसे कोई नहीं दिखला सकता। साम्राज्यके कई पक्षपाती माकियावेलीकी दुष्टतापूर्ण बातोंको पढ़कर एकदम घबराये जाते हैं। इस घबराहटसे हमें भ्रममें न पड़ना चाहिये। जिन लोगोंने माकियावेलीको "राजकुमार" नामक पुस्तक नहीं पढ़ी है वे निम्नलिखित अवतरणोंको ध्यानसे पढ़ें और देखें कि ये बातें आयर्लैंडमें अंग्रेजोंके शासनपर किस प्रकार घट जाती हैं। इन बातोंको पढ़कर समझें कि साम्राज्य स्वयं ही बुरा है, हर तरहसे दुष्टतापूर्ण है, इसका पग २ पर विरोध किया जाना चाहिये, इससे निरन्तर युद्ध जारी रहना चाहिये और उत्साहके साथ तथा बिना हीले हवालेके उसका त्याग करना चाहिये।' हमसे शैतान, उसकी शान और उसके कामोंसे दूर रहनेके लिये

बचपनसे ही कहा जाता है। वही बात इसके लिये भी लागू है। पहले विदेशी शासकके आक्रमणकी बात सोचिये। माकियावेली कहता है—"आक्रमणकी साधारण रीति यह है। ज्योंही विदेशी राजा किसी प्रदेशपर आक्रमण करता है तो वहांके दुर्बल और कृतघ्न निवासी उसके साथ मिल जाते हैं। कारण यह है कि उनमें अपने वर्तमान प्रभुओंके प्रति ईर्ष्या और द्वेषका भाव रहता है। ऐसे छोटे छोटे रजवाड़ोंको अपनी ओर करनेके लिये कोई कष्ट उठा न रखना चाहिये। वशमें आते ही ये लोग तुरत मिलकर आक्रमणकारीके साथ एक हो जाते हैं। विजयी राजाको विशेष ध्यान इस बातका रखना चाहिये कि यह कभी शक्तिशाली न बन जायं। इनके हाथमें विशेष सत्ता भी न दी जानी चाहिये। ऐसा करनेसे विजयी राजा बड़ी आसानीके साथ अपने सैन्यबल और अपनी ओर किये हुए इन राजाओं और रजवाड़ोंकी सहायतासे अपने पड़ोसियों-की शक्ति कम कर सकता है और विजय किये हुए प्रदेशमें एकछत्र राज्य चला सकता है।" यह देशको फोड़कर उसपर शासन करनेकी पुरानी नीति है।

किसी देशमें अपना प्रवेश करनेके लिये कोई बहाना चाहिये। माकियावेलीने एक राजाकी प्रशंसा की है जो सदा धर्मका बहाना निकाला करता था। किसी देशपर अधिकार हो चुकनेपर उग्र नीतिसे काम लिया जाना चाहिये। माकियावेली कहता है—"जो पशुबलका प्रयोग करके किसी राष्ट्रका शासन अपने

हाथमें ले लेता है उसे वे सब निष्ठुरतायें काममें लानी चाहियें जो तुरत फलदायी हों।" यह लेखक आगे चलकर लिखता है—"यदि राजा क्रूरताकी सहायतासे प्रजाको वशमें रखता है तो उसे बदनामीकी परवा न करनी चाहिये, क्योंकि जो राजा एक स्वाधीन देशको जीतता है और उसे नष्ट भ्रष्ट नहीं करता वह बड़ी भारी भूल करता है और उसे अपने नाशकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। कारण यह है कि जब वहांके निवासी बगावत करनेको तैयार होते हैं तो वे सदा स्वाधीनता और अपने पूर्वपुरुषोंद्वारा बनाये हुए कानूनोंका नाम लेते हैं। इस विप्लवको अधिक समयका शासन वा सदय व्यवहार शान्त नहीं कर सकता।" यदि राजा देशको भली भांति न उजाड़ सके तो, उसे राय दी गयी है कि, वह चापलूसी और रियायतोंसे काम ले। "या तो प्रजाकी चापलूसी की जाय, उसपर रियायतोंकी बौछार की जाय, नहीं तो वह भली भांति तबाह कर दी जाय।" इस वाक्यपर हमें घूस और उपाधियों (टाइटलों)का स्मरण हो आता है। और सुनिये, "जो प्रदेश प्राचीन कालसे स्वाधीन रहा हो उसे अधीन रखनेका सबसे सहज तरीका यह है कि वहींके नागरिक नौकर रखे जायं।" यह वाक्य देखकर हमें बड़े बड़े ओहदोंपर मरनेवालों, दरबारों और राजभक्तोंके अभिनन्दनपत्रोंकी याद आती है। विजयको स्थायी बनानेके लिये लेखक बतलाता है—"जब एक राजा नयी रियासत जीतता है और उसे अपने राज्यमें मिला लेता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि प्रजाको निरस्त्र कर

दे। केवल उन्हें हथियार रखने दे जो विजयके समय उसकी तरफ आगये थे। किन्तु धीरे धीरे उन्हें भी निकम्मा बना देना चाहिये और उनको आलस्य तथा क्लीवताकी उस हालतमें डाल देना चाहिये कि कुछ समय बाद उसकी सारी शक्ति अपनी फौजके भरोसे ही खड़ी रह सके।" यह बात हमें आर्मस एक्ट (हथियार न रखनेके कानून) और अपने निहत्थे लोगोंका स्मरण कराती है। किन्तु यह सम्मति देनेपर भी कि आधी प्रजा निरस्त्र कर दी जाय और आधी उपाधि, नौकरी आदिसे अपने वशमें कर ली जाय माकियावेली कहता है कि विजयी राजाको इन दोनोंमेंसे एकको भी अपना विश्वासपात्र नहीं बनाना चाहिये। उसके शब्द पढ़िये—"बुद्धिमान और नीतिज्ञ राजाको चाहिये कि वह अपना वचन पूरा करनेकी चिन्ता न करे जबकि ऐसा करनेसे उसका अहित होता हो और जिस कारणसे वचन दिया गया था वह दूर हो गया हो।" इस विषयमें कोई गलती न हो इसलिये उक्त लेखक अधिक स्पष्ट भाषामें लिखता है—"अपने भावोंको छिपाना और सफलतापूर्वक मनमें कुछ तथा बाहर कुछ दिखाना बड़े महत्वकी बात है।" इन वाक्योंसे तोड़ी हुई सन्धियां और असंख्य विश्वासघात आंखोंके सामने आ जाते हैं।

दुनियांकी नजरमें प्रतिष्ठित बना रहना अच्छा है किन्तु माकियावेली इस विषयपर भी राजाको सतर्क करता है—"सज्जन, दयालु, शिष्टाचारी, धार्मिक तथा निष्कपटसा बना रहना सम्मान प्राप्त करना है, किन्तु तुम्हारा मन इतना ठीक और अभ्यस्त रहना

चाहिये कि अवसर पड़नेपर उसके सोलहों आने विरुद्ध कार्य कर सके।" जो भद्रपुरुष इन बातोंको पढ़कर दुविधामें पड़ गया है वह ध्यानसे सुने—"यदि इन दोषोंके कारण उसका नाम बदनाम होता है तो उसे तनिक चिन्ता न करनी चाहिये क्योंकि ऐसा न करनेसे उसका राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता।"

यहां तक हमने प्रसिद्ध राजनीतिक लेखक माकियावेलीके सिद्धान्त लिखे हैं। इन सिद्धान्तोंकी नीतिभ्रष्टता देखकर हमारे वे साम्राज्यवादी दंग रह जाते हैं जिन्होंने जंगली और अर्द्धसभ्य जातियोंको सभ्य बनानेका बीड़ा उठाया है। हम तो अब अपनी आंखें खोल रहे हैं और देख रहे हैं कि दोनों नीतिभ्रष्ट और दुरंगे हैं। हमें तो माकियावेलीकी पुस्तककी बातें ठीक ऐसी लगती हैं मानों किसी विवेचकने आयलैंडमें अंगरेजोंका शासन देखकर उसकी विशेषताओंका भली भांति निरीक्षण किया है और उनसे ये सिद्धान्त निकाले हैं। माकियावेलीने अपनी पुस्तकमें जो पोल खोली है उसके लिये हमें उसे धन्यवाद देना चाहिये। उसने राजाको जो सम्मति दी है वह उसके युगके डाकुओंकी कलई खोल देती है और हमें अपने समयके साम्राज्यकी बुराइयां दिखानेमें सहायता पहुंचाती है।

(३)

इस बातसे हमें शिक्षा लेनी चाहिये कि ४०० वर्ष पहले इटलीमें लिखा हुआ यह ग्रन्थ आज भी पूरी तरहसे लागू है।

साम्राज्यवादियोंका यह वास्तविक चित्र है, इसलिये हमें साम्राज्यसे कोई वास्ता न रखना चाहिये। यह कहा जायगा कि अब आगे हमपर पुराने हथकण्डे काममें न लाये जायंगे। साम्राज्यवादियोंको हम बता देना चाहते हैं कि वे इस नयी मित्रतासे बल पाकर दूसरे देशोंपर यह चालबाजियां चलेंगे। यह भी हमारे नामपर कलंक है। हम किसी देशको अपने अधीन नहीं रखना चाहते। हम उन्हें साम्राज्यका विरोध करनेके लिये उत्साहित करेंगे। यदि उसके लिये हमें भविष्यमें लड़ना पड़ेगा तो यह स्वयं यथेष्ट प्रोत्साहन है।

हमारा दमन नीचताके साथ होनेसे दूना कड़ुवा बन गया है। जबरदस्तके अत्याचारसे हमारा रोष प्रचण्ड हो उठता है, किन्तु नीचका अत्याचार असह्य हो जाता है। क्रोमवेलका अत्याचार आसानीसे भूला जा सकता है किन्तु मेकालेकी पाखण्डपूर्ण बातें नहीं। जब हम मेकालेकी कुछ पंक्तियां पढ़ते हैं तो बदनमें आगसी लग जाती है। और यह आग तभी बुझेगी जब हम विरोधको बिल्कुल मिटा देंगे। मिल्टनपर लेख लिखता हुआ मेकाले इङ्गलैण्डकी राज्यक्रान्तिपर बड़ी २ बातें छांट गया है और उसकी विशेषता बतलाता है कि "साम्राज्यका एक भाग ऐसी दुःखदायी स्थितिमें था कि उस समय हमें सुखी बनानेके लिये उसकी महान् यन्त्रणा आवश्यक थी और हमें अपनेको स्वाधीन बनानेके लिये उसे गुलाम बनाना आवश्यक था।" संसारमें शायद ही किसीने ऐसी बेशर्म बात कही हो।

भूलियेगा मत कि यह सिद्धान्त साम्राज्यके "बड़े साझीदार" का है। यदि मेकाले हमारा गला घोंटनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करता और भगवानको धन्यवाद देते हुए क्रोमवेलके समान हमारा गला घोंट देता तो बादकी पीढ़ियां आग बबूला हो उठतीं, किन्तु मेकालेके भाव जहरमें कड़ुवापन हैं। लीजिये, और सुनिये! मेकाले माकियावेलीकी पुस्तक पढ़कर अवाक् रह गया था। माकियावेलीके विषयमें आप लिखते हैं "जिस पुरुषको इटलीके इतिहास और साहित्यसे परिचय न हो उसके लिये यह असम्भव बात है कि उस पुस्तकको जिसने माकियावेलीके नामपर कलंकका टीका लगाया है विना घोर घृणा और आश्चर्यके पढ़ सके। दुष्टताका बिल्कुल नग्न लेकिन निर्लज्ज चित्र है। ऐसी शांत, विचारपूर्ण और वैज्ञानिक निष्ठुर क्रूरताका वर्णन नीचसे नीच प्रकृतिका पुरुष भी नहीं कर सकता। मालूम पड़ता है कि यह किसी नर-पिशाचने लिखा है।" किन्तु यह प्रबन्ध साम्राज्यवादपर महत्वपूर्ण उज्ज्वल प्रकाश डालता है। मेकाले माकियावेलीके विषयमें लिखता है कि "उसका एकमात्र दोष यह था कि उसने उस समयके कुछ प्रचलित सिद्धान्तोंको स्वीकार कर उन्हें ज्वलन्त और अन्य लेखकोंसे अधिक ओजस्वी भाषामें लिखा।"

यहां सत्य बात स्वयं प्रकट होगयी, यद्यपि मेकालेका यह इरादा नहीं था। क्या मजेकी बात है! माकियावेलीका अपराध यह है कि उसने ज्वलन्त और ओजस्वी भाषामें उनका

निरूपण किया है। यह कोई दोष नहीं है कि उसने इन बुरे विचारोंको अपने हृदयमें स्थान दिया। बात यह है कि दिलमें चाहे कुछ सोचिये मगर ढोंग दूसरा रचिये।

मेकालेकी घोर घृणा और आश्चर्य देखिये और साथ साथ उसी प्रबन्धकी यह बात पढ़िये—"जिस पुरुषने संसारका अनुभव प्राप्त किया है वह जानता है कि साधारण सिद्धान्त बिल्कुल निकम्मी चीज है। यदि वह नीतिमूलक और बिल्कुल सत्य है तो अनाथ बालकोंको सिखलाने योग्य बात है, और कुछ नहीं।" पाठक समझे? नीतिमूलक और सत्य बातको अनाथालयमें शरण मिली। कई लोग कहेंगे, यह व्यंग है। हमें इसपर विश्वास नहीं। किन्तु यदि मान भी लिया जाय तो ऐसे व्यंगमें हृदय उतना ही स्पष्ट प्रतीत होता है जितना गम्भीर प्रलापके कई खंडके ग्रन्थको पढ़कर नहीं हो सकता। हमें तो यह बात अंगरेज शासनकी पहचान करानेवाली नीतिसी मालूम पड़ती है। अंगरेज जातिको इस बातका अभ्यास पड़ गया है, वह यह नीति काममें लाती है और इसके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। किन्तु आयरिश जातिको इस नीतिसे पाला नहीं पड़ा है, न पड़ता है और न पड़ेगा। हम इससे कदापि सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। पुराने अत्याचार ज्यों ज्यों अधिकाधिक पुराने होते जाते हैं हमारा क्रोध शान्त होता जाता है; किन्तु पुरानी कपटी बातोंको फिर २ दोहराना, इतना ही नहीं, किन्तु यह चेष्टा करना कि उनकी सत्यता हम स्वीकार करें, हमारी सारी देहमें

आग भड़का देता है। यह आग इतनी जबरदस्त होती जाती है कि अंगरेज जातिके साथ सम्बन्ध टूटनेपर ही यह भी बुझेगी।

(४)

मेकाले तो आयर्लैंडवालोंको धोखेमें नहीं डाल सकता, किन्तु हमें भय है मिल और बर्नार्डशा जैसे लेखकोंसे। बहुधा ऐसा होता है कि जब कभी हम किसी निष्कपटी आदमीकी बातोंसे घपलेमें पड़ जाते हैं और हमें उसकी प्रकृतिका परिचय नहीं मिलता तो हमारा विवेक हमें ढोंगसे बचा देता है और हृदयमें उसके प्रति घृणा पैदा हो जाती है। जब आक्रमणकारी देश आक्रमणका मौका खोजता है तो वह पहले कोई बहाना ढूंढता है। हमको खतरा इसमें है कि लोग आक्रमणकारी देशको बहानेका मौका दे देते हैं। मिलने जो यह वाक्य लिखा है वही काफी बहाना है। "स्वेच्छाचारी शासन असभ्य समाजोंके लिये उचित और न्यायसंगत है। हां, उद्देश्य यह होना चाहिये कि उनको उन्नत किया जाय।"

शासाहब अपनी एक पुस्तककी भूमिकामें लिखते हैं—"मैं तिब्बत निवासियोंको मशीनके भीतर दबाकर पीस डालूं यदि वे मुझे सर्वजातीय स्वत्व देनेसे इन्कार करें।" अपने राज्यके भीतर किसी स्वत्वको बलपूर्वक प्रचलित करना तो हमारे अधिकारमें हुआ, किन्तु "बर्बर" कहकर दूसरे लोगोंके ऊपर इसका प्रयोग करना सरासर दूसरी बात है।

बरनार्डशा मिश्रमें जो अत्याचार हुआ था उसकी पोल जीती जागती और चुभनेवाली भाषामें भले ही खोले; किन्तु जिन्हें दूसरे देशोंपर हमला करना है उनका 'तिब्बतको पीस डालने' वाले वाक्यांशसे काम सध जाता है। ऐसा स्वाधीनताका पक्षपाती और प्रसिद्ध लेखक जब लिखता है—"मैं मोरक्को, ट्रिपोली, साइबीरिया और अफ्रिकाके लोगोंको "सभ्य"बनानेके लिये फ्रांस, इटली, रूस, जर्मनी और इंगलैण्डके साथ सहयोग करनेको तैयार हूं" तो मिश्रके अत्याचारके ऊपर उसने जो गाली बरसायी है वह व्यर्थ हो जाती है। अत्याचार हो चुकनेपर वह भले ही रो लें किन्तु बिना क्रूरता किये वे लोग "सभ्य" नहीं बन सकते।

बरनार्डशाके इन वाक्योंको पढ़कर और साथ ही साम्राज्यके विरुद्ध उसके जो सच्चे उद्‌गार हैं उन्हें देखकर साम्राज्यके हिमायती मन ही मन हंसते होंगे। साम्राज्यको बुरा बतलाते हुए शा लिखते हैं—"यह नाम ऐसा है कि जिस आदमीके हृदयमें अपनी मातृभूमिके प्रति पवित्र भाव है और जो पुरुष दूसरोंके हृदयोंमें इन भावोंको पवित्र और अविच्छेद्य समझता है इस नामको सुनकर अत्यन्त घृणाके साथ इसपर लानत भेजेगा।" अपनी "प्रतिनिधि शासन" नामक पुस्तकमें जब मिल लिखता है कि "अंगरेज एक ऐसी जाति है जो स्वतंत्रताको समझती है। भले ही इसने भूतकालमें भूलें की हों, किन्तु अब इस जातिने विदेशियोंके साथ व्यवहार करनेमें अन्य जातियोंसे बहुत अधिक विवेक प्राप्त

कर लिया है और नैतिक उन्नति की है।" यह शब्द सुनकर अंगरेज भाई "वर्वर" जातिको सभ्य वनानेके लिये आगे वढ़ते हैं, किन्तु उनके भाव मेकालेकेसे रहते हैं। यह सब वातें पढ़ सुनकर हमें स्वभावतः क्रोध होआता है; साथ ही आश्चर्य होता है और हंसी भी आती है।

साम्राज्यके पक्षमें जो कुछ लिखा गया है उसे पढ़कर क्रोध आता है, घृणा पैदा होती है; किन्तु स्वाधीनताके लेखक मिलके ग्रन्थ रत्नोंमेंसे यह वाक्य देखकर जी खोलकर हंसे विना नहीं रहा जाता। मिल अपनी स्वाभाविक गम्भीरतासे कहते हैं—"दूसरे देशोंको हड़पना ऐसी अभिलाषा है जो जातीय दृष्टिसे देखनेपर अंगरेजोंके लिये अस्वाभाविक है।" जब निष्कपटहृदय अंगरेज ऐसी वात लिख सकता है तो हम सबको होश हवाश दुरुस्त रखना चाहिये; और जब आजकलकी तरह साम्राज्यके पक्षमें अहितकर, वेढंगी वातें चारों ओरसे वकी जा रही हैं हमें सोचना चाहिये, इन सब बातोंपर ध्यानसे विचार करना चाहिये और चौकन्ना रहना चाहिये।

(५)

अब इस परिच्छेदके अन्तमें हम होमरूल-दलवालोंपर अपनी सम्मति लिखेंगे। यह भविष्यवाणी सुनकर हंसी आती है कि होमरूल मिलनेपर आयर्लैण्ड साम्राज्यका भक्त रहेगा। हमें आश्चर्य है कि आयरिश लोग भी ऐसे वेवकूफ होते हैं; यद्यपि

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अंगरेज लोग ऐसे सीधे सादे होते हैं कि वे ऐसी बातोंपर झट विश्वास कर लेते हैं। इतिहास और अनुभव इन बातोंके विरुद्ध जाते हैं। सम्भवतः होमरूल दलके नेता समझते हैं कि दस बीस सालमें ही उनका काम पूरा होजायगा और इसी अवधिके भीतर होमरूल प्राप्त होजायगा। ये लोग शायद इसी कालके भीतरकी बात कहते हैं।

किन्तु इस अवधिके बाद हमारी सन्तान शक्तिशाली और लड़ाकी बन जायगी और यदि हम उस समय तक न सम्हले तो वह हमारे कामके लिये तैयार होजायगी। वर्तमान समयके लिये मैं तो यही कहूंगा कि बूढ़े कार्यकर्ताओंकी सीमा हमारे लिये बस नहीं है। जो कोई आगे बढ़नेसे हिचकता है उसे हमारा अर्वाचीन और प्राचीन इतिहास देखना चाहिये। दबाने और उजाड़नेकी पुरानी चेष्टा विफल होनेपर हमें पुचकारनेका नया प्रयत्न आरम्भ हुआ। पहले छोटी छोटी रियायतें बख्शी गयीं, फिर बड़ी। पहले यह समझा गया था कि कठोर शासनसे होमरूल दबोचा जायगा, फिर दयासे इसके प्राण लेनेकी ठहरी और हमें स्थानीय स्वराज्य दिया गया। स्थानीय स्वराज्यसे पूरा स्वराज्य प्राप्त करना अनिवार्य होगया और अब जबकि होमरूल प्रायः प्राप्त होगया है तो हम आगे बढ़ रहे हैं।

———

दशम परिच्छेद

सशस्त्र प्रतिरोध।

(१)

स्वाधीनतापर विचार करनेसे अवश्य ही इसके लिये हथियार उठानेका प्रश्न उठता है। यदि जातिके स्वत्वोंकी सत्यता और न्याय्यता प्रमाणित करना यथेष्ट होता तो संसारमें अत्याचार वहुत कम रह जाता, किन्तु अत्याचारी सत्ता सत्यके प्रति अंधी हो जाती है, दलीलोंसे इसका दिल नहीं पसीजता, इसका सामना पशुवलसे करना पड़ता है। इसलिये हमें विद्रोहका नैतिक विचार करना आवश्यक है।

(२)

चिड़चिड़े, नुक्ताचीन और नीम हकीम खतरे जानका मसला चरितार्थ करनेवाले सज्जन सर्वत्र मिलते हैं। ऐसे आदमी आपत्ति करेंगे—"आयर्लैण्डमें हथियार लेकर लड़नेका सवाल कैसे उठ सकता है? यदि कोई इस प्रकार युद्ध करना चाहे तो उसे मालूम होगा कि यह वात असम्भव है; और न कोई लड़ना ही चाहता है। यदि आपको आजमायश करनी हो तो खुद जाकर देख लीजिये।" ऐसी रूखी समालोचना विल्कुल व्याव-

हारिक नहीं हैं। ऐसी बातोंकी तो परवा भी न की जानी चाहिये, किन्तु इससे मालूम होता है कि बहुतसे लोग ऐसे हैं जो तुरत लड़कर हमारी लम्बी लड़ाईको तय कर देना चाहते हैं, पर वे समझते हैं कि यह सम्भव नहीं है। व्यावहारिक बातोंका विचार करनेके लिये हमें कुछ बातें ध्यानमें रखनी चाहियें। यद्यपि आयलैंड हारनेपर भी कई बार लड़ा है और फिर लड़नेको तैयार हो सकता है, किन्तु इस समय नीतिका सहारा लेकर प्रश्न उठाया जाता है कि निरस्त्र आयलैंण्ड दुर्जय इङ्गलैण्डका सामना किस प्रकार करेगा ? इङ्गलैण्डके लिये तो यह सबसे आसान लड़ाई होगी। हम जिस बातपर जोर देना चाहते हैं वह यह है—निष्क्रिय रहकर और बहावकी ओर बहते जानेसे हम उस स्थितिको जा रहे हैं जहां इङ्गलैंड लपेटमें आ ही जायगा। हमें या तो उसके लिये लड़ना पड़ेगा या उससे साफ अलग हो जाना पड़ेगा। उसके साथ सम्बन्ध रहनेसे हम किसी प्रकार निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते। इसलिये सैनिक नीति बिलकुल व्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त हमारे लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। इङ्गलैण्डके संकटमें उसकी सहायता करना उतना ही हानिकर है जितना उससे सम्बन्ध तोड़नेका दुस्साहसपूर्ण कार्य। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्थिति आश्चर्यजनक रूपसे बदल गयी है। इङ्गलैण्ड भीतर और बाहर दोनों तरफसे संकटमें है। वहां हर तरहके मजूरोंके झगड़े मचे हुए हैं जिनका क्या परिणाम होगा कुछ ठिकाना नहीं। एक दूसरा झगड़ा इङ्ग-

लैण्डमें ऐसा मचा हुआ है जिसके कारण इंगलैण्डके प्रधान मन्त्री रूसके जारके समान सुरक्षित होकर बाहर निकलते हैं। * इङ्गलैण्डमें इस समय जो अशान्ति फैली हुई है इससे वहांके अधिकारियोंकी बुद्धि हरण होनेकी सम्भावना है। इस मुसीबतमें अकेला इङ्गलैण्ड ही नहीं है, सब महाशक्तियोंकी यही हालत है। कमसे कम यह तो बहुत सम्भव है कि घरेलू लड़ाईसे यह उसी प्रकार अवाक् हो सकते हैं जिस प्रकार बाहरी शक्तिसे लड़ाई करनेकी आवश्यकता पड़नेपर। इन बातोंका साफ शब्दोंमें निचोड़ यह है—हम इस बेचैनीसे दूर जाकर शान्तिसे बैठे रह नहीं सकते। हमें खड़ा होना पड़ेगा और अपने देशके लिये लड़ना पड़ेगा, नहीं तो दूसरोंकी सहायता करनी पड़ेगी। हमें तैयार हो जाना चाहिये और अधिकारोंके लिये डट जाना चाहिये। जो हो, यह बात कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि हमारे वर्तमान आन्दोलनके समय विद्रोहकी नैतिक स्थितिपर विचार करना व्यावहारिक तो अवश्य है।

(३)

हमें उस अल्पमतपर विश्वास है जो हमारी इन बातोंमें बुद्धिमत्ता देखता है। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिये कि इस तर्कसे जनतापर कुछ प्रभाव पड़े। हमें धीर और दृढ़निश्चयी बनना चाहिये। हम शीघ्र धीरज खो देते हैं और जल्दबाजीमें

* यह स्त्रियोंके मताधिकारके आन्दोलनके विषयमें है। आजकल यह आन्दोलन धीमा पड़ गया है किन्तु इसका स्थान कम्युनिज़्मने ग्रहण कर लिया है—अनुवादक।

गाली गलौज करके उन लोगोंको अपने दलसे अलग कर देते हैं जो अभीतक कुछ निश्चय नहीं कर सके हैं और हमारे पक्षमें आ सकते हैं। बहुत सम्भव है किसी खटके या किसी निर्बलताके कारण यह भाई पिछड़ रहे हों और सत्यकी स्फूर्तिदायक समीर और स्वाभाविक संयमसे हमारे सच्चे, श्रेष्ठ सैनिक बन जायं। अमेरिकन गृहयुद्धके समय एमर्सनने युद्धमें हत सैनिकोंका स्मारक खोलते समय ऐसे वीरोंका हृदयग्राही उल्लेख किया था। उसने एक नवयुवकका जिक्र किया जिसे वह जानता था। इस नवयुवकको आशङ्का थी कि मैं डरपोक हूं। इसलिये उसने संकटमें रहनेका अभ्यास डाला। वह जबरदस्ती संकटके स्थानोंमें जाया करता था और उसका सामना करता था। एमर्सनने कहा है—"यह वीर न्यूयार्कमें भर्ती हुआ, युद्धक्षेत्रको गया और जाते ही खेत रह गया।" उसने इस घटनापर जो टिप्पणी की है वह हमारे लिये महत्वपूर्ण है। "इस भावपूर्ण हृदयसे ही बड़े २ वीर बने हैं।" हम देशभाइयोंको शरीरसे हृष्ट पुष्ट बनानेके लिये जो कष्ट उठा रहे हैं वही कष्ट हमें उनका चित्त दृढ़ बनानेके लिये भी उठाना चाहिये। हम शारीरिक शिक्षा, कवायद आदिका बड़ा ध्यान रखते हैं। यह उचित है, क्योंकि इससे हुल्लड़शाही सुसंगठित सेनाके रूपमें परिणत हो जाती है और स्वावलम्बनहीनता शक्तिमें बदल जाती है। हमें उन मनुष्योंके हृदयोंमे बड़ी सावधानीके साथ काम लेना चाहिये जिनकी अभी परीक्षा नहीं हुई है। यह दुर्बल हों, चिन्तित हों और विवेकके विषयमें

बारीक छानबीन करनेवाले हों, किन्तु एमर्सनके नवयुवकके समान वे लोग युद्धक्षेत्रकी सबसे आगे बढ़ी हुई पंक्तिमें पहुंच सकते हैं, किन्तु उनके साथ तर्क करनेमें हमें धीरजसे काम लेना चाहिये। उन्हें अपनी बात समझानेमें हमें अपना दिमाग ठण्डा रखना चाहिये और पूरी सहानुभूतिके साथ छोटी छोटी बातोंपर भी विचार करना चाहिये। इस बातकी आवश्यकता निस्संदेह स्पष्ट है कि हम शारीरिक बातोंपर जिस सावधानीसे विचार करते हैं मानसिक बातोंपर उससे अधिक सावधानी चाहिये।

(४)

सबसे पहले विद्रोह करनेका विरोध धार्मिक दृष्टिसे किया जायगा। इस तर्कमें सब शंकाएं और दुविधाएं आ जुटेंगी और यही टेढ़ी खीर भी है। प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्रको अधिकार है कि वह किसी दूसरेसे लड़े; किन्तु न्यायसंगत कारण होनेपर भी विद्रोह करनेका अधिकार किसी पराधीन जातिको नहीं मिला है। हम आयर्लैण्डवालोंको भी यह अधिकार नहीं मिला है और सदा यह अस्वीकार किया जाता है। इसलिये हमें अपने विरोधियोंको शब्द प्रतिशब्द उत्तर देना है और क्रमशः उस स्थानपर पहुंचा देना है जहां वे हमारे सिद्धान्तोंको मानने लग जायंगे। किन्तु कोई यह न समझे कि स्वाधीनता शास्त्रार्थका विषय है। यह उससे अधिक है। युद्धके विषयमें हम बहुधा अपनी प्रतिज्ञाओंका उल्लेख नहीं करेंगे किन्तु अपने निश्चय बता-

देंगे। इतना हम अवश्य करेंगे कि जहांतक हो सकेगा न्यायशास्त्रके अनुसार अपनी दलीलोंके लिये पुष्ट प्रमाण देंगे। तोभी सदा ध्यानमें रखियेगा कि स्वाधीनता प्राप्त करनेका हमारा कारण वाद्‌विवादसे बहुत ऊपर उठा हुआ है। कोरा तर्कशास्त्र ज्योतिकी उस रहस्यमय चिनगारीको धारण नहीं करता जो हमारा जीवन है। इसलिये हम अपने शत्रुओंसे वहस करते समय उतनी ही अच्छी, वल्कि उससे भी अच्छी, दलीलें देनेका वचन देते हैं जितनी अच्छी उनकी युक्तियां हैं। किन्तु हम अपने सिद्धान्तकी वाजी इन दलीलोंसे अधिक महत्व रखनेवाली वातोंपर लगाते हैं। इस आधारपर मैं युद्धकी न्याय्यतापर सामान्य वादविवाद नहीं करूंगा किन्तु किसी शासनके विरुद्ध विद्रोह करनेपर विशेष जोर दूंगा। इस विषयपर एक बड़ा ग्रंथ लिखा जा सकता है, किन्तु दिखाऊ दार्शनिक उलझनोंको छोड़कर हम उसी वातपर विचार करेंगे जिससे हमारा साक्षात् सम्बन्ध है। × × × ×

यह वात साफ है कि हमारी स्थिति बड़ी नाजुक और टेढ़ी है। इस विषयपर इन प्रारम्भिक शब्दोंको लिखते समय हमें एक वातपर विशेष जोर देना है। हमें किसी कठिनाईसे इसलिये नहीं मानना चाहिये कि वह नाजुक और खतरनाक है और न हमें उससे समझौता ही करना चाहिये। रणभूमिपर शारीरिक संग्राममें कूटनीति और रणनीतिका प्रयोग धर्मसंगत माना गया है, युद्धक्षेत्रमें आगे वढ़ना और पीछे हटना ठीक समझा जाता

है ; सम्मुख आक्रमण करना और दांव-घातसे काम लेना नीति-सम्मत समझा जाता है। किन्तु जहां सिद्धांतकी बात आती है वहां कूटनीतिका कोई काम नहीं; वहां तो सीधे रास्तेका अनुसरण करना पड़ता है और यह रास्ता ढूंढ़कर निकाला जाता है तथा अंत तक अटल रहकर निभाया जाता है।

एकादश परिच्छेद



कानूनका सच्चा अर्थ

(१)

जब हम अवैधसत्ताका विरोध करते हैं तो हम वैधसत्ता-को क्यों मानते हैं और उसका क्या अर्थ समझते हैं यह बतला-कर हमें अपनी जड़ मजबूत कर लेनी चाहिये। इसलिये हमें कानून शब्दका अर्थ भली भांति समझना चाहिये। कानूनकी परिभाषा यों की जा सकती है कि कानून शुद्ध बुद्धिकी वह आज्ञा है जिसका उद्देश्य लोकहित है और जो शासक-शक्तिद्वारा प्रचा-रित की जाती है। इस सम्बन्धमे हम प्रामाणिक लेखकोंके कुछ वाक्य उद्धृत करेंगे। "आदमीके बनाये हुए कानूनपर कानूनकी छाप तभीतक रहती है जबतक कि वह शुद्ध बुद्धिके अनुसार हो। इस दृष्टिसे इसकी उत्पत्ति स्पष्टतया ईश्वरी नियमसे है।" [एक्वीनास एथिक्स प्रथम खण्ड पृ० २७६] सेण्ट टामसने ऐसे कानूनोंके विषयमें लिखते हुए जिनका उद्देश्य, प्रचार-कर्ता अथवा स्वरूप अधार्मिक है लिखा है—"ऐसी कार्रवाइयां कानून नहीं कही जा सकतीं, यह तो अत्याचारकी कृति हैं। क्योंकि सेण्ट आगस्टीनने लिखा है कि 'जो कानून धार्मिक नहीं है वह कानून

ही नहीं है'। [एक्वीनास एथिक्स प्रथम खण्ड पृ० २६२]

वालमेजने लिखा है कि "किसी भी कानूनमें मुख्य बात यह रहनी चाहिये कि वह शुद्ध बुद्धिसंगत हो, वह शुद्ध बुद्धिका ही प्रकाश हो अर्थात् वह समाजमें शुद्ध बुद्धिके प्रयोगका साधन हो।" (यूरोपियन सिविलिजेशन अ० ५३) इसी अध्यायमें वालमेजने सेण्ट टामसकी बातको पुष्ट करते हुए लिखा है कि "राज्य राजाके लिये नहीं होता बल्कि राजा राज्यके लिये होता है।" और उसने इसका स्वाभाविक परिणाम निकाला है कि "सब सरकारें समाजके हितके लिये स्थापित की गयी हैं। चाहे किसी तरहकी सरकार हो, जो उसका शासन चलाते हैं उन्हें इस बातको सदा अपना पथप्रदर्शक समझना चाहिये।" 'प्रतिनिधि-शासन' नामक अपनी पुस्तकमें मिलने लिखा है कि सरकारका एकमात्र उद्देश्य प्रजाका हित करना है। ईसा मसीहके पैदा होनेसे पहले प्लेटो भी ऐसी ही बात कह गया है। वह एक आदर्श नगर स्थापित करना चाहता था जिसमें सारी प्रजा अत्यन्त सुखी रहे। (रिपब्लिक खण्ड ४) केल्डरवुडने लिखा है कि "नीतिपूर्ण शासन तभी न्यायपूर्वक स्थापित किया जा सकता है जब मनुष्यके सहज कर्तव्य और अधिकार अविच्छेद्य समझे जायं।" (अर्वाचीन दर्शन-शास्त्र अध्याय ४)।*

---

* हमारे यहां भी ऐसे वाक्य स्थान २ पर मिलते हैं, यथा :—

प्रजानां विनयाधानात् रक्षणाद् भरणादपि।

इस विषयपर सभी मतके और सभी समयके लोगोंकी एक राय रही है। जबतक यह सब बातें हमारे देशमें पूरी पूरी नहीं हो जातीं हम युद्धकी दशामें हैं। जब स्वाधीन और वास्तविक आयरिश सरकार स्थापित हो जायगी तो हम उसका पूरा और हार्दिक अभिनन्दन करेंगे। उस समय कानूनको भी जनता सहर्ष मानेगी। हम इस समय राजसत्ताका खण्डन करनेके लिये यह सब नहीं लिख रहे हैं, किन्तु हम यह बतलाना चाहते हैं कि इस समय जो लोग हमारे ऊपर शासन कर रहे हैं वे अनधिकारी हैं और जो झंडा हमारे देशमें फहरा रहा है वह हमारा नहीं है।

(२)

विद्यमान शासकोंका विरोध करनेके विषयमें वालमेज लिखता है कि "हमें उन सब दलीलोंको चकनाचूर कर देना

चाहिये जिन्हें जिस समय जो सरकार स्थापित हो उसीके अन्ध उपासक हमारे विरुद्ध पेश करते हैं।" (यूरोपियन सिविलिजेशन अ० ५५) इस प्रसिद्ध स्पेनिश धर्मज्ञसे अधिक स्पष्ट बात हम नहीं लिख सकते। इन जीहुजूरोंकी दलीलोंके जवाबमें हम उसीका निम्नलिखित लम्बा और ओजस्वी वाक्य उद्धृत करते हैं-"न्यायविरुद्ध शासन कोई शासन नहीं है। जहां शक्तिके भाव होते हैं वहां अधिकारके भाव भी होने चाहियें। यदि ऐसा न होगा तो शारीरिक शक्ति पशुबलमें परिणत हो जायगी।" उसने फिर लिखा है कि "जिस शासकने सिर्फ तलवारके ही जोरसे किसी जातिको अपने अधीन कर रखा है उसे अपने इस कार्यसे यह अधिकार नहीं मिल जाता कि उस जातिपर उसका ही कब्जा रहे। वह सरकार, जिसने घोर अन्यायसे नागरिकोंकी सब श्रेणियोंको लूट खसोट लिया है, उनसे अनुचित कर वसूल किये हैं, न्याय्य अधिकार छीन लिये हैं, अपने कामोंको केवल इसी कारणसे न्यायपूर्ण नहीं बतला सकती कि उसे इन अत्याचारोंको कार्यमें परिणत करनेकी यथेष्ट शक्ति है।'' इस पुस्तकमें ऐसी ही स्पष्ट और निश्चित बातें बहुतसी हैं। हमारे विरोधी लोग जो ऊंचे ऊंचे अधिकारोंपर हैं, इस विषयमें जो बेहूदी बातें बकते हैं वह हम सब जानते ही हैं। बालमेजने इसी पुस्तक और अध्यायमें ऐसे अधिकारीका एक बड़ा अच्छा उदाहरण उसकी दलीलोंके उत्तरके साथ दिया है —"पालमायराके धर्माचार्य डोन फिलिक्स आमाटने अपने 'लड़ाका ईसाई सम्प्रदाय'

नामक ग्रन्थमें लिखा है कि ईसा मसीहने अपने सरल और भाव-व्यञ्जक शब्दोंमें कहा है कि राजाका हक राजाको दो। इससे उसने (ईसाने) भली भांति सिद्ध कर दिया है कि शासकका केवलमात्र अस्तित्व ही यथेष्ट है कि प्रजा जबरदस्ती उसकी आज्ञा माननेको बाध्य की जाय, यह पुस्तक भी रोममें जब्त कर ली गयी थी।" वालमेजके यह अन्तिम शब्द ही इसकी खुलासा टिप्पणी हैं। और वह आगे लिखता है कि "इस जब्तीका चाहे जो कारण हो, हम निस्संकोच कह सकते हैं कि ऐसे सिद्धान्तोंका प्रचार करनेवाली पुस्तकके अनुसार प्रत्येक मनुष्य जो अपने अधिकारोंकी रक्षा करना चाहता है पोपकी इस आज्ञासे सहमत होगा।" यह तो हुईं पशुबलपर स्थापित सरकारके विषयकी बातें। यह बलात्कारसे दूसरेके अधिकार छीनना है। इसकी जड़ जम जानेसे यह न्यायसंगत नहीं हो जाती। जब इसकी आज्ञाओंका उल्लंघन नहीं किया जाता तो कोई यह न समझे कि हम सिद्धान्तरूपसे उन्हें मानते हैं—हम तो दिखलानेके लिये भी उन आज्ञाओंको स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु यह समझना चाहिये कि अभी समय नहीं आया है कि इनका विरोध किया जाय। यह तो लड़ाईकी एक चाल है।

(३)

हम यह मानते हैं कि आयर्लैण्डमें अङ्गरेजोंका राज्य बलात्कारसे दूसरोंके स्वत्व छीनकर स्थापित किया गया है। अतः

हम उसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। किन्तु यदि कोई यह युक्ति उपस्थित करे कि बलात्कारसे स्थापित की हुई सत्ता यदि धीरे धीरे प्रजाद्वारा स्वीकृत हो जाती है तो वह एक प्रकारसे न्यायपूर्ण समझी जाती है। इसका मुंह-तोड़ उत्तर हमारे पास है। आयर्लैंडके विषयमें तो हम इस धारणाको निर्मूल बताते हैं। हमारा इस बातका साक्षी आयर्लैंडका इतिहास है जो यह बताता है कि पशुबलपर स्थापित ब्रिटिश अधिकारके सामने हमने कभी सर नहीं झुकाया। किन्तु जो हमारी इस निरी अस्वीकृतिको स्वीकार नहीं करते उनसे हम कह सकते हैं कि वह राजसत्ता जो आरम्भमें न्यायपर स्थापित की गयी थी, जब राष्ट्रका नाश करनेके लिये अपनी शक्तिका दुरुपयोग करती है तो उसका विरोध किया जाना चाहिये। हम अब भी यह बात मान रहे हैं कि अङ्गरेज सरकार प्रजामतके विरुद्ध पशुबलपर स्थापित है, किन्तु हम इससे भी बढ़ी चढ़ी हुई अन्यायकी बातें सिद्ध करके सब आपत्तियोंका निराकरण कर सकते हैं। इस विषयपर डाक्टर मरेने भली भांति विचार किया है। वह लिखता है-"सुप्रतिष्ठित और न्यायसंगत शासन जब अपनी शक्तिका दुरुपयोग करता है तो उसका विरोध किया जाना चाहिये या नहीं यह प्रश्न उठता है। हमारे धर्माचार्योंका बहुमत तो यह है कि ऐसे अवसरपर पशुबलके ही सहारेसे सामना करना धर्म-संगत है और यदि आवश्यकता पड़े तो यह भी उचित है कि स्वेच्छाचारी सम्राट् या राजाओंको सिंहासनसे उतार दिया

जाय।* किन्तु ऐसी स्थिति तब आती है जब अन्याय चरम सीमाको पहुंच जाता है। इस स्थितिके लिये निम्नलिखित बातें उपस्थित रहनी चाहियें:—

१—अत्याचारकी मात्रा अतितक पहुंच जानी चाहिये अर्थात् जब वह असह्य हो जाय।

२—अत्याचार खुल्लमखुल्ला हो; कमसे कम उनकी आंखोंमें जो सज्जन हों और जिनके विचार सच्चे हों।

३—अत्याचारीद्वारा किये हुए पाप उनसे बड़े हों जो उसका विरोध करने और उसे सिंहासनच्युत करनेसे पैदा होंगे।

४—जब अत्याचारसे छूटनेका इस चरम उपायकी शरण लेनेके अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहे।

५—जब धर्मकी दृष्टिसे विजयका निश्चय हो।

६—यह क्रान्ति ऐसी होनी चाहिये कि सारी प्रजा मिलकर इसमें भाग ले या मदद दे। यदि एक छोटा दल जनताके समूहका साथ देना अस्वीकार करे तो इससे विद्रोह धर्मविरुद्ध नहीं हो जाता।

('धार्मिक निबन्धमाला'; रिकाबीकृत 'नीति दर्शन'का ८ वां परिच्छेद भी पढ़ने योग्य है।)

इनमेंसे कुछ बातें डाक्टर मरेने बड़े विस्तारके साथ लिखी हैं। मैंने उनका सारांश दे दिया है। साधारणसे साधारण

आदमी भी आसानीके साथ देख सकता है कि यह बातें आयर्लैण्डपर किस प्रकार पूरी पूरी घटती हैं। मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि हमारे नेताओंसे कहा जाता कि क्रान्तिके लिये अपनी शर्तें बतलाइये तो वे इससे और भी अधिक कड़े नियम रखते। सच तो यह है कि उनके विषयमें यह कहा जा सकता है कि वे धर्मकी दृष्टिसे निश्चित विजयसे भी कुछ अधिक चाहते हैं। वे सब प्रकारसे पूर्ण निश्चय चाहते हैं। लड़ाईमें ऐसे पक्के निश्चयकी आशा कभी नहीं की जा सकती।

(४)

जब कोई राजसत्ता अपने अन्यायके कारण मिट जाती है तो हमें सत्य और न्यायके आधारपर नयी सरकार स्थापित करनेके लिये नागरिक सत्ताके मूलमें जाना चाहिये। अब यह बात कोई नहीं मानता है कि राजामें ईश्वरका अंश है, किन्तु इस विषयपर पुराने जमानेमें जो वादविवाद हुआ उससे शासनके सम्बन्धमें कुछ नयी बातें मालूम होती हैं। राजाकी शक्ति साक्षात् ईश्वरसे प्राप्त होती है इस विषयपर लिखते हुए "स्वारेजने बड़ी वीरताके साथ इस बातका विरोध किया कि स्वतः राजाको जन्मसे ही शासन करनेका अधिकार प्राप्त है। प्रजाकी सम्मतिसे ही सब प्रकारकी राजसत्ता उत्पन्न होती है। इसी तरहसे मेलंकथानके सर्वशक्तिसम्पन्न-राजसत्ताके सिद्धान्तका विरोध करते

हुए स्वारेजने परिणाम निकाला है कि जनताको ऐसे राजाको गद्दीसे उतारनेका अधिकार है जिसने अपनेको उस धरोहरको सम्हालकर रखनेके अयोग्य सिद्ध कर दिया है जो प्रजाने उसे सौंपी है।" (डिवुल्फकृत 'मध्यकालीन दर्शनका इतिहास,' तीसरा संस्करण, पृ० ४६५)

इस अंगरेजी सिद्धान्तका स्वारेजने जो खण्डन किया है उसे प्रसिद्ध लेखक हलमने स्पष्ट, संक्षिप्त और निष्पक्ष बतलाया है। इन युक्तियोंकी सर्वत्र धाक जम गयी है। अंगरेज धर्माचार्योंकी अयोग्यता सिद्ध करनेके लिये हलमने उसके वाक्य उद्धृत किये हैं। 'यूरोपका साहित्य' नामक अपनी पुस्तकमें उसने लिखा है- "अतः यह शक्ति स्वतः अपनी प्रकृतिसे एक मनुष्य नहीं किन्तु मनुष्य-समूहके अधिकारमें रहती है। यह निश्चित सिद्धान्त है। हमारे सब प्रामाण्य लेखक इसे पुष्ट कर गये हैं। सब इस बातपर सहमत हैं कि राजाको कानून बनानेकी वही शक्ति है जो जनताने उसे सौंपी है। इसका कारण स्पष्ट है; क्योंकि सब मनुष्य समान पैदा हुए हैं इसलिये किसीको भी किसी दूसरे आदमी या राज्यके ऊपर राजनीतिक अधिकार नहीं है। और न हम इस विषयकी वस्तुतासे ही कोई कारण दे सकते हैं कि क्यों एक मनुष्य दूसरेके ऊपर शासन करे। हां, इसके विरुद्ध कारण दे सकते हैं।" (हलमकृत 'यूरोपका साहित्य' खण्ड ३ अ० ४)।

डाक्टर मरेने अपनी पुस्तकमें सर जेम्स मेकिनटोसकी तारीफमें

कहा है कि अंगरेजी सिद्धान्तका खण्डन करनेवाले लेखकोंमें यह सबसे योग्य है, देखिये। मेकिनटोस क्या कहते हैं! वह बताते हैं कि पर-आज्ञापालनको बिना अपवादके धर्म बतला देना वेहूदगी है। डाक्टर मरेने अपने 'मुख्य शासन शक्तिका विरोध' शीर्षक प्रबन्धके अन्तमें मेकिनटोसका एक लम्बा चौड़ा अवतरण उद्धृत किया है और इसकी महत्ता तथा बुद्धिमत्ताकी बड़ी प्रशंसा की है। 'इस अवतरणके अधिकांशमें लिखा गया है कि विद्रोहको सफल करनेके लिये कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और उन घोर बुराइयोंपर भी जोर दिया गया है जो असफलतासे पैदा होती हैं। यहां मैंने जो कुछ लिखा है उसमें मुझे अधिक कष्ट बुराइयोंको खोलनेमें हुआ है छिपानेमें नहीं। किन्तु जब विद्रोह अनिवार्य और आवश्यक हो जाता है तो सबको डाक्टर मरेके उद्धृत किये हुए इस वाक्यका अनुमोदन करना चाहिये। "वह विद्रोह, जो दमनके कारण आवश्यक हो जाता है और जिसके कारणोंपर विचार करनेसे अधिक सम्भावना यह हो जाती है कि उसका अन्त अच्छा होगा, एक सार्वजनिक पुण्यका काम है। उसको संकट चारों ओरसे इस प्रकार घेरे रहते हैं कि इसके संचालक प्रशंसाके योग्य समझे जाने चाहियें।" जब क्रान्ति सफल हो जाती है तो जनतापर यह भार पड़ता है और उसका यह अधिकार रहता है कि वह नयी सरकार स्थापित करे।

(५)

इन सबका निचोड़ यह निकला कि वही सरकार न्याय-संगत है जो न्यायपर स्थापित की गयी हो और सर्वसाधारण-के हितके लिये हो। पशुबलपर स्थापित शासनका विरोध किया ही नहीं जाता बल्कि किया जाना भी चाहिये। वह राजसत्ता जो आरम्भमें नियमानुकूल थी जब धीरे धीरे अत्याचारी बन जाती है तो उसका विरोध करना चाहिये और उसे उलट देना चाहिये। और अन्तिम बात यह है कि जब अपनी शक्तिके दुरुपयोग या अत्याचारके कारण एक विशेष शासनका अस्तित्व नहीं रहता तो हमें वास्तविक राजसत्ताका पुनरुद्धार करना चाहिये। कभी२ कुछ लोग बिना समझे बूझे कह देते हैं कि "स्वतंत्रता अराजक-तासे प्राप्त होती है।" किन्तु यह घोर हानिकर सिद्धान्त है। इससे अधिक सत्य तो यह है कि अराजकतासे निश्चय ही अ-त्याचारकी उत्पत्ति होती है। अराजकतामें जनताको दबानेके लिये कोई न कोई अत्याचारी शासक निकल आता है। किन्तु जब दृढ़प्रतिज्ञ और संयमी जनता स्वेच्छाचार और अराजकता नहीं पर स्वाधीनता प्राप्त करनेका निश्चय कर लेती है तो वह प्राकृतिक नियमके अनुसार काम करती है। सेण्ट टामसने यह सि-द्धान्त भली भांति समझा रखा है और टर्नरने अपनी पुस्तक 'दर्शनशास्त्रका इतिहास'में इसे उद्धृत किया है—"अत्याचारी शासककी प्रजा जो सुख-शान्ति चाहती है उसे प्राप्त करनेकी

चेष्टा किसी व्यक्तिविशेषको नहीं किन्तु जनताद्वारा संगठित और धर्मकेअनुसार काम करनेवाली अस्थायी राजसत्ताको करनी चाहिये।" जब कुछ मनहूस और बेवकूफ लोग पागलोंकी तरह बकते हैं कि हम राजसत्तामात्रको बुरा बता रहे हैं, तो हमें शान्तिपूर्वक बता देना चाहिये कि हम राजसत्ताकी जड़को भली भांति समझते हैं। इसके मूलमें सत्य है और हम इसके प्रधान भावका पूरा सम्मान करते हैं। यह मुख्य भाव स्वतंत्रता है।

द्वादश परिच्छेद

सशस्त्र प्रतिरोध।

कुछ आपत्तियां।

(१)

विद्रोहका पक्ष पाठकोंके सामने उपस्थित करनेके बाद यह अनुचित न होगा कि हम इस विषयकी आपत्तियोंपर विचार करें। कई जिज्ञासु सिद्धान्तकी इस स्पष्ट आलोचनासे प्रसन्न होंगे, किन्तु कुछ चालाक विरोधी नीतिकी दुहाई देते हुए अथवा क्रान्तिकारियोंका बेहूदा उल्लेख करते हुए उनकी हंसी उड़ावेंगे, सम्भवतः वे किसी बड़े आदमीके नामकी दुहाई दें या ऐतिहासिक घटनाओंका जबरदस्त आसरा लें। यह विचित्रसी बात है कि हम इस बातका तो ध्यान रखते हैं कि जब हम किसी व्यवहारसिद्ध सिद्धान्तसे लोगोंकी नजर बचाना चाहते हैं तो गूढ़ तत्वकी शरण लेते हैं, किन्तु यह बात अभीतक हमारे ध्यानमें कम आयी है कि जब हम किसी सिद्धान्तकी सत्यताको अस्वीकार करनेकी चेष्टा करते हैं तो हम असली बातोंका सहारा लेते हैं। ऐसे समय हमारी आंखोंमें प्रस्तुत और कष्ट-

प्रद संकट, चाहे वह क्षणिक ही हो, ऐतिहासिक घटनाओं अथवा आनेवाली विपत्तिसे बड़ा मालूम होता है। यह बात यदि हम समझ जायं तो उक्त भ्रममें पड़े हुए मनुष्यको हम इस बातमें सहायता देकर उसके दिलमें अपनी बात जमा सकते हैं कि स्थायी और अस्थायी हितमें क्या भेद है। इस प्रकार आपत्तियोंको हटाकर हम अपना पक्ष प्रबल कर सकते हैं।

(२)

ऐसा देखनेमें आता है कि बिल्कुल लापरवा आदमी भी बहुधा सावधानोकी दुहाई देते हैं। ऐसे लोगोंको, जिनकी एकमात्र चेष्टा कठिनतासे पिण्ड छुड़ाना होता है, जो अपनी कमजोरी छिपानेके लिये धैर्यपर व्याख्यान देते हैं, इस बातपर भली भांति विचार करनेकी सलाह देनी चाहिये कि किस प्रकार उग्र, निष्कपटी पुरुष इन बहानेबाजियोंसे झुंझला धीरजको त्याज्य पदार्थ बतलाकर उसपर अपनी सारी घृणा बरसाते हैं। ऐसी युक्ति सफल नहीं होती, यह कुछ कालके लिये उनका बड़प्पन घटा देती है। धैर्य दुर्बलोंका नहीं किन्तु बलवान आत्माओंका गुण है।

प्रतिपक्षी कहता है—"आपकी बातें बहसमें तो ठीक हैं किन्तु देखिये, व्यवहारमें लोग किस प्रकार इनका दुरुपयोग कर रहे हैं।" यह दलील सुनकर इसका उचित उत्तर तुरत स्मरण हो आता है। डाक्टर मरेने एक स्थानपर लिखा है—"किसी नैतिक

सिद्धान्तका यह कहकर खण्डन नहीं किया जा सकता कि लापरवा लोग इसका दुरुपयोग करते हैं अथवा यह कहकर कि यदि अमुक सभामें या अमुक स्थितिमें इसका खुल्लमखुल्ला प्रचार किया जायगा तो हानिकी सम्भावना है।" यह वाक्य सर्वोत्तम है। सिवा दूसरोंके शब्द दुहरानेके विरोधी इसका कोई ठीक उत्तर नहीं दे सकता। हम वालमेजके शब्दोंमें उससे कहेंगे—"लोगोंसे नीतिज्ञ बननेको कहते हुए हमें झूठे सिद्धान्तोंकी आड़में छिपा नहीं रहना चाहिये। हमें सावधान रहना चाहिये कि जनताके दुर्भाग्यके रोषको शान्त करनेके लिये हम ऐसी भ्रमपूर्ण बातें न फैलायें जो सब सत्ता और समाजकी जड़ खोखली करनेवाली हों।" ('यूरोपियन सभ्यता' अ० ५५) ऐसे प्रश्नोंकी तहमें जानेसे जो घबराते हैं उनके बारेमें वालमेज लिखता है कि "मैं नम्रतासे कहूंगा कि ऐसे आदमियोंकी नीतिज्ञता बरबाद चली जाती है; उनकी दूरदर्शिता और सतर्कता किसी कामकी नहीं रहती। वे इन बातोंकी जांच करें या न करें उनकी जाँच हो चुकी, उनका मन क्षुब्ध है और वे उस मार्गपर जिस तरह जा रहे हैं उसका हमें बड़ा खेद है।" ('यूरोपियन सभ्यता' अ०५४)

फ्रान्सके पुराने राज्यमें जनताको जो २ कष्ट थे उनपर लिखता हुआ टर्नर नामक लेखक कहता है—"पुरोहितोंका धर्म यह था कि वे न्याय और सहनशीलताका प्रचार करते किन्तु जनता समझती थी कि वे भी उस राजासे मिल गये जिससे वह डरती थी और जिससे उसको बड़ी घृणा थी।" ('दर्शनशास्त्रका

इतिहास' अ० ५६) बात यह है कि जब अन्याय और पापका बोलबाला होता हो तो उसका स्थायी राज्य नहीं होना चाहिये; उस समय कोई ऐसी कमजोरी न रहनी चाहिये जो पुण्यका रूप धारण कर सके। हम जिस बातका फौरन सामना नहीं कर सकते उसका खण्डन तो सदैव कर सकते हैं। इन बातोंकी अवहेलना करना बुद्धिहीनताका सबसे बुरा स्वरूप है—यह ऐसी अदूरदर्शिता है जिसको हम इस अवसरपर कमसे कम अपनी ओरसे पूरे जोरके साथ अस्वीकार करते हैं।

(३)

क्रान्तिकारी शब्दका प्रयोग उसके अर्थको विना विचारे हुए किया जा रहा है। हमें सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि यह शब्द परस्पर सापेक्ष अर्थ रखता है। यदि किसी जातिकी स्वाधीनता बलात्कार और विश्वासघातसे छिन ली गयी है और उसके भूत-कालमें समृद्धिशाली रहे हुए देशमें दमनकारी उपायोंसे काम लिया जा रहा है तो यह भी क्रान्ति है और बहुत बुरी क्रान्ति है। यदि अत्याचारसे शासित और दमनके भारसे उजड़ते हुए किसी देशके लोग उठ खड़े होते हैं और अपने स्वाभाविक साहस,उत्साह और धैर्यसे पुरानी स्वाधीनता प्राप्त करके न्यायपूर्ण शासन स्थापित करते हैं तो यह भी क्रान्ति है और अच्छी क्रान्ति है। क्रान्तिका-रीका विचार उसकी नीयत, उसके साधन और उसके उद्देश्यसे होना चाहिये और जब इन सबमें सत्य विद्यमान रहता है तो

उसका यह कार्य मेकिनटोसके शब्दोंमें 'सार्वजनिक पुण्यका कार्य' बन जाता है। इस कार्यसे सत्यको मनुष्य समाजमें उचित आदरका स्थान मिलता है।

(४)

बालमेजने बोसेके विषयमें कहा है कि उसने उन अधिकारों-को अस्वीकार किया है जिनका यहां प्रतिपादन किया गया है। इसलिये हम यहां बोसेके कुछ और वाक्य देंगे जो उसने किसी दूसरे प्रसंगपर कहे हैं किन्तु जो हमारे विषयमें लागू हो सकते हैं। साम्राज्यके विषयमें बोसे लिखता है—

"Les revolutions des empires sont reglees par la providence, et servent a humilier les princes."

अर्थात् साम्राज्यकी क्रान्तियां विधातासे निर्दिष्ट की जाती हैं और इनके द्वारा राजाओंका मिज़ाज ठंडा किया जाता है। इस वाक्यसे हम स्वाधीनताका युद्ध करनेसे रोके नहीं जा सकते। यदि हम और आगे बढ़ते हैं और वह बातें पढ़ते हैं जो उसने इसी शीर्षकमें लिखी हैं तो हम उस वीरता, स्वातन्त्र्य-प्रेम तथा देशभक्तिकी प्रशंसा ओजस्वी भाषामें देखते हैं जिसने प्राचीन यूनान और रोमका भेद बता रखा है। इसे पढ़कर कोई भी जाति स्वतन्त्रताके लिये उन्मत्त हो सकती है। स्वतन्त्र, अजेय और भ्रष्टताहीन यूनानके विषयमें बोसे लिखता है—

politique ferme et prevoyante, qui savait abandonner, hasarder et defendre, ce qu'il fallait; et ce qui est plus grand encore, un courage que l'amour de la liberte et celui de la patrie rendaient invincible."

अर्थात् यूनानमें सबसे बड़ी बात यह थी कि उसकी राजसत्ता दृढ़ और सुसज्जित थी। वह जानती थी कि कर्त्तव्यके लिये किस प्रकार त्याग किया जाता है, सर्वस्वकी बाज़ी लगायी जाती है और उसकी रक्षा की जाती है। इन सबसे बड़ी बात तो यह थी कि स्वातन्त्र्य-प्रेम और देशभक्तिके कारण उनका साहस अजेय था। निर्दोष रोम और उसकी स्वाधीनताके विषयमें बोसे लिखता है :--

"La liberte leur etait donc un tresor qu'ils preferoient a toutes les richesses de l'univers."

अर्थात् स्वाधीनता उनके लिये इतनी अनमोल थी कि वे विश्वकी सारी सम्पत्ति उसके सामने तुच्छ समझते थे। बोसे फिर लिखता है :—

"La maxime fondamentale de la republique etait de regarder la liberte comme une chose inseparable du nom Roman."

अर्थात् रोमन प्रजातन्त्रका मूलभूत सिद्धान्त यह था कि वह स्वाधीनताको रोमन शब्दसे अविच्छेद्य पदार्थ समझता था। देखिये, उसकी इस दृढ़भक्तिका क्या परिणाम हुआ—

"Voila de fruit glorieux de la patience Romaine. Des peuples qui s'enhardissaient et se fortifiaient par leurs malheurs avaient bien raison de croire qu'on sauvait tout pourvu qu' on pneerdit pas l'esperance."

रोमन दृढ़ताका चकित करनेवाला परिणाम देखिये। जो जाति अपने दुर्भाग्यके समय वीर और शक्तिशाली बन गयी उसका यह विश्वास बिलकुल ठीक था कि जबतक वह आशा न खो बैठेगी तबतक वह सब कुछ कर सकती है। और सुनिये—

"Parmi eux, dans les etats les plus tristes, jamais les faibles conseils n'ont ete seulement ecoutes."

गिरीसे गिरी दशामें भी उन लोगोंमें दुर्बलतासूचक विचार कभी नहीं सुने गये। प्राचीन स्वाधीनताके इस सुस्वर गुण-गानको पढ़कर हमारी स्वाधीनताकी इच्छा घटती नहीं, बल्कि हमारे अपूर्व इतिहाससे हमें जो सहज उत्तेजन मिलता है वह बढ़ता है और हमारे कानोंमें यह आवाज गूंजती है—"लड़ते जाओ और विजय प्राप्त करो; निकट भविष्यमें ही तुम्हारा कट्टर शत्रु लड़ाई हो चुकने और विजय प्राप्त कर चुकनेके बाद तुम्हारा उतनाही कट्टर प्रशंसक बन जायगा।"

(५)

हमने अटल सिद्धान्त निश्चित कर लिये हैं। व्यावहारिक परिस्थितियां क्षणिक और सदा बदलनेवाली होती हैं। यह बात निम्नलिखित अवतरणमें भली भांति वर्णन की गयी है—

"वर्तमानकालमें इतिहास और समाजविज्ञानकी बड़ी खोजके साथ उन्नति की गयी है और इन्होंने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि देश और कालके अनुसार सामाजिक नियम बदलते रहते हैं; ये सामाजिक नियम बदलते रहनेवाली कई घटनाओंके परिणाम हैं। इसलिये नैसर्गिक अधिकारोंपर जो शास्त्र लिखा जाय उसमें मनुष्यके नैतिक उद्देश्यको लेकर अटल सिद्धान्त ही निश्चित नहीं किये जाने चाहियें किन्तु साथ साथ उन अस्थायी परिस्थितियोंका भी वर्णन करना चाहिये जो इन सिद्धान्तोंको काममें लाते समय सामने आती हैं।" (डे उल्फकृत 'प्राचीन और नवीन भाष्यशास्त्र' खण्ड २, अध्याय २) यदि हम सिद्धान्तोंका व्यवहार कल करते हैं तो आजके नियम देखकर नहीं चलना चाहिये, किन्तु अचानक आजानेवाली उन परिस्थितियों-को देखना चाहिये जो इन्हें काममें लाते समय सामने आती हैं। यह बात सबके ध्यानमें जम जानी चाहिये। बीस साल पहले जो हालत थी आज वह बहुत बदल गयी है। यह देखकर हमें समझ लेना चाहिये कि भविष्यमें स्थिति बहुत बदल सकती है। बीस सालके छोटे अरसेमें बड़े बड़े परिवर्तन हो सकते हैं। १८४८ में आयर्लैंण्ड असफल क्रान्ति और सफल क्षुधा-कातरतासे चौपट हो चुका था। लोग निराशासे हर तरह-से दबे जा रहे थे। बीस साल बाद दूसरी बगावत संगठित की गयी और इसने आयर्लैंण्डमें अङ्गरेजी सरकारकी जड़ हिला दी। डेउल्फ एक स्थानपर लिखता है कि "समाज-शास्त्रका

व्यापक और विस्तृत अर्थ नैसर्गिक अधिकारोंके शास्त्रके ढंगों को बदल रहा है।" इस परिवर्तनकी दृष्टिसे वह मनुष्य बुद्धिमान है जिसकी दृष्टि भविष्यपर है। डेउल्फके उस अन्तिम वाक्यका अनुमोदन करना चाहिये जहां वह सम्मुख उपस्थित होनेवाली घटनाओंपर निष्पक्ष होकर विचार करनेको कहता है; और कहता है कि "प्रत्येक प्रश्नका विचार उसके गुण दोष देखकर करना चाहिये।" जो लोग आयर्लैण्डको ब्रिटिश साम्राज्यसे विच्छिन्न करनेके पक्षमें हैं उन्होंने ही ऐतिहासिक घटनाओंसे शिक्षा ग्रहण की है, उन्होंने सामयिक परिस्थितिको अस्थायी समझा है और भविष्यमें अचानक आजानेवाले संकटोंपर विचार किया है। जिन लोगोंने इस विषयपर समझौता किया है वे अपने समयकी परिस्थितिसे घबरा गये थे। किन्तु किसी जातिके हजारों वर्षके जीवनके इतिहासमें ब्रिटेनके अधीनता अस्थायी और अचानक आ पड़नेवाली घटना है; हमारा अखण्ड सिद्धान्त तो आयरिश जातिकी स्वतन्त्रता है।

त्रयोदश परिच्छेद

—०—

अन्तिम शब्द।

(१)

सिद्धान्तोंको सिद्ध करने और एतराजोंका जवाब देनेके बाद भी जो लोग हमसे अलग हैं—जिन लोगोंने दो देशोंके बीचमें पुलका काम दे रखा है उनसे अन्तिम निवेदन कर देना बाकी रह जाता है। वे लोग हमसे इसलिये अलग नहीं हैं कि वे भ्रममें हैं किन्तु वे अपने सिद्धान्तोंके दृढ़ भक्त हैं। वे सत्यके विषयमें सन्देहमें नहीं हैं किन्तु उसके रूपके विषयमें संदिग्ध हैं। ये वे साधारण आदमी नहीं हैं जिनके लिये मानवी नियम बनाये जाते हैं, जिन्हें विजयका नैतिक निश्चय हो जाना चाहिये या जो यह चाहते हैं कि जनता तुरत उनकी बातोंके सामने घुटने टेक दे। हमारे नेताओं और आश्रयहीन आशापर डटे हुए सैनिकोंकी यह विशेष महिमा है कि साधारण आदमियोंकी पराजयसे उन्हें आनेवाले संग्रामके लिये उत्तेजन मिला है। जब वे अपने समयके विचारोंके विरुद्ध खड़े हुए थे तो वे किसी उद्धतताके कारण नहीं बल्कि बहुधा इसलिये कि उनकी अन्तरात्मा उन्हें बतला देती थी कि सत्य यह है और लोग इसे भूल गये हैं। वे अपनी आत्माके तेजसे लोगोंको आगे बढ़नेका रास्ता दिखा गये हैं, उन्होंने बताया है कि भविष्यमें देश-

की छिपी हुई कीर्ति किस प्रकार उदय होगी। वे पहिलेसे ही जानते थे कि जनता अन्तमें हमारा सिद्धान्त मानेगी और बिना ऐसा किये वह आगे बढ़ भी नहीं सकती। वे समझते थे कि हम सत्यके लिये लड़ रहे हैं और इसे कोई शक्ति हरा नहीं सकती; और जब उन्हें लड़ाई-झगड़े, यंत्रणाएं तथा कष्ट सहन करने पड़े तो उन्हें इन बातोंसे उत्पन्न होनेवाला वह सूक्ष्म ज्ञान था जिसे संसारके बड़ेसे बड़े महात्मा ही प्राप्त करते हैं—अर्थात् जीवित रहना श्रेयस्कर है किन्तु धर्म-युद्धमें मरना भी उतना ही श्रेयस्कर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे जीवनको तुच्छ समझते थे या उसे यों ही गंवा देते थे; क्योंकि जीवनकी महत्ता उनसे अधिक किसीने न समझी; उनसे अधिक जीवनकी महिमा किसीने नहीं गायी; जीवन-संगीतका प्रवाह उनसे अधिक किसीकी नसोंमें नहीं दौड़ा। किन्तु वे उस महान् सत्यका मूल्य समझते थे जिसके न रहनेसे संसार उजड़ जाता है। वह सत्य यह है—जो मनुष्य मरनेसे डरता है वह जीवित रहनेका पात्र नहीं है। इस ज्ञानने संसारका सबसे बड़ा भय उनके हृदयसे निकाल दिया और जीवनमें महान् आनन्दका समावेश कर दिया। और जब वे घोर विपादके समय बड़ेसे बड़ा कष्ट सहनेको उद्यत हुए तो उन्होंने समझा, जीवनका सच्चा सुख यही है और यदि कभी उन्हें मृत्युका सामना करना पड़ा तो वे इससे घबराये नहीं। उन्हें सदा सहकारिता और प्रेमके उत्तम गुणोंका पूर्ण ज्ञान रहा। उनके सुख और सफलताका एक

रहस्य यह भी है कि वे जीवितावस्थामें मताधिकार प्राप्त करने और मरनेपर स्मारक बनानेकी इच्छा न रखकर देशका काम करनेके लिये पूरे तैयार रहते थे। अन्तमें जब जागृत जाति अपने सहज स्वभाव, संयम, देशभक्ति और उत्साहसे सेनामें परिणत हो जायगी और स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये कूच करेगी तो वह पूर्ण विजयके अवसरपर समझेगी कि यह सेना उनके द्वारा विजयी बनायी गयी है जिन्होंने जातीय विषादके समय आशा-की ज्योति जगा रखी थी।

(२)

सौभाग्यसे जब हम संसारके सबसे बड़े वक्ताके ओजस्वी भाषणकी ओर दृष्टि डालते हैं तो उसके भाषणके उस अंशको देखकर जिसमें उसने उनका गुणानुवाद गाया है जिनका संसार सबसे ज्यादा ऋणी है हमारा हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है। अपने सर्वोत्तम भाषणमें यूनानके प्रसिद्ध वक्ता डेमोस्थनीजने प्रत्येक युग और जातिके उन वीरोंका पक्ष प्रतिपादन किया है जो त्यक्त आशाको पकड़कर लड़ते रहते हैं। एसकाइनोज नामक उसके एक विपक्षीने आक्षेप किया कि डेमोस्थनीजने एथेन्सनि-वासियोंको ऐसी सम्मति दी कि उनकी हार हो गयी। इसका उत्तर डेमोस्थनीज यों देता है—"यदि देश परिणामको पहलेहीसे जानता तोभी वह अपना कार्य्यक्रम नहीं छोड़ता, यदि उसे अपनी कीर्ति, प्राचीनता अथवा भविष्यका कुछ भी ख्याल होता। हां,

इस समय वह अपने पराक्रममें असफल हो गया है। सफलता असफलता भगवानकी इच्छापर निर्भर है।" डेमोस्थनीज एथेन्स-निवासियोंसे प्रश्न करता है कि "जिस पदार्थको प्राप्त करनेके लिये हमारे पूर्वजोंने सब संकटोंका सामना किया यदि हम बिना उसके लिये युद्ध किये उसकी आशा ही छोड़ देते तो क्या हमपर सारा संसार नहीं थूकता ?" वह आगे कहता है कि उन परदेशियोंका विचार कीजिये जो तुम्हारे देशमें आते हैं, तुम्हारी इस गिरी हुई हालतको देखकर क्या कहते होंगे, "विशेषकर जब वे जानेंगे कि प्राचीन समयमें हमारे देशमें कीर्तिके लिये लड़े हुए संग्रामके सामने लज्जाजनक जीवनरक्षाको कभी ऊंचा स्थान नहीं मिला है।" और वह बड़े गर्वके साथ इस उच्च विचारपर पहुंचता है कि "कोई भी किसी समय हमारे राष्ट्रको शक्तिशाली और अन्यायी राजाकी सुरक्षित अधीनतामें नहीं रख सकता। हमारे राष्ट्रने सदा ही सम्मान और कीर्तिमें सबसे आगे बढ़नेके लिये भयंकर युद्धमें जूझनेका प्रयत्न किया है।" डेमोस्थनीजने थेमिष्टोक्लीजकी स्मृतिकी दुहाई देते हुए अपने देशवासियोंसे कहा है कि उन्होंने ऐसे वीर पूर्व-पुरुषोंका सदा सम्मान किया है। पुराने एथेन्सनिवासियोंने ऐसे वक्ता या सेनापतिको अपना पथप्रदर्शक नहीं समझा जो उन्हें सुखप्रद पराधीनताकी ओर ले जाय। यदि जीवन स्वतंत्रतामें नहीं बीत सका तो वे उसे तुच्छ समझते थे।" डेमोस्थनीज इस भाषणमें अपने श्रोताओंकी प्रशंसा करते हुए कहता है कि "मैं जिस बातकी घोषणा करता

हूं वह यह है कि यह सिद्धान्त आपके अपने हैं ; मैं दिखाता हूं कि हमसे पहली पीढ़ीमें राष्ट्रमें यही तेज विद्यमान था।" एक एक बातपर उसका तेज अधिकाधिक बढ़ता जाता है और अन्तमें वह अपने ऊपर कटाक्ष करनेके लिये एसकाइनीजको ललकारता है और जनतासे निवेदन करता है—"एथेन्सके निवासियो! राष्ट्रकी रक्षा और स्वतन्त्रताके लिये युद्ध करके तुमने कोई दोषका काम नहीं किया है: जिन तुम्हारे पूर्वपुरुषोंने मरेथोनके संकटका मुकाविला किया, जिन्होंने पलाटियामें शत्रुसे लोहा लिया, जिन्होंने सालमिसमें सामुद्रिक लड़ाई लड़ी, जिन्होंने आर्टीमिजियममें सर्वस्व होम दिया तथा जो वीर सार्वजनिक स्मारकोंके भीतर सोये हुए हैं उनकी शपथ खाकर मैं तुम्हें बताता हूं कि इन सबको देशने सम सम्मानके योग्य समझा। एसकाइनीज! हमारे पूर्वजोंने सफल और विजयी वीरोंका ही सम्मान नहीं किया।"

हमारे नेता ओनील, टोन, ओडोनेल और मीचलकी कीर्तिकी धाक जमानेके लिये इन ओजस्वी वाक्योंकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु इनके पढ़नेसे नयी स्फूर्ति आ जाती है और खून गरम हो जाता है। कैसे मर्मस्पर्शी वाक्य हैं! हम इनसे समझ जाते हैं कि यदि हममें तेज बना रहा तो हमारी वास्तविक विजय होगी। इस सत्याग्रही सिद्धान्तकी हमने और हमारे पूर्वजोंने प्रशंसा की है; यह बात मानवी हृदयका स्थायी सिद्धान्त है कि वह महान् कार्यकी प्रशंसा करे और शारीरिक पराजयसे

ऊपर उठे। इस दृष्टिसे हम उस शिलालेखका अर्थ समझते हैं जिसके विषयमें रस्किनने कहा है कि यह संसारका अद्वितीय शिलालेख है, जिसके विषयमें हिरोडोटसने कहा है कि यह स्पार्टके उन वीरोंकी कब्रपर खोदा गया है जो थर्मापोलीमें वीर गतिको प्राप्त हुए और जिसे मीचलके जीवनी-लेखकने मीचलकी जीवनीका बहुत उपयुक्त संक्षिप्त सारस्वरूप समझकर उद्धृत किया है। वह शिलालेख यह है—" हे बटोही! तुम लसीडिमोनियन लोगोंसे कहो कि उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके हम यहां पड़े हुए हैं।" मीचलकी जीवनीके लेखकने बहुत ही उचित कहा है कि इन वीरतापूर्ण पंक्तियोंका भीतरी अर्थ जो समझता है वह इनसे पराजयका नहीं किन्तु विजयका संदेशा पाता है।

३

अपने आदर्शरूप इन महात्माओंका उचित गुणानुवाद करते हुए हमें यह भी उचित है कि हम अपनेको इस महान् परम्पराके वारिस समझें। हमारे योग्य बात तो यह है कि जो झंडा हमारे हाथमें है हम उसकी शान ही लोगोंको न दिखावें किन्तु यह भी सिद्ध करें कि हम उसे फहरानेके योग्य हैं, क्योंकि उसकी विजय और उसका सम्मान इस बातपर निर्भर है कि हम उसकी महत्ता कहांतक समझते हैं; उसकी विजय इस विचारपर निर्भर है कि हमें सदा और सर्वत्र उसके लिए लड़ना चाहिये; उसकी

विजय इस ज्ञानपर भी निर्भर है कि न मालूम किस समय हम उसे फेंक देनेके लिये ललकारे जायं; वह इस विश्वासपर भी निर्भर है कि हम अपने व्यवहारसे उसकी कीर्ति और साख बढ़ा सकते हैं अथवा उसे बदनामीकी ओर खींच ले जा सकते हैं। मैं कहूंगा कि हमें यह बात भली भांति समझ रखनी चाहिये; क्योंकि आजकल प्राचीन समयके पुरुषोंकी प्रशंसा करना और उनकी स्वतंत्रताके आदर्शको न मानना फेसन बन गया है। हम, जो इस प्राचीन तेजसे ही जीवित हैं, जो इसका प्रचार करते हैं, इसके लिये लड़ते हैं और कहते हैं कि अन्तमें इसकी पूर्ण विजय होगी, नवजवान, मूर्ख और अव्यवहारी बताये जाते हैं। हम इसका क्या उत्तर देते हैं? हमारा उत्तर हमारे पक्ष, उसके इतिहास और उसके भविष्यके अनुकूल हैं जो हमारी हंसी उड़ाते हैं या हमारे ऊपर तरस खाते हैं उन्हें देखना चाहिये कि हम उनके पक्षको तुच्छ समझते हैं और घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। यदि हमारे चुनावसे उनमें कोई भ्रम न फैला हो तो वे हमारे कामोंसे जान सकते हैं कि झंडा न रहनेपर हम उच्चसे उच्च पदोंके लिये योग्यताके साथ खड़े हो सकते हैं।

× × × ×

हमें अपने पक्षको उन्नतिके साथ साथ महान् बनना हैं। क्या हम नीचतासे क्षमा-याचना करके इस झंडेका आदर कर सकते हैं? कदापि नहीं। जहां कहीं यह गिरा हुआ होगा हम इसे उठायंगे, जहां कहीं इसे ललकारा जायगा हम इसे और ऊंचा

फहरायेंगे, जहां कहीं यह गाडा हुआ होगा हम इसका अभिवादन करेंगे, जहां कहीं यह विजयी होगा हम इसकी कीर्ति गायंगे और आनन्द मनायेंगे। हम सदैव इसके नामपर गर्व करेंगे, उत्साह दिखलायेंगे, प्रयत्न करते रहेंगे, आनन्द मनायेंगे और दूसरोंकी आज्ञाका उल्लंघन करेंगे। हम इसके लिये सुप्त स्मृतियोंको जागृत करेंगे, बुझती हुई आगमें फिर घी डालेंगे, जनताके सत्य विचारोंको पुनर्जीवित करेंगे। इस प्रकार सबमें पुराना तेज भर देंगे-वह तेज भर देंगे जो कभी हार स्वीकार नहीं करता, जिसको महिमाका बखान हजारों बार कर चुके हैं, जिसे आयरिश देशभक्त एमेटने एक पंक्तिके भीतर अति सुन्दर रूपसे व्यक्त किया है। वह लिखता है-"जब मेरा देश संसारके राष्ट्रोंमें अपना उचित स्थान ग्रहण करे तब मेरी कब्रपर कुछ लिखा जाना चाहिये, अन्यथा नहीं। उसने 'यदि' नहीं कहा किन्तु 'जब' कहा। इसका मतलब यह है कि यह बात अनिश्चित नहीं किन्तु निश्चित है। प्रत्येक युगमें ऐसे आदमी पैदा हुए हैं और आज भी वर्तमान हैं जिनकी समझ मोटी और हृदय निष्ठुर होनेसे वे इस बातपर विश्वास नहीं करते, किन्तु हम इसपर विश्वास करते हैं, हम इसके सहारे जीवित हैं और इसे भली भांति समझते हैं। हम इसे ठीक एमेटकी भांति समझते हैं और भविष्य हमारी यह बात सिद्ध कर देगा। जब इतिहास-लेखक कार्य सिद्ध हो चुकनेपर इतिहास लिखेगा तो उसे हमारी सफलतापर आश्चर्य नहीं

होगा। उसे तो इस बातपर आश्चर्यचकित होना पड़ेगा कि हमारी आत्मा सदा दृढ़ बनी रही हमने निर्दोष यूनान और रोमके समयके उत्तम गुणोंसे टक्कर ली, हम आपत्तियों, यंत्रणाओं और अत्याचारको सहकर भी डटे रहे, नीचभावपूर्ण समयमें हम किसीके फुसलावेमें नहीं आये, यह सब झेलते हुए हम अपना उद्देश्य स्पष्ट रूपसे देखते रहे। इतिहास-लेखक यह सब बातें लिखेगा और आश्चर्यमें पड़कर गर्व और आनन्दके साथ उस लक्ष्यको देखेगा जिसे अदम्य उत्साहने प्राप्त किया है। इस लक्ष्यके विषयमें वह लिखेगा :—

"स्वाधीनता अनिवार्य थी।"

इन दो शब्दोंमें उस जातिका सारा इतिहास आ जायगा जो संसारके इतिहासमें अपना सानी नहीं रखती।

॥ इति ॥

मालव–मयूर

राजस्थान (मध्यभारत और राजपूताना) का सचित्र मासिक पत्र, आकार बड़ा; पृष्ठ-संख्या ४०; मूल्य ३॥ वार्षिक ।

सम्पादक

पं० हरिभाऊ उपाध्याय, महात्मा गांधीके "हिन्दी-नवजीवन"के उपसम्पादक ।

मयूरका जीवन-कार्य

असत्य, अन्याय और अत्याचारका निर्भयता, शान्ति और विनय-पूर्वक विरोध करना तथा राजस्थानकी आन्तरिक शक्तिको जागृत और विकसित करना ।

मयूरकी विशेषतायें

१. सत्य, शान्ति और प्रेम इसके जीवनका धर्म है ।

२. यह विश्व-बंधुत्वका प्रेमी, राष्ट्रीय धर्मका उपासक और भारतीयताका अभिमानी है ।

३. यह विवेक-पूर्वक प्राचीनताकी रक्षा करता है और नवीनताका स्वागत।

४. देशी-राज्योंको यह ममत्वकी दृष्टिसे देखता है ।

५. विज्ञापनबाजीके अनर्थसे समाजको बचानेके लिये इसमें विज्ञापन नहीं लिये जाते । सिर्फ लोकोपयोगी विज्ञापन मुफ्त छाप दिये जाते हैं ।

६. ललित कलाओंके नामपर विषय-विलास-प्रेरक समर्गीका प्रचार करनेकी प्रवृत्तिका यह विरोधी है ।

७. छपाई, कागज तथा पोस्टेजके अलावा किसी किस्मका खर्च इसपर नहीं लगाया जाता है ।

नोट—सस्ता-साहित्य-मंडलकी उन्नतिके सम्बन्धमें तथा कौन कौनसी पुस्तकें निकलीं और निकल रही हैं आदि सब बातोंका उल्लेख इस पत्रमें विशेष रूपसे रहता है ।

कुछ सम्मतियोंका सार

पू० पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी—"मालव-मयूर" बहुत अच्छा निकला। छपाई और कागज उत्तम है। भाषा और विषय-योजना भी ठीक है।

सरदार माधवराव विनायक किबे—मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि यह एक उच्च कोटिका मासिक-पत्र है।

सर्वेन्ट आव् इंडिया—......ने एक महत्वपूर्ण पत्रको वृद्धि की है। इस मासिक-पत्रका सम्पादन वे विशेष योग्यता और पूरी जिम्मेवारीके साथ करते हैं, जो कि हमें महात्मा गांधीकी प्रत्यक्ष देख-भालमें तालीम पाये सज्जनोंमें दिखाई देती है।

प्रताप—"मालव-मयूर" में मौलिकता और सात्विकता है। अधिक विचार और विवेकके साथ चुनी हुई बहुतसी टिप्पणियां इसमें रहती हैं। हमें विश्वास है कि "मयूर" का मीठा और सात्विक ढंग अपना रंग अवश्य लावेगा और उससे म० भा० और रा० पू० के लोगोंकी अत्यन्त निर्बल और निर्जीव आत्माको बल मिलेगा।

मतवाला—सभी संख्यायें एकसे एक बढ़कर हैं। कवितायें और लेख बड़े ही सुन्दर, सरस और निर्दोष होते हैं। संपादकीय अंश अत्यन्त प्रशंसनीय होता है। अधिक पृष्ठ-संख्या वाले पत्र 'मयूर' से शिक्षा ग्रहण करें।

जयाजी प्रताप—लेख उच्च कोटिके हैं। उनपर दृष्टि रखते हुए अगला नंबर पिछलेसे बढा चढा मालूम होता है।...की टिप्पणियोंमें sense of proportion और sense of responsibility होती है, जिसकी इस समयके बहुतसे संपादकोंमें कमी नजर आती है।

कविकौमुदी—इसके सम्पादक हिन्दीके अच्छे और विचारशील लेखकोंमें हैं। संपादकीय नोटोंमें, उनकी स्पष्ट-वादिता, निर्भीकता और उत्तम विचारशैली देखकर चित्त प्रसन्न होता है।

पता—मालव-मयूर, अजमेर,
(राजपूताना)

(१) वार्षिक ग्राहक—चूँकि प्रत्येक पुस्तक वी० पी० से भेजनेमें पोस्टेज-के अलावा ।) प्रति पुस्तक वी० पी० खर्च ग्राहकोंको अधिक लग जाता है अतएव यह सोचा गया है कि वार्षिक ग्राहकोंसे प्रति वर्ष ४) पेशगी लिया जाय अर्थात् तीन रुपया १६०० पृष्ठोंकी पुस्तकोंका मूल्य और १) डाक खर्च। वार्षिक ग्राहक जिस वर्षके ग्राहक बनेंगे उस वर्षकी सब प्रकाशित पुस्तकें उन्हें लेनी होंगी।

(२) जो सज्जन ॥) प्रवेश फीस देंगे उनका नाम भी स्थाई ग्राहकोंमें सदाके लिये लिख लिया जायगा और ज्यों ज्यों पुस्तकें निकलती जावेंगी वैसे वैसे पुस्तकका लागत मूल्य और पोस्टेज खर्च जोड़कर वी० पी० से भेज दी जावेंगी।

नोट—इस तरह प्रत्येक पुस्तक वी० पी० से भेजनेमें वर्ष भरमें कोई ढाई रुपया पोस्टेजका खर्च ग्राहकोंको लग जायगा।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें।

क्योंकि इससे आप बार बार वी० पी० छुड़ानेके झंझटसे बच जावेंगे और पोस्टेजमें भी आपको बहुत ही किफायत रहेगी। और स्थाई ग्राहक फीसके आठ आने भी आपसे नहीं लिये जावेंगे।

द्वितीय श्रेणीके स्थाई ग्राहक

(१) जो सज्जन मालासे निकलनेवाली सब पुस्तकें न लेना चाहें, अपने मनकी पुस्तकें लेना चाहें वे ऊपर लिखे नं० २ के प्रवेश फीस वाले ग्राहक हो सकते हैं। पर उन्हें वर्षभरमें कमसे कम २) मूल्यकी पुस्तकें जिस मालाके वे ग्राहक बनें उस मालाकी लेनी होंगी।

नोट—आप जिस मालाके जिस श्रेणीके वार्षिक या प्रवेश फीस वाले ग्राहक बनना चाहें खूब स्पष्ट लिखें। दोनों मालाओंके बनना चाहें तो वैसा लिखें।

सस्ती साहित्य मालासे प्रकाशित पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

(१) द० आफ्रिकाका सत्याग्रह (म० गांधी) पृष्ठ २७२ मूल्य ॥।) (२) शिवाजीकी योग्यता-पृष्ठ १३२ मूल्य ।≤) (३) दिव्य जीवन पृष्ठ १३६ मूल्य ।=) (४) भारतके स्त्री रत्न-पृष्ठ ४०२ मूल्य १=) (५) व्यावहारिक सभ्यता-पृष्ठ १०८ मूल्य ।)॥ (६) आत्मोपदेश पृष्ठ ११२ मूल्य ।-)

सस्ती प्रकीर्णक पुस्तक मालासे प्रकाशित पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

(१) कर्मयोग-पृष्ठ १५२ मूल्य ।=) (२) सीताजीकी अग्नि-परीक्षा-पृष्ठ १२४ मूल्य ।-) (३) कन्या शिक्षा-पृष्ठ ९६ मूल्य ।) (४) यथार्थ आदर्श जीवन-पृष्ठ २६४ मूल्य ॥-) (५) स्वाधीनताके सिद्धान्त (टेरेन्स मेक्सविनी) पृष्ठ २०८ मूल्य ॥)

☞ स्थाई ग्राहकोंसे पिछले पृष्ठपर दिये हुए "पुस्तकोंका मूल्य" इसके अनुसार ही मूल्य लिया जायगा।

—सस्ता साहित्य प्रकाशक मंडल, अजमेर

स्वामीजी का बलिदान

और

हमारा कर्त्तव्य



वर्ष १] सस्ती-प्रकीर्ण-माला [पुस्तक ८

स्वामीजी का बलिदान

और

हमारा कर्तव्य



लेखक

पं० हरिभाऊ उपाध्याय



प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल

अजमेर



प्रकाशक—
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नम्बर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अर्घ्य

वीरों की गति जीना और सिखाया मरना ।
धीरों की मति सिखा नये संकट से लड़ना ।।
दीनों के हित सबल बाहु सत्वर फैलाना ।
सेवा के हित तन मन, धन बलि-दान चढ़ाना ।।

हे गुरुकुल के गुरो ! बलि-स्मृति अमर स्फूर्ति तव कर्म्य है ।
हे श्रद्धा के पुत्र ! व्यथा का यह श्रद्धायुत अर्घ्य है ।।

हरिभाऊ उपाध्याय

खादी आश्रम
अमरसर.
श्रद्धानन्द दिन

आवश्यक वक्तव्य

उपाध्यायजी की यह पुस्तक पाठकों के हाथों में ऐसे समय पहुँच रही है जब कि उसकी बहुत आवश्यकता है। यह कहना कठिन है कि उनके सभी विचारों से पाठक सोलहों आना सहमत होंगे परन्तु यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि इसमें पाठकों को काफ़ी विचार-सामग्री मिलेगी।

अब्दुलरशीद ने पुलिस की तहक़ीक़ात में स्वामीजी का ख़ून करना स्वीकार किया था। इस कारण लेखक ने और सब लोगों की तरह इस पुस्तक में उसे स्वामीजी का ख़ूनी मान कर अपने विचारों की स्थापना की है। परन्तु कानून की परिभाषा में कोई अभियुक्त तब तक अपराधी करार नहीं दिया जा सकता जब तक कि न्यायालय उसे अपराधी करार न दे दे। ऐसी अवस्था में पाठक तब तक इस पुस्तक में अब्दुलरशीद को अपराधी नहीं, अभियुक्त समझें।

प्रकाशक

विषय	पृष्ठ
लड़ाई की तैयारियाँ	३९
जेल से छूटने पर महात्माजी की कोशिशें ...	४०
४—तबलीग-तनजीम और शुद्धि-संगठन	
जातीय आन्दोलनों का कुफल	४१
हिन्दुओं को लाभ	४२
कई सवाल	४३
उन पर विचार...	४४
जातीय आन्दोलनों का मूल राजनैतिक ...	४५
पारस्परिक भय और महात्माजी का आश्वासन	४६
ताकत की आजमाइश का सवाल	४८
मत-बल और लाठी-बल	४९
लोकमान्य और महात्माजी का मार्ग ...	५०
लोकमान्य ने भूल की	५१
धर्म और जाति	५२
शुद्धि-तबलीग का अर्थ और स्वरूप ...	५५
मेरा धर्म अच्छा, तेरा बुरा	५५
दूसरे को अपने मजहब में क्यों लाना चाहते हैं ?	५६
धर्म क्या है ?	५७
ईश्वर एक है	५८
धर्म-पन्थ और उनमें साम्य	५९
सच्चा धार्मिक क्या करेगा ?	६०
धार्मिक शुद्धि क्या है ?	६२
कोई धर्मान्तर क्यों करता है ?	६४

विषय	पृष्ठ
धर्म के नाम पर शुद्धि-तबलीग से हानियाँ ...	६५
धर्मान्तर की राजनैतिक आवश्यकतायें हैं ? ...	६७
हिन्दू-जाति रसातल को जा रही है... ...	६८
क्या प्रतिकार भी न करें ?	७०
हिन्दुत्व और स्वराज्य	७१
दंगों से मुसलमानों का नुकसान	७३
संगठन-तनजीम पर विचार	७४
बुद्धि कहती है—बुरा हुआ, श्रद्धा कहती है—अच्छा होगा	७६
५—फूट का मूल और एकता का स्वरूप	
हृदय-भेद की मीमांसा	७८
सांस्कृतिक भेदाभेद	८०
संस्कृति क्या चीज है ?	८२
स्वभाव-भिन्नता	८३
मुस्लिम-संस्कृति पर महात्माजी का प्रभाव ...	८६
हिन्दू क्या सहायता दें ?	८८
पहले कुरान-सुधार या सुधारक का जन्म ...	८८
नेता और सुधारक	८९
संस्कृतियों का आदर्श और मेल	९१
दो प्रकार की एकता	९२
६—एकता के साधन और कठिनाइयाँ	
सांस्कृतिक एकता	९४
यही रास्ता है	९६

विषय				पृ
हिन्दुस्तानी संस्कृति	...	...	...	९७
राजनैतिक एकता	...	...	...	९८
कठिनाइयाँ ...	...	...	...	१००
७—स्वामीजी का खून और हमारा कर्त्तव्य				
दिल का उफान	...	...	...	११३
हिन्दुओं का कर्त्तव्य	...	...	...	११८
संगठन जारी रहे	...	...	...	१२१
हिन्दुओं, सावधान !	...	...	...	१२२
मुसलमानों का फ़र्ज़	...	...	...	१२४
सरकार का कर्त्तव्य	...	...	...	१२६
राष्ट्रीय विचारवालों का कर्त्तव्य		...	...	१२६
अन्य हिन्दुस्तानियों का कर्त्तव्य		...	...	१२७
उपसंहार ...	...	...	...	१२८

लागत का ब्योरा

कागज़	६६)
छपाई	१०२)
बाइंडिंग	१२)
चित्र	६)
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	९०)
	२७६)

कुल प्रतियाँ ११००

लागत मूल्य प्रति पुस्तक ।)

स्वामीजी का बलिदान

और

हमारा कर्तव्य

अर्थात्

हिन्दू-मुस्लिम-समस्या



१—प्रास्ताविक

स्वामीजी का ख़ून—

पू० स्वामी श्रद्धानन्दजी के ख़ून ने सारे देश में खलबली मचा दी है। हिन्दू जोश में हैं और मुसलमान चक्कर में पड़ गये हैं। इसके परिणाम के विषय में तरह तरह के अनुमान बँध रहे हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों पर इसका तात्कालिक असर जुदा जुदा हुआ है। हिन्दुओं का एक दल इस बलिदान पर मुग्ध है, ख़ुश है, अब्दुल रशीद को धन्यवाद और स्वामीजी के उत्तराधिकारियों को बधाइयाँ दे रहा है; दूसरा दल दुखी है—जाहिरा में भले ही दबी ज़बान से ख़ुशी में शामिल हो जाता हो। एक वर्ग

विषय	पृष्ठ
हिन्दुस्तानी संस्कृति	९७
राजनैतिक एकता	९८
कठिनाइयाँ	१००
७—स्वामीजी का खून और हमारा कर्त्तव्य	
दिल का उफान	११६
हिन्दुओं का कर्त्तव्य	११८
संगठन जारी रहे	१२१
हिन्दुओं, सावधान !	१२२
मुसलमानों का फ़र्ज़	१२४
सरकार का कर्त्तव्य	१२६
राष्ट्रीय विचारवालों का कर्त्तव्य	१२६
अन्य हिन्दुस्तानियों का कर्त्तव्य	१२७
उपसंहार	१२८

लागत का ब्योरा

कागज़	६६)
छपाई	१०२)
बाइंडिंग	१२)
चित्र	६)
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	९०)
	२७६)

कुल प्रतियाँ ११००

लागत मूल्य प्रति पुस्तक ।)

स्वामीजी का बलिदान

और

हमारा कर्तव्य

अर्थात्

हिन्दू-मुस्लिम-समस्या



१—प्रास्ताविक

स्वामीजी का खून—

पू० स्वामी श्रद्धानन्दजी के खून ने सारे देश में खलबली मचा दी है। हिन्दू जोश में हैं और मुसलमान चक्कर में पड़ गये हैं। इसके परिणाम के विषय में तरह तरह के अनुमान बँध रहे हैं। हिन्दुओं और मुसल्मानों पर इसका तात्कालिक असर जुदा जुदा हुआ है। हिन्दुओं का एक दल इस बलिदान पर मुग्ध है, खुश है, अब्दुल रशीद को धन्यवाद और स्वामीजी के उत्तराधिकारियों को बधाइयाँ दे रहा है; दूसरा दल दुखी है—जाहिरा में भले ही दबी जबान से खुशी में शामिल हो जाता हो। एक वर्ग

इसका उपयोग हिन्दू-मुस्लिम एकता को मज़बूत और वास्तविक करने में करना चाहता है और दूसरा हिन्दुओं की ताक़त बढ़ा लेने, शुद्धि-संगठन का ज़ोरों से प्रचार करने तथा आर्य-समाज के मतों को फैलाने में। कुछ बिगड़े-दिल ऐसे भी सुने जाते हैं जो स्वामीजी के ख़ून के बदले किसी मुसलमान का ख़ून करना उचित समझते हैं और, इस तरह अपने ख़याल के अनुसार दुनिया को दिखा देना चाहते हैं कि मुसलमान बिगड़े-दिलों का मुक़ाबला हम इस तरह भी कर सकते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हिन्दू-मुस्लिम-एकता की मौक़ा-बे-मौक़ा दुहाई तो देते हैं; पर दिल में, और दिल से, चाहते हैं और उत्सुक हैं कि कब मुसलमानों का नामोनिशान हिन्दुस्तान से मिट जाय। उन्हें इस घटना से मुसलमानों के ख़िलाफ़ ज़हर उगलने और हिन्दू-मुसलमानों में फूट बढ़ाने का पूरा-पूरा मौक़ा मिल गया है। इसी तरह मुसलमानों में भी जो राष्ट्रीय विचार के या धर्म के मामलों में उदार ख़याल के लोग हैं, उन्होंने अब्दुल रशीद की इस काली करतूत को बुरा कहा है और कहा है कि इसने इस्लाम को नुक़सान पहुँचाया है। उन्हें उसकी इस हरकत पर अफ़सोस है। दूसरे दल के लोग 'ग़ाज़ी' कह कर ख़ूनी का गौरव बढ़ा रहे हैं और मानते हैं कि उसने खुदा का या पैग़म्बर साहब का हुक्म पूरा करके इस्लाम की भारी ख़िदमत की है। जो लोग हिन्दुस्तान में मुसलमानों का राज्य क़ायम करने के सपने देखा करते हैं और हिन्दुओं को उसका काँटा समझ रहे हैं, वे मुसलमानों में ख़ब जोश फैलाने, मुसलमानों की तादाद बढ़ाने और हिन्दुओं को

कमज़ोर कर डालने के मनसूबे बाँध रहे हैं। हिन्दुस्तानी ईसाई लोग आमतौर पर इस काण्ड की निन्दा करते हुए पाये जाते हैं। अँगरेज़ राज-कर्मचारियों में सुख और दुःख दोनों तरह के भाव दिखाई देते हैं। अंगरेज़ी सरकार संभव है, इस घटना से खुश होगी, अगर इसके बदौलत हिन्दू-मुस्लिम-एकता सदा के लिए असंभव वस्तु हो जाय।

एकता—कुदरत का धर्म है—

मगर सरकार को और उसकी तरह स्वार्थी तथा विघ्न-सन्तोषी हिन्दू-मुसलमानों को अन्त में निराश होना पड़ेगा; क्योंकि आज ऊपर-ऊपर चाहे हिन्दू-मुसलमानों में फूट की आग फैलती हुई दिखाई देती हो, स्वामीजी की हत्या चाहे उसमें घी का काम देती हुई नज़र आती हो, पर भीतर देखने वाले तुरन्त जान लेंगे कि इस में दोनों जातियों का मैल और बुराई भस्म हो रही है और एक दिन दोनों जातियाँ प्रेम, सद्भाव और एकता से मिल-जुल कर स्वराज्य की लड़ाई में अपना तन-मन-धन स्वाहा करने को तैयार हो जायँगी। क्योंकि, एकता कुदरत का धर्म है। कुदरत का हुक्म है कि मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र एकता से रहे। बारीक नज़र से देखेंगे तो हमें पता चलेगा कि जीव-मात्र एकता की ओर दौड़ता जा रहा है। विविधता, विरोध, प्रकृति का खेल है; और एकता, सामञ्जस्य प्रकृति के अंदर छिपा हुआ सत्य है। फिर हिन्दू और मुसलमान दोनों के स्वराज्य-वादी लोग, जिनकी संख्या, अपना अपना राज्य क़ायम करने का पागल स्वप्न देखने

वाले हिन्दू-मुसलमानों से ज़रूर ज्यादह है, यह मानते हैं कि उन दोनों महान् जातियों के एक हुए बिना स्वराज्य नामुमकिन है, और स्वराज्य का तो वे बीड़ा ही उठाये बैठे हैं। अतएव उनकी कोशिशें जान में—अनजान में, मौक़ा-बे-मौक़ा, इसी दिशा में होंगी जो कभी न कभी अपना रंग लाये बिना न रहेंगी। जो हिन्दू-मुसलमान आज शुद्धि-संगठन या तनजीम-तबलीग़ के द्वारा अपनी अपनी जातियों को मज़बूत और बड़ी बनाना चाहते हैं, उनमें भी बहुतेरे लोग ऐसे हैं जो सच्चे दिल से एकता के हामी हैं और इन कामों के उसी हद तक समर्थक हैं जिस हद तक वे राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाते हों या उसमें बाधक न होते हों। अतएव मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि दोनों जातियों में बहुमत आज भी एकता चाहने वाला है—फिर भले ही आज उनसे उसके लिए उसी सरगर्मी से काम न हो रहा हो जो कि असहयोग के दिनों में उन्होंने दिखाई थी। दूसरे, धारा सभाओं के पिछले चुनाव में साम्प्रदायिकता या जातिगत स्वार्थों की दुहाई देने वाले देश-हितैषियों ने उसके दुष्परिणामों को—उससे फैलने वाली कटुता को, उभड़नेवाली नीच मनोवृत्तियों को, जो कि जाति और देश की स्थायी हानि है—अच्छी तरह देख लिया है और सफलता ने उनके गले में जैसी कि चाही गई थी, वरमाला नहीं डाली है। इधर, सुना है, स्वामीजी के उत्तराधिकारियों ने राष्ट्रीय महासभा को यह आश्वासन दिलाया है कि स्वामीजी महाराज के बलिदान के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य मज़बूत हो, यह हमारी भी कामना है। उधर मुस्लिम लीग के इसी वर्ष जल्से के सभापति

की वक्तृता भी अब की धर्मान्धता और कट्टरपन से बरी है। इन तथा और ऐसी ही बातों को सब तरह तौलते और विचारते हुए कोई भी मनुष्य बरबस इसी नतीजे पर पहुँचेगा कि इस अंधेरे में भी प्रकाश आ रहा है—एकता अपना ज़ोर भीतर ही भीतर ऐसा लगा रही है कि फूट उबल उबल कर, उफन उफन कर, बाहर निकल रही है—जिस तरह बुखार शरीर को नीरोग और दोष-रहित कर देने वाला कुदरत का साधन है, उससे अन्त में जीवनी शक्ति बढ़ती है—उसी तरह यह आज की कटुता, फूट, मनोमालिन्य कल की एकता की अवाई के घोषणा-पत्र हैं।

जो लोग इस रहस्य को जानते हैं और उसको देखने की आँखें जिन्हें हैं, जो किसी चीज़ को ऊपर ही ऊपर नहीं, भीतर भी, तह में भी, देख सकते हैं वे अक्सर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए पाये जाते हैं—ईश्वर जो करता है भला करता है, भले के लिए करता है। मांगल्य के इस सिद्धान्त पर श्रद्धा रखना ही ईश्वरश्रद्धा या आस्तिकता है। जब भारत के अधिकांश लोग मानते हैं कि एकता अच्छी चीज़ है, एकता हो, उसके बिना, स्वराज्य नहीं मिल सकता, जब अपनी अपनी शक्ति भर, अपने अपने ढंग से, वे मौक़ा-बे-मौक़ा उसके लिए कोशिश भी करते हैं, जब कि दुनिया का रुख़ विरोधों, संकुचितताओं को कम क्रम करके एकता और सन्मिलन बढ़ाने की ओर है, जब कि ईश्वर खुद, प्रकृति स्वयम्, अपने बन्दों को तथा अपनी रचना की विविधता और विरोध को एकता और मेल की तरफ़ खींच रहे हैं—तब हिन्दू-मुस्लिम-एकता में अविश्वास करना, या उससे

निराश होना ईश्वर से इन्कार करना है, अपनी और दुनिया की हालत को देखते हुए भी न देखना है, जानते हुए भी न जानना है।

हम कुदरत की सहायता क्यों न करें ?

कुदरत तो अपना काम कर ही रही है और करेगी ही; पर क्या हम अपनी तरफ़ से भी उस एकता को बढ़ाने, उसका वास्तविक रूप समझ लेने, उसका सच्चा और सरल रास्ता जान लेने, खतरों से अपने को बचाने और सावधान रहने का कुछ उद्योग न करें ? अपनी तरफ़ से भी कुदरत की सहायता न करें ?—ख़ास कर ऐसे अवसर पर, जब कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में विचारों, भावों और चर्चाओं का तूफ़ान सा आ रहा है, जब कि दोनों जातियों में एक ऐसा दल बन गया है, फिर वह कितना ही छोटा क्यों न हो, जो एक दूसरे को घृणा, अविश्वास और भय की दृष्टि से देखता है, जिसे एक दूसरे के कामों को बुरी और शक की ही नज़र से देखने की आदत पड़ गई है, जिसके धर्म, जाति, स्वराज्य, राष्ट्र और मानव-कर्तव्य-सम्बन्धी विचार सुलझे हुए नहीं हैं, और भी इस बात की ज्यादह ज़रूरत है और उसके लिए यही सब से अच्छा अवसर है, जब कि इन विषयों पर गहरा प्रकाश डाला जाय और लोगों के भ्रम, शंका, कुतर्क आदि का यथोचित निराकरण किया जाय। हम हिन्दुओं के लिए तो और भी ज्यादह ज़रूरत इस बात की है कि वे इस अवसर पर अपने कर्तव्य को ठीक ठीक समझ लें।

अपना अनधिकार—

मेरा ख़याल है कि मैंने हिन्दू-मुस्लिम-समस्या के प्रायः

प्रत्येक पहलू पर, अपने ढंग पर और अपने तौर पर बहुत कुछ विचार किया है और मेरे अपने कुछ मजबूत ख़याल इस विषय में बन गये हैं। स्वामी जी महाराज की हत्या के बाद स्वभावतः कुछ मित्रों से हत्या के परिणाम, देश का कर्तव्य, एकता का स्वरूप और साधन, हिन्दुओं का कर्तव्य आदि विषयों पर चर्चा हुई। उनसे कुछ भाइयों की उलझनें सुलझी हुई दिखाई दीं। उन्होंने आग्रह किया कि मैं इस अवसर पर अपने विचारों को ज्यों का त्यों जनता के सामने उपस्थित करूँ। मेरे दिल से भी आवाज़ उठी कि अब चुप साध कर बैठे रहना गुनाह है। मैं अपनी ओछी शक्तियाँ और अल्पज्ञान के साथ इस महान् और उलझे हुए विषय पर कलम चलाने का साहस कर रहा हूँ। अपनी अयोग्यता और अनधिकार के ख़याल से कलम संकोच और झिझक के साथ उठी है। आज़ादी, स्वराज्य, एकता और प्रेम के ईश्वरीय भाव मेरे सहायक होंगे।

पहले मनुष्य, पीछे हिन्दू—

मैं अपने को सब से पहले मनुष्य, फिर हिन्दुस्तानी, फिर हिन्दू, फिर ब्राह्मण मानता हूँ। मेरे नज़दीक इन चारों बातों में न तो किसी प्रकार की विसंगति है, न विरोध। मेरे विचार में हिन्दू-धर्म में मनुष्यत्व के पूर्ण विकास के लिए काफ़ी जगह है। इस लिए उसके मुक़ाबले में दूसरे मज़हब मुझे नहीं जँचते; पर मैं उनको उसी इज़्ज़त की निगाह से देखता हूँ, जिससे मैं चाहता हूँ कि वे मेरे धर्म को देखें। पूर्वोक्त विचारक्रम मेरी इसी विचार-

शैली और कार्य-नीति को प्रकट करता है कि मैं किस भाव और किस चीज को किसके मुकाबले में कितना महत्व देता हूँ फिर भी यह निबंध मैंने प्रधानतः हिन्दू की हैसियत से, प्रधानतः हिन्दुओं को ध्यान में रख कर, उन्हीं के लिए लिखने का प्रयत्न किया है। जल्दी में आवश्यक साहित्य-सामग्री, साधनों और योग्यता के अभाव में, इसका त्रुटि-युक्त और दोष-पूर्ण होना स्वाभाविक है। सम्भव है, इसमें कहीं जानकारी, आदि सम्बन्धी भूलें भी हों; पर जिन सिद्धान्तों और नीतियों की विवेचना इसमें की जाने वाली हैं, उनके सम्बन्ध में मेरे विचार अटल, निर्भ्रान्त और सिद्ध हैं, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। अपनी भूल और अनभिज्ञता को समझने और दूर करने के लिए पाठकों और आलोचकों को मैं हमेशा तैयार मिलूँगा।

२—हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न क्या है ?

हिन्दू और मुसलमान दुनिया की दो महान् जातियाँ हैं—हिन्दू बहुत प्राचीन जाति है—आदिम काल में उसका नाम आर्य था। महर्षि दयानन्द ने फिर इसी नाम को प्रचलित करना चाहा था। उनके मतावलम्बी आर्यसमाजी कहलाते हैं—अब भी 'आर्य' शब्द सारी हिन्दू-जाति ने अपने लिए ग्रहण नहीं किया है। हिन्दू-जाति में सिक्ख, जैन, बौद्ध, आर्य, और सनातनी, इन सभी संप्रदायों की गणना होती है। आर्य और सनातनी वेदों को अपना सब से बड़ा धर्मग्रन्थ मानते हैं, सिक्ख ग्रन्थसाहब को, जैन भगवतीसूत्र को, और बौद्ध धम्मपद को। आर्य दयानन्द को, सनातनी अवतारों को, सिक्ख नानक को, जैन महावीर को और बौद्ध गौतम बुद्ध को अपने प्रवर्तक या महान् पुरुष मानते हैं और उनके रचे ग्रन्थों और किए कार्यों को अपने लिए पथदर्शक मानते हैं। हिन्दू-धर्म-साहित्य में श्रीकृष्ण भगवान् की गीता एक ऐसी पुस्तक है, जिसे सब हिन्दू—और हिन्दू ही क्यों, संसार के सब धर्मों के विचारशील लोग—बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। मेरी राय में सारी हिन्दू-जाति का धर्मग्रन्थ यदि कोई हो सकता है तो वह है श्रीमद्भगवद्गीता—यह कहना शायद इस समय बहुत बड़ा साहस, और समय से बहुत पहले कही गई बात, होगी कि सारी दुनिया के मज़हबों का अथवा भावी विश्व-धर्म का कोई आधाररूप ग्रन्थ आज दुनिया में उपलब्ध है, तो वह है गीता।

हिन्दुओं की संख्या इस समय भारतवर्ष में कोई २१ करोड़ है। जापान, चीन, तिब्बत, ब्रह्मदेश आदि के बौद्धों की संख्या यदि जोड़ी जाय तो हिन्दू दुनिया में ७० करोड़ हो जाते हैं।

मुस्लिम-जाति—

इस्लाम का जन्म दुनिया के इतिहास में हुआ। हज़रत मुहम्मद इस्लाम के जन्मदाता और मुसलमानों के लिए ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। कुरान उनका सब से मान्य धर्म-ग्रन्थ है, जो कि पैगम्बर साहब के उपदेशों और आज्ञाओं का संग्रह है। इनमें कई फिरके हैं—पर सब कुरान और मुहम्मद साहब को एक सा मानते हैं! इनकी तादाद हिन्दुस्तान में ७ करोड़ और बाहर ४० करोड़ है। इस्लाम का जन्मस्थान अरब है।

मुसल्मानों का भारत पर हमला और धर्म-प्रचार—

जब मुसलमानों का आवागमन हिन्दुस्तान में शुरू हुआ तब यहाँ हिन्दू खूब फल-फूल रहे थे। भारत की सरसब्ज़ी ने ही मुसल्मान आक्रमणकारियों को इस देश में खींचा। सदियों तक मुसल्मानों का राज्य इस देश में रहा। हिन्दुओं से उनकी लड़ाइयाँ हुई। अँगरेज़ी राज होने तक हिन्दू-मुसलमानों की कई स्व त्र रियासतें यहाँ थीं। मुसल्मान राजाओं ने अपने मज़हब के लोगों की तादाद बढ़ाने के लिए हिन्दुओं पर बड़ा ज़ुल्म किया, उन्हें तलवार के बल जब्रन् क़लमा पढ़ाया। यह कड़वी स्मृति हिन्दू अब भी भुलाये नहीं भूल पाते।

हिन्दुओं और मुसलमानों का संबंध शुरू होता है आक्रमण-

कारी और प्रतिकारी के रूप में और उसका अन्त होता है एक देश के समान राजा और प्रजा के रूप में। मुसलमानों के आक्रमणों का मुख्य उद्देश होता था इस्लाम का फैलाव। इसका सब से बड़ा साधन और प्रमाण वे मानते थे दूसरी जातियों और मजहब के लोगों को इस्लाम की दीक्षा दे देना।

एकता की भावना और कोशिश—

जैसे जैसे मुसलमानों का प्रभाव हिन्दुस्तान में बढ़ता गया और वे यहीं जम कर रहने लगे तैसे तैसे हिन्दुओं और मुसलमानों के नेताओं के दिल में दोनों जातियों को एकता के सूत में बाँधने का ख़याल उठने लगा। यह कुदरती बात थी। इतने विशाल देश में, ऐसी दो प्रबल जातियों का परस्पर विरोधी बने रहना समाज-तत्व, मानव-स्वभाव और कुदरत के धर्म के खिलाफ़ था। नानक, अकबर, कबीर ने दोनों जातियों के समान गुणों के विकास और दोनों के धर्मों के परस्पर अनुकूल सिद्धान्तों के प्रचार पर ज़ोर देकर दोनों को एक दूसरे के नज़दीक लाने की कोशिश की; पर नानक के प्रयत्नों का अन्त सिक्ख-संप्रदाय के उदय में और कबीर की प्रवृत्ति का फल कबीर-पन्थ की सृष्टि के रूप में हुआ। अकबर का 'दीने इलाही' कली ही में मुरझा गया। पीछे औरंगज़ेब की धार्मिक क्रूरताओं ने हिन्दू-मुसल्मानों के द्वेष की जड़ को बहुत मज़बूत कर दिया, यह तक कि ऐसा भाव दृढ़ हो गया कि हिन्दू-मुसल्मान दोनों, मानों कुदरती तौर पर एक दूसरे के खिलाफ़ जन्मे हों।

करते हुए भी, क्यों इस नवागत मुस्लिम संस्कृति को पूरी तरह न अपना पाई ? क्यों वह अब तक मुसलमानों से दूर दूर रहती है ? ऐसा मालूम होता है कि इस्लाम प्रबल वेग और खूनी हथियारों को लेकर भारत में आया, और इसलिए शायद हिन्दू-संस्कृति उसे अपनाने से हिचकती रही, उसे शंका रहती रही कि उसे अपनाने के मोह और यत्न में कहीं मैं ही अपना अपनापन न खो बैठूं। शायद इसीलिए वह अपनेपन की रक्षा करती हुई बैठ रही—मुस्लिम संस्कृति से समझौता करना उसे महँगा सौदा मालूम हुआ ! उसका यह सन्देह या सावधानता उसके इस्लाम, मुस्लिम-जाति और संस्कृति संबंधी अपने विरोध का प्रतिकारक या असहयोगात्मक अथवा बहिष्कारात्मक विधि-निषेधों की कैफ़ियत देती है। मुसलमान राजाओं ने अपनी ओर से हिन्दुओं की लड़कियाँ लेने, उनसे खान-पान का संबंध बढ़ाने अर्थात् सामाजिक संबंध जोड़ने की कोशिशें कीं; पर हिन्दुओं ने उनका प्रतिकार ही किया, क्योंकि मुसलमान इस संबंध के द्वारा हिन्दू-भारत को मुस्लिम-भारत बनाने की जितनी महत्वाकांक्षा रखते थे, उतनी शायद, दोनों संस्कृतियों के मिलाप और उससे दोनों जातियों के अस्तित्व को न हिलाते हुए एक सामान्य संस्कृति निर्माण करने की अकांक्षा न रखते थे। मुसलमानों की इसी आक्रामक प्रवृत्ति का जवाब था हिन्दुओं की असहयोगात्मक प्रवृत्ति। हिन्दू भी इतने उदार चेता तो शायद न रहे हों कि जान-बूझ कर, दोनों संस्कृतियों के मिलाप के भाव से प्रेरित होकर, अपनी संस्कृति में आवश्यक संशोधन या परिवर्तन करें। जो हो;

यह निर्विवाद है कि मनुष्य के हृदय में प्रायः अज्ञात-रूप से बसने वाली समाजशीलता—मिल कर रहने की इच्छा—ने अपना काम किया ही—कुदरत ने अपना धर्म निबाहा ही—जिसके फल स्वरूप आज हिन्दू और मुसल्मान दोनों एकता का ख़याल मन में ला और जमा सके हैं, पिछले पाँच-सात बरसों में उसके लिए दिलो जान से कोशिशें हुई हैं और आज भी कुदरत उन्हें कड़वी घूंटें पिला पिलाकर, ठोकरों और थपेड़ों से सीधा करती हुई उसी ओर ले जाने की चेष्टा कर रही है।

फूट में अँगरेज़ी राज का हिस्सा—

भारतीय इतिहास के मुसल्मान-काल में हिन्दू और मुसल्मान, दोनों अपनी रक्षा और एक-दूसरे का विरोध करने में हर तरह आज़ाद थे। इन से दोनों अपने मनोभावों के अनुसार अपनी शूरवीरता का उपयोग कर पाते थे। फलतः उस समय उन्हें एक दूसरे से इतना भय, एक दूसरे पर इतना अविश्वास, संशय न था जितना कि आज, अँगरेज़ी राज्याधीन भारत में, देखा जाता है। डर, अविश्वास, संशय, गुलामी के चिह्न हैं, कमज़ोरी के सबूत हैं। अँगरेज़ों ने हिन्दुस्तान को आपस की—हिन्दू-हिंदुओं की और हिन्दू-मुसल्मानों की—फूट से भरा पाया। उसको जिस तरह बन पड़े क़ायम रखना सहज ही उनके साम्राज्य को कायम रखने और पनपाने का मूलमंत्र हो गया। उनके धार्मिक बातों में उदासीनता रखने के औदार्य के ढोंगने, हिन्दू और मुसल्मानों को छोटी-छोटी सामाजिक या व्यावहारिक बातों को धर्म का उच्च स्वरूप दे देकर, उनके लिए अख़बारों में, सभाओं

में तू तू-मैं मैं करने का, चुपके चुपके एक-दूसरे के ख़िलाफ़ ज़हर फैलाने का, और कहीं कहीं दंगे-फ़साद, खून-ख़राबी कर बैठने का रास्ता खुला कर दिया। जब तक, जहाँ तक और जिस तरह उसके स्वार्थ की पूर्ति होती है, वह इन रास्तों में उन्हें बामिजाज़ चलने देती है; कुछ लोग तो उस पर यह भी इल्ज़ाम लगाते हैं कि वह ऐसे झगड़े और मनमुटाव पैदा भी कराती है और इन में एकता होने के मौक़ों को नज़दीक नहीं आने देती। कभी एक दल को, कभी दूसरे को पुचकार कर वह दोनों में अनुचित और बुरी स्पर्द्धा और उसके फल स्वरूप द्वेष की आग सुलगाती रहती है; और छोटी बुद्धि, छोटे भाव, ओछे विचार और गंदा स्वार्थ रखने वाले हिन्दू-मुसलमान उसके शिकार हो कर दोनों की गुलामी को मज़बूत बना रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मुसलमान-काल की अपेक्षा इस अँगरेज़ी-काल में हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न ज़्यादह जटिल हो गया है और दोनों की गुलामी न उस उलझन को अच्छी तरह समझने देती है, न समझने के बाद उसे सुलझाने के राजमार्ग पर चलने ही देती है। यद्यपि मुसलमान-काल से आज एकता की आवश्यकता अधिक स्पष्ट और निश्चित हो गई है, तथापि उसके साधन, उसकी स्वतंत्रता पहले से बहुत कम, बहुत विवादास्पद और इसीलिए उसकी सफलता बहुत श्रमसाध्य हो गई है, एवं उसके लिये बहुत सावधानी, दूरदर्शिता, व्यवहार-चतुरता, धीरज, सहिष्णुता और दानाई की ज़रूरत है।

एकता-स्वराज्य का प्रश्न—

अँगरेज़ी राज्य और पश्चिमी शिक्षा की एक देन भारतवर्ष

को अवश्य माननी चाहिए। वह है विदेशों के और विदेशी शासनादर्शों के तथा शासन-व्यवस्थाओं के अध्ययन का अवसर भारतवासियों को मिलना। इससे उन्हें राष्ट्रीयता, स्व-शासन, स्वतंत्रता, स्वराज्य, प्रातिनिधिक शासन-व्यवस्था, आदि की व्यापक और सार्वदेशीय कल्पना और धारणा मिली, या दृढ़ अथवा विकसित हुई। इसके प्रकाश में भारतवासियों ने स्वराज्य के आदर्श को पहचाना और उसके लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपने पूर्ण, वास्तविक और आवश्यक रूप में देखा। अतएव मुसलमान-काल में चाहे हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न, संस्कृतियों के आदान-प्रदान का प्रश्न रहा हो, सामाजिक सुविधा-असुविधा का प्रश्न रहा हो; आज वह स्वराज्य का, स्वाधीनता का महाप्रश्न हो बैठा है। जिसने हिन्दू-मुसलमानों के इस प्रश्न को नहीं समझा, उसने न तो स्वराज्य को समझा है और न हिन्दुओं के वर्तमान और भविष्य को ही पहचाना है।

३—एकता के वर्तमान प्रयत्न

जातिगत संस्थायें और जातिगत भाव—

अँगरेज़ों के राज्य की भारत में स्थापना और बढ़ती के साथ ही साथ हिन्दू-मुसलमान में परस्पर भय, अविश्वास, संशय के भाव बढ़ते गये। जहाँ भारत के विशाल-दृष्टि नेताओं ने स्वराज्य के आदर्श को पहचाना, राष्ट्रीय एकता के मूल्य को समझा, राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की, तहाँ दोनों जातियों के छोटे-छोटे और तंग ख़याल के अथवा अपनी अपनी जातियों की सुरक्षा के लिए अधिक चिन्तित और शंकित नेताओं ने कुछ तो पुरानी दुश्मनी की स्मृति से, कुछ भावी स्वराज्य में अपनी अपनी जातियों की स्थिति की संदिग्ध कल्पना से, बेचैन हो, कुछ अपने अपने समाजों की बुराइयाँ दूर करने के भाव से प्रेरित हो, अपनी अपनी जातीय या साम्प्रदायिक संस्थायें खड़ी कीं। मुस्लिम लीग, हिन्दू-महासभा, अलीगढ़ का मुस्लिम विश्वविद्यालय और काशी का हिन्दू-विश्वविद्यालय, इसके मूर्तस्वरूप और शायद एक हद तक एक दूसरे की प्रवृत्तियों के जवाब-रूप हैं। जहाँ तक मेरा ख़याल है, इन दोनों संस्थाओं की प्रवृत्ति आरंभ में समाज-सुधार, शिक्षा-प्रचार-मूलक ही थीं। राजनैतिक अधिकार या महत्वाकांक्षायें उस समय चाहे बीज-रूप में भले रही हों। संभव है, यह सत्य हो कि पहले मुसलमानों ने अपनी अलग खिचड़ी पकानी शुरू

की हो और उसमें जागृत या सावधान होकर हिन्दुओं ने अपनी भी अलग खिचड़ी पकाना शुरू किया हो।

लखनऊ का समझौता—मुसलमानों का डर—

लखनऊ कांग्रेस तक मुसलमान राष्ट्रीय महासभा से अलग रहते थे। सारे भारत की तरफ़ से स्वराज्य की माँग का मसविदा पेश करने का समय आया। राष्ट्रीय महासभा के नेताओं ने, जो प्रायः हिन्दू ही थे, और कुछ राष्ट्रीय विचार के मुस्लिम नेताओं ने इस बात को ज़ोर के साथ अनुभव किया कि स्वराज्य की राष्ट्रीय माँग तब तक 'राष्ट्रीय' न हो सकेगी जब तक मुसलमान राष्ट्रीय महासभा से पृथक् रहते हैं। यहाँ से मुसलमानों के साथ राजनैतिक एकता करने का प्रश्न भारतीय वायुमण्डल में व्याप्त होने लगा। भारत के भावी स्वराज्य का आदर्श तो पार्लियामेंटरी—प्रातिनिधिक—ही हो सकता था। प्रातिनिधिक स्वराज्य के मानी हैं—बहुमत का राज्य। भारतवर्ष में हिन्दुओं की संख्या अधिक है, मुसलमानों से प्रायः तिगुनी। शिक्षा, सुधार आदि में भी हिन्दू मुसलमानों से बढ़े-चढ़े हैं। राजनैतिक बातों में भी महासभा में भी वे ही अगुआ हैं। ऐसी अवस्था में मुसलमानों को यह सन्देह या भय हुआ कि भारत के भावी स्वराज्य में तो हिन्दुओं की ही तूती बोलेगी—मुसलमानों को उनसे दब कर रहना पड़ेगा। उन्हें यह भी डर हुआ हो तो ताज्जुब नहीं कि हिन्दुओं के मन से मुसलमानों की ज्यादतियों की पुरानी कड़वी याद मिटी नहीं है। इधर आर्यसमाज से, उधर हिन्दू-महासभा से उन्हें खौफ़ था।

उन्हें स्वराज्य के समय में अपनी क़ायमी, बेहतरी और बहबूदी का एक ही रास्ता दिखाई दिया—स्वराज्य में हमारे प्रतिनिधियों की संख्या ज़्यादह हो। इसके लिए वे क़ौमी प्रतिनिधित्व माँगते थे और उनकी संख्या भी ज़्यादह चाहते थे। राष्ट्रीय महासभा के सामने बड़ी दुविधा खड़ी हुई। एक ओर राष्ट्रीय कामों में क़ौमी वसूल के घुसने का संकट था, दूसरी ओर मुसल्मान राज़ी न हों और स्वराज्य की माँग पर उनके दस्तख़त न हों तो वृटिश सरकार और वृटिश जनता पर उसका असर कुछ न होने का अन्देशा था। हिन्दू और मुस्लिम जाति दो धर्मों की प्रतिनिधि हैं। दोनों धर्मों के व्यवहार की कितनी ही बातें ऐसी हैं, जो एक दूसरे के ख़िलाफ़ पड़ती हैं, परन्तु जिनका देश के शासन-संचालन से यों कोई ताल्लुक़ नहीं, हिन्दुओं और मुसल्मानों में अभी राष्ट्रीय विचार और धर्म के मामलों में उदार ख़याल के अथवा धर्म की मुख्य और असली बातों का तथा ऊपरी और न-कुछ बातों का पूरा पूरा भेद समझने और उस पर क़ायम रहने वाले विवेकशील लोगों की संख्या काफ़ी न हो पाई थी। ऐसी हालत में राष्ट्रीय मसलों का फ़ैसला करने में क़ौमी या धर्म की ऊपरी बातों को, जिन्हें लोग आम तौर पर धर्म के सिद्धान्तों से भी बढ़कर महत्व देते रहते हैं, प्रधानता मिलने से सारा राष्ट्रीय काम ही गड़बड़ हो जायगा। दोनों जातियों का मनमुटाव और फ़िरक़ेबंदी राष्ट्रीय महासभा में भी घुस जायगी और स्वराज्य तथा स्वराज्य की माँग ताक में रक्खी रह जायगी। एक ओर यह भय था और दूसरी ओर मुसल्मानों को ख़ुश करना ज़रूरी था।

उस समय राष्ट्र को इस महान दुविधा से लोकमान्य तिलक महाराज ने निकाला। उन्होंने कहा—मैं हिन्दुस्तानियों के लिए स्वराज्य चाहता हूँ। मुसलमान हिंदुस्तानी हैं। अतएव यदि सारा राज्य उन्हीं को दे दिया जाय तो मुझे चिन्ता नहीं। ऐसी हालत में मुसल्मानों की पृथक् निर्वाचन की और अधिक संख्या में प्रतिनिधि भेजने की माँग हिन्दू लोग स्वीकार करलें। उस समय उनके सामने आदर्श और सिद्धान्त का तात्विक प्रश्न नहीं था। स्वराज्य की राष्ट्रीय माँग का व्यावहारिक प्रश्न था। उन्होंने भारतवर्ष को एक कुटुम्ब और हिन्दुओं को बड़ा तथा मुसल्मानों को छोटा भाई मानकर इस समस्या को हल किया। कुटुम्ब में जब छोटा भाई जिद पकड़ लेता है तब बड़ा भाई या दूसरे बुजुर्ग लोग देन-लेन के अमली तरीक़े से दोनों का झगड़ा मिटा देते हैं। उसमें वे बड़े भाई के बड़प्पन, उदारता, को जाग्रत करते हैं, रिझाते हैं, छोटे भाई की ज़िद पर ध्यान न देने, उसकी नासमझी पर तरह देने, की सिफ़ारिश करते हैं और दोनों में मेल करा देते हैं। लोकमान्य ने इसी कौटुम्बिक न्याय पर हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न को सुलझाया। उन्होंने हिंदुओं को दबने या झुकने की सलाह नहीं दी। अपनी संख्या और गुण-शील के योग्य बड़प्पन और उदारता का परिचय देने की सलाह दी। उन्होंने मुसल्मानों के ओछे विचारों और अनुचित माँगों से लडने के बजाय, दलीलों और अन्य उपायों से उनके मनोभावों को दबा कर आगे भभक उठने का अवसर देने के बजाय, उनके अंतःकरण पर अपनी नैतिक विजय करने की सलाह दी। भय और दबाव की विजय तो शरीर

पर होती है, सो भी थोड़े दिन के लिए, लेकिन वड़प्पन, उदारता और एहसान के द्वारा तो हृदय ही जीत लिया जाता है। शारीरिक विजय प्रतिरोध और प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। मानसिक और नैतिक विजय प्रतिपक्षी को सदा के लिए निःशस्त्र कर देती है। इसी स्वर्ण-नियम के अनुसार लोकमान्य ने महासभा को उस समय चलने की सलाह दी। महासभा ने मुसल्मानों की क़ौमी प्रतिनिधि की तथा उनकी ज़्यादह संख्या की माँग स्वीकार की।

लोकमान्य की प्रौढ़ नीति का यह सुफल हुआ कि लखनऊ ही में मुसल्मान वहु संख्या में महासभा में शरीक हुए और हिन्दू-मुस्लिम-एकता की पक्की वुनियाद पड़ गई, एवं स्वराज्य की मूर्ति का लोग दूर से क्यों न हो, दर्शन करने लगे। लोकमान्य को हिन्दू-मुस्लिम-एकता के जनक का पद मिला। सारे देश में आनंद और संतोष की लहर फैल गई।

महात्मा गाँधी के प्रयत्न—

उसके वाद होमरूल आन्दोलन, श्रीमती वेसेंट की गिरफ़्तारी रौलट ऐक्ट, जलियाँवाला हत्याकाण्ड, खिलाफ़त आदि दोनों जातियों के सामान्य संकटों ने, एक-दूसरे को नज़दीक आने के लिए, प्रोत्साहित किया और खिलाफ़त तथा असहयोग-युग में तो महात्मा गाँधी के नेतृत्व में हिन्दू-मुस्लिम-एकता एक सच्ची और अमर चीज़ सी दिखाई देने लगी थी। उन्होंने लोकमान्य के निर्धारित मार्ग को और विशद किया तथा मित्रता और वन्धुता के आदर्श और उसके आदर्श-पालन के द्वारा, मुस्लिमों को हिंदुओं का एहसानमंद

बना दिया, हिंदुओं को मुसलमानों की दृष्टि में ऊँचा उठा दिया, और दोनों के कंधों पर स्वराज्य का भार ला कर रख दिया। महात्माजी ने इस एकता का सूत्र बताया-अपने अपने कर्तव्यों का निरपेक्ष भाव से पालन करो ! हिन्दू मुसलमानों की खिलाफ़त में बिला किसी शर्त के मदद करें। मुसलमान हिंदुओं की गो की रक्षा अपने जिम्मे लें। उन्होंने एक दूसरे को परस्पर एहसान के बंधन में सदा के लिए बाँध देना चाहा था। वे बनिये की तराज़ू हाथ में लेकर नहीं, बल्कि सुधारक का ख़ज़ाना खोल कर हिंदू मुस्लिम-समस्या को सदा के लिए हल करना चाहते थे। खिलाफ़त संग्राम में हिन्दुओं को मुसलमानों के साथ और स्वराज्य-संग्राम में मुसलमानों को हिन्दुओं के साथ, अँगरेज़ी सरकार से लड़ाकर दोनों में एक योद्धा और नागरिक के नाते आवश्यक गुणों का विकास, परस्पर की स्फूर्ति के द्वारा, कराना चाहते थे। अपने काम के लिए मर मिटने की तैयारी वे मुसलमानों के सहयोद्धा बनाकर हिन्दुओं में लाना चाहते थे, और हिन्दुओं के संसर्ग में मुसलमानों की जहालत कम कर देना चाहते थे। खिलाफ़त संबंधी ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री के वचन-भग जैसी मक्कारियों का मुक़ाबला करना और कराना, जहाँ वे हर व्यक्ति का धर्म समझते थे और मनुष्यता, नीति और धर्म के उच्च सिद्धान्तों को सामने रख कर ही वे इस युद्ध में पड़े थे तहाँ, दूसरी ओर, उनके विराट् आन्दोलन के फल-स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के खिलाफ़ सारी एशिया के एकीकरण और संगठन की बुनियाद पड़ सकती थी। खिलाफ़त की समस्या ब्रिटेन और तुर्किस्तान की समस्या

नहीं, यूरोप और एशिया की, पूर्व और पश्चिम की समस्या हो बैठी थी। खिलाफ़त में योग देकर वे मुसलमानों की धर्मान्धता को नहीं बढ़ा रहे थे, बल्कि उसे शुद्ध धार्मिक रंग में रंग रहे थे। धर्मान्धता जरूर बुरी और हेय चीज है; पर धर्म-भाव तो जीवन के लिए आवश्यक खुराक है। इसका असर भी इस्लाम के अन्तःकरण पर हो रहा था। अलीभाई जैसे एक देशीय कट्टर मुसलमान उदार और राष्ट्रीय बनते जा रहे थे। धर्मान्धता में सराबोर मुसलमानों की मसजिद में वेद-मन्त्रों का उच्चारण और कट्टर आर्य-समाज के नेता स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी का भाषण—यह अलौकिक दृश्य उसी मंत्र का प्रभाव था। मुसल्मानों के हिंसात्मक स्वभाव को रोकने और रफ़्ता रफ़्ता कम कराने की रसायन, खिलाफ़त का उद्धार और स्वराज्य की प्राप्ति, पूर्ण अहिंसात्मक साधनों से करने का भार मुसल्मानों के सिर पर रख देने से बढ़ कर और क्या हो सकती थी? मुसल्मानों के धर्म-भाव को कायम और जाग्रत रखते हुए, उन्होंने एक ओर जहाँ उनकी संकुचितता, हठधर्मी को दूर करने का उद्योग किया तहाँ उनकी उदारता, कृतज्ञता और शौर्य आदि गुणों को विकसित करने का भी प्रयत्न किया। मुसलमानों का यह कहने लगना कि गोरक्षा को मुसल्मानों पर छोड़ दो, कितने ही मुसल्मानों का गो-मांस खाना छोड़ देना—इसका प्रमाण है। महात्माजी के सात्विक आदर्श सात्विक आचरण, सात्विक स्फूर्ति के प्रभाव से मुस्लिम संस्कृति का तामस भाव कम हो रहा था। यह ठीक है कि महात्माजी के जेल जाने के बाद मुस्लिम स्वभाव का यह सुधार-क्रम आगे न

बढ़ा—और शायद कुछ हद तक पीछे भी हट गया हो; पर इसका कारण एक मात्र मुसलमानों की राजनैतिक महत्वाकांक्षा, उजड्डपन, या धर्मान्धता ही है या हिन्दुओं की अदूरदर्शिता, जल्दबाजी, या अधीरता भी है, यह विचारणीय बात है।

मुसलमानों की ग़लती और हिन्दुओं का जवाब—

देश के दुर्भाग्य और स्वराज्य के शाप से मुसलमानों की धर्मान्धता और हिंसा-प्रवृत्ति मोपला, गुलबर्गा मुल्तान, सहारनपुर और कोहाट के भीषण हत्याकाण्डों के रूप में फूट निकली, जिसने कि पहले से सचिन्त और शंकित हिन्दुओं के दिल को ज़ख्मी कर दिया और उनके दिल में होने वाले सुधार तथा परिवर्तन को सहसा बड़ा धक्का पहुँचाया। इन दंगों के बारे में अब तक जो हालात जाहिर हुए हैं, उनसे आम तौर पर लोग इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि हिन्दुओं का कुसूर कम, मुसलमानों का कुसूर ज्यादह था। बेशक जिम्मेवार मुसलमान नेताओं ने उन अपनी जाति के दंगाइयों की लानत-मलामत की है; पर यदि मैं मुसलमान और मुस्लिम नेता होता तो इतने से सन्तोष न मान बैठता। मैं इस्लाम और मुस्लिम संस्कृति में से उन कारणों को खोजता, जिन्होंने धर्मान्धता और हिंसा-काण्ड को आम मुसलमानों का दूसरा स्वभाव-सा बना दिया है और उनके दूर करने में कोताही या ग़फ़लत न करता। मोपला और गुलबर्गा के उत्पातों ने महात्माजी के एकता-कार्य में भी बड़ी बाधा पहुँचाई और उनके जेल जाने के बाद होने वाले दंगों और खून-खच्चर

ने, तथा उनके कारण या कार्य-रूप पैदा होने और बढ़ने वाले तबलीग़-तनजीम और शुद्धि-संगठन के तीव्र संक्षोभ और आन्दोलनों ने तो, एकता तो दूर रही, हिन्दु-मुसलमानों में वह कटुता और शत्रुता पैदा कर दी, जो पुरानी शत्रुता को भी एकबार भुला देती है। यह मान लेने पर भी कि दंगों में मुसलमान ही अधिकांश दोषी थे, शुद्धि और संगठन मुसलमानों के तबलीग़ और तनजीम का जवाब था, यह दावे के साथ नहीं कह सकते कि हिन्दू सब तरह बरी हैं और उनके शुद्धि-संगठन सर्वांश में शुद्ध-रूप से चले और चल रहे हैं। मुसलमानों की तरफ़ से ज्यादती होने पर भी, हिन्दुओं के दिल को चोट पर चोट पहुँचती रहने पर भी, स्वराज्य, एकता और हिन्दू-धर्म के नाम पर, मैं यह कहना चाहता हूँ कि हम हिन्दुओं ने उस बुज़ुर्गी, दानाई, दूरंदेशी और धीरज का परिचय नहीं दिया जिनकी हमसे उम्मीद की जा सकती थी। यही सब से बड़ा अवसर हमारी परीक्षा का था, जिस समय हमें अजहद चतुराई और हिकमतअमली से काम लेना था, पर हमने ग़लती खाई। हमें जितना ऊँचा उठना चाहिए था—हमारा धर्म और संस्कृति हमें जिस ऊँचे आसन पर बिठा रही है—उतने ऊँचे न उठना ही हमने उचित समझा। मैं यह नहीं कहता कि मुसलमानों की बुराइयों का प्रतिकार अथवा शुद्धि-संगठन का आन्दोलन साधारण मनुष्य-स्वभाव के या नीति-नियमों के विपरीत है; बल्कि मैं तो यह कहता हूँ कि उस समय हम से असाधारण व्यवहार को आशा की गई थी और की जा सकती थी। यदि मैं मुसलमान होता तो आज के मुसलमानों की तरह हिन्दुओं के स्वरक्षात्मक प्रतीकारों

पर चिल्ल-पों न मचाता, बलिक उनके उद्योग की क़द्र करता—हाँ, अपनी जाति को अलबत्ता उनकी भूमिका से ऊँचा उठने की प्रेरणा करता, जैसा कि, हिन्दू होने के कारण, हिन्दुओं को उसके लिए प्रेरित करना मैं अपना धर्म समझता हूँ। एक हिंदू के नाते मेरा कर्तव्य है कि मैं अपनी जाति को उसके दोष, त्रुटि भूल आदि पर ध्यान देकर उन्हें दूर करने की प्रेरणा करूँ—और दूसरों के गुणों और खूबियों को देखने और उनका अनुकरण करने की सलाह दूँ। यदि हिन्दू और मुसलमान दोनों, बिना दूसरे की राह देखे या उनसे कुछ उम्मीद रक्खे,—निरपेक्ष भाव से—एक दूसरे के प्रति अपने अपने कर्तव्य का तो पालन करें—अपनी बुराइयों, कमियों और खामियों को तो दूर करने में लगे रहें; पर दूसरों की बुराइयों और कमियों पर ध्यान न देकर ग़म खाते रहते तो दोनों का सुधार भी जल्द हो जाता और दोनों में प्रेम, सद्भाव क़ायम रह कर एकता अमिट हो जाती। नहीं, मैं तो कहता हूँ कि मुसलमानों के ग़लती करने पर भी यदि हम हिन्दू उनकी ग़लती का जवाब उसी तरीके से न देकर अपनी राह न छोड़ते, निरपेक्ष भाव से बिना विचलित हुए, बिना डरे अपने कर्तव्य पर डँटे रहते तो मुसलमान अपने आप लजाते और सीधे रास्ते आ जाते। कर्तव्य एक चीज़ है, सौदा दूसरी चीज़ है। कर्तव्य में कोई शर्त नहीं होती; सौदा शर्तों पर होता है। बाप-बेटा और पति-पत्नी अथवा भाई-भाई यदि सौदे के सिद्धान्त पर चलें तो एक मिनिट सुलह से नहीं रह सकते। पश्चिम सौदे का पुजारी है इसलिए वहाँ का कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन

कलह का घर हो रहा है। जिस हद तक प्रेम या कर्तव्य का भाव उस सौदे को अपने नियंत्रण में रखता है, उस हद तक वहाँ सुख-शान्ति दिखाई देती है! भारत कर्तव्य का पूजक है। कर्तव्य का तत्व सौदे के तत्व से अधिक परिपक्व है और अधिक अनुभवी समाज—शास्त्रियों के दिमाग़ की उपज है।

हिन्दुओं के ऐतराज़—

परन्तु ऐसी सलाह देने पर हिंदू कहते हैं, "हम महात्मा नहीं हैं, हम साधु नहीं हैं, हम हिंदुत्व खोना नहीं चाहते, हम मुसलमानों से दब कर नहीं रहना चाहते, हमारी उदारता से मुसलमान बेजा फ़ायदा उठाते हैं—ख़िलाफ़त में हमने मुसलमानों का साथ दिया—भाईचारा निबाहा, उसका बदला उन्होंने हमें मालाबार, गुलबर्गा, मुल्तान, सहारनपुर और कोहाट में हम पर सितम गुज़ार कर दिया। यह तो जाति ही बेईमान है; इनके तो धर्म-ग्रन्थ, इनकी तो संस्कृति ही मार-काट, लूट-खसोट के इतिहासों से भरी पड़ी है। ये तो हिन्दुओं के खून पीने पर, उनका नामोनिशान मिटा देने पर तुले बैठे हैं। महात्माजी ने हिन्दुओं से सहायता दिला कर इन्हें मज़बूत बना दिया—हिन्दुओं की ही जूतियों से हिन्दुओं का सिर फुड़वाया।" ये उद्गार प्रायः उन्हीं शब्दों में दे रहा हूँ जो समय समय पर भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों से सुन चुका हूँ।

इनको सुनकर मेरी रूह काँप उठती है। यदि मैं मुसलमान होता तो हिंदुओं के इन उद्गारों और भावों पर पूरी संजीदगी के साथ विचार करता—मेरा खाना पीना हराम हो जाता और मैं

अपनी जाति को हिन्दुओं की नजर में ऊँचा उठने में अपनी सारी शक्ति लगा देता; पर हिन्दुओं को तो मैं यही कह सकता हूँ, ईश्वर के लिए न्याय करो। कुछ व्यक्तियों के कारण सारी जाति को, कुछ बुराइयों के कारण सारी संस्कृति को, कुछ वचनों के कारण सारे धर्म-ग्रन्थों को गालियाँ न दो। महात्मा और साधु के रस्ते चलना न हिन्दू-धर्म में गुनाह है न हिन्दू-समाज में। यदि हिन्दू-धर्म और संस्कृति के उच्च नियमों का पालन करने से हिन्दुत्व नष्ट होता है तो हिन्दुत्व की आपकी भावना और धारणा में जरूर कहीं ग़लती है। वेजा फ़ायदा उठाने का डर कायरों को होता है; वीरों को यह बात शोभा नहीं देती। खिलाफ़त में हिन्दुओं ने जो सहायता दी उसका हद से ज्यादा ढिंढोरा पीट कर हमने उसके स्वाद, गौरव, शोभा और इसीलिये सुफल को खो दिया है। मुसलमानों की बेइमानी का रोना रोने की अपेक्षा क्या हिन्दुओं में ईमानदारी और सचाई बढ़ाने के लिये कमर कस लेना बुरा है? मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थ यदि बुरे हैं, संस्कृति यदि बिगड़ी हुई है तो उसकी चिन्ता वे करेंगे—आपके धर्म-ग्रन्थ और आपकी सभ्यता को उज्ज्वल करने में क्यों न आपकी शक्ति लगनी चाहिए? महात्माजी ने हिन्दुओं को धर्म का, शूर-वीरों का, रास्ता बताया था। हिन्दू ओछे बनिये का रास्ता चाहते हैं। धर्म-वीरों की पूरी क़ीमत देने से इन्कार कर वे सस्ते सेवक बनना चाहते हैं। महात्माजी पर हिन्दुओं को कमज़ोर बनाने का इल्ज़ाम लगा कर हम अपने धर्म का और संस्कृति का अपमान और हिन्दू-समाज की हानि कर रहे हैं। महात्माजी ने मुसलमानों को ताक़तवर और

हिन्दुओं को कमजोर नहीं बनाया। वास्तव में देखा जाय तो असह-योग आन्दोलन से सारे देश में जागृति, चैतन्य, उत्साह और बल की एक अपूर्व लहर फैली, जिससे भारत के सब जातियों और वर्गों को पोषण और बल मिला। महात्मा जी के आज़ाद रहते हुए उस सम्मिलित बल का उपयोग ब्रिटिश सरकार से लड़ने में हुआ; उनके क़ैद हो जाने के बाद बाहर रहे राजनैतिक नेताओं की अक्ष-मता और जातीय या साम्प्रदायिक नेताओं की अधीरता, आतुरता और शंकित-चित्तता के कारण वह संगठित बल एक ओर धारा-सभा सम्बन्धी वाग्युद्धों में और दूसरी ओर हिन्दू-मुसलमान झगड़ों में बरबाद होने लगा—जो शक्ति दोनों जातियों और सारे राष्ट्र के प्रतिपक्षी की बुद्धि दुरुस्त करने में लगने के लिये पैदा हुई थी वह योग्य और उचित नेतृत्व के अभाव में आपस की 'यादवी' में काम आने लगी। इस तरह हमने ठीक उसी समय अपनी दूरंदेशी और चतुराई का कम परिचय दिया जब कि हमें उसकी सबसे ज्यादह ज़रूरत थी। यह दर्दनाक कहानी तो एक मात्र व्यथित हृदय के सूखे आँसुओं से ही लिखी जा सकती है।

तिलक महाराज का रास्ता छोड़ा—

मेरे कहने का मतलब यह है कि महात्माजी के जेल जाने के बाद हिन्दुओं ने स्वर्गीय तिलक महाराज का बताया और महात्माजी का प्रशस्त किया हिन्दू-मुस्लिम-एकता का राज-मार्ग छोड़ दिया और मुस्लिमों के आक्रमणों और जातीय हलचलों से अधीर हो कर समझदारी, ठंढई और बड़प्पन से काम लेने के बजाय जोश में आकर उन्हीं का अनुसरण करने लगे। हमें

करना चाहिए था यह कि दंगों के मौकों पर हिन्दुओं को शान्त करके कहते, मुसलमानों ने बेशक गलती की; लेकिन वे हमारे भाई हैं—हमें और उन्हें एक ही साथ जीना, एक ही साथ मरना है, उनकी गलती का जवाब हमें वैसी ही गलती करके न देना चाहिए। उनकी ज्यादतियों के लिए ईश्वर उनसे जवाब तलब करेगा। उन्होंने यह हमारे जानोमाल पर नहीं, हमारी बहूबेटियों पर नहीं, हमारे मन्दिरों पर नहीं, अपने ही जानोमाल पर, अपनी ही बहू-बेटियों पर, अपनी ही मसजिदों पर हाथ उठाया है, अपने ही को उन्होंने इस्लाम और दुनियाँ का अपराधी बनाया है। उन्होंने यदि धर्म का रास्ता छोड़ दिया तो हमें यह कदापि उचित नहीं कि हम अपने भी सत्पथ को छोड़ें। ऐसी सद्भाव की बात हमारे मुँह से निकलने के बजाय जोश और कटुता की बातें हमारे मुँह से निकलने लगीं। हम कहने लगे—"देखो, मुसलमानों ने हम पर कैसा जोरो-जुल्म किया! खिलाफत में हमने इनकी मदद की, इन्होंने उसका ऐसा बदला चुकाया। हम पहले ही कहते थे हिन्दू-मुस्लिम-एकता होने की नहीं। मुसलमान कब किसका एहसान मानने लगे थे? इन पर विश्वास करना बेवकूफी है। आओ, हिन्दुओ, तैयार हो जाओ। अपने जान-माल, बहू-बेटियों और धर्म-मन्दिरों की रक्षा में जुट पड़ो। मुसलमान तुम्हें एक लगावें तो तुम दो लगाने के लिए जब तक तैयार न रहोगे तब तक उनकी तुम्हारी मित्रता नहीं हो सकती। "भय बिनु प्रीति न होत" आदि। हमने उनके उच्च गुणों और शराफ़त को स्पर्श और जाग्रत करना छोड़कर हीन मनोवृत्तियों को उत्तेजित

किया। मुसलमानों ने मुस्लिम जनता के स्वार्थ-भाव और कोमल धार्मिक भावों को बुरी तरह जगा जगा कर उन्हें उभाड़ा, हिन्दुओं ने भी उसके जवाब में बहुत-कुछ उन्हीं का अनुकरण किया। लोकमान्य की लखनऊ वाली प्रौढ़ सलाह और महात्माजी की अप्रतिरोध-नीति दोनों का हमने त्याग कर दिया। अक़्ल की जगह जोश ने ले ली—जोश भी जहाँ काम आना चाहिये था, वहाँ नहीं आया। हमारी फ़ौज ग़नीम को छोड़ कर आपस में ही गोलाबारी करने लगी।

लड़ाई की तैयारियाँ—

मुसलमान तो ग़लती पर ग़लती करते चले गये। हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का सिलसिला जारी था ही, इधर और प्रतिनिधि बढ़ाने की आवाज़ भी उठने लगी। पंजाब में मियाँ फ़ज़ली हुसैन ने सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की कुछ तादाद बढ़ा दी। हिन्दू बेचैन होने लगे। कुछ मुसलमानों ने अमीर काबुल को चिट्ठियाँ भेजीं। बस, अफ़ग़ानिस्तान की हिन्दुस्थान पर चढ़ाइयाँ होने की आवाज़ बुलन्द होने लगी। धीरे धीरे पंजाब का ज़हर सारे हिन्दुस्तान में फैल गया। एक तरफ़ डाक्टर किचलू ने तनज़ीम का, ख्वाजाहसन निज़ामी ने तबलीग़ का झण्डा उठाया; दूसरी तरफ़ स्वामी श्रद्धानंदजी ने शुद्धि-संगठन का शंख फूँका। मलकानों की शुद्धि ने सारे देश में हलचल मचा दी। इधर श्री जिनाह ने मुस्लिम लीग का नेतृत्व गृहण किया; उधर पू० मालवीयजी ने हिन्दू महासभा को पुनर्जीवन दिया। इस तरह एक ओर धर्म के दायरे में और दूसरी ओर राजनीति

के आँगन में दोनों का रण-क्षेत्र तैयार होने लगा। इधर बाजे, आरती और गोवध का प्रश्न उग्र रूप धारण करने लगा, उधर जातिगत प्रतिनिधित्व के नक़्क़ारे बजने लगे।

जेल से छूटने पर महात्माजी की कोशिशें—

प्रायः ऐसे ही जातीय जोश, जातिय कटुता, और परस्पर अविश्वास, सन्देह और भय के दूषित वायुमण्डल में महात्माजी जेल से छूटे। उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानों में सैद्धान्तिक चर्चा और व्यावहारिक उपाय द्वारा स्थिति को सुधारने की बहुत कुछ चेष्टायें कीं। बाजे, आरती और गोवध के लिए उन्होंने मुसलमानों को गोवध बंद कर देने और हिन्दुओं को मस्जिद के सामने बाजा बंद कर देने की सलाह दी। जातीय प्रतिनिधित्व के मामले में उन्होंने राय दी कि हिन्दू हकीम अजमलखाँ के हाथों में क़लम दे दें और वे मुसलमानों की तरफ़ से जो कुछ माँगें, हिन्दू उसे मंजूर कर लें। और अन्त में, कोहाट के भीषण काण्ड के बाद, देहली में, २१ दिन का उपवास भी कर डाला—सब से आखिरी महा अस्त्र का भी प्रयोग कर देखा जिसका प्रत्यक्ष व्यावहारिक फल हुआ देहली की शान्ति-परिषद्। मगर महात्माजी के इन तमाम उपायों के करते हुए भी आग फैलती ही गई। बस, यहाँ मेरे ख़याल में, एकता-प्रयत्न का अन्त होता है। यों तो राष्ट्रीय महासभा के नेता समय समय पर एकता की आवाज़ उठाते रहे हैं और ऐसे वैसे उपाय भी करते रहे हैं—परन्तु महात्माजी अपनी तरफ़ से इसमें तटस्थ ही रहे।

४—तवलीग़-तनज़ीम और शुद्धि-संगठन

अव इस प्रकरण में हम इस बात पर विचार करेंगे कि हिन्दू-मुसलमानों की इस अलहदा जथावंदी, आपस के विद्वेष, हत्याकाण्ड आदि से देश को और उनको क्या क्या नफ़ा-नुक़सान हुआ तथा तवलीग़-तनज़ीम, शुद्धि-संगठन का मूल और उनका वास्तविक रूप क्या है।

<u>ज़ातीय आन्दोलनों का कुफल—</u>

हिन्दु-मुसलमानों के दंगे, तवलीग़-तनज़ीम और शुद्धि-संगठन के आन्दोलनों का पहला बुरा परिणाम तो यह हुआ कि दोनों के बीच भेद और फूट की खाई गहरी होने लगी। दोनों पक्ष के उदार और राष्ट्रीय विचार के छोटे-वड़े नेता और कार्यकर्ता, एक हद तक तटस्थ रहने के वाद अपनी अपनी जाति के आन्दोलन में शरीक़ होने लगे। हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में यह परिवर्तन ज्यादह हुआ। दूसरा और सब से भारी नुक़सान यह हुआ कि देश का ध्यान स्वराज्य की लड़ाई और राष्ट्रीय महासभा की ओर से हटकर, आपस की लड़ाइयों और जातिगत सभाओं की ओर खिंचने लगा, जिससे सरकार के हाथ मज़बूत होते चले गये—जातिगत प्रतिनिधित्व के प्रश्न ने तो उसे हमारे अन्दर फूट फैलाने और लड़ने के कारणों का खज़ाना खुला कर देने का पूरा पूरा मौक़ा दिया। इधर मुसलमानों के जवाव में कुछ हिंदुओं ने भी

अपने अलहदा प्रतिनिधि भेजने की आवाज़ उठाई, जिसका एक कुफल तो यह हुआ कि हिंदुओं के कुछ फ़िरक़ों तथा ईसाई-पारसी आदि में भी अपने अलहदा प्रतिनिधि मांगने का भाव उदय होने लगा। सारा देश दलादली, जातिगत प्रश्नों और झगड़ों की बातों से भर गया—स्वराज्य, सरकार से लड़ाई, राष्ट्रीय एकता की बातें, मानों भूतकाल का इतिहास हो गईं। असहयोग आन्दोलन के ज़माने में जो तत्व—सहयोगी और जी हुज़ूर दल—कमज़ोर पड़ गया था, जिसने कि देश के हज़ारों नवयुवकों को जेल में ठूँसने और सताने में सरकार का साथ दिया था, वे जाति-भक्त बन कर देश के सामने आने लगे और हर तरह से असहयोग, स्वराज्य, राष्ट्रीय एकता, सरकार का मुक़ाबला, इन भावों को कमज़ोरी मिलने लगी। इस प्रकार राष्ट्रीय, राजनैतिक और भारत के स्वाधीनता-संग्राम की दृष्टि से देश की अपार, अपरिमित अक्षम्य हानि हुई—जो स्वराज्य नज़दीक आता हुआ दिखाई दिया था, वह आँखों की ओट हो गया। जिस महान् आन्दोलन ने जनता को गहरी नींद से एकाएक जगा दिया था, जिसने लार्ड रीडिंग की अक़्ल को चक्कर में डाल दिया था, वह एक खिल्ली उड़ाने का विषय हो चला था—इससे बढ़कर हानि देश की क्या हो सकती है?

हिन्दुओं को लाभ—

मुसलमानों को तबलीग़—तनज़ीम से क्या लाभ हुआ, सो तो मेरे लिये कहना कठिन है, पर हिन्दुओं को इससे इतना लाभ ज़रूर हुआ कि (१) हिन्दुओं के जुदा जुदा

फ़िरक़े—सम्प्रदाय—आपस में एक होने लगे, (२) जाति-सुधार, जाति-रक्षा की शक्ति का वे अपने अन्दर अनुभव करने लगे और (३) मुसलमान गुण्डों की ज्यादतियों का मुक़ाबला कलकत्ते आदि में सफलता-पूर्वक होने के कारण, उन्हें यह मालूम हो गया कि हिन्दू अब बकरी की तरह या दबी बिल्ली की तरह हमारे अत्याचारों को न सहलेंगे—वे भी अब हमें उसी तरीक़े से सीधा कर देने पर तुल गये हैं, जो तरीक़ा हमारी समझ में जल्दी आ जाता है।

मगर ऐसा जान पड़ता है कि जब खुल कर हमला करने की उनकी प्रवृत्ति कम पड़ गई—उसके लिये उन्हें मैदान न मिलने लगा, तब उन्होंने अपना तरीक़ा बदल दिया—छिपे छिपे वे हिन्दू आन्दोलनों के नेताओं को—अपनी ग़लत राय में उनकी जड़ों को ही दुनिया से मिटा देने की तजवीज करने लगे, जिसका कि अन्त—नहीं, शायद आरंभ पू० स्वामी श्रद्धानन्दजी के खून में हुआ। बहुतों का ख़याल है कि यह खून एक बिगड़े दिल की करतूत नहीं है, अनेक बिगड़े दिलों की साजिश का परिणाम है।

कई सवाल—

अब यहाँ कई सवाल खड़े होते हैं। हिन्दू मुस्लिम नेता क्या इन हानि लाभों को पहले से नहीं सोच पाये थे ? क्या वे स्वराज्य का और एकता का महत्व नहीं जानते थे या उसको उतना मूल्य नहीं देते हैं ? महात्मा जी के जेल जाते ही क्यों सारी लहर और ही तरफ़ बह गई ? यदि उस समय बाहर रहे देश और

समाज के नेता महात्माजी के तरीके से सहमत न थे या उन पर अमल करने की शक्ति अपने में महसूस नहीं करते थे तो फिर क्या उन्हें अपनी अक्ल के मुताबिक कोई काम ही नहीं करना चाहिये था ? तबलीगत-तजीम या शुद्धि-संगठन आखिर क्यों बुरा है ? क्या अपनी जाति और धर्म की रक्षा करना कोई गुनाह है ? क्या अपनी रक्षा के लिये आक्रमणकारियों का मुक़ाबला करना कोई पाप है ? जब कि एक जाति हर भले बुरे उपाय से दूसरी जाति के लोगों को अपने में मिला कर अपनी तादाद बढ़ा रही है तब हमारा अपनी जाति को मजबूत बनाना, अपनी तादाद न घटने देना या उसे बढ़ाना क्यों अनुचित है ? यदि स्वराज्य के मानी हैं—हिन्दुओं का कमजोर होकर रहना, हिन्दुत्व को खोना, तो हमें ऐसा स्वराज्य दरकार नहीं ।

उन पर विचार—

ये सवाल बिल्कुल स्वाभाविक हैं और इनका जवाब दिया जाना भी ज़रूरी है । मगर 'हाँ' या 'ना' में इनका जवाब देने के बदले यह ज्यादह अच्छा होगा कि हम उन पर सविस्तर विचार करें । इसमें सब से पहले हमें यह सोचना चाहिए कि अलहदा जत्थाबंदी की यह बुनियाद नये सिरे से क्यों पड़ी ? लखनऊ के समझौते के बाद, महात्माजी के जेल जाने से पहले तक, क्यों मुस्लिम लीग और हिन्दू-महासभा सोती रही और क्यों उनके जेल जाते ही फिर पुरानी कटुता और दुश्मनी ताजी हो गई ? क्यों मुसल्मान अपनी तादाद बढ़ाने के लिए इतने चिन्तित और

बेचैन हैं ? और क्यों हिन्दू भी इसके लिए इतने परेशान हैं ? फिर हिन्दुस्तान के ही मुसलमानों को इस्लाम की बढ़ती की, अपनी तादाद बढ़ाने की इतनी फ़िक्र क्यों है, भारत के बाहर के मुसलमानों में क्या इस्लाम का प्रेम रहा ही नहीं ? क्यों हिन्दू उनके हरएक काम को सन्देह की नज़र से देखते हैं और मुसलमान हिंदुओं की बातों पर विश्वास नहीं रखते ? क्या दोनों के धर्मों में सचमुच अपनी अपनी संख्या बढ़ाने से बढ़ कर कोई धर्म-सिद्धान्त और धार्मिक आज्ञा नहीं है ? क्या दोनों जातियों और धर्मों में अब कोई और ऐसी बुराई या खामी रही नहीं है जो इसी एक बात पर दोनों इस क़दर मरने-मारने पर तुले हुए हैं ?

जातीय आन्दोलनों का मूल—राजनैतिक—

मैं जहाँ तक विचार करता हूँ इन आंदोलनों और झगड़ों का मूल, धर्म में नहीं, राजनीति में है—इस बुराई की जड़ खुद हमारा स्वराज्य ही है। संख्या बढ़ाने का प्रश्न राजनैतिक दाँव के सिवा कुछ नहीं है। मैं पहले बता चुका हूँ कि भारत का भावी स्वराज्य प्रातिनिधिक अर्थात् बहुमत का शासन होगा और मुसलमानों की तादादा भारत में कम होने के कारण उन्हें यह भय पैदा हो गया है कि भारतीय स्वराज्य में हमें दबकर रहना पड़ेगा। स्वराज्य में अपनी स्थिति को अच्छी और मज़बूत बनाये रखने के लिए उनके पास दो ही साधन हैं—(१) या तो दूसरी जातियों के लोगों को मुसलमान बनाकर अपनी तादाद इतनी बढ़ा लें कि

हिंदुओं के कम से कम बराबर ही होजायँ, जिससे स्वराज्य में हमारे प्रतिनिधि भी, संख्या के अनुसार, हिंदुओं के प्रतिनिधियों के बराबर हो जायँ और हमें उनसे कमजोर बनकर न रहना पड़े या (२) आज से ही हिंदुओं से ऐसा ठहराव करालिया जाय कि हमारे प्रतिनिधि, हमारी संख्या कम होते हुए भी, ज्यादह तादाद में रहें। उन्होंने दोनों साधनों से काम लेना शुरू किया। ख्वाजा हसननिज़ामी तो यहाँ तक गिरे कि वेश्याओं के द्वारा, रिश्वत देकर, शादियों का लालच देकर, हर भले और बुरे तरीके को जायज़ मानकर भी—तलवार के घाट उतार कर भी मुसलमान बनाने का तरीका तो उनके बापदादों से चला आ रहा है—उन्होंने मुसलमानों की तादाद बढ़ाने की भारी भारी तजवीजें कीं, और काम बढ़ा। यह हुई मज़हब के नाम पर राजनैतिक खेल खेलने की गंदी चाल। इधर उनके राजनीति के खिलाड़ियों ने राष्ट्रीय महासभा और हिंदुओं से तो विशेषाधिकार चाहे ही, इधर एक दल सरकार की बगल में भी घुसकर अपना मतलब साधने की चेष्टा करने लगा।

पारस्परिक भय और महात्माजी का आश्वासन—

हिंदू इस दाँव को समझ गये। मगर उन्होंने या तो इसके गहरे और असली कारणों पर पूरा विचार नहीं किया, या उसकी असली दवा न की। उसकी जड़ काट डालने के बजाय वे भी प्रायः वैसी ही चालें चलकर उनके दाँव को हराने में लग-गये। हमें भूलना न चाहिए कि मुसलमानों के इस दाँव के मूल

में है, उनका यह भय कि स्वराज्य में हम कमज़ोर रहेंगे। इसका सच्चा और कारगर इलाज यही हो सकता था कि उन्हें यक़ीन कराया जाय कि स्वराज्य में किसी भी छोटी जाति के साथ अन्याय न होगा—उनके हितों का ख़याल बड़ी जातियाँ अपने से ज्यादह रक्खेंगी। कम से कम उतनाही रक्खेंगी जितना कि खुद अपना रखती हैं या रक्खेंगी। आप देखेंगे कि स्वराज्य के कार्य-क्रम में राष्ट्रीय एकता अथवा सर्व जातीय एकता को महात्माजी ने सबसे बड़ा स्थान दिया है और उसका कारण यही है। उन्होंने हरएक प्रसंग पर सब छोटी जातियों को यह आश्वासन दिया है कि स्वराज्य में तुम्हारे हितों की हानि न हो पावेगी। पारसी और हिन्दुस्तानी ईसाई, हिन्दू या मुसलमान जाति से उतने शंकित नहीं हैं जितने मुसल्मान हिन्दुओं से हैं अथवा सिक्ख कुछ समय तक रहे थे। इसका कारण स्पष्ट है। हिन्दुओं और मुसल्मानों का तो वैमनस्य सदियों से चला आ रहा था और अब तक मिटा नहीं है। इधर कुछ सिक्ख हिन्दुओं से अपने को पृथक् मानते थे और हिन्दू भी वेदों को न मानने के कारण जैनियों और बौद्धों की तरह ग़लती से उन्हें अहिन्दू मानते थे। हिन्दुस्तान में तीन ही जातियाँ हैं जिनकी राजनैतिक आकांक्षायें बढ़ी हुई हैं, जिनके बड़े बड़े साम्राज्य रहे हैं, जिनकी सत्ता अभी अभी छिनी है—हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख। इसीलिये ये तीनों एक दूसरी से शंकित और चिन्तित रहती हैं। महात्माजी ने स्वराज्य के कार्य-क्रम में सबसे बड़ा ख़याल इसी बात का रक्खा था—ख़िलाफ़त में सहयोग दे कर उन्होंने मुसल्मानों को हिन्दुओं की तरफ़ से यह

असली आश्वासन देना चाहा था कि हिन्दुओं से न डरो—वे तुम्हारे दुश्मन नहीं, भाई हैं। तुम्हारे बुरे को अपना बुरा समझते हैं और सिक्खों तथा पारसियों के मनोभावों का खयाल करके वे एकता की जगह हिन्दू-मुस्लिम सिक्ख, ईसाई-पारसी-एकता इतना लंबा नाम महीनों लिखते रहे थे। सिक्ख तो अब हिन्दू ही माने जाते हैं इसलिये हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रश्न बाकी रह गया।

ताक़त की आज़माइश का सवाल—

मुसलमान हिंदुओं से इसलिये डरते हैं कि हिंदुओं की संख्या उनसे बहुत ज्यादह है और आगे स्वराज्य में या आज बृटिश सरकार में भी, प्रतिनिधियों के चुनाव और संख्या पर उनकी जाति की संख्या का असर होता है। इधर हिंदू उनसे इसलिए डरते हैं कि यद्यपि मुसलमान आज उनसे संख्या में कम हैं तथापि एक तो अपनी तादाद और अपने प्रतिनिधि बढ़ाने में वे सतत उद्योगशील हैं और दूसरे बाहर के मुसलमानों को मिलाकर उनका बल बहुत हो जाता है। हिंदुस्तान में भी उनकी कई रियासतें हैं और बाहर तो अफ़गानिस्तान, तुर्कस्तान, ईरान, मिश्र जैसे स्वतंत्र राज्य भी हैं। हिंदुओं का तो, कुछ पराधीन रियासतों के अलावा, नेपाल को छोड़कर दुनिया में कोई स्वतंत्र राज्य नहीं है और नैपाल भी वास्तव में उतना स्वतंत्र नहीं है जितना काग़ज़ों में है। अंगरेजों की राजनैतिक दूरंदेशी ने उसे अब तक इस क़दर स्वतंत्र रहने दिया है। इसी कारण मुसलमानों के

मुस्लिम-समस्तता (Pan-Islamism) आन्दोलन के जवाब में हिंदुओं ने भी चीन, जापान, तिब्बत, स्याम के बौद्धों को हिंदू-संगठन में शामिल करने की योजना रक्खी है। इस प्रकार ये दोनों महान् मानव-वंश अपनी अपनी सत्ता और विस्तार की अभिलाषा से, कोई आक्रामक रीति से, तो कोई रक्षात्मक रीति से, अपना अपना संगठन करने में लगी हुई हैं। और भारत में संख्या-वृद्धि के लिए दोनों की लड़ाइयाँ इसी हेतु के प्रत्यक्ष चिह्न हैं। धर्म-संशोधन, धर्म-पालन, धर्म-विस्तार, इसके मूल में नहीं, जाति-विस्तार और जाति-प्रभुत्व है। यह धर्म-प्रचार का, धार्मिक जीवन का प्रश्न नहीं है; यह ताक़त की आज़माइश (trial of strength) का सवाल है।

मत-बल और लाठी-बल—

हाँ, तो मुसलमान हिन्दुओं के संख्या-बल से डर रहे हैं और हिन्दू उनके तलवार-बल से। दुनिया की राजनैतिक गति-विधि का, शासन-व्यवस्थाओं का, दुनिया के राष्ट्रों के बलाबल और प्रवृत्तियों का, जिन्हें काफ़ी ज्ञान है, वे अच्छी तरह समझे हुए हैं कि जहाँ कहीं प्रातिनिधिक शासन-प्रणाली प्रचलित है, वहाँ वह प्रजा के बाहुबल पर नहीं, मत-बल पर चल रही है। यदि हमारी सरकार वास्तव में राष्ट्रीय होती और हमारी फूट और लड़ाइयों में उसका गहरा स्वार्थ न होता तो आज भी मुसलमानों का तलवार, तमंचा-बल ताक में रक्खा रह जाता। न अफ़ग़ानिस्तान, न तुर्किस्तान उसके लिये दौड़ कर आ सकते हैं, न आवेंगे। मतलब यह कि इन दिनों

दुनिया की शासन-प्रणालियों में मत-बल को ही स्थान है, बाहु-बल को नहीं। भारत के स्वराज्य में मत-बल की चलेगी, लाठी-बल की नहीं। हमारा लाठी-बल बाहरी शत्रुओं के मुक़ाबले में भले ही काम आ सके, भीतरी शासन-व्यवस्था में वह किसी काम का नहीं। अतएव मुसलमानों का बाहुबल यद्यपि आज हिंदुओं को चौंकाता और भयभीत करता है; पर मुसलमानों को वह बेकार मालुम होता है। वह हमारे लिये भयप्रद तभी तक है जब तक हम उसके रहस्य को समझ नहीं लेते हैं और उससे डरते रहते हैं। हम इसे समझें या न समझें, यह निश्चित है कि ज्यों ज्यों दिन जायंगे, ज्यों ज्यों स्वराज्य नजदीक आता जायगा, अथवा ज्यों ज्यों वर्तमान शासन में प्रजा को अधिकाधिक अधिकार मिलते जायंगे, त्यों त्यों हिन्दुओं का भय कम होता जायगा और मुसल्मानों का बढ़ता जायगा। क्योंकि त्यों त्यों मुसल्मानों का लाठी-बल बेकार होता जायगा और हिन्दुओं का मत बल पुष्ट और कारगर होता जायगा। फलतः हिन्दुओं की चिन्ता और शंका घटती जायगी और मुसल्मानों की बढ़ती जायगी।

लोकमान्य और महात्माजी का मार्ग—

मुसलमानों की चिन्ता और भय तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक या तो वे अपने को पूरा, सब अर्थ में, हिन्दुस्तानी नहीं मान और बना लेते, या जब तक हिन्दू उन्हें उनके हितों की रक्षा का पूरा यक़ीन नहीं दिला देते। पहली बात प्रधानतः मुसल्मानों के अधीन है और दूसरी हिन्दुओं के। मुसलमानों को

चाहिए कि वे दुनिया की हालत को, रुख को और अपनी स्थिति को देखें, जानें और समझें। उन्हें चाहे बाहरी मुस्लिम शक्तियों का अभिमान हो; पर उन शक्तियों और राष्ट्रों को उनकी तनिक भी परवा नहीं है, इसे वे समझें। अरब के बजाय अब वे हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि मानें। धर्म-भूमि तो उनकी अरब बनी ही हुई है। हिन्दु उनके इस मनोभाव के सुधार में उनकी तरह तरह से मदद करें। पर यह काम इसके बजाय अधिक समय-साध्य और श्रम-साध्य है कि उन्हें हिन्दुओं की तरफ़ से अभय-का आश्वासन दिलाया जाय। लोकमान्य ने लखनऊ में अधिक प्रतिनिधि देकर मुसल्मानों को यही आश्वासन दिया था; महात्मा जी ने यह कह कर कि हकीम अजमल खाँ के हाथ में कलम दे दो, लोकमान्य की ही आत्मगत बात कही और की थी। मुसल्मानों के अविश्वास को दूर करने का और अपने अंतःकरण की निर्मलता के परिचय देने का इससे अच्छा साधन हिन्दुओं के पास कोई न था।

लोकमान्य ने भूल की—

मगर लखनऊ की बुद्धिमता देहली में 'भूल' के नाम से पुकारी गई; कांग्रेस को हिन्दुओं का शत्रु बताया गया और बेचारी अक्ल पर जोश और गुस्से ने क्या क्या इल्ज़ाम नहीं मढ़े। राजनीति में लोकमान्य के चेले, दूरंदेशी में उनकी अकल के क़ायल, खड़े हो होकर उन्हें कोसने लगे और उनकी राय में महात्माजी के दिमाग़ में तो अक्ल और दूरंदेशी नाम की और दिल में हिन्दू-

हित या हिन्दू-धर्म के अभिमान नाम की कोई चीज ही नहीं रह गई। वे भोले-भाले, मुसल्मानों के दाँव को न समझने वाले, मुसल्मानों का पक्षपात करने वाले, बताये गये। हकीम अजमल खाँ के हाथ में कलम देने की बात तो मानों हँसी में ही उड़ा दी गई! दक्षिण अफ्रिका में बोअरों और अंगरेजों से लोहा लेने वाले और हिन्दुस्तान में दो ही साल में तहलका मचा देने वाले बेअक्ल और कायर गाँधी की सलाह, आपस में ही दुलत्तियाँ झाड़ने वाले—गुलामी की बेड़ियों में कसे हुए, अपने गनीम से लड़ना छोड़कर, जरूरी रण-क्षेत्र से भागकर, छोटे छोटे स्वार्थों के लिए महान् लाभ को ठुकरा देने वाले, इन समझदारों और सूरमाओं की नजरों में क्यों जँचने लगी? वे सोचते तो, कि महात्मा जी ने हकीम साहब के ही हाथ में कलम क्यों दी, ख्वाजा हसन निजामी के हाथ में क्यों नहीं दे दी? वे जानते थे कि हकीम अजमल खाँ चाहे अपनी कौम को ठीक राह पर कायम रखने वाले समर्थ पथ-दर्शक न साबित हुए हों, पर अक्लमन्दी, दूरंदेशी और सब से ज्यादह हिन्दुओं के किये एहसानों के प्रति कृतज्ञता का दिवाला उन्होंने नहीं निकाल दिया है और वे आँखें मूंद कर, बिना हिन्दू नेताओं की सलाह लिये, या उनके मनोभावों का काफी खयाल किये, मुसलमानों के लिए सारा राज न माँग लेंगे और हिन्दुओं को राह का भिखारी न बना देंगे। खैर—

धर्म और जाति—

हाँ, तो मेरा कहना यह है कि शान्ति और गंभीरता के साथ मुसलमानों के भय की जड़ को काटने के बदले, हम ने जोश और

गुस्से में आकर उसका ऐसा इलाज करना शुरू किया जिससे मर्ज़ दिन दिन बढ़ता ही चला गया। हमारे शुद्धि और संगठन उनके दिल के दर्द की ठण्डी और सच्ची दवा न हुई। तबलीग़ तनज़ीम और शुद्धि-संगठन का वर्तमान भाव और रूप, धर्म से कोसों दूर है, न वह धर्म-भाव से प्रेरित ही है। धर्म का अर्थ है, धर्म के उच्च सिद्धान्त जैसे धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य, अक्रोध आदि। जो लोग इन नियमों का पालन या पालन करने का प्रयत्न करते हैं वे धार्मिक कहलाते हैं। जब उनकी संख्या ज्यादह हो जाती है, तब वह एक जाति बन जाती है। हिन्दू-जाति हिन्दू-धर्म के उच्च सिद्धान्तों के पालन का दावा करती है। इसलिए वह हिन्दू-धर्म की अनुयायिनी कहलाती है—इसीलिए उसका नाम हिन्दू है। उसी तरह मुस्लिम-जाति भी इसीलिए मुस्लिम कहलाती है कि वह इस्लाम के अनुगमन का दावा रखती है। हर जाति ने अपने अपने मज़हब के सूचक कुछ चिह्न बना लिये हैं जैसे शिखा, दाढ़ी, आदि और उन जातियों के धर्म-नेताओं ने उनका धार्मिक अर्थ भी बना रक्खा है। कोई जाति तभी तक अपने नाम का सच्चा दावा कर सकती है जब तक वह उस धर्म के सिद्धान्तों और नियमों का पालन करती है। हिन्दू-जाति का महत्व इसी बात में है कि वह हिन्दू-धर्म की प्रतिनिधि समझी जाती है। यही बात हर जाति पर घटित होती है। कोई जाति अपने धर्म-सिद्धान्त से च्युत या विमुख होकर अपने को उस धर्म की प्रतिनिधि नहीं कह सकती। यदि कोई हिन्दू न ईश्वर को माने, न सत्य की परवा करे, न सदाचारी हो; पर लंबी चोटी

रखता हो, दस दफ़ा नहाता हो, वेद-मंत्र सस्वर बोलता हो, तो क्या वह सच्चा हिन्दू है ? इसी तरह क्या वह मुसलमान भी सच्चा मुस्लिम है जो न एक खुदा को मानता हो, न हर मुसलमान के साथ भाई का सा बरताव करता हो, न सचाई और ईमानदारी का पाबंद हो, पर जो लंबी दाढ़ी रखता हो, पाँच बार नमाज़ पढ़ता हो, हाथ में टेढ़ा मेढ़ा डण्डा लिए गली गली इस्लाम और पैगम्बर साहब की दुहाई देता फिरता हो ? नहीं। कहने की ग़रज़ यह कि धर्म के दो भाग होते हैं—(१) धर्म-तत्व, धर्म-सिद्धान्त और (२) उनको अमल में लाने के तरीक़े या व्यवहार-शास्त्र अथवा धर्म-शास्त्र। धर्म-शासन धर्म-तत्व की पाबंदी के लिए बनाये गये हैं। धर्म-शास्त्र धर्म-तत्व तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनाता और बताता है। अतएव सीढ़ियों को मकान समझ लेना जिस तरह भूल और खतरनाक है, उसी तरह, दाढ़ी-चोटी, कोरा स्नान—ध्यान, बाजा आरती, आदि को धर्म का मूल स्वरूप या मुख्य अंग मान लेना भी भारी ग़लती है और भयावह है। 'न लिंगं धम-कारणम्'। इसी तरह धर्म-तत्वों के पालन की ओर, उनके ज्ञान का प्रचार करने की ओर ध्यान न देकर, उनके नाम पर दाढ़ी—चोटी रखवालेने वालों की अंधाधुन्ध संख्या बढ़ाने की कल्पना करना धर्म से कोसों दूर है। अज्ञ या अल्पज्ञ लोग धर्म का नाम सुनते ही पागल हो उठते हैं, इसलिए उन्हें एक धर्म के दायरे से हटाकर दूसरे धर्म में लाने के लिए फुसलाना, या धम के नाम पर उन्हें लड़ा मारना, धर्म के साथ भयंकर खिलवाड़ करना है।

शुद्धि-तबलीग़ का अर्थ और स्वरूप—

शुद्धि के मानी हैं, शुद्ध होने की क्रिया। शुद्ध वही होना चाहता है जो अशुद्ध हुआ हो, पतित हुआ हो, जिसने कोई बुरा काम किया हो, जिसके लिए उसे पश्चाताप हुआ हो, जो उस बुराई से छूट जाना चाहता हो और फिर उसमें न पड़ना चाहता हो। अर्थात् शुद्धि का भाव किसी के मन की, हृदय की चीज़ हुई। दूसरा आदमी उसको उसकी बुराई बता सकता है, समझा सकता है, उसके अन्दर पश्चाताप का भाव पैदा कर सकता है, और उसके पैदा हो जाने पर शुद्धि की विधि तथा आगे न बिगड़ने का रास्ता बता सकता है। यह दूसरा आदमी स्वयं बहुत शुद्ध, ज्ञानी और समर्थ होना चाहिए। यह तो हुआ शुद्धि का तात्विक रूप। आजकल शुद्धि का व्यावहारिक रूप हो गया है—एक धर्म की सीमा में गये आदमी को दूसरे धर्म के क्षेत्र में लाते समय की गई बाहरी विधि या संस्कार। मुसलमान इसीको तबलीग़ कहते हैं। इस शुद्धि और तबलीग़ के मूल में एक तो यह कल्पना गृहीत है कि हमारा धर्म अच्छा है, दूसरे का धर्म बुरा है, दूसरे यह भाव वर्तमान है कि किसी तरह हमारी जाति की संख्या बढ़े, वह विस्तृत और मज़बूत हो। पहली बात धर्म से संबंध रखती है, दूसरी राजनैतिक या महत्वाकांक्षा या स्पर्द्धा या प्रतीकार से।

मेरा धर्म अच्छा, तेरा बुरा—

'हमारा धर्म अच्छा है, दूसरे का बुरा है' यह भावना किसी के स्वाभिमान की सूचक या पोषक भले ही हो, धर्म का वह कोई

खास अंग नहीं है। यह 'धारणा' तो मनुष्य की इस योग्यता, अनुभव और विश्वास को सूचित करती है कि उसने सब धर्मों को टटोल और परख देखा और उसे इसी धर्म में सच्ची सुख-शान्ति मिली। या तो मनुष्य स्वानुभव से यह घोषणा कर सकता है या दूसरों के वचनों पर विश्वास रख के करता है। अपने धर्म को अच्छा और दूसरे को बुरा कहने वाले अधिकांश लोग अक्सर दूसरी श्रेणी के हुआ करते हैं।

दूसरे को अपने मज़हब में क्यों लाना चाहते हैं ?

दुनियाँ में कई धर्म हैं। वे क्या हैं ? क्यों हैं ? यदि ईश्वर एक है, और धर्म उस तक पहुँचने का मार्ग है, तो उसके रास्ते इतने जुदे क्यों हैं, और यदि जुदे हैं तो उन पर चलने वालों को खुद ईश्वर तक पहुँचने की अधिक चिन्ता और बेचैनी होने के बजाय दूसरों को अपने रास्ते ले जाने की इतनी छटपटाहट क्यों है ? इसके अंदर दूसरे के ग़लत या टेढ़े रास्ते से और उसकी तकलीफ़ों से किसी को बचा कर अपने अच्छे और सरल रास्ते से ईश्वर तक पहुँचाने की सज्जनोचित स्वाभाविक उपकार-भावना प्रधान है या किसी तरह अपने गोल को बड़ा और मज़बूत बना-कर राह का आनंद और ऐश्वर्य्य भोगने की महत्वाकांक्षा है, यह विचारने योग्य है। यदि उपकार-भावना है तो फिर इसमें आतुरता, अधीरता, रोस, कटुता, प्रतिहिंसा और मरने मारने की की तैयारी क्यों ? यदि ऐश्वर्य की महत्वाकांक्षा है, तो धर्म की ओट में क्यों ?

धर्म क्या है ?

प्राणिमात्र का धर्म एक है—विविधताओं से एकता की ओर जाना—एकता में उनकी हल-चल का पर्यवसान होना। मनुष्य-मात्र का धर्म एक है—अपने जीवन-लक्ष्य को पहुँचना। मनुष्य का लक्ष्य क्या है—तमाम बंधनों, तमाम दुःखों, तमाम बुराइयों, तमाम कमजोरियों से सदा के लिए छूट जाना, इसी को हिंदू-धर्म में मोक्ष कहा है। व्यवहार की सरल भाषा में इसे हम यों कह सकते हैं—धर्म पूर्ण स्वतंत्रता की सड़क है; धर्म ऐहिक सुख और पारमार्थिक सुख का राजमार्ग है; धर्म नीचे गिरे हुओं को ऊपर उठाने की सीढ़ी है; धर्म प्राणिमात्र के हित का साधन है। इसी को दूसरी भाषा में लोग कहते हैं—धर्म ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता है, धर्म सत्य के पहचानने का साधन है, धर्म आत्मसाक्षात्कार का उपाय है। और दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म उन नियमों के समूह को कहते हैं, जिनका पालन कर मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास कर सकता है, स्वयं अपने को तथा दूसरों को सुखी बना सकता है। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए धर्म मनुष्य को आज्ञा देता है कि तुम इन इन गुणों को, शक्तियों को प्राप्त करो और इन इन दोषों और बुराइयों को छोड़ो। जब धर्म मनुष्य की लक्ष्य-संबंधी बातों और भावों को स्थिर करता है, तब उन्हें धर्मतत्व या धर्म-सिद्धान्त कहते हैं; जब धर्म यह बताने लगता है कि अपने लक्ष्य तक तुम इस तरह इन इन बातों को करते और इन इन बातों को छोड़ते हुए पहुँच सकोगे, तब उसे धर्म-शास्त्र कहते हैं। धर्म-तत्व अटल है, त्रिकालाबाधित

है; धर्म-शास्त्र परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है—परिवर्तनशील है।

ईश्वर एक है—

हिंदू मुसलमान, ईसाई, यहूदी, आस्तिक, नास्तिक सब प्रकार के पंथ और वर्ग के लोगों को ध्यान में रख कर उनके सर्व-सामान्य, सर्व-सम्मत लक्ष्य को इस भाषा में व्यक्त कर सकते हैं—मनुष्य का लक्ष्य है—सत्य को अनुभव करना, सत्य को पाना, सत्य पर आरूढ़ रहना, सत्यमय हो जाना। जो सत्य है वही ईश्वर हो सकता है और ईश्वर के सिवा सत्य कुछ और नहीं। जिसे तत्व-ज्ञानी सत्य के नाम से पुकारता है; अध्यात्म-शास्त्री आत्मा के नाम से पहचानता है; भक्त ईश्वर के नाम से बुलाता है; नास्तिक प्रकृति या शक्ति के नाम से जिसकी घोषणा करता है, हिन्दुओं ने जिसे परमेश्वर कहा है, ब्रह्म कहा है, अँग्रेजों ने जिसे गॉड समझा है; मुसलमान जिसे अल्लाह के नाम से पुकारते हैं, वह वही सत्तत्व, सद्तत्त्व है जिसका अनुभव प्रत्येक विचारशील और भक्त सृष्टि की सारी विविधता, विचित्रता और विरोध-प्रचुरता में करता है। भक्त अपनी भावुक रसमयी वाणी में उसे चाहे जैसा सुंदर काव्यमय रूप दें; पर वह चीज़ वही है जिसे भिन्न भिन्न लोग अपनी योग्यता, रुचि, अनुभव और ज्ञान के अनुसार जान कर, भिन्न भिन्न नामों से उसका परिचय कराते हैं। जिन जिन महापुरुषों ने उसे पहचाना है; उस तक जाने का मार्ग जिन्होंने लोगों के सामने रख दिया है तथा जो कहते हैं कि भाई, यही वहाँ तक जाने का

रास्ता है, वे भिन्न भिन्न धर्म-मतों के प्रवर्तक या सुधारक हुए हैं। मुहम्मद, ईसा-मसीह, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, नानक, दयानन्द आदि इसी कोटि में आते हैं। इनके बताये तरीक़ों से चलने का दावा रखने वाले अपने को उनका अनुयायी मानते हैं।

धर्मपन्थ और उनमें साम्य—

इस विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भिन्न भिन्न धर्म-मत एक ही परम सत्य या तत्व तक पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं और इसीलिए उनका दूसरा नाम हिन्दुओं के यहाँ पड़ गया है—पन्थ। वर्तमान शुद्धि और तबलीग़ आन्दोलनों का सम्बन्ध इन्हीं धर्म-पन्थों से है। एक पन्थवाला अपने पन्थ को अच्छा समझता है और चाहता है कि दूसरा भी इसी रास्ते चले। इस शुद्ध इच्छा पर कोई कैसे ऐतराज़ कर सकता है? जब वह यह कहता है कि मेरा ही पंथ अच्छा है, दूसरे का बुरा है और चाहता है तथा ज़ोरों से कोशिश करता है कि दूसरे पंथों के लोग अपने पंथों को छोड़ कर हमारे पंथ में आजावें, तब मनुष्य के सर्व-सामान्य धर्म की आत्मा को आघात पहुँचता है। यदि हम मौजूदा धर्म-पन्थों के मनुष्य के लक्ष्य तथा उसकी पूर्ति के अनिवार्य साधन से संबंध रखने वाले सिद्धान्तों और विचारों को देखें तो हमें उनमें प्रायः साम्य दिखाई देता है। सत्य दया, परोपकार, पवित्रता, शान्ति, नम्रता, इन गुणों या नियमों की महत्ता से किस धर्मपन्थ ने इनकार किया है—किसने इनकी आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया है? यदि किसी ने इनमें

से अथवा धर्म-नियमों में से किसी एक पर कम या ज्यादह जोर दिया है तो यह उसकी विशिष्ट परिस्थिति के कारण से हुआ है—यह धर्म के ऊँचे तत्वों का विषय नहीं, धर्म-शास्त्र का—धर्म को अमल में लाने के तरीके का विषय है और इसे धर्म के प्राण-रूप नियमों की उच्चता नहीं दी जा सकती। वर्तमान सब धर्म-पन्थ इतनी बातों में प्रायः एक मत हैं—(१)सत्य या ईश्वर है(२) मनुष्य पवित्र हुए बिना उस तक नहीं पहुंच सकता; (३) सदाचार पवित्रता का सब से बड़ा साधन है। ये तीन सिद्धान्त सबको मान्य हैं। अब इस बात में आगे चलकर भले ही मत-भेद हो कि सदाचार में किन किन बातों का कहाँ तक समावेश होता है-धर्म-संकट या कर्तव्या-कर्तव्य का प्रश्न उपस्थित होने पर कौन धर्माचार्य या धर्म-शास्त्री किस बात को किस हद तक जायज या नाजायज समझता है। व्यावहारिक रूप में यह प्रश्न नीति-शास्त्र या समाज-शास्त्र का हो जाता है। और जो धर्म-प्रवर्तक या धर्माचार्य जितना ही अधिक सत्य को, परमतत्व को, उज्ज्वल और संपूर्ण रूप में देखता होगा, और मनुष्य-समाज को उसकी प्रतीति करा देने के लिए जितना ही अधिक उत्सुक होगा, जितना ही अधिक उसे मनुष्य-समाज की नैतिक स्थिति और मनोभूमिका का परिज्ञान होगा, जितना ही अधिक उसका प्रभाव मनुष्य-समाज पर होगा, उतनी ही अधिक ऊँची कल्पना वह उसके सामने रक्खेगा और उतना ही अधिक जोर वह उस पर देगा। अस्तु!

सच्चा धार्मिक क्या करेगा ?

कहने का मतलब यह है कि, जब कि मौजूदा धर्म-पंथों के

उच्च नियम प्रायः एक से हैं और उनके अमल की तफ़सीली बातों में अगर मत-भेद है तो फिर इतने ही पर दूसरे धर्म को 'बुरा' कहना कहाँ तक धर्म-संगत है। एक धार्मिक पुरुष तो यही कह सकता है—'भाई, सब धर्म-पन्थ एक ही ईश्वर तक—मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य तक, पहुँचाते हैं। हमें उचित है, ज़रूरत केवल इसी बात की है कि हम उसके सच्चे, ऊँचे रूप को समझें और सचाई के साथ उसका पालन करें—हम अपने तईं, दुनिया के तईं और ईश्वर के तईं सच्चे बनकर ज़िन्दगी बसर करें।' ज़्यादह से ज़्यादह वह इतना और कह सकता है—'लेकिन भाई, मेरा रास्ता उससे भी अच्छा और आसान है। तुम्हारे धर्म में यदि इतनी खूबी और आ जाती, जो मेरे में है, तो क्या बहार होती?' आगे चलकर यदि वह इतना और भी कह दे कि 'इसलिए तुम मेरे ही रास्ते क्यों नहीं चलते?' या आग्रह करे कि 'चलो।' तो तत्वतः उसे कोई बेजा नहीं कह सकता; पर भावतः उसकी धार्मिकता में कमी ज़रूर पैदा हो जाती है। सच्चा धार्मिक दूसरे धर्म-मतों को, जो कि मूलतः बुरे नहीं हैं, मिटाने, गिराने या बदनाम करने की कोशिश न करेगा; बल्कि उन्हें सुधारने और अपने मत की कोटि में ला देने की चेष्टा करेगा। वह अच्छाई को खोजेगा, जहाँ कहीं मिल जायगी, उसकी क़द्र करेगा, औरों को उसकी ओर प्रेरित करेगा और यदि कहीं बुराई दीख पड़ी तो उसे फैलाने के बजाय उसे दूर करने की कोशिश करेगा। उसका हृदय प्रेम, सहानुभूति और सेवा के भाव से भरा होगा। सहिष्णुता उसके जीवन का धर्म होगा। सहिष्णुता का अर्थ ही यह है

कि हम दूसरे को भी उतनी ही आजादी देते हैं जितनी कि हम उससे लेना चाहते हैं। धार्मिक जीवन की शुरूआत ही सहिष्णुता से होती है। जो मनुष्य धमकी, दाब, या अनीति-पूर्ण गंदे तरीकों से दूसरों को धमका, बहका या फुसलाकर अपने धर्म-मत में मिलाता है, जो शास्त्र या ग्रन्थ ऐसा करने की इजाजत देता है या उसे बरदाश्त करता है, वह मनुष्य-धर्म के अज्ञान या उन्माद में धर्म की हत्या करता है, वह शास्त्र या ग्रन्थ 'धर्म' विशेषण से विभूषित होने के योग्य नहीं है—यदि किसी परिस्थिति में, किसी कारण से कुछ नाजायज बातों को भी किसी ने बरदाश्त कर लिया या जायज मान लिया तो अब उसमें संशोधन की भारी आवश्यकता है। उसका संशोधन न करना, अपने धर्म-मत की जड़ को हिलाने का अवसर देना है।

धार्मिक शुद्धि क्या है?

छानबीन हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि जब कि मूलतः अच्छे धर्म-पन्थ को 'बुरा' कहना ही आक्षेप-योग्य है; तब उसकी बुनियाद पर दूसरे को अपने मत में मिलाना कहाँ तक धर्मानुमोदित हो सकता है? फिर किसी धर्म-मत में रहना उस अर्थ में बुरा या पाप तो हुई नहीं, जिस अर्थ में कि नीति या सदाचार से पतित होना है। शुद्धि तो पतित और पापी की ही हो सकती है। शुद्धि तब भी हो सकती है जब मनुष्य खुद ही किसी धर्म-मत में रहना पाप समझने लगा हो। पर उस धर्म-मत के मूल सिद्धान्त में यदि कोई ऐसी बुराई नहीं है तो कहना होगा

कि उस शुद्धि चाहने वाले को अपने असली धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। अतएव शुद्धि करने वाले का पहला कर्तव्य यह है कि वह पहले उसे अपने असली धर्म का ज्ञान करावे। इसी बात को यदि मैं इस भाषा में पेश करूँ—कि एक मुसलमान को अथवा हिन्दू को चाहिए कि किसी की शुद्धि करने के पहले यह देख ले कि उसे अपने असली धर्म का यथार्थ ज्ञान है वा नहीं और वह उसमें रहना पाप या बुरा क्यों समझता है, और यदि उसे पूरा ज्ञान नहीं है, या भ्रम है तो उसे दूर कर दे—और फिर उसकी शुद्धि करे–तो पाठक तुरन्त जान लेंगे कि किसी की शुद्धि कितनी मुश्किल है; और सच्ची शुद्धि और वर्तमान शुद्धि तबलीग़ में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है। वह यह भी देख लेगा कि धर्मान्तर या उसके लिए किये गये शुद्धि-संस्कार का संबंध धर्म और धार्मिकता से उतना नहीं है जितना समाज और सामाजिक सुविधा-असुविधा से है। वर्तमान शुद्धि तबलीग़ एक सामाजिक या राजनैतिक आन्दोलन है। धर्म की बुनियाद पर वह ठहर नहीं सकता। इसीलिए धार्मिक दृष्टि से वह सदोष है और धार्मिक मनुष्य उसके इस दोष को सहज पहचान सकता है। शुद्ध धार्मिक दृष्टि से तो मनुष्य को अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए न तो किसी धर्म-मत की चिट अपने ललाट पर लगाने की ज़रूरत है और न, यदि वह पहले से किसी मत को अपना चुका है, तो उसे बदलने की ही ज़रूरत है, बशर्ते कि वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शर्तों का ईमानदारी से पालन करता हो।

कोई धर्मान्तर क्यों करता है ?

फिर धर्मान्तर करना एक बात है; धर्मान्तर कराना दूसरी बात है; समझ के साथ धर्मान्तर करना एक बात है; लालच से करना दूसरी बात है; समझा-बुझा कर धर्मान्तर कराना एक बात है; फुसलाकर, धमकी देकर या बल-पूर्वक धर्मान्तर कराना और ही चीज़ है। भला, कोई आदमी धर्मान्तर क्यों करता है ? सब धर्मों का लक्ष्य तो एक ही है, उनके मुख्य सिद्धान्तों में भी प्रायः साम्य है। फिर क्या वजह है कि कोई एक पन्थ को छोड़ कर दूसरे में जाना चाहेगा ? सिर्फ़ एक ही कारण हो सकता है। यदि उस धर्म के सिद्धान्तों के पालन का तरीक़ा उस समाज में इतना बिगड़ा हुआ हो कि वह उसमें रहकर उनका पालन न कर सकता हो, या उनका पालन करते हुए उसे अज़हद तकलीफ़ों का सामना करना पड़ता हो, जिन्हें बरदाश्त करने के लिए वह तैयार न हो, न वह उसमें सुधार करने में ही सफल मनोरथ हो पाता हो, तो वह अपनी आत्मा की भूख बुझाने के लिए उस धर्म, पन्थ, या समाज की शरण में जाता है जहाँ उसे शान्ति और आराम के साथ उनके पालन करने की सुविधा मिल जाती है। जिनमें अपने धर्म की बिगड़ी व्यवहार-पद्धति को सुधारने की शक्ति होती है जो उससे मिलने वाले कष्टों को सहने या उनका मुक़ाबला करने का सामर्थ्य रखते हैं वे तो ईसामसीह, सुकरात, दयानंद, मीरा, महावीर, बुद्ध, प्रह्लाद होते हैं, पर जो अपने अंदर इतनी शक्ति का अनुभव नहीं करते, उनके लिए धर्मान्तर के सिवा गुज़र नहीं। पर यह धर्मान्तर एक तो स्वेच्छापूर्वक

खुशी खुशी होता है और दूसरे वह उस पन्थ के मूल सिद्धान्तों के कारण नहीं, वल्कि उनके व्यवहार की प्रणाली के कारण होता है। दूसरी भाषा में इसे यों कह सकते हैं कि वह धर्मान्तर नहीं, समाजान्तर होता है। यदि उसके पन्थ का धर्म-शास्त्र या समाज-व्यवहार वदल जाय तो फिर शायद वह अपने समाज को छोड़ना न भी चाहे। इसीलिए मैं कहता हूँ कि धर्मान्तर या शुद्धि का संवंध धर्म से नहीं; वह सामाजिक वात है और आजकल वह राजनैतिक चीज़ हो गई है। हाँ, सामाजिक या राजनैतिक सुविधा-असुविधा के ख़याल से शुद्धि और धर्मान्तर का महत्व और स्थान समझ में आ सकता है।

धर्म के नाम पर शुद्धि तवलीग़ से हानियाँ—

यदि वर्तमान शुद्धि-तवलीग़-आन्दोलनों का सामाजिक और राजनैतिक ही हेतु है तो फिर यह सर्वथा उचित है कि जनता के सामने वह धर्म के रूप में पेश न किया जाय। धर्म के नाम पर धर्मान्तर अथवा शुद्धि-तवलीग के प्रचार करने के भयंकर दुष्परिणाम होते हैं, और हुए हैं।

दुनियाँ के वड़े वड़े धर्म-युद्ध इसी भ्रम या नीति के कृतज्ञ हैं। इस्लाम की यह प्रवृत्ति कि गर्दन मार कर भी मुसल्मान वनाओ, इसी ग़लती का ढिंढोरा पीट रही है। अशोक ने इसी तरह के धर्म-प्रचार या धर्मांतर के भ्रम में कलिन्द में अगणित जन-संहार किया। इसी अज्ञान के कारण वेश्याओं के द्वारा, रिश्वतें दे दे कर, तथा औरतों को उड़ा उड़ा कर भी इस्लाम का प्रचार करने की सलाह देते हुए

ख्वाजा हसन निज़ामी के रोंगटे खड़े न हुए—धर्म और राजनीति की इसी भूल-भुलैयाँ के बदौलत, दोनों की ठीक मर्यादा न जानने के कारण, अखबारों के संवाददाता शुद्धि-तबलीग़ और दंगों के समाचार सत्यासत्य की परवा किये बिना, उनके भीषण परिणामों का खयाल किये बिना भेजते हैं और सम्पादक अपने जोश में भड़कीली टिप्पणियाँ लिख मारते हैं, इसी के कारण मुक़दमों में झूठी गवाहियाँ देना, झूठे मुक़दमे बनाना, नमाज़, बाजे, आरती, या पेड़ कटने जैसी नकुछ बातों को धार्मिक अधिकार का रूप देना और उनके लिए बड़े बड़े हुल्लड़ खड़े कर देना—इन भयंकर बातों में किसी को, धर्म या नीति या बुद्धि के विरुद्ध कोई बात ही नहीं दिखाई देती। इसी के कारण टुट पूंजिये उपदेशक और कार्य-कर्त्ता सड़ी सड़ी बातों को धर्म का विशाल और पवित्र रूप देकर जनता के धार्मिक भावों का अपने मतलब के लिए खूब दुरुपयोग करते हैं। इससे जनता को भी धोखा होता है, उनके धर्म-संबंधी घोर अज्ञान में धर्मान्धता का नया भूत संचार कर जाता है, जिससे अन्ततोगत्वा धर्म का गला घुटने लगता है; दूसरे धर्म वालों की दृष्टि में हमारे धर्म की बहुत ही निकृष्ट, घृणित और मलिन मूर्ति आती रहती है जो कि एक जाति या मनुष्य-समाज की हैसियत से हमें उनकी नज़र से गिरा देती है। इसका बहुत बुरा असर हमारे सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक जीवन की प्रगति पर होता है। यदि हम धार्मिक या सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों को उनके स्पष्ट रूप में और स्पष्ट शब्दों में लोगों के सन्मुख रक्खें तो उन्हें यह ठीक ठीक

दिखाई पडता रहेगा कि किस हद तक, किस बात को, कितना महत्व दें। उनके विचार सुलझे हुए और साफ़ रहेंगे तो इससे हमारे धर्म और समाज दोनों की अच्छी सेवा भी होगी और हम अनेक हानियों से बच जायँगे।

धर्मान्तर की राजनैतिक आवश्यकतायें हैं ?

सामाजिक या राजनैतिक दृष्टि से जब शुद्धि और तबलीग़ की आवश्यकता पर विचार करने लगते हैं, तो पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मुसलमानों या हिन्दुओं की वे सामाजिक या राजनैतिक आवश्यकतायें क्या हैं जिनके लिए इतने बड़े पैमाने पर धर्मान्तर—नहीं, इसे समाजान्तर या जाति-परिवर्तन कहना चाहिए—शुद्धि-आन्दोलन खड़ा करना चाहिए? यदि भारत में कुछ ऐसी जातियाँ या लोग हैं, जो न पूरे हिन्दू-समाज के अन्तर्गत हैं, न पूरे मुसल्मान-समाज के; और इस कारण इन्हें सामाजिक असुविधायें हैं, तो या तो यह प्रश्न दोनों जातियों के मुखिया मिलाकर उनकी राय से तय कर लें, या उन्हीं के निर्णय पर छोड दें। यदि प्रश्न उनकी सुविधा का है तो हिन्दू-मुसल्मानों को उनके धर्मान्तर या शुद्धि के लिए इतने ज़बरदस्त आन्दोलनों की क्या ज़रूरत? यदि प्रश्न हिन्दुओं या मुसल्मानों की संख्या, या बल का है तो आख़िर मुसल्मान या हिन्दू चाहते क्या हैं? यदि दोनों में से किसी की, या दोनों की यह अभिलाषा हो कि हिन्दुस्तान में दो में से एक ही जाति रहेगी—एक दूसरी को बल-पूर्वक हड़प जायगी, तो ऐसे ख़याल रखने वाले

ख्वाजा हसन निज़ामी के रोंगटे खड़े न हुए—धर्म और राजनीति की इसी भूल-भुलैयाँ के बदौलत, दोनों की ठीक मर्यादा न जानने के कारण, अखबारों के संवाददाता शुद्धि-तबलीग़ और दंगों के समाचार सत्यासत्य की परवा किये बिना, उनके भीषण परिणामों का ख़याल किये बिना भेजते हैं और सम्पादक अपने जोश में भड़कीली टिप्पणियाँ लिख मारते हैं, इसी के कारण मुक़द्मों में झूठी गवाहियाँ देना, झूठे मुक़द्मे बनाना, नमाज़, बाजे, आरती, या पेड़ कटने जैसी नकुछ बातों को धार्मिक अधिकार का रूप देना और उनके लिए बड़े बड़े हुल्लड़ खड़े कर देना—इन भयंकर बातों में किसी को, धर्म या नीति या बुद्धि के विरुद्ध कोई बात ही नहीं दिखाई देती। इसी के कारण टुट पूंजिये उपदेशक और कार्य-कर्त्ता सड़ी सड़ी बातों को धर्म का विशाल और पवित्र रूप देकर जनता के धार्मिक भावों का अपने मतलब के लिए खूब दुरुपयोग करते हैं। इससे जनता को भी धोखा होता है, उनके धर्म-संबंधी घोर अज्ञान में धर्मान्धता का नया भूत संचार कर जाता है, जिससे अन्ततोगत्वा धर्म का गला घुटने लगता है; दूसरे धर्म वालों की दृष्टि में हमारे धर्म की बहुत ही निकृष्ट, घृणित और मलिन मूर्ति आती रहती है जो कि एक जाति या मनुष्य-समाज की हैसियत से हमें उनकी नज़र से गिरा देती है। इसका बहुत बुरा असर हमारे सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक जीवन की प्रगति पर होता है। यदि हम धार्मिक या सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों को उनके स्पष्ट रूप में और स्पष्ट शब्दों में लोगों के सन्मुख रक्खें तो उन्हें यह ठीक ठीक

दिखाई पडता रहेगा कि किस हद तक, किस बात को, कितना महत्व दें। उनके विचार सुलझे हुए और साफ़ रहेंगे तो इससे हमारे धर्म और समाज दोनों की अच्छी सेवा भी होगी और हम अनेक हानियों से बच जायँगे।

धर्मान्तर की राजनैतिक आवश्यकतायें हैं ?

सामाजिक या राजनैतिक दृष्टि से जब शुद्धि और तबलीग़ की आवश्यकता पर विचार करने लगते हैं, तो पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मुसलमानों या हिन्दुओं की वे सामाजिक या राजनैतिक आवश्यकतायें क्या हैं जिनके लिए इतने बड़े पैमाने पर धर्मान्तर—नहीं, इसे समाजान्तर या जाति-परिवर्तन कहना चाहिए—शुद्धि-आन्दोलन खड़ा करना चाहिए ? यदि भारत में कुछ ऐसी जातियाँ या लोग हैं, जो न पूरे हिन्दू-समाज के अन्तर्गत हैं, न पूरे मुसलमान-समाज के; और इस कारण इन्हें सामाजिक असुविधायें हैं, तो या तो यह प्रश्न दोनों जातियों के मुखिया मिलाकर उनकी राय से तय कर लें, या उन्हीं के निर्णय पर छोड दें। यदि प्रश्न उनकी सुविधा का है तो हिन्दू-मुसल्मानों को उनके धर्मान्तर या शुद्धि के लिए इतने ज़बरदस्त आन्दोलनों की क्या ज़रूरत ? यदि प्रश्न हिन्दुओं या मुसल्मानों की संख्या, या बल का है तो आखिर मुसल्मान या हिन्दू चाहते क्या हैं ? यदि दोनों में से किसी की, या दोनों की यह अभिलाषा हो कि हिन्दुस्तान में दो में से एक ही जाति रहेगी—एक दूसरी को बल-पूर्वक हड़प जायगी, तो ऐसे ख़याल रखने वाले

पागलखानों में भेज देने के लायक़ हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों की राजनैतिक आकांक्षायें न तो हिन्दू-राज या हिन्दू-शक्ति हो सकती है, न मुस्लिम-राज या मुस्लिम-शक्ति हो सकती है। यह सवाल या तो तब खड़ा हो सकता था, जब दोनों अपने बला-बल को आज़माने और खुल्लमखुल्ला दो दो हाथ करने के लिए आज़ाद थे, या शायद तब हो सके, जब फिर वे उसी तरह आज़ाद हो जायँ। आज तो दोनों की पृथक् पृथक्, और सम्मिलित, एक ही राजनैतिक आकांक्षा या आवश्यकता हो सकती है—स्वराज्य। और स्वराज्य के लिए दोनों का अपनी अलहदा अलहदा संख्या और बल बढ़ाना—अलग जत्थेबंदी और फिरक़ा बंदी करना सोभी ऐसी जिससे आयेदिन दोनों में हाथा-पाही होती हो, न केवल अनावश्यक है, बल्कि महा हानिकर है, यह हम इन दो तीन वर्षों के इतिहास से, स्वराज्य को दूर हटाकर, अच्छी तरह देख ही रहे हैं।

हिन्दू जाति रसातल को जा रही है—

किन्तु इस पर कहा जाता है—'हिन्दू-जाति तो रसातल को जा रही है, दिन दिन घट रही है, मुसलमान अपना काम दिन दिन करते जा रहे हैं और आप हम पर धर्म-कर्म की सूक्ष्म और आदर्श-रूप बातों का लेक्चर झाड़ते है। आपको पड़ी है अपने आदर्शों की, हमें पड़ी है अपनी ज़िंदगी की! मैं इस जाति-चिन्ता की क़द्र करता हूँ; पर मेरी समझ में नहीं आता कि केवल संख्या घटने से कोई जाति कैसे रसातल को जा सकती है और संख्या

बढ़ने से कैसे ऊँची उठ सकती है। संख्या गुण पर अवलंबित रहती है। हिन्दू-जाति में जो आज २२ करोड़ लोग हैं, उनके पूर्वज हिन्दू-धर्म के सच्चे प्रतिनिधि, ऋषि-मुनियों और आदर्श-राजाओं के पवित्र आचरण और गुण-बल से आकर्पित हुए, और उन्हीं के तपोबल से आज भी हमें अपने शिखा-सूत्र का अभिमान है। इस्लाम में या ईसाई-धर्म में यदि ऊँचे और पवित्र सिद्धान्त न होते और यदि मुसलमानों में पहुँचे हुए सन्त-फ़क़ीर न हुए होते तो कोरे तलवार-बल पर न आज इतने मुसलमान दुनियाँ में दिखाई पड़ते और न क़ायम रहते। फ़र्ज़ कीजिए कि भारत के सभी मुसलमानों और ईसाइयों ने हिन्दू-धर्म ग्रहण कर लिया और हिन्दू-जाति में आ गये, पर वे तथा उनके संग से अन्य हिन्दू हिन्दू-धर्म के उच्च सिद्धान्तों का पालन छोड़कर, केवल शिखा-सूत्र धारण भर के लिए अपने को हिन्दू कहलाने लगे तो, क्या यह हिन्दू-जाति की, हिन्दुत्व की, हिन्दू-धर्म की उन्नति हुई? हिन्दू-जाति और हिन्दुत्व आख़िर है क्या? हिन्दू-धर्म में से यदि 'सर्वात्मभाव' 'सर्वभूतहित' 'अहिंसा परमो धर्मः' 'नास्ति सत्यात्परो धर्मः' ये तत्व और भाव निकाल दिये जायँ तो फिर हिन्दू-धर्म और क्या रह जायगा? हिन्दुत्व में से यदि इन आदर्शों और उनके आचारों को अलग कर दिया जाय तो फिर हिन्दुत्व और क्या रह गया! हिन्दू-जाति में से यदि इन तत्वों, भावों और आदर्शों के कायल और पालन करने वाले अलहदा कर दिये जायँ तो फिर हिन्दू-जाति में क्या हिन्दू-पन रह गया? हिन्दू-जीवन का मूल्य हिन्दू आदर्शों के

कारण है। उसकी अवहेलना या उपेक्षा कर के हम कैसे हिन्दू-जाति को जीवित रख सकेंगे ? यदि हम अपने आदर्श और सिद्धान्त के पक्के रहेंगे, रहने की आवश्यकता का प्रचार करेंगे, लोगों को उसके लिए तैयार करेंगे तो न मुसल्मान और न ईसाई हमारी संख्या को कम कर सकेंगे। यदि हम मौजूदा हिन्दुओं को अपने धर्म में दृढ़ रहने की शिक्षा और सुविधा न देंगे और केवल धर्मान्तर के द्वारा दूसरों को ही अपने में मिलाने का यत्न करते रहेंगे तो न घर के रहेंगे न घाट के। सामाजिक-सुधार और धर्माचरण द्वारा हमें अपने घर को पहले साफ़ और मज़बूत बनाना चाहिए।

क्या प्रतिकार भी न करें ?

इस पर यह पूछा जाता है कि हिन्दुओं के सब तरह ख़ामोश रहने और ग़म खाने पर भी यदि मुसल्मान उपद्रव और अत्याचार करना न छोड़े, हिन्दू स्त्रियों पर जब्र करें, मन्दिरों को भ्रष्ट करें तो फिर भी क्या हिन्दुओं को माला हाथ में लेकर बैठे रहना चाहिए? इस पर मैं कहूँगा, यदि हिन्दू अपनी तरफ़ से चिढ़ाने या उत्तेजना देने का कोई मौक़ा न दें, और फिर मुसल्मान ज़्यादती करें तो समाज की हैसियत से हिन्दुओं का यह कर्तव्य है कि वे सब तरह अपनी, अपने आश्रितों की, अपने देव-मन्दिरों की रक्षा करें। यदि वे शान्ति के उपायों से रक्षा न कर सकें—और देखते हैं कि आज वे शान्ति-शस्त्रों को हाथ में लेने की शक्ति अपने अंदर नहीं पाते हैं—तो प्रहार करके भी रक्षा करना

उनका धर्म है। शान्ति या अहिंसा का अर्थ डर कर भाग जाना, या दब छिपकर बैठ जाना नहीं है। हाँ, शस्त्र-मार्ग से शान्ति-मार्ग जरूर ऊँचा है और शस्त्र-मार्ग का अवलंबन हमें तभी करना चाहिए, जब उसके लिए मजबूर हो जायँ। डर और कायरता से बढ़ कर मनुष्य का शत्रु कोई नहीं।

हिन्दुत्व और स्वराज्य —

अब रहा यह प्रश्न कि हम हिन्दुत्व खोकर, कमजोर बनकर स्वराज्य नहीं चाहते। बेशक, कोई हिन्दू ऐसा न चाहेगा। मगर स्वराज्य और हिन्दुत्व परस्पर विरोधी हई नहीं। हिन्दुत्व का अर्थ है हिन्दू-संस्कृति या हिन्दुओं के गुण विशेष। हिन्दू-संस्कृति सात्विक है। मनुष्योचित सब सद्गुणों का समावेश उसमें होता है। यथा तेज, धृति, क्षमा, दया, विनय, परोपकार, संयम, आदि। हिन्दू अपनी रक्षा करते हुए अपनी अच्छाई को बढ़ाते हुए जीना चाहते हैं; दूसरों को सता कर, दूसरों को बिगाड़ कर नहीं; यही उसकी सात्विकता और इसलिए उच्चता है। क्या स्वराज्य हमारी इस सात्विकता और उच्चता का विरोधी है ?

रही कमज़ोर बनने या दबने की बात। भला, कमज़ोर बनना, दबना और स्वराज्य ये बातें एक साथ कैसे रह सकती हैं ? आप से यह नहीं कहा जाता है कि दबो या कमज़ोर बनो। बल्कि यह कहा जाता है कि अपने बड़प्पन को, उच्चता को, सात्विकता को

न छोड़ो। सात्विकता कमजोरी नहीं, बड़प्पन दब्बूपन नहीं। हाँ, जहालत और जड़ता जरूर कमजोरी है। परशुराम के मुकाबले में राम ने क्या कमज़ोरी का परिचय दिया और लक्ष्मण ने राम से ज्यादह सफलता प्राप्त की ? क्षमा, कमजोरों का नहीं, वीरों का भूषण है।

पर यदि अधिकांश हिन्दू अपने अन्दर इतनी सात्विकता, इतनी उच्चता अनुभव न करते हों तो ? वे अपने को कमज़ोर और कमज़ोर बनते हुए समझते हों तो ? तो मेरी राय में एक तो यह उनका भ्रम है। वे सिंह हैं, शूर-वीर हैं, बलवान हैं; इनके सब गुण उनके अन्दर हैं—सिर्फ कसर इसी बात की है कि वे अपने को भूल गये हैं जैसा कि वह सिंह का बच्चा अपने को भेड़ ही समझ बैठा था। हमें सिर्फ अपने बल का भान हो जाने की जरूरत है। बल का भान होगा बल की याद दिलाने से—पर हमें तो आज कमज़ोरी की याद दिलाई जा रही है। हमारी यह सदोष मनोवृत्ति भी हमें अपने को 'कमजोर' मान लेने में कम-कारणी-भूत नहीं है ? बताइए, हिन्दू मुसलमानों से किस बात में कम हैं ? धन में, जन में, बाहुबल में बुद्धि में, सदाचार में ? सिर्फ एक बात में कम हैं, जहालत में, हुल्लड़पन में ? क्या यह मुसलमानों की ताक़त और हिन्दुओं की कमज़ोरी है ? फिर यदि यह कहा जाय कि स्वराज्य के लिए तुम दोनों आपस में मेल कर लो और हिन्दुओं से कहा जाय कि तुम मुसलमानों की तरह नादान न बनो, जाहिल न बनो, तो क्या यह कमज़ोरी की सलाह है ?

दंगों से मुसलमानों का नुक़सान—

मैं मानता हूँ कि इसमें मुसलमानों का भाग आक्रामक और हिन्दुओं का रक्षात्मक है । परन्तु मुसलमानों के पास उनका कारण—उनका वह भय है जिसका ज़िक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ। और उस पर हम हिन्दुओं को सहानुभूति और भ्रातृभाव के साथ विचार करना चाहिए। हाँ, यह बात ठीक है कि मुसल्मानों को भी हिन्दुओं से वह भय न रखना चाहिए। यह भय उनके दिल की कमज़ोरी है, जिससे उन्हीं का नुकसान है। इस भय के वशीभूत होकर उन्होंने अपनी संख्या बढ़ाने के जोश में अथवा हिन्दुओं को भयभीत करने के लिए, जो मार-काट आदि अत्याचारों का अवलंबन किया, उससे अब तक मुसल्मानों की ही हानि हुई है—हिन्दुओं की नहीं। हिन्दू तो उल्टे ज्यादह सजग और मज़बूत हो गए हैं और स्वामी श्रद्धानन्द जी का ख़ून उन्हें और प्रबल बना देगा। हिन्दू, मुसल्मानों से, न धन-बल में कम हैं, न बुद्धि-बल में, न संख्या-बल में, न बाहु-बल में। उनकी ख़ामोशी, उदारता, बड़प्पन और सहिष्णुता को उनकी बुज़दिली और दब्बूपन समझने की ग़लती करके मुसल्मानों ने जो ज्यादतियाँ उन पर कीं, उनसे मुसल्मानों की ही अब तक हानि ज्यादह हुई है। उनकी जाति और संस्कृति के प्रति हिन्दुओं की सहानुभूति कम ही हुई है और यह कम नुकसान नहीं है। धन-जन की हानि इसके मुक़ाबले में कुछ नहीं है। मनुष्य धन-जन को स्वाहा करके भी अपने धर्म, संस्कृति और समाज की सुकीर्ति की रक्षा करता है। वही मुसल्मान हिन्दुओं की दृष्टि में खो रहे हैं। और सब बलों

में उनसे बढ़े-चढ़े हिन्दू यदि उनकी तरह मुसलमानों को दबाने पर तुल गये; तो न मुसलमानों के खंजर-तमंचे, न अफ़ग़ानिस्तान या तुर्क़िस्तान के मुसलमान उनकी मदद कर सकेंगे।

संगठन-तनज़ीम पर विचार—

यहाँ तक हमने इन बातों पर विचार किया कि तबलीग़ और शुद्धि का मूल और वर्तमान रूप तथा असलियत क्या है। अब हम संगठन के प्रश्न पर विचार करें। संगठन का अर्थ है—बिखरे हुए समाज को एकत्र करना। एकत्रता या एकता एक प्रकार का बल है, जिसका उपयोग समाज को सुधारने, आगे बढ़ाने, उसकी रक्षा करने आदि में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। शुद्धि का मसला जैसे धार्मिक रूप में हमारे सामने आता है, वैसे संगठन का, तनज़ीम का नहीं। संगठन शुद्ध सामाजिक विषय है और उसी रूप में वह हमारे सामने उपस्थित भी किया गया है। तबलीग़-शुद्धि की तो कल्पना ही भयंकर है; तनज़ीम-संगठन का वर्तमान रूप और उपयोग मात्र मुझे कुछ स-दोष दिखाई देता है। संगठन मूलतः अच्छी चीज़ होते हुए भी मुसलमानों ने इसका इस्तैमाल तबलीग़ को पुष्ट करने के लिए किया; और हिन्दुओं ने भी, उसके जवाब में ऐसा ही किया। इसी का फल है—तबलीग़ और शुद्धि के संगठित आन्दोलन, और संगठित लड़ाइयाँ। अपने अपने समाज की बुराइयों को सुधारने, नीति और धर्म के रास्ते अपनी अपनी जातियों को आगे बढ़ाने, का उद्योग करने के

बजाय संगठन और तबलीग़ एक दूसरे का मुक़ाबला करने लगे। अपने क्षेत्र से बाहर जा कर वे राजनैतिक बातों में भी दख़ल देने लगे और ऐसा मालूम होता है, मानों वे भी राजनैतिक दाँव-पेंच के शिकार बना दिये गये हैं। मैं ऊपर बता ही चुका हूँ कि हिन्दुओं और मुसलमानों का—नहीं सारे भारत-वासियों का राजनैतिक भाग्य और भविष्य एक ही है—वह अलहदा नहीं हो सकता; फिर सामाजिक संगठनों का राजनैतिक उपयोग क्यों होना चाहिए ? क्यों मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा पृथक् और जातीय प्रतिनिधित्व के या चुनाव के झगड़ों में दिलचस्पी लें ? क्यों हिन्दू महासभा विधवाओं, अनाथों, अछूतों के मामलों में केवल प्रस्ताव पास करके या बे मन से थोड़ा बहुत काम कर के ख़ामोश बैठी रहे—उनके लिए धन-जन की सहायता से वह इनकार करे और हिन्दू-मुसलमानों के दंगों, शुद्धि संबंधी झगड़ों के मुक़दमों में उसकी थैलियाँ खुलें, उसके कार्यकर्ता और सहायक पहुँचें ? क्यों हिन्दुओं का, हिन्दू-महासभा वादियों का रुपया चुनाव के झगड़ों में पानी की तरह बहे और सामाजिक सुधार या धर्म-संशोधन और धर्म-प्रचार में उनका वह जोश नहीं देखा जाता ? मतलब यह कि यदि दो दोषों से संगठन और तनज़ीम बचाये जाँय तो फिर वे उतने आपत्ति योग्य न रह जाँयगे—एक तो यह कि राजनैतिक बातों में वे दख़ल न दें और दूसरे, किसी जाति-विशेष से मुक़ाबला करने के हेतु से वे न किए जायँ। समाज-सुधार और धर्म-प्रचार ही उनका एक मात्र हेतु हो, इसी भाव से वे किये जायँ। सब जातियों के

संगठन राष्ट्रीय महासभा, के अपने से संबंध रखने वाले कामों में तथा आवश्यकतानुसार एक दूसरे को भी सहायता पहुँचावें।

बुद्धि कहती है—बुरा हुआ, श्रद्धा कहती है—अच्छा होगा—

तबलीग़-तनज़ीम, शुद्धि-संगठन, महात्माजी के जेल जाने के बाद की पैदायश है। मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा को भी उनके बाद ही नये सिरे से जीवन मिला है। इसका क्या कारण है? इन जातीय आन्दोलनों या संस्थाओं के नेता, महात्माजी के असहयोग-कार्य-क्रम, उनकी अहिंसा-नीति, आदि से सर्वांश में सहमत न थे; और जब महात्माजी ने उनके विरोध करने पर भी अपना रास्ता न छोड़ा, तब उनका असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था। ख़िलाफ़त में महात्माजी का हिन्दुओं से सहयोग दिलाना, कितने ही हिन्दू-नेताओं को अच्छा न लगा। उन्हें डर था कि इससे मुसल्मानों का जोर बहुत बढ़ जायगा और वे हिन्दुओं को कुचल डालेंगे। दुर्भाग्य से महात्माजी के कुछ तो सामने ही, कुछ जेल जाने के बाद, कुछ मुसल्मानों की तरफ़ से ऐसी ज़्यादतियाँ हो भी गईं जिनसे हिन्दुओं का संशय और बढ़ गया। इधर महात्माजी उनको कब्ज़े में रखने के लिए बाहर थे नहीं। दोनों जातियों के प्रायः सब राष्ट्रीय नेता, जिनका उस समय अपनी अपनी जातियों पर काफ़ी प्रभाव था, जेलों में बंद थे। ऐसी हालत में जो जातिगत-भाव और स्वार्थ रखने वाले छोटे-बड़े नेता और कार्य-कर्त्ता थे, उन्हें अपने ही विचारों, संस्कारों तथा धारणाओं के अनुसार उसका उपाय सूझ सकता था। मेरी

बुद्धि जहाँ तक सोचती है, यह हुआ तो बुरा, पर यही हो सकता था। ईश्वर को यही मंजूर था। मालूम होता है, ईश्वर को अधिक स्थायी एकता मंजूर है। स्वराज्य के पहले यदि दिलों में गुब्बार भरा रह कर एकता सध जाती तो शायद स्वराज्य के बाद उसका और बुरा फल भोगना पड़ता। अपने को कमजोर और एक दूसरे का भय रखने वाली जातियों का यह संघर्ष, ईश्वर की ऐसी योजना मालूम होती है कि दोनों का दिल साफ़ करके सम्मान-पूर्वक दोनों को एक-दूसरे के गले मिलावे। यह हुई श्रद्धा की बात। बुद्धि तो अब भी यही कहती है, दिल तो अब भी यही बोलता है कि लोकमान्य और महात्माजी का रास्ता छोड़ कर हिन्दू-मुसलमान दोनों ने ग़लती की; और एक ने ग़लती की इसलिए दूसरे का वैसी ही ग़लती करना ठीक नहीं माना जा सकता। श्रद्धा बुद्धि से बड़ी होती है। बुद्धि की गति मर्यादित है; श्रद्धा सर्व-व्यापिनी होती है। बुद्धि मानवी चीज़ है, श्रद्धा दैवी। मुझे इसमें कोई शक नहीं कि आज बुद्धि के सच होते हुए भी वह हारेगी और श्रद्धा की विजय होगी। मैं उस विजय के दिन के लिए लालायित हूँ। मेरे हाथ भक्ति-पूर्वक विजय-माला लिए श्रद्धा के गले में डालने को उठे हुए हैं। वह दिन शीघ्र आवे, जब ये आँखें राष्ट्रीय एकता को सत्य वस्तु देखें और स्वराज्य की प्रत्यक्ष स्थिति।

५—फूट का मूल और एकता का स्वरूप

हृदय-भेद की मीमांसा—

हिन्दू और मुसलमानों का यह वैमनस्य या विरोध आजकल की नई चीज नहीं—इसकी जड़ बड़ी गहरी है—ठेठ वहाँ तक पहुँचती है जहाँ से हिन्दू-मुसलमानों का इतिहास ही शुरू होता है। मौजूदा फूट चाहे हमारे भावी स्वराज्य की कल्पना के कारण पड़ी हो—पर इस फूट के अन्दर भी जो दोनों जातियों के दिल में एक दूसरे का भय, सन्देह और अविश्वास जम सा गया है, उसका कारण और ही है, और वह गहरा है। मुसलमान हिन्दुस्तान में आक्रमणकारी और धर्म-प्रचारक बन कर आये। एक ओर उन्होंने अपना राज यहाँ जमाया और दूसरी ओर बल और हिंसापूर्वक हजारों हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। आक्रमणकारी और धर्म-प्रचारक दोनों हैसियतों से उन्होंने हिन्दुस्तान में हाहाकार मचा दिया था। हिन्दुओं को ऐसे भीषण और क्रूर प्रचार का अनुभव शायद पहले न हुआ हो। हिन्दुओं ने अपने शक्ति भर दोनों बातों में उनका विरोध और प्रतिकार तो किया; पर इस्लाम या मुस्लिम-संस्कृति की छाप उनके दिल पर अच्छी न पड़ी। धर्म के मामलों में उनके तलवार का न्याय और नीति-सदाचार के संबंध में उनकी हीन कल्पनायें तथा ऐसे ही व्यवहार ने उन्हें, एक मनुष्य-समाज की हैसियत से, हिन्दुओं की दृष्टि में

गिरा दिया। एक ओर राजनैतिक दृष्टि से और दूसरी ओर धार्मिक दृष्टि से वे उन्हें अपने धर्म, जाति और देश का शत्रु मानने लगे। उनकी अमर्याद हिंसा-प्रवृति और हीन नीति-भावों तथा गो-वध और गोभक्षण ने हिन्दुओं के दिल में घृणा; उनके राजनैतिक छल-कपट ने अविश्वास और बढ़ते हुए राज्य-प्रभुत्व ने आतंक पैदा कर दिया। मुसल्मान बड़े आक्रामक धर्मप्रचारक थे। वे काफ़िर की सूरत देखना बरदाश्त नहीं कर सकते थे, इस्लाम में आये बिना वे किसी की गति-मुक्ति ही न मानते थे। इस्लाम-बाहर व्यक्ति को ईश्वर-विमुख समझ कर उसका वध करना, वे ईश्वर-सेवा समझते थे। सारे मुसलमान उनकी नज़र में भाई थे। वे एक थाली में खाना खाते, एक लोटे से पानी पीते। हिन्दू, धर्म के लिए किसी की हत्या करना आवश्यक नहीं मानते थे। उनके यहाँ अनेक मत-मतान्तर थे। एक दूसरे के खान-पान में बड़ा विचार रक्खा जाता था। बात-बात में तलवार खींच लेना उनकी आदत में दाखिल न था। इस विरोध को देख कर मुसल्मानों ने हिन्दुओं को तलवार में अपने से कमज़ोर या समाज-व्यवहार में अपने से गिरा हुआ माना हो, और इस कारण वे भी उन्हें गिरी नज़र से देखते हों तो ताज्जुब नहीं। राजनीति में विजय और धर्म में विस्तार करने को तो वे यहाँ आये ही थे। मेरी राय में इस राजनैतिक शत्रुता और सांस्कृतिक अथवा धार्मिक भिन्नता या विरोध के कारण शुरू से ही दोनों जातियों के दिलों में गाँठ पड़ गई। राजनैतिक अविश्वास और सामाजिक घृणा ने दोनों को एक दूसरे के निकट न आने दिया। यही दोनों के वैमनस्य का मूल

है। हिन्दुओं के दिलों से मुसलमानों के अत्याचारों की स्मृति नहीं जाती। हिन्दुस्तान से राज्य चले जाने पर, अब भी, मुसलमान अपने को हाकिमों की जाति, विजेताओं की जाति मानते हैं और हिन्दुओं को विजित जाति मान कर नफ़रत की निगाह से देखते हैं। जैसे जैसे मुसलमान यहाँ जमते और बसते गये और दिन बीतते गये, तैसे तैसे राजनैतिक शत्रुता कहीं कहीं पड़ोसी राज्यों की मित्रता और कहीं उदासीनता का रूप धारण करने लगी और कहीं पूर्ववत् बनी रही। सांस्कृतिक घृणा भी ऊँचे दरजे के लोगों में ही ज़्यादह रह गई—जनता को स्मृति तो रही, सामाजिक व्यवहार में भेद-भाव तो रहा—पर दुश्मनी या नफ़रत का भाव प्रायः निकल सा गया। अंगरेज़ी राज के बाद, उनकी फूट डाल कर राज करने की नीति तथा नेताओं की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं के कारण, शत्रुता और घृणा की बुझती हुई चिनगारियों ने फिर अविश्वास, संशय और भय का रूप धारण कर लिया जिसका अन्त हुआ वर्तमान फूट और कटुता में।

सांस्कृतिक भेदाभेद—

इस तरह विचार करने पर मालूम होता है कि हमारी फूट का कारण केवल राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक भी है। यदि केवल राजनैतिक होता तो पिछले ज़माने में तथा अब भी एकता कभी की हो गई होती; तथा काम चलाऊ एकता होती रहती और दोनों अपने सामान्य राजनैतिक जीवन में एक रास्ते चलते हुए नज़र आते।

यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि दोनों में धार्मिक या सांस्कृतिक साम्य—वैषम्य—क्या है तथा दोनों की एकता का अर्थ और स्वरूप क्या है।

धर्म और धर्म-पन्थ क्या हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। जिसको इस्लाम और हिन्दू-धर्म कहते हैं वे भिन्न भिन्न पन्थ हैं। यह बात दूसरी है कि दोनों के उच्च और मूल सिद्धान्त प्रायः समान हों; पर ऐसे समान तत्वों का नाम इस्लाम और हिन्दू-धर्म नहीं, बल्कि उनके अलावा कुछ और बातें भी दोनों में ऐसी हैं जो दोनों को एक-दूसरे से जुदा करती हैं। वे या तो नियम-विशेष हो सकते हैं, या तत्व-विशेष। पर कम-ज़्यादह ज़ोर हो सकता है या उनके अमल के तरीक़े हो सकते हैं। हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों मानते हैं कि ईश्वर है—फिर कोई उसे अल्लाह या खुदा कहता हो और कोई परमेश्वर, आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, कर्म, या शक्ति कहता हो—दोनों मानते हैं कि ईश्वर-विमुख का कल्याण नहीं, दोनों मानते हैं कि पवित्रता ईश्वर के नज़दीक जाने का साधन है; दोनों मानते हैं कि सद्गुणों को बढ़ाना और दुर्गुणों का कम करना या नीति और सदाचारमय जीवन बिताना पवित्र बनने का तरीक़ा है; दोनों मानते हैं कि सचाई, ईमानदारी, दूसरे की भलाई, भलमन्सी आदि गुण इन्सानियत के लिए ज़रूरी हैं, दोनों मानते हैं कि चोरी करना गुनाह है, दूसरे की बहू-बेटियों को बुरी नज़र से देखना पाप है, झूठ बोलना, दग़ा करना बुरा है; कृतज्ञता पुण्य है, कृतघ्नता पाप है, यह भी दोनों मानते हैं; प्रिय भाषण अच्छी चीज़ है; गाली देना बुरी बात है यह भी

दोनों को मंजूर है। अब बताइए कि धर्म और नीति की ऐसी कौनसी बात रह गई जिसमें दोनों का विरोध पड़ता है; और सो भी इतना कि दोनों एक हज़ार वर्ष से एक दूसरे से इतना जुदे और दूर रहते आये हैं? वह भेद धर्म के मूलतत्वों में उच्च स्वरूप में या साधारण नीति-नियमों में नहीं है, बल्कि धर्म-शास्त्र में समाज-व्यवहार मेंया संस्कृति में है। हिन्दू और मुसलमानों में लड़ाइयाँ इस बात पर नहीं होती कि तुम ईश्वर को अल्लाह क्यों कहते हो या तुम पुनर्जन्म को क्यों नहीं मानते हो, या तुम्हारे यहाँ क़यामत के दिन ही सब का फ़ैसला एक साथ कैसे होगा, या तुम श्राद्ध और तर्पण क्यों नहीं करते, या तुम भी पाँच दफ़ा सन्ध्या क्यों नहीं करते या दाढ़ी कटा कर चोटी क्यों नहीं रखा लेते? ये तो दो बड़ी मनोरंजन के, वाद-विवाद या शास्त्रार्थ के विषय भले ही हो जायें, पर इनके लिए मारकाट और लूट-मार नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि दोनों की संस्कृतियों में, व्यवहार-शास्त्र में, जातीय स्वभाव में कुछ अन्तर है। वह क्या है?

संस्कृति क्या चीज़ है?

पहले हम यह जान लें कि संस्कृति या जातीय स्वभाव क्या वस्तु है। इससे पहले हमने देखा है कि धर्म-पंथ मनुष्य के लक्ष्य तक पहुँचने की सड़कें हैं। अपना गोल बना कर इस सड़क पर चलते हुए मनुष्य-समाज जिन संस्कारों को पाता है—जिन विचारों, भावों, गुण, दोषों या कार्यों का असर उसके जीवन पर होता

है और उससे जो उसका एक ख़ास स्वभाव या ख़ासियत बन जाती है उसीका नाम है संस्कृति या जाति-स्वभाव । दूसरे शब्दों में यों कहें कि किसी समाज या जाति की भली बुरी आदतों या ख़ासियतों के योग या समुच्चय का नाम है संस्कृति । संस्कृति जाति या समाज—विशेष के धार्मिक और सामाजिक आदर्श, नेताओं के उपदेश और गुण-धर्म, तथा सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार बनती है, और बदलती रहती है। जो संस्कृति समाज को जितना ही अधिक, जितना ही जल्दी, उन्नति की तरफ़ ले जाती है, अच्छाई की ओर खींचती है उतनी ही वह अच्छी मानी जाती है। उसकी सब से अच्छी कसौटी यह है कि जो संस्कृति मनुष्य के उच्च गुणों को बढ़ाती है, पाप से हटा कर पुण्य की ओर ले जाती है, वह श्रेष्ठ संस्कृति है। दूसरी भाषा में यों कहें कि जो संस्कृति नीति और सदाचार के उच्च नियमों का पालन कराती है, जो मनुष्य को तेजस्वी, नम्र दयावान्, सत्य, भक्त, सच्चरित्र, परोपकार शील, उदार, क्षमाशील और शूरवीर बनाती है, वह श्रेष्ठ संस्कृति है। और दूसरी तरह से कहें तो जो संस्कृति मनुष्य को हिंसा की ओर से हटा कर अहिंसा की ओर, असत्य से हटाकर सत्य की ओर, स्वच्छंदता से हटाकर संयम की ओर और भय से हटा कर निर्भयता की ओर और कायरता से हटाकर शूरवीरता की ओर लेजाती है, वह श्रेष्ठ है।

स्वभाव-भिन्नता—

आइए, अब हम हिन्दुओं और मुसल्मानों की संस्कृतियों का या जातीय स्वभावों की समता और विषमता का विचार करें।

एक औसत दर्जे के हिन्दू और मुसलमान का नमूना अपने सामने रखिए। मुसलमान आपको तेज़ तर्रार, जबां दराज़, मरने-मारने को तैयार, जाहिल, जनूनी, बेखौफ, अपनी कौम और मज़हब का फ़ख्र रखने वाला, जोशीला, भलाई-बुराई का गहरा विचार न करने वाला, स्त्री-पुरुष संबंधी नीति-नियमों की कम परवा करने वाला, कम रहम रखने वाला, एहसान मानने वाला, फ़र्मांबर्दार, वफ़ादार और दिलेर मालूम होगा। एक हिन्दू आपको पाप भीरु, शान्त, ढीला, महत्वाकांक्षा-हीन, दयावान्, नम्र, परोपकारशील, सहिष्णु, क्षमाशील और सज्जन दिखाई देगा। आप देखेंगे कि दोनों में कुछ अच्छे गुण, अनुपयोग या दुरुपयोग से, दुर्गुणवत् हो गये हैं और कुछ दुर्गुण गुण के रूप में स्वीकृत हो गये हैं। और यही दोनों की संस्कृति या स्वभाव का अन्तर है। मुसल्मान को यह सिखाया जाता है कि "हमारा ही मज़हब दुनियाँ में सब से अच्छा है, यही एक ईश्वर तक पहुँचने का सब से बेहतर रास्ता है, जो खुदा को नहीं मानता वह काफ़िर है, खुदा का रास्ता वही है जो हज़रत मुहम्मद ने बताया है. इसलिए जो इस्लाम के अंदर नहीं आया है वह काफ़िर है, काफ़िर खुदा का मुन्किर—ईश्वर विमुख—होता है, इसलिए मार डालने के लायक है—जो एक भी काफ़िर को दीने इस्लाम में लाता है वह खुदा की मेहर हासिल करता है—जिस तरह हो सके इस्लाम को बढ़ाओ।" इसी उपदेश में मुस्लिम-संस्कृति और मुसल्मानों के स्वभाव में पाई जाने वाली अमरयाद हिंसा-वृत्ति, असहिष्णुता और जहालत का बीज है। इसके विपरीत हिन्दू को

यह उपदेश मिलता है—"दूसरा बुरा करता हो तो करने दो, वह आप नतीजा पावेगा। तुम अच्छे बने रहो। राह चलते झगड़ा मोल न लो। सब में एक ही आत्मा है। सब को अपने समान समझो। ईश्वर सब का एक है। सब धर्म उसीके पास जाते हैं। अपने धर्म को छोड़कर दूसरे के धर्म में पड़ना बुरा है" आदि। इसमें है उनकी सज्जनता का मूल। मुसलमान क्यों उग्र हैं और हिन्दू क्यों शान्त हैं, एक क्यों आक्रामक है और दूसरा क्यों रक्षा-शील है, यह भी इससे भली भाँति जाना जा सकता है। मुसलमानों का यह उग्र हिंसक स्वभाव चाहे तत्कालीन अरब की परिस्थिति के कारण बना हो, चाहे पैग़म्बर साहब के कुछ उपदेशों का दुरुपयोग करने के कारण बना हो—अब के सभ्य समाज में वह है आक्षेप-योग्य और अक्षम्य। इधर हिन्दुओं का ढीलापन चाहे भारत की सुखेच्छा वर्द्धक परिस्थिति का परिणाम हो, चाहे धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझने का फल हो, वह है निन्दनीय और उसके दूर होने की परम आवश्यकता है।

संक्षेप में कहें तो एक की अति-उग्रता और दूसरे का अति-ढीलापन दोनों के स्वभाव का स्पष्ट अन्तर है और मुस्लिम संस्कृति की हिंसा वृत्ति तथा हिन्दू स्वभाव की अकर्मण्यता दोनों में भारी सुधार की आवश्यकता है। यदि मुसलमान कुछ शान्त और हिन्दू ज़रा तेज़ तर्रार हो जायें—यदि मुसलमानों में कुछ सात्विकता आ जाय और हिन्दुओं का कुछ रजोगुण बढ़ जाय तो दोनों एक दूसरे के नज़दीक जल्दी आ जायंगे। मुसलमानों की हिंसा उ

हिन्दुओं की जड़ता दोनों तमोगुण के नमूने हैं, यदि इस्लाम की हिंसकता शुद्ध वीरता के—क्षात्रतेज के—कमजोरों और सताये गयों की रक्षा करने में अपने बल-वीर्य का उपयोग करने की भावना के रूप में परिणत हो जाय; यदि हिन्दुओं की जड़ता को कर्मण्यता का रूप प्राप्त हो जाय तो दोनों का पारस्परिक भय, अविश्वास, संशय, वैमनस्य सब मिट जाय।

मुस्लिम संस्कृति पर महात्माजी का प्रभाव—

यदि हम महात्माजी के बनाये स्वराज्य-कार्य क्रम पर, उसमें दिये गये हिन्दू-मुस्लिम एकता की शर्त पर, खि़लाफ़त में दिये उनके तथा दिलाये हिन्दुओं के सहयोग पर और उसके सिलसिले में मुसल्मानों पर लगाई शान्ति और संयम की शर्त पर बारीक नज़र से ग़ौर करेंगे तो हमें तुरंत मालूम हो जायगा कि किस तरह वे मुस्लिस-संस्कृति में इस आवश्यक सुधार का संस्कार धीरे धीरे कर रहे थे, किस तरह हिन्दुओं के पुरुषार्थ, कर्मण्यता और शूरवीरता के भावों को उत्साहित करके उनकी जड़ता को कम कर रहे थे। उस समय के, ख़ास कर मुस्लिम नेताओं और कार्यकर्ताओं तथा आमतौर पर सारी मुस्लिम जनता में शान्ति, सहिष्णुता और संयम का प्रवाह, धीरे धीरे बढ़ रह था। यदि अली-भाई आदि कुछ मुस्लिम नेता जो आज न इधर के रहे हैं न उधर के, महात्माजी के संपर्क और प्रभाव में न आते तो इस कलह के युग में वे हिन्दुओं के सबसे बड़े और तीव्र मुख़ालिफ़ होते जिस प्रकार वे मुस्लिम नेताओं, कार्यकर्ताओं और जनता के उच्च गुणों

सद्भावों और सुवृत्तियों को स्पर्श, जाग्रत और उत्तेजित करके खूबी से मुस्लिम-संस्कृति की अच्छाई को बढ़ा और बुराई को कम रह रहे थे, यदि वही क्रम उनके जेल जाने के बाद भी क़ायम रह पाता, यदि छोटी या बड़ी भूलों के लिए मुस्लिम नेताओं या कार्य-कर्ताओं की निन्दा या बदनामी न की जाती, यदि उनकी पोल खोल देनेकी बालक-योग्य और असज्जनोचित चुलबुलाहट को हम दबा पाते, यदि सच बात कहने, हक़ीक़त को ज्यों का त्यों ज़ाहिर कर देने, वैज्ञानिक तराजू पर दोनों की भलाई-बुराई तौलने और इन्साफ़ चाहने की तत्वतः समर्थनीय परन्तु व्यवहारतः अदूर-दर्शिता और अव्यावहारिकता-पूर्ण मनोवृति पर हम कब्ज़ा कर पाते, तो मुस्लिम संस्कृति के सुधार का रास्ता अब तक खुल गया होता। ग़लतियाँ होने पर भी यदि हम उनका अर्थ उदारता-पूर्वक करते, उनके बुरे भाग पर कम और सहानुभूति-पूर्वक तथा अच्छे भाग पर ज्यादह और उत्साह-पूर्वक प्रकाश डालते, यदि लोगों से कहते—"भाई, ग़लती बड़ों बड़ों से हो जाया करती है" और इस तरह नेताओं और कार्यकर्ताओं को उसके परिणाम और जिमे-वारी से बचा लेते और संस्कृति-सुधार के लिए उनका हौंसला बढ़ाते तो यह काम जल्दी और ज्यादह आसान हो जाता। उनकी भूलों के समय हमारा व्यवहार बुजुर्गी, दानाई और हम-दर्दी का न होने के कारण मुस्लिम सुधारेच्छु नेता और कार्य-कर्ता, काफी बल और उत्साह के अभाव में, एक एक करके फिर उसी पुराने गड्ढे में जा गिरे—जो एक दो बच रहे, वे आज अपने को सब तरह असमर्थ और प्रभावहीन पाते हैं।

हिन्दू क्या सहायता दें ?

यह सच है कि अपनी संस्कृति का सुधार पहला काम है। मुसलमानों का और इसमें उन्हीं का लाभ सब से ज्यादह है। पर यदि वे इसकी ज़रूरत न महसूस कर पाये हों, या सुधार का काफ़ी बल और हिम्मत अपने में न अनुभव करते हों तो क्या एक दूसरी संस्कृति वाले भाई का यह कर्तव्य नहीं है कि उनका रास्ता साफ़-सुथरा और विशद कर दे ? यदि यह परोपकार-भाव हमारी समझ में ठीक ठीक न आता हो तो क्या इस खयाल से भी कि कम से कम हम तो उसके बुरे प्रभाव और फल से बचेंगे, हमें यह न करना चाहिए ? मैं तो एक सच्चे हिन्दू का परमार्थ-दृष्टि से यह कर्त्तव्य और स्वार्थ-दृष्टि से महान् आवश्यकता समझता हूँ कि वह मुस्लिम सुधार का रास्ता सुगम कर दे—उसके सुधारेच्छुओं का हौसला अपनी सहानुभूति, सद्-व्यवहार, सौजन्य, प्रोत्साहन, सहायता आदि के द्वारा बढ़ा कर।

पहले क़ुरान—सुधार या सुधारक का जन्म ?

किन्तु इस पर यह कहा जाता है कि मुसलमानों की हिंसा-वृत्ति तब तक कम न हो सकेगी, सुधर न सकेगी जब तक क़ुरान की वे आयतें न निकाल डाली जायँ, या उनका अर्थ न बदल दिया जाय, जिनके द्वारा वह पोसी और पाली गई हैं। तो इस पर यह सवाल उठता है कि पहले क़ुरान में संशोधन हो या पहले संशोधन की ज़रूरत समझने और करने वाला मुस्लिम सुधा-रक पैदा हो ? पहले वेदों के अर्थों में सुधार हुआ, या पहले

ऋषि दयानन्द पैदा हुए ? क़ुरान में सुधार या तो मुसलमान कर सकता है या, वह जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इन नामों और दायरों से ऊपर उठ गया हो, दूसरा नहीं, दूसरे तो सुधार की ज़रूरत सुझा सकते हैं, सुधार की प्रेरणा कर सकते हैं, सुधारक पैदा होने योग्य स्थिति बना सकते हैं, सुधारेच्छु का हौसला बढ़ा कर उसको आगे बढ़ा सकते हैं। आइए, हम हिन्दू इस काम में मुसलमानों का साथ दें, उनकी सहायता करें। यह काम हम उन्हें गालियाँ देकर, कोस कर, नीचा दिखाकर, परेशान करके, डराकर या दबा कर नहीं कर सकते। यह तो हम उन्हें समझा कर, रिझा-कर, प्रेम दिखा कर; हमदर्दी का हाथ आगे बढ़ाकर, धीरज, विश्वास और सहिष्णुता के साथ ही कर सकते हैं।

नेता और सुधारक—

यह काम न हिन्दू-नेता कर सकते हैं, न मुस्लिम नेता। यह तो हिन्दू-सुधारक और मुस्लिम-सुधारक ही कर सकते हैं। ख्वाजा-हसन निज़ामी, श्री जिनाह, सर अब्दुल रहीम नेता कहे जा सकते हैं, सुधारक नहीं; पू० मालवीय जी, लालाजी जितने नेता हैं, उतने सुधारक नहीं। सुधारक कबीर थे, नानक थे, दयानन्द थे, गाँधी जी हैं। नेता विचारक कम, कर्ता अधिक होता है; सुधारक विचा-रक और कर्ता दोनों होता है। नेता दल-विशेष की चीज़ होता है; सुधारक मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति। नेता में उत्साह तो खूब होता है; पर दर्शन (vision) नहीं या कम; सुधारक द्रष्टा होता है। नेता बाहु है; सुधारक दिल, दिमाग़ और बाहु तीनों है। नेता संरक्षक

(Conservative) होता है; सुधारक सर्व-ग्राहक और सर्व-व्यापक; नेता संभालता रहता है; सुधारक देता जाता है और बढ़ाता जाता है। नेता अपनों को चाहता है, दूसरों को दुरदुराता है; सुधारक दूसरों को भी सुधार कर अपना बनाता है। नेता से प्रतिपक्षी डरता है; सुधारक को पूजता है। नेता का शस्त्र होता है भय; सुधारक का होता है प्रेम। नेता आज की बात सोचता है; सुधारक कल की दृष्टि में रखकर आज का कार्य-क्रम बनाता है। नेता क्षत्रिय है, सुधारक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब कुछ है। नेता प्रतिपक्षी को हराना चाहता है; सुधारक उसे जीताना चाहता है। नेता जीतने में गौरव समझता है, सुधारक हारने में; नेता जीत कर भी हारता है; और सुधारक हारकर भी जीतता है। नेता जाति-भक्तों, देश-भक्तों के हृदय में रहता है; सुधारक मनुष्य-मात्र के हृदय में घर बनाता है। नेता अच्छों का संग्रह करके ले चलता है; सुधारक बुरों, पतितों का उद्धार करता है। नेता धर्म-पालक होता है, सुधारक धर्म-संशोधक। नेता समाज रक्षक होता है; सुधारक समाजोद्धारक! नेता वीर होता है; सुधारक वीर और तपस्वी दोनों होता है। नेता में जोश होता है, आवेश होता है, सुधारक में गंभीरता और शान्ति भी होती है। नेता नदी है; सुधारक सागर। नेता कंचन है; सुधारक पारस। नेता शक्ति है; सुधारक धर्म। परमात्मा का अनुग्रह है कि भारत में नेता भी हैं; सुधारक भी है। उसे किस बात की कमी है? हिन्दुओ और मुसलमानो, अपने नेताओं को तो तुमने पहचान लिया है, अपने

१५ को पहचानो!

संस्कृतियों का आदर्श और मेल—

यहाँ तक जो संस्कृति का विवेचन हुआ, वह तो हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति की वर्तमान अवस्था का हुआ, संस्कृति के आदर्शों का नहीं। हमने यह तो देख लिया कि दोनों संस्कृतियाँ आज किस दरजे तक पहुँची हुई हैं, अब यह देखना बाक़ी है कि वे दोनों को कहाँ पहुँचाना चाहती हैं। अर्थात् यह कि उन संस्कृतियों का कार्य (mission) क्या है ? किसी संस्कृति का कार्य हो सकता है—उस जाति या समूह के बलिष्ट और पवित्र तत्वों को बढ़ाते हुए पूर्णता तक पहुँचा देना। इस्लाम संस्कृति की विशेषता है—उसका भ्रातृ-भाव, हिन्दू-संस्कृति की विशेषता है, उसका आत्म-भाव, ईसाई संस्कृति की विशेषता है, उसका दया-भाव। मुस्लिम संस्कृति चाहती है कि मुसलमान दुनिया में भ्रातृ-भाव को फैला कर पूर्णता को पहुँचें; ईसाई संस्कृति चाहती है कि ईसाई दया-भाव का विकास करके पूर्णत्व प्राप्त करें; आर्य या हिन्दू संस्कृति कहती है कि आत्म-भाव को व्याप्त कर के परमतत्व को पाओ। गहरा विचार कर के देखेंगे तो हमें मालूम होगा कि भ्रातृ-भाव, दया-भाव और आत्म-भाव—तीनों एक ही पूर्ण तत्व के भिन्न भिन्न अंग या रूप हैं। भ्रातृ-भाव, दया-भाव और आत्म-भाव तीनों के अन्दर एक दूसरे का भाव समाया हुआ है और तीनों परस्परावलंबी हैं। आत्म-भाव की कल्पना कर लेने वाले भ्रातृ-भाव या दया-भाव की कल्पना करने वालों से, तत्व-चिन्तन में ज़रूर आगे बढ़ गये हैं; पर उसके कारण उन समाजों के इन भावों के विकास-क्रम की आरंभिक अवस्थाओं में संघर्ष तो दूर,

नाम के सिवा प्रायः कोई भेद नहीं रह जाता। भ्रातृ-भाव और दया-भाव दोनों की परिणति अन्त को आत्म-भाव में हुए बिना रह नहीं सकती। क्या बलिहारी हो यदि मुस्लिम, ईसाई और आर्य—तीनों जातियाँ अपने इन आदर्श को पहचान कर, एक दूसरे की पोषक होती हुई, सारे मानव-वंश की सेवा करें! यही परमेश्वर की सच्ची सेवा है; यही सच्ची आस्तिकता है; यही सच्चा मुसल्मानी-पन, ईसाई-पन और हिन्दू-पन है। परमात्मा हमारी आँखें खोलें, हमें दर्शन दें, हमें बल दें।

दो प्रकार की एकता—

संस्कृति की इतनी चर्चा से हम यह जान गये कि न हमारे धर्म-तत्वों में कोई विरोध है, न संस्कृति के आदर्शों में; सिर्फ़ कहीं भेद या विरोध या कमी है तो हमारे मौजूदा स्वभावों में है। तो सवाल यह पैदा होता है कि यह स्वभाव-भेद कैसे मिटे? यह भी सवाल हो सकता है कि यदि यह स्वभाव-भेद मिटना निकट भविष्य में असंभव या दुःसाध्य हो तो दोनों में एकता हो ही नहीं सकती? इन पर विचार करते हुए, हमें एकता के दो रूपों का परिज्ञान होता है—(१) सांस्कृतिक अथवा स्वभावगत एकता और (२) राजनैतिक अर्थात् काम चलाऊ एकता! सच्ची और स्थायी एकता तो सांस्कृतिक एकता ही है और स्वभाव-विरोध मिट जाने पर ही हो सकती है; पर होगी धीरे धीरे। राजनैतिक एकता के लिए इतनी बातें आवश्यक हुआ करती हैं—(१) दोनों का एक राजनैतिक ध्येय (२) दोनों के समान राजनैतिक सुख-(३) उस ध्येय का ज्ञान और सुख-दुःखों की अनुभूति।

दोनों का राजनैतिक मक़सद दोनों के राष्ट्रीय नेताओं ने और राष्ट्रीय महासभा ने निश्चित कर दिया है—स्वराज्य! दोनों के समान सुख-दुःख भी मौजूद हैं—मौजूदा शासन से दोनों को होने वाले अनेक प्रकार के दुःख—गुलामी और स्वराज्य में मिलने वाले अनेक सुख—आज़ादी। तीसरी बात में मुझे अभी ख़ामी नज़र आती है। मौजूदा शासन-प्रणाली से हमें दुःख तो है; पर अधिकांश हिन्दू-मुस्लिम उन्हें उस तीव्रता से नहीं अनुभव करने लगे हैं, जिससे वे बिना स्वराज्य के एक मिनिट भी जी सकें—उसकी भारी से भारी कीमत तत्क्षण दे दें। आज़ादी का प्रेम अभी इतना नहीं पैदा हुआ है कि उसके बिना हमारे जी को चैन न मिले। यदि ऐसा होता तो हम आपस में लड़ते रहने के बजाय किसी न किसी तरह एकता स्थापित करके अपने सामान्य ग़नीम से भिड़े रहते। अस्तु।

अब हमें यह देखना चाहिए कि दोनों प्रकार की एकता हम किस तरह साध सकते है, उनमें क्या बाधायें हैं, वे कैसे दूर की जा सकती हैं और उसके लिए हम हिंदुओं का क्या कर्त्तव्य है—इनका सविस्तर विचार अगले प्रकरणों में करेंगे।

६—एकता के साधन और कठिनाइयाँ

सांस्कृतिक एकता—

सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों प्रकार की एकता के साधनों पर हम पृथक् पृथक् विचार करें। सांस्कृतिक एकता के लिए इतनी बातें ज़रूरी हैं—

(१) हिन्दुओं और मुसलमानों को इस एकता की ज़रूरत महसूस कराना—इसके लिए लेख, पुस्तकें, व्याख्यान दिलवाना, चर्चा करवाना।

(२) दोनों जातियों के उदार और आज़ाद खयाल के लोगों के संघ और जमैयत क़ायम करना,

(३) दोनों के सामाजिक सुख-दुःखों के अवसर पर एक दूसरे का सहयोग देना,

(४) पुराने इतिहासों की कड़वी स्मृतियों को भुलाना और नये युग के प्रेम और शान्ति के पैगाम को सुनना और मानना,

(५) दोनों जातियों की अच्छाइयाँ और खूबियाँ एक दूसरी पर फैलाई जायँ और बुराइयों पर तवज्जह न दिलाई जाय,

(६) हिन्दू मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थों को, तथा अन्य साहित्य को, और मुसलमान हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों तथा साहित्य को पढ़ने, मनन करने के लिए उत्साहित किये जायँ,

(७) मुस्लिम नेता अपने समाज की हिंसावृत्ति को दमन

करने का नियम करलें और हिन्दुओं को उनके अत्याचारों से अभय का आश्वासन दें,

(८) मुसलमान गो-वध और गो-मांस-भक्षण छोड़ दें,

(९) हिन्दू मुसलमानों को हिकारत की नज़र से देखना, उन्हें 'म्लेच्छ' 'मुसण्डा' आदि हीन शब्दों से याद करना छोड़ दें,

(१०) मुसलमान हिन्दुओं को 'काफ़िर' कहना छोड़ दें ।

(११) हिन्दू मसजिद में जाने के लिए, मुसलमान मन्दिरों में आने के लिए उत्साहित किये जायँ,

(१२) हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक उत्सवों में मुसलमान हिन्दुओं के धार्मिक त्यौहारों में शरीक हुआ करें,

(१३) हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक भावों को आघात पहुँचाने की और मुसलमान हिन्दुओं के धर्म को निन्दा करने की कोशिश छोड़ दें ।

(१४) दोनों जातियों में किन किन बातों में मिलाप और समानता है, इसी पर ज़्यादह ध्यान दिया जाय, किन किन बातों में विरोध है, इसकी तरफ़ उदासीनता रक्खी जाय ।

(१५) यदि मुसलमान हिंसावृत्ति कम कर दें, और गो-भक्षण छोड़ दें तो उनके साथ हिन्दुओं का रोटी-बेटी-व्यवहार जारी हो जाय, *

* हिन्दू शायद इस सूचना पर ज़्यादह चौंकें, यदि हिन्दू अंगरेज़ों के साथ खाना खा सकते हैं, मेमों से शादियाँ कर सकते हैं, तो मुसलमानों से, गो-भक्षण बंद करने के बाद, ऐसा व्यवहार करना क्यों कर अनुचित हो सकता है ? लेखक

(१६) दोनों एक दूसरे के समाज-सुधार की बातों में दिलचस्पी लें,

(१७) मुसलमानों के लिए हिन्दी और कुछ संस्कृत पढ़ना तथा हिन्दुओं के लिए उर्दू और कुछ अरबी पढ़ना कुछ हदतक लाज़िमी कर दिया जाय,

(१८) हिन्दुओं और मुसलमानों के अलग विद्यालय और विश्व-विद्यालय न रहें, एक ही विद्यालयों और विश्व-विद्यालयों में सिर्फ़ धार्मिक शिक्षा का अलहदा प्रबंध हो जाय,

(१९) मुसलमान एक थाली में खाना, एक लोटे से पानी पीना बंद कर दें और बरतन आदि ज़्यादह सफ़ाई से रक्खा करें।

(२०) हिन्दू मुसलमानों से छूआछूत और खान-पान संबंधी थोथी ऊपरी बातों को कम महत्व देने लगें,

(२१) हिन्दू संस्कृत-प्रचुर और मुसलमान अरबी-भरी बोली बोलना और लिखना छोड़ दें ।

यही रास्ता है—

हिन्दुओं और मुसलमानों के मौजूदा वैमनस्य और कटुता के ज़माने में ऐसी बातें पेश करने वाला 'शेख़चिल्ली' कहा जाय तो ताज्जुब नहीं। फिर भी मैं कहता हूँ कि यदि इन दोनों जातियों को सदा के लिए नज़दीक आना है तो उसका यही उपाय है। यह सच है कि आज की परिस्थिति इन बातों की तरफ़ अधिकांश हिन्दू-मुसलमानों का ध्यान न जाने देगी; पर फिर मैं कहता हूँ कि रास्ता यही है। जब तक एक जाति दूसरी जाति को, एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को हड़प जाने की अभिलाषा रक्खेगी, तब तक

एकता कठिन है और जब तक एकता नहीं है, तब तक भारत की आज़ादी एक स्वप्न है। जब तक भारत स्वतंत्र नहीं है, तब तक न हिन्दू-समाज, न हिन्दू-धर्म सुरक्षित है; और न इस्लाम न मुस्लिम-जाति महफ़ूज़ है। ग़ुलाम हिन्दुओं और ग़ुलाम मुसल्मानों का आपस में जूता-पैजार करते रहना वैसा ही हास्यास्पद है जैसा कि दो क़ैदियों का अपने कमरे के ईंट-रोड़े या कम्बल तसलों के लिए लड़ना—इस बात को भूल कर कि हम क़ैदी हैं, हमें जेल से छूटना है, जेलर हमारी बेवकूफ़ी पर हँस रहा है कि हम अपने आप अपनी बेड़ियाँ मज़बूत कर रहे हैं। कैसे दुःख और ग्लानि की बात है कि दुनिया तो विश्व-संघ, विश्व-कुटुंब, राष्ट्र-संघ, विश्व-धम, विश्व-संस्कृति की कल्पना कर रही है और हम इस देव-भूमि में घड़ी, घण्टा, बाजे और पीपल काटने जैसी क्षुद्र बातों पर आपस में लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। इस पर यदि हमारा राष्ट्र-धर्म हमें अमंगल का शाप दे रहा हो तो कौन आश्चर्य है? हिन्दुस्तान में से अब हिन्दू-जाति या मुस्लिम-जाति अथवा उनकी संस्कृतियों को हटाने या दबाने की कल्पना किसी को कितनी ही रम्य और सुँदर मालूम हो, पर वह 'शेख़ चिल्लीपन' के सिवा और कुछ नहीं।

हिन्दुस्तानी संस्कृति—

हाँ, दोनों जातियों और संस्कृतियों में सुधारों की आवश्यकता है, वे हो भी सकते हैं—दोनों संस्कृतियों का आदर्श मूलतः भिन्न नहीं है, उसकी गति परस्पर विरोधिनी नहीं है, उनके सम्मि-

श्रण से बड़ी उम्दा भारतीय संस्कृति निर्माण हो सकती है, जो कि विश्व-संस्कृति की सृष्टि में अपना अच्छा हिस्सा दे सकेगी। वह संस्कृति न हिन्दू संस्कृति के नाम से पुकारी जायगी, न मुस्लिम नाम से। उसका नाम रहेगा, हिन्दुस्तानी संस्कृति। हर एक हिन्दू-मुसलमान, पारसी, ईसाई, अपनी अपनी जातियों की भाषा में सोचने और बोलने की अपेक्षा हिन्दुस्तान की भाषा में सोचें और बोलें। अपने अपने समाजों की सेवा और रक्षा करते हुए भी वे 'मादरे हिन्द' की सेवा को न भूलें, उनके दुःखों को न भुलावें; सब से पहले उसका काम करें। यह दिन चाहे दूर हो, पर उसके अरुणोदय की लालिमा की झलक मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही है और इसी विश्वास पर ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं। अस्तु।

राजनैतिक एकता—

अब रहा राजनैतिक एकता का सवाल। इसके लिए इतनी बातें होनी चाहिएँ—

(१) मुसलमान हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि और अपने को उसका दुलारा बेटा मानने लगें,

(२) मुसलमान हिन्दुओं के लिए गोवध बन्द कर दें और हिन्दू मुसलमानों के लिए मसजिदों के सामने बाजा बजाना बंद कर दें,

(३) यदि कहीं दोनों जातियों में झगड़ा हो जाय तो उसका फ़ैसला राष्ट्रीय महासभा से करवावें और उसे मानें,

(४) अपने अपने संघटन चाहे करते रहें; पर सामाजिक

सेवा और समाज-सुधार के अलावा उनका राजनैतिक उपयोग न किया जाय,

(५) अखाड़े शौक़ से खोलें; पर उनमें हिन्दू-मुसल्मान, पारसी, ईसाई, सबको आने दिया जाय,

(६) अपनी अपनी जाति के संरक्षक-दल बनाने के बजाय परस्पर सहायक-दलों का संगठन किया जाय,

(७) अपनी अपनी संख्या बढ़ाने की धुन छोड़ दी जाय,

(८) बड़ी जातियाँ छोटी जातियों को यह आश्वासन दें कि स्वराज्य में उनके हितों की पूरी रक्षा की जायगी,

(९) यदि छोटी जातियों को इतने से इत्मीनान न हो तो बड़ी जातियाँ उनकी माँगो और जरूरतों के निर्णय का भार उन्हीं के उदार, स्वतंत्र और राष्ट्रीय विचार के नेताओं पर छोड़कर अपनी उदारता और निर्मलता का प्रत्यक्ष परिचय दें,

(१०) राजनैतिक और राष्ट्रीय बातों में जातिगत प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की बुराई और माँग की बेजाइयत लेख, व्याख्यान, चर्चा आदि के द्वारा प्रेम-भाव से बताई जायँ और रफ़्ता रफ़्ता इस प्रवृत्ति को कम किया जाय,

(११) सब जातियों में राष्ट्रीय विचार और भाव फैलाये जायँ तथा राष्ट्रीय बातों के मुक़ाबले में जातिगत या साम्प्रदायिक बातों को महत्व न दिया जाय, और,

(१२) हर शिक्षित और बालिग़ हिन्दू-मुसल्मान राष्ट्रीय महासभा का मेंबर बनना अपना कर्तव्य समझे और उसमें अपना गौरव माने।

मैं जानता हूँ कि आज ये बातें भी मखौल में उड़ा दी जायँ तो आश्चर्य नहीं। ताहम मैं कहता हूँ कि यदि हमें स्वराज्य लेना है तो यह किये बिना चारा नहीं।

कठिनाइयाँ—

दो में से एक भी प्रकार की एकता में आज सब से बड़ी कठिनाई यही है कि आज देश में उसके अनुकूल शुद्ध और सद्भाव-पूर्ण वायुमण्डल नहीं है। वह तब पैदा हो सकता है, जब या तो जातीय नेता और कार्य-कर्ता इस बात को खुद-बखुद समझ जायँ कि राष्ट्रीयता के मुकाबले में जातीय बातों को ज्यादह महत्व देना कितना हानिकर है, या दो में से एक जाति हार कर या थक कर दूसरी से समझौता कर ले। मेरा खयाल यह है कि शायद दूसरी बात होकर रहेगी और सम्भवतः मुसलमानों को हार खानी पड़ेगी। स्वामी श्रद्धानन्दजी के खून ने वायुमण्डल को बहुत जोशीला बना दिया है, हिन्दुओं के तटस्थ हिन्दुओं के, दिल पर भी इससे भारी आघात पहुँचा है और यदि इस खून में कोई साजिश साबित हुई तो हिन्दुओं को शुद्धि और संगठन को फिर वे कुछ सदोष ही क्यों न हों, शायद ईश्वर ही एकाएक न रोक सके।

एकता के अनुकूल वायुमडल उस अवस्था में भी हो सकता है, जब कि हिन्दू-मुसलमानों पर कोई भारी संकट उमड़े। सरकार तो अब ऐसी भूल सहसा करेगी नहीं। यदि दोनों जातियाँ आपस में सलाह कर के एक बार जम कर लड़ लें और फिर सुलह कर लें—तब भी काम बन जाय, पर सरकार ऐसा मौका आने देगी नहीं।

दूसरी कठिनाई है—अफगानिस्तान के हमले का और उसके लिए मुसलमानों की साजिश का भय। यदि कुछ मुसलमानों की ऐसी ख्वाहिश भी हो, उन्होंने ऐसी साजिश भी की हो, तो एक तो यह उनकी दुनिया की हालत का और अपनी हालत का अज्ञान सूचित करता है और दूसरे हमारा उससे भय-भीत होना हमारा भी अज्ञान प्रकट करता है। आज यदि हिन्दुस्तान के सारे मुसलमान अफ़ग़ानिस्तान से मिल जायँ और तुर्कस्तान तथा ईरान भी उनकी मदद के लिए दौड़ आवें तो भी अफ़ग़ानिस्तान अँगरेजों और उनके मित्रों के मुक़ाबले में हिन्दुस्तान सर नहीं कर सकता। अफ़ग़ानिस्तान को यदि हिन्दुस्तान के मुसलमान बुलाना चाहते हों तो अफ़ग़ानिस्तान को बेवकूफ कहना होगा, यदि वह उनके भरोसे हिंदुस्तान पर चढ़ाई करने के लिए आमादा होगा। वह अच्छी तरह जानता है कि मुसलमान हिन्दुस्तान में गुलाम हैं, न उनके पास हथियार हैं, न अंगरेजों के मुक़ाबले में वे युद्ध-कुशल ही हैं। तुर्कस्तान खुद अपने ही हाथ-पाँव अभी मज़बूत नहीं कर पाता है तो वह यह नई आफ़त क्यों मोल लेने लगा?

यदि अफ़ग़ानिस्तान खुद ही यहाँ के मुसलमानों को अपना हथियार बनाकर यहाँ धावा बोलना चाहता हो तो यह सोचने की बात है कि वह ऐसा क्यों करना चाहता होगा और किस हालत में कर सकेगा? यदि वह इस्लाम के प्रचार के लिए ऐसा करना चाहता हो तो, एक तो वह हिन्दुस्तान के मुसलमानों के इतना धर्मान्ध नहीं है, दूसरे, तुर्कस्तान और ईरान आदि भी न तो इतने

धर्मान्ध हैं, न इसके लिए तैयार ही हैं—जिस तुर्कस्तान ने खुद ही अपने राज्य से खिलाफ़त को निकाल दिया, जिसके सिर पर तुर्की टोपी—नहीं अब तो तुर्की टोपी भी फेंक दी है—और नाम 'टर्क' के सिवा जिसके पास इस्लाम का कोई चिह्न नहीं रह गया है वह धर्म-प्रचार में क्यों अफ़गानिस्तान या हिन्दुस्तान के मुसलमानों की मदद करने लगा? और विना तमाम मुस्लिम कौमों या ताक़तों की इमदाद के न अफ़ग़ानिस्ता, न धार्मिक आक्रमण करने में, न हिन्दुस्तान के मुसल्मान उसे कराने में सफल हो सकते हैं।

यदि अफ़ग़ानिस्तान राजनैतिक हमला करना चाहता हो तो जब तक एशिया या योरप के दूसरे राष्ट्र या शक्तियाँ उसके सहायक न हों, तब तक उसका यह हौसला नहीं हो सकता। और वे दूसरे राष्ट्र क्यों अफ़ग़ानिस्तान को इस काम में मदद देने लगे। यदि उसमें उसका भारी स्वार्थ न हो। और यदि कोई एशियाई या यूरोपीय राष्ट्र इतनी भारी-ब्रिटिश सल्तनत से लोहा लेने की महत्वाकांक्षा रखता है तो फिर खुद ही आगे क्यों न बढ़ेगा? हाल ही जर्मनी ने यह हौसला किया था और उसका नतीजा हमारे सामने है। राजनैतिक ज्योतिषी निकट भविष्य में अमेरिका या इंग्लैंड अथवा इंग्लैण्ड और जापान में युद्ध होने का अनुमान करते हैं—बहुत संभव है कि इस युद्ध का लक्ष्य-केन्द्र भारतवर्ष हो, क्योंकि भारत के विना ब्रिटिश साम्राज्य कुछ भी नहीं है। पर वह युद्ध प्रधानतः राजनैतिक न होगा; व्यापारिक होगा—राजनीति-मूलक न होगा, व्यापार-मूलक होगा। और ऐसा कोई युद्ध यदि कभी भविष्य में हुआ भी, तो वह हिन्दु-

स्तान के मुसलमानों की साजिश के या—अफ़ग़ानिस्तान की महत्वाकाँक्षा के फल-स्वरूप न होगा और उस में न हिन्दुस्तान के मुसलमानों का, न अफ़ग़ानिस्तान का, गहरा स्वार्थ सधेगा। उसके फलाफल या सुख-दुःख हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए प्रायः समान होंगे। वह हिन्दुओं और मुसलमानों की एक ही समस्या होगी। यदि अफ़ग़ानिस्तान और बोल्शेविक रूस की मित्रता से यह भय उत्पन्न हुआ हो तो भारत के हिन्दू-मुसलमानों की समस्या नहीं है, न इससे उसका कुछ संबंध ही है। यह तो शासन-पद्धतियों, शासन के आदर्शों, समाज-व्यवस्थाओं और सामाजिक आदर्शों में क्रान्ति की समस्या है। यह तो दुनिया के गरीबों और अमीरों के संबंध की समस्या है। यह मज़दूरों और मालिकों के ताल्लुक़ात का मसला है।

और घड़ी भर के लिए मान लें कि अफ़ग़ानिस्तान हिन्दुस्तान पर चढ़ाई के लिए आ रहा है तो हम हिन्दुओं को ही इसका इतना अधिक भय और चिन्ता क्यों? इसकी चिन्ता अँगरेज़ों को ज्यादह होगी या हमें? यदि भारत अँगरेज़ों के हाथ से निकल गया तो हमारा ज्यादह नुक़सान होगा या अँगरेज़ों का? और क्या अँगरेज़ अपने भारत की रक्षा के लिए काफी नहीं हैं! भारत की चिन्ता करने के अधिकारी हम तब होंगे, जब भारत हमारा होगा। कौन कह सकता है कि अफ़ग़ानिस्तान का राज्य भारत में अँगरेज़ों के राज्य से बुरा ही होगा? और यदि हिन्दू ऐसा समझते हों कि बुरा ही होगा और सचमुच अफ़ग़ानिस्तान हिन्दुस्तान पर चढ़ कर आ रहा हो तो हिन्दू उस समय अपने देश की रक्षा

में मर मिटें। पर यदि हिन्दू इस तरह अफ़ग़ानिस्तान के खिलाफ़ वर्तमान अँगरेज़ी भारतवर्ष के लिये मर मिटने को तैयार हों तो फिर भारतवर्ष को अपना बनाने के लिए मौजूदा सरकार से जूझना क्यों छोड़ बैठे हैं? क्यों असहयोग के असफल होने की आवाज़ उठ रही है, क्यों सविनय भंग के संबंध में निराशा के उद्गार सुनाई देते हैं, क्यों खादी और चरखे का पैग़ाम मानों बहरे कानों तक पहुँच रहा है, क्यों हिन्दू-मुसलमान आपस में समझौता नहीं कर पाते हैं?

यदि अफ़ग़ान-भय आज के लिए नहीं, स्वराज्य-प्राप्ति के बाद के लिये है तो यह और भी निर्मूल है। जो भारत बलाढ्य इंग्लैण्ड को पछाड़ कर हिन्दुस्तान ले लेगा, वह अफ़ग़ानिस्तान का मुक़ाबला न कर सकेगा, यह शंका तो भारत की राजनीति का बालक भी न करेगा। आज भारत में हिन्दू प्रबल हैं। इसलिए भारतीय स्वराज्य का अर्थ होगा। प्रधानतः हिन्दुओं के बल से मिला। स्वराज्य अर्थात् स्वराज्य में भी हिन्दुओं का बल प्रधान होगा। और जो हिन्दू आज गुलामी में भी मुसलमानों के दाँत खट्टे कर सकते हैं, वे क्या स्वतंत्र होने पर उनकी साजिशों का दमन न कर सकेंगे? फिर स्वराज्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना असंभव है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के मानी हैं—हिन्दुओं और मुसलमानों आदि का स्वराज्य-सञ्चालन-संबंधी समझौता। यह समझौता तभी हो सकता है, जब या तो दोनों जातियों के हृदय में परिवर्तन हो जाय, या एक हार जाय। यदि पहली बात हुई तो फिर किसी एक जाति की साजिशों का भय व्यर्थ है। यदि दूसरी बात हुई

और उसमें जैसा कि मेरा ख़याल है, मुसलमानों की हार हुई तो अवश्य समझौते की शर्तें हिन्दुओं के अनुकूल ज्यादह होंगी। यदि हिन्दुओं को हारना पड़ा—यदि हिन्दू इतने कमज़ोर साबित हुए तो फिर अफ़ग़ान-भय का रोना रोने से क्या फ़ायदा? इस तरह यह कठिनाई, जहाँ तक मैं विचार करता हूँ, एक कल्पित भूत से बढ़कर नहीं है।

तीसरी कठिनाई है—दोनों जातियों के नेताओं और कार्य-कर्ताओं की मनोवृतियाँ—किसी आन्दोलन या संस्था के कार्य की सफलता-विफलता या सुपरिणाम-दुष्परिणाम योजनाओं, प्रस्तावों, और व्यवस्था-पत्रों पर उतनी नहीं अवलंबित रहती जितनी नेता-ओं, कार्य-कर्ताओं के भावों, स्वभावों और हेतुओं पर अवलम्बित रहती है। योजना, प्रस्ताव, व्यवस्था-पत्र आदि एक हद तक निस्संदेह प्रवर्तकों, नेताओं, कार्य-कर्ताओं के भाव और हेतु के द्योतक होते हैं; परन्तु वह भाव और हेतु जिस हद तक सोलहों आना योजनाओं, प्रस्तावों और व्यवस्था-पत्रों द्वारा ठीक ठीक प्रकट होता है और जिस हद तक वे उसी उत्साह, लगन, सद्भाव और सावधानी-पूर्वक वैसा कार्य करते हैं, उसी हद तक वे अपने कार्य की और समाज की सेवा कर पाते हैं। सत्कार्य, सत् आन्दोलन इसलिए नहीं असफलता या कुपरिणामदायी होते हैं कि लोगों ने उन्हें अपनाया नहीं, किसी ने उसमें विघ्न डाला; बल्कि इसलिए होते हैं कि प्रवर्तक, या नेता, या कार्य-कर्ता या तो अपने तईं सच्चे नहीं रह पाते, या काफ़ी सावधानी नहीं रखते। असहयोग-आन्दोलन इसलिए नहीं बिखर गया कि लोगों ने उसे अप-

नाया नहीं; या किसी बाहरी दल या समूह ने उसमें विघ्न डाल दिया; बल्कि इसलिए बिखरा कि नेतागण और हम कार्य-कर्ता उस लोहे के, उतने सच्चे नहीं रह पाये जितना हम दिखाते थे, या चाहते थे। हिन्दुओं और मुसल्मानों के शुद्धि-संगठन या तबलीग़-तनज़ीम मूलतः नीति-प्रतिकूल नहीं। दोनों की प्रातिनिधिक संस्थाओं की योजनाओं, प्रस्तावों में कोई बात नीति की दृष्टि से आक्षेप-योग्य नहीं। नेताओं के भाषणों में भी, असावधानी-पूर्वक या जोश में कहे कुछ आक्षेपार्ह वचनों या वाक्यांशों को छोड़कर, कोई बात ख़ास तौर पर अनीति-मूलक न दिखाई देगी। दोनों जातियों के प्रधान नेता बराबर सभाओं में यह कहते हैं कि हमें एकता पसंद है, उसके बिना स्वराज्य न मिलेगा; फिर भी क्या बात है कि दोनों जातियों में कटुता, तीखापन और अविश्वास बढ़ता ही जा रहा है? यह ठीक है कि समाज में एक ऐसा दल हुआ करता है जो अपनी स्वार्थ-हानि के कारण, या भय से, या अपनी महत्वाकांक्षाओं को सिद्ध करने के लिए, ख्वामख्वाह एक दूसरे के ख़िलाफ़ ज़हर उगला और आग फैलाया करता है। पर यदि हमारे कार्य और आन्दोलन का हेतु अच्छा हो और हम उसी अच्छी भावना से काम भी करते हों तो ऐसे विघ्न-सन्तोषियों की कलई शीघ्र खुल भी जाती है और वह दोनों दलों का तिरस्कार-पात्र भी हो जाता है। इस दल की बात छोड़ देने पर भी मुझे कुछ हिन्दू-मुस्लिम नेताओं और कार्यकर्ताओं की मनोवृत्ति के बारे में कुछ कहने की ज़रूरत मालूम होती है। अपने एक आदरणीय मित्र की, जो कि समाज और देश के एक प्रभावशाली सेवक हैं, एक बात मुझे

वार वार याद आया करती है। वे कभी कभी कहा करते हैं कि असहयोग की उठती लहर के ज़माने में मैंने महात्माजी से कहा था—'महात्माजी, आपके आन्दोलन में पापी लोग घुस आये हैं—वे आपके तख्ते को उलट देंगे।' महात्माजी जवाब देते—'हाँ, ठीक है; पर मैं उन्हें चुनकर निकालने में असमर्थ हूँ।' अब वही बात मैं मालवीयजी से कहता हूँ—'महाराज, जैसे पापियों ने असहयोग की नाव को डुबोया, वैसे ही आपके आन्दोलनों में आ घुसे हैं—होशियार, ये इस नाव को भी खतरे में डाल देंगे।' मालवीयजी भी वही जवाब देते हैं जो महात्माजी ने दिया था। यह बात जितनी ही सच है; उतनी ही भयंकर है। जो बात हिन्दू-कार्यकर्ताओं पर घटती है वह, उससे कहीं अधिक, मुस्लिम-कार्यकर्ताओं पर घटती है। कहने का मतलब यह कि दोनों आन्दोलनों में कम या ज़्यादह ऐसे लोग हैं, जो अपने या अपने काम के तईं सच्चे नहीं हैं, जो चाहते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। दोनों आन्दोलनों में तीन प्रकार की मनोवृत्ति वाले लोग पाये जाते हैं—(१) वे जो सचमुच एकता चाहते हैं और एकता को साधन के ख़याल से हिन्दू-मुस्लिम-आन्दोलनों में पड़े हैं (२) वे जो एकता के कायल तो हैं; पर अपनी जातियों की रक्षा और वृद्धि को पहला स्थान देते हैं (३) वे जो एकता दरअसल नहीं चाहते, सिर्फ़ मसलहतन् एकता का नाम ले लिया करते हैं। मेरा ख़याल है कि दोनों जातियों में दूसरी और तीसरी श्रेणी के लोग ज्यादह हैं; मुसल्मानों में संभव है, तीसरी श्रेणी के लोग बढ़ जायँ; पर उनके समाज का मुझे ठीक

ठीक पता नहीं, इसलिये ठीक अन्दाज़ नहीं हो सकता। देश में इस समय भी एक ऐसा समुदाय है, जो वर्तमान शुद्धि-संगठन, तबलीग़ तनज़ीम को एकता के लिए आवश्यक नहीं मानता; वह अपने को राष्ट्रीय विचार वाला कहता है। इससे इन झगड़ों और आन्दोलनों का कोई संबंध नहीं। वे या तो उन्हें अनुचित समझते हैं या तटस्थ हैं। हिन्दू-मुसलमान-आनन्दोलनों में यदि पहले दल की बहुतमत होती, तो कटुता और अविश्वास इतने उग्र रूप में न दिखाई देता। यह एहसानमन्द है तीसरे दल की स्थिति, उग्रता और प्रभाव के तथा दूसरे दल की तीसरे दल के प्रति सहिष्णुता-भाव के। तीसरे दल को कमज़ोरी और ज़हर का घर कह सकते हैं। कमज़ोरी यह कि उसे अपना उद्देश साफ़ साफ़ कहने की हिम्मत नहीं—दबे-छुपे, खानगी में, वे ज़हर उगलते और फैलाते हैं। ज़हर है उन के बुरे, गंदे, कमीने खयाल और उनके प्रचार के वैसे ही नीच और गंदे साधन। वे दोनों को थोड़ी बुरी बातों और छोटी ग़लतियों को बहुत बड़ा बना कर फैलाते हैं, घटना को, समाचारों को, वक्तव्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं—भय के कल्पित भूत खड़े करते हैं; 'तुम कमज़ोर हो, तुम कायर हो, तुम बोदे हो, कह कर अपनी कमज़ोरी, कायरता या बोदापन समाज में बुरी तरह फैलाते हैं; कहते हैं 'वह एक लड़की उड़ायेगा तो हम दस उड़ायेंगे, वह एक झूठा गवाह बनायेगा तो हम दो खड़े कर देंगे, सत्य और धर्म के हामी हो तो कोने में बैठ रहो; जाति की रक्षा करनी हो, जाति को ज़िन्दा रखना हो तो वह जैसा करेगा, वैसा ही हमें भी करना

पड़ेगा।' और यह अपने को प्रथम दोनों दलों से ज्यादह अक़्लमन्द, ज्यादह बहादुर, ज्यादह क़ौमपरस्त, ज्यादह होशियार समझता है। यदि दोनों जातियों के मुखिया इस दल को अपने कब्जे में रख सकें, उनके नीति और धर्म के खिलाफ़ कामों की बार बार निन्दा किया करें और उन्हें फटकारा करें, तो दोनों जातियों के आन्दोलनों के चलते हुए भी अविश्वास, भय और संदेह का बाज़ार इतना गर्म न रहे। जनता और कार्यकर्त्ताओं को जाने दीजिए—दोनों के नेताओं को तो एक दूसरे की नीयत साफ़ होने का विश्वास होना चाहिए न? पर आश्चर्य यह है कि कार्यकर्त्ताओं और नेताओं में ही, अक्सर ज्यादह अविश्वास, संदेह और भय दिखाई देता है और, शायद, वही वहाँ से जनता में फैलता है। नेताओं के पारस्परिक मतभेद की बात तो समझ में आ सकती है; पर यह द्वेष, अविश्वास, नीयत पर शक, बिलकुल समझ में नहीं आता। प्रतिपक्षी चाहे हमारे मत से नाराज़ हो, हमारे काम को अपने लिए बुरा समझता हो, हमारा विरोध भी प्राणपण से करता हो; पर हमारे हेतु पर, हमारे शील-चारित्र्य पर हमारी कार्य-प्रणाली की शुद्धता पर तो उसे शक कदापि न रहना चाहिए। वह मैदान में चाहे भले ही हम से दो दो हाथ कर ले; पर घर में, अपनी मण्डली में, तो ज़रूर हमारी सचाई की तारीफ़ करे। यदि यह स्थिति नहीं है तो दोनों जातियों के नेताओं और कार्यकर्ताओं को गंभीरता और धार्मिकता के साथ इस स्थिति पर विचार करना चाहिए। मैं जहाँ तक सोचता हूँ ऐसी स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है, जब या तो (१) किसी

की नीयत और कार्य-प्रणाली दरअसल साफ़ न हो या (२) हम समाज के सुख-दुःख की भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि व्यक्तिगत मानापमान के भाव से उत्तेजित हो कर किसी हलचल में पड़े हों, या (३) सस्ती लोक-प्रियता कमाने अथवा सस्ता-नेता बनने की महत्वाकांक्षा ने हमें धर दबाया हो। यदि मेरा यह स्थिति-निरीक्षण ठीक हो और उसका निदान भी सही हो, तो क्या दोनों आन्दोलनों के प्रेमी, कार्यकर्त्ता और नेतागण तक मेरे ये क्षुद्र विचार पहुँचेंगे, क्या वे उन पर विचार करेंगे?

कुछ कार्यकर्ता यह भी मान बैठे हैं कि इन दोनों जातियों में एकता हो ही नहीं सकती, एकता होना उचित भी नहीं, लखनऊ से अब तक मुसलमानों से समझौते या एकता के प्रयत्नों का फल अधिक फूट में हुआ, मुसलमानों पर उसका कुछ असर न हुआ, वह एकता थी ही नहीं, एकता का भ्रम था आदि। इस पर मेरा यह निवेदन है कि एकता तो होगी और होकर रहेगी। इसके कारण मैं पहले ही बता चुका हूँ। एकता उचित नहीं है, यह कहना स्वराज्य और स्वाधीनता उचित नहीं है, ऐसा कहने के बराबर है। और यह कहना कि न हमें स्वराज्य दरकार है, न स्वाधीनता, अपने घोर अज्ञान को प्रकट करना तथा मानुष-भावों से इनकार करना है। यदि लखनऊ में समझौता न होता और अब तक एकता के लिए कोशिश न की गई होती तो आज देश में घर-घर स्वराज्य का जप होता हुआ न दिखाई पड़ता; जोश, चैतन्य उत्साह की लहर चारों ओर न देख पड़ती। वर्तमान कटुता एकता के प्रयत्नों का फल नहीं, आवश्यक और उचित प्रयत्न की

कमी का फल है। वह स्थायी एकता चाहे न रही हो, काम चलाऊ एकता ज़रूर थी और यदि हम अपना रास्ता न छोड़ देते तो वह स्थायी रूप ग्रहण कर सकती थी। स्थायी एकता के मानी हैं— जाति विशेष के स्वभाव पर स्थायी असर। दो चार वर्षों की आज-माइश, सो भी पूरी और तहेदिल से नहीं, इसके लिए काफ़ी नहीं समझी जा सकती। मेरा खयाल है कि ऐसी मोटी बुद्धि और अवांछनीय मनोवृत्ति भी एकता के मार्ग में कम रुकावट नहीं है! कार्यकर्त्ताओं को सूक्ष्म विचार और दूसरे के साथ न्याय करने की वृत्ति बनानी चाहिए।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इस फूट के कारण खुद गाँधीजी ही हैं जिन्होंने राजनीति में धर्म को—खिलाफ़त को घुसेड़ कर मुसलमानों को अधिक धर्मान्ध तथा कट्टर बना दिया, जिससे उन्हें हिन्दुओं पर ऐसे अत्याचार करने की सूझी। यह कहना न खिलाफ़त को समझना है, न धर्म को समझना है, न गाँधीजी को समझना है। खिलाफ़त का समर्थन महात्माजी ने इसलिए किया था—मुसलमान उसे अपने धर्म का मसला मान रहे थे और यों भी वह धर्म और नीति के नियमों के विरुद्ध न था। अपने भाई, मित्र या पड़ोसी के संकट में सहायता देना, उन्होंने अपना धर्म समझा। धर्म की व्याख्या मैं ऊपर कर चुका हूँ। मनुष्य का सारा जीवन आरंभ से अब तक, धर्म की परिधि से बाहर नहीं हो सकता! राजनीति मानव-धर्म का एक अंग है। धर्म-सिद्धान्त और धर्म-भाव से पृथक् राजनीति स्वार्थ-नीति, शैतान-नीति है और गले की फाँसी है। गाँधीजी ने यह कभी नहीं कहा

कि धर्म-शास्त्र की बाहरी बातों का प्रभुत्व राजनीति में हो। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि सिर्फ़ मूर्ति की पूजा करने वाला, या पाँच दफ़ा नमाज़ पढ़ने वाला, या चोटी अथवा दाढ़ी रखने वाला ही किसी संस्था का सदस्य हो, या किसी आन्दोलन में शरीक हो। हाँ, उन्होंने यह ज़रूर चाहा कि राजनैतिक और राष्ट्रीय कामों में भी उन्हीं नीति-नियमों का सचाई के साथ पालन किया जाय, जो कि धर्म के प्राण-रूप हैं। वे राजनीति को लूट का साधन नहीं रहने देना चाहते। वे उसे मानव-सेवा का, धर्म-भाव का साधन बनाना चाहते हैं। क्या यह बुरा है? इसे बुरा सिर्फ़ वही लोग कह सकते हैं जिनकी स्वार्थ-हानि इससे हो सकती है। फूट, राजनीति में धर्म-नीति का प्रवेश करने से नहीं, बल्कि धर्म-भाव-हीन राजनीति का बोलबाला रहने से फैली है। धर्म और राजनीति का यह अस्पष्ट विचार और उससे उत्पन्न दोष-दुष्ट मनोभाव भी एकता में कम बाधक नहीं हैं।

चौथी कठिनाई है—हमारी मौजूदा सरकार। यह हिन्दू-मुस्लिम–एकता की ही कठिनाई नहीं है, हिन्दुस्तान की जिन्दगी की कठिनाई है। यह केवल हिन्दु-मुस्लिम-एकता के मार्ग में ही एक समस्या नहीं है, बल्कि भारत के लिए खुद भी एक समस्या है। जब तक हममें एकता नहीं है, तब तक हम उसे मिटा या बदल नहीं सकते, तब तक वह हमारी छाती पर मौजूद हुई है। उसके रहते हुए भी हमें यह समस्या हल करनी होगी। यह तभी हो सकता है जब हम उसके प्रभाव और दायरे से अपने को जितना बचा सकें, बचावें। उसके कल-पुर्जों की सलाहें मानने के

बनिस्वत देश के नेताओं की, राष्ट्रीय महासभा की, सलाहों पर चलें। आज हिन्दू और मुसल्मान इसलिए भी लड़ रहे हैं कि किसको कितने सरकारी-पद मिलें—कौन सरकार का ज्यादह आउर्दा, खैरख्वाह और मूँछ का वाल वनकर रहे? वजाय इसके हमारे दिलों में यह हौसला होना चाहिए कि हम राष्ट्रीय महासभा के होकर किस तरह रहें। हमें याद रखना चाहिए कि आज की राष्ट्रीय महासभा, हमारी कल की सरकार है। यदि हम आज की सरकार की ही वगल में चिपके रहेंगे तो कल की सरकार हमसे दूर, और हम उससे दूर, रहेंगे।

पाँचवीं कठिनाई है—एकता के मार्ग की उलझन—अभी दोनों जातियों के नेता इस सवाल को हल नहीं कर पाये हैं और इस वात में राष्ट्रीय नेताओं में और उनमें मतभेद है कि एकता का मार्ग प्रेम के दरवाज़े से होकर जाता है या भय की करारों से। दूसरे शब्दों में कहें तो मित्रता का मूल प्रेम है या भय—इसका तस्फ़िया अभी नहीं हो पाया है। प्रेम दो आदमियों को नज़दीक लाता है या भय? कुटुम्ब और घर में प्रेम का तत्व चलता है या भय का? प्रेम भाइयों के दिलों को मिलाता है या भय? इस पर कोई कहेगा—हिन्दू-मुसल्मान आज एक दूसरे को भाई नहीं समझते हैं। तो मैं पूछता हूँ, क्या दोनों जातियों के नेताओं की भी यही राय है? यदि हाँ, तो फिर उन्हें स्वराज्य और एकता का नाम मुँह से न निकालना चाहिए। और यदि यह मान भी लें तो मैं पूछता हूँ, यह शत्रुता आखिर चाहती क्या है? दो में से किसी एक को मिटा देना? यदि दोनों का समझौता, मित्रता या एकता ही

हमारी मौजूदा लड़ाइयों का अन्तिम परिणाम सोचा गया हो, तो फिर मैं पूछता हूँ कि वह परिणाम प्रेम के रास्ते ज्यादह जल्दी, ज्यादह अच्छा निकलेगा, या भय के रास्ते ? लड़ाई भी हम प्रेम से लड़ सकते हैं। प्रेम की लड़ाई दोनों का हित चाहती है, भय की लड़ाई एक का हित। हम एक ओर एकता चाहें, और दूसरी ओर भय की लड़ाई के द्वारा एक का हित साधें, ये दोनों बातें एक साथ कैसे रह सकती हैं ?

यह सच है कि प्रेम से भय का रास्ता सरल मालूम होता है। प्रेम यों देखने में बहुत कीमत चाहता है, खरा सोना चाहता है, पर वास्तव में भय से वह बहुत कम साधन, कम झंझट, कम परेशानी और कम चिन्ता चाहता है। वह सिर्फ यही चाहता है कि मेरा भी उतना ही हित चाहो, जितना अपना चाहते हो। कौन कह सकता है कि प्रेम की यह माँग बेजा या ज्यादह है ? भय इसका जवाब देता है कि तुम मुझ से दब कर रहना चाहते हो तो तुम्हारी बात क़बूल करूँगा। यदि हिन्दू-मुसलमान यह चाहते हों कि हिन्दुस्तान में दो में से एक, दूसरे से दब कर रहे, डरता रहे तो मित्रता या एकता की आशा व्यर्थ है। यदि एकता और मित्रता वास्तव में हमारा लक्ष्य है तो भय का रास्ता हमारे लिए बंद है।

पर हम तो पहले ही भय के रास्ते चल पड़े हैं। 'भय बिनु प्रीति न होत' को अपना सिद्धान्त मानकर इन दिनों हिन्दू-मुस्लिम नेता चल रहे हैं। हो सकता है कि एक का भय आक्रामक और दूसरे का रक्षात्मक हो। पर हो रहे हैं दोनों भय के ही पथ के पथिक।

७ स्वामीजी का खून और हमारा कर्त्तव्य

दिल का उफान—

यहाँ तक हमने देखा कि हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न क्या है, भारत को हिन्दू-मुस्लिम-एकता की कैसी आवश्यकता है, उसके लिए अब तक क्या क्या प्रयत्न हुए, वे कैसे सफल न हुए, दोनों में वैमनस्य क्यों है तथा एकता किस तरह हो सकती है और उसमें क्या कठिनाइयाँ हैं। पिछले सब प्रकरणों का निचोड़ यह है—

(१) भारतीय स्वराज्य के लिए हिन्दू-मुस्लिम-एकता अनिवार्य-शर्त है,

(२) एकता के दो रूप हैं, संस्कृति की एकता और राजनैतिक एकता—संस्कृति की एकता के लिए मुसलमानों की हिंसा-वृत्ति कम होना तथा हिन्दुओं की जड़ता का उन्मूलन होना आवश्यक है। राजनैतिक एकता के लिए छोटी जातियों की माँग बड़ी जातियाँ स्वीकार कर लें—यही अर्थात् प्रेम का एकमात्र राजमार्ग है, और

(३) शुद्धि-तबलीग़ और संगठन-तनज़ीम के रूप में थोड़े संशोधन की आवश्यकता है।

इनमें से बहुतेरी बातें प्रायः सब हिन्दू-मुसलमान-नेता, कार्यकर्त्ता और शिक्षित लोग जानते हैं; फिर आज इन बातों को इतने

विस्तार से लिखने की जरूरत क्यों पड़ी ? इसलिए कि—मैं हिन्दू-मुसलमान-विद्वेष और हिंसाकाण्ड को देश का महान् दुर्भाग्य और संकट समझता रहा हूँ तथा शुद्धि-संगठन और तबलीग़-तन-ज़ीम की वर्तमान गति-विधि पर भी मेरे कुछ आक्षेप हैं—पर इनमें पड़ने की योग्यता और शक्ति का अभाव अपने में पाकर, मैं इन बातों में कुछ समय से तटस्थ रहा हूँ । हाँ, इधर इधर मन में यह प्रेरणा ज़रूर होने लगी थी कि हिन्दू-संगठनको शुद्ध रूप देने और उसका सामाजिक उपयोग करके हिन्दू-समाज की सेवा, में अपनी शक्ति लगाऊँ—इतने ही में स्वामी श्रद्धानन्दजी के अमानुष खून ने मेरे हृदय को कँपा दिया, जिससे मेरे दिल का यह उफान बरबस निकल पड़ा । जिस तरह वह खून हुआ, वह तो हिन्दू-जाति, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-धर्म की उच्चता, श्रेष्ठता, का मानों दुनिया में डंका पीट रहा है और मुसलमानों की जंगली धर्म-मान्यता और पशुता की गवाही दे रहा है । ज्यों ज्यों तहक़ी-क़ात में यह सूत मिलता जाता है कि इसके पीछे एक मुसलमानों की साजिश है, त्यों त्यों हर हिन्दू-मुसलमान के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस समय हमारा क्या कर्तव्य है । कुछ बिगड़े-दिल मुसलमानों को छोड़कर इस खून पर प्रायः सब लोगों और दलों को अफ़सोस हुआ है; लेकिन इसका असर जुदा जुदा दलों पर जुदा जुदा रूप में हुआ है । उन सबके कर्तव्य का हम यहाँ अलहदा अलहदा विचार करें । वे दल इतने हो सकते हैं—(१) हिन्दू-मुस्लिम-हलचलों में पड़े हुए हिन्दू-मुसलमान (२) राष्ट्रीय विचार के हिन्दू-मुसलमान (३) सरकार तथा (४) अन्य

हिन्दुस्तानी। इनमें सबसे पहले शुद्धि-संगठन में लगे हुए हिन्दुओं के कर्त्तव्य पर विचार करें।

हिन्दुओं का कर्त्तव्य—

उन्हें सबसे पहले यह सोचना चाहिए कि स्वामीजी महाराज का खून क्यों हुआ, किन कारणों ने यह परिस्थिति पैदा की फिर यह विचारें कि स्वामीजी महाराज का श्रेष्ठ स्मारक क्या हो, उनका अंगीकृत-कार्य क्या था और वह कैसे पूरा हो ?

मेरी समझ में स्वामीजी महाराज के खून के योग्य परिस्थिति पैदा होने के दो कारण हैं—(१) दोनों तरफ़ के संवाददाताओं, अख़बारनवीसों, ग़ैरज़िम्मेवार कार्य-कर्ताओं की नीति-अनीति और हानि-लाभ की परवा किये बिना एक दूसरे के ख़िलाफ़ प्रचार करने की उत्तेजना और (२) मुसलमानों का यह जंगली या ग़लत ख़याल कि काफ़िर की जान मार देना अल्लाह की मेहर हासिल करना है और नेताओं के मार डालने से शुद्धि-संगठन बंद हो जायगा। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि शुद्धि-संगठन कोई नीति-विरुद्ध काम नहीं है। यदि अधिकांश हिन्दू आज अपने लिए इसकी जरूरत समझते हैं, तो उन्हें ऐसा करने का बराबर हक़ है और दुनिया की कोई दुर्घटना उन्हें रोक नहीं सकती। पर हम नीति और धर्म की उच्चता का दावा करनेवाले हिन्दुओं का यह भारी कर्तव्य है कि हम जोश में, या उलझे हुए ख़यालात के कारण ऐसा काम न करें जो हमारे उच्च धर्म, संस्कृति और जाति के बड़प्पन को बट्टा लगाते हों। अपनी इसी अच्छाई और ऊँचाई के बल पर तो हम दुनिया को अपना बना लेने की, दुनिया

को अपनी ओर खींच लेने को आकांक्षा रखते हैं—इसी को खो देंगे तो दुनिया हमें क्यों पूछने लगेगी ? दुनिया हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति को हमारे धर्म-ग्रन्थों में या पिछले इतिहासों में देख कर हमारे साथ नहीं दौड़ी आवेगी, उसमें तो हमारी तरफ़ बहुत हुआ तो उसका ध्यान आकर्षित हो जायगा; पर आज वह हमारा आदर तभी करेगी, जब हम अपने धर्म और संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि होकर रहेंगे—हम उन तमाम नियमों को निबाहेंगे जो धर्म के और संस्कृति के उच्च नियम हैं ? अतएव हम हर हिन्दू ऐसा बनने का प्रयन्त करें कि जिसे देख कर हर आदमी यही कहे—यानी यह हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति का साक्षात् अवतार है। हम अपने इस चरित्र बल पर ही संसार में अपने धर्म और संस्कृति को फैलाने की आशा कर सकते हैं। इसलिए ऐसा दावा करने, या उसके लिए प्रयत्न करने के पहले, अथवा साथ ही साथ, हम इस बात का भी पूरा उद्योग करें कि हम दुनिया की नज़र में ऊँचे रहें—हमारे हीन चरित्र को, हमारी गंदी बातों को, हमारी कु-करतूतों को देखकर दुनिया की दृष्टि हमारे धर्म और संस्कृति की ओर से फिर जायगी—जिस समाज में सत्य का गला घोंटा जा सकता हो, धन देकर जो चाहे कहलवा और लिखवा लिया जा सकता हो, जिसमें दुराचार फैला हुआ हो, दूसरों की बुराई ही देखी और फैलाई जा सकती हो—जोश के आगे विवेक और अक़ल की बात ठुकराई जा सकती हो, उसमें आकर सुख और शान्ति पाने की कौन उम्मीद करेगा ? मुस्लिम-संस्कृति को हम क्यों इतना कोसते हैं ? इसीलिए न कि

आज के कितने ही मुसल्मान गुण्डे से बन गये हैं। उन्हें देख कर किसी का आदर मुस्लिम-जाति की ओर बढ़ रहा है? फिर वैसे ही गुण्डे बन कर हम क्या अपनी जाति और संस्कृति की सेवा करेंगे। हमारे व्याख्यानों और लेखों से नहीं, अपने सदा-चार और सौजन्य से हम अपने प्रति औरों का आदर-भाव बढ़ा सकते हैं और उन्हें अपने दायरे में ला सकते हैं। धर्मान्तर या शुद्धि का यही सच्चा तरीक़ा है।

शान्ति के साथ विचार करने पर हमें मानना होगा कि स्वामी जी महाराज के खून हो सकने वाली परिस्थिति पैदा होने में हम हिन्दू भी कारणीभूत हैं। यदि मेरा यह खयाल ठीक है, तो हमें अब आगे, उन बुराइयों से तो बाज़ आना चाहिए—पर अपना काम धड़ाके से जारी रखना चाहिए।

इस पर शायद कोई यह कहे कि हमें स्वामी जी महाराज के खून पर दुःख ज़रा भी नहीं हुआ। हमें तो उनके बलिदान पर गर्व है। ऐसे ही बलिदानों से हिन्दू-धर्म और जाति का गौरव बढ़ता है और उसकी सेवा और वृद्धि होती है। हाँ, बिल्कुल सही है—मैं भी उन आदमियों में हूँ, जो स्वामीजी के बलिदान में अपना गौरव मानते हैं और समझते हैं कि इससे हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म का सिर संसार में ऊँचा हो गया है। पर इस बलिदान का महत्व और पवित्रता और बढ़ जाती, यदि हम हिन्दुओं का ज़रा भी हाथ, जान या अनजान में, इसकी परि-स्थिति पैदा करने में न लगा होता। यदि इसके जिम्मेवार केवल मुसल्मान ही होते तो स्वामीजी का जीवन-कार्य उनके बलिदान

के साथ ही पूरा हो जाता—हमारे द्वारा पूरा होने के लिये बाक़ी न बच रहता। निस्संदेह स्वामीजी का बलिदान हिन्दुओं को और समस्त धर्म-प्राण लोगों को बलिदान की पवित्र प्रेरणा कर रहा है—अपने प्रतिपक्षी दल के एक व्यक्ति को रोगशय्या पर पड़े हुए भी बुलाना, उसे पानी पिलवाना और उसकी गोलियों से शान्ति और वीरतापूर्वक मृत्यु की गोद में सो जाना, हिन्दू-धर्म और हिन्दू संस्कृति की उच्चता का झण्डा गगन में फहराना है। आइए, हम ऐसी ही महत्वाकांक्षा अपने जीवन में रक्खें कि हम भी पवित्र धर्म-मय-जीवन व्यतीत करते हुए, अपने समाज, देश और धर्म की अटल, अविराम सेवा करते हुए, इसी प्रकार वीर और धर्म-गति को प्राप्त हों। यही स्वामीजी महाराज के बलिदान के योग्य अपने को साबित करने का तरीक़ा है। यही उनके महान् सच्चे और अमर स्मारक की निर्दोष विधि है।

संगठन जारी रहे—

अब रहे स्वामीजी के अंगीकृत कार्य—शुद्धि और संगठन। मेरी राय में ये बराबर दूने वेग से जारी रहने चाहिये। सिर्फ़ इसी बात की ज्यादह चिन्ता और सावधानी रहनी चाहिये कि ग़ैर ज़िम्मे-वार या जल्दबाज कार्यकर्त्ता उसके असली रूप को बिगाड़ें नहीं, उसकी शक्ति का दुरुपयोग न करें, उसकी आड़ में मुस-लमानों के प्रति विद्वेष, कटुता, अविश्वास न फैलावें। मुझे शुद्धि से भी ज्यादह जरूरी और महत्व का काम हिन्दू-संगठन मालूम होता है। शुद्धि पर यदि इतना जोर न भी दिया जाय और सारी शक्ति संगठन में ही लगा दी जाय तो हर्ज नहीं। हमें संगठन में

इतनी बातों पर ख़ास तौर पर ध्यान देना चाहिये—(१) अछूतों, अनाथों और विधवाओं की आर्थिक कठिनाइयाँ, सामाजिक कष्ट दूर करना, जिससे वे विधर्मी बनने के लालचों में न आने पावें और (२) हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों और हिन्दू-संस्कृति की श्रेष्ठता, हिन्दू-जाति की महत्ता के ज्ञान का प्रचार उनमें अविरत रूप से किया जाय। हिन्दू-धर्म के मूल-भूत ग्रन्थों के सरल और सस्ते अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं में कराकर उनका प्रचार किया जाय। अशिक्षित लोगों में अच्छे, सुशील, पवित्र उपदेशकों द्वारा कथा-कीर्तन के रूप में धर्मोपदेश की व्यवस्था की जाय। या तो अपने धर्म के अज्ञान के कारण या धार्मिक लोभ, या सामाजिक सुविधा से आकर्षित होकर लोग प्रायः विधर्मी होते हैं। अतएव पूर्वोक्त उपायों द्वारा खासी क़िलाबंदी कर देने से यह समस्या अच्छी तरह हल हो सकती है। और धर्म-भ्रष्ट हुए लोगों को वापस हिन्दू-समाज में आने का रास्ता तो अब खुल ही गया है, वह वैसा ही खुला रहना चाहिए। ऐसा करने से स्वामीजी महाराज जिस काम को अधूरा छोड़ गये, उसकी पूर्ति भलीभाँति हो सकेगी और इससे हिन्दू-मुस्लिम-एकता की राह के काँटे भी निकल जायँगे, जो कि स्वामीजी महाराज को भी इतनी प्रिय थी।

हिन्दुओ, सावधान!

एक अमंगल ध्वनि मेरे कानों पर आई है, जिसका संकेत राष्ट्रीय महासभा के सभापति के पास भी गुमनाम पत्रों के रूप में पहुँचा है और जिसका ज़िक्र तक महात्माजी को महासभा में करना पड़ा है। कुछ बिगड़े-दिल हिन्दू-भाई यह सोचते हुए

दिखाई देते हैं कि स्वामीजी के खून का जवाब मुसलमानों को क्यों न उन्हीं के तरीक़े से दिया जाय? मैं अपनी छोटी शक्ति के साथ उन हिन्दू-भाइयों को सावधान करना चाहता हूँ कि वे जोश में, ऐसा अविचार, ऐसा अनर्थ न करें। इस खून के बदौलत आज सारी दुनिया में जो हिन्दू-संस्कृति का यश फैल रहा है, और साथ ही मुस्लिम-संस्कृति का हिंसक अंग, जो अपने पूरे भयंकर और घृणित रूप में बीसवीं सदी की दुनिया के सामने आया है, उसको जल्दी में अपने दिल का उबाल निकालने के लिए, अपने रंज और ग़म को बुझाने के लिए, पोंछ न डालो! अपनी चोट पर इतना सस्ता मरहम न लगाओ—यह ज़हरीला है। इससे तुम्हारी चोट थोड़ी देर के लिए ठंढी होती हुई भले ही दिखाई दे, आगे चलकर वह घाव को सड़ा देगा और सारे समाज को परेशान कर देगा। इससे लोकमत हिन्दुओं की ओर से हट कर, मुसल्मानों की ओर हो जायगा और तुम्हारा पक्ष कमज़ोर हो जायगा। स्वामीजी के खून की ज्यादह क़ीमत तुम्हें देनी होगी। तुम्हें अपना जीवन स्वामीजी की वीरता, निर्भयता, पुरुषार्थ, लगन, सत्य-प्रेम का अनुकरण करने में तथा अछूतों को उठाने, अबलाओं को जगाने, अनाथों को भाई बनाने में लगाना होगा। किसी मुसल्मान का खून करके तुम स्वामीजी के पास जाओगे तो वे तुम्हें वहाँ से बैरंग वापस कर देंगे; अपनी ज़िंदगी उनके अंगीकृत-कार्यों में लगाकर उनके सामने पहुँचोगे तो वे पीठ ठोंककर शाबाशी देंगे और प्रेम से अपनी गोद में बैठावेंगे।

मैं एक बात उन जोशीले भाइयों से भी कहना चाहता हूँ—

जो हिन्दू-धर्म को विश्व-धर्म बनाने के लिए लालायित हैं, वे अगर नाम के लिए लड़ते रहेंगे तो अपने धर्म को जाति के क़ैद-ख़ाने में क़ैद कर देंगे। अगर सिद्धान्त और भाव के प्रचार में जुटे रहेंगे तो संसार आदर-पूर्वक उनको शिरोधार्य करेगा।

मुसल्मानों का फ़र्ज़—

मुसल्मानों को, इस मौक़े पर, उनके फ़र्ज़ बताने का मुझे उतना हक़ हासिल नहीं। मैंने यह किताब एक हिन्दू की हैसियत से, ख़ास कर अपने हिन्दू भाइयों के लिए लिखी है। गो मैंने इसमें कितनी ही जगह एक हिन्दुस्तानी की हैसियत से भी कुछ लिखा है, ताहम मुसल्मान भाइयों से ज्यादह कहने की हिम्मत नहीं होती; क्योंकि उन्होंने अभी ऐसी बातें सुनने के लिए अपने कान बंद कर रक्खे हैं। जिस दिन वे किसी हिन्दू का ऐसा दावा मान लेंगे, उस दिन उनकी ख़िदमत में भी दस्तबस्ता अर्ज़ किया जायगा। उनके लिए तो यहाँ मैं सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूँ कि अगर मैं मुसल्मान होता तो इस मौक़े पर क्या करना अपना फ़र्ज़ समझता। मेरे दिल को अब्दुल रशीद की इस हरकत से उससे ज्यादह चोट पहुँचती, जितनी आज हिन्दू की हैसियत से स्वामीजी के ख़ून पर पहुँच रही है। मैं अब्दुल रशीद को इस्लाम का पाप समझता और मानता कि ख़ुदा ने मुस्लिम-संस्कृति को धोने के ख़याल को मुसल्मानों के दिल में जमाने के लिए इसे दुनिया में भेजा है। मैं उसे एक भारी काफ़िर से ज्यादह इस्लाम का दुश्मन समझता; क्योंकि काफ़िर तो काफ़िर रह कर सिर्फ़ अपना नुक़सान करता है, इस्लाम का नहीं। अब्दुल रशीद ने तो न

सिर्फ़ अपना नुक़सान ही किया, बल्कि इस्लाम को दुनिया की नज़र में और गिरा दिया। उसको 'ग़ाज़ी' का ख़िताब देने वालों को मैं काफ़िर से ज्यादह बुरा समझता और अगर अब्दुल रशीद किसी साज़िश का हथियार बना हो, तो मैं इस अफ़सोसनाक वाक़ए को हज़रत महम्मद साहब के फ़ैज़ोअसर (पुण्य-प्रताप) के इम्तहान का मौक़ा समझता। मैं स्वामी श्रद्धानंदजी की एक यादगार बनवाने में अपनी ताक़त लगाता और वह होती—'इस्लाम-रिफ़ार्म-अंजुमन'—की शकल में, जिसका काम होता बीसवीं सदी के इल्म और जानकारियों की रोशनी में इस्लाम का रिफ़ार्म करना। मैं गंदे और भद्दे तरीक़ों से तबलीग़ करने का तरीक़ा बंद करवाता और हिन्दुओं से अपने को हर तरह ऊंचा उठाकर इस्लाम की बढ़ती करने की कोशिश करता। मुसल्मानों की जहालत, जुनून और लठबाज़ी को इस्लाम की ताक़त नहीं, कमज़ोरी समझता और हिन्दुओं की हलीमी (नम्रता) और बरदाश्त को उनकी ताक़त। ग़र्ज़ें कि मैं इस मौक़े पर हर तरह से इस्लाम का सिर दुनिया में ऊँचा उठाने के लिए छटपटाता। इससे ज्यादह मैं मुसल्मान भाइयों से क्या अर्ज़ कर सकता हूँ। मुझे तो इतना ज़रूर दिखाई देता है कि अगर इस्लाम में जल्द ही कोई अच्छा रिफ़ार्मर न पैदा हुआ तो इस्लाम की ताक़त दुनिया में दिन-दिन कम पड़ती जायगी। इस्लाम की बुनियाद अब्दुल रशीद ने ढीली कर दी है, अब जल्द ही हज़रत मुहम्मद साहब के तशरीफ़ लाने की ज़रूरत है। एक साधारण मनुष्य की हैसियत से कभी-कभी मेरा जी चाहता है कि अब्दुल रशीद का शुक्रिया अदा

करूँ, मगर एक तो हिन्दू-धर्म मुझे इसके लिए मना करता है, क्योंकि वह नहीं चाहता कि प्रतिपक्षी का पतन हो, और दूसरे अपने को इस्लाम का भी खैरख्वाह मानता हूँ। इसलिए उसका शुक्रियाअदा कर के इस्लाम में और अब्दुल रशीद बढ़ाना मुना-सिब नहीं समझता।

सरकार का कर्त्तव्य—

सरकार न हमारे वश की है, न उसका कर्त्तव्य हमारे वश का है। वह राष्ट्रीय होती तो ज्यादह कहने की जरूरत ही न पेश आती। अपने कर्त्तव्य से ज्यादह ख्याल उसे अपने स्वार्थ का है। बड़ा नाम, बड़े दावे तथा खुद स्वार्थ उसे कभी कभी इन झगड़ों में, और खास कर ऐसी वारदात में दिलचस्पी लेने पर मजबूर करता है। क्या यह ताज्जुब और शर्म की बात नहीं है कि एक सरकार के होते हुए, दो जातियाँ बरसों इतनी लड़ती रहें, एक जाति के नेता के खून होने तक की नौबत पहुँच जाय और वह हालत को सुधारने में बिल्कुल कामयाब न हो सके? जब कि ऐसी दुर्घटनाओं और लड़ाई-झगड़ों में उसका प्रत्यक्ष लाभ है, उसकी हस्ती इसी पर खड़ी है, तब उसके कर्त्तव्य का विचार करना ही वृथा है—हमें तो यह विचार करना उचित है कि वह कैसे सुधारी जाय, अपनी बनाई जाय और इसके लिए हमारा क्या कर्त्तव्य है?

राष्ट्रीय विचार वालों का कर्त्तव्य—

वे दोनों जातियों की उत्तेजना, कटुता, भय, अविश्वास और सन्देह को कम करने में पहले से भी अधिक अपनी शक्ति लगावें-

ऐसे कामों की आयोजाना करें जिससे दोनों जति के लोग एक दूसरे के संपर्क में आवें—नज़दीक़ आवें, इसका सब से अच्छा उपाय है—महात्माजी का चरखा और खादी। इसके पैग़ाम को लेकर कार्यकर्त्ता हिन्दू-मुसलमान दोनों के घरों और दिलों तक पहुँच सकता है और एकता, प्रेम, विश्वास तथा निर्भयता का सन्देश उन्हें सुना सकता है। शुद्धि-सङ्गठन और तबलीग़-तनज़ीम वाले वे भाई भी, जो अपनी २ जातियों का भला तो चाहते हैं, पर साथ ही एकता और स्वराज्य के भी प्रेमी हैं, इसमें राष्ट्रीय विचार वालों का हाथ बटावें और इस तरह दोनों अपने एक लक्ष्य तक पहुँचें।

अन्य हिन्दुस्तानियों का कर्तव्य—

पारसी, ईसाई, सिक्ख (यदि वे अपने को हिन्दू से पृथक् मानते हों) का कर्त्तव्य है कि वे इन हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों से यह नसीहत लें कि (१) जातियों का आपस में लड़ना राष्ट्र को हानि है (२) जातिगत स्वार्थों को राष्ट्रीय स्वार्थों से तरजीह देना बुरा है (३) सरकार के बजाय राष्ट्रीय महासभा देश की और देश की छोटी-बड़ी जातियों की सच्ची हितचिन्तक है और (४) हिन्दु-मुसल्मानों के उत्पातों से अकेले उन्हीं को नहीं, बल्कि दूसरी जातियों को भी हानियाँ हैं; इसलिए उनको मिटाने में वे तटस्थ न रहें, बल्कि जहाँ तक हो सके प्रेम, सद्भाव, मित्रता का वायुमण्डल तैयार करने में अपनी तरफ़ से भी भरसक कोशिश करें।

उपसंहार—

यहाँ यह निबंध और मेरा कर्त्तव्य समाप्त होता है। मैं नहीं कह सकता कि यह चीज़ जैसी चाहिए, वैसी बनी या नहीं। पर मैं इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि इसे जो ध्यान-पूर्वक पढ़ेगा, उसकी बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ जायँगी और उसे अपने लक्ष्य, मार्ग और कर्त्तव्य का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। यदि इतना भी हुआ तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

हिन्दू भाई मुझे माफ़ करें, अगर इसकी कोई बात, इस समय उन्हें खटके। अपनी त्रुटियों, भूलों और दोषों को इसमें कहीं २ देख कर वे चिढ़ें और बिगड़ें नहीं। दोष दबाकर रखने से बढ़ता है, उसे तो साफ़ ही कर डालना चाहिए। बदबू फैलने के डर से हम कहाँ तक उस बदबू को छिपा रक्खेंगे और अपनी हानि करते रहेंगे। अपने दोष प्रकट करना अच्छी बात है, दूसरे के दोष खोजना बुरा है। मुसल्मान अगर हमारी बदबू पर खुश हों, तो होते रहें। उलटा मुझे तो इस बात का अफ़सोस है कि उनके घर में हमसे कम बदबू नहीं है। मगर उनसे कुछ कहने का मुझे कोई हक़ नहीं। हिन्दुओं के लिये इस कारण लिखा कि मैं 'उनका हूँ'—उनके दुःख से दुखित होकर ये पंक्तियाँ उन्हीं के लिये लिखी गई हैं—ये दुखी दिल के उद्गार हैं—ज़्यादह क्या कहूँ—

समाप्त

हमारे यहाँ से निकलनेवाली दो मालाएं और स्थायी ग्राहक होने के दो नियम

खूब ध्यान से सब नियमों को पढ़ लीजिये

(१) हमारे यहाँ से 'सस्ती विविध पुस्तक-माला' नामक माला निकलती है जिसमें वर्ष भर में ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें निकलती हैं और वार्षिक मूल्य पोस्ट खर्च सहित केवल ८) है। अर्थात् छः रुपया ३२०० पृष्ठों का मूल्य और २) डाकखर्च। इस विविध पुस्तक-माला के दो विभाग हैं। एक 'सस्ती-साहित्य-माला' और दूसरी 'सस्ती-प्रकीर्ण पुस्तकमाला'। दो विभाग इसलिये कर दिये गये हैं कि जो सज्जन वर्ष भर में आठ रुपया खर्च न कर सकें, वे एक ही माला के ग्राहक बन जावें। प्रत्येक माला में कम से कम १६०० पृष्ठों की पुस्तकें निकलती हैं और पोस्ट खर्च सहित ४) वार्षिक मूल्य है। माला से ज्यों ज्यों पुस्तकें निकलती जावेंगी, वैसे वैसे पुस्तकें वार्षिक ग्राहकों के पास मण्डल अपना पोस्टेज लगाकर पहुँचाता जायगा। जब १६०० या ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँच जावेंगी, तब उनका वार्षिक मूल्य समाप्त हो जायगा।

(२) वार्षिक ग्राहकों को उस वर्ष की—जिस वर्ष में वे ग्राहक बनें—सब पुस्तकें लेनी होती हैं। यदि उन्होंने उस वर्ष की कुछ पुस्तकें पहले से ले रखी हों तो अगले वर्ष की ग्राहक-श्रेणी का पूरा रुपया यानि ४) या ८) दे देने पर या कम से कम १) या २) जमा करा देने तथा अगला वर्ष शुरू होने पर शेष मूल्य भेज देने का वचन देने पर, पिछले वर्षों की पुस्तकें जो वे चाहें, एक एक कापी लागत मूल्य पर ले सकते हैं।

(३) दूसरा नियम—प्रत्येक माला की आठ आना प्रवेश फ़ीस या दोनों मालाओं की १) प्रवेश फीस देकर भी आप ग्राहक बन सकते हैं। इस तरह जैसे जैसे पुस्तकें निकलती जावेंगी, उनका लागत मूल्य और पोस्ट खर्च जोड़ कर वी. पी. से भेज दी जाया करेंगी। प्रत्येक वी. पी. में =) रजिस्ट्री खर्च व =) वी. पी. खर्च तथा पोस्टेज खर्च अलग लगता है। इस तरह वर्ष भर में प्रवेश फीसवाले ग्राहकों को प्रति माला पीछे क़रीब ढाई रुपया पोस्टेज पड़ जाता है। वार्षिक ग्राहकों को केवल १) ही पोस्ट खर्च लगता है।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें

क्योंकि इससे आपको पोस्ट खर्च में भी किफ़ायत रहेगी प्रवेश फीस के ॥) या १) भी आपसे नहीं लिये जावेंगे।

(४) दोनों तरह के ग्राहकों को—एक एक कापी ही लागत मूल्य पर मिलती है। अधिक प्रतियाँ मँगाने पर सर्वसाधारण के मूल्य पर दो आना रुपया कमीशन काट कर भेजी जाती हैं। हाँ, बीस रुपये से ऊपर की पुस्तकें मँगाने पर २५) सैंकड़ा कमीशन काट कर भेजी जा सकती हैं। किसी एक माला के ग्राहक होने पर यदि वे दूसरी माला की पुस्तकें या मंडल से निकलने वाली फुटकर पुस्तकें मँगावेंगे तो दो आना रुपया कमीशन काट कर भेजी जावेंगी। **पर अपना ग्राहक नंबर ज़रूर लिखना चाहिये।**

(५) **दोनों मालाओं का वर्ष**—सस्ता साहित्य-माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होकर दिसम्बर मास में समाप्त होता है और प्रकीर्ण-माला का वर्ष अप्रेल मास से शुरू होकर दूसरे वर्ष के अप्रेल मास में समाप्त होता है। मालाओं की पुस्तकें दूसरे तीसरे महीने इकट्ठी निकलती हैं और तब ग्राहकों के पास भेज दी जाती हैं। इस तरह वर्ष भर में कुल १६०० या ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँचा दी जाती हैं।

(६) जो वार्षिक ग्राहक माला की सब पुस्तकें सजिल्द मँगाना चाहें, उन्हें प्रत्येक माला के पीछे तीन रुपया अधिक भेजना चाहिये, अर्थात् साहित्य माला के ७) वार्षिक और इसी तरह प्रकीर्ण माला के ७) वार्षिक भेजना चाहिये।

हमारे यहाँ से निकलनेवाली फुटकर पुस्तकें

उपरोक्त दोनों मालाओं के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी हमारे यहाँ से निकलती हैं। परन्तु जैसे दोनों मालाओं में वर्ष भर में ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें निकालने का निश्चित नियम है वैसा इनका कोई खास नियम नहीं है। सुविधा और आवश्यकतानुसार पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहकों के जानने योग्य बातें

(१) जो ग्राहक जिस माला के ग्राहक बनते हैं, उन्हें उसी माला की एक एक पुस्तक लागत मूल्य पर मिल सकती है। अन्य पुस्तकें मँगाने के लिये उन्हें आर्डर भेजना चाहिये। जिन पर उपरोक्त नियमानुसार कमीशन काट कर वी० पी० द्वारा पुस्तकें भेज दी जावेंगी।

(२) ग्राहकों को पत्र देते समय अपना ग्राहक नम्बर ज़रूर लिखना चाहिये। इसमें भूल न रहे।

(३) मंडल से निकलने वाली फुटकर पुस्तकों के भी यदि आप स्थाई ग्राहक बनना चाहें तो ।|) प्रवेश फ़ीस भेज कर बन सकते हैं। जब जब पुस्तकें निकलेंगी उनको लागत मूल्य से वी० पी० करके भेज दी जावेंगी।

सस्ती-साहित्य-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (ले०—महात्मा गांधी)

(१) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।ॾ) सर्वसाधारण से ।।।)

म० गांधीजी लिखते हैं—"बहुत समय से मैं सोच रहा था कि इस सत्याग्रह-संग्राम का इतिहास लिखूँ, क्योंकि इसका कितना ही अंश मैं ही लिख सकता हूँ। कौनसी बात किस हेतु से की गई है, यह तो युद्ध का सचालक ही जान सकता है। सत्याग्रह के सिद्धांत का सच्चा ज्ञान लोगों में हो, इसलिये यह पुस्तक लिखी गई है।" सरस्वती, कर्मवीर, प्रताप आदि पत्रों ने इस पुस्तक के दिव्य विचारों की प्रशंसा की है।

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०, एल० टी०) पृष्ठ-संख्या १२२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ।) सर्वसाधारण से ।=) प्रत्येक इतिहास प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिए।

(३) दिव्य जीवन—अर्थात् उत्तम विचारों का जीवन पर प्रभाव संसार प्रसिद्ध स्विट् मार्सडन के The Miracles of Right Thoughts का हिंदी अनुवाद। पृष्ठ-संख्या १२६, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।) सर्व साधारण से ।=) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री-रत्न—(पाँच भाग) इस ग्रंथ में वैदिक काल से लगाकर आजतक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पातिव्रत्य-परायण, विद्वान् और भक्त कोई ५०० स्त्रियों का जीवन-वृत्तान्त होगा। हिंदी में इतना बड़ा ग्रन्थ आज तक नहीं निकला। प्रथम भाग पृष्ठ ३१० मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ।।।) सर्वसाधारण से १) आगे के भाग शीघ्र छपेंगे।

व्यावहारिक सभ्यता—यह पुस्तक बालक, वायु, पुरुष, स्त्री

सभी को उपयोगी है, परस्पर बड़ों व छोटों के प्रति तथा संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, ऐसे ही अनेक उपयोगी उपदेश भरे हुए हैं। पृष्ठ १०८, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)॥ दूसरी बार छपी है।

(६) आत्मोपदेश—(यूनान के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी महात्मा एपिक्टेटस के विचार) पृष्ठ १०४, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)

(७) क्या करें ?—(ले०—महात्मा टालस्टाय) इसमें मनुष्य जाति के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों पर बहुत ही सुंदर और मार्मिक विवेचन किया गया है। महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २६६ मूल्य केवल ॥=) स्थाई ग्राहकों से ।≡) दूसरा भाग भी छप रहा है उसका मूल्य भी लगभग यही रहेगा।

(८) कलवार की करतूत—(ले०—महात्मा टालस्टय) इसी नाटक में शराब पीने के दुष्परिणाम बड़ी सुंदर रीति से दिखलाये गये हैं। पृष्ठ ४० मूल्य -)॥। स्थाई ग्राहकों से -)॥

(९) जीवन-साहित्य—म० गांधी के सत्याग्रह आश्रम के प्रसिद्ध विचारक और लेखक काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग पृष्ठ २१८ मूल्य ॥) स्थाई ग्राहकों से ।=) इसका दूसरा भाग भी छप रहा है।

इस प्रकार उपरोक्त नौ पुस्तकें १६८६ पृष्ठों की इस माला के प्रथम वर्ष में प्रकाशित हुई हैं अब दूसरे वर्ष अर्थात् सन् १९२७ में जो जो पुस्तकें प्रकाशित होंगी उनका नोटिस कवर के चौथे पृष्ठ पर छपा है।

सस्ती-प्रकीर्ण-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

(१) कर्मयोग—(ले० अध्यात्म योगी श्री अश्विनीकुमार दत्त। इसमें निष्काम कर्म किस प्रकार किये जाते हैं—सच्चा कर्मवीर किसे कहते हैं—आदि बातें बड़ी खूबी से बताई गई हैं। पृष्ठ सं० १५२, मूल्य केवल ।=) स्थायी ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—सीता जी की 'अग्नि-परी

इतिहास से, विज्ञान से तथा अनेक विदेशी उदाहरणों द्वारा सिद्ध की गई है। पृष्ठ सं० १२४, मूल्य ।-) स्थायी ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—सास, ससुर आदि कुटुंबी के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, वर की व्यवस्था कैसी करनी चाहिये आदि बातें, कथा-रूप में बतलाई गई हैं। पृष्ठ सं० ९४, मूल्य केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—हमारा प्राचीन जीवन कैसा उच्च था, पर अब पाश्चात्य आडम्बरमय जीवन की नकल कर हमारी अवस्था कैसी शोचनीय हो गई है। अब हम फिर किस प्रकार उच्च बन सकते हैं—आदि बातें इस पुस्तक में बताई गई हैं। पृष्ठ सं० २६४, मूल्य केवल ॥-) स्थायी ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—प्रसिद्ध आयरिश वीर टैरेंस मेक्सवीनी की Principles of Freedom का अनुवाद—प्रत्येक स्वतंत्रता-प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिये। पष्ठ सं० २०८ मूल्य ॥), स्थायी ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्मा विद्यालंकार) भू० ले० पद्मसिंहजी शर्मा—इसमें अनेक ग्रन्थों को मनन करके एकांत हृदय के सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक विषयों पर बड़े ही सुन्दर, हृदयस्पर्शी मौलिक विचार लिखे गये हैं। किसी का अनुवाद नहीं है। पृष्ठ सं० १७६, मूल्य ।≡) स्थायी ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविंदसिंह—(ले० बंगाल के प्रसिद्ध लेखक श्री चण्डीचरण सेन) इस उपन्यास में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-काल में भारत के लोगों पर अँग्रेज़ों ने कैसे कैसे भीषण अत्याचार किये और यहाँ का व्यापार नष्ट किया उसका रोमांचकारी वर्णन तथा कुछ देश-भक्तों ने किस प्रकार मुसीबतें सहकर इनका मुक़ाबला किया उसका गौरव-पूर्ण इतिहास वर्णित है। रोचक इतना है कि शुरू करने पर समाप्त किये बिना नहीं रहा जा सकता। पृष्ठ २९६ मूल्य केवल ॥=) स्थायी ग्राहकों से ।≡)॥

(८) यूरोप का इतिहास—(प्रथम भाग) छप रहा है। पृष्ठ लगभग ३५० मार्च सन् १९२७ तक छप जायगा। इस माला में एकाध पुस्तक और निकलेगी तब वर्ष समाप्त हो जायगा।

हमारे यहाँ हिंदी की सब प्रकार की उत्तम पुस्तकें भी मिलती हैं—बड़ा सूचीपत्र मँगाकर देखिये!

पता—सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर।

यह प्रार्थना उन्हीं से है जिन्हें अपनी मातृभाषा से प्रेम हो

हिन्दी भाषा की अपील

भारतवर्ष को राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार के लिये एक ऐसी सार्वजनिक संस्था की परमावश्यकता थी जो शुद्ध सेवा भाव से बिना किसी प्रकार के लाभ की इच्छा रखते हुए हिन्दी में उत्तमोत्तम पुस्तकें बहुत ही स्वल्प मूल्य में निकाले। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये यह सस्ता मंडल स्थापित हुआ है। **अभी तक जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं: यह साथवाले नोटिस से आपको मालूम हो जायगा।**

मंडल का आदर्श

अभी हमने १) में ५०० से ६०० पृष्ठों तक की पुस्तकें स्थाई ग्राहकों को देना निश्चय किया है। पर हमारा आदर्श है कि १) में ८००) से १००० पृष्ठों तक की पुस्तकें हम निकाल सकें। यदि यह दिन आगया जो कि अवश्य आवेगा तो हिन्दी भाषा की बड़ी सेवा हो सकेगी।

मण्डल के लाभ और हानि का सवाल

मण्डल सिर्फ इतना ही चाहता है कि उसके काम करनेवाले कार्य्यकर्ताओं का वेतन निकल आवे और वह इस तरह स्वावलम्बी होकर चिरकाल तक हिन्दी की सेवा कर सके, बस यही उसका स्वार्थ है। अभी जो १) में ५०० से ६०० पृष्ठों तक की पुस्तकें देने का निश्चय किया है उसमें जबतक **चार हजार ग्राहक न बन जावें तबतक मण्डल को बराबर हानि होती रहेगी।** इतने ग्राहक हो जाने पर १) में उपरोक्त पृष्ठों की पुस्तकें देने से मण्डल को हानि न उठानी पड़ेगी। **ज्योंही चार हजार से ऊपर ग्राहक बढ़ने लगे वैसे ही पृष्ठ संख्या भी बढ़ने लगेगी।**

मण्डल के जीवन का आधार

उसके स्थाई ग्राहक हैं—गुजरात जैसे छोटे से प्रांत में वहां के सस्तुं-साहित्य कार्य्यालय के सात हजार स्थाई ग्राहक **हैं**। इसीलिये आज उस संस्था से कई उत्तम ग्रन्थ स्वल्प मूल्य में निकल गये हैं। उस हिसाब से हिन्दी में तो बीसियों हजार ग्राहक हो जाना चाहिये। (पीछे देखिये)

आपसे विनीत प्रार्थना

जब कि हम स्थायी ग्राहकों को लागत मूल्य में पुस्तकें दे रहे हैं ऐसी अवस्था में क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि आप इसके स्थायी ग्राहक बनकर इस सेवा के कार्य्य में हमारा हाथ बटावेंगे। आपको तो यह लाभ होगा कि कुछ वर्षों में ही आपके घर में उत्तम चुनी हुई सब विषयों की पुस्तकों का बहुत ही कम कीमत में पुस्तकालय हो जायगा और हमें आपके ग्राहक बनने से बड़ी मदद मिलेगी। **दोनों मालाओं का पोस्टेज सहित कुल ८) वार्षिक है जिसमें कि २२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें घर बैठे आपको मिल जावेंगी।** आशा है आप हमारी इस उचित प्रार्थना को योंही नहीं टाल देंगे।

अन्तिम निवेदन

(१) यदि किसी कारण से आप ग्राहक न बन सकें तो कम से कम एक दो ग्राहक बनाकर ही आप हमारी सहायता कर सकते हैं। आपके मित्रों या सम्बन्धियों आदि में एक दो को तो आग्रह करके आप जरूर ही ग्राहक बना सकेंगे। यह तो निश्चय बात है। सिर्फ आपके हृदय में हिन्दी के लिये सच्चा प्रेम होना चाहिये।

लोगों की उदासीन वृत्ति

जब हम, लोगों के पास अपने विज्ञापन भेजते हैं तो बहुत कम लोग उन पर ध्यान देकर ग्राहक बनते हैं पर जब हम उनके घर पर सामने चले जाते हैं तो वे जरूर ग्राहक बन जाते हैं यह हमारा खुद का अनुभव है। इसका कारण केवल उनका आलस्य या उदासीन वृत्ति है। घर घर जाने में कितना रुपया और कितनी शक्ति खर्च होती है यह आप अनुमान कर सकते हैं। आप यदि इस ओर ध्यान दें और सहायता के भाव से प्रेरित हों तो मण्डल की यह शक्ति और द्रव्य बच कर हिन्दी की अधिक सेवा में लग सकता है।

आशा है आप हमारी अपील को व्यर्थ न फेंक देंगे और ऐसा समझ कर कि हम आपके सामने ही अपील कर रहे हैं, कम से कम एक वर्ष के लिये जरूर ग्राहक बनेंगे।

विनीत—जीतमल लूणिया, मन्त्री,
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर।

वर्ष २]　　सस्ती-प्रकीर्ण-माला　　[पुस्तक ६

गोरों का प्रभुत्व



लेखक

रामचन्द्र वर्म्मा

नीचे लिखी पुस्तकें छप गई हैं

(१) अब हम क्या करें—[ले० महात्मा टाल्सटाय]—इस पुस्तक के संबंध में महात्मा गांधीजी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्वप्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा।" प्रथम भाग पृष्ठ २६६ मूल्य ॥=)

(२) जीवन साहित्य—[सत्याग्रह आश्रम के प्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर के चुने हुए मौलिक और मननीय लेख] (भूमिका लेखक—श्री बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी) भाग १ पृष्ठ २१८ । मूल्य ॥)

(३) स्त्री और पुरुष—[महर्षि टाल्सटाय] पृष्ठ १५६ । मूल्य ।=)

(४) तामील वेद—[कुरैल नामक तामील ग्रंथ का अनुवाद] इस ग्रंथ का वेद के बराबर उस प्रांत में आदर है। धर्म और अर्थ पर पूर्ण विवेचन है। पृष्ठ २४८ मूल्य ॥=)

यह पुस्तकें छप रही हैं

(५) आत्म चरित्र—[महात्मा गांधी लिखित] पृष्ठ ४०० । मू. लगभग १)

(६) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह, दूसरा भाग—[लेखक महात्मा गांधी] पृष्ठ लगभग २५० मूल्य लगभग ॥-)

(७) श्रीरामचरित्र—(८) श्रीकृष्ण चरित्र—[मराठी के प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित ग्रंथ का अनुवाद] प्रत्येक पुस्तक की पृष्ठ संख्या लगभग ४०० और प्रत्येक पुस्तक का मू. लगभग १।)

(८) यूरोप का इतिहास दो भाग—पृष्ठ लगभग ७०० मू. लगभग १।॥)

भारत के स्त्री-रत्न—दूसरा भाग पृष्ठ लगभग ४०० मूल्य १)

इसके अतिरिक्त कई उत्तम ग्रंथ तैय्यार हो रहे हैं।

नोट—ये सब पुस्तकें सन् १९२७ के अंतिम मास में प्रकाशित हो जायँगी। यदि आप ये पुस्तकें मंगाना चाहें तो आज ही आर्डर दे दें स्थाई ग्राहक बनना चाहें तो इसके अंदर नियम छपे हैं सो पढ़लें।

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर।

वर्ष २] सस्ती-प्रकीर्ण-माला [पुस्तक ६

गोरों का प्रभुत्व



लेखक

रामचन्द्र शर्म्मा

वर्ष २] सस्ती-प्रकीर्ण-माला [पुस्तक ४

गोरों का प्रभुत्व

(THE RISING TIDE OF COLOUR
नामक पुस्तक के आधार पर लिखित)

लेखक

बाबू रामचन्द्र वर्म्मा

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मंडल

अजमेर

प्रथमवार] १९२८. [मूल्य [illegible]

प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

लागत का ब्योरा

कागज़	३००)
छपाई	२९५)
बाइंडिंग	५५)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	६००)
	१२५०)

प्रतियाँ २०००

एक प्रति का लागत मूल्य ॥=)

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

परिवर्तन का बहुत कुछ आरम्भ भी हो चुका है। और मध्यावस्था पास ही दिखाई देने लगी है। मध्यावस्था विजित तथा अधीनस्थ राष्ट्रों में नये जीवन और नयी आशा का तथा विजेता और अधिकारारूढ़ राष्ट्रों में भय तथा आशंका का संचार कर रही है। दोनों ही एक दूसरे को नई नई दृष्टियों से देखने लगे हैं और दोनों ही अपनी अपनी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहे हैं। इस संघर्ष में कौन पक्ष विजयी होगा इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह उतना ही स्पष्ट है जितना कि सूर्य का प्रकाश होता है।

अमेरिका के न्यूयार्क नगर में लाथ्राप स्टाडर्ड नाम के एक सज्जन हैं जो राजनीति के अच्छे पंडित हैं। मत की दृष्टि से आप साम्राज्यवादी हैं और कदाचित् उस संस्था के एक अंग भी हैं जो कुछ स्वार्थी गोरे राष्ट्रों ने भिन्न-भिन्न स्थानों में साम्राज्यवाद का प्रचार करने और लोकमत को उसके अनुकूल करने के लिए खोल रक्खी हैं। इधर कुछ दिनों से आपकी समझ में यह बात आने लगी थी कि बीसवीं शताब्दि में संसार की राजनीति का रूप बिलकुल बदल जायगा और झगड़े देशों तथा राष्ट्रों के नहीं रह जायँगे बल्कि संसार की उन पांच मूल जातियों में रह जायँगे जो मानवशास्त्र के ज्ञाताओं ने वर्ण भेद के अनुसार निश्चित की हैं। ये पांच वर्ण कृष्ण, गौर, धूसर, पीत और रक्त हैं; और मुख्यतः इन्हीं जातियों में समस्त संसार के लोग बंटे हुए हैं। इनमें से गौर वर्ण के लोग तो सारे संसार के स्वामी होने के कारण एक ओर हैं और शेष चारों वर्णों के लोग अधीनस्थ होने के कारण दूसरी ओर। इसी बात का विचार करके सन् १९२० के आरम्भ में उन्होंने (The Rising Tide of colour) नाम की एक बड़ी और अच्छी पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने यह बतलाया था कि शेष चारों वर्णों के लोग गोरों के विरुद्ध किस प्रकार सिर उठा रहे हैं। और साम्राज्यवादी होने के कारण साथ ही आपने यह भी बतलाया था कि गोरों को इन लोगों के विद्रोह से किस प्रकार अपनी रक्षा

करनी चाहिए। पुस्तक बहुत रोचक और अनेक ज्ञातव्य बातों से भरी हुई थी, अतः मैंने सोचा कि यदि हिन्दी में इस पुस्तक की मुख्य मुख्य बातें एकत्र कर दी जायं तो इस पराधीन देश के कुछ निवासियों को यह मालूम हो जायगा कि इस समय हमारी परिस्थिति क्या है और हमारे सरीखे करोड़ों अरबों अभागे भाई जो हमारी ही परिस्थिति में पड़े हुए हैं अपने उद्धार का किस प्रकार प्रयत्न कर रहे हैं। पर पुस्तक का ज्यों का त्यों अनुवाद करना मुझे ठीक न जँचा, क्योंकि वह सम्राज्यवादी की दृष्टि से लिखी गई थी। अतः मैंने उसमें प्रदर्शित विचारों का दृष्टिकोण बदल दिया और उन्हें ऐसे रूप में लिपिबद्ध किया जो अपनी हीन और पराधीन अवस्था के लिए ही उपयुक्त हो सकता था; और जिससे हमारे देश भाइयों को कुछ लाभ पहुंच सकता था। यही कारण था कि मैंने मूल पुस्तक का अन्तिम तृतीयांश बिलकुल छोड़ ही दिया। क्योंकि उसमें गोरों के अधिकारों की रक्षा के उपाय बतलाए गए थे और जो हमारी दृष्टि से किसी काम के नहीं थे।

कटने मरने लग गये। हमारे गोरे महा प्रभुओं की चाल चल गई और उनका मनोरथ सिद्ध होता हुआ दिखाई देने लगा। कुछ दिनों तक ऐसी गृह-कलह मची कि स्वतन्त्र होने की कोई आशा ही न रह गई। पर इधर थोड़े दिनों से साइमन कमीशन की नियुक्ति के कारण कुछ और ही हवा चलने लगी है जिससे लोगों को थोड़ी बहुत आशा होने लग गई है। उस समय गोरे जेताओं ने तुर्की को इतना अधिक पीस डाला था कि वह समझते थे कि अब शायद यह पचीस पचास वर्ष तक उठकर खड़ा होने के योग्य भी न होगा। पर इस थोड़े से समय में ही तुर्की ने कमालपाशा के नेतृत्व में जो कमाल करके दिखलाया है वह सारे संसार के राजनीतिक इतिहास में अभूतपूर्व है और उसे देखकर बड़े बड़े गोरे प्रवीण राजनीतिज्ञों को भी दांतों उंगली दबानी पड़ती है। जिस चीन को बड़े बड़े शक्तिशाली राष्ट्रों ने चारों ओर से जकड़ रक्खा था उसने एक ही करवट में अपनी कई ज़ंजीरें तोड़ डालीं और एकही झटके में कइयों को दूर गिरा दिया। अब ये स्वार्थी गोरे वहां गृह-युद्ध की अग्नि सुलगा कर उसे दुर्बल करना चाहते हैं और यही इनका सबसे बड़ा अस्त्र है। उन दिनों अफ़ग़ानिस्तान स्वतन्त्र होने पर भी नगण्य समझा जाता था। पर अब उसकी जाग्रति भी गोरों को शंकित और भयभीत कर रही है। और सबसे बढ़कर मज़ा बोलशेविक रूस कर रहा है। उसने अपने समस्त अधीनस्थ प्रदेशों को तो आरम्भ में ही स्वतन्त्र कर दिया था जिससे उसके पड़ोसी गोरे घबरा रहे थे और अब तो उसने अपनी शासन-प्रणाली और व्यवस्था आदि के कारण मानो इन इन्द्रों का सिंहासन ही हिला दिया है। अब गोरे अपने अधीनस्थ देशों के विद्रोह से उतना अधिक नहीं डरते जितना कि अपने इस गोरे भाई की कृतियों से डरते हैं। इस समय बोलशेविक रूस को प्रायः सभी गोरे अपने अधिकार और वैभव का परम शत्रु समझते हैं और वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही है। ख़ैर, यहां इन सब बातों के कहने का मेरा अभिप्राय केवल यही है कि जिस समय मैंने यह पुस्तक प्रस्तुत रूप में लिखी थी, उस समय

संसार की कुछ और ही दशा थी अब उसकी बिलकुल कायापलट हो गई है। मेरी नितान्त इच्छा थी कि मैं इसमें आज तक की कुछ मुख्य मुख्य बातें प्रसंगानुसार यथा स्थान बढ़ा देता परन्तु कुछ तो सामग्री और समय के अभाव के कारण मैं ऐसा न कर सका था और कुछ पुस्तक के बहुत दिनों तक अप्रकाशित पड़ी रहने के कारण उसके सम्बन्ध में मेरा उत्साह बिलकुल शिथिल पड़ गया था। इधर जब इस पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था हुई तब मैं कई आवश्यक कामों में लगा हुआ था और बहुत इच्छा करने पर भी इसके लिये कुछ भी अवकाश न निकाल सका। विवश होकर यह पुस्तक उसी रूप में प्रकाशित की जा रही है जिस रूप में वह आज से प्रायः सात वर्ष पहले लिखी गई थी और इसमें इधर की बातों का समावेश न हो सका। आशा है

गोरों का प्रभुत्व

गोरों का प्रभुत्व

संसार का वर्ण-विभाग

(१)

अपने आचार, विचार तथा सभ्यता आदि का प्रचार कर दिया है उत्तर अमेरिका और आस्ट्रेलिया तो मानों बिलकुल यूरोप अथवा उसके अंग बन गये हैं। दक्षिण अमेरिका तथा आफ्रिका के अधिकांश स्थानों में इन गोरी जातियों ने अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं और एशिया का सारा उत्तरार्द्ध अर्थात साईबेरिया इन्हीं गोरों का निवास-स्थान बन गया है। जिन स्थानों पर ये गोरी जातियाँ किसी कारण से स्थायी रूप से बस नहीं सकी हैं, उन स्थानों पर भी इन्होंने कम से कम अपना राजनीतिक प्रभुत्व अवश्य स्थापित कर लिया है और वहाँ के असंख्य सीधे सादे निवासियों को विवश हो कर अपने इन गौराङ्ग महाप्रभुओं की आज्ञानुसार ही चलना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि इस समय सारे संसार पर सब प्रकार से इन गोरों का ही राज्य है। संसार में कोई ऐसा देश अथवा कोई ऐसी जाति नहीं है, जो पूर्ण रूप से इन गोरों के अधिकार-क्षेत्र के बाहर हो।

संसार के अधिकांश स्थानों में या तो गोरी जातियाँ स्वयं जा कर बस गई हैं, या इन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया है। कुछ थोड़े से देश अवश्य ऐसे हैं जिनमें इन गोरों का प्रत्यक्ष राज्य अथवा शासन नहीं है। पर उनमें भी किसी न किसी रूप में गोरों का हस्तक्षेप है ही। और वह हस्त-क्षेप भी इसी उद्देश्य से है कि वहाँ का शासन-कार्य वहाँ के निवासियों से छीन कर अपने हाथ में कर लिया जाय और वहाँ वालों को अपना गुलाम बना लिया जाय। पूर्वी एशिया में चीन, जापान और स्याम, पश्चिमी एशिया में तुर्की, अफगानिस्तान और फारस, आफ्रिका में एबिसीनिया और लाइबेरिया तथा अमेरिका में हेटी का छोटासा

राज्य बस यही कतिपय देश ऐसे हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप से गोरी जातियों का शासन नहीं है। पर फिर भी इसमें शायद ही कोई देश ऐसा हो जिसमें गोरों का हस्तक्षेप न हो, अथवा जो इन गोरों के हाथों त्रस्त न हो। ध्रुव-प्रदेशों को छोड़ कर सारे संसार में ५,३०,००,००० वर्ग मील भूमि है जिसमें से केवल ६०,००,००० वर्ग मील भूमि ऐसी है जो गोरों के प्रत्यक्ष शासनाधिकार से बाहर है। इस ६०,००,००० वर्ग मील भूमि में से भी प्रायः दो तिहाई केवल चीन साम्राज्य के अधिकार में है। और फिर भी तमाशा यह है कि उस चीन को भी ये गोरे हजम करने की चिन्ता में लगे हैं।

अपने आचार, विचार तथा सभ्यता आदि का प्रचार कर दिया है उत्तर अमेरिका और आस्ट्रेलिया तो मानों बिलकुल यूरोप अथवा उसके अंग बन गये हैं। दक्षिण अमेरिका तथा आफ्रिका के अधिकांश स्थानों में इन गोरी जातियों ने अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं और एशिया का सारा उत्तरार्द्ध अर्थात साईबेरिया इन्हीं गोरों का निवास-स्थान बन गया है। जिन स्थानों पर ये गोरी जातियाँ किसी कारण से स्थायी रूप से बस नहीं सकी हैं, उन स्थानों पर भी इन्होंने कम से कम अपना राजनीतिक प्रभुत्व अवश्य स्थापित कर लिया है और वहाँ के असंख्य सीधे सादे निवासियों को विवश हो कर अपने इन गौराङ्ग महाप्रभुओं की आज्ञानुसार ही चलना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि इस समय सारे संसार पर सब प्रकार से इन गोरों का ही राज्य है। संसार में कोई ऐसा देश अथवा कोई ऐसी जाति नहीं है, जो पूर्ण रूप से इन गोरों के अधिकार-क्षेत्र के बाहर हो।

संसार के अधिकांश स्थानों में या तो गोरी जातियाँ स्वयं जा कर बस गई हैं, या इन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया है। कुछ थोड़े से देश अवश्य ऐसे हैं जिनमें इन गोरों का प्रत्यक्ष राज्य अथवा शासन नहीं है। पर उनमें भी किसी न किसी रूप में गोरों का हस्तक्षेप है ही। और वह हस्त-क्षेप भी इसी उद्देश्य से है कि वहाँ का शासन-कार्य वहाँ के निवासियों से छीन कर अपने हाथ में कर लिया जाय और वहाँ वालों को अपना गुलाम बना लिया जाय। पूर्वी एशिया में चीन, जापान और स्याम, पश्चिमी एशिया में तुर्की, अफगानिस्तान और फारस, आफ्रिका में एबिसीनिया और लाइबेरिया तथा अमेरिका में हेटी का छोटासा

राज्य बस यही कतिपय देश ऐसे हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप से गोरी जातियों का शासन नहीं है। पर फिर भी इसमें शायद ही कोई देश ऐसा हो जिसमें गोरों का हस्तक्षेप न हो, अथवा जो इन गोरों के हाथों त्रस्त न हो। ध्रुव-प्रदेशों को छोड़ कर सारे संसार में ५,३०,००,००० वर्ग मील भूमि है जिसमें से केवल ६०,००,००० वर्ग मील भूमि ऐसी है जो गोरों के प्रत्यक्ष शासनाधिकार से वाहर है। इस ६०,००,००० वर्ग मील भूमि में से भी प्रायः दो तिहाई केवल चीन साम्राज्य के अधिकार में है। और फिर भी तमाशा यह है कि उस चीन को भी ये गोरे हजम करने की चिन्ता में लगे हैं।

गत महायुद्ध पहले तो यूरोपीय महायुद्ध ही था, पर वाद में वह प्रायः ससारव्यापी हो गया था। उस महायुद्ध में चाहे सबसे अधिक हानि इन गोरों की ही क्यों न हुई हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उससे लाभ भी इन गोरों का ही हुआ है। वास्तव में संसार के थोड़े से बचे-खुचे प्रदेशों को भी अपने अधिकार में लाने के लिए ही यूरोप वाले आपस में कट मरे थे। गत महायुद्ध से यूरोप वालों को एक सबसे बड़ा लाभ यह भी हुआ कि आगे जिन थोड़े से प्रदेशों में उनका राजनीतिक अधिकार बहुत कम था वहाँ अब वह बहुत बढ़ गया है। पहले जो थोड़े से प्रदेश अथवा जातियाँ इन गोरों के चंगुल से बची हुई थीं, उनको अब इन लोगों ने बहुत कुछ अपने अधिकार में कर लिया है। पहले तो गोरी जातियों ने अन्य वर्ण वालों से यह कह कर गत महायुद्ध में यथेष्ट सहायता ली कि यह युद्ध संसार की सब जातियों को स्वतन्त्र करने के लिए हो रहा है। पर युद्ध की समाप्ति पर इन्हीं

गोरों ने अन्य वर्णों के अपने पुराने गुलामों के बन्धन और भी कस दिये; और जिन पर पहले उनका विशेष अधिकार नहीं था, उनको भी बहुत कुछ अपने अधिकार में कर लिया। इस दृष्टि से संसार के इतिहास में गत महायुद्ध मानों एक बहुत ही शिक्षाप्रद घटना है। गत महायुद्ध से अन्य वर्ण वालों का चाहे और कुछ लाभ हुआ हो अथवा न हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इतना लाभ अवश्य हुआ है कि उनकी आँखें खुल गई हैं, गोरी जातियों पर से उनका विश्वास उठ गया है और उन्होंने समझ लिया है कि भीषण से भीषण संकट के समय भी इन गोरों की कदापि सहायता न करनी चाहिए।

गत महायुद्ध के कारण तुर्की पूर्ण रूप से अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के चंगुल में फँस गया था, फारस पूर्ण रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के संरक्षण में आ गया; और हेटी पर अमेरिका का सिक्का जम गया। एक तो यों ही पहले से सारे संसार पर गोरों का राज्य था, उस पर गत महायुद्ध ने थोड़े से बचे खुचे लोगों की स्वतन्त्रता भी हरण कर ली। अब एक मात्र जापान को छोड़ कर सारे संसार पर इन गोरों का अखण्ड राज्य है। अब युद्ध से छुट्टी पाकर ये गोरे इस उद्योग में लग गये हैं कि हमारे अधीनस्थ देश और जातियाँ किसी प्रकार स्वतन्त्र न होने पावें और सदा हमारी अधीनता ही में रहें। आज कल इस काम के लिए बड़े बड़े गोरे राजनीतिज्ञ दिमाग लगा रहे हैं और बड़े से बड़े उपाय सोच रहे हैं, जिसमें यह लूट का माल उनके हाथ से निकलने न पावे।

अब जरा यह देखिए कि वर्णों के विचार से संसार का

विभाग कैसा है। राजनीतिक दृष्टि से तो संसार का ९० प्रति सैंकड़ा इन गोरी ज़ातियों के अधीन है, पर संसार का केवल ४० प्रति सैंकड़ा अंश ही ऐसा है, जिसमें गोरी जातियाँ वसती हैं अथवा जो पूर्ण रूप से गोरी जातियों का निवास-स्थान माना जा सकता है। अर्थात् संसार का $\frac{2}{5}$ वाँ भाग ही ऐसा है जो या तो इन गोरी जातियों का निवास-स्थान है अथवा जिसे इन गोरों ने जवरदस्ती अपना निवास-स्थान वना लिया है; और वाकी $\frac{3}{5}$ वाँ भाग ऐसा है जो मुख्यतः अन्य वर्णों के लोगों का निवास-स्थान है। ये अन्य वर्ण चार हैं—*पीतवर्ण, धूम्रवर्ण, कृष्णवर्ण और रक्तवर्ण। महा*-द्वीपों में से यूरोप, उत्तर अमेरिका से रायो ग्रैण्ड तक का अंश, दक्षिण अमेरिका का दक्षिणी अंश, एशिया का साइवेरिया प्रदेश और आस्ट्रेलिया केवल गोरों का ही निवास-स्थान है। अथवा यों कहिये कि इनमें से कुछ तो वास्तव में उनका निवास-स्थान है और कुछ को उन्होंने जवरदस्ती अनेक उपायों से अपना निवास-स्थान वना लिया है। इधर एशिया का अधिकांश, प्रायः पूरा आफ्रिका और मध्य तथा दक्षिण अमेरिका का अधिकांश अन्य वर्णों के लोगों का निवास-स्थान है। गोरों की सारी वस्ती का क्षेत्रफल २,२०,००,००० और अन्य वर्णों की वस्तियों का क्षेत्रफल ३,१०,००००० वर्ग मील है। यहाँ एक और ध्यान रखने योग्य वात है। वह यह कि गोरों की पूरी वस्ती का एक तृतीयांश विशेषतः आस्ट्रेलिया और साइवेरिया ऐसा है जिसकी आवादी वहुत ही कम है। इन प्रदेशों को खाली पाकर गोरों ने जवरदस्ती अपना निवास-स्थान वना लिया है। यद्यपि वहाँ वसते हैं वहुत ही थोड़े

गोरे पर फिर भी उन्होंने उन स्थानों को अपने लिए घेर रखा है।

विभाग का वैषम्य उस समय और भी विलक्षण तथा आश्चर्य-जनक हो जाता है जब हम गोरों तथा अन्य वर्णों के लोगों की जन-संख्या का विचार करते हैं। इस समय सारे संसार की आबादी प्रायः १,७०,००,००,००० है। इसमें से गोरों की संख्या प्रायः ५५,००,००,००० और अन्य वर्णों के लोगों की संख्या प्रायः १,१५,००,००,००० है। इस प्रकार अन्य वर्णों के लोगों की संख्या गोरों की संख्या की अपेक्षा दूनी से भी कुछ अधिक ही है। इसमें भी एक बहुत महत्व की बात यह है कि गोरों का अधिकांश केवल यूरोप में ही बसा है। बल्कि यों कहना चाहिए कि गोरों का वास्तविक निवास-स्थान केवल यूरोप ही है। उन्होंने जिस प्रकार संसार के $\frac{९२}{१०१}$ भाग को जबरदस्ती अपने शासन में कर लिया है उसी प्रकार यूरोप के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक प्रदेशों को जबरदस्ती अपना निवास-स्थान बना लिया है। १९१४ में यूरोप की आबादी ४५,००,००,००० के लगभग थी। गत महायुद्ध के कारण इसमें लगभग एक करोड़ की कमी हो गई है पर इस सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य बात यह है कि गोरों की कुल बस्तियों में जन-संख्या के विचार से उनका विभाग कैसा है। गोरों ने जितने स्थानों को अपना निवास-स्थान बना लिया है, उस में केवल एक पंचमांश में कुल गोरी जाति का चार पंचमांश निवास करता है और कुल गोरी जाति का बाकी एक पंचमांश अर्थात् लगभग ११,००,००,००० आदमी बाकी सब स्थानों में फैले हुए हैं। अर्थात कुल गोरों के एक पंचमांश ने ही अपनी कुल

बस्ती का चार पंचमाश रोक रखा है। या यों कहिए कि यदि सौ ही गोरे हैं और उनके पास सौ ही मील भूमि है, तो अस्सी गोरे तो केवल बीस मील से भी कम स्थान में रहते हैं और बाकी बीस गोरों ने अस्सी मील भूमि रोक रखी है। किस लिए ? इसलिए कि उनकी ही सन्तान वहाँ रहे, वहाँ की उपज से लाभ उठावे और अन्य वर्णों के लोग वहाँ घुस न सकें ! यही है गोरों का असह्य प्रभुत्व ! यही है उनका असह्य बोझ !

हम ऊपर कह चुके हैं कि संसार में गोरों के अतिरिक्त पीत, धूम्र, कृष्ण और रक्त ये चार वर्ण हैं और इन सब की जन-संख्या १,१५,००,००,००० है। इनमें से सब से अधिक संख्या पीत वर्ण के लोगों की है जो ५०,००,००,०० से भी कुछ ऊपर ही हैं। उनका निवास-स्थान पूर्वी एशिया है। इनके बाद धूम्र वर्ण या गेहुएँ रंग के लोग हैं, जिनकी संख्या ४५,००,००,००० के लगभग है। ये लोग दक्षिणी तथा पश्चिमी एशिया और उत्तरी आफ्रिका में बसे हुए हैं। कृष्ण वर्ण के लोगों की जन-संख्या १५,००,००,००० के लगभग है और उनका मुख्य निवास-स्थान आफ्रिका के प्रसिद्ध सहारा रेगिस्तान का दक्षिणी भाग है। इनमें से कुछ लोग दक्षिण एशिया और उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के कुछ स्थानों में भी बसे हुए हैं। रक्त वर्ण के लोगों की संख्या केवल चार ही करोड़ है और वे अमेरिकन संयुक्त राज्यों के दक्षिण में निवास करते हैं।

इधर बहुत दिनों से गोरों की आबादी भीषण रूप से बढ़ रही थी, पर अब लक्षणों से जान पड़ता है कि उनकी वृद्धि रुक रही है और अन्य वर्णों के लोगों की आबादी बढ़ रही है। इधर

थोड़े दिनों का हिसाब लगाने से पता चलता है कि गोरों की संख्या अस्सी बरस में, पीत और धूम्र वर्ण के लोगों की संख्या साठ बरस में और कृष्ण वर्ण के लोगों की संख्या चालीस बरस में दूनी हो जाती है। रक्त वर्ण के बहुत से लोगों का तो इन गोरों ने केवल इसीलिए नाश कर डाला है कि उनके प्रदेश खाली हो जायँ और उनमें इन गोरों को अपना अड्डा जमाने का अवसर मिले। आज कल की यूरोपीय सभ्यता जन-संख्या की वृद्धि में बहुत कुछ बाधक हो रही है। यहाँ तक कि फ्रान्स की जन-संख्या ने तो एक प्रकार से स्थायी रूप धारण कर लिया है और उसकी वृद्धि प्रायः नाम मात्र को ही हो रही है।

पर अन्यान्य वर्ण के लोगों की यह बात नहीं है। यद्यपि उन में से अनेक जातियों और उपजातियों आदि की मृत्यु-संख्या अपेक्षाकृत अधिक है, तथापि उनकी जन-संख्या दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है। गोरी जाति सारे संसार की मालिक और शासक है, इसलिए वह स्वभावतः सब से अधिक सम्पन्न भी है। पर और जातियाँ दरिद्र हैं, इसलिए उनमें अनेक प्रकार के रोग भी होते हैं और समय समय पर अनेक अकाल भी पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें से अनेक कुछ असभ्य भी हैं, इसलिए वे आपस में भी खूब मार काट करती हैं। इन सब कारणों से उनकी मृत्यु-संख्या तो अधिक होती है, पर फिर भी उनकी संख्या कुछ न कुछ बढ़ती ही है। जहाँ एक ओर गोरी जाति अनेक प्रकार के उपाय करके अन्य वर्णों के लोगों की मृत्यु-संख्या कम करती है, वहाँ वह प्रकारान्तर से मृत्यु-संख्या बढ़ाती भी है। वह असभ्य जातियों को आपस में कटने मरने से रोकती भी है और फिर अपने काम के

लिए उनको दूसरों से लड़ा कर कटवाती भी है। वह अस्पताल आदि खोल कर मृत्यु-संख्या घटाने का भी उद्योग करती है और उसके कारण नई नई भीषण बीमारियाँ भी फैलती हैं। इसी प्रकार वह अकाल आदि दूर करने का भी उद्योग करती है और स्वयं अकाल का कारण भी बनती है। तो भी यह मानना पड़ेगा कि साधारणतः गोरों के कारण अन्य वर्ण के लोगों की मृत्यु-संख्या आज कल कुछ कम ही हो रही है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सारे संसार में अन्य वर्णों के लोगों की जन-संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। भारत सरीखे पूर्ण पराधीन देशों, चीन सरीखे अर्ध पराधीन देशों और जापान सरीखे स्वतन्त्र देशों में भी जन-संख्या बराबर कुछ न कुछ बढ़ती है; और उनकी यह वृद्धि गोरों की वृद्धि की अपेक्षा कुछ अधिक ही पड़ती है। और फिर अन्य वर्ण के लोग हैं भी तो गोरों की अपेक्षा दूने से भी अधिक इसलिए उनकी वृद्धि भी अपेक्षाकृत अधिक ही है।

अब यह सोचना चाहिए कि अन्य वर्णों की इस वृद्धि का अनिवार्य परिणाम क्या होगा अथवा क्या होना चाहिए। क्या यह सम्भव अथवा उचित है कि ये गोरे इसी प्रकार सदा संसार के स्वामी बने रहें, बसने के योग्य सभी स्थानों में अपना एकाधिकार जमा कर बैठे रहें और अन्य वर्णों के लोग बहुत ही थोड़े स्थान में सदा कठिनता से अपना निर्वाह करते रहें? हमारी समझ में इसका उत्तर है—कदापि नहीं। इसका परिणाम यही होना चाहिए कि अन्य वर्णों के लोग भी अपने प्रसार का उद्योग करें, अपने संकुचित निवास-स्थानों से निकल कर आगे बढ़ना चाहें। उस दशा में गोरों को स्वभावतः विवश हो कर अन्य वर्णों

के उन लोगों के थोड़े बहुत स्थान खाली करने पड़ेंगे। जिन पर उन्होंने इधर कुछ दिनों में जबरदस्ती अधिकार जमा लिया है। गोरों के पास तो इतना अधिक स्थान है कि सैंकड़ों बरस तक भी वे उसका पूरा पूरा उपयोग न कर सकेंगे। और अन्य वर्णों के लोगों के पास इतना कम स्थान बच गया है कि उसमें उनका दम घुट रहा है। अन्य वर्णों के पास जितनी भूमि बच रही है, उसमें उनका निर्वाह बहुत ही कठिनता से हो रहा है। हाँ, माना कि कुछ स्थानों के लोग कृषि आदि में थोड़ा बहुत सुधार करके और जीविका के नये साधन निकाल कर अपना निर्वाह कुछ और सुभीते से करने लग जायँ, जैसा कि जापान ने किया है। पर फिर भी इससे कोई बहुत बड़ा लाभ नहीं हो सकता। इससे तो उनके भीषण कष्ट केवल कम हो कर ही रह जायँगे, उनका अन्त किसी प्रकार न होगा। और जब तक उन कष्टों का पूर्ण रूप से अन्त न होगा, तब तक संसार में किसी प्रकार शान्ति न होगी। अन्य वर्णों के पास अपने अपने देश में बहुत ही थोड़ा स्थान बचा है और उनकी जन-संख्या बराबर बढ़ती ही जाती है। अब या तो वे अपने अपने देश से निकल कर किसी और स्थान में जा बसें, या अपने ही देश में रह कर भूखों मरें। गोरे भले ही यह चाहें कि सारे संसार में हमारा ही अधिकार रहे और दूसरे वर्णों के लोग भूखों मर जायँ, परन्तु अन्य वर्णों के लोग यह कब देख सकते हैं कि गोरे तो हमारे देश में आ कर उसके सभी अच्छे अच्छे स्थानों पर अधिकार जमा कर बैठें, और हमारे बाल-बच्चे भूखों मरें; और वह भी विशेषतः ऐसी अवस्था में, जब कि वे यह देखते हैं कि गोरों के पास वे सब स्थान खाली पड़े हैं और वे उन

का पूरा पूरा उपयोग ही नहीं कर सकते। यदि अकाल के दिनों में हजारों लाखों आदमी तो भूखों मरते हों और थोड़े से आदमियों के पास उन्हीं भूखों मरने वालों के घरों का लूटा हुआ लाखों मन अनाज पड़ा हो, तो उसका अनिवार्य परिणाम क्या होगा? यही न कि वे लाखों अकाल पीडित किसी न किसी प्रकार उस अनाज पर अधिकार प्राप्त करने का उद्योग करेंगे? इन गोरों ने भी संसार के अधिकांश स्थानों पर अधिकार करके संसार में जमीन का अकाल पैदा कर दिया है। ऐसी दशा में अन्य वर्णों के लोगों के पास इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं है कि वे जिस प्रकार हो सके, उन स्थानों में जा पहुँचें, जिन पर इन गोरों ने अपना आधिपत्य जमा रखा है और जो अब तक प्रायः खाली ही पड़े हैं। गोरे चाहते हैं कि ये खाली स्थान भी सदा हमारे ही अधिकार में रहें और चाहे इस समय हमारे कुछ भी काम न आवें, पर फिर भी हमारी भावी सन्तान के लिए सुरक्षित रहें। इसीलिए उन्होंने अनेक प्रकार के कानून आदि बना कर अन्य वर्णों के लोगों का वहाँ जाना रोक दिया है। एक ओर तो गोरों ने अपनी रक्षा के लिए बड़े बड़े बाँध बाँध रखे हैं और दूसरी ओर अन्य वर्णों के लोगों की भीषण लहरें उठ रही हैं, जो इन बाँधों को तोड़ना चाहती हैं। उचित तो यह था कि ये गोरे आप ही खाली स्थानों को अन्य वर्णों के लिए छोड़ देते, पर वे नीति-पथ से इतने भ्रष्ट हो चुके हैं कि उनसे इस प्रकार की आशा रखना बिलकुल व्यर्थ है।

यों तो आरम्भ से ही अन्य वर्णों के लोगों को गोरों का प्रभुत्व खल रहा है, पर अब उनके सामने एक और भी विकट

प्रश्न आ उपस्थित हुआ है। वह प्रश्न है आत्म-रक्षा का। वे इस कष्ट से अपना निस्तार चाहते हैं और अपने लिए रहने का स्थान चाहते हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि जब बहुत से लोगों पर एक ही विपत्ति पड़ती है, अथवा बहुत से लोगों को एक ही संकट का सामना करना पड़ता है, तब वे सब आपस के झगड़ों, विरोधों और मत-भेदों को भूल कर उस विपत्ति का सामना करने के लिए एक होने का उद्योग करते हैं। इस समय अन्य वर्णों के लोगों को गोरों के प्रभुत्व रूपी संकट का सामना करना है, इस-लिए उनके आपस के सब झगड़े भी दब जाने चाहिएँ और सम्भवतः दब जायँगे।

श्रीयुक्त डाक्टर ई० जे० डिलन एक बहुत बड़े अँगरेज विद्वान् हैं। उन्होंने सारे संसार की राजनीतिक परिस्थिति का बहुत ही परिश्रम पूर्वक अध्ययन किया है और ऐसी बातों के सम्बन्ध में सम्मति देने के लिए वे बहुत बड़े अधिकारी माने जाते हैं। सन् १९०८ में उन्होंने एक प्रसिद्ध अँगरेजी मासिक पत्र में एशिया सम्बन्धी समस्याओं पर एक विचार पूर्ण लेख लिखा था। उसी लेख में उन्होंने एक स्थान पर कहा था—"एशिया वालों के लिए यह जीवन और मरण का प्रश्न है; क्योंकि कोई जाति, चाहे वह कितनी ही छोटी श्रेणी की क्यों न हो, कभी यह मंजूर नहीं करेगी कि हम तो धीरे धीरे नष्ट हो जायँ और हमें नष्ट करनेवाले हमारा ही सर्वस्व लेकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें। विशेषतः उस अवस्था में तो वह नष्ट होना और भी मंजूर न करेगी, जब कि वह देखेगी कि हमारे लिए लड़ झगड़ कर नष्ट होने से बचने का एक बहुत अच्छा अवसर उपस्थित है।"

एक गोरे ने अन्य वर्ण के लोगों के विचारों के सम्बन्ध में यह जो कुछ कहा है, वह बहुत ही ठीक है। सन् १९१३ में जापान मैगजीन में प्रसिद्ध जापानी विद्वान् प्रोफेसर नेगोई ने लिखा था— "यह संसार केवल गोरी जातियों के लिए ही नहीं बना है, बल्कि अन्य वर्णों के लोगों के लिए भी बना है। आस्ट्रेलिया, दक्षिण आफ्रिका, कैनाडा और अमेरिका के संयुक्त राज्यों में ऐसी बहुत अधिक जमीनें खाली पडी हैं, जो आबाद हो सकती हैं। पर तमाशा यह है कि वहाँ की शासक जातियों के लोग स्वयं तो उन जमीनों को आबाद करने से इन्कार करते हैं और साथ ही पीत वर्ण के लोगों को वहाँ घुसने नहीं देते। इससे यह सिद्ध होता है कि ये गोरी जातियाँ अपने पीत वर्ण के भाइयों को जो चीज देने से इनकार करते हैं, वही चीज जंगली पशुओं और पक्षियों के आगे फेंक देने के लिए तैयार हैं। कुछ देशों के बड़े बड़े रईस और जमींदार अपने दम्भ और लालच के कारण बढ़िया बढ़िया जमींने अपने लिए रख लेते हैं और निकम्मी जमीनें गरीबों के लिए छोड़ देते हैं। पर उनका यह अनुचित व्यवहार इन गोरी जातियों के उस व्यवहार के सामने कुछ भी नहीं है जो व्यवहार ये अन्य वर्णों के लोगों के साथ करती हैं।"

तात्पर्य यह कि संसार में गोरों का प्रभुत्व बेतरह बढ़ गया है और अन्य वर्णों के लोगों के साथ उनका व्यवहार बहुत ही बुरा हो गया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि अन्य वर्णों के लोगों में गोरों के प्रति घोर असन्तोष उत्पन्न हो गया है और यह असन्तोष समय समय पर अनेक रूपों में प्रकट होता है। गत महायुद्ध छिडने से कुछ ही पहले एक अंगरेजी पढे-लिखे अफ-

गान ने एक स्थान पर लिखा था—"यूरोप और अमेरिका वालों में अन्य वर्णों के प्रति बहुत ही कायरता पूर्ण तथा निन्दनीय वर्ण-विभेद के भाव उत्पन्न हो गये हैं। आगे चलकर सारे एशिया का यूरोप और अमेरिका के साथ झगड़ा होगा। ये गोरे ऐसे अधिकाधिक साधन उत्पन्न कर रहे हैं जिनसे आगे चलकर बड़ा भारी जहाद होगा। उस जहाद में केवल समस्त मुसलमान ही नहीं, बल्कि एशिया के सभी निवासी सम्मिलित होंगे और इन गोरों से बदला लेंगे। पुराने आक्रमणों की भांति इस बार के आक्रमण में एशिया वाले भालों और बरछों से काम नहीं लेंगे बल्कि बन्दूकों और गोलियों से काम लेंगे। आप लोगों (गोरों) को औचित्य तथा बुद्धिमता पूर्वक जो बातें बतलाई जाती है, वे बातें आप लोग सुनते नहीं हैं। इसलिए जब तलवार तप कर खूब लाल हो जायगी, तब उस तलवार से आप लोगों को समझाया जायगा।"

यदि सच पूछिए तो इन कथनों में न तो कोई विशेषता है और न विलक्षणता। अन्य वर्णों के लोगों ने आज तक कभी गोरों के प्रभुत्व को अच्छा नहीं समझा। कोई दूसरे के प्रभुत्व को अच्छा नहीं समझता, फिर और लोग गोरों के प्रभुत्व को क्यों अच्छा समझते ? गोरों के शासन और अधीनता में आ कर सभी लोग सदा दुःखी और असन्तुष्ट रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त तक यह हाल था कि अन्य वर्णों के लोग गोरों के प्रभुत्व को कष्ट-प्रद तो अवश्य समझते थे, पर साथ ही वे उसे अनिवार्य भी मानते थे। पर इस बीसवीं शताब्दि में वे यह समझने लग गये हैं कि गोरों का यह प्रभुत्व अनिवार्य नहीं बल्कि निवार्य है। इधर चार सौ वर्षों से ये गोरी जातियाँ नित्य नये देश और महा-

देश जीतती रही हैं और अपना साम्राज्य बढ़ाती रही हैं। उन्होंने अपनी जल तथा स्थल सेना खूब बढ़ा ली है और अनेक भीषण नाशक यन्त्र तैयार कर लिये हैं। अपने इस बल और इन यन्त्रों की सहायता से ये गोरी जातियाँ अन्य वर्णों को खूब अच्छी तरह कुचलती और पीलती चली आई हैं; और जो लोग अपनी स्वतन्त्रता और अपने देश की रक्षा के लिए उनका विरोध करते हैं, उनके प्रयत्नों को बराबर निष्फल करती हैं। यही कारण था, जिससे उन्नीसवीं शताब्दि के अंत तक अन्य वर्णों के लोग इन गोरों से बहुत डरते थे और विवश होकर उनका प्रभुत्व मान लेते थे। बेचारों के पास इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं था। पर हाँ, इतना अवश्य था कि वे गोरों के प्रभुत्व से कभी सन्तुष्ट नहीं हुए और न वे कभी उनका आदर करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दि की समाप्ति के समय ही इस बात के प्राथमिक लक्षण दिखाई पड़ने लग गये थे कि अन्य वर्णों के लोगों के विचारों और भावों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगा है। पीत और धूसर वर्ण के बहुत से लोग पाश्चात्य विचार ग्रहण कर चुके थे। अब वे गोरों को अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगे और इस बात का विचार करने लगे कि आखिर इन गोरों के प्रभुत्व और हमारी अधीनता का कारण क्या है। अन्त में उन्होंने समझ लिया कि इन गोरों में कोई अलौकिक गुण या शक्ति नहीं है। ये लोग केवल परिस्थितियों को ही अपने अनुकूल बनाकर इतने बलशाली हो गये हैं। यदि हम भी इसी प्रकार उद्योग करें तो परिस्थितियाँ हमारे लिए भी अनुकूल हो सकती हैं और हम भी इन्हीं के समान बलवान् हो सकते हैं। जापान ने आगे बढ़

इस बात की परिक्षा की। १९०४ में वह रूस के साथ में भिड़ गया। एशिया के लाखों और करोड़ों आदमियों के मन में जो भाव उत्पन्न हो रहे थे, उन्हीं भावों का सूचक वह युद्ध था। इसीलिए जापान के विजयी होने पर सारे एशिया में आनन्द मनाया गया था। जापान को जीतते देख कर एशिया वाले केवल प्रसन्न ही नहीं हुए थे, बल्कि अनजान में ही उनमें एक नवीन आशा का भी संचार हो गया था। अब तक गोरे संसार में अजेय समझे जाते थे। पर अब उनकी वह अजेयता जापान ने नष्ट कर दी अब लोगों की यह धारणा हो चली कि उद्योग और परिश्रम करके हम भी गोरों की बराबरी कर सकते हैं। अब उन लोगों को वास्तविक शक्ति का कुछ कुछ अनुमान होने लगा और उनके मन से गोरों का भय दूर होने लगा, वे यह भी सोचने लगे कि गोरों का यह प्रभुत्व किन किन उपायों से नष्ट हो सकता है और हमें स्वतंत्र होने के लिए क्या क्या करना चाहिए। अब वे गोरों के प्रभुत्व को अनिवार्य तो समझते ही नहीं थे, इसलिए उन्हें अपनी सफलता की पूरी पूरी आशा हो गई। पर साथ ही उन्होंने यह भी समझ लिया कि गोरों का प्रभुत्व नष्ट करना चाहे असम्भव न हो, फिर भी खिलवाड़ नहीं है। इसके लिए हमें कुछ दिनों तक निरंतर कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। अतः फिर भी लोगों के मन में गोरों का भय और उनकी सभ्यता के प्रति आदर बना ही रहा।

इसके बाद छिड़ पड़ा युरोपीय महायुद्ध। उस महायुद्ध में अन्य वर्णों के लोगों ने कई नई बातें देखीं और सीखीं, जिनसे उनकी आंखें और भी खुल गईं। अब तक तो वे प्रायः यही देखते

थे कि अन्य वर्णों के साथ काम पड़ने पर सब गोरे मिल कर एक हो जाते हैं, पर महायुद्ध में उन्होंने देखा कि ये गोरे आपस में ही कुत्तों की तरह लड़ रहे हैं और एक दूसरे की जान के ग्राहक हो रहे हैं। गोरों ने युद्ध में अपने अपने अधीनस्थ देशों के निवासियों से भी सहायता ली थी, जिससे उन लोगों को युद्ध-सम्बन्धी अनुभव भी हो गया और अपनी योग्यता तथा बल आदि का भी पता चल गया। लोगों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए इन गोरों ने समय समय पर न्याय और अधिकार-सम्बन्धी बड़े बड़े उदार तथा उच्च सिद्धांत भी प्रतिपादित किये थे जिससे लोगों की आशा और साहस और भी बढ़ गया। गोरे आपस में कट मर रहे थे और उनके अधीनस्थ देशों के लोग बड़ी बड़ी आशाएँ लगाए उनकी सहायता कर रहे थे। गोरों का बल तो नष्ट हो रहा था और उनकी सभ्यता की पोल खुल रही थी। अन्य वर्णों के लोग या तो गोरों के दिए हुए वचनों का विश्वास करके, और या उनको नष्ट होते हुए देख कर समझ रहे थे कि अब हमारे निस्तार में अधिक विलम्ब नहीं है। अब गोरों का भय तो उसी प्रकार दूर हो गया था जिस प्रकार पुराने कपड़े उतार कर फेंक दिये जाते हैं। आगे चल कर जब इन गोरों ने अपनी अपनी प्रजा के साथ धोखेबाजी की, अपने पिछले वचनों को भुला कर प्रजा के बन्धनों को और भी दृढ़ करना चाहा, तब लोगों के असंतोष ने भीषण रूप धारण किया; और उन्होंने निश्चय किया कि जब जिस प्रकार होगा, हम इन गोरों का प्रभुत्व नष्ट करके ही छोड़ेंगे आज कल का संसार प्रायः इसी दशा चल रहा है। अन्य वर्णों के लोग गोरों का प्रभुत्व नष्ट करने का उद्योग कर रहे हैं

और गोरे अपना प्रभुत्व बनाये रखने की चिंता से त्रस्त हो रहे हैं। दोनों ही पक्ष अपना अपना उद्देश्य सिद्ध करने के उपाय सोच रहे हैं। कदाचित् पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि इसमें जीत किस पक्ष की होगी। केवल यही अटल सिद्धान्त बतला देना यथेष्ट है कि किसी का प्रभुत्व, और वह भी विशेषतः अत्याचार-पूर्ण प्रभुत्व, सदा बना नहीं रह सकता।

महायुद्ध के समय एशिया के प्रायः सभी निवासी गोरी सभ्यता की घोर निंदा करते थे, गोरों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनके नाश से प्रसन्न होते थे। यह बात स्वतंत्र देशों की है, भारत सरीखे परतन्त्र देशों की नहीं। बेचारे यहाँ वाले तो अपने शासकों की खुशामद में लगे थे, हर तरह से उनकी पूरी सहायता करते थे और उनकी विजय के लिए मंदिरों और मसजिदों में प्रार्थनाएँ करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि बहुत दिनों की पराधीनता के कारण उनका जितना घोर पतन हुआ था, उसका प्रमाण देने के लिए अपने बन्धन आप ही कस रहे थे। आगे चल कर उनको अपनी राजभक्ति का पूरा पूरा फल भी मिल गया, जिससे उनकी आँखें खुल गईं और अब वे भी गोरों का प्रभुत्व नष्ट करने में लग गये हैं। पर अन्य स्वतंत्र अथवा अर्ध-स्वतंत्र देशों के लोग महायुद्ध के समय गोरों की खूब दिल्लगी उड़ाते थे और उनका भीषण नाश देख कर प्रसन्न होते थे। कुछ लोग उनको तरह तरह के ताने भी देते थे और उन पर फबतियाँ भी छोड़ते थे। महायुद्ध के समय कुस्तुन्तुनिया के एक तुर्की समाचार-पत्र ने युरोप की महाशक्तियों के सम्बन्ध में लिखा था—"ये महाशक्तियाँ अपने देशों अथवा अन्य स्थानों के दोषों

और बुराइयों पर तो कुछ भी ध्यान न देती थीं, और हमारी सीमाओं पर यदि कोई छोटी मोटी घटना भी हो जाती थी, तो चट हस्तक्षेप कर बैठती थीं। वे नित्य हमारा कोई न कोई अधिकार, कोई न कोई प्रान्त छीना ही करती थीं। उनका समय हमारे शरीर में से मांस के बड़े बड़े टुकड़े काटने में ही बीतता था। हम लोग उनके विरुद्ध विद्रोह करना चाहते थे, पर अपने आपको बलपूर्वक रोकते थे। हम मुट्ठी बाँधे हुए थे, पर हम में घूँसा चलाने का बल नहीं था। अंदर ही अंदर आग जल रही थी। पर फिर भी हम लोग चुप चाप पड़े थे और मनाते थे कि किसी तरह ये लोग आपस में भिड़ जाँय, एक दूसरे को नोच नोच कर खाने लगें। और आज वही दृश्य देख लीजिये। ये महाशक्तियाँ एक दूसरी को उसी प्रकार नोच नोच कर खा रही हैं, जिस प्रकार तुर्क लोग चाहते थे कि वे एक दूसरी को खायँ।"

अमेरिका में रहने वाले एक आफ्रिका निवासी ने एक अवसर पर लिखा था—"अन्य वर्णों के लोग यह अनुचित व्यवहार तभी तक सहन करेंगे जब तक कि उसका सहन करना अनिवार्य होगा, और उसके बाद वे फिर क्षण भर भी यह व्यवहार सहन न करेंगे। ये सब मिल कर लड़ेंगे और इतनी भीषणता से लड़ेंगे जितनी भीषणता से आज तक संसार में कोई न लड़ा होगा; क्योंकि अन्य वर्णों के लोगों के साथ बड़े बड़े अत्याचार किये गये हैं और उन अत्याचारों को वे कभी भूल नहीं सकते।"

जापानी लेखक नोगूचीने लिखा था—"हम एशियावालों के लिए इस युरोपीय महायुद्ध का क्या अर्थ है? हमारे लिए इसका यही अर्थ है कि इससे पश्चिमी सभ्यता का बहुत ही बुरी तरह से

नाश हो जायगा। पहले हमारा यह विश्वास था कि पश्चिमवालों की सभ्यता का आधार हम लोगों की सभ्यता के आधार की अपेक्षा अधिक उच्च और दृढ़ है। पर इस युद्ध को देखकर हमारा वह विश्वास बिलकुल नष्ट हो गया। हमें इस बात का दुःख है कि पहले हमने इसका वास्तविक स्वरूप नहीं समझा और उनके कल्पित स्वरूप से धोखा खाया। अभी हाल में युरोप में प्रवास करने के कारण मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई है कि पाश्चात्य सभ्यता को हम एशियावाले जैसा समझते थे, वास्तव में वह उसके बिलकुल विपरीत है। और जब एक के मन से दूसरे का आदर नष्ट हो जाता है, तब दोनों में किसी न किसी प्रकार की, किसी न किसी रूप में लड़ाई हो ही जाती है।"

गोरों के आपस में लड़ने का एशिया और आफ्रिका वालों पर प्रायः इसी प्रकार का प्रभाव पड़ा रहा था, और ज्यों ज्यों युद्ध बढ़ता जाता था त्यों त्यों वे और भी प्रसन्न होते थे। युद्ध समाप्त हो गया, पर एशियावालों के कष्ट ज्यों के त्यों बने रहे। बल्कि अनेक स्थानों में तो वे और भी बढ़ गये। यही कारण है कि आज एशिया और आफ्रिका में घोर असन्तोष फैला हुआ है। यह असन्तोष युद्ध के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है, बल्कि उससे बहुत पहले का है। युद्ध ने तो केवल उस आन्दोलन को और भी बलवान् बना दिया, जो युद्ध के बहुत पहले से चला आ रहा था। यदि यह महायुद्ध न भी होता तो भी इस बीसवीं शताब्दि में सारे संसार में बहुत बड़ा परिवर्तन होता, जिससे सारे संसार में और विशेषतः एशिया में गोरों के प्रभुत्व को भारी धक्का पहुँचता। पर हाँ, इतना अवश्य होता कि उस दशा में गोरों का बल बना रहता और

वे कुछ अधिक समय तक अपने प्रभुत्व की रक्षा कर सकते। इस के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लोगों का उतना हौसला भी न बढ़ता। लोग आन्दोलन करते और गोरे अपने सुभीते के अनुसार उनके थोड़े बहुत कष्ट दूर कर देते। उस दशा में अधीनस्थ देशों का केवल विकास ही होता, उनमें क्रान्ति न होती। पर शायद ईश्वर को यह बात मंजूर नहीं थी कि संसार में गोरों का अत्याचार बढ़े और दूसरे वर्णों को उनका बोझ ढोना पडे। कदाचित् वह संसार के सिर से गोरों का बोझ उतारना चाहता था, इसी लिए गोरे आपस में भिड़ गये और ऐसे भिड़े कि यदि अन्य वर्णों के लोग युद्ध में उनकी सहायता न करते तो शायद उनका पूरा रा नाश हो जाता। अन्य वर्णों की कृपा से गोरों का पूरा नाश तो नहीं हो सका, पर फिर भी बहुत कुछ नाश हो गया। लेकिन इतने पर भी मदान्ध गोरों की आँखें नहीं खुलीं और युद्ध की समाप्ति पर वार्सेलीज़ में उन्होंने ऐसी सन्धि की जिससे संसार-रूपी शरीर के पुराने घाव और भी गहरे हो गये; और साथ ही और भी अनेक नये घाव हो गये। उस सन्धि ने भीषण नाश का बीज बो दिया। इस बीज से जो वृक्ष होगा, उसका फल इन गोरों को तो चखना ही पड़ेगा, दुर्भाग्यवश अन्य वर्णों को भी उसका कुछ न कुछ अंश मिलेगा। बस यही गोरों के प्रभुत्व का परिणाम है। इस प्रभुत्व का अन्त ही सब के लिए सुख कर हो सकता है। यदि गोरे अपने प्रभुत्व को और भी दृढ़ तथा स्थायी करने का प्रयत्न करेंगे, तो उसका परिणाम न तो उनके लिए ही अच्छा होगा और न दूसरों के लिए ही। उन्हें स्वयं तो अपने पाप का प्रायश्चित करना ही पड़ेगा, साथ ही दूसरों को भी उनका फल भोगना पड़ेगा।

पीत-वर्ण

(२)

पीत वर्ण वालों का मूल निवास-स्थान पूर्वी एशिया है। वहाँ मंगोलियन जाति के अनेक वर्ग हजारों वर्षों से रहते आये हैं। बहुत काल तक ये पीत, वर्णवाले संसार की और सभी जातियों से बिलकुल अलग और स्वतंत्र रहते थे और किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। बड़े बड़े पहाड़ों रेगिस्तानों और अगाध समुद्र से घिरे होने के कारण इनका देश मानों एक स्वतंत्र संसार ही था, जिसमें ये लोग बिलकुल स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते थे और अपनी विलक्षण सभ्यता का विकास करते थे। इनमें से हूण, मंगोल, और तातार आदि ही कुछ खाना बदोश वर्ग ऐसे थे जिनका पश्चिम के धूसर और गौर वर्ण के लोगों के साथ कुछ सम्बन्ध हुआ था; और नहीं तो शेष वर्गों का कभी किसी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं हुआ था।

पूर्वी एशिया में पीत वर्णवालों का मुख्य स्थान चीन है और वहीं से सारे पूर्वी एशिया में सभ्यता का प्रचार हुआ है। पूर्व के जापानी और कोरियन, स्यामी, अनामी और कम्बोडियन तथा उत्तर के खाना-बदोश मंगोल और मंचू सभ्यता आदि सभी बातों

में इन्हीं चीनियों के आश्रित थे। इन सभी वर्गों के लिए चीन मानों एक पूज्य गुरु और मार्गदर्शक था। आज दिन पूर्वी एशिया में चाहे राजनीतिक दृष्टि से जापान का प्रभुत्व कितना ही क्यों न बढ़ जाय, पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि पीत वर्णवालों का मूल स्थान और केन्द्र वही चीन है, जो किसी समय जापान का भी गुरु था। समस्त पीत जाति का चार पंचमांश चीन में ही रहता है। इस समय चीनियों की संख्या प्रायः ४०, ००, ००, ००० जापानियों की ६, ००, ००, ००० कोरियनों की १, ६०, ००,००० और इण्डो-चीनियों की २, ६०, ००, ००० है। इसके अतिरिक्त चीन की राजनीतिक सीमाओं में प्रायः १, ००, ००, ००० ऐसे आदमी भी रहते हैं, जो चीनी नहीं हैं।

आरम्भ में तो मानों प्रकृति ने ही पीत वर्ण वालों को सारे संसार से अलग कर रखा था। पर बाद में यदि वे चाहते तो अपना एकान्तवास छोड़ कर संसार के और वर्णों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। पर उन लोगों ने किसी विदेशी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना ही पसन्द नहीं किया और स्वेच्छा पूर्वक वे सब से अलग रहे। आज से चार सौ वर्ष पहले जब गोरों ने सारे संसार में फैलना आरम्भ किया, तब वे घूमते फिरते पूर्वी एशिया में भी पहुँचे। समुद्र-मार्ग से तो वहाँ कुछ पुर्तगालियों ने प्रवेश किया और स्थल-मार्ग से साइबेरिया के मैदानों से होते हुए कुछ कज्जाक वहाँ घुसे, गोरे विदेशियों के साथ कुछ ही दिन सम्बन्ध रखकर पीत जाति ने निश्चित कर लिया कि हमें इन लोगों के साथ सम्बंध रखने की कोई आवश्यकता नहीं है; और इसीलिए उसने विदेशी गोरों को अपने यहाँ से बल-

पूर्वक निकाल दिया। केवल चीनियों ने ही गोरों को अपने यहाँ से नहीं निकाला था, बल्कि जापान, कोरिया और इण्डो चाइना आदि वालों ने भी विदेशियों को अपने यहाँ से निकाल दिया था। वास्तव में बात यह थी कि पीत जाति इन गोरों को बहुत ही भयंकर और नाशक समझती थी। उसकी धारणा थी कि ये गोरे हमारे विकास-मार्ग में बहुत बाधक होंगे; और वह अपनी सभ्यता की इन गोरों के आक्रमणों से रक्षा करना चाहती थी। इसलिए उसने गोरों को अपने यहाँ से निकाल दिया था। तीन सौ वर्षों तक पीत जाति ने इन गोरों को अपने से दूर ही रक्खा और अपने यहाँ फटकने तक न दिया। पर उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य में गोरों ने कल, बल, छल-सभी उपायों से चीन में प्रवेश कर ह लिया और पीत जाति का सारे संसार के साथ सम्बंध स्थापित हो गया।

आरम्भ में जब गोरों ने चीन आदि में बलपूर्वक प्रवेश किया था, उस समय तो वे अपनी सफलता पर फूले न समाते थे; पर अब कुछ गोरों को इस बात का दुःख होता है कि हमने एक एकांतवासी जाति को क्यों जबरदस्ती घसीट कर संसार के प्रवाह में ला डाला। केली नामक एक आस्ट्रेलियन लेखक ने एक बार लिखा था—"एशिया की जातियों के साथ उपयुक्त समय से पहले ही जबरदस्ती सम्बंध स्थापित करके हम लोगों ने बड़ी भारी भूल की है। एशिया वालों की सब से अलग रहने और अपनी सभ्यता को दूसरों की सभ्यता के प्रभाव से बचाने की नीति बहुत ही ठीक थी; और हमने उन पर अपना धर्म, अपनी नीति और अपना शिल्प आदि लादने का उद्योग करके बहुत ही बुरा

किया। एशिया वाले जो हम से अलग रहना चाहते थे, उसका कारण यह नहीं था कि वे हम से अथवा अन्य वर्णों के लोगों के साथ किसी प्रकार की घृणा या द्वेष करते थे, बल्कि उसका कारण यह था कि वे समझते थे कि हमारी सभ्यता का सब से अच्छा विकास तभी हो सकता है, जब हम स्वतंत्र रहें और विदेशियों के साथ किसी प्रकार का सम्बंध स्थापित न करें। यूरोपियनों के हानिकारक बल-प्रयोग ने उनको अपना एकांतवास त्यागने के लिए विवश किया। हमें यह स्वीकृत करने में लज्जित नहीं होना चाहिए कि उनका खयाल ठीक और हमारा खयाल ग़लत है।"

अब चाहे यह काम ठीक हो चाहे ग़लत, पर हो गया। गोरों ने पीत जाति को जबरदस्ती संसार के अखाड़े में ढकेल दिया। अब वह अपने आप को नवीन राजनीतिक परिस्थितियों के अनुमल बनाने के उद्योग में लगी और यह सीखने लगी कि नई विकट परिस्थिति में हमें अपना अस्तित्व किस प्रकार बनाये रखना चाहिए। कहाँ तो वह परम शांति और सुखपूर्वक अपना निर्वाह कर रही थी, और कहाँ अब उसे भौतिक उन्नति तथा आधुनिक विकास करने के लिए बाध्य होना पड़ा। पहले पहल जापान ने गोरों की सब बातें सीखीं और सन् १८९४ में उसने चीन पर तथा उसके दस वर्ष बाद रूस पर विजय प्राप्त करके सारे संसार को यह दिखला दिया कि हमने अपने काम भर के लिए गोरों के सब रंग-ढंग बहुत अच्छी तरह सीख लिये।

जब जापान ने सहज में ही विशाल चीन-साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर ली, तब सारा संसार चकित हो गया। सहसा लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि जापान वाले इतने थोड़े समय

पूर्वक निकाल दिया। केवल चीनियों ने ही गोरों को अपने यहाँ से नहीं निकाला था, बल्कि जापान, कोरिया और इण्डो चाइना आदि वालों ने भी विदेशियों को अपने यहाँ से निकाल दिया था। वास्तव में बात यह थी कि पीत जाति इन गोरों को बहुत ही भयंकर और नाशक समझती थी। उसकी धारणा थी कि ये गोरे हमारे विकास-मार्ग में बहुत बाधक होंगे; और वह अपनी सभ्यता की इन गोरों के आक्रमणों से रक्षा करना चाहती थी। इसलिए उसने गोरों को अपने यहाँ से निकाल दिया था। तीन सौ वर्षों तक पीत जाति ने इन गोरों को अपने से दूर ही रक्खा और अपने यहाँ फटकने तक न दिया। पर उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य में गोरों ने कल, बल, छल-सभी उपायों से चीन में प्रवेश कर ह लिया और पीत जाति का सारे संसार के साथ सम्बंध स्थापित हो गया।

आरम्भ में जब गोरों ने चीन आदि में बलपूर्वक प्रवेश किया था, उस समय तो वे अपनी सफलता पर फूले न समाते थे; पर अब कुछ गोरों को इस बात का दुःख होता है कि हमने एक एकांतवासी जाति को क्यों जबरदस्ती घसीट कर संसार के प्रवाह में ला डाला। केली नामक एक आस्ट्रेलियन लेखक ने एक बार लिखा था—"एशिया की जातियों के साथ उपयुक्त समय से पहले ही जबरदस्ती सम्बंध स्थापित करके हम लोगों ने बड़ी भारी भूल की है। एशिया वालों की सब से अलग रहने और अपनी सभ्यता को दूसरों की सभ्यता के प्रभाव से बचाने की नीति बहुत ही ठीक थी; और हमने उन पर अपना धर्म, अपनी नीति और अपना शिल्प आदि लादने का उद्योग करके बहुत ही बुरा

किया। एशिया वाले जो हम से अलग रहना चाहते थे, उसका कारण यह नहीं था कि वे हम से अथवा अन्य वर्णों के लोगों के साथ किसी प्रकार की घृणा या द्वेष करते थे, बल्कि उसका कारण यह था कि वे समझते थे कि हमारी सभ्यता का सब से अच्छा विकास तभी हो सकता है, जब हम स्वतंत्र रहें और विदेशियों के साथ किसी प्रकार का सम्बंध स्थापित न करें। यूरोपियनों के हानिकारक बल-प्रयोग ने उनको अपना एकांतवास त्यागने के लिए विवश किया। हमें यह स्वीकृत करने में लज्जित नहीं होना चाहिए कि उनका खयाल ठीक और हमारा खयाल ग़लत है।"

अब चाहे यह काम ठीक हो चाले ग़लत, पर हो गया। गोरों ने पीत जाति को जबरदस्ती संसार के अखाड़े में ढकेल दिया। अब वह अपने आप को नवीन राजनीतिक परिस्थितियों के अनुभल बनाने के उद्योग में लगी और यह सीखने लगी कि नई विकट परिस्थिति में हमें अपना अस्तित्व किस प्रकार बनाये रखना चाहिए। कहाँ तो वह परम शांति और सुखपूर्वक अपना निर्वाह कर रही थी, और कहाँ अब उसे भौतिक उन्नति तथा आधुनिक विकास करने के लिए बाध्य होना पड़ा। पहले पहल जापान ने गोरों की सब बातें सीखीं और सन् १८९४ में उसने चीन पर तथा उसके दस वर्ष बाद रूस पर विजय प्राप्त करके सारे संसार को यह दिखला दिया कि हमने अपने काम भर के लिए गोरों के सब रंग-ढंग बहुत अच्छी तरह सीख लिये।

जब जापान ने सहज में ही विशाल चीन-साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर ली, तब सारा संसार चकित हो गया। सहसा लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि जापान वाले इतने थोड़े समय

में गोरों की इतनी अधिक बातें सीख गये होंगे। उस समय भी बहुत से लोग ऐसे थे, जो जापान के वास्तविक बल आदि से अच्छी तरह परिचित नहीं थे और उसको उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। जापान ने चीन पर विजय प्राप्त करके उसका फारमोसा टापू ले लिया था। उस समय एक डच लेखक ने लिखा था कि हालैण्ड को उचित है कि वह जापान से फारमोसा ले ले। नहीं तो बहुत सम्भव है कि वह आगे चल कर डच इण्डीज में बढ़ना चाहेगा। इससे पाठक समझ सकते हैं कि उस समय भी कुछ लोग जापान को तुच्छ और उपेक्षणीय समझते थे और उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि जापान से उसका कोई टापू छीनना हँसी खेल नहीं है। उसी समय जापान की प्रवृत्ति अपने प्रसार की ओर हो चुकी थी और वह अपने साम्राज्य का यथेष्ठ विस्तार करना चाहता था। एक ओर तो एक डच जापान से फारमोसा छीनने की राय दे रहा था, और दूसरी ओर एक आस्ट्रेलियन ने जापान में यात्रा करने के उपरान्त एक समाचार पत्र में लिखा था—"मैं एक गाड़ी में कुछ जापानी अफसरों के साथ जा रहा था। वे अफसर आपस में आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। वे कहते थे कि आस्ट्रेलिया बहुत उत्तम और विशाल देश है। वहाँ खूब बड़े बड़े जंगल और धान आदि की खेती के लिए बहुत अच्छी अच्छी जमीनें हैं। पर वहाँ थोड़े से गोरे जा कर जम गये हैं। घोड़ों के रहने के अस्तबल में मानों कुत्तों ने अड्डा जमा लिया है। इतना बड़ा और बढ़िया देश यों ही खाली पड़ा रहे, यह बड़े ही दुःख की बात है किसी न किसी को उसका उपयोग करने के लिए उसके किसी अंश पर अधिकार करना पड़ेगा। यदि जापान और

आस्ट्रेलिया में कभी कोई दुर्भाव उत्पन्न हो तो उस समय अधिक बुद्धिमत्ता का काम यही होगा कि लड़ाई के कुछ जहाज आस्ट्रेलिया भेज दिये जायँ और उसके कुछ प्रान्तों पर अधिकार कर लिया जाय।"

जिस समय जापान ने चीन पर विजय प्राप्त की थी, उस समय लोग भले ही जापान के बल के सम्बंध में धखे में रहे हों, पर जिस समय उसने रूस पर विजय प्राप्त की, उस समय किसी को उसके बलवान् होने में सन्देह नहीं रह गया। पीत जाति ने गोरी जाति पर जो विजय प्राप्त की थी, उसकी दुन्दुभी सारे संसार में गूँज गई। आज कल सारे एशिया में जो जाग्रति हुई है, उसका आरम्भ जापान की इसी विजय से माना जाता है। गोरों की अजेयता, श्रेष्ठता और प्रभुता आदि पर सब से पहला और भीषण आघात जापान ने ही किया था। मेरेडिथ टाउन्सेण्ड ने अपने "एशिया और यूरोप" नामक ग्रंथ की भूमिका में लिखा था—"यह प्रायः एक निश्चित सी बात है कि जापान की इस विजय से युरोप की अधिकांश महाशक्तियाँ दुःखी होंगी। एक आस्ट्रिया को छोड़ कर प्रायः सभी यूरोपियन शक्तियाँ एशिया पर विजय प्राप्त करने का बहुत बड़ा उद्योग कर रही हैं। यह उद्योग इधर दो सौ वर्षों से हो रहा है, पर अब कदाचित् इसका अन्त हो जायगा। चाहे इस समय कुछ भी पता न चलता हो, पर इस में सन्देह नहीं कि आगे चल कर यूरोपियनों को एशिया से निकालने का विचार लोगों में उत्पन्न होगा; और यह विचार एक ऐसे आन्दोलन के कारण जोर पकड़ेगा, जिसका अनुमान अभी बहुत ही कम लोगों को है और जिसके सम्बन्ध में अभी बहुत ही कम

लोगों में बात चीत हुई है। जिन लोगों ने इस प्रश्न पर विचार किया है, उन्हें इस बात में जरा भी सन्देह नहीं है कि यूरोपवालों की तरह एशिया वाले भी यह समझ रहे कि एशिया महादेश केवल एशियावालों के लिए ही है। और जिस घटना से यह सिद्धान्त कुछ भी चरितार्थ होता हो, उस घटना से अवश्य ही एशिया के सभी निवासी प्रसन्न होंगे। इस समय यूरोपियनों के शासनाधिकार में आ जाने के कारण एशिया की जो जातियाँ कष्ट पा रही हैं, उनमें जापान की इन विजयों के कारण अवश्य ही नवीन बल और नवीन जीवन का संचार होगा। उन पराधीन जातियों को इस बात का विश्वास हो जायगा कि हममें भी इतना बल हो सकता है कि हम इन गोरों का विरोध कर सकें; और उनमें भी यह इच्छा उत्पन्न होगी कि हम भी जापान के इस कार्य से शिक्षा ग्रहण करके अपना कुछ काम निकालें। इसमें सन्देह नहीं कि इस नये विचार, इस नई शक्ति के कार्यान्वित होने में अभी बहुत बरस लगेंगे, पर एशिया वालों के लिए देर सबेर कोई चीज ही नहीं है, और जापानियों की भाँति एशिया के अन्यान्य सब निवासियों में भी यह गुण पूर्ण रूप से है कि वे अपना मन्तव्य खूब गुप्त रखें और किसी पर प्रकट न होने दें।"

एशियावालों के भावों के सम्बन्ध में मेरेडिथ टाउन्सेण्ड ने जो कुछ कहा था वह बिल्कुल ठीक था, क्योंकि इसी प्रकार के विचार कई एशिया वालों ने भी समय समय पर प्रकट किये हैं। रंगून से बौद्धों का "बुद्धिज्म" नामक जो समाचार-पत्र निकलता है, उसने भी एक बार यह लिखा था कि एशियावालों को गोरों का विरोध करने के लिए मिलकर एक होना पड़ेगा। १९०५ में

उस पत्र में लिखा गया था—"इस रूस-जापान युद्ध के कुछ ही वर्षों बाद यदि जापान और चीन मिलकर एक हो जायँ और अपनी रक्षा के लिए पूर्वी एशिया के सम्बंध में भी एक नया मनरो-सिद्धांत स्थापित कर लें तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि स्याम भी इस काम में उन दोनों का साथ दे और ये सब मिलकर ऐसे उपाय करें जिनसे यूरोपवाले पूर्वी एशिया की वर्तमान रियासतों की स्वतंत्रता में और अधिक हस्तक्षेप न कर सकें। यूरोपवाले यहाँ की कमजोर जातियों को यह कह कर खूब दबाते हैं कि संसार में जो अधिक बलवान् और योग्य होगा, वही जीवित बचेगा और दुर्बलों तथा अयोग्यों का नाश हो जायगा। वे अपने कार्यों का समर्थन इस सिद्धांत से करते हैं कि भावी मानव-जाति के लिए सर्वश्रेष्ठ यही है कि जो जातियाँ अयोग्य हों, वे नष्ट हो कर स्थान खाली कर दें और वह स्थान उन जातियों को मिले जो सबसे अधिक योग्य हों। यदि आगे चल कर आर्यों और मंगोलियनों में कभी कोई झगड़ा हो तो उस दशा में भी इस सिद्धांत का पूरा पूरा प्रयोग हो सकेगा। यदि दोनों जातियाँ किसी समय सारे संसार के प्रभुत्व के सम्बंध में आपस में लड़ जायँ तो इस सिद्धांत के अनुसार वही जाति जीवित बचेगी जो दोनों में सब से अधिक योग्य होगी। और यदि आर्य जाति नष्ट हो गई और मंगोलियन जाति बच रही तो यही माना जायगा कि मंगोलियन जाति मानव-जाति के लिए कोई भयंकर विपत्ति नहीं है, बल्कि उसका एक श्रेष्ठ अंग है।"

रूस-जापान युद्ध के बाद और युरोपीय महायुद्ध के पहले पूर्वी एशिया में एक और महत्वपूर्ण घटना हो गई। वह यह कि

१९११ में चीन में राज्यक्रांति हो गई। उन्नीसवीं शताब्दि के अंत में संसार की महाशक्तियाँ आपस में यही सोच समझ रही थीं कि अब चीन बिलकुल नष्ट हो जायगा। चीन का वह विशाल साम्राज्य, जिसमें सारी मानव जाति का एक चतुर्थांश अर्थात् ४०,००,००,००० आदमी बसते हैं, इन गोरों के कथनानुसार इतना अधिक अवनत हो चुका था कि उसके नष्ट हो जाने में अधिक विलम्ब नहीं था। उसके मृतप्राय शरीर के चारों ओर संसार के बड़े बड़े गिद्ध मँडराने लगे थे। और सोच रहे थे कि अभी हाल में हमने जिस प्रकार आफ्रिका को आपस में बाँट लिया है, उसी प्रकार हम चीन को भी बाँट लेंगे। वे पहले से ही यह हिसाब बैठाने लग गये थे कि इसका अमुक अंश हम लेंगे, अमुक तुम ले लेना और अमुक उसको दे दिया जायगा। पर इन गोरों के दुर्भाग्यवश चीन के ऐसे बँटवारे का समय ही न आया। जापानियों की विजय ने चीनियों की आँखे खोल दीं और वे समझने लग गये कि यदि हम इसी समय न सँभल जाँयगे तो हम पर बड़ा भारी संकट आवेगा। पहले पहल चीनियों ने जब सुधार करना चाहा, तब वहाँ की राज—माता ने उसमें बाधा दी। उस बाधा का परिणाम यह हुआ कि चीन में प्रसिद्ध बाक्सर विद्रोह हुआ। उस विद्रोह से चीनियों ने अच्छी शिक्षा ग्रहण की और वे खूब सचेत हो गये। सन् १९०० के बाद से वहाँ नित्य नये सुधार होने लगे पर ये सुधार शासक लोग अपने मन से नहीं करते थे, बल्कि प्रजा के आन्दोलनों से विवश होकर करते थे। प्रजा में दिन पर दिन राष्ट्रीय भावों की खूब वृद्धि होती जाती थी, और वहाँ का मंचू राजवंश प्रजा की माँगों के अनुसार पूरा पूरा सुधार नहीं कर

सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन मे राष्ट्रीयता की जो भीषण लहरें उठ रही थीं, उन्होंने मंचू राजवंश को डुबा दिया और १९११ में वहाँ प्रजातंत्र स्थापित हो गया।

चीन में राज्यक्रांति होने से पहले वहाँ के सुधारों में मंचू राजवंश बहुत बाधक था। पर उसके लाख बाधा देने पर भी चीन में जितनी जल्दी जल्दी सुधार और उन्नति होती थी, उसे देखकर बड़े बड़े बुद्धिमान् विदेशी दाँतों उंगली दबाते थे। १९११ में चीन के सुपरिचित मि० डब्ल्यू. आर. मैनिंग ने लिखा था—"यदि आज से दस वर्ष पहले चीनी महात्मा कनफ्यूची अपने इस देश में आते तो वे कदाचित् उसे बहुत कुछ उसी दशा में पाते, जिस दशा में वे आज से ढाई हजार वर्ष पहले छोड़ गये थे। पर यदि यहाँ इसी प्रकार उन्नति होती रही और वे यहाँ आज से दस वर्ष बाद आवें तो उनको अपने समय की दशा से उस समय की दशा में आकाश पाताल का अन्तर दिखाई देगा। चीन की परिस्थिति का बहुत अच्छी तरह निरीक्षण करने वाले एच० पी० बीच ने १९०९ के अंत में लिखा था—"जो लोग आज से पचीस वर्ष पहले के चीन की आज के चीन से तुलना करेंगे, उनको सहसा यह विश्वास ही न होगा कि किसी देश में इतने थोड़े समय में भी इतना अधिक परिवर्तन हो सकता है। कहाँ तो लोग चीन की उस उन्नति से घबरा रहे थे, और कहाँ उनको और भी चकित करने वाली राज्यक्रांति हो गई। इस राज्यक्रांति के संबंध में डा० डिलन ने कहा था कि जैसे ठीक मौके पर यह घटना हुई है, वैसे ठीक मौके पर इधर एक हजार वर्षों में और कोई घटना हुई ही नहीं। यद्यपि क्रांतिकारियों ने राजनीतिक

दृष्टि से कई भूलें की थीं, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उसका नैतिक परिणाम वहुत ही मार्के का हुआ था। उन दिनों चीन के प्रत्येक प्रांत में नित्य नये पश्चिमी ढंग के सुधार होते थे। उस समय पहलेपहल वहाँ की प्रजा राजनीतिक प्रश्नों पर उचित रूप से विचार करने लगी थी। अब तक तो चीन वाले केवल अपने वंश आदि के कल्याण का ही विचार करते थे, पर अब उनमें सच्ची राष्ट्रीयता के भाव जागृत हो रहे थे और वे वास्तविक देश-हित के कामों में लग गये थे।

जिस समय युरोपीय महायुद्ध आरम्भ हुआ था, उस समय पूर्वी एशिया की यह स्थिति थी। जापान तो आधुनिक ढंग पर चलकर पूर्ण बलवान और संघटित हो चुका था और चीन यद्यपि संघटित नहीं हुआ था, तथापि पूर्ण रूप से जाग्रत अवश्य हो चुका था। महायुद्ध के कारण जापान आप से आप पूर्वी एशिया में सर्वप्रधान बन गया था और वहाँ के प्रश्नों के सम्बंध में युरोपियनों को इस योग्य ही न रहने दिया गया कि वे उन में हस्तक्षेप कर सकें। उसने चीन पर भी पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया। यद्यपि यह अधिकार प्राप्त करने में उसने बहुत कुछ अन्याय और अत्याचार किया था, तथापि उसके वे अन्याय और अत्याचार गोरों के अन्यायों और अत्याचारों से बहुत कम ही थे। जापान ने यह काम इसी लिए किया था कि जिसमें वह चीन की अतुल प्राकृतिक सम्पत्ति का पूर्ण रूप से हरण कर सके, वहाँ के बाज़ारों में अच्छी तरह अपना माल खपा सके और वहाँ की राष्ट्रीय जाग्रति तथा राज्यक्रांति को ऐसे मार्ग में ले जाय जिसमें आगे चलकर स्वयं जापान की कोई हानि न हो सके।

चीन पर जापान अपना प्रभुत्व भी स्थापित करना चाहता है और साथ ही वह उससे डरता भी है। उसके डरने का कारण यह है कि चीन की जन-संख्या बहुत अधिक है; और यदि चीन अच्छी तरह सैनिक तैयारी कर सके तो आवश्यकता पड़ने पर वह सहज में जापान को नष्ट कर सकता है। चीन में जाग्रति तो हो ही चुकी है और वह अपना सैनिक संगठन भी करने में लगा ही हुआ है। ऐसी दशा में उसके पड़ोसियों का उससे सशंकित होना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। उधर जापान यह चाहता है कि चीन पर हमारा पूरा पूरा प्रभुत्व स्थापित हो जाय। इसलिए चीन वाले जापान के विरोधी हो रहे हैं। चीन के अधिकारों में जापान जो हस्तक्षेप करता है, उससे चीन वाले मन ही मन बहुत कुढ़ते हैं। लेकिन इतना होने पर भी जापान यह समझता है कि हमें जोखिम सह कर भी चीन पर अधिकार प्राप्त करना चाहिए। इस समय महाशक्तियाँ बहुत कुछ जापान के पक्ष में हैं। इसके अतिरिक्त और परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल ही हैं। इसलिए उसको पूरी आशा है कि चीन पर अधिकार जमाने में उसे पूरी सफलता होगी। चीन के पुराने इतिहास को देखते हुए वह यह भी समझता है कि चीन वालों का यह नियम है, कि पहले तो वे आक्रमणकारियों का खूब विरोध करते हैं, पर अन्त में जब वे यह देखते हैं कि हमारे विरोध का कोई परिणाम नहीं निकल सकता, तब वे आक्रमणकारियों का प्रभुत्व भी स्वीकृत कर लेते हैं। जापान का एक उद्देश्य यह भी है कि पूर्वी एशिया से गोरे निकाल दिये जायँ, और वहाँ पीत जाति को अपने प्रसार का यथेष्ट अवसर मिले। वह समझता है कि हमारे इस उद्देश्य की सिद्धि में पीत जाति के

लोग और विशेपतः चीनी पूरे सहायक होंगे। यदि चीन अपनी इस राष्ट्रीय जाग्रति के समय गोरों का विरोधी हो जाय और अपने देश-हित के विचारों के कारण समस्त पीत जाति में एकता स्थापित करने के उद्योग में लग जाय तो जापान को सहज में ही बड़ी भारी विजय प्राप्त हो सकती है। इससे उसका बल बहुत बढ़ जायगा और उसे अपने विस्तार का यथेष्ट अवसर मिलेगा।

उधर चीन भी यह बात अच्छी तरह समझता है कि यदि इस समय हम और जापान मिल कर एक हो जायँ तो हमारा बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। अधिकांश चीनियों का यही विश्वास है हम में शासकों को भी हजम कर जाने की शक्ति है। जापान के साथ हमारे मिलने की शर्तें चाहे कैसी ही क्यों न हों, पर अन्त में हमें लाभ का पूरा पूरा अंश मिलेगा ही। इस बात में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता कि चीन वाले बहुत अधिक मितव्ययी होते हैं। इसका कारण यह है कि वे बहुत दिनों से अपेक्षाकृत बहुत ही थोड़े स्थान में बहुत अधिक संख्या में रहकर निर्वाह करते आये हैं। जितने थोड़े स्थान में जितने अधिक चीनियों ने आज तक निर्वाह किया है, उतने थोड़े स्थान में उतने अधिक आदमियों ने आज तक निर्वाह नहीं किया होगा। इसलिए कठिन से कठिन आर्थिक परिस्थितियों में रह कर भी वे बहुत अच्छी तरह अपना काम चला सकते और चलाते हैं। अपने देश में तो चीनियों की अवस्था भूखों मरने वालों से कदाचित् ही कुछ अच्छी रहती है; और जब वे दूसरे सुखी और सम्पन्न देश में जा पहुँचते हैं, तब वे परिश्रमी होने के कारण वहाँ खूब काम भी करने लगते हैं और कमा कर खूब बचत भी करते हैं।

उस समय दूसरे देशों के लोग उनके मुकाबले में बिलकुल नहीं ठहर सकते। यही कारण है कि सभी देशों के लोग चीनी मजदूरों से घबराते हैं और जहाँ तक हो सकता है, उनको दूर ही रखना चाहते हैं। एक चीनी डाक्टर ने अपने देशवासियों के सम्बन्ध में कहा है—"यह बात अनुभव से सिद्ध हो चुकी है कि चीनी लोग सभी प्रकार का परिश्रम कर सकते हैं और प्रतियोगिता में सब से आगे रहते हैं, सब को हरा सकते हैं। वे परिश्रमी समझदार और व्यवस्थित होते है। वे ऐसी ऐसी अवस्थाओं में भी काम कर सकते हैं जिनमें कम परिश्रमी जातियों के लोग शायद मर जायँ। वे जलती हुई आग में भी रह सकते हैं, और शरीर को गलाने वाले बरफ में भी रह सकते हैं। वे केवल थोड़ा सा चावल खाकर ही दिन रात निरन्तर परिश्रम कर सकते हैं।" वास्तव में अनेक विदेशियों का भी चीनियों के सम्बन्ध में यही विश्वास है। आस्ट्रेलिया के पिर्सन नामक एक विद्वान् ने भी आज से बहुत पहले चीनियों के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक में कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किये थे। वे तिब्बत की अधित्यका में भी रह सकते हैं और सिंगापुर की गरमी में भी। वे मजदूरों के काम के लिए भी अच्छे होते हैं और जल तथा स्थल सेना के काम के लिए भी बहुत उपयुक्त होते हैं। व्यापार करने का गुण तो उनमें इतना अधिक होता है कि जितना पूर्व की किसी जाति में नहीं होता। उन्हें अपना भविष्य सुधारने के लिए किसी प्रकार सहायता की आवश्यकता ही नहीं होती। हन नामक एक और विद्वान् ने चीनियों के सम्बन्ध में कहा है—"वे हजारों वर्षों से करोड़ों की संख्या में व्यवस्थित रूप से अविरत परिश्रम करते

आये हैं। वे इतने मितव्ययी होते हैं कि अपने सुख का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। वे ऐसी अवस्थाओं में भी बहुत अच्छी तरह रहते हैं जिनमें हमारे यहाँ के मजदूरों की जान निकल जाय।" तात्पर्य यह कि वे बहुत ही साधारण जीवन व्यतीत करने के लिए अधिक से अधिक परिश्रम कर सकते हैं।

चीनियों में जो यह सहनशीलता और मितव्यय की विशेपता है, उसके कारण वे केवल अन्य वर्णों के लोगों से बढ़ कर ही नहीं हैं, वल्कि पीतवर्ण के ही अपने दूसरे भाइयों-जैसे जापानियों स्यामियों-आदि से भी वढ़ कर हैं। इस बात में उन्होंने जापानियों को भी मात करके दिखला दिया है। जहाँ जहाँ चीनियों और जापानियों का परिश्रम, सहनशीलता और मितव्यय आदि में मुकावला हुआ है, वहाँ वहाँ चीनियों की पूर्ण विजय हुई है। जापान के कोरिया और फारमोसा आदि उपनिवेशों में भी, जहाँ जापान सरकार जापानियों को सदा सब तरह के सुभीते देने के लिए तैयार रहती है, चीनियों की ही विजय हुई है और जापानी उनके मुकावले में नहीं ठहर सके हैं। जो जापान अपने यहाँ गोरे मजदूरों को जल्दी घुसने नहीं देता और उनका सदा विरोध करता है, उसे भी विवश होकर सस्ते चीनी मजदूरों को, रोकने के लिए विकट कानून बनाने पड़े हैं। ऐसी दशा में चीन वालों का यह समझना बहुत ही ठीक है कि यदि जापानी लोग हमारे गोरे विरोधियों को दबा देंगे तो उससे अन्त में लाभ हमारा ही होगा। क्योंकि उस समय हम जापानियों को भी प्रतियोगिता में दबा लेंगे। इतना सब कुछ होने पर भी चीनी और जापानी वास्तव में एक ही हैं, क्योंकि दोनों की जाति, वंश और सभ्यता आदि

बिलकुल वही है। आपस में वे दोनों चाहे कितना ही क्यों न लड़ें, झगड़े, पर फिर भी अवसर पड़ने पर वे सहज में समझौता कर सकते हैं और सम्भवतः समझौता कर भी लेंगे। एक बात पूर्ण रूप से निश्चित है। वह यह कि दोनों की जनसंख्या बहुत अधिक है और दोनों के पास रहने के लिए बहुत ही थोड़ा स्थान बच गया है, इसलिए दोनों ही अनिवार्य रूप से अपने निवास-स्थान का प्रसार करना चाहेंगे। ऐसी दशा में इस समय चीन और जापान में जो राजनीतिक वैमनस्य चल रहा है, वह कभी स्थायी नहीं हो सकता। और बहुत सम्भव है कि आगे चल कर जापान की पर राष्ट्रीय नीति और उच्चाकांक्षाओं में चीन भी सम्मिलित होकर उसका साथी बन जाय। दोनों मिलाकर, कम से कम इन गोरों के लिए, एक हो जायँ।

जापानी चाहते हैं कि पूर्वी एशिया में गोरों का कुछ भी अधिकार न रह जाय और वे वहाँ से सदा के लिए बिलकुल निकल जायँ। पूर्वी एशिया में जापानी अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। इस आकांक्षा में उनके साथ पूर्वी एशिया के अन्य देशों के निवासियों की तो सहानुभूति हो ही सकती है। कदाचित् एशिया की अन्य जातियों की भी सहानुभूति हो सकती है। क्योंकि वे भी तो इन गोरों के बोझ से बेतरह दब रही हैं। जापान की पर राष्ट्रीय नीति का दूसरा उद्देश्य यह जान पड़ता है कि पूर्वी एशिया में इस समय जो स्थान गोरों के अधिकार में हैं, वे उनसे छीन लिये जायँ और वहाँ से वे निकाल दिये जायँ। यहाँ तक तो जापानियों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है इसके बाद कुछ जापानी तो ऐसे हैं जो यह चाहते हैं कि संसार की सब

जातियों में समानता का व्यवहार हो और हमें भी गोरों के देश में जाकर स्वतन्त्रता पूर्वक रहने का अधिकार मिले। और कुछ जापानी ऐसे भी हैं जो यूरोपियन साम्राज्यवादियों की तरह सारे संसार में अपना ही साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं और सब देशों को जीत कर अपने अधिकार में लाना चाहते हैं। उनकी यह आकांक्षा अनुचित तो है ही; क्योंकि इससे वर्तमान संसार के सभी दोष और भी बढ़ सकते हैं, पर साथ ही यह कुछ असम्भव भी है। असम्भव इसलिए कि संसार साम्राज्यवाद और अधिकार-लिप्सा के दुष्परिणाम अच्छी तरह भोग चुका है। अब कदाचित् वह इनके फेर में न पड़ेगा। अब तो संसार कुछ वास्तविक और स्थायी शान्ति चाहता है; और वह शान्ति तभी मिल सकती है जब प्रभुता और अधिकार कुछ घटे और समानता तथा भ्रातृभाव कुछ बढ़े। हम यहाँ यह भी बतला देना चाहते हैं कि ऐसे जापानी बहुत ही कम हैं जो सारे संसार में अपना ही साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं, पर फिर भी वे हैं बहुत ही शक्तिमान् और सरकार पर उन्हीं का सब से अधिक प्रभाव पड़ता है। हमें आशा करनी चाहिए कि आगे चल कर जापान में भी ऐसे साम्राज्यवादियों की संख्या बिलकुल घट जायगी और भावी युग साम्राज्यवाद के नाश का ही युग होगा।

यों तो महायुद्ध से दस बारह वर्ष पहले ही लोगों को जापानियों की उच्चाकांक्षाओं का पता लग चुका था, पर महायुद्ध के समय से तो वे उसे कार्य-रूप में ही परिणत करने लग गये हैं। रूस पर विजय प्राप्त करते ही जापान ने पूर्वी एशिया में अपना अधिकार बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। उसने एशिया के अन्यान्य

देशों के साथ घनिष्ठता बढ़ाने के विशेष उद्योग आरम्भ कर दिये थे। जापान अपने यहाँ के विश्व-विद्यालयों में पढ़ने के लिए एशिया के अन्यान्य देशों के विद्यार्थियों को बुलाता था और एशिया के हजारों विद्यार्थी वहाँ विद्याध्ययन के लिए जाने भी लगे थे। इसके अतिरिक्त जापान में अनेक ऐसी सभाएँ आदि भी बन गईं जो चीन, स्याम और यहाँ तक कि भारत के साथ भी आर्थिक तथा सामाजिक आदि बन्धन दृढ़ करने का उद्योग करती थीं। प्रसिद्ध काउण्ट ओकुमा ने तो एक ऐसी सभा स्थापित कर दी, जो एशिया के सभी देशों और सभी जातियों में एकता उत्पन्न करना चाहती है। यद्यपि अभी तक ये सभाएँ आदि विशेष प्रसिद्ध नहीं हुई हैं, तथापि इन सभाओं के सम्बन्ध में कुछ बातें जानने योग्य हैं। प्रशान्त महासागर सम्बन्धी एक सभा का उद्देश्य इस प्रकार है—"इधर सौ वर्षों से प्रशान्त महासागर एक युद्ध-क्षेत्र बना हुआ है, जिसमें सभी राष्ट्र आ आकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए लड़ते झगड़ते हैं। आज कल किसी राष्ट्र की उन्नति अथवा अवनति केवल इसी बात पर निर्भर है कि प्रशान्त सागर में उसका बल कितना है। जिसके पास प्रशान्त सागर का साम्राज्य होगा, वही सारे संसार का स्वामी होगा। जापान उस प्रशान्त महासागर के ठीक मध्य में है, इसलिए उसे प्रशान्त महासागर सम्बन्धी प्रश्नों पर अपनी स्पष्ट और विचार पूर्ण सम्मति प्रकट करनी चाहिए।"

जापान में एक इण्डो-जापानी एसोसिएशन भी है। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ जापान का जो राजनीतिक सम्बन्ध है, उसे देखते हुए इस सभा की कार्रवाइयाँ कुछ विलक्षण ही जान पड़ती

हैं। उसकी नियमावली में, कदाचित् काउण्ट ओकुमा के हाथ का लिखा हुआ ही एक अंश इस प्रकार है—"जन्मतः सब लोग समान हैं। एशिया वालों को भी मनुष्य कहलाने का उतना ही अधिकार है जितना कि यूरोपवालों को है। इसलिए यह बात बहुत ही अनुचित है कि यूरोपवालों को एशियावालों पर शासन करने का कोई अधिकार प्राप्त हो।" इस लेख में इंग्लैण्ड और भारत के राजनीतिक सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं है। एक बार १९०७ में काउण्ट ओकुमा ने भारत के सम्बंध में लिखा था—" भारत के तीस करोड़ निवासी इन यूरोपियनों के द्वारा त्रस्त हो रहे हैं और वे रक्षा के लिए जापानियों का मुँह ताकते हैं। उन्होंने यूरोप की बनी हुई चीजों का बहिष्कार आरम्भ कर दिया है। ऐसे अवसर पर यदि जापानी चूक जायँगे और भारत में न जा पहुँचेंगे तो भारतवासी निराश हो जायँगे। प्राचीन काल से ही भारत बहुत ही सम्पन्न देश है। सिकन्दर को वहाँ इतना खजाना मिला था जो सौ ऊँटों पर लादा गया था और महमूद तथा अटिला ने वहाँ से बहुत अधिक सम्पत्ति प्राप्त की थी। इस समय तो भारतवासी हमारी ओर टक लगाये देख रहे हैं। ऐसी दशा में हम लोग भी उस देश तक अपना हाथ क्यों न फैलावें ? जापानियों को भारत, दक्षिणी महासागर तथा संसार के और और भागों में जाना चाहिए।"

१९१० में बील नामक एक अंगरेज विचारवान् ने लिखा था—"अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा गया कि खूब सोच समझकर, चुपचाप और बहुत ही चालाकी के साथ एक नई चाल चली जा रही है। जापान चाहे इससे कितना ही इन्कार क्यों न

करे, पर यह बात बिलकुल ठीक है कि पूर्वी एशिया की सभी पाठशालाओं और समाचारपत्रों पर जापान का पूरा पूरा प्रभाव है और उन पाठशालाओं के शिक्षकों तथा उन समाचारपत्रों के सम्पादक ही नहीं, बल्कि वहाँ के व्यापारी तथा यात्री आदि भी लोगों को यही समझाते हैं कि एशिया केवल एशियावालों के लिए ही है।"

जापान की कृपा से पूर्वी एशिया में अब यह भाव अच्छी तरह फैल गया है कि हमारे देश में विदेशियों का अधिकार नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि महायुद्ध के कुछ पहले ही पूर्वी एशिया के यूरोपियन उपनिवेशों में वहाँ के मूल-निवासियों में गोरों के विरुद्ध बहुत कुछ असन्तोष उत्पन्न हो गया था। १९०८ में फ्रान्सीसियों के इण्डो-चाइना में इतना अधिक असन्तोष फैला था कि फ्रान्स को वहाँ और दस हजार नये सैनिक भेजने पड़े थे; और यद्यपि उस समय वे उपद्रव शान्त कर दिये गये थे, तथापि १९११ और १९१३ में वहाँ फिर नये षडयंत्रों का पता लगा था। डच इण्डीज में भी इसी प्रकार के असन्तोष के अनेक लक्षण दिखाई पड़े थे और फिलिपाइन्सवाले भी स्वतंत्र होना चाहते थे। इन सब का मुख्य कारण यही था कि वहाँ के मूल-निवासी अपने गोरे शासकों के दिन पर दिन बढ़ते हुए अत्याचारों से तंग आ गये थे और गोरों का बोझ उनके लिए असह्य होता जाता था। जापान को इस प्रकार के असंतोष का उत्तरदायी कहना कभी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि असंतोष का मुख्य कारण वहाँ के गोरे शासक थे। जापान से तो उनको केवल यही शिक्षा मिली थी कि इस बोझ और दासता से किसी प्रकार बचना चाहिए।

पूर्वी एशिया के निवासियों में स्वतंत्रता के जो भाव उत्पन्न हो रहे थे, उन को देखकर पहले से ही कुछ गोरे विचारवान् सशंकित होने लग गये थे। महायुद्ध के आरम्भ होने के थोडे ही दिनों बाद व्हेटम्ले नामक एक अंगरेज ने अपने East and West (पूर्व और पश्चिम) नामक ग्रंथ में लिखा था—पश्चिमी विचारों के प्रचार के कारण पूर्वी एशिया में एक ऐसी जाग्रति और एकता उत्पन्न हो रही है जो पूर्वी विचारों और उपायों से कभी हो ही नहीं सकती थी। यूरोपवाले यह देखकर बहुत ही संतुष्ट और प्रसन्न होते हैं कि हमने एशियावालों को अपने नये मार्ग पर लगा लिया, उनको आधुनिक-रीति-भांति सिखला दी। पर जान पडता है कि ऐसे संतुष्ट होने वालों में समझ की कमी है; क्योंकि अभी हाल में जापान, चीन, पूर्वी साइबेरिया और फिलिपाइन्स में जो घटनाएँ हुई है, उनका ठीक ठीक अभिप्राय वे लोग नहीं समझते। पहले यूरोप के बलवान् राष्ट्र पूर्वी एशिया में फूट नहीं उत्पन्न करना चाहते थे और दूसरी बातों में मनमानी चालें चलते थे। अब वहाँ के लोगों में जातीयता-सम्बन्धी वह पुरानी एकता तो बनी ही हुई है। साथ ही राजनीतिक तथा आर्थिक आदि बातों में भी नई एकता उत्पन्न हो रही है। आगे चल कर यह एकता इतनी बढ़ जायगी कि फिर पूर्वी एशिया सम्बन्धी बातों में यूरोपवालों को हस्तक्षेप करने का बहुत ही कम अधिकार रह जायगा। बलिक सच तो यह है कि यह अवस्था इसी समय पहुँच गई है। और अब तो केवल इस बात की परीक्षा की ही देर है। ज्यों ही वह परीक्षा का समय आवेगा, त्यों ही पूर्वी एशियावाले सारे संसार पर यह बात प्रमाणित कर देंगे कि हमारे

कामों में यूरोपवालों का हस्तक्षेप अनुचित और असह्य है और हम उस हस्तक्षेप को बिलकुल नहीं मानते।"

जापान के भिन्न भिन्न राजनीतिक दलों में अपने साम्राज्य की भावी वृद्धि के सम्बन्ध में जो मत-भेद है, उसी मत-भेद के अनुसार यूरोपियन शक्तियों के साथ उनके व्यवहारों तथा भावों आदि में भी अन्तर है। इस शताब्दि के आरम्भ से ही वहाँ की सरकार की पर-राष्ट्रीय नीति इंग्लैंड के साथ मित्रता बढ़ाने के पक्ष में ही रही है। इसीलिए उसने १९०२ में इंग्लैण्ड के साथ मित्रतापूर्ण सन्धि की थी, जो १९११ और १९२१ में दोहराई गई थी। १९०२ में इंग्लैण्ड और जापान के साथ जो सन्धि हुई थी, उससे जापान की प्रजा बहुत ही प्रसन्न और संतुष्ट थी। वह संधि रूस के आक्रमणों आदि से बचनेके लिए की गई थी और उससे पता चलता था कि जापान और इंग्लैण्ड दोनों को ही रूस से भय है। पर १९११ में वह परिस्थिति बिलकुल ही बदल गई थी। पूर्वी एशिया में, और विशेषतः चीन में जापान ने जो अपना प्रसार और अधिकार करना चाहा था, उसके कारण दूर दूर तक घबराहट फैल गई थी और पूर्वी एशिया में रहने वाले अंगरेज प्रायः कहा करते थे कि इंग्लैण्ड ने जापान के साथ फिर से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करके बड़ी भारी भूल की है। इसी प्रकार जापान में भी उस सन्धि के दोहराये जाने पर खूब विरोध हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ के सरकारी समाचारपत्र बराबर इस बात पर जोर दिया करते थे कि जापान सरीखे द्वीप के साम्राज्य के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि वह समुद्रों के स्वामी इंग्लैण्ड के साथ मित्रता रखे, पर बाकी सार्वजनिक समाचारपत्र सन्धि के दोहराये जाने का विरोध करते हुए

कहते थे कि यदि अमेरिका के साथ जापान का युद्ध छिड़ जाय तो उस युद्ध में इंग्लैण्ड हमारी ओर से लड़ तो सकता ही नहीं, इसलिए उसके साथ मित्रता करना व्यर्थ है। उनका यह भी कहना था कि इस नई सन्धि के कारण इंग्लैण्ड को तो जापान से अधिक लाभ पहुँचेगा और जापान को इंग्लैण्ड से कुछ भी लाभ न पहुँचेगा।

चीन के सम्बन्ध में जापान और इंग्लैण्ड के हितों में विरोध बराबर बढ़ता जाता था। इसलिए जापानी भी अंगरेजों के विरोधी होते जाते थे। १९२२ में अर्ध-सरकारी जापान मेगजीन में कहा गया था कि साधारणतः लोग यही समझते हैं कि इंग्लैण्ड के साथ हमारी जो मित्रता हुई है, उससे हमें कोई लाभ तो पहुँच ही नहीं सकता, उलटे वह हमारे मार्ग में बाधक हो सकती है। उसने यह भी भविष्यद्वाणी की थी कि सम्भव है कि हमें आगे चलकर रूस और जर्मनी के साथ मिलना पड़े। जर्मनी के सम्बन्ध में उसने कहा था—"जर्मनी के पुष्ट साम्राज्यवाद तथा वैज्ञानिक विकास का हमारे राष्ट्र और हमारी उन्नति पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ सकता है और इस समय हमें भी जरमनों की तरह अध्यवसाय तथा मितव्यय की ही विशेष आवश्यकता है। जरमनों की सम्पत्ति और शिल्प धीरे धीरे बढ़कर ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका की सम्पत्ति तथा शिल्प की बराबरी करने लगा है और जरमनी की जल तथा स्थल-सेना सारे संसार के लिए आदर्श हो रही है। उसने क्याऊ चाऊ का जो ठीका ले लिया है, उसके कारण हमारा उसका सम्बन्ध स्थापित हो गया है और वह शाण्टुङ्ग की कोयले की खानों से जो लाभ उठाना चाहता है, उसमें हमारा भी हित है। इस कथन में

कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती कि चीन में जितना अधिक हित या स्वार्थ जरमनी का है, उतना और किसी युरोपियन शक्ति का नहीं है। अगर इंग्लैण्ड के साथ हमारी मित्रता कभी छूट जाय तो हम लोग जरमनी के साथ मित्रता स्थापित करके बहुत प्रसन्न होंगे।"

जब यूरोप में महायुद्ध छिड़ा, तब जापान को पूर्वी एशिया से गोरी महाशक्तियों को निकाल बाहर करने का बहुत अच्छा अवसर मिला और वह उस अवसर से लाभ उठाने में भी नहीं चूका। उसने क्याऊचाऊ से भी जरमनी को निकाल दिया और प्रशांत महासागर में 'भूमध्य रेखा से उत्तर उसके केरोलियन, पेल्यू, मेरियन, मार्शल आदि जितने द्वीपपुंज थे, उन सब पर भी उसने अधिकार कर लिया। इतना काम करके जापान रुक गया और उसने बहुत ही सज्जनता तथा नम्रतापूर्वक यूरोप अथवा पश्चिमी एशिया में लड़ने के लिए अपनी सेनाएँ भेजने से इनकार कर दिया। उसे तो सिर्फ पूर्वी एशिया से मतलब था। वह वहाँ से गोरों को निकाल देना चाहता था और चीन पर अपना पूरा अधिकार जमाना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसका विचार पहले से ही बहुत स्पष्ट था। १९१४ में ही वहाँ के एक अर्ध-सरकारी पत्र में कहा गया था—"चीन की सीमाओं की रक्षा के लिए जापान हर एक शक्ति से लड़ने के लिए तैयार है। जापान केवल रूस और जरमनी की उच्चाकांक्षाओं में ही बाधक न होगा, बल्कि वह यथा साध्य इंग्लैण्ड और अमेरिका को भी चीन पर हाथ साफ करने से रोकेगा। जापान के लिए चीनी समस्या की मीमांसा बहुत ही महत्वपूर्ण है और ग्रेट ब्रिटेन का उसके साथ बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध है।"

चीन में जापान अपने पैर जमाना चाहता था और वह बरा

वर अंगरेजों को इस बात के लिए स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दिया करता था कि तुम लोग हमारे मार्ग में बाधक न होना। जापान ने निरन्तर कई चुनौतियाँ देकर चीन को अपनी आज्ञा मानने के लिए विवश किया था। उसकी इन चुनौतियों के सम्बन्ध में अंगरेजी समाचारपत्रों में खूब टीका-टिप्पणियाँ हुई थीं। उन टीकाओं आदि से जापानी बहुत नाराज हुए थे। उनकी उस नाराजी का कुछ पता टोकियो के '*Universe*' (यूनिवर्स) नामक पत्र के नीचे लिखे लेख से मिल सकता है जो अप्रेल १९१५ में प्रकाशित हुआ था। उस लेख में कहा गया था—" हमारे कुछ अंगरेज विरोधी शायद यह चाहते हैं कि चीन से हम जो काम करा रहे हैं, उसका वे विरोध करें। पर अंगरेज शायद यह बात भूल गये हैं कि जापान ने उनके साथ मित्रता करके १९०५ में रूस के विरुद्ध इंगलैण्ड की बहुत बड़ी सेवा की थी और इस युद्ध में भी वह इंगलैण्ड के प्रशांत महासागर और पूर्वी उपनिवेशों की रक्षा करके उनकी बहुत बड़ी सहायता कर रहा है। जापान ने इंगलैण्ड के साथ इसी लिए मेल किया था कि जिसमें चीन में रूस अपना प्रसार न कर सके और जापान को वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करने का यथेष्ट अवसर मिले। आज अंगरेज लोग जापान के कार्यों का समर्थन नहीं कर रहे हैं और जापान के प्रति उनका जो कर्त्तव्य था, उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। लेकिन इंगलैण्ड को सावधान हो जाना चाहिए। यदि वह कुछ भी विचलित होगा तो जापान उसे सहन न कर सकेगा। जापान इस समय अंगरेजों का साथ छोड़कर रूस के साथ मिलने के लिए बिलकुल तैयार है; क्योंकि रूस के साथ पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में जापान का अच्छी तरह समझौता हो सकता

है। आगे चलकर यदि काम पड़े तो वह जरमनी के साथ मिलने के लिए भी बिलकुल तैयार है। उस दशा में अंगरेजों के उपनिवेश बहुत ही संकट में पड़ जायँगे।"

इस पत्र ने रूस के साथ जापान के मिल जाने के सम्बन्ध में जो भविष्यद्वाणी की थी, वह आगे चलकर बिलकुल ठीक उतरी। क्योंकि उसके एक ही वर्ष बाद जुलाई १९१६ में जापानी और रूसी सरकारों के एक राजनीतिक लेख पर हस्ताक्षर हो गये और इस प्रकार मानों दोनों शक्तियों में मित्रता स्थापित हो गई। उस लेख के द्वारा रूस ने यह बात मंजूर कर ली थी कि अधिकांश चीन में जापान के अधिकार ही प्रधान हैं; और जापान ने यह स्वीकृत कर लिया था कि मंगोलिया और तुर्किस्तान में, जो चीन के अधीनस्थ पश्चिमी राज्य हैं, रूस को विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं। इस प्रकार जापान ने पूर्वी एशिया से एक और गोरी शक्ति को निकाल बाहर किया; क्योंकि चीन पर अधिकार प्राप्त करने की रूस की बहुत दिनों से इच्छा थी; और इसी लिए १९०२ में रूस और जापान में युद्ध हुआ था। पर इस नये समझौते के कारण रूस ने चीन पर अधिकार प्राप्त करने का विचार छोड़ दिया था।

इस बीच में जापानी समाचारपत्र बराबर अंगरेजों का विरोध करते चलते थे। उस विरोध का एक नमूना देखिए। टोकियो के यमाटो पत्र के सम्पादक ने १९१६ में लिखा था—ग्रेट ब्रिटेन हृदय से कभी यह नहीं चाहता था कि जापान के साथ मित्रता स्थापित की जाय। वह कभी हमारे साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहता; क्योंकि मन ही मन वह यह समझता था कि जापान एक ऐसी उठने वाली शक्ति है जो वर्ण और धर्म आदि के विचार से

हम से नितान्त भिन्न है। उसने तो केवल परिस्थितियों के कारण विवश होकर हमारे साथ मित्रता की थी। यदि हम यह समझते हों कि इङ्गलैण्ड को सचमुच हमारी मित्रता का ध्यान था, तो यह हमारी बड़ी भारी भूल है; क्योंकि वास्तव में वह कभी हम से मित्रता स्थापित करना नहीं चाहता था। एक ओर तो उसे भारत और फारस में रूस का डर था और दूसरी ओर उसे जरमनों के बढ़ने का भय था। और इसीलिए उसने विवश होकर हम से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया था।" उन्हीं दिनों जापान में जरमनी के संबंध में भी बहुत सी अच्छी अच्छी बातें कही जाती थीं। युद्ध-काल में जापान ने कभी जरमनों के साथ वास्तविक वैमनस्य या शत्रु-भाव नहीं प्रकट किया। इसमें संदेह नहीं कि जापान ने जरमनी को बड़े अच्छे ढंग से पूर्वी एशिया से निकाल बाहर किया। पर क्याऊचाऊ में उसने जरमनों के साथ जो युद्ध किया था, उसमें उसने जरमनों के प्रति कुछ भी घृणा या तिरस्कार का भाव नहीं प्रकट किया था। युद्ध में जो जरमन क़ैदी पकड़े गये थे, उनके साथ बहुत ही सम्मानपूर्वक व्यवहार किया गया था और जापान में जो जरमन नागरिक रहते थे, उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया गया था। जापानी लेखक साफ कहा करते थे कि जब जरमनी पूर्वी एशिया के साथ कोई सम्बंध न रखे और यह बात मान ले कि चीन में जापान को विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं, तब फिर कोई कारण नहीं है कि जापान और जर्मनी में मित्रता स्थापित न हो। दोनों सरकारों में ग़ैर-सरकारी तौर पर कुछ बातें भी हुई थीं और आज तक इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला कि उन दोनों में किसी प्रकार का दुर्भाव है।

१९१७ में तीन ऐसी बड़ी घटनाएँ हुईं जिनका सारे संसार की परस्थिति पर विशेष प्रभाव पड़ा। एक तो युद्ध में अमेरिका सम्मिलित हुआ, दूसरे चीन ने भी उसका साथ दिया; और तीसरे रूस में राज्यक्रांति हुई। अमेरिका और चीन का युद्ध में सम्मिलित होना जापान को बहुत ही नापसंद हुआ। जो अमेरिका युद्ध के लिए पहले कुछ तैयार न था, वही बात की बात में प्रथम श्रेणी का योद्धा बन गया था जिससे पूर्वी एशिया की परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन होने की सम्भावना हो गई थी। उधर जो चीन पहले राजनीतिक दृष्टि से बिलकुल अकेला पड़ता था, वही अब महायुद्ध में सम्मिलित होने के कारण मित्र राष्ट्रों का साथी बन गया था और वहाँ उसे दो एक मित्र तथा सहायक भी मिल गये थे। यद्यपि उन लोगों की मित्रता अथवा सहायता आगे चल कर बेचारे चीन के कुछ भी काम न आई, तथापि जापान ने उसके महायुद्ध में सम्मिलित होने का घोर विरोध किया था। जब रूस में राज्य-क्रांति हो गई, तब जापान फिर चकराया। १९१६ में तो वह रूस की जारशाही से समझौता कर ही चुका था, पर अब वह जारशाही नष्ट हो गई थी और उसका स्थान नई साम्यवादी सरकार ने ले लिया था। इसलिए जापान को यह चिंता हो रही थी कि यह नई सरकार कैसी होगी, इसके भाव कैसे होंगे, इसका बल कितना होगा, आदि आदि।

पर आगे चलकर जब रूस में एक प्रकार की अराजकता फैल गई, तब जापान को अपने प्रसार के लिए नये नये क्षेत्र दिखलाई देने लगे। उत्तरी मंचूरिया और पूरा साइबेरिया बिल्कुल खाली पड़ा था और वहाँ की सम्पत्ति देख देख कर बहुतों के मुँह

में पानी भर आता था। उस अवसर पर जापानी साम्राज्यवादी तुरंत आगे बढ़ आये और इस बात के लिए आंदोलन करने लगे कि इस समय जापान सरकार को आगे बढ़ कर अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहिए। उस समय रूस में उन बोल्शेविकों की तूती बोल रही थी जो मित्र-राष्ट्रों के विरोधी और जरमनों के पक्षपाती हो गये थे। मित्रों को बोल्शेविकों से बहुत भय था। अतः उनकी गति रोकने के लिए उन्होंने निश्चित किया कि साइबेरिया में सभी राष्ट्रों की सम्मिलित सेना भेजी जाय। बस जापान को बहुत अच्छा अवसर मिल गया और उसने मित्र-राष्ट्रों के पारस्परिक निश्चय की उपेक्षा करते हुए साइबेरिया में अपनी बहुत बड़ी सेना भेज दी और उसके पश्चिम में बैकाल झील तक मानों अपना अधिकार कर लिया और सारा साइबेरिया ही ले लिया। यह बात १९१८ की वसंत ऋतु की है। उस समय मित्र-राष्ट्रों का जरमनों के साथ घोर युद्ध चल रहा था, इसलिए उनको इतना साहस भी न हुआ कि जापान का विरोध तो करें। पर आगे चल कर जब अमेरिका की कृपा से युद्ध का रुख कुछ पलटा और मित्रों की जीत होने लगी, तब मित्रों ने जापान से कैफियत तलब की। इस बात का नेतृत्व अमेरिका ने ग्रहण किया था; क्योंकि वह जापान का पुराना शत्रु था। उस समय जापान के साम्राज्यवादियों और नरम दलवालों में खूब वादविवाद आरंभ हुआ। नरम दलवाले कहते थे कि हमें साइबेरिया से अपनी सेनाएँ वापिस बुला लेनी चाहिएँ और साम्राज्यवादी कहते थे कि इस अवसर पर हमें पीठ नहीं दिखानी चाहिए; और यदि अवसर पड़े तो इसके लिए अमेरिका तक से लड़ जाना चाहिए। पर इसी बीच में समाचार आ

गया कि जरमनी ढीला पड़ गया और बैठना चाहता है। उस समय नरम दलवालों की बन आई और साइबेरिया से बहुत सी जापानी सेनाएँ वापस बुला ली गईं। लेकिन फिर भी वहाँ अधिक सैनिक बल जापान का ही था।

जरमनी के अचानक बैठ जाने और युद्ध के सहसा समाप्त हो जाने से मानों जापान के सभी मन्सूबों और सभी आशाओं पर पानी फिर गया। यद्यपि सरकार ने अपनी ओर से यही प्रकट करने का उद्योग किया कि हमें इस युद्ध की समाप्ति से कोई दुःख नहीं नहीं हुआ, तथापि जापानी प्रजा अपनी निराशा न छिपा सकी। बात यह थी कि युद्ध से जापान को लाभ ही लाभ था। युद्ध की कृपा से वह आप से आप पूर्वी एशिया का स्वामी भी बन गया था और बहुत अधिक धनवान भी हो गया था। ज्यों ज्यों युद्ध के दिन बीतते जाते थे, त्यों त्यों गोरी शक्तियाँ निर्बल होती जाती थीं और जापान का बल बढ़ता जाता था। जापान को आशा थी कि अभी यह युद्ध कम से कम एक वर्ष और चलेगा। ऐसी दशा में यदि युद्ध के सहसा समाप्त हो जाने से जापानी दुखी और निराश हुए हों तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए।

जापान की इस पर-राष्ट्र नीति से कम से कम एक बात का तो पता अवश्य ही चलता है। वह यह कि पूर्वी एशिया में वह केवल अपना ही पूरा पूरा अधिकार रखना चाहता है और गोरी शक्तियों का वह वहाँ कुछ भी हस्तक्षेप नहीं चाहता। लेकिन उसके इस उद्देश्य के कारण गोरों को उससे नाराज नहीं होना चाहिए। हम यह मानते हैं कि जापान की इस उच्चाकांक्षा के कारण पूर्वी एशिया में गोरों के हित की हत्या होती है। हम यह भी मानते हैं

कि इसके कारण गोरों तथा जापान में प्रतियोगिता बढ़ने तथा युद्ध छिड़ने की भी सम्भावना है। लेकिन कोई कारण नहीं है कि इसके लिए जापानी दोषी ठहराये जायँ, या दुष्ट बतलाये जायँ। सभी जातियों को अपनी रक्षा और उन्नति करने का समान अधिकार प्राप्त है। पर किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह बल-पूर्वक दूसरों को नष्ट होने के लिए विवश करे। सब लोग अपनी रक्षा भी करना चाहेंगे और अपना प्रसार भी। जो अपनी रक्षा करना चाहे, उसे स्वार्थी कहना और जो अपनी उन्नति करना चाहे उसे अपराधी ठहराना बड़ी भारी मूर्खता है। ऐसा करने से वैमनस्य, दुर्भाव आदि की ही वृद्धि होती है। गोरे तो पश्चिमी युरोप से चलकर पूर्वी एशिया में अपना अधिकार जमावें और फिर भी सभ्य, शिक्षित तथा परोपकारी कहलावें; और वहीं की रहने वाली पीत जातियाँ यदि अपनी रक्षा और उन्नति के विचार से वहाँ अपने पैर जमाना चाहें तो गोरे उन्हें दुष्ट और स्वार्थी बतलावें ! यह कहाँ का न्याय है ! अब वह समय आ रहा है जब कि इन गोरों की मदान्धता के कारण सारे संसार में घोर विरोध और वैमनस्य फैलेगा और कदाचित युद्ध भी होंगे। यदि गोरे अभी से सँभल जायँगे और बुद्धिमत्ता से काम लेंगे तो संसार अनेक अनर्थों और हानियों से बच जायगा। यदि वे इतनी सम-झदारी भी न खर्च कर सकते हों तो भी उनको इतना अवश्य समझना चाहिए कि अन्य जातियों को भी हमारे आक्रमणों से अपनी रक्षा करने का पूरा अधिकार है। यदि वे कम से कम इतना भी समझ जायँगी, तो भी भावी युद्धों की भीषणता तथा संसार के संकट बहुत कुछ कम हो जायेंगे। और यदि वे इतना भी न

समझेंगे तो संसार के अन्य वर्णों को विवश होकर उनको शिक्षा देनी पड़ेगी, उनकी आँखों में तेज़ अंजन लगाना पड़ेगा, और उनसे उनके पापों का प्रायश्चित कराना पड़ेगा। अब गोरों को अधिकार है कि वे इनमें से जो मार्ग उचित समझें, उसे ग्रहण करें।

यूरोपीय युद्ध के सहसा समाप्त हो जाने से जापानियों के मन्सूबे मिट्टी में मिल गये थे। लेकिन इतना होने पर भी सन्धि के समय वार्सेल्स की कान्फ्रेंस में उसके कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियों ने अपने देश के लिए बहुत बड़ा काम किया। युद्ध काल में जापान ने जितने स्थानों पर अधिकार प्राप्त किया था, उनमें से अधिकांश को उन्होंने अपने हाथ से निकलने न दिया। चीन में जापान ने जो प्रदेश प्राप्त किये थे, चीन के लाख विरोध करने पर भी वे जापान के हाथ में ही रह गये और सन्धि में इस बात का उल्लेख भी हो गया। साथ ही यह बात भी मान ली गई कि चीन के मामलों में जापान को औरों की अपेक्षा विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं। इसका कारण यह था कि मित्र-राष्ट्रों और जापान में चीन के सम्बन्ध में पहले से ही गुप्त समझौता हो चुका था। उस अवसर पर जापान ने एक और काम किया था, जो अन्य वर्णों के लोगों की दृष्टि से बहुत अच्छा था। उसने अन्य वर्णों के लोगों के नेता और सहायक का काम करते हुए यह निश्चय करा लिया था कि अन्य वर्णों के जो लोग दूसरे देशों में जा कर बसना चाहेंगे, उनको भी गोरों के समान ही अधिकार प्राप्त होंगे; और इस बात का उल्लेख उसने सन्धि में भी करा लिया था। यद्यपि अभी इस सिद्धान्त के कार्य-रूप में परिणत होने के कोई विशेष लक्षण नहीं दिखाई देते,

तथापि यही कुछ कम नहीं है कि यह सिद्धांत मान तो लिया गया और इतनी बड़ी सन्धि में उसका उल्लेख तो हो गया। स्वयं जापानी प्रतिनिधियों को ही इस बात की आशा नहीं थी कि इस सिद्धांत का पूरा पूरा पालन होगा और न वे स्वयं ही उस सिद्धांत का पूरा पूरा पालन करना चाहते थे; क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने ही देश में ऐसे कठोर नियम बना रखे थे जिनके अनुसार विदेशियों को जापान में जा कर बसने और वहाँ जमीनें आदि प्राप्त करने में बहुत कठिनता होती है। लेकिन इतना होने पर भी उस समय जापानी प्रतिनिधि एक बहुत अच्छी राजनीतिक चाल चले थे जिससे आगे चलकर उनका भी तथा अन्य वर्णों के लोगों का भी बहुत कुछ लाभ हो सकता था। और इससे जापान का प्रत्यक्ष लाभ तो यह था कि सारे संसार ने यह बात देख ली कि गोरों के मुक़ाबले में जापान ने अन्य वर्णों के लोगों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया है। उसके लिए यही क्या कम था!

इधर पचीस वर्षों में जापान ने पूर्वी एशिया में अपना यथेष्ट प्रसार कर लिया है और अपना बल भी खूब बढ़ा लिया है। एशिया के पूर्व में कामस्चाटका से फिलिपाइन्स तक जितने टापू पड़ते हैं, प्रायः उन सब पर जापान का अधिकार हो गया है। गत महायुद्ध में उसने जरमनी के जिन टापुओं पर अधिकार प्राप्त किया है, उनके कारण प्रशान्त महासागर में उसका नौ-सैनिक बल और भी बढ़ गया है और उसके हाथ में ऐसे स्थान आ गये हैं जिनका जल-युद्ध के समय बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। एशिया के पूर्वी तट पर उसके अधिकार में जो स्थान हैं, वे भी बड़े महत्वपूर्ण हैं। कोरिया और शाण्टुङ्ग पर अधिकार प्राप्त करके वह

मानों चीन का मालिक बन बैठा है। अब वह जब चाहे, तब चीन पर चढ़ाई करके उसे अपने आज्ञानुसार चला सकता है। दक्षिणी चीन में उसे फ़ूकिनका प्रान्त भी मिल गया है, जो उसके फारमोसा टापू के सामने पड़ता है। और सब से बढ़कर बात यह है कि सारे चीन में उसे खानों और रेलों आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं जिनके कारण सारे चीन में जापानियों का एक जाल सा बिछ गया है।

चाहे चीन पर जापान का प्रभुत्व सदा बना रहे और चाहे आज ही दोनों में समानता तथा मित्रता का सम्बन्ध स्थापित हो जाय, पर एक बात पूर्ण रूप से निश्चित है। वह यह कि अब पूर्वी एशिया में गोरों का प्रसार असम्भव हो गया है। अब यदि गोरे फिर पूर्वी एशिया में अपना प्रसार करना चाहेंगे तो उसका परिणाम यही होगा कि जापान के साम्राज्यवादी और चीन के राष्ट्रीय दल वाले मिलकर एक होजायंगे और पूर्वी एशिया में गोरों के अधिकार में जो थोड़े बहुत स्थान बच गये हैं, उन स्थानों से भी गोरे निकाल दिये जायँगे।

जब जापान और चीन में आबादी इतनी अधिक हो जायगी कि फिर उन देशों में वहाँ के निवासियों के रहने के लिए स्थान न रह जायगा और जब उन देशों के निवासियों को अपने बल का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा, तब वे दोनों आपस में बहुत अच्छा समझौता कर लेंगे, और उस समझौते के बाद ही गोरों को पूर्वी एशिया से हाथ धोना पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन दोनों देशों की आबादी दिन पर दिन बढ़ती जाती है और इस वृद्धि का पूर्वी एशिया के भविष्य पर पूरा पूरा प्रभाव पड़ेगा।

इसलिए इस बात का कुछ विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है कि यह बढ़ती हुई आबादी अपने देश में कहाँ तक खप सकेगी और दूसरे किन किन देशों में उसका सहज में निकास और निर्वाह हो सकेगा, क्योंकि आगे चलकर वर्ण सम्बन्धी जो झगड़ा होगा, उसकी भीषणता आदि पर इस निकास और निर्वाह का बहुत प्रभाव पड़ेगा।

पहले जापान को ही लीजिये। इस समय वहाँ की आबादी लगभग ६,००,००,०००, है और उसमें प्रति वर्ष प्रायः ८,००,००० की वृद्धि होती है। यद्यपि चीन की आबादी का कोई ठीक ठीक लेखा इस समय प्राप्त नहीं है, तथापि वहाँ की ४०,००,००,००० आबादी में जापान की जन-संख्या की वृद्धि के हिसाब से प्रति वर्ष ६०,००,००० की वृद्धि होनी चाहिए। कृषि के विचार से इन दोनों देशों में जहाँ तक आबादी हो सकती है, वहाँ तक तो आबादी हो ही चुकी है। अब यदि वहाँ की बढ़ती हुई आबादी को भी अपने देश में ही रहना और निर्वाह करना पड़े तो कुछ अंशों में यह भी सम्भव है, जब कि वहाँ आधुनिक प्रणालियों और मशीनों आदि की सहायता से खेती-बारी की जाय। दोनों ही देशों में इस समय थोड़ी बहुत ऐसी जमीन है जो आबाद हो सकती है। जापान के उत्तरी टापू होकैडो में इस समय बहुत जमीन खाली पड़ी है जो आबाद की जा सकती है। इसके अतिरिक्त और टापुओं में भी थोड़ी बहुत जमीन मिल सकती है। हाँ, कोरिया और मंचूरिया में बहुत अधिक ऐसी जमीन है जो आबाद हो सकती है। पर वहाँ कोरियनों और चीनियों में जो प्रतियोगिता चलती है, उसके कारण जापानियों का उपनिवेश सहज में स्था-

पित नहीं हो सकता। चीन साम्राज्य में ऐसी जमीन बहुत अधिक है जो बसाई जा सकती है। मंगोलिया और चीनी तुर्किस्तान में यदि रेलें और सड़कें आदि बन जायँ तो वहाँ बहुत सी जमीन निकल सकती है जिससे लाखों करोड़ों चीनियों का निर्वाह हो सकता है। मंचूरिया में चीनियों की आबादी बढ़ भी रही है; और जापान चाहे कितनी ही बाधाएँ क्यों न खड़ी करे, पर अभी वहाँ चीनियों की आबादी बढ़ती ही जायगी। तिब्बत की अधित्यका में यद्यपि बहुत अधिक जाड़ा पड़ता है, तथापि वहाँ भी कुछ लोगों का निर्वाह हो ही सकता है।

तथापि चीन या जापान में इतनी ज्यादा गुंजाइश नहीं है कि वहाँ की दिन पर दिन बढ़ती हुई आबादी वहाँ खप सके। दस-बीस वर्ष के लिए तो कोई हर्ज नहीं है, पर हाँ दो चार पीढ़ियों के बाद वहाँ जमीन का भीषण अकाल हो जायगा। उस दशा में चीनियों और जापानियों को विवश होकर पूर्वी एशिया के उन भागों में प्रवेश करने का उद्योग करना पड़ेगा जो इस समय गोरों के शासन में हैं और जिनमें प्रायः पीत वर्ण के लोग बसते हैं। अथवा उन देशों में घुसना पड़ेगा जिनमें गोरों का शासन भी है और गोरों की ही आबादी भी। जिन देशों में इस समय गोरों का केवल शासन है और जिनमें गोरों की नहीं बल्कि अन्य वर्णों के लोगों की आबादी है, उन देशों में तो सम्भव है कि गोरी जातियाँ पीत वर्ण वालों की आबादी का उतना अधिक विरोध न करें, पर जिन देशों में गोरों का ही शासन और गोरों की ही आबादी है, उन देशों में यदि पीत वर्ण वाले प्रवेश करना चाहेंगे तो गोरे स्वभावतः उनका विरोध करेंगे औ उस दशा में दोनों में युद्ध होगा।

पहले उन देशों को लीजिए जिनमें शासन तो गोरों का और आबादी अन्य वर्णों की है। चीन और आस्ट्रेलिया के बीच में जितने प्रायद्वीप और द्वीपपुंज हैं, उनमें पीत वर्ण वाले और विशेषतः चीनी बहुत अच्छी तरह जा कर बस सकते हैं। वास्तव में वे सब देश अन्य वर्णों के ही निवास-स्थान हैं और उनमें से केवल स्याम को छोड़कर शेष सब देश राजनीतिक दृष्टि से गोरों के ही अधिकार में हैं। उन विशाल देशों के स्वामी ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, हालैण्ड और अमेरिका के संयुक्त राज्य हैं। उन देशों के निवासी बहुत दिनों से गुलामी में रहने के कारण, भारतवासियों की भांति, प्रायः अयोग्य और निर्बल हो गये हैं। हम यह मानते हैं कि उनमें कुछ जंगली भी हैं, पर जो कुछ कुछ सभ्य भी हैं, वे भी सब प्रकार से अशक्त ही कर दिये गये हैं। इस दशा में उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि जिस समय चीनी उनके देशों में जाकर बसने लगेंगे, उस समय वे किसी प्रकार उनका विरोध कर सकेंगे और उनके मुक़ाबले में ठहर सकेंगे। ब्रिटिश स्ट्रेटस सेटिलमेण्टस, उत्तर बोर्नियो, फ्रेन्च इण्डोचाइना डच इण्डीज, अमेरिकन फिलिपाइन्स, अथवा स्वतंत्र स्याम में ही जहाँ तक हो सका है, चीनियों ने पहुँच कर वहाँ के निवासियों की अपेक्षा अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है। वे वहाँ जाकर बस गये हैं और वहीं के निवासियों की अपेक्षा अच्छी तरह रहते हैं। स्ट्रेटस सेटिल्मेण्टस में चीनियों को यथेष्ट स्वतंत्रता प्राप्त है, इसलिए वहाँ के मूल निवासी तो मानों चीनियों के मुक़ाबले में बिलकुल नष्ट ही होते जा रहे हैं। वहाँ के मूल निवासी घटते जाते हैं और चीनी बढ़ते जाते हैं। इन देशों में चीनियों का

प्रसार रोकने के लिए यदि कोई बन्धन है तो वह प्रायः कानूनी बन्धन ही है जो बनावटी है और आवश्यकता पड़ने पर सहज में तोड़ा जा सकता है। बहुत से विचारवान् तो अभी से यह कहने लगे हैं कि इन प्रदेशों के मूल निवासी बिलकुल नष्ट हो जायँगे और वहां चीनियों की पूरी बस्ती बस जायगी। एलेन आयर्लेण्ड नामक एक विद्वान् का मत है—"यह अनुमान करने के यथेष्ट कारण हैं कि पूर्वी और दक्षिण एशिया में कर्क रेखा और मकर रेखा के बीच में, भारतवर्ष को छोड़कर और जितने प्रदेश हैं, उन सब में चीनी यदि अपनी वर्तमान गति से ही बढ़ते रहे, तोभी धीरे धीरे वे उन सब प्रदेशों के मूल निवासियों को हजम कर जायेंगे और उनका स्थान स्वयं ग्रहण कर लेंगे"। सम्भव है कि यह बात ठीक हो; और ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि चीनियों के प्रसार के लिए पूर्वी एशिया में यथेष्ट स्थान है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चीनियों का यह प्रसार तभी हो सकता है जब और देशों के निवासियों का चीनियों के प्रसार के लिए नष्ट हो जाना अभीष्ट मान लिया जाय। पर प्रश्न तो यह है कि क्या गोरों के पास बहुत सी भूमि बिलकुल खाली पड़ी रहे और चीनियों के प्रसार के लिए अन्य देशों के निवासियों का सहज में नाश हो जाय ? क्या वर्तमान सभ्य संसार ऐसी परिस्थिति चुपचाप देखने के लिए तैयार है ? और फिर यह कौन कह सकता है कि जिस समय उन देशों के निवासियों का चीनियों के प्रसार के कारण नाश होने लगेगा, उस समय वे भी चैतन्य न हो जावेंगे, और उन चीनियों के प्रसार का भी उसी प्रकार विरोध न करने लगेंगे जिस प्रकार इस समय संसार के अन्य वर्णों के

लोग गोरों के प्रसार का विरोध कर रहे हैं ? कहा जाता है कि इस समय डच इण्डीज में केवल ८०,००,००० आदमी बसते हैं; जो प्रायः जंगली हैं। और वहाँ सहज में १०,००,००,००० आदमी बस सकते हैं; इसलिए यदि चीनी चाहें तो वहाँ जाकर अच्छी तरह निर्वाह कर सकते हैं, पर ऐसी बात क्यों कही जाती है ? डच इण्डीज के मूल निवासियों के प्रदेश का मार्ग चीनियों को क्यों दिखलाया जाता है ? इसी लिए न कि जिन अन्य बड़े बड़े खाली प्रदेशों को यूरोपियनों ने अपने लिए अलग रख छोड़ा है, उनमें वे पैर पसार कर सोएँ और चीनियों के द्वारा डच इण्डीज के निवासियों के नाश का तमाशा मजे में देखा करें ?

खैर, हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लेते हैं कि गोरे प्रभुओं को तंग करना ठीक नहीं है और यदि चीनियों का निर्वाह अपने देश में न होता हो, तो उन्हें उचित है कि वे अपने आस पास के उन प्रदेशों में जा बसें, जिनमें गोरों का केवल शासन है और जहाँ अन्य वर्णों के लोग बसते हैं। पर जापान की बढ़ती हुई प्रजा क्या करे ? चीनी लोग जैसी ऋतुओं और परिस्थितियों में अपना निर्वाह कर सकते हैं, वैसी ऋतुओं और परिस्थितियों में जापानियों का निर्वाह नहीं हो सकता। गोरों की तरह जापानी भी गरम देशों में सदा के लिए नहीं बस सकते, और न वे गोरों की तरह बहुत अधिक ठंढे प्रदेशों में ही रह सकते हैं। फारमोसा यद्यपि बहुत अधिक गरम देश नहीं है, तथापि जापानियों को वहाँ रहने में बहुत कष्ट होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि जापान के उत्तरी टापू होकैड़ो में बहुत सी जमीन खाली पड़ी है। पर जापानी लोग अपने उस टा को भी इसी लिए आबाद नहीं

कर सकते कि वहाँ जाड़ा बहुत पड़ता है। ऐसी दशा में यह स्वतः सिद्ध है कि अभी हमने एशिया के जो गरम देश चीनियों के बसने योग्य बतलाये हैं, वे जापानियों के किसी काम के नहीं हैं। जापानी उन प्रदेशों का अधिक से अधिक वही उपयोग कर सकते हैं जो इस समय गोरे कर रहे हैं। अर्थात् वे वहाँ जाकर प्राकृतिक सम्पत्ति आदि से लाभ उठा सकते हैं, जो सम्पत्ति वास्तव में उन देशों के मूल निवासियों की होनी चाहिए, उस पर बलपूर्वक वे अपना अधिकार कर सकते हैं—उसका अपहरण कर सकते हैं। जापान की बढ़ती हुई प्रजा वहाँ किसी प्रकार बस नहीं सकती। यदि जापानी वहाँ जाकर केवल व्यापार आदि भी करने लगें तो भी एक झगड़ा बना ही रह जायगा। वह यह कि चीनी तो वहाँ जाकर बसते ही रहेंगे; उस दशा में जापानियों को उनके साथ भीषण प्रतियोगिता करनी पड़ेगी; क्योंकि चीनी लोग जिस प्रकार जापानियों की अपेक्षा बसती बसा कर रहने में तेज हैं, उसी प्रकार वे जापानियों की अपेक्षा व्यापार करने में भी तेज है। चाहे इस समय जापान ने पूर्वी साइबेरिया में अपनी सेना भले ही रख छोड़ी हो, पर फिर भी उसकी बढ़ती हुए जन-संख्या का वहाँ किसी प्रकार निर्वाह नहीं हो सकता। हाँ, चीनी वहाँ भी मजे में रह सकते हैं। यदि आज थोड़े से चीनी वहाँ आ कर बस जायँ तो थोड़े ही दिनों में वहाँ उनकी बहुत बड़ी बस्ती तैयार हो सकती है। पर जो जापानी होकैडो का जाड़ा भी नहीं सह सकते, वे साइबेरिया के जाड़े में क्योंकर अपना निर्वाह कर सकेंगे ?

इस प्रकार जापानी न तो एशिया के उत्तर के खाली मैदानों

लोग गोरों के प्रसार का विरोध कर रहे हैं ? कहा जाता है कि इस समय डच इण्डीज में केवल ८०,००,००० आदमी बसते हैं; जो प्राय: जंगली हैं। और वहाँ सहज में १०,००,००,००० आदमी बस सकते हैं; इसलिए यदि चीनी चाहें तो वहाँ जाकर अच्छी तरह निर्वाह कर सकते हैं, पर ऐसी बात क्यों कही जाती है ? डच इण्डीज के मूल निवासियों के प्रदेश का मार्ग चीनियों को क्यों दिखलाया जाता है ? इसी लिए न कि जिन अन्य बड़े बड़े खाली प्रदेशों को यूरोपियनों ने अपने लिए अलग रख छोड़ा है, उनमें वे पैर पसार कर सोएँ और चीनियों के द्वारा डच इण्डीज के निवासियों के नाश का तमाशा मजे में देखा करें ?

खैर, हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लेते हैं कि गोरे प्रभुओं को तंग करना ठीक नहीं है और यदि चीनियों का निर्वाह अपने देश में न होता हो, तो उन्हें उचित है कि वे अपने आस पास के उन प्रदेशों में जा बसें, जिनमें गोरों का केवल शासन है और जहाँ अन्य वर्णों के लोग बसते हैं। पर जापान की बढ़ती हुई प्रजा क्या करे? चीनी लोग जैसी ऋतुओं और परिस्थितियों में अपना निर्वाह कर सकते हैं, वैसी ऋतुओं और परिस्थितियों में जापानियों का निर्वाह नहीं हो सकता। गोरों की तरह जापानी भी गरम देशों में सदा के लिए नहीं बस सकते, और न वे गोरों की तरह बहुत अधिक ठंढे प्रदेशों में ही रह सकते हैं। फारमोसा यद्यपि बहुत अधिक गरम देश नहीं है, तथापि जापानियों को वहाँ रहने में बहुत कष्ट होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि जापान के उत्तरी टापू होकैड़ो में बहुत सी जमीन खाली पड़ी है। पर जापानी लोग अपने उस टा को भी इसी लिए आबाद नहीं

कर सकते कि वहाँ जाड़ा बहुत पड़ता है। ऐसी दशा में यह स्वतः सिद्ध है कि अभी हमने एशिया के जो गरम देश चीनियों के बसने योग्य बतलाये हैं, वे जापानियों के किसी काम के नहीं हैं। जापानी उन प्रदेशों का अधिक से अधिक वही उपयोग कर सकते हैं जो इस समय गोरे कर रहे हैं। अर्थात् वे वहाँ जाकर प्राकृतिक सम्पत्ति आदि से लाभ उठा सकते हैं, जो सम्पत्ति वास्तव में उन देशों के मूल निवासियों की होनी चाहिए, उस पर बलपूर्वक वे अपना अधिकार कर सकते हैं— उसका अपहरण कर सकते हैं। जापान की बढ़ती हुई प्रजा वहाँ किसी प्रकार बस नहीं सकती। यदि जापानी वहाँ जाकर केवल व्यापार आदि भी करने लगें तो भी एक झगड़ा बना ही रह जायगा। वह यह कि चीनी तो वहाँ जाकर बसते ही रहेंगे; उस दशा में जापानियों को उनके साथ भीषण प्रतियोगिता करनी पड़ेगी; क्योंकि चीनी लोग जिस प्रकार जापानियों की अपेक्षा बसती बसा कर रहने में तेज हैं, उसी प्रकार वे जापानियों की अपेक्षा व्यापार करने में भी तेज हैं। चाहे इस समय जापान ने पूर्वी साइबेरिया में अपनी सेना भले ही रख छोड़ी हो, पर फिर भी उसकी बढ़ती हुए जन-संख्या का वहाँ किसी प्रकार निर्वाह नहीं हो सकता। हाँ, चीनी वहाँ भी मजे में रह सकते हैं। यदि आज थोड़े से चीनी वहाँ आ कर बस जायँ तो थोड़े ही दिनों में वहाँ उनकी बहुत बड़ी बस्ती तैयार हो सकती है। पर जो जापानी होकैड़ों का जाड़ा भी नहीं सह सकते, वे साइबेरिया के जाड़े में क्योंकर अपना निर्वाह कर सकेंगे ?

इस प्रकार जापानी न तो एशिया के उत्तर के खाली मैदानों

में ही बस सकते हैं और न उसके दक्षिण के कम बसे हुए प्रदेशों में ही। यदि उनका निर्वाह हो सकता है तो उत्तर अमेरिका और आस्ट्रेलिया में ही। पर उन सब स्थानों पर गोरों ने पूरा पूरा अधिकार जमा रखा है और वहाँ वे अन्य वर्णों के लोगों को घुसने ही नहीं देते। यदि जापानियों को अंत में विवश होकर वहाँ जाना ही पड़ा, तो भीषण युद्ध निश्चित और अनिवार्य है। उस दशा में सारे संसार की शांति का भंग हो जायगा। जापानियों में देश-प्रेम पराकाष्ठा का है, वे अपने देश को सारे देशों का नेता बनाना चाहते हैं और सब प्रकार से अपना प्रसार करना चाहते हैं। वे अपने पड़ौस में विकराल चीन को देखते हैं जिसकी वृद्धि बहुत ही भीषण रूप से हो रही है। वे अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हम अपने निवास-स्थान और राजनीतिक अधिकार का विस्तार न करेंगे, तो हमारा नाश अवश्यम्भावी है। यदि जापान को सचमुच जीवित रहना और उन्नति करना है, तो उसे नये प्रदेशों पर भी अवश्य ही अधिकार करना पड़ेगा। उसकी आक्रमणकारी पर-राष्ट्र-नीति उसकी भीषण साम्राज्य-लिप्सा का, उसके विजय स्वप्नों का ही रहस्य है।

जापानी बहुत दिनों से यह चाहते हैं कि हम अपनी तलवार के ज़ोर से एक विशाल साम्राज्य स्थापित करें। १९०९ में एक जापानी ने Mastery of the Paicific प्रशांत महासागर का प्रभुत्व नामक एक ग्रन्थ लिखा था। उस पर एक स्थान पर कहा गया था—"जब कभी युद्ध होगा, तब जापान मानों ऐन्द्रजालिक बल से अपने बेड़ों की सहायता से प्रशान्त महासागर पार कर जायगा। उन बेड़ों में ऐसे ऐसे आदमी रहेंगे जिन्होंने नेल्सन को

अपना आदर्श मान रखा है और उनके बेड़ों को प्रशांत महासागर में वैसी ही विजय प्राप्त होगी, जैसी नेल्सन को ट्रैफल्गार में हुई थी। चाहे जापान यह बात मुँह से कहे और चाहे न कहे, पर इसमें संदेह नहीं कि उसका मुख्य उद्देश्य प्रशांत महासागर पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही है। चाहे इस समय सारे संसार में कितनी ही शान्ति क्यों न हो, पर फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि सब राष्ट्रों में कब भीषण युद्ध छिड़ जायगा। जापान को विजय प्राप्त करने के लिए अंगरेजों की सहायता की आवश्यकता नहीं है। जापान और ग्रेट ब्रिटेन की मित्रता जब चाहे तब टूट जाय। उससे जापान कभी परास्त नहीं होगा। जापान अपने जहाजों के भरोसे नहीं बल्कि अपने आदमियों के भरोसे विजय प्राप्त करेगा।"

गत महायुद्ध के कारण तो जापानियों के वे भाव और भी बढ़ गये हैं। अब वे समझ रहे हैं कि हम तो पहले की अपेक्षा बलवान् हो गये हैं और गोरे अपना बहुतसा बल गँवा चुके हैं। अब उनको आशा हो गई है कि अवसर पड़ने पर हम गोरों की दुर्बलता और विपत्ति से यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे। १९१९ में काउण्ट ओकुमा के 'होची' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था—
"एक वह समय था जब कि जापानियों को अपनी उन्नति करने के लिए अंगरेजों और अमेरिकनों की मित्रता तथा सहायता की आवश्यकता थी। पर अब वे दिन गये। अब हमें पूर्व की ओर नहीं बल्कि पश्चिम की ओर के लोगों से मित्रता करनी चाहिए। अब रूस के बोल्शेविकों का अन्त हो जाना चाहिए और वहाँ अधिक शान्त दल का शासन स्थापित हो जाना चाहिए। यदि वहां

अधिक शान्त दल का शासन स्थापित हो जायगा तो वहां जापान को एक वहुत अच्छा मित्र मिल जायगा। हम लोग पश्चिम में वाल्कन, जरमनी, फ्रान्स और इटली की ओर वढ़कर संसार के वहुत वड़े अंश को अपने अधिकार में ला सकते हैं। शान्ति महासभा में एंग्लो सेक्सनों ने जो जो अत्याचार किये हैं, उनके कारण उनसे देवता भी रुष्ट हो गये हैं और मनुष्य भी। कुछ लोग अपने छोटे मोटे स्वार्थों के कारण इस समय उनका साथ दे रहे हैं। पर अन्तिम निर्णय उसी प्रकार होगा जिस प्रकार हमने अभी वतलाया है।"

नीचे दिये हुए एक लेख से भी, जो १९१३ में लिखा गया था, यह पता चल सकता है कि जापानियों की साम्राज्य-लिप्सा कहाँ तक वढ़ी हुई है—

"हमारी जाति की जन-संख्या ५,००,००,००० है, और इतनी ही जन-संख्या से हम सारे संसार को जीतना और अपने वश में रखना चाहते हैं। अवश्य ही यह एक वड़ी विलक्षण वात है। पहले तो हमारे पास चीन है। हम चीन से होते हुए और उसे अपने साथ मिलाते हुए आगे वढ़ेंगे। रूम ने लेटियम से होते हुए इटली पर और इटली से होते हुए भूमध्य सागर पर विजय प्राप्त की थी। नेपोलियन ने भी इटली पर से होते हुए जरमनी पर और जरमनी पर से होते हुए सारे यूरोप पर विजय प्राप्त की थी। इंग्लैण्ड भी आज कल अपने उपनिवेशों की सहायता से, जिन्हें वह अपने मतलव के लिए अपना मित्र और साथी वतलाता है, जरमनी पर विजय प्राप्त करना चाहता है। इसी प्रकार हम भी चीन पर विजय प्राप्त करके उसे अपना लेंगे

और तब उसे अपने आप में मिलाकर हम '५, ००, ००, ००० से '५०,००,००,००० हो जायँगे, और हमारे पास के करोड़ों रुपये अरबों तक जा पहुंचेंगे।"

"हमारे भाइयों ने अबतक कैसे अच्छे अच्छे काम किये हैं! हमारे राजनीतिज्ञ उनको कैसे अच्छे मार्ग पर ले गये हैं! आज तक हम लोगों ने कोई भूल तो की ही नहीं। और अब आगे भी हम से कोई भूल न होनी चाहिए। १८९५ में हमने चीन पर विजय प्राप्त की थी। पर उस समय हमने लूट में जो माल पाया था, वह रूस, जरमनी और फ्रांस ने हम से छीन लिया। तब से आज तक हमारा बल कितना बढ़ा है! और अब भी वह बराबर बढ़ता ही जाता है। दस ही बरस के अन्दर हमने रूस से बदला चुका लिया, उसको यथेष्ट दण्ड दिया और उससे अपना माल वापस छीन लिया। बीस बरस में हमने जरमनी से बदला चुका कर अपना माल वापस ले लिया। फ्रांस से बदला चुकाने की अभी कोई जल्दी है ही नहीं उसने अभी यह बात अच्छी तरह समझली है कि जब उसके देश में शत्रु घुस आये, तब हमें उसकी रक्षा के लिए अपने सैनिक क्यों नहीं भेजे! यदि हम अपने सैनिक फ्रान्स भेज देते तो अवश्य ही तुरन्त जरमनों को वहाँ से निकाल देते। पर फ्रान्स को शिक्षा देने के लिए हमने ऐसा नहीं किया। एशिया में उसके जो उपनिवेश आदि हैं, उनकी रक्षा वह अभी से अच्छी तरह करने लगा है। पर फिर भी वह समझता है कि अन्त में उसके उपनिवेश हमारे ही हाथ में आ जायँगे। पर उससे निपटने के लिए जल्दी की कोई आवश्यकता नहीं है। चोरों की सब लोग निन्दा करते हैं, और कीर्तिपूर्वक विजय प्राप्त करने वालों की प्रशंसा।"

"सवारी के लिए हमें चीन बहुत बढ़िया घोड़ा मिल गया है। पर यह घोड़ा बहुत दिनों से जंगल में घूमता रहा है और कुछ कमजोर हो गया है। उसे कुछ खरहरे, दाने, घास और सधाने की जरूरत है। दूसरी बात यह है कि अभी काठी आदि भी उसपर अच्छी तरह नहीं रखी गई है। क्या यह घोड़ा और यह काठी युद्ध की कठिनाइयों में ठीक ठीक काम दे सकेंगे ? और फिर युद्ध की वे कठिनाइयां कैसी और कितनी होंगी ?"

"उस मोटे ताजे बेवकूफ अमेरिका के पास धन तो बहुत है और वह भावुक भी बहुत है। पर उसमें न तो संगठन है और न शासन करने की योग्यता यदि वह अकेला हमारे मुकाबले पर आवे, तो हमें अपने चीनी घोड़े की भी जरूरत नहीं है। हमें अकेले ही उससे निपट लेंगे। अभी हाल में हमारे एक मित्रने अमेरिका वालों के सम्बन्ध में बहुत ठीक कहा था कि वे ऐसे चोर हैं जिनका हृदय खरगोशों का सा है। किसी योद्धा जाति के लिए अमेरिका कोई शत्रु नहीं है, बल्कि ऐसा पका हुआ तरबूज है जो काटकर खाने के लिए बिलकुल तैयार है। पर हाँ, इंग्लैण्ड और जरमनी आदि दूसरे योद्धा राष्ट्र मौजूद हैं। क्या वे हमें अकेले ही ऐसे बढ़िया माल पर हाथ साफ करने देंगे ?"

"लेकिन चीन को अपना घोड़ा बनाकर क्या हमें पहले स्थल की ओर बढ़ना चाहिए ? क्या हमें भारत पर आक्रमण करना चाहिए ? अथवा प्रशान्त महासागर को अपने हाथ में लेना चाहिए, जिसे प्राप्त करने का हमें उतना ही अधिकार है जितना इंगलैण्ड को एटलान्टिक अपने हाथ में रखने का है ! हमारे लिए भारत आकर्षक और सहज तो है, पर उसमें खतरा भी है। यदि

हम वहाँ से आरम्भ करेंगे तो गोरी जातियाँ तुरन्त सचेत हो जायँगी और सब मिल कर हमें सदा के लिए उन्हीं पुरानी असह्य सीमाओं में बन्द कर देंगी । इसलिए हमें पहले समुद्र की ओर ही बढ़ना चाहिए । पर समुद्र की ओर बढ़ने का मतलब पश्चिमी अमेरिका तथा उसके मार्ग में पड़ने वाले टापुओं की ओर बढ़ना है । और उसके साथ ही आस्ट्रेलिया और भारत का भी सफ़ाया हो जायगा । और तब फिर बाकी संसार के लिए, बाकी उत्तर अमेरिका के लिए, लड़ना रह जायगा । और जब एक बार उत्तर अमेरिका हमारे हाथ में आ जायगा, तब फिर सब कुछ हमारे हाथ में आ जायगा । उस समय हमारे हाथ में ऐसा राज्य हो जायगा जो सब प्रकार से हमारे सरीखे राष्ट्र के लिए उपयुक्त होगा ।"

"केवल उत्तर अमेरिका में ही अरबों आदमी रह सकेंगे और वे अरबों आदमी जापानी और उनके गुलाम होंगे । न तो सूखा हुआ एशिया, न पुराना यूरोप जो अपनी विचित्र और पुरानी परम्पराओं तथा रिवाजों के कारण इतिहास आदि के विचार से सुरक्षित रहना चाहिए—और न गरम आफ्रिका ही हम लोगों के लिए उपयुक्त है। आह ! वह हरा-भरा बढ़िया उत्तर अमेरिका हमारे ही द्वारा आविष्कृत होता और हम ही उसके मालिक होते ! पर खैर, अगर ऐसा नहीं हुआ तो अब हम उससे भी बढ़िया उपाय करके, उस पर विजय प्राप्त करके उसे अपने अधिकार में लावेंगे ।"

इसके उपरान्त इस जापानी साम्राज्यवादी ने इस बात पर विचार किया है कि यह कार्य-क्रम किस प्रकार पूरा किया जा सकता है । यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह लेख

जिस समय लिखा गया था, उस समय अमेरिका वाले बड़े ही शान्तिप्रिय थे और वह देश किसी से लड़ने भिड़ने के लिए जरा भी तैयार न था। यह ठीक है कि सभी जापानी ऐसे शेखचिल्ली साम्राज्यवादी नहीं हैं। पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि हाँ ऐसे ही विचार वालों का एक जबरदस्त दल वहाँ है और उससे गोरी जातियाँ मन ही मन भयभीत हो रही हैं।

धूसर वर्ण

(३)

धूसर वर्ण के लोग पश्चिमी तथा मध्य एशिया में बसते हैं। उनमें से कुछ तो दक्षिणी तथा पश्चिमी एशिया में हैं और कुछ उत्तर आफ्रिका में। धूसर और पीत वर्ण के लोगों की संख्या में कुछ विशेष अंतर नहीं है। यदि पीत वर्णवाले ५०,००,००,००० हैं तो धूसर वर्ण वाले ४५, ००, ००, ००० हैं। पर अधिकांश दूसरी बातों में इन दोनों वर्णों में बहुत अधिक अन्तर है। पहली बात तो यह है कि पीत वर्ण वाले एशिया के एक विशिष्ट भाग में ही रहते हैं, पर धूसर वर्णवाले बहुत दूर दूर तक फैले हुए हैं। उनके रहने के देशों का विस्तार अपेक्षा कृत बहुत अधिक है और उन देशों की प्राकृतिक अवस्थाओं में भी बहुत भेद है।

इस भौगोलिक भेद के कारण धूसर वर्ण के भिन्न भिन्न अंशों के इतिहास में भी बहुत अन्तर है और उनके स्वभाव तथा गुण आदि में भी। पीत वर्ण के लोग तो शुरु से सारे संसार से अलग रहते आये हैं। पर धूसर वर्ण के लोग दूर दूर तक फैले होने के कारण प्रायः विदेशियों के प्रभाव में पड़ते रहे हैं और उनमें समय समय पर अनेक प्रकार के विकास और परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत

दिनों से यही होता रहा है कि धूसर वर्ण के इन भिन्न भिन्न देशों में या तो विदेशी आ कर बसते रहे हैं और या वे उनपर आक्रमण करके विजय प्राप्त करते और उनके देश में ही रहते आये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि या तो उनमें बहुत से विदेशी समा गये हैं, और या विदेशियों के आ मिलने के कारण उनमें कई प्रकार की वर्ण-संकरता उत्पन्न हो गई है। पीत वर्ण वालों में जो एक निज की विशेषता पाई जाती है, वह विशेषता धूसर वर्ण में नहीं है। बल्कि उसके कई अलग अलग भाग हो गये हैं, जो अनेक बातों में एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। इनमें से फारस और तुर्की के रहने वाले कुछ गोरे हो गये हैं और भारत वासी तथा यमन के अरब प्रायः धूसर वर्ण के ही रह गये हैं उधर हिमालय तथा मध्य एशिया में रहने वाले धूसर वर्ण के लोगों में पीत वर्णवालों का कुछ मिश्रण हो गया है। पीत और गौर वर्ण के लोगों की सभ्यता में एक निज की विशेषता अथवा विभिन्नता है, जो इन धूसर वर्ण वालों की सभ्यता में नही है। धूसर वर्ण के अधिकांश लोगों में यदि कोई एकता है तो वह धार्मिक एकता है, क्योंकि वे अधिकांश में मुसलमान हैं। पर धूसर वर्ण के लोगों का मुख्य निवास-स्थान यह भारत है जिसके अधिकांश निवासी हिन्दू हैं और जिसमें केवल एक पंचमांश ही मुसलमान रहते हैं।

परन्तु इतना होने पर भी इन धूसर वर्णवालों में एक बात की एकता है। चाहे उन लोगों में पारस्परिक झगड़े कितने ही क्यों न हों पर वे सब इतना अवश्य समझते हैं कि हम सब एशिया के निवासी हैं। उनमें यह भाव हजारों वर्षों से है और आज तक ज्यों का त्यों पाया जाता है। विशेषतः उस समय उनका

यह भाव और भी तीव्र रूप धारण कर लेता है जब उनको विदेशियों अर्थात् गोरी जाति के लोगों से काम पड़ता है। धूसर और गौर वर्ण के लोगों का विरोध बहुत दिनों से चला आता है। कभी धूसर वर्ण के लोग गोरों पर आक्रमण करके उनके स्वामी बन जाते हैं और कभी गोरे धूसर वर्ण वालों पर अधिकार कर लेते हैं। यह चक्र बहुत दिनों से बराबर चला ही चलता है। इधर चार सौ वर्षों से गोरी जातियों ने धूसर वर्ण वालों पर अधिकार जमा रक्खा है। विशेषतः इधर सौ वर्षों से तो गोरों ने धूसर वर्णवालों पर अभूत-पूर्व रूप से आक्रमण आरम्भ कर दिया है, और धूसर वर्णवालों का सारा समय बड़ी कठिनता से अपना बचाव करने में ही बीतता है।

यहाँ पीत वर्ण और धूसर वर्ण के लोगों में एक और अन्तर है। वह अन्तर यह है कि पीत वर्ण वालों ने तो पहले पहल गत शताब्दि के मध्य में ही गोरों के कष्टदायक आक्रमण का अनुभव किया था, और उस समय तक भी उन्होंने अपनी पूरी राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं खो दी थी, और जब उन्होंने इन गोरों के सामने दबकर अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खो दी, तब शीघ्र ही उन्हें अपनी परतंत्रता का ज्ञान हो आया और उन्होंने पुनः स्वतंत्र होने के लिए उद्योग आरम्भ कर दिया। इस समय तक उन्होंने बहुत से अंशों में अपनी खोई हुई स्वतंत्रता फिर से पा भी ली है। पर धूसर वर्णवालों पर गोरों का आक्रमण बहुत पहले से आरम्भ हो गया था; क्योंकि ये उनके निवास-स्थान के समीप ही पड़ते थे और इनके देशों पर अनेक अंशों में गोरों का अधिकार भी हो गया था। यद्यपि आज तक धूसर वर्ण वालों के कुछ देशों की थोड़ी बहुत स्वतंत्रता बनी हुई है,

पर इसका कारण यह नहीं है कि वे देश स्वयं ही बलवान् हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि उनके सम्बन्ध में गोरों में ही परस्पर प्रतियोगिता चल रही है। तो भी गोरों ने धीरे धीरे करके धूसर वर्ण के अधिकांश देशों पर अपना अधिकार जमा ही लिया है। १९१४ में जिस समय महायुद्ध आरम्भ हुआ था, उस समय तुर्की, फारस और अफ़गानिस्तान यही तीन ऐसे देश बच गये थे जो थोड़े बहुत स्वतंत्र थे। पर इस महायुद्ध ने उनकी वह थोड़ी बहुत बची खुची स्वतंत्रता भी नष्ट कर दी। अब चाहे नक्शों में जो कुछ दिखलाया जाय, पर इसमें सन्देह नहीं कि तुर्की और फारस की सारी स्वतंत्रता नष्ट हो चुकी है और अफगानिस्तान भी पहले की अपेक्षा गोरों का कुछ अधिक प्रभुत्व स्वीकृत करने के लिए ही विवश किया गया है। इस प्रकार गोरों ने धूसर वर्ण के सभी लोगों पर अपना राजनीतिक अधिकार जमा लिया है।

पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो राजनीतिक अधिकार कोई चीज नहीं है; क्योंकि वह कभी स्थायी नहीं होता। आज गोरे धूसर वर्ण वालों के मालिक हैं, कल धूसर वर्ण वाले गोरों पर अधिकार कर सकते हैं। जैसा कि उन्होंने पहले कई बार किया है। चाहे गोरे इस समय धूसर वर्ण वालों पर अधिकार करके अपने मन में फूले न समायँ, पर उनका यह अधिकार कभी स्थायी नहीं रह सकता। आज कल जिस प्रकार पीत वर्ण के लोग गोरों से असन्तुष्ट हैं उसी प्रकार धूसर वर्ण वाले भी उनसे बहुत नाराज़ हैं और हर तरह से उनका विरोध करने पर तुले हुए हैं। धूसर वर्ण वालों का यह विरोध प्रायः सौ वर्षों से आरम्भ है और यह विरोध बराबर बढ़ता जा रहा है। इस विरोध के बढ़ने के दो

मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि धूसर वर्ण के लोग इतने दिनों से परतन्त्रता में रहते रहते उकता गये हैं और उनमें स्वतन्त्रता की लालसा दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। और दूसरे यह कि उन पर गोरों का अत्याचार भी दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इनमें आरम्भ से प्रधान विरोधी मुसलमान रहे हैं। पर अब और लोग भी उस विरोध में सम्मिलित हो गये हैं। पर इस सम्बन्ध में कुछ विचार करने से पहले हम एक और बात का विचार कर लेना चाहते हैं।

धूसर वर्ण के लोगों के निवास स्थान चार प्रधान देश हैं और देशों के अनुसार उनके चार प्रधान वर्ग भी हैं। वे चारों देश भारत, ईरान, अरबिस्तान और तुर्किस्तान हैं। इनमें से भारतवर्ष धूसर वर्ण वालों का प्रधान देश है। सारे धूसर वर्ण के दो तिहाई अर्थात् ३०,००,००,००० से कुछ अधिक आदमी भारत में बसते हैं। ईरान या फारस छोटा सा देश है और उसमें १,५०,००,००० आदमी रहते हैं। धूसर वर्ण के मुसलमानों पर उसका विशेष प्रभाव है। अरब और उसके आस पास के सिरिया मेसोपोटामिया, और उत्तर आफ्रिका का कुछ अंश मिला कर अरबिस्तान कहलाता है; क्योंकि इन प्रदेशों में या तो अरबी बोलने वाले और या अरबों के वंशज रहते हैं, जो प्रायः सब के सब मुसलमान हैं। इन अरबों की संख्या सब मिला कर ४,००,००,००० है, जिनमें से तीन चौथाई उत्तर अफ्रिका में रहते हैं। तुर्किस्तानियों में वे सब लोग आ जाते हैं जो कुस्तुन्तुनिया से मध्य एशिया तक बसते हैं। इनमें खास तुर्क, दक्षिण रूस तथा ट्रांस-काकेशिया तातार और मध्य एशिया के तुर्कमान सभी आ जाते हैं।

इन सब की संख्या २,५०,००,००० है। धूसर वर्ण के यही चार मुख्य वर्ग हैं। अब हम पहले मुसलमानों को ही लेते हैं। क्योंकि गोरों का मुख्य विरोध इन्हीं मुसलमानों से आरम्भ हुआ था और इस समय भी उस विरोध का बहुत कुछ दारोमदार इन्हीं मुसलमानों पर है।

मुसलमानों की युद्धप्रियता बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। किसी समय उनका बालचन्द्रवाला झण्डा चीन से फ्रांस तक फहराता था। पर धीरे धीरे मुसलमानों का प्रताप-सूर्य अस्त होने लगा और गत शताब्दि में तो वह मानों बिलकुल क्षितिज तक जा पहुँचा। आज से सौ सवा सौ वर्ष पहले ऐसा जान पड़ता था कि मानों मुसलमान जाति बिलकुल मरणोन्मुख हो रही है और उसमें कुछ भी दम बाकी नहीं रह गया है। लेकिन मुसलमानों के उस पतन काल में भी मुसलमानी धर्म के जन्म-स्थान अरब के रेगिस्तान में एक ऐसा महात्मा उत्पन्न हुआ जिसने मरती हुई मुसलमान जाति में नया जीवन संचार करने का उपक्रम आरम्भ किया। उस सुधारक का नाम अब्दुल वहाब था और उसके अनुयायी "वहाबी" कहलाते हैं। शीघ्र ही उसका सम्प्रदाय सारे मुसलमान संसार में फैल गया और उसमें नया जीवन आने लगा। उस सम्प्रदाय के लोग बराबर अपने भाइयों को उनके पुराने गौरव का स्मरण कराते रहते हैं और उनको फिर वही गौरव प्राप्त करने के लिए उत्तेजित करते रहते हैं। मुसलमानों के पुनरुत्थान का आरंभ अब्दुल वहाब से ही समझना चाहिए।

मुसलमानों का यह पुनरुत्थान, प्रायः सभी सच्चे और वास्तविक पुनरुत्थानों के समान, धार्मिक भी है और राजनीतिक भी।

आरंभ के वहाबियों को सब से अधिक यही बात खटकी थी कि राजनीतिक दृष्टि से मुसलमान दिन पर दिन निर्बल और गोरों के अधीन होते जाते हैं। यह भाव उन्नीसवीं शताब्दि के आरंभ में ही मुसलमानों में फैला था। पर साथ ही यह वही समय था, जब कि यूरोप नेपोलियन के युद्धों के आघात से सँभलने लगा था और पूर्व के मुसलमानों पर नये सिरे से अभूतपूर्व आक्रमण करने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों में जातीयता तथा धार्मिकता के नये भाव उत्पन्न होने लग गये और वे राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र तथा बलवान् होने के लिए आपस में एकता उत्पन्न करने के उद्योग में लग गये—अपने बिछुड़े हुए भाइयों को जागृत तथा उन्नत करने का आयोजन करने लगे।

उस समय यूरोप वालों का आर्थिक और सैनिक बल इतना बढ़ा चढ़ा था कि मुसलमानों को चटपट सफलता प्राप्त करने की कोई विशेष आशा नहीं थी। पर एशिया वालों में यह एक विशेष गुण होता है कि वे कठिन से कठिन काम देख कर भी घबराते नहीं हैं और शांति तथा धैर्यपूर्वक निरंतर उद्योग करते चलते हैं। बस, वहाबी सुधारक भी अपने लक्ष्य पर ध्यान रख कर निरंतर उद्योग करने लगे। पहले तो उनके काम का किसी को पता भी नही लगा। पर धीरे धीरे लोग उनके कामों से परिचित होने लगे और उनका उद्देश्य तथा अभिप्राय समझने लगे। आज से प्रायः पचास वर्ष पहले प्रसिद्ध विद्वान् पालग्रेवने एशिया के प्रश्नों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा था। उसमें एक स्थान पर उसने कहा—"इस्लाम इस समय भी बहुत बलवान् है और यदि वह चाहे तो अब भी आक्रमण कर सकता है। और उसका वह

आक्रमण बहुत भीषण प्रमाणित हो सकता है। पश्चिमी ईसाइयों का बल और योग्यता देख कर पूर्वी मुसलमान जाग उठे हैं और इसकी जागृति का परिणाम यह होने लगा है कि अब वे गोरों से नाराज़ हो कर उनके साथ घृणा करने लगे हैं। बहुत से मुसलमान सारे यूरोप में भ्रमण कर चुके हैं और उसके विज्ञानों, विद्याओं तथा प्रणालियों आदि का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे मुसलमान अपने जाति-भाइयों को जागृत करने के लिए बहुत ही तत्पर और प्रयत्नशील हो रहे हैं। मुसलमान यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि आधुनिक युरोपियनों की संस्थाएँ आदि स्थायी नहीं होतीं और उनमें प्रायः नये नये परिवर्तन होते रहते हैं। और अपने सम्बन्ध में वे समझते हैं कि हम एक बहुत ही मज़बूत चट्टान पर दृढ़तापूर्वक खड़े हैं और तब वे अपनी उस दृढ़ता का मुकाबला दूसरों की चंचलता और अस्थिरता से करते हैं।

कुछ यूरोपियन विचारवान् और राजनीतिज्ञ समझते हैं कि मुसलमान जाति बिलकुल मुरदा हो गई है और अब उसके पुनरुज्जीवित होने की कोई आशा नहीं है। यही कारण है कि वे समय समय पर उसके साथ अनेक प्रकार के अत्याचार करते हैं, और उनके नाश के नये नये उपाय निकालते हैं। आज दिन तक इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि वे मुसलमानों को कुछ भी नहीं समझते और यथासाध्य उनका नाम मिटा देने का उद्योग करते हैं। तुर्की के सम्बन्ध में इधर हाल की जो घटनाएँ हुई हैं, वे भी इसी बात का प्रमाण हैं। पर यदि सच पूछिये तो मुसलमानों को मुरदा समझने वाले बड़ी भारी भूल करते हैं। उनको जानना चाहिए कि मुसलमान जाति मर नहीं गई है, बल्कि

दिन पर दिन उसमें नवीन जीवन का संचार हो रहा है और नये पाश्चात्य विचारों आदि को बहुत ही शीघ्रतापूर्वक ग्रहण कर रही है। अलीगढ़ के प्रसिद्ध ओरिएण्टल कालिज के भूतपूर्व प्रिन्सिपल मि० थियोडोर मारिसन का भी यही मत है कि मुसलमानों का बहुत सहज में सुधार हो सकता है। यह समझना बड़ी भारी भूल है कि वे अब किसी योग्य नहीं रह गये। प्रसिद्ध मि० मार्मड्यूक पिक्थाल का मत है कि इसलाम धर्म में कोई ऐसी बात नहीं है जो उसकी उन्नति में बाधक हो सके। यह ठीक है कि मुसलमानों ने अभी तक नवीन परस्थितियों के अनुसार जीवन व्यतीत करना आरम्भ नहीं किया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि अब वे भी अपने यहाँ सुधार करने लग गये हैं और अपने आपको नवीन परिस्थितियों के अनुकुल बना रहे हैं।

बर्नर्नर्ड टेम्पल ने १९१० में एक स्थान पर कहा था—"मुसलमान लोग संसार की राजनीतिक परिस्थिति को देखते हुए, आपस में मिल के इस बात का उद्योग करने लगे हैं कि हमें भी संसार में रहने के लिए स्थान और बल प्राप्त हो वे इसके लिए झगड़ना चाहते हैं। उनके इस झगड़े में चाहे रक्तपात न हो, पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वह भारी और गहरा झगड़ा होगा। उनको अपनी भावी उन्नति का बहुत अधिक ध्यान हो चला है। प्रत्येक मुसलमान देश का दूसरे मुसलमान देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो रहा है। एक देश से दूसरे देशों में उनके दूत, व्यापारी, यात्री और पत्र आदि बराबर आते जाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके समाचार पत्र, और पुस्तकें आदि भी सब जगह पहुँचती रहती हैं जिनसे उनका पारस्परिक सम्बन्ध

बराबर बढ़ता जाता है। मैंने काहिरा के समाचार पत्र बगदाद, तेहरान और पेशावर में, कुस्तुन्तुनिया के समाचार पत्र बसरे और बम्बई में तथा कलकत्ते के समाचार पत्र करबला और सईद बन्दर में देखे हैं।"

इन यूरोपियनों ने मुसलमानों के सम्बन्ध में ये जो बातें कहीं हैं, प्रायः यही बातें स्वयं मुसलमान भी अपने सम्बन्ध में कहते हैं। सीरिया के अमीन रीहानी नामक एक ईसाई ने एक अवसर पर कहा था—"आधे मुसलमान ईसाइयों के शासन में हैं। पर वे अपनी पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ डालने के प्रयत्न में लगे हैं। वे अपनी शक्तियों का संगठन कर रहे हैं। उनका पुराना इतिहास बहुत ही गौरवपूर्ण है। उनका धर्म और भाषा जीवित है। उनकी धर्म पुस्तक उनमें नवीन जीवन का संचार करने वाली है। उनकी आशा कभी नष्ट नहीं हो सकती। चाहे यूरोपियन कूटनीति के कारण कुछ समय के लिए उनमें परस्पर विरोध और वैमनस्य उत्पन्न हो जाय और वे आपस में ही लड़ने लगें, पर वे सदा के लिए यूरोपियनों के शासन में नहीं रखे जा सकते। यूरोप की सीमाओं पर मुसलमान अपना जो कुछ गँवा रहे हैं, वही वे आधुनिक ढंग के प्रचार के द्वारा आफ्रिका तथा मध्य एशिया में प्राप्त कर रहे हैं। युरोप तो मुसलमानों को सिखा पढ़ा कर सैनिक बना रहा है, पर एक दिन यही सैनिक स्वयं यूरोप के विरुद्ध उठ खड़े होंगे।"

मुसलमानों का लिखा हुआ इसी प्रकार का और भी बहुत सा साहित्य भरा पड़ा है। मिस्र के यहिया सिदीक नामक एक ने १९०७ में एक पुस्तक लिख कर काहिरा में प्रकाशित

कराई थी जिसमें उसने यह वतलाया था कि चौदहवीं सदी हिजरी में मुसलमानों में कितनी जागृति हुई है और होगी। पुस्तक का महत्व इस वात से और भी वढ़ जाता है कि उसका लेखक यूरोप की उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुका है, फ्रान्स के एक विश्वविद्यालय से कानून की वड़ी उपाधि पा चुका है और मिस्र में जज के पद पर नियुक्त है। सिदीक ने १९०७ में ही समझ लिया था कि यूरोप वालों में परस्पर युद्ध हुए विना न रहेगा। उसने लिखा था—"जरा यूरोप की इन वड़ी वड़ी शक्तियों को देखिए। ये भयंकर शस्त्र अस्त्र वना कर किस प्रकार अपना नाश कर रही हैं! एक दूसरी का वढ़ता हुआ वल वे किस वुरी तरह से देख रही हैं? सव एक दूसरी को भयभीत करती हैं, आपस में मित्रता कर कर के तोड़ती हैं। इन सव वातों से तो यही सिद्ध होता है कि ये ऐसा उत्पात खड़ा करेंगी जिससे सारे संसार में आग लग जायगी, खून की नदियाँ वहने लगेंगी, और दुनियाँ गारत हो जायगी। भविष्य ईश्वर के हाथ में है और जो कुछ वह चाहता है, वही होता है।"

सिदीक की समझ से उसी समय गोरों का पतन हो रहा था उसने लिखा था—"क्या इसका यही अर्थ है कि हमारा सुशिक्षित पथ-प्रदर्शक यूरोप अपने विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है? क्या इससे यही समझा जाय कि इधर दो तीन शताब्दियों तक वहुत अधिक परिश्रम करने के कारण वह वहुत थक गया है और अपनी जीवन-शक्ति विलकुल गँवा चुका है? हम तो यही समझते हैं कि अव यूरोप वुड्ढ़ा हो चला है और शीघ्र ही उसे विवश होकर अपना स्थान उन लोगों को दे देना पड़ेगा जो अधः-

पात में उससे कम है, जो अभी उसके समान दुर्बल नहीं हुए हैं। अर्थात् उसे अपना काम ऐसे लोगों के सिपुर्द कर देना पड़ेगा जो उसकी अपेक्षा अधिक युवक, अधिक हट्टे-कट्टे और अधिक स्वस्थ हैं। हमारी समझ में तो अब यूरोप का प्रताप-सूर्य अपने शीर्षबिन्दु पर पहुँच गया है और उसका असाधारण औपनिवेशिक विस्तार उसके बलवान् होने का नहीं बल्कि उसके दुर्बल होने का परिचायक है। चाहे इस समय युरोप की शान शौकत और ताकत कितनी ही क्यों न बढ़ गई हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस समय उसमें जितना पारस्परिक विरोध है, उतना आज तक कभी नहीं हुआ था। और वह इस समय बड़ी बुरी तरह से अपना कष्ट और दुःख छिपा रहा है। उसका अन्त जल्दी जल्दी समीप आ रहा है।"

यूरोप के साथ हम लोगों का जो सम्बन्ध हो गया है, उससे हमारा बहुत कुछ लाभ भी हुआ है और बहुत कुछ हानि भी। आर्थिक और मानसिक दृष्टि से तो हमारा लाभ हुआ है और नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से हमारी हानि हुई है। मुसलमान लोग लगातार बहुत दिनों तक लड़ने झगड़ने के कारण कुछ ठण्डे पड़ गये थे, पर वे बिल्कुल मर नहीं गये थे। यद्यपि तोपों और बन्दूकों की सहायता से वे उस समय जीत लिये गये हैं, तथापि उनकी एकता ज्यों की त्यों बनी हुई है। यद्यपि यूरोप वालों ने उनको बुरी तरह अपने शासन में जकड़ रक्खा है, तथापि उनमें एका मौजूद है। इधर पच्चीस वर्षों में हमने ज्ञान, विज्ञान और कला आदि में इतनी उन्नति की है, कि हमें आशा है कि पचीस वर्ष से पहले ही हम इन सब बातों में यूरोप वालों की बराबरी करने लग जायेंगे।

"इस हिजरी चौदहवीं सदी में मानों हमारा एक नया युग आरम्भ हो रहा है। यहीं से हमारा पुनरुद्धार आरंभ होगा और हमारा भविष्य सुधरने लगेगा। सारे संसार के मुसलमानों में एक नवीन जीवन का संचार हो रहा है। अब सब मुसलमान काम करने की आवश्यकता समझने लगे हैं। अब हम सब लोग यात्रा, व्यापार और धन-संचय करना चाहते हैं, अब हम विपत्तियों का सामना करने के लिए भी तैयार हो रहे हैं। इस समय मुसलमानों में ऐसी जागृत हो रही है जैसी आज से पच्चीस वर्ष पहले बिलकुल नहीं थी।"

अपनी पुस्तक के अन्त में सिदीक ने कहा था—"अब हम सब लोगों को दृढ़तापूर्वक मिलकर एक हो जाना चाहिए और अपने उद्धार की पूरी आशा करनी चाहिए। अब हम लोग बहुत अच्छी तरह उन्नति के मार्ग में लग गये है अब हमें इस अवसर में पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए। यूरोप के अत्याचार ने ही हम लोगों में यह विलक्षण परिवर्तन उत्पन्न किया है। यूरोप से सम्बंध हो जाने के कारण ही अब हमारा विकास अच्छी तरह होगा और हमारा पुनरुद्धार जल्दी जल्दी होगा। यह तो बस इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है। लाख विरोध और लाख प्रतिकार होने पर भी ईश्वर की इच्छा पूरी हो रही है। एशिया वालों पर यूरोप वालों का अधिकार दिन पर दिन नाम मात्र का होता जाता है। एशिया के द्वार बराबर यूरोप वालों के लिए बन्द होते जाते हैं। अवश्य ही हम लोग एक ऐसी राज्यक्रान्ति करेंगे जिसकी उपमा सारे संसार के इतिहास में कहीं न मिलेगी। एक बिल्कुल नया युग आरम्भ होना चाहता है।"

सारे संसार में मुसलमानों की संख्या बीस पच्चीस करोड़ के लगभग है। धूसर वर्ण के सभी प्रदेशों में, एक भारत को छोड़कर, अधिकांश उन्हींकी बसती है। यहाँ तक कि चीन में भी प्रायः एक करोड़ मुसलमान हैं। आफ्रिका के हबशियों में भी दिन पर दिन इस्लाम धर्म का प्रचार बढ़ता ही जाता है। उनका धार्मिक कट्टरपन सारे संसार में प्रसिद्ध है। जो व्यक्ति एक बार मुसलमान हो जाता है, वह फिर कभी अपना धर्म नहीं छोड़ता। यहाँ तक कि उसकी सन्तान भी फिर कभी इस्लाम धर्म से मुँह नहीं मोडती। चाहे इस समय वे कुछ दब गये हों, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वे सदा के लिए बेदम हो गये हों इन सब बातों को देख देखकर हमारे गौरांग महाप्रभु मन ही मन चिन्तित हो रहे हैं। जब यही देखना बाकी है कि यह चिन्ता उनमें सुबुद्धि उत्पन्न करती है या कुबुद्धि। साधारणतः माना तो यही जाता है कि चिन्ता के समय मनुष्य की बुद्धि और भी अधिक भ्रष्ट हो जाती है और वह उलट पुलट काम करने लगता है। और इस समय गोरों में लक्षण भी कुछ ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं। पर फिर भी यूरोप वालों में समझदारों का एक दम अभाव नहीं हो गया है, इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि वे ज़माने का रुख देखकर संकट आने से पहले ही सचेत हो जायेंगे।

संसार में मुसलमानों की संख्या एक तो यों ही कुछ कम नहीं है, दूसरे वह संख्या दिन पर दिन आफ्रिका आदि देशों में बढ़ती जाती है। और तीसरी भयंकर बात यह है कि सारे संसार के मुसलमान अपने कल्याण के लिए मिलकर एक होने का उद्योग बहुत दिनों से कर रहे हैं। कुछ लोग समझते हैं कि वर्तमान खिला-

फत के प्रश्न के कारण ही मुसलमानों में इतनी जागृति और एकता दिखाई देती है। पर यह बात ठीक नहीं है। सारे संसार के मुसलमान सैंकड़ों वर्षों से एक होने का उद्योग कर रहे हैं। इस उद्योग के अनेक रूप और अनेक प्रकार हैं। उनमें से एक सिनूसिया सम्प्रदाय भी है। उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ में एलजीरिया में सैयद मुहम्मद बिन सिनूसी नामक एक नेता उत्पन्न हुआ था, जो अपना वंश-सम्बन्ध हजरत मुहम्मद की कन्या फातिमा के साथ स्थापित करता था। अपनी युवावस्था में वह अरब गया था, जहाँ उसकी भेंट कुछ वहावियों के साथ हुई थी। वहाँ वहाबी आन्दोलन का उसपर अच्छा प्रभाव पड़ा और वहां से लोट कर आफ्रिका में उसने अपना सिनूसिया सम्प्रदाय स्थापित किया। उसके जीवन काल में ही दूर दूर के अनेक मुसलमान उसके सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये थे। आजकल उसका एक पोता इस सम्प्रदाय का आचार्य है। वह सहारा के रेगिस्तान में एक बहुत ही सुरक्षित और गुप्त स्थान में रहता है जहाँ उसके भक्तों और सम्प्रदाय के लोगों के अतिरिक्त और कोई पहुंच ही नहीं सकता। जो मुसलमान वह स्थान जानते हैं, वे चाहे मार भी डाले जायें, तो भी वे वहाँ का मार्ग किसी अपरिचित को नहीं बतला सकते और न किसी को वहाँ ले जा सकते हैं। सिनूसी सम्प्रदाय के उसी केन्द्र से सारे उत्तर आफ्रिका में भिन्न भिन्न आज्ञाएँ और सूचनाएँ आदि पहुंचा करती हैं।

सारा सहारा रेगिस्तान मानों एक प्रकार से सिनूसी संप्रदाय के ही अधिकारों में है और मरक्को, सुमालीलैण्ड आदि देशों में उस संप्रदाय का पूर्ण प्रचार है। केवल प्रचार ही नहीं, उस

धर्म के आचार्यों तथा अधिकारियों आदि का वहाँ तथा दूर दूर के देशों में बहुत अधिक प्रभाव है। उनके धार्मिक अधिकारी "मुकद्दम" और राजनीतिक अधिकारी "वकील" कहलाते हैं। इन मुकद्दमों अथवा वकीलों के मुँह से जो कुछ निकल जाता है, उसे वहाँ के सधर्मी लोगों को, चाहे वे सिनूसी संप्रदाय में हों और चाहे न हों, अवश्य मानना पड़ता है। वहाँ के जिन प्रदेशों में अंग्रेजों, फ्रांसीसियों अथवा इटालियनों आदि का राज्य है, वहाँ भी इन सिनूसियों की आज्ञा चलती है। वे लोग इस बात का भी पूरा पूरा ध्यान रखते हैं कि कहीं गोरे अधिकारियों के साथ हमारी मुठभेड़ न हो जाय और हमारे काम में बीच में ही बाधा न आ पड़े। वे गोरे अधिकारियों से लड़ते भिड़ते तो नहीं हैं, पर हाँ, अपने सिद्धान्तों के प्रचार आदि में भी वे कभी कमी नहीं करते। उनका मुख्य उद्देश सारे संसार के मुसलमानों को मिलाकर एक करना है। उनका विश्वास है कि मुसलमानों को गोरों के शासनाधिकार से निकलने के पहले पूर्ण रूप से अपनी आत्मिक उन्नति कर लेनी चाहिए और यही कारण है कि वे अभी अपने यहाँ के राजनीतिक अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल नहीं लेते। वे शांति और धैर्यपूर्वक अपना काम बराबर करते चलते हैं और अपने अनुयायियों तथा साथियों की संख्या बढ़ाते रहते हैं। विशेषतः आफ्रिका के हबशियों में तो सिनूसी मत का बहुत ही शीघ्रतापूर्वक प्रचार हो रहा है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे नेता आदि हैं जो सारे संसार के मुसलमानों को मिलाकर एक करना चाहते हैं। पर ये यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे गोरे अधिकारी कितने

बलवान् हैं और उनके मुकाबले में हम कितने दुर्बल हैं। वे यह बात भी अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हम अपना बल बढ़ने से पहले ही बलवानों के साथ भिड़ जायेंगे, तो हमारी कितनी हानि होगी। वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप अपना काम करते चलते हैं। यही कारण है कि कहीं के मुसलमानों ने अभी तक गोरों के विरुद्ध कोई भारी और भीषण उपद्रव नहीं खड़ा किया। उनके जो कुछ उपद्रव हुए हैं, वे छोटे मोटे और स्थानिक ही हैं। १९१४ में यूरोपियन युद्ध के आरंभ होने पर जहाद का झण्डा न उठने का भी यही कारण है। पर जो लोग समझदार हैं, वे अच्छी तरह समझते हैं कि जहाद का झण्डा खड़ा करने के साधन दिन पर दिन बढ़ते जाते हैं।

गत शताब्दि के अन्त में यूरोपियनोंने आफ्रिका तथा मध्य एशिया पर अधिकार कर लिया और आगे चलकर अँगरेजों और फ्रान्सीसियों ने आपस में मिस्र और मरक्को बांट लिया। इस बात से संसार के सभी मुसलमानों में अन्दर ही अन्दर बहुत कुछ असन्तोष बढ़ गया है। यही कारण है कि जब १९०४ में जापानने रूस पर विजय प्राप्त की, तब मुसलमात उस विजय से बहुत ही प्रसन्न हुए। जापानी मूर्तिपूजक हैं और मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार वे ईसाइयों और यहूदियों की अपेक्षा कुछ कम ही बुरे है। इसी लिए जापान की विजय से सारे संसार के मुसलमान प्रसन्न हुए थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस राजनीतिक विपत्ति के समय एशिया और आफ्रिका की जातियों में परस्पर सहानुभूति है और वे समय पड़ने पर मिलकर एक हो सकती हैं। सन् १९०६ में फारस के एक समाचार पत्र में प्रका-

शित हुआ था—"फारस भी जापान की तरह बलवान होकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहता है, इसलिए इस समय उसे जापान-के साथ मिल जाना जाहिए। ऐसी दशा में दोनों देशों में मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक हो जाता है। तेहरान में एक जापानी राजदूत रहना चाहिए। फारस को अपनी सेना में सुधार करने के लिए भी जापान से अफसर बुलाने चाहिएँ और दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध भी बढ़ना चाहिए। "उस समय कुछ मुसलमान तो ऐसे भी थे जो जापानियों को भी इस्लाम धर्म के झण्डे के नीचे लाने का उपाय सोच रहे थे। रूस-जापान युद्ध की समाप्ति के थोड़े ही दिनों बाद चीन के एक मुसलमान शेख ने लिखा था—"यदि जापान यह चाहता हो कि किसी समय हम संसार में बहुत बडी शक्ति बन जायँ और सारे संसार पर एशिया का प्रभुत्व हो, तो उसे इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेना चाहिए।" इस पर मिस्र के एक राष्ट्रीय समाचार पत्र ने टीका करते हुए लिखा था—"भारत में इंगलैण्ड के अधिकार में ६,००,००,००० मुसलमान हैं, इसलिए वह जापान के इस धर्म-परिवर्तन से डरता है। यदि जापान मुसलान हो जायँ तो मुसलमनों की नीति एक दम ही बदल जाय।" इसके उपरान्त कुछ मुसलमान धर्मोपदेशक जापान गये भी थे। वहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ था। यह ठीक है कि जापानियों का स्वप्न में भी मुसलमान होने का विचार नहीं था, पर इस घटना से यह अवश्य सिद्ध होता है कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य वर्णों के लोग गोरों के विरुद्ध मिलकर एक हो सकते हैं।

अस्तु, इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद लोगों ने यह बात

अच्छी तरह समझ ली कि पश्चिमी एशिया तक पहुँच कर वहाँ के लोगों का परित्राण करने का जापान का तनिक भी विचार नहीं है। इसी बीच में मुसलमानों को गोरे ईसाइयों के हाथों और भी अधिक हानियाँ सहनी पड़ीं। १९११ में इटली ने तुर्की के आफ्रिकन अधीनस्थ राज्य ट्रिपोली पर खुले आम आक्रमण कर दिया। उसके इस कृत्य से मुसलमान इतने क्षुब्ध और क्रुद्ध हुए कि अनेक यूरोपियन राजनीतिज्ञ बहुत ही भयभीत हो गये। फ्रान्स के एक भूतपूर्व पर-राष्ट्र सचिव ने इस सम्बन्ध में लिखा था-"जो ट्रिपोली अपनी कुछ भी रक्षा नहीं कर सकता था, वही इस समय इटली के लिए भिड़ों का छत्ता क्यों कर बन गया ? इसी लिए कि इटली ने केवल तुर्की को ही नहीं, बल्कि सारे इस्लाम धर्म को छेड़ा है। इटली ने एक ऐसा झगड़ा मोल लिया है, जो केवल उसी के लिए नहीं, बल्कि हम सब लोगों के लिए भी बहुत ही बुरा है। पर ट्रिपोली पर इटली ने अधिकार करके मानों यही प्रमाणित किया था कि अब मुसलमानों पर ईसाइयों का आक्रमण आरम्भ हो गया है, क्योंकि इसके दूसरे ही वर्ष बाल्कन युद्ध छिड गया, जिसमें यूरोप से तुर्की निकाल दिया गया और उसकी बहुत ही दुर्दशा की गई। इससे सारे संसार के मुसलमानों में और भी अधिक क्रोध फैल गया। इस युद्ध के सम्बन्ध में भारत के एक मुसलमान नेता ने लिखा था—"यूनान के राजनाने एक नया धार्मिक युद्ध छेड़ दिया है। इंगलैण्ड और रूस इस समय हमसे वे स्थान छीनना चाहते है जो यूरोप में हमारे अधिकार में है। कल को वे लोग हमारे जेरूसलेम आदि पवित्र तीर्थों को अपने अधिकार में लाने के उपाय सोचने लगेंगे। भाइयो, अब तुम सब मिलकर एक हो

जाओ और यह समझलो कि प्रत्येक सच्चे मुसलमान का यह परम कर्तव्य है कि वह खलीफा के झण्डे के नीचे आवे और अपने धर्म की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण तक दे दे।" एक दूसरे भारतीय मुसलमान नेता ने अँग्रेज अधिकारियों को सचेत करते हुए कहा था—"मैं वर्तमान सरकार से प्रार्थना करता हूँ कि वह तुर्कों का विरोध करने की नीति अभी से छोड़ दे। कहीं ऐसा न हो कि उनकी इस नीति से करोड़ों मुसलमानों में विरोध की आग भड़क उठे और कोई भारी अनर्थ हो जाय।" कुछ मुसलमानों ने तो हिन्दुओं और बौद्धों से भी यह प्रार्थना की थी कि आप लोग सचेत हो जाइये और गोरों के इस बढ़े हुए आक्रमणों को रोकिये; और इस विपत्ति के समय हमारी सहायता कीजिये। हिमालय पर्वत में रहने वाले आपके महात्मा लोग उठें और आपके देवता आ कर हमारे शत्रु का नाश करें। चीन में भी इसी प्रकार का भ्रातृभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जा रहा था। जिस समय चीन में प्रजा-तंत्र वाली राज्यक्रान्ति हुई थी, उस समय वहाँ के मुसलमान चीनियों ने अपने बौद्ध भाइयों को स्वतंत्र होने में पूरी पूरी सहायता दी थी। इस पर प्रजातंत्रवादियों के नेता डा० सन् याट सेन ने कृतज्ञता पूर्वक यह घोषणा की थी—"चीन में व्यवस्था और स्वतंत्रता स्थापित करने में हमारे मुसलमान भाइयों ने जो सहायता दी है उसे चीनी कभी न भूलेंगे।" तात्पर्य यह कि यूरोप के महायुद्ध के समय सारे संसार के मुसलमान गोरों के अत्याचार से अत्यन्त पीड़ित तथा त्रस्त हो चुके थे और अपने सिर से गोरों का बोझ हटाने के लिए अन्य वर्णों के भाइयों के साथ मिलने का उपक्रम कर रहे थे।

परन्तु इतना होने पर भी जब महायुद्ध में तुर्की ने जरमनी का साथ दिया, तब सारे संसार के मुसलमानों में शांति बनी रही। इस पर कदाचित् कुछ लोगों को आश्चर्य होगा । पर वास्तव में सभी मुसलमान ईसाइयों से असन्तुष्ट थे और उन्होंने चाहे मिल कर गोरों का विरोध न किया हो, पर फिर भी जहाँ तहाँ उनका वह असन्तोष प्रकट अवश्य हुआ था। मिस्र का उपद्रव शान्त करने के लिए वहाँ अंगरेजों को नई सेनाएँ भेजनी पड़ी थीं। ट्रिपोली के मुसलमानों ने इटली के विरुद्ध सिर उठाया था और वहाँ के इटालियनों को समुद्र तट पर भाग जाने के लिए विवश किया था। यदि रूस ठीक समय पर बीच में आ कर फारस को न दबा देता, तो फारस अवश्य ही तुर्की से मिल जाता। भारत के सीमा प्रान्तों में भी वहाँ के मुसलमानों ने कुछ न कुछ उपद्रव मचाया ही था, जिसे दबाने के लिए अंगरेजों को वहाँ अपनी ढाई लाख सेना भेजनी पड़ी थी। स्वयं ब्रिटिश सरकार ने यह बात मंजूर की थी १९१५ में मित्रों के हाथ से उनके एशिया तथा आफ्रिका के अधीनस्थ देश निकलते निकलते बच गये।

यदि उस समय मुसलमानों के नेता चाहते तो बहुत सम्भव था कि एशिया और आफ्रिका के अधीनस्थ प्रदेश मित्रों के हाथ से निकल ही जाते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, बल्कि उलटे अनेक स्थानों पर तो उन्होंने यथासाध्य मित्रों की सहायता की और अपने भाइयों को विद्रोह तथा उपद्रव आदि करने से रोका। बात यह थी कि वे अच्छी तरह समझते थे कि पश्चिम वालों के साथ हमारे लड़ने भिड़ने का यह उपयुक्त अवसर नहीं है। इसके अतिरिक्त उस समय वे न तो गोरों का विरोध और मुकाबला करने के लिए

तैयार थे और न उन लोगों में आपस में किसी प्रकार का समझौता आदि ही हुआ था। साथ ही वे यह भी जानते थे कि इस समय हमारे खलीफा जरमानों के हाथ की कठपुतली हो रहे हैं। वे जरमनों को भी उतना ही भयंकर समझते थे, जितना अन्यान्य यूरोपियनों को; क्योंकि यदि वे अपने पुराने अधिकारियों का विरोध करते तो उसका परिणाम अधिक से अधिक यही होता कि वे अपने पुराने मालिकों के हाथ में से निकल कर नये मालिकों के हाथ में पड़ जाते और उनकी और भी अधिक दुर्दशा होती। इसलिए उन्होंने सोचा कि इस समय इन गोरों को आपस में खूब कटने मरने दो और दुर्बल हो जाने दो। तब आगे चलकर हम लोग इनसे समझ लेंगे। इस बीच में हमें अपनी उन्नति करने और अपना बल बढ़ाने का और भी अधिक अवसर मिल जायगा। साथ ही तब तक हमें इनकी नेकनीयती या बदनीयती का और भी पता लग जायगा। यही सब बातें सोच समझ कर उस समय मुसलमान चुपचाप रह गये।

वार्सेल्स की शान्ति-महासभा में जो कुछ निर्णय हुआ, उससे मुसलमानों को, यूरोपियनों की नीयत का ठीक ठीक पता चल गया। वे पहले से ही किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसमें उन्हें गोरों की नीति का पूरा पूरा पता लग जाय और फिर किसी को कुछ कहने सुनने की आवश्यकता न रह जाय। शान्ति-महासभा ने अनायास ही उनको यह अवसर दे दिया और वे अपने भाइयों को जागृत करके अपना कार्यक्रम पूरा करने की चिंता में लग गये। वार्सेल्स में यूरोप की गोरी महाशक्तियों ने अच्छी तरह यह बात प्रमाणित कर दी कि हम पूर्वी यूरोप

तथा पश्चिमी एशिया में अपना अधिकार कुछ भी कम करना नहीं चाहते, बल्कि जहाँ तक हो सके, उसे और भी बढ़ाना चाहते हैं। युद्ध-काल में ही सब महाशक्तियों ने आपस में गुप्त सन्धियाँ तथा समझौते करके पहले से ही यह निश्चय कर लिया था कि हम तुर्क साम्राज्य को आगे चलकर इस प्रकार बांट लेंगे। वार्सेल्स में तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में जो कुछ निर्णय हुआ था, वह इन्हीं गुप्त सन्धियों और समझौतों के आधार पर हुआ था। इसके अतिरिक्त युद्ध के आरंभ में ही अँगरेजों ने घोषणा करके मिस्र को अपने संरक्षण में ले लिया था और शांति महासभा के समय ही इंग्लैण्ड ने फारस के साथ एक समझौता होने की घोषणा कर दी। उस समझौते के अनुसार चाहे नाम के लिए न हो, पर वास्तव में फारस भी अँगरेजों के संरक्षण में आ गया था। इसका परिणाम यही हुआ कि पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया में यूरोपियनों का राजनीतिक प्रभुत्व इतना अधिक बढ़ गया जितना पहले कभी नहीं था।

लेकिन एक बात और थी। युद्धकाल में मित्र-राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों तथा अधिकारियों ने एक नहीं अनेक बार इस बात की घोषणा की थी कि इस युद्ध का उद्देश्य केवल यही है कि सभी जातियों के लोग स्वतन्त्र हो जायँ और छोटे छोटे राष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा हो। एशिया के सभी राष्ट्रों और देशों ने इन घोषणाओं पर अपनी सारी आशाएँ लगा रखी थीं। वे समझते थे कि यूरोपियन राजनीतिज्ञ इस समय जो कुछ कह रहे हैं और जो वादे कर रहे हैं, वे युद्ध की समाप्ति पर अवश्य पूरे होंगे। इन घोषणाओं और वादों को मानों उन्होंने अच्छी तरह गाँठ में बाँध लिया था। पर आगे चल कर उन लोगों ने देखा कि वार्सेल्स में जो

सन्धि हुई, वह इन घोषणाओं और वादों आदि के आधार पर नहीं बल्कि मित्रों की ऐसी सन्धियों के आधार पर हुई है, जो उन्होंने अपना साम्राज्य बढ़ाने के उद्देश्य से आपस में की थीं। यह देखते ही उनकी क्रोधाग्नि भडक उठी और उन्होंने समझ लिया कि हमारे साथ घोर अन्याय और विश्वास-घात हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि एशिया के सभी राष्ट्र और देश बिगड़ खड़े हुए और अपना बन्धन छुड़ाने के लिए प्रयत्न में दृढ़ता पूर्वक लग गये। उनके इस उद्योग को देख कर अनेक यूरोपियन राजनीतिज्ञ मन ही मन बहुत चिंतित हो रहे हैं और वे समझते हैं कि शीघ्र ही कोई भारी उपद्रव खड़ा होने वाला है। एशिया पर युद्ध का जो कुछ प्रभाव पड़ा था, उसका वर्णन करते हुए इटली के एक बहुत बड़े राजनीतिज्ञ ने १९१९ में कहा था—" इस समय सारे मुसलमान और एशियावासी बहुत ही अधिक चंचल हो उठे हैं। चीन से भूमध्य सागर तक बड़ा भारी असन्तोष उत्पन्न हो गया है। सब जगह अंदर ही अंदर यूरोपियनों के प्रति घृणा और विरोध की आग सुलग रही है। मोरक्को के बल्वे, एलजियर्स के उपद्रव, ट्रिपोली का असन्तोष और मिश्र, अरब तथा लीबिया आदि के राष्ट्रीय आंदोलन इसी बात का पता दे रहे हैं कि सब जगह लोग युरोपियनों से परम असंतुष्ट हैं और सब लोग मिल कर युरोपियनों के विरुद्ध बड़ा भारी बलवा खड़ा करना चाहते हैं।

युद्ध की समाप्ति के समय से ही मिश्र में जो जो घटनाएँ हो रही हैं, उनसे इस बात का पता चलता है कि यूरोप वालों के प्रति एशियावालों के भाव कैसे हो रहे हैं। इंग्लैण्ड ने १८८२ में मिस्र पर अधिकार किया था। पर आज तक अँगरेज वहाँ कभी सर्व-

प्रिय नहीं हुए। दिन पर दिन वहाँ का राष्ट्रीय आन्दोलन बराबर बढ़ता ही गया और वहाँ वाले इस बात का उद्योग करने लगे कि हमारा देश अँगरेजों के अधिकार से निकल कर बिलकुल स्वतन्त्र हो जाय और अँगरेज हमारे देश से निकल जायँ। पर इंग्लैण्ड ने कभी उनकी ऐसी बातों पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। प्रायः सभी अँगरेज राजनीतिज्ञ यही समझते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्वी और पश्चिमी टुकड़ों को जोड़ने वाली कड़ी मिश्र ही है; और इसीलिए वे कहते थे कि जैसे हो, मिश्र पर सदा के लिए हमारा पूरा पूरा अधिकार रहना चाहिए। इस से सिद्ध होता है कि इंग्लैण्ड और मिस्र के उद्देश्य तथा स्वार्थ में आकाश-पाताल का अंतर था और मिस्र में अब तक जितने उपद्रव आदि हुए, वे सब इसी अंतर के कारण हुए थे। युद्ध से कुछ पहले ही मिस्र वाले इतने अधिक बिगड़ खड़े हुए थे कि अँगरेजों ने अच्छी तरह समझ लिया कि अब शांत उपायों से मिस्र हमारे हाथ में नहीं रह सकता; और इसीलिए उन्होंने वहाँ घोर दमन आरम्भ कर दिया। लार्ड किचनर ने वहाँ पहुँच कर कठोर और भीषण उपायों से वहाँ के राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने का उद्योग आरम्भ किया। जब यूरोप में महायुद्ध छिड़ा और तुर्की ने जरमनी आदि का साथ दिया, तब मिस्र में फिर घोर उपद्रव आरम्भ हुए। इस पर इंग्लैण्ड ने वहाँ और भी भीषण दमन आरम्भ कर दिया और मिस्र के शत्रु पक्ष में मिल जाने का बहाना निकाल कर मिस्र पर से तुर्की का अधिकार हटा कर उसकी जगह मिस्र को अपने संरक्षण में ले लिया।

युद्ध-काल में मिस्र को दबाये रखने के लिए अंगरेजों ने वहाँ

अपनी बहुत अधिक सेनाएँ भेज दीं। पर जब युद्ध समाप्त हो गया, तब वहाँ फिर राष्ट्रीय आंदोलन जोरों से आरंभ हुआ। मिस्रों के राजनीतिज्ञ तो पहले से ही अनेक बार यह कह चुके थे कि छोटे छोटे राष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा होगी और सब देशों के निवासी स्वतंत्र कर दिये जायँगे। बस उनके उन्हीं कथनों के आधार पर मिस्र के राष्ट्रीय दल वाले कहने लगे कि हमें पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उन्होंने इस बात का भी प्रयत्न किया था कि वार्सल्स की शांति-महासभा में मिस्र का प्रश्न भी स्वतंत्र रूप से उपस्थित हो। अंगरेजों के बहुत रोकने और मना करने पर भी उन्होंने सारे देश का मत एकत्र किया, जिससे सिद्ध होता था कि मिस्र के प्रायः सभी निवासी पूर्ण स्वतंत्र होना चाहते हैं। जब अंगरेजों ने उन नेताओं को पकड़ना आरंभ किया, जिन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों के लाख रोकने और मना करने पर भी स्वतंत्रता के सम्बन्ध में सारे देश का मत संग्रह किया था, तब सारे मिस्र में भीषण विद्रोह मच गया। सब जगह एक ही से उपद्रव होने लगे। रेल की लाइनें और तार तोड़ डाले गये; रेल गाड़ियां तोड़ी, फोड़ी और लूटी गईं; अकेले-दुकेले अंगरेज अधिकारियों और सैनिकों की हत्या होने लगी। एक काहिरा में ही हजारों मकान तोड़ कर ढा दिये गये। अरब के बद्दू वहाँ पहुँच कर और भी अधिक लूट मार करने लगे। सारे मिस्र में अराजकता फैल गई और पार्लियामेण्ट में ब्रिटिश सरकार को यह बात मंजूर करनी पड़ी कि सारा मिस्र विद्रोही हो गया है।

इतना होने पर भी अंगरेजों की मति ठिकाने नहीं आई और उन्होंने दृढ़तापूर्वक दमन आरंभ किया। एक तो पहले से ही वहाँ

बहुत अधिक अंगरेज़ सैनिक मौजूद थे। दूसरे अंगरेजों ने सूडान से वहाँ बहुत सी काली पल्टनें भी ला रखीं। मिस्र की देशी पुलिस ने भी, भारत की देशी पुलिस की भाँति, दमन में अंगरेज अधिकारियों को खूब सहायता दी। बहुत कुछ उपद्रव, उत्पात, अत्याचार और दमन आदि के उपरांत अंगरेजों ने फिर एक बार मिस्र को दबा कर वहाँ अपना पूरा पूरा अधिकार जमा लिया। पर वह अधिकार भी स्थायी न रह सका और मिस्र में फिर उपद्रव आरम्भ हुए। निरंतर उपद्रव होता देख कर अंगरेजों ने शांति स्थापित करने का प्रयत्न आरंभ किया और मिस्र वालों को अपनी ओर मिलाना चाहा। पर वे लोग सहज में धोखे में नहीं आ सकते थे और हमारे देश के नरमदल की भाँति जूठे टुकड़ों से संतुष्ट नहीं हो सकते थे। इसलिए विवश हो कर अंगरेजों को मिस्र को अनेक अंशों में स्वतंत्रता दे कर संतुष्ट करना पड़ा।

अब भारत को लीजिये। युद्ध के बाद से यहाँ जो असंतोष फैला हुआ है, उससे यहाँ के अंगरेज अधिकारी कितने परेशान हो रहे हैं, यह सभी लोग जानते हैं। यहाँ प्रायः दो सौ वर्षों से अंगरेजों का राज्य है। पर यहाँ वाले भी कभी अंगरेजों के शासन से संतुष्ट नहीं हुए। इधर बीस पचीस वर्षों से यह असंतोष बराबर बढ़ता ही जाता है और युद्ध के बाद से तो उसने बहुत ही भीषण रूप धारण कर लिया है। पहले तो भारत में स्वतंत्रता के लिए जो आंदोलन होता था, वह केवल हिंदू ही करते थे और मुसलमान लोग अंगरेजों की राजभक्ति के ही गीत गाया करते थे बल्कि यों कहना चाहिए कि यहाँ के अंगरेज अधिकारियों ने अपनी चालाकी से हिंदुओं और मुसलमानों को एक

नहीं होने दिया और मुसलमानों को अपनी ओर मिलाये रखा। पर कागज़ की नाव कहाँ तक चल सकती थी ! जब सारे संसार के मुसलमान मिलकर एक होने लगे और भिन्न भिन्न स्थानों में गोरों के प्रभुत्व का विरोध करने लगे, तब भारत के मुसलमानों की भी आंखें खुलीं और वे अपना पुराना विरोध और वैमनस्य भूलकर हिन्दुओं के साथ उनके राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो गये और अंग्रेज़ी शासन का विरोध करने लग गये।

युद्ध काल में सारा भारत पूर्ण रूप से शांत था। यहाँ के निवासियों ने तन, मन और धन से युद्ध में पूरी पूरी सहायता दी थी; उन्होंने अंगरेज़ों को यह सहायता इसी आशा से दी थी कि आगे चलकर हमारी इस राजभक्ति का हमें यथेष्ट पुरस्कार मिलेगा और हम स्वतंत्र कर दिये जायेंगे। अंग्रेज़ों ने भी भारतवासियों की आंखों में धूल झोंकने के लिए उन्हें थोड़ा बहुत अधिकार देना चाहा; पर साथ ही उन्होंने यहाँ की दीन प्रजा को यह भी दिखला देना चाहा कि युद्ध में लाख दुर्बल हो जाने पर भी हम तुम्हारा दमन करने के लिए यथेष्ठ सबल हैं। और यदि तुम सदा के लिए चुपचाप हमारे गुलाम बने रहना न मंजूर करोगे तो हम तुम्हें पीस डालेंगे। पंजाब का मार्शल ला और जलियानवाला बाग का हत्याकाण्ड भारत में अंग्रेज़ों का अधिकार और मर्यादा स्थापित रखने के उद्देश्य से ही हुआ था। इसी बीच में खिलाफत का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था, जिसके कारण मुसलमान भी परम असन्तुष्ट थे। एक बार तो अंग्रेज़ों ने पंजाब में अपना पूरा बल दिखला कर और दमन करके लोगों को थोड़े समय के लिए शांत कर दिया पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए एक बार जो उद्योग आरम्भ हो जाता

है, वह फिर सदा के लिए कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। इसलिए थोड़े ही दिनों में भारत में फिर भीषण रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस वार उसने असहयोग का रूप धारण किया। संसार के सब से बड़े जीवित महापुरुष महात्मा गांधी ने सारे संसार के राष्ट्रीय आन्दोलनों का पूरा पूरा अध्ययन करके असहयोग आन्दोलन का आरम्भ किया। महात्मा गान्धी भारतीय और वैष्णव थे, इसलिए उन्होंने अपना अन्दोलन बिलकुल शान्तिमय रखा और पहले से ही ऐसा उद्योग किया, जिसमें कहीं उपद्रव, उत्पात या मार-काट आदि न होने पावे। भारतीय मुसलमानों को भी उनका बतलाया हुआ उपाय बहुत पसन्द आया और उन्होंने भी सहर्ष महात्मा गांधी का नेतृत्व स्वीकृत कर लिया। प्रायः दो वर्षों तक यह आन्दोलन भीषण रूप से चलता रहा। इसके लिए भारत के सैंकड़ों छोटे बड़े नेता जेल गये और हज़ारों पढ़े लिखे लोगों ने उनका अनुकरण किया। बीच में कुछ कारणों से यह आन्दोलन थोड़े समय के लिए कुछ दब गया था; पर वह फिर दूसरे रूप में जोरों से आरम्भ होना चाहता था। भारत की प्रायः सारी जनता और सभी पढ़े लिखे लोगों ने इस आन्दोलन के साथ अपनी पूरी पूरी सहानुभूति दिखलाई थी और उसका पक्ष ग्रहण भी किया है। उसके विरोधी बहुत थोड़े थे। इस आंदोलन ने दो ही तीन वर्षों में इतनी अधिक जागृति उत्पन्न कर दी थी। चाहे स्वराज्य प्राप्त करने में इस आंदोलन को सफलता न हुई हो पर देशवासियों और अधिकारियों दोनों की आँखें खोलने में इस आन्दोलन ने बहुत ही विलक्षण और चमत्कारपूर्ण सफलता प्राप्त की थी।

आगे बढ़ने से पहले हम यहाँ संक्षेप में असहयोग आंदोलन और उसके स्वरूप के सम्बंध में कुछ बातें बतला देना आवश्यक समझते हैं। जब भारतवासियों ने भली भाँति देख लिया कि रॉलेट एक्ट जलियान वाला बाग हत्याकांड और खिलाफत के सम्बंध में हमारी मांग पर सरकार कुछ भी ध्यान नहीं देती, तब सितम्बर १९२० में पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के सभापतित्व में कलकत्ते में भारतीय राष्ट्रीय महासभा का विशेष अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन में बहुत कुछ वाद विवाद और सोच विचार के बाद बहुत बड़े बहुमत से असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उस समय कहा गया था कि जब तक सरकार पंजाब के हत्याकांड और खिलाफत के प्रश्न पर भारतवासियों के साथ पूरा पूरा न्याय न करेगी और और उनकी मांगें पूरी न करेगी, तब तक भारतवासी कभी संतुष्ट न होंगे और सरकार के साथ कभी किसी प्रकार का सहयोग न करेंगे। उक्त प्रस्ताव के अनुसार निश्चित हुआ था कि जब तक भारतवासियों के साथ पूरा पूरा न्याय न हो और भारतवर्ष में स्वराज्य स्थापित न हो जाय, तब तक के लिए (क) सब लोग सरकारी उपाधियों और अवैतनिक पदों का परित्याग कर दें और जो लोग स्थानिक संस्थाओं में नामजद कर के सम्मिलित किये गये हों वे अपने स्थान से त्यागपत्र दे दें। (ख) लोग सरकारी दरबारों आदि में जाना बन्द कर दें। (ग) धीरे धीरे लोग अपने लड़कों को सरकारी और सरकार द्वारा नियन्त्रित स्कूलों तथा कालेजों आदि से निकाल लें और उनके स्थान पर अपने राष्ट्रीय स्कूल तथा कालेज आदि स्थापित करें। (घ) वकील बॅरिस्टर आदि तथा मुकदमेबाज लोग धीरे

धीरे सरकारी न्यायालयों में जाना छोड़ दें और अपने निजी झगड़ों का निपटारा करने के लिए अपनी पंचायतें स्थापित करें। (ङ) लोग मेसोपोटानिया में सैनिक मुंशीगिरी अथवा मजदूरी आदि का काम करने के लिए न जायं। (च) जो लोग सुधार वाली नई काउन्सिलों के सदस्य होने के उम्मेदवार हैं वे अपनी उम्मेदवारी छोड़ दें और किसी उम्मेदवार के लिए वोट देने वाले वोट न दें। और (छ) विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार किया जाय। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने लोगों को यह भी परामर्श दिया था कि सब लोग स्वदेशी और केवल स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार करें। देश करोड़ों वेकारों को मिले रोजी नहीं दे सकता इस लिए यह निश्चय किया गया कि लोग हाथ के कते हुए सूत के और हाथ से वुने हुए कपड़ों का व्यवहार करें।

देश में पहले से ही वहुत अधिक क्षोभ फैला हुआ था और सब लोग वहुत अधिक असंतुष्ट होने के कारण असहयोग के लिए वह पहले से ही तैयार था। अतः यह कार्यक्रम लोगों को वहुत अधिक पसंद आया और इसके अनुसार इतनी शीघ्रता से कार्य होने लगा कि थोड़े ही समय में केवल भारत सरकार ही नहीं बल्कि ब्रिटिश सरकार भी घवरा गई और उसे अपने साम्राज्य के परम उज्वल रत्न भारतवर्ष के हाथ से निकल जाने की वहुत वड़ी आशंका होने लगी। देश के प्रायः सभी छोटे वड़े नेता इस आंदोलन के पक्ष में हो गए और अपने सब काम छोड़ कर देश में जागृति उत्पन्न करने और लोगों को असहयोग का तत्व समझाने लगे। हजारों विद्यार्थी कालेज छोड़ कर देश सेवा के काम में लग गए। सरकार के साथ सब प्रकार का सम्बन्ध लोग परित्याग

करने लगे और स्वदेशी का भी जोरों से प्रचार होने लगा। मद्य तथा दूसरे मादक पदार्थों का व्यवहार भी बहुत कम होने लगा। तात्पर्य यह कि थोड़े ही समय में सारे देश में अपूर्व राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो गई और थोड़े ही समय में इतना अधिक काम हो गया जितना आज तक कभी नहीं हुआ था। अप्रेल १९२१ तक यह आन्दोलन बहुत जोरों के साथ चलता रहा। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि भारतवासी बिना स्वराज्य प्राप्त किये दम न लेंगे। देश की सारी शक्ति एक ही उद्देश्य की सिद्धि में लगी हुई थी जिससे अधिकारियों को बहुत अधिक चिंता हो रही थी। मई १९२१ के दूसरे सप्ताह में भारत के तत्कालीन बड़े लाट लार्ड रीडिंग ने पं० मदनमोहन मालवीय के द्वारा महात्मा गांधी को शिमले बुलाया। वहां महात्मा गांधी और लार्ड रीडिंग में दो दिन बातें हुई, जिनमें दोनों ने अपने पक्ष की बातें कह सुनाई। परन्तु कुछ कारणों से उस समय कोई बातें नहीं हो सकीं। असहयोग आन्दोलन उसी तरह जोरों के साथ चलता रहा और जनता पर महात्मा गान्धी का अधिकार दिन पर दिन बढ़ता ही गया। आन्दोलन को भीषण रूप धारण करते देखकर सरकार ने भी जोरों से दमन-चक्र चलाना आरम्भ किया। पर यह आन्दोलन ऐसा नहीं था जो केवल दमन-चक्र से ही शांत हो जाता। नवम्बर १९२१ में दिल्ली में आल इंडिया कांग्रेस कमेटी का एक अधिवेशन हुआ कि देश में सत्याग्रह आरम्भ हो और सब लोग सत्याग्रह करने के लिए तैयार हो जायँ। इधर असहयोग का जोर बढ़ता जा रहा था और सरकार बड़े बड़े नेताओं तथा हजारों स्वयंसेवकों को पकड़ पकड़ कर जेल भेजती

जा रही थी। उस समय कम से कम पचीस हज़ार आदमी स्वेच्छा-पूर्वक और बड़ी प्रसन्नता के साथ जेल गए थे। महात्मा गांधी ने निश्चय किया था कि फरवरी १९२२ में गुजरात के बारडोली नामक स्थान से सत्याग्रह आरम्भ किया जायगा। इसके लिए वहां पूरी तैयारी हो रही थी। पर इसी बीच में देश के दुर्भाग्य-वश गोरखपुर जिले के चौरा चौरी नामक स्थान में एक गहरा दंगा हो गया, जिसमें कुछ नासमझों ने वहां का थाना जला दिया जिससे वहां के थानेदार और कुछ सिपाही जल-मरे। अतः विवश हो कर कांग्रेस कमेटी को यह निश्चय करना पड़ा कि अभी सत्या-ग्रह रोक दिया जाय और देश को अहिंसा के सिद्धान्त पर सदा दृढ़ रहने के लिए तैयार किया जाय। सत्याग्रह स्थगित हो जाने के कारण बहुत से देशवासी बहुत दुःखी और निराश हुए और उनका उत्साह बहुत ही मन्द पड़ गया। असहयोग और सत्याग्रह की बहुत जोरों के साथ उठी हुई लहर मानों किसी भारी चट्टान के साथ टकरा कर पीछे की ओर लौट पड़ी।

सरकार का उद्देश्य सिद्ध हो गया और उसे अपना मतलब निकालने का अच्छा अवसर मिल गया। इसके कुछ ही दिनों बाद महात्मा गांधी राजद्रोह के अभियोग में पकड़े गए और उन्हें छः वर्ष के कारावास का दंड दिया गया। बहुत से नेता पहले ही जेल जा चुके थे। महात्मा गांधी के जेल जाने के बाद धीरे धीरे असहयोग आन्दोलन बिलकुल ठंडा पड़ गया और स्वराज्य बहुत दूर जा पड़ा।

इस असहयोग आन्दोलन का अंत चाहे जिस प्रकार हुआ हो पर इसकी उपयोगिता में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा

सकता। इससे किसी को इनकार नहीं हो सकता कि सिद्धांततः यह आन्दोलन बिलकुल पूर्ण था और यदि इसका पूर्ण रूप से तथा उपयुक्त रीति से पालन किया जाता, तो संसार की कोई शक्ति भारतवासियों को स्वराज्य प्राप्त करने से रोक नहीं सकती थी। भारत में भारतवासियों पर खाली अंगरेज न शासन करते हैं। और न कभी कर सकते हैं। स्वयं भारतवासी ही अपने देश की पराधीनता के लिए उत्तरदायी हैं और वहीं बहुत बड़ी सीमा तक अपने देश को अंगरेजों के अधीन बनाए हुए हैं। असहयोग आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यह था कि जो भारतवासी इस देश को विदेशियों के शासन में रखने में सहायक हो रहे हैं वे अपना हाथ खींच लें। बस फिर अंगरेजों का शासन इस देश से आपसे आप उठ जायगा। परंतु कदाचित् अभी देश के भाग्य में स्वाधीन होना नहीं बदा था, इसलिए स्वतंत्रता-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन भी भारतवासियों को सफल मनोरथ न बना सका। असहयोग राजनीतिक दृष्टि से तो एक बहुत बड़ा और अमोघ शस्त्र था ही, परंतु इसके और भी अनेक पार्श्व थे जो कम उपयोगी या महत्व के नहीं थे। सबसे पहली बात तो यह है कि असहयोग के साथ अहिंसा भी लगी हुई थी। अहिंसावाद कितनी उच्च कोटि का सिद्धान्त है और उसके द्वारा मनुष्य नैतिक दृष्टि से कितने उच्च शिखर पर पहुंच जाता है कदाचित् यह बतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति अहिंसा के सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन करता है वह स्वयं तो मनुष्य की कोटि से निकल कर देव कोटि में पहुंच ही जाता है पर साथ ही वह दूसरों पर भी इतना अच्छा प्रभाव डालता है कि बहुत सहज मे उनकी बहुत अधिक नैतिक उन्नति कर सकता है। महात्मा गांधी

अहिंसा के परम उपासक थे और उनका सिद्धान्त था कि हिंसा की सहायता से स्वराज्य प्राप्त करने की अपेक्षा देश का अनन्त काल तक पराधीन रहना ही कहीं अच्छा है। इसीलिए उन्होंने चौरी चौरा का हत्याकांड होते ही सत्याग्रह रोक दिया था। असहयोग आन्दोलन देश को केवल स्वाधीन करने के लिए नहीं था, बल्कि जैसा कि एक अवसर पर श्रीयुक्त द्विजेन्द्रनाथजी टागौर ने कहा था, देशवासियों के सामने एक अच्छा और उच्च आदर्श उपस्थित करने के लिए था। हमारे शासक हमें बहुत ही तुच्छ और नगण्य समझते थे और हमारे विचारों तथा भावों का कोई आदर नहीं करते थे। इसीलिए देश को उनसे असहयोग करने के लिए कहा गया था। यदि हममें और आप में बराबरी का भाव नहीं है तो फिर हमारा और आपका किसी प्रकार साथ या सहयोग नहीं हो सकता। सहयोग और साथ तो सिर्फ बराबरी वालों में हुआ करता है। यदि संयोगवश कुछ समय के लिए इस प्रकार का साथ हो भी जाय, तो या तो दुर्बल पक्ष को पग पग पर अपमानित होना पड़ता है और या दोनों में आन्तरिक वैमनस्य उत्पन्न होता जाता है। यह परिस्थिति दोनों ही पक्षों के लिए हानिकारक होती है इसलिए ऐसी परिस्थिति जहां तक हो सके शीघ्र नष्ट कर दी जानी चाहिए।

असहयोग के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यह लोगों के चरित्र को शुद्ध करने वाला और उनमें बल लाने वाला आन्दोलन था। उसका मुख्य आधार नैतिक बल था और वह लोगों में आत्मनिर्भरता तथा स्वाभिमान का भाव उत्पन्न करने वाला था। वह लोगों को उनके उद्देश्य की उच्चता बतलाना चाहता था और

शुद्ध तथा पवित्र उपायों से उस उद्देश्य की सिद्धि कराना चाहता था। जो पाशविक बल केवल दुर्बलों में पाया जाता है, उसका वह नाश करना चाहता था और सबसे बढ़कर बात यह थी कि जो साम्राज्यवाद अपने सामने न्याय और सत्य को कोई चीज नहीं समझता उस साम्राज्यवाद का अन्त करके एक ऐसा मार्ग प्रस्तुत करना चाहता था जिस पर चलकर सारा संसार सुखी और स्वतन्त्र हो। ऐसे उत्तम आन्दोलन को चाहे उस समय किसी कारण वश सफलता न प्राप्त हुई हो पर फिर भी उनकी श्रेष्ठता तथा महत्ता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। अब भी यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यही मानना पड़ेगा कि सब वर्णों और सब जातियों का कल्याण इसी प्रकार के सिद्धन्तों पर चलने से हो सकता है और आजकल जिन सिद्धान्तों पर ये गोरी जातियां चल रही हैं, और जिस प्रकार का आदर्श लोगों के सामने उपस्थित कर रही हैं, उसका परिणाम स्वयं उनके लिए भी और दूसरों के लिए भी भीषण दु:ख तथा हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। आध्यात्मिक तथा नैतिक विषयों में भारतवासी सदा सब से आगे रहते आए हैं। अब भी वे आगे बढ़कर संसार को इन बातों की शिक्षा देना चाहते थे परन्तु अभी दैव उनके अनुकूल नहीं था। परन्तु फिर भी हमें आशा करनी चाहिए कि कभी न कभी उपयुक्त समय आवेगा और दैव हमारे अनुकूल होगा। उस समय हम फिर आगे बढ़ेंगे और संसार के सामने ऐसे अच्छे आदर्श उपस्थित करेंगे जिनके कारण समस्त मानव जाति के सब प्रकार के दु:खों और दोषों का सदा के लिए अन्त हो जायगा।

अब हम फिर अपने प्रकृत विषय पर आते हैं। भारतवा-

सियों में स्वाधीनता का भाव भली भांति जागृत हो गया है और अब पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं कि जिस अधिकार का आधार कोरा बल प्रयोग ही हो, वह अधिकार कितने दिनों तक ठहर सकता है। भारतवर्ष स्वतंत्र होगा और अवश्य स्वतंत्र होगा। चाहे आज और चाहे दस बीस वर्ष बाद, उसे सदा अपने अधिकार में रखने की आशा अंग्रेज साम्राज्यवादियों को छोड़ देनी चाहिए।

यदि सच पूछिये तो अनेक विचारवान अंग्रेज पहले से ही यह भविष्यद्-वाणी कर गये हैं कि भारत में अँग्रेजों का शासन कभी स्थायी नहीं हो सकता, और यदि भारतवासी चाहें तो वह बहुत ही थोड़े परिश्रम से सदा के लिए नष्ट हो सकता है। आज से बहुत दिनों पहले मेरेडिथ टाउन्सेण्ड ने लिखा था—"अंग्रेज़ लोग समझते हैं कि भारत में हमारा राज्य सदा अथवा बहुत दिनों तक बना रहेगा। पर मेरी समझ में यह बात ठीक नहीं है। मेरा तो यही विश्वास है कि जो साम्राज्य एक दिन में हमारे हाथ आया है, वह एक रात में हमारे हाथ से निकल सकता है × × × सारे भारत का शासन करने के लिए हमने वहाँ बहुत ही थोड़े से शासक और बहुत ही थोड़े सैनिक रखे हैं। इन थोड़े अंग्रेजों के सहारे ही सारा भारतीय साम्राज्य चलता है और हमारे अधिकार में रहता है। इन थोड़े से अंग्रेजों को छोड़ कर वहां हमारा और कुछ भी नहीं है यदि थोड़े से शासक किसी प्रकार वहाँ से हटा दिये जाँय और थोड़े से सैनिक परास्त कर दिये जाँय तो बात की बात में हमारे शासन और साम्राज्य का अन्त हो जायगा और पुराना भारत फिर ज्यों का त्यों बच रहेगा।

न तो अब तक उसमें कोई परिवर्तन हुआ है और न आगे हो सकता है। हमारे शासन का समर्थन करने के लिए भारतवासियों की सहमति और स्वीकृति के अतिरिक्त वहाँ और कोई बात है ही नहीं। जब तक भारतवासी चाहते हैं, तभी तक हम उनका शासन कर सकते हैं। जिस दिन वे चाहेंगे, उस दिन हमें भारत खाली कर देना पड़ेगा। भारत में न तो कोई गोरी जाति है और न वहाँ उसका कोई स्थायी निवास-स्थान है, बल्कि वहाँ कोई ऐसा गोरा भी नहीं है जो जमकर वहाँ रहना चाहता हो। न तो वहाँ गोरे नौकर चाकर हैं, न गोरी पुलिस और न गोरे डाकिये; और न कोई और ही गोरे कर्मचारी हैं। यदि धूसर वर्ण के लोग केवल एक सप्ताह के लिए भी हड़ताल कर दें तो बात की बात में हमारे इतने बड़े बड़े साम्राज्य का कहीं नाम भी न रह जायगा। हमारा साम्राज्य उसी तरह नष्ट हो जायगा जिस तरह बच्चों का बनाया हुआ ताशों का घर जरासा हिलने से ही गिर पड़ता है। और उस दशा में भारत के जितने गोरे शासक हैं, वे सब के सब स्वयं अपने ही घरों में क़ैदी बन जायँगे और भूखों मरने लगेंगे। न वे अपने घर से बाहर निकल सकते हैं, न खा सकते हैं और न पी सकते हैं।" टाउन्सेण्ड का उक्त कथन असहयोग के सिद्धान्त का कितना अधिक समर्थन करता है और उससे असहयोग की उपयोगिता कितनी अधिक प्रमाणित होती है, इसे पाठक स्वयं ही समझने का उद्योग करें। हाँ, शर्त यह है कि असहयोग पूर्ण और व्यापक होना चाहिए। फिर उससे भारत के निस्तार में कुछ भी विलम्ब नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि भारत की स्वतंत्रता बहुत से अंशों में स्वयं भारतवासियों के ही हाथ में हैं। जिस दिन वे सच्चे हृदय से

स्वतंत्र होना चाहेंगे, उस दिन संसार की कोई शक्ति उनको पराधीन न रख सकेगी।

संसार में जहाँ जहाँ गोरों का राज्य है, वहाँ वहाँ वह केवल राजनीतिक ही है। सब जगह गोरों का अधिकार केवल इसी लिए है कि वहाँ के लोग अनेक कारणों से गोरों से दबे रहते हैं और अब तक उन्होंने अपने शासकों का कभी पूरा पूरा विरोध नहीं किया है। पर शासन या अधिकार के ये आधार वास्तव में कोई चीज नहीं हैं। जिस दिन जहाँ की प्रजा गोरों का प्रभुत्व मानना छोड़ देगी और अपने मन में इस बात का दृढ़ निश्चय कर लेगी कि अब हम गोरों के अधिकार में नहीं रहेंगे, उसी दिन और उसी समय गोरों को उनका प्रदेश विवश होकर अवश्यमेव खाली कर देना पड़ेगा। यदि आज धूसर वर्ण के लोग गोरों को अपने देश से निकाल देना चाहें तो गोरों को अवश्य वहाँ से निकल जाना पड़ेगा। फिर उनका क्षण भर भी ठहरना असम्भव हो जायगा। गोरों की प्रजा को कहीं लड़ना झगड़ना नहीं पड़ेगा। उन्हें अपने शासकों के विरुद्ध केवल शुद्ध और पूरा पूरा सत्याग्रह ही करना पड़ेगा। और गोरों का शासन नष्ट करने में वह सत्याग्रह ही यथेष्ट होगा। उसी सत्याग्रह से गोरों के शासन और राज्याधिकार की जड़ पूरी तरह से हिल जायगी। आज कल धूसर वर्ण के सभी लोग गोरों के अधिकार से निकल कर स्वतंत्र होना चाहते हैं और यह आग दावाग्नि की भांति सारे धूसर जगत् में फैल रही है। जो कुछ अब तक मिश्र में हुआ है अथवा जो कुछ इस समय भारत में हो रहा है, वही मरक्को, मध्य एशिया और डच इण्डीज आदि स्थानों में भी हो रहा है। निरे जंगलियों को छोड़कर और

कोई अब गोरों के अधिकार में नहीं रहना चाहता; क्योंकि एक तो इनके अत्याचारों आदि से लोग बहुत पीड़ित हो रहे हैं और दूसरे वे स्वतन्त्रता का मूल्य और उपयोगिता आदि अच्छी तरह समझने लगे हैं।

एक बात और है। यदि भूसर वर्ण के लोग अपने अपने देश से गोरों को निकालने का दृढ़ निश्चय कर लेंगे और इस उद्देश्य से सत्याग्रह अथवा और कोई उपयुक्त उपाय आरम्भ कर देंगे, तो गोरे उनका अधिक विरोध भी न कर सकेंगे। अपनी प्रजा के मुकाबले गोरों को ठहरने और अपना शासन बनाये रखने का अधिक साहस भी न होगा; क्योंकि शासन नष्ट हो जाने में उनकी कोई विशेष हानि भी न होगी। उनकी राजनीतिक और आर्थिक हानि अवश्य होगी और बहुत अधिक होगी, पर ये हानियां ऐसी नहीं हैं जिनके लिए गोरे किसी प्रकार की जान जोखिम सह सकें और प्राण रहते तक अपनी प्रजा का विरोध करने के लिए डटे रहें। अपने शासन और अधिकारों को बचाने का पूरा पूरा उद्योग वे वहां करेंगे जहाँ वे जाकर स्थायी रूप से बस गये हैं और जहाँ उन्होंने अपना घर बना लिया है। जिन देशों को वे केवल सराय समझ कर लूटने के लिए ही अपने अधिकार में रखते हैं, उन देशों के लिए वे अधिक जोखिम अपने सिर नहीं लेंगे। भारतवर्ष में अंग्रेज़ लोग स्थायी रूप से नहीं बसते, इसलिए यहाँ से उनका निकलना बहुत ही सहज है। पर उत्तर आफ्रिका से फ्रान्सीसियों का निकलना बहुत ही कठिन है। क्योंकि वहाँ उन्होंने अपना घर बना लिया है। यदि एक बार भारत किसी प्रकार अंगरेजों के हाथ से निकल जाय, तो फिर वे दोबारा उस पर विजय प्राप्त करने

के लिए अपने लाखों सिपाइयों और करोड़ों रुपयों का नाश करने की आवश्यकता न समझेंगे। हाँ जब तक उनका शासन पूर्ण रूप से नष्ट न होगा, तब तक वे उसे बचाये रखने का अवश्य पूरा पूरा प्रयत्न करेंगे। पर इस में विचारणीय बात यह है कि जब सारा भारत ही उनको निकाल बाहर करने के उद्योग में लग जायगा, तब वे उसे अपने अधिकार में रखने के प्रयत्न में कहाँ तक सफल होंगे ? पर उत्तर अफ्रिका में जो देश फ्रांस के अधिकार में हैं, उन में प्रायः दस लाख गोरे बसते हैं, जिनमें से पाँच लाख के लगभग शुद्ध फ्रांसीसी हैं। उनकी रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर फ्रांस अपना सर्वस्व दे सकता है। जब तक फ्रांस के पास एक भी आदमी या एक भी पैसा रहेगा, तब तक वह अपने आदमियों को कत्ल होते या गुलाम बनते न देख सकेगा।

अब यदि हम यह मान लें कि धूसर वर्ण के देशों पर से गोरों का अधिकार बिल्कुल नष्ट हो गया अथवा बहुत कम हो गया, तो क्या यह सम्भव है कि धूसर वर्ण के लोग अपने अपने देश से निकल कर उसी प्रकार गोरों के निवास-स्थानों पर छापा डालना चाहेंगे जिस प्रकार पीत वर्ण के लोग अपना देश छोड़ कर गोरों के प्रदेश में प्रवेश करने के लिए उत्सुक हैं ? हमारी समझ में शायद ऐसा कभी न होगा। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि पीत वर्ण वालों के लिए तो अपने देश में स्थान की बहुत कमी है, पर धूसर वर्ण के लोगों के पास अपने ही देशों में पर्याप्त स्थान हैं। भारत, मिस्र और जावा आदि देशों में अभी वहाँ की बढ़ती हुई प्रजा के बसने के लिए बहुत अधिक स्थान हैं, इसलिए उन्हें गोरों के देशों पर छापा डालने की कोई

आवश्यकता नहीं है। ठीक यही दशा मेसोपोटानिया और फारस आदि देशों की है। यदि इन देशों के निवासियों को जमीन की आवश्यकता हो तो ये अपने ही देशों में अपनी बढ़ती हुई प्रजा के निर्वा के लिए बहुत अधिक नई जमीन निकाल सकते हैं।

भारत की आबादी अवश्य ही कुछ अधिक घनी है। इसी लिए यहाँ के निवासियों को विवश होकर कनाडा और दक्षिण आफ्रिका आदि स्थानों में रोजगार ढूँढने के लिए जाना पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उन देशों के निवासी और अधिकारी अब भारतीय मजदूरों आदि से भी उतने ही भयभीत होने लगे हैं जितने चीनी मजदूरों से होते हैं। पर जब भारत स्वतंत्र हो जायगा, तब वह अपनी बढ़ती हुई प्रजा के निर्वाह का कोई न कोई उपयुक्त उपाय निकाल ही लेगा। पर हाँ धूसर और पीत वर्ण के लोग मिलकर एक हो जायँगे, तब सम्भव है कि गोरों के निवास-स्थानों पर उनका सम्मिलित और भीषण आक्रमण हो। पर यह अभी कोरा अनुमान ही अनुमान है, इसलिए इस संबंध में विशेष विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। इसकी अपेक्षा इस बात की अधिक सम्भावना है कि धूसर वर्ण के मुसलमान आफ्रिका के कृष्ण वर्ण हबशियों से मिल जायँ; क्योंकि वहाँ इस्लाम धर्म का जोरों से प्रचार हो रहा है। इस्लाम एक ऐसी कड़ी है जो धूसर और कृष्ण वर्ण के लोगों को मिला कर एक कर सकती है। पर इस प्रश्न का विचार हम अगले प्रकरण में करेंगे।

कृष्ण वर्ण

(४)

कृष्ण वर्ण के लोग मुख्यतः अफ्रिका में सहारा के रेगिस्तान के दक्षिण में बसते हैं। सारे संसार में कृष्ण वर्ण के मनुष्यों की संख्या १५,००,००,००० है, जिनमें से अधिकांश अपनी जन्म-भूमि आफ्रिका में ही निवास करते हैं। आफ्रिका में बसने वाले हवशियों की संख्या १२,००,००,००० के लगभग है। बाकी हवशी अपने देश से बहुत दूर दो स्थानों में बसते हैं। एक तो आस्ट्रेलेशिया में और दूसरे अमेरिका में। पूर्वी हवशी एशिया और आस्ट्रेलिया के बीच के द्वीप-पुंजों में बसते हैं। किसी समय इन हवशियों का विस्तार आफ्रिका से लेकर दक्षिण एशिया होते हुए प्रशान्त महासागर तक था और उन्हींके वंशज आज कल पूर्व में बसते हैं। एशिया की दूसरी जातियों ने इनको या तो दबा दिया था और या जंगलों में मार भगाया था। उन्हींके वंशज कुछ जंगली हवशी आज कल फ़िलिपाइन्स, इण्डो चाइना और दक्षिण भारत के जंगलों आदि में बचे हुए हैं। आस्ट्रेलेशियन द्वीप पुंजों में बसने वाले शुद्ध हवशियों की संख्या बहुत ही कम, २०,००,००० के लगभग है। अतः उनका विशेष महत्व नहीं है।

अमेरिका में २,५०,००,००० हवशी वसते हैं। इन हवशियों को इधर हाल में उनके गोरे विजेता गुलाम बनाकर वहाँ ले गये थे। इन हवशियों में से कुछ ने वहाँ के आदिम निवासियों के साथ और कुछने गोरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके अनेक प्रकार की वर्ण संकर जातियों की सृष्टि कर दी है। पर अब उन वर्ण संकर जातियों का भी सम्बन्ध बहुत से अंशों में अफ्रिका के हवशियों के साथ ही मानना पड़ेगा।

आफ्रिका में सहारा रेगिस्तान के दक्षिण में कृष्ण वर्णके लोग अनंत काल से वसते आये हैं। पहले पीत वर्ण के लोगों की भांति कृष्ण वर्ण के लोग भी सारे संसार से अलग ही रहते थे और दूसरों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखते थे। उनका देश चारों ओर से समुद्रों से घिरा हुआ था और उनमें समुद्रों को पार करने की योग्यता नही थी; इसलिए वे जंगलियों की भांति अपने देश में ही सीमा-बद्ध रहते थे। इधर चारसों वर्षों से गोरों ने उनके देश में प्रवेश करना आरम्भ किया है। पर इससे बहुत पहले मिश्र की ओर से धूसर वर्ण के लोगों का वहाँ बहुत अधिक प्रवेश हो गया था। पहले पूर्व की ओर से अरबों ने आफ्रिका में प्रवेश करके हवशियों पर विजय प्राप्त की थी। धूसर वर्ण अरब हवशियों पर केवल राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए; बल्कि उन्होंने उनके साथ विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किया था जिसके कारण अब भी आफ्रिका के अनेक प्रदेशों के निवासियों में धूसर रक्त अधिकता से पाया जाता है। पर हाल के गोरे आक्रमणकारी हवशियों के साथ कोई विशेष सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके थे। आज से पचास वर्ष पहले तक भी वे

वहाँ साधारण व्यापारियों की भांति जाते और अपना काम करते चले आते थे। हाँ दक्षिण अफ्रिका में उन्होंने अपने उपनिवेश अवश्य स्थापित कर लिये थे। पर इसके उपरान्त शीघ्र ही एक विलक्षण और भीषण परिवर्तन हो गया। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में यूरोप वालों की शनि की दृष्टि आफ्रिका पर पड़ी और प्रायः एक पीढ़ी के अन्दर ही अन्दर यूरोपियन महाशक्तियों ने आफ्रिका को आपस में बाँट लिया। हब्शी और अरब दोनों ही यूरोपियनों के अधिकार में आ गये। केवल लाइबीरिया और एबी-सीनिया ही स्वतंत्र बच रहे। उधर गोरों के उपनिवेश और आबादी खूब बढ़ने लगी। मध्य आफ्रिका में तो बहुत अधिक गरमी पड़ती थी, इसलिए गोरे वहां बस ही नहीं सकते थे, पर उत्तर और दक्षिण आफ्रिका में, जहाँ का जल-वायु गोरों के लिए बहुत ही अनुकूल और उपयुक्त था, गोरों के बहुत बड़े बड़े उपनिवेश स्थापित हो गये। आज कल एल्जीरिया और ट्यूनिस के समुद्र-तटों पर करीब दस लाख और दक्षिण आफ्रिका में प्रायः पन्द्रह लाख गोरे बसते हैं। एशिया में तो गोरे अपनी जड़ नहीं जमा सके हैं, पर आफ्रिका के अनेक स्थानों में उन्होंने पूरी तरह अपनी जड़ जमा ली है।

आफ्रिका के सम्बन्ध में इस समय एक बहुत बड़ा प्रश्न है। वह यह कि उत्तर और दक्षिण आफ्रिका में स्थायी रूप से बसते हुए भी क्या गोरे लोग मध्य आफ्रिका पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व बनाये रख सकेंगे? जल वायु को देखते हुए मध्य अफ्रिका में गोरे बस तो सकते ही नहीं, फिर उनका राजनीतिक अधिकार कहाँ तक दृढ़ और स्थायी रह सकेगा? आफ्रिका में प्राकृतिक

सम्पत्ति बहुत अधिक है। वहां से यूरोप को बहुत अधिक खाद्य पदार्थ तथा कच्चा माल मिल सकता और मिलता है। अब यह बात स्वतःसिद्ध है कि यदि मध्य-आफ्रिका में गोरों का प्रभुत्व बना रह सकता है, तो वह केवल हवशियों के कारण ही बना रह सकता है। अर्थात् गोरे मध्य आफ्रिका में बस तो सकते ही नहीं, अतः उनके प्रभुत्व का बना रहना अथवा नष्ट हो जाना स्वयं हवशियों की इच्छा और योग्यता आदि पर ही निर्भर करता है। इस प्रश्न की मीमांसा करने के लिए हमें पहले यह देखना चाहिए कि स्वयं हवशियों की प्रवृत्ति और भाव कैसे हैं और धूसर वर्ण के लोगों के साथ उनका कैसा सम्बंध है।

पहली बात तो यह है कि हवशी लोग केवल गोरों से ही नहीं बल्कि धूसर और पीत वर्ण के लोगों से भी अनेक बातों में बहुत ही भिन्न हैं। संसार के और सभी वर्णों के लोगों से हवशी लोग बिलकुल भिन्न हैं। उनमें सभ्यता की अपेक्षा बर्बरता की मात्रा ही बहुत अधिक है। यही कारण है कि सभी बातों में उनमें बहुत जल्द और बहुत अधिक आवेश आ जाता है। दूसरी बात यह है इसी बर्बरता के कारण उनकी वंश-वृद्धि भी बहुत शीघ्रता से और बहुत अधिक होती है। जितने थोड़े समय में जितनी अधिक वंश-वृद्धि हवशियों की हो सकती है, उतने थोड़े समय में उतना अधिक वृद्धि संसार के और किसी वर्ण की नहीं होती। उनकी यह बर्बरता ही उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट और विपत्तियाँ आदि सहने में भी समर्थ बनाती है। नहीं तो गुलामी की दशा में बहुत दिनों तक रहकर उन्होंने जितने अधिक कष्ट उठाये हैं, यदि उतने अधिक कष्ट किसी और वर्ण के लोगों को उठाने पड़ते, तो शायद

आज संसार में उनका कहीं पता भी न लगता। सब से अन्तिम बात यह है कि जहाँ एक बार किसी दूसरे वंश में कृष्ण वर्ण का रक्त प्रवेश कर जाता है, तब फिर वह वहाँ से निकलना नहीं जानता। अर्थात् एक बार कृष्ण वर्ण के लोग जिस वंश के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, उस वंश को वे सदा के लिए अपने अन्तर्भुक्त कर लेते हैं। कृष्ण वर्ण का रक्त एक बार प्रविष्ट हो जाने पर फिर निकाले नहीं निकलता।

आफ्रिका का भविष्य बहुत से अंशों में हबशियों की वंश-वृद्धि पर ही निर्भर करता है। बहुत काल तक हबशी लोग बिलकुल जंगलियों की तरह रहते थे। उनकी जनन-शक्ति तो बहुत अधिक थी ही, पर प्रकृति ने कुछ ऐसी अवस्था कर दी थी जिससे उस वृद्धि में अनेक बाधाएँ आ पड़ती थीं, औरवे बढ़ बढ़ कर भी अन्त में नष्ट हो जाते थे। उनकी जनन-शक्ति जितनी ही बढ़ी हुई थी, उतनी ही उनमें मृत्यु-संख्या भी अधिक थी। राजनीतिक दृष्टि से हबशी लोग बिलकुल अयोग्य थे; क्योंकि वे जंगली ही थे। उनमें छोटे-छोटे फिरके थे जो सदा आपस में पशुओं की भाँति भीषण रूप से लड़ते झगड़ते रहते थे और इस प्रकार अपनी वृद्धि का प्रतिघात किया करते थे। उनके धर्म भी प्रायः ऐसे ही थे जिनमें नित्य ही नर-बलि आदि की आवश्यकता पड़ा करती थी। हबशियों में इधर हाल तक इतनी अधिक नर-बलि हुआ करती थी जिसे सुन कर सभ्य लोग सहसा विश्वास ही नहीं, कर सकते। यदि ये सब बातें किसी और वर्ण के लोगों में होतीं तो कदाचित् उस वर्ण का बहुत शीघ्र नाश हो जाता। पर हबशी, सन्तान उत्पन्न करने में बड़े तेज होते हैं। इसलिए इस नाश से भी

उनकी कोई विशेष हानि नहीं हुई । पर उधर गोरों के शासन के कारण हवशियों का आपस का लड़ना झगड़ना भी और नर बलि भी प्रायः नहीं के समान हो गई है । इसका परिणाम यह हुआ है कि हवशियों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी होती जाती है । दक्षिण आफ्रिका के कुछ स्थानों में तो इधर पचास साठ वर्ष के अन्दर ही उनकी संख्या दस गुनी तक बढ़ गई है । अतः यह बात एक प्रकार से बिलकुल निश्चित ही है कि थोड़े ही समय में हवशियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी ।

अब प्रश्न यह है कि जब हवशियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी, तब गोरों के प्रति उनके भाव कैसे होंगे ? इस प्रश्न का अभी तक कोई ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता । केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरे शासकों के प्रति उनके भाव पीत और धूसर वर्ण वालों के भावों से कुछ न कुछ भिन्न अवश्य होंगे । इसके कई कारण हैं । पहली बात तो यह है कि हवशियों का न तो कोई पुराना महत्त्वपूर्ण इतिहास है और न कोई उज्ज्वल भूतकाल, जिसका उनको गर्व हो सके और जिसके आधार पर अधिक उच्चाकांक्षी हो सकें । हाँ, संसार की वर्तमान अवस्था को देखते हुए उनमें जो कुछ उच्चाकांक्षा उत्पन्न हो जाय । उनकी निज की कोई सभ्यता कभी नहीं थी । एशिया वालों के भाव, विचार और अनुभव आदि ऐसे हैं जिनके कारण वे गोरों के बहुत बड़े विरोधी हो सकते हैं, पर हवशियों के सम्बन्ध में वह बात नहीं है । इस समय गोरे चाहे कितने ही अधिक उन्नत और सभ्य न बन जायँ, पर पीत और धूसर वर्ण के लोग भी किसी समय उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर अवश्य थे । संसार की सभ्यता

और मानव-जाति की उन्नति में उनका भी बहुत बड़ा अंश अवश्य है। पर हवशियों ने आज तक कोई ऐसा काम नहीं किया। वे सदा से जंगलियों और पशुओं की भाँति अकेले रहते थे। पीछे से धूसर वर्ण के कुछ लोगों ने वहाँ पहुँच कर उनमें अपने रक्त और अपने भावों आदि का सम्मिश्रण अवश्य कर दिया था। पर इससे भी उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। यूरोप और एशिया वालों की तरह उनमें मौलिकता का गुण बिलकुल नहीं है।

हवशियों पर मौलिकता के अभाव का यह परिणाम पड़ता है कि वे सहज में दूसरों के प्रभाव में आ जाते हैं। एशिया वाले तो अपना प्राचीन इतिहास और अपनी पुरानी योग्यता जानते हैं, इसलिए वे विदेशियों की श्रेष्ठता स्वीकृत नहीं करते, पर हवशियों का कोई पुराना इतिहास नहीं है, इसलिए उनके सामने जो नई बात आ जाती है, उसीको वे सब कुछ समझ बैठते हैं और विदेशियों को अपना प्रभु और शिक्षक मान बैठते हैं। आफ्रिका के हवशियों ने आज तक धूसर वर्ण वालों को भी और गोरों को भी अपने से श्रेष्ठ तथा अपना स्वामी और शिक्षक माना है। अपने गोरे और भूरे आक्रमणकारियों का उन्होंने बहुत ही कम विरोध किया है, चटपट इस्लाम और ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया है, और सदा विदेशियों की दासता स्वीकृत की है। एशिया वालों ने आज तक कभी ऐसा नहीं किया।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि आफ्रिका के प्रभुत्व के संबंध में यूरोपियनों और अरबों में प्रतिद्वंद्विता है। अरब वाले तो बहुत दिनों से आफ्रिका पर प्रभुत्व प्राप्त करने के काम में लगे हुए थे, पर बीच में ही यूरोपियन कूद पड़े और

उन्होंने अरबों और हवशियों दोनों को अपने अधिकार में कर लिया। अब देखना यह है कि क्या अरब वाले हवशियों के साथ मिल कर गोरों को आफ्रिका से निकाल सकते हैं? इस समय धूसर जगत् में जो क्रांति हो रही है, उसे देखते हुए अनुमान यही होता है कि अरब वाले हवशियों को अपनी ओर मिला लेंगे और गोरों को वहाँ से हटा देने का उद्योग करेंगे। उनका यह उद्योग तीन मुख्य बातों पर निर्भर करता है। एक तो यह कि आफ्रिका में धूसर वर्ण वालों का आंतरिक बल कितना है। दूसरे यह कि इस बात की कितनी सम्भावना है कि हवशी लोग गोरों से बिगड़ खड़े होंगे? और तीसरे यह कि जिस समय अरब वाले और हवशी मिल कर सिर उठावेंगे उस समय गोरे उन दोनों का कहाँ तक विरोध कर सकेंगे?

आफ्रिका में धूसर वर्ण वालों का अड्डा सहारा के रेगिस्तान के उत्तर में है। मिश्र से मरक्को तक के हवशियों को अरबों ने एक प्रकार से अपने में मिला लिया है और उनको मुसलमान बना लिया है। आज से प्रायः बारह सौ वर्ष पहले अरबों ने हवशियों पर विजय प्राप्त की थी। तब से अब तक हवशियों में अरबों के रक्त का बहुत अधिक सम्मिश्रण हो चुका है। मिश्र, ट्रिपोली और सूडान तो बिलकुल मुसलमान हो चुके हैं और धूसर वर्ण के साथ एकजीव बन गये हैं। पर पश्चिम में जो बर्बर रहते हैं, वे कदाचित् दक्षिण यूरोप के गोरों की सन्तान हैं अथवा उनसे कुछ न कुछ सम्बन्ध रखते हैं। वे लोग प्रायः एक हजार वर्षों तक अरबों की अधीनता में रह चुके हैं। लेकिन फिर भी उनकी सब बातें अरबों से बिलकुल भिन्न हैं। उन्होंने अपनी भाषा

आदि की भी बहुत कुछ रक्षा की है और अरबों के साथ अधिक विवाह-सम्बन्ध भी नहीं किया। वहाँ शुद्ध अरबों की संख्या भी बहुत अधिक है, पर वे सब वहाँ प्रायः विदेशियों की ही भाँति रहते हैं। इस समय वहाँ फ्रांसीसियों का शासन है। विशेषतः एल्जीरिया इधर सौ वर्षों से राजनीतिक दृष्टि से बिलकुल फ्रांसीसी हो रहा है। अब वहाँ बहुत से यूरोपियन भी आ बसे हैं और उनकी संख्या दस लाख के लगभग हो गई है। बर्बरों की प्रवृत्ति भी कुछ फ्रांसीसियों की ओर ही है। फ्रांसीसी अधिकारी उन्हें अपनी ओर मिलाये रखने के भी अनेक प्रयत्न करते हैं। एल्जीरिया में बर्बरों और यूरोपियनों में विवाह आदि भी होने लग गये हैं। अतः इस बात की बहुत कुछ सम्भावना है कि कुछ दिनों में उत्तर पश्चिम आफ्रिका पूर्ण रूप से गोरों का ही हो जाय। एल्जीरिया और टयूनिस आदि में गोरों के विरुद्ध जो उपद्रव होते हैं, वे प्रायः वहाँ के अरबों के ही कारण होते हैं।

उत्तर पूर्व आफ्रिका में अरबों का पूरा पूरा प्रभाव है। सिनूसी मत का सब से अधिक प्रचार भी पहले वहीं के विकट खानाबदोशों में ही हुआ था। यद्यपि वहाँ के जंगली गिनती में बहुत थोड़े हैं, तथापि संसार में सबसे भयंकर लड़ाके हैं। सहारा रेगिस्तान के दक्षिण में जो हबशी रहते हैं, और जिनका अरबों के साथ सम्बंध हो गया है, वे भी लड़ने भिड़ने में पूरे शैतान ही हैं। जो लोग आफ्रिका के सभी हबशियों को मुसलमान बनाना चाहते हैं, उनका विचार है इन्हीं जंगली लड़ाकों को उन हबशियों की सेना के संचालन का अधिकार दिया जाय और वे हैं भी इस काम के लिए सब से अधिक उपयुक्त।

इस समय आफ्रिका में इस्लाम धर्म का प्रचार भी खूब जोरों के साथ हो रहा है। इस प्रचार को देख कर यूरोपियन भयभीत हो रहे हैं। सर चार्ल्स ईलियट ने एक अवसर पर कहा था कि यह इस्लाम धर्म ही आफ्रिका के हवशियों को ईसाइयों का घोर विरोधी बना सकता है और उनमें ऐसी एकता उत्पन्न कर सकता है, जो और किसी उपाय से नहीं हो सकती। प्रायः बीस वर्ष पहले टी० आर० थ्रेल पाल ने एक अवसर पर कहा था कि आफ्रिका के भीतरी भागों में इस्लाम धर्म का बहुत ही आश्चर्यजनक रूप से प्रचार हो रहा है। काफिरों के धर्म को तो वह पीसे डालता है। उसके मुकाबले में ईसाई-धर्म के प्रचार का विचार कोरी कल्पना ही है। आफ्रिका में भूमध्य रेखा के उत्तर में वहाँ की जंगली जातियों में युद्ध-प्रिय इस्लाम धर्म का जो बहुत ही शीघ्रता से प्रचार हो रहा है, वह बहुत ही भयंकर है और आगे चल कर आफ्रिका में जातीय प्रभुत्व के लिए जो युद्ध होगा, वह इसी के आधार पर होगा। आफ्रिका की कुछ थोड़ीसी जातियों को छोड़ कर बाकी सभी जातियाँ बहुत लड़ाकी हैं। वे तो केवल बल के सिद्धान्त को जानती हैं। उन पर विजय प्राप्त की गई थी। उसके बदले में वे भी विजय प्राप्त करेंगी। उनके लिए शांति और उच्च आदर्शों से पूर्ण ईसाई धर्म की अपेक्षा भयंकर और युद्धप्रिय इस्लाम धर्म कहीं अधिक आकर्षक है। इसीलिए मध्य आफ्रिका में इस्लाम धर्म का खूब प्रचार हो रहा है और यह निश्चय है कि शीघ्र ही वह जेम्बेजी के दक्षिण तक अच्छी तरह फैल जायगा।

दक्षिण की ओर इस्लाम धर्म का जिस आश्चर्यजनक रूप से प्रचार हो रहा है, उसका अनुमान हाल की एक घटना से हो

सकता है। थोड़े ही दिन हुए, अँगरेज अधिकारियों को अचानक इस बात का पता लगा कि न्यासालैण्ड में इस्लाम धर्म का प्रचार हो रहा है। जाँच करने पर मालूम हुआ कि जंजीबार के अरब लोग वहाँ धर्मप्रचार कर रहे हैं। उन्होंने अपना प्रचार-कार्य १९०० में आरम्भ किया था। उसके दस ही वर्ष बाद वहाँ की यह अवस्था हो गई कि न्यासालैण्ड के दक्षिणी प्रदेश के प्रत्येक गाँव में एक झोंपड़े में मसजिद और एक मुल्ला दिखाई पड़ने लगा। यद्यपि यह आन्दोलन यूरोपियनों के ही विरुद्ध था, तथापि अङ्गरेज अधिकारियों को उसे रोकने का साहस नहीं हुआ; क्योंकि उन्हें इस बात का भय था कि यदि हम इस काम में हस्तक्षेप करेंगे तो अन्य स्थानों में कोई उपद्रव खड़ा हो जायगा। एक और ध्यान रखने की बात यह है कि न्यासालैण्ड में ही कुछ ऐसे ईसाइयों का प्रचार-कार्य भी हो रहा है जो गोरों के विरोधी हैं।

इस प्रकार दो कारणों से हबशियों में इस्लाम धर्म का प्रचार जोरों से हो रहा है। पहला कारण तो यह है कि हबशी युद्धप्रिय हैं, और इस्लाम धर्म लोगों को योद्धा बनाने में सहायक होता है। और दूसरा कारण यह है कि हबशी भी अंगरेजों के दासत्व से निकलना चाहते हैं और मुसलमान भी। यही कारण है कि दक्षिण आफ्रिका के जुलुओं और नेटेकबेलों में शान्त ईसाई धर्म का बहुत ही धीरे धीरे प्रचार हो रहा है। अभी तक जेम्बेजी के दक्षिण में इस्लाम धर्म का कुछ भी प्रचार नहीं हुआ है। पर गोरों को इस बात का भय सदा बना ही रहता है कि कहीं यहाँ भी इस्लाम धर्म अपने पैर न पसारे। दक्षिण में ईसाई धर्म का अवश्य ही बहुत कुछ प्रचार हुआ है। वहाँ के अधिकांश आदिम निवासी

ईसाई हो गये हैं। पूर्व मध्य-आफ्रिका में भी ईसाई धर्म का थोड़ा बहुत प्रचार हुआ है। युगाण्डा तथा पश्चिमी आफ्रिकन गायना में ईसाईयों की कमी नहीं है। आगे चलकर एक न एक दिन आफ्रिका के सभी आदिम निवासी या तो ईसाई और या मुसलमान हो जाँयगे, काफिर नहीं रहेंगे। जो ईसाई हो जायँगे, वे तो गोरों का दासत्व स्वीकृत किये रहेंगे और जो मुसलमान हो जायँगे, वे हब- शियों की युद्धप्रियता से लाभ उठाकर आफ्रिका से गोरों को निकाल देने और उस महादेश को अपना बनाने का उद्योग करेंगे।

आफ्रिका के जिन स्थानों में इस्लाम धर्म का प्रचार नहीं हुआ है, वहाँ के निवासी भी प्रायः गोरों के प्रभुत्व के विरोधी ही हैं। दक्षिण आफ्रिका में गोरों के विरोध का भाव बहुत अधिक और मध्य एशिया में उससे कुछ कम है। आफ्रिका के हबशी चाहे जो धर्म ग्रहण कर लें, पर यह निश्चित है कि गोरों ने उनको जिस दासता में जकड़ रखा है, उसे वे कभी पसन्द नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त हबशियों में जातीय एकता का भाव भी दिन पर दिन बढ़ता जाता है। यही कारण है कि यदि संसार के किसी भाग में और कहीं कभी गोरों का कोई पराजय होता है, तो उसका सारा समाचार सारे आफ्रिका में आप से आप फैल जाता है और उसे सुनकर वे मन ही मन बहुत प्रसन्न होते हैं। रूस-जापान-युद्ध में जब रूस का पराजय हुआ था, तब आफ्रिका के हबशियों ने ख़ु[illegible] खुशी मनाई थी।

इधर दस बारह वर्षों में गोरों के विरोध का यह भाव दक्षि[illegible] आफ्रिका में बहुत बढ़ गया है। दक्षिण आफ्रिकन यूनियन में गो[illegible]

की आबादी १५, ००, ००० के लगभग है और उनके चारों ओर उनसे चौगुने हवशी बसते हैं। हवशियों की आबादी दिन पर दिन भीषण रूप से बढ़ती भी जाती है। कहीं कहीं तो वे अभी से गोरों की अपेक्षा दस गुने हो गये हैं। यही कारण है कि वहाँ के गोरों को अनेक प्रकार के सामाजिक और कानूनी बन्धन बना कर अपनी रक्षा के उपाय करने पड़ते हैं। इन बन्धनों को देखकर हवशी और भी घबराते हैं और गोंरों से असन्तुष्ट हो जाते हैं। इस घबराहट और असन्तोष का परिणाम यह होता है कि वहाँ दक्षिण आफ्रिका में हवशियों के उपद्रव, उत्पात और विद्रोह आदि दिन पर दिन बढ़ते जाते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि आफ्रिका में कुछ ऐसे ईसाई भी धर्म-प्रचार कर रहे हैं जो गोरों के विरोधी हैं। यह प्रचार-कार्य पन्द्रह बीस वर्ष से आरम्भ हुआ है। इसके मूल प्रचारक अमेरिका में रहने वाले कुछ ईसाई हवशी थे। इससे यह सिद्ध होता है कि अमेरिका के हवशियों को भी अपनी मातृभूमि और अपने जाति-भाइयों के उद्धार की चिंता है। जब से इन ईसाइयों का प्रचार-कार्य और आन्दोलन आरम्भ हुआ, तबसे बहुत से हवशी ईसाई गोरे धर्माधिकारियों के अधिकार से निकल कर हवशी ईसाई धर्माधिकारियों के अधिकार में आ गये हैं। आरम्भ से ही ये ईसाई भी गोरों का विरोध करते आ रहे हैं। इससे भी वहाँ की गोरी सरकारें बेतरह घबरा रही हैं। १९०७ में नेटाल में जुलुओं का जो उपद्रव खड़ा हुआ था, उसके सम्बन्ध में भी कुछ लोगों का यही अनुमान है कि वह इन्हीं हब्शी ईसाईयों का खड़ा किया हुआ था। उसके थोड़े ही दिनों बाद वहाँ के अधिकारियों ने आज्ञा

दी कि दक्षिण आफ्रिका में अमेरिकन हवशी ईसाई प्रवेश न कर सकें। यद्यपि उस समय वह आन्दोलन कानून की सहायता से रोक दिया गया, तथापि वह गुप्त रूप से बढ़ता रहा और साथ ही अनेक दूसरे स्थानों में भी प्रकट हो गया।

अमेरिकन हवशी ईसाइयों के इस सम्प्रदाय का नाम इथोपि-पियन सम्प्रदाय है। १९१५ में न्यासालैण्ड में इस सम्प्रदाय का आन्दोलन एक विलक्षण और भीषण रूप में प्रकट हुआ। उसका नेता जान चिलेम्वे नामक एक इथोपियन धर्म-प्रचारक था जिसने अमेरिका के संयुक्त राज्यों में शिक्षा पाई थी। वह गोरों का घोर विरोधी था और कहा करता था कि आफ्रिका हवशियों का देश है, गोरे यहाँ जबरदस्ती आ घुसे हैं, हवशियों को चाहिए कि वे उनकी इतनी हत्याएँ करें कि वे घबरा जायँ और विवश होकर आफ्रिका खाली कर दें। उसने इस बात का भी उद्योग किया था कि सारे न्यासालैण्ड में एक साथ ही गोरों के विरुद्ध एक भीषण विद्रोह खड़ा हो जिसमें गोरों की खूब हत्या हो और हवशी लोग गोरों की स्त्रियों को उठा ले जायँ। जनवरी १९१५ में यह विद्रोह खड़ा हुआ था। गोरों के अनेक निवास-स्थान लूट लिये गये और अनेक गोरे मार डाले गये। हवशी लोग गोरों के सिर काट काट कर चिलेम्वे के गिरजाघर में ले जाते थे और वहाँ अपनी विजय पर ईश्वर को नियमानुसार धन्यवाद दिया करते थे। पर उन हवशियों के पास यथेष्ट हथियार आदि नहीं थे, इसलिए गोरों ने उनको शीघ्र ही परास्त करके दबा दिया। अंत में चिलेम्वे का पीछा किया गया और वह मार डाला गया। यद्यपि यह कोई बहुत बड़ी या महत्वपूर्ण घटना नहीं थी, तथापि इससे इतना पता

अवश्य लगता है कि गोरों के प्रति हबशियों के आन्तरिक भाव कैसे हैं।

हबशियों में जातीय एकता का भाव भी जोरों से बढ़ रहा है। १९१९ के आरम्भ में पेरिस में आफ्रिका के हबशियों की एक महासभा का उद्देश्य यह था कि समस्त आफ्रिका के हबशियों में एकता स्थापित की जाय। उस महासभा में सारे संसार के हबशियों के प्रतिनिधि जाति-हित के विषयों पर विचार करने के लिए एकत्र हुए थे। उसमें अमेरिका और आफ्रिका के प्रतिनिधि तो थे ही, साथ ही न्यू गायना से भी एक प्रतिनिधि आया था, जो हबशियों की आस्ट्रेलेशियन शाखा का प्रतिनिधि था। यद्यपि उस कांग्रेस में उपस्थिति बहुत अधिक नहीं थी, तथापि हबशियों के जातीय भावों का पता देने के लिए वही पर्याप्त थी। उस कांग्रेस में भावी अधिवेशनों की भी योजना की गई थी।

इस समय आफ्रिका की समस्या का संक्षिप्त रूप यह है कि वहाँ हबशियों की संख्या दिन पर दिन भीषण रूप से बढ़ती जाती है और वे हबशी गोरों के प्रभुत्व से बहुत असंतुष्ट हैं। इस्लाम धर्म के प्रचार के कारण उनमें और भी अधिक उत्तेजना फैलती जाती है। उधर अमेरिका के हबशी वहाँ पहुँच कर अपने भाइयों को गोरों का और भी अधिक विरोधी बनाते जाते हैं।

इस प्रकार एशिया और आफ्रिका की अवस्था में कई बातों में थोड़ी बहुत समानता है। पर कुछ बातों में दोनों की अवस्थाओं में कुछ अंतर भी है। एशिया में गोरों का अस्तित्व केवल राजनीतिक अधिकार के कारण है। यहाँ के पीत और धूसर वर्ण

के लोग प्राचीन काल में बहुत अधिक सभ्य थे और आजकल वे अपनी उन्नति में लगे हुए हैं और अपनी संघटन-शक्ति का यथेष्ट परिचय दे रहे हैं। एशिया वाले गोरों की केवल नकल ही नहीं करते। वे गोरों के विचारों, आदर्शों और उपायों आदि को अपने आवश्यकतानुसार तोड़ मरोड़ कर ग्रहण कर रहे हैं और यह दिखला रहे हैं कि इसमें भी गोरों के समान ही सब काम करने की स्वाभाविक योग्यता है। प्राचीन काल में एशियावालों ने अनेक बार गिर कर फिर अपनी पूरी उन्नति की है, इसलिए हमें पूर्ण आशा है कि इस बार भी वे अपनी इस गिरी हुई दशा से उठकर संसार को चकित कर देंगे।

पर आफ्रिका वालों के सम्बन्ध में यह बात नहीं हैं। आफ्रिका वालों ने आज तक कभी यह प्रमाणित नहीं किया कि उनमें आधुनिक ढंग पर अपना सङ्गठन करने का भाव या शक्ति भी है। उन्होंने कभी अपनी निज की कोई सभ्यता नहीं खड़ी की। उनकी इधर उधर की कुछ शाखाओं ने, उदाहरणार्थ अमेरिका वाली शाखा ने, जो उन्नति करके दिखलाई भी है, यह उनकी निज की नहीं है, बल्कि अमेरिकन शिक्षा और परिस्थिति आदि के दबाव के कारण है। जब तक उन पर बाहरी प्रभाव पड़ता रहता है, तब तक तो वे बराबर थोड़ी बहुत उन्नति करते रहते हैं। पर जब उन पर से वह दबाव उठ जाता है, तब वे फिर अपनी पूर्व दशा को पहुँच जाते हैं। हेटी और लाइबेरिया के हबशियों में यही बात हुई है। जब वे अपने आप पर छोड़ दिये गये, तब उन्होंने फिर अपने पूर्वजों का ही रंग ढंग पकड़ लिया। हबशी लोग नक्काल तो खूब होते हैं और वे बड़े शौक से दूसरों की नकल करते हैं, पर

केवल नकल में ही उनकी इतिकर्तव्यता हो जाती है। उस नकल से आगे वे अब तक नहीं बढ़ सके हैं। वे दूसरों की बातें ज्यों की त्यों ग्रहण कर लेते हैं, अपनी आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन या परिवर्द्धन आदि नहीं कर सकते। हबशियों का अब तक का सारा इतिहास इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

इस संबंध में मेरेडिथ टाउंसेण्ड का कथन है कि आज तक कृष्ण वर्ण की किसी जाति ने अपनी सभ्यता स्थापित करने की योग्यता नहीं दिखलाई। उन्होंने आज तक अपने देश से बाहर निकल कर कभी दूसरे देशों पर कोई विजय नहीं प्राप्त की और न दूसरे वर्णों के लोगों पर अपना किसी प्रकार का कोई प्रभाव ही डाला है। न तो उन्होंने आज तक पत्थर के मकानों वाला कोई नगर बनाया, न कोई जहाज़ बनाया, न किसी साहित्य की सृष्टि की और न कोई धर्म या सम्प्रदाय निकाला। कहा जाता है कि हबशी लोग संसार के सब से बड़े महादेश में गड़े हुए हैं और मानव जाति के लिए मानों नष्ट हो चुके हैं। पर यह बात ठीक नहीं है। वे यदि चाहते तो सारे संसार में फैल सकते थे; क्योंकि वे सदा नील नदी के मुहाने पर ही थे जहाँ से भूमध्य सागर तक पहुँच सकते थे। इसके अतिरिक्त पश्चिम और पूर्व में भी उनको समुद्र तक पहुँचने का सुभीता था। एशिया की अपेक्षा आफ्रिका कदाचित् अधिक उर्वर है और वहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति तो अवश्य ही एशिया की अपेक्षा अधिक है। वहाँ बड़ी बड़ी नदियाँ भी मौजूद हैं जिनमें नावें आदि अच्छी तरह चल सकती हैं आफ्रिका के हबशी बहुत हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ होते हैं और संसार की सब से कड़ी गरमी सहते हैं। उनकी संख्या भी इतनी

अधिक है कि वे जो चाहें सो कर सकते हैं। यदि वे चाहते तो जंगलों को काट कर बड़ी बड़ी सड़कें और नगर तैयार कर सकते थे। पर वे चुपचाप बैठे रहे और उन्होंने आज तक कुछ भी नहीं किया। यदि यह कहा जाय कि वे बाहरी संसार से बिलकुल अलग और अकेले पड़ गये थे, तो वह बात भी ठीक नहीं है। उनकी अपेक्षा कहीं अधिक अलग और अकेले पेरू के निवासी पड़े थे। समरकंद के तातार भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सीमाबद्ध और बंद थे। पर वे भी एक बार आपस के झगड़ों को छोड़ कर उठ खड़े हुए थे और उन्होंने उत्तर में ओखोट्स्क के सागर से बाल्टिक तक और दक्षिण में नर्मदा तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। आस्ट्रेलिया के जंगलियों की अपेक्षा हबशियों ने स्वयं ही अधिक उन्नति की थी। उन्होंने आग का उपयोग सीखा, इस बात को जान लिया कि अनाज बोने से अनाज उत्पन्न होता है, छाया में रहने का महत्व जाना, तीर कमान और नाव का व्यवहार करना सीखा और कपड़े पहनना भी सीखा। पर इतना सब कुछ करके वे रुक गये। इससे आगे न बढ़ सके। जब अरब लोग वहाँ पहुँचे, तब उन्होंने उनका हाथ पकड़ कर उनको एक कदम और आगे बढ़ाया।

हबशियों का अब तक का इतिहास हमें यही बतलाता है कि वे अपने पैरों पर आप ही खड़े नहीं हो सकते। उनको दूसरों के सहारे की आवश्यकता होती है। सम्भव है कि आगे चल कर वे स्वयं भी कुछ करने के योग्य हो जायँ, पर आज तक उन्होंने स्वयं कोई काम नहीं किया। कुछ लोगों का अनुमान है कि उनकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, पर हम इस बात को

मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हबशियों की संख्या भी बराबर बढ़ती जाती है और गोरों के प्रति उनके असंतोष में भी दिन पर दिन वृद्धि होती जाती है। वे आफ्रिका को अपने अधिकार में करेंगे। सम्भव है कि इस काम में पहले पहल उनको धूसर वर्ण से भी कुछ सहायता मिले, पर आगे चल कर वे भी स्वतंत्र ही होंगे। जो हो, गोरों के हाथ से आफ्रिका भी निकल ही जायगा। इसे चाहे गोरे अपना दुर्भाग्य समझें और चाहे सौभाग्य। धूसर वर्ण के लोग इस समय गोरों या उनके अधिकारों पर कोई आक्रमण नहीं करना चाहते। वे केवल दासत्व से निकलना और अपने अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं। पर इस्लाम धर्म ही ऐसा है जो अपने अनुयायियों को युद्ध की ओर प्रवृत्त करता है। और अरब वाले भी प्रसिद्ध योद्धा हैं। यदि आफ्रिका में इस्लाम धर्म का पूरा पूरा प्रचार हो जायगा तो मुसलमानों के हाथ में एक ऐसी तलवार आ जायगी जिससे वे आवश्यकता पड़ने पर अपने अत्याचारियों से अच्छी तरह बदला ले सकेंगे। वे अत्याचारी इस दल से घबराते तो बहुत हैं, पर कठिनता यह है कि वे फिर भी अपने अत्याचार कम नहीं करते और सीधे रास्ते पर नहीं आते। वे अंधे होकर पाप भी करते हैं और मन ही मन पाप के फल से भी डरते हैं। पर फिर भी पाप से हाथ नहीं खींचते। बेचारे क्या करें, वे जिस सभ्यता और जिस शिक्षा के फेर में पड़े हैं, वह उन्हें इसी मार्ग पर चलने के लिए विवश करती है और उनकी आँखें खुलने ही नहीं देती।

आफ्रिका में खाद्य पदार्थ भी खूब अधिकता से होते हैं और दूसरे कच्चे माल भी यथेष्ट मान में उत्पन्न होते हैं। बस इन्हीं के

लालच से गोरों ने उत्तर और दक्षिण में अच्छी तरह अपना अड्डा जमाया है। वे वहीं बस गये हैं, और उन देशों को अपना बना बैठे हैं। उन प्रदेशों को उपयोगी बनाने में भी उन्होंने बहुत कुछ परिश्रम किया है और इसीलिए वे अब उन प्रदेशों पर अपना अधिकार जताते हैं। पर वे यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि आरम्भ में ही उनको इस बात का कोई अधिकार नहीं था कि वे दूसरों के देश में जाकर वहाँ के निवासियों को जीत कर अपने अधीन करते और उनके देश की सम्पत्ति पर अधिकार जमाते। उन्होंने उन देशों में बहुत कुछ सुधार और उन्नति अवश्य की है, पर जब उन देशों के निवासी संसार की सारी व्यवस्था अच्छी तरह समझ लेंगे, सयाने हो जायँगे, तब वे उनको वहाँ से निकालने का उद्योग करेंगे। उस समय दोनों में खूब झगड़ा होगा वे गोरे कहेंगे कि हम ने इन देशों को बहुत परिश्रम करके उपयोगी बनाया है, और हबशी कहेंगे कि तुम इन देशों को उपयोगी बनाने वाले होते कौन हो? तुम अपने घर का रास्ता लो। उन देशों में अङ्गरेजों और फ्रांसीसियों की ही प्रधानता है और उन्हीं दोनों से हबशियों की मुठभेड़ होगी। धूसर वर्ण का आफ्रिका पर बहुत कुछ प्रभाव अभी तक केवल उत्तर-पूर्व में ही है। धूसर वर्ण के लोग वहाँ स्वेज की नहर के मार्ग से ही पहुँच सकते हैं और यदि उनसे गोरों को बहुत अधिक खटका होगा तो वे उसका कुछ उपाय भी करेंगे ही। कुछ गोरे अभी से उसका उपाय सोच रहे हैं। वे कहते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर हमें स्वेज नहर वाला मार्ग बंद कर देना चाहिए और इस प्रकार आफ्रिका में धूसर वर्ण वालों का प्रवेश रोक देना चाहिए। और तब आफ्रिका में रहने

वाले धूसर वर्ण के लोगों को दबा कर हबशियों को और उनके देश को अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। पर वे स्वार्थ के कारण यह नहीं सोच सकते कि यह औषध भी एक प्रकार के रोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस उपाय से सम्भव है कि वे और कुछ समय तक आफ्रिका पर अधिकार बनाये रखें, पर सदा के लिए किसी देश को अपने अधिकार में रखने का विचार शेखचिल्ली के विचारों से कम नहीं है। ऐसे शेखचिल्ली यह भी समझते हैं कि कम से कम आफ्रिका के सम्बन्ध में हमें कृष्ण अथवा धूसर वर्ण के लोगों से कुछ भी भयभीत न होना चाहिए और वहाँ अपना बल बढ़ाने का उद्योग करना चाहिए। वे बेचारे पुराने इतिहासों से तो कुछ शिक्षा ग्रहण ही नहीं कर सकते; क्यों कि स्वार्थ ने उनकी आँखों पर गहरा परदा डाल रक्खा है। पर हमें आशा करनी चाहिए कि समय अवश्य उनकी आँखें खोल देगा कि न तो कोई सदा बलवान् और शासक बना रह सकता है, और न सदा दूसरों को मूर्ख बना कर उनके धन आदि का अपहरण ही कर सकता है।

में जिन गोरों ने अमेरिका पर अधिकार प्राप्त किया था, वे वास्तव में मनुष्य नहीं, वल्कि पूरे पूरे राक्षस थे। इन गोरों ने रक्त वर्ण वालों का नाश कर अन्त में उत्तर अमेरिका का वह सारा प्रदेश अपने हाथ में कर लिया जो आज कल कनाडा और संयुक्त राज्य कहलाता है। दक्षिण अमेरिका का दक्षिणी भाग भी इन गोरों ने इन्हीं उपायों से अपने लिए खाली कर लिया और अब रक्त वर्ण के लोग केवल ब्रेजिल और पेरू आदि देशों में ही, और वह भी बहुत ही थोड़ी संख्या में पाये जाते हैं। अब उत्तर और दक्षिण अमेरिका के बाकी समस्त प्रदेश इन गोरों की मानों पैतृक सम्पत्ति बन गये हैं। गोरों ने अनेक देशों के निवासियों को जीतकर अपने अधिकार में तो अवश्य कर लिया है, पर यदि उन्होंने कहीं किसी जाति का देश छीनने के लिए जंगली जानवरों की तरह किसी सभ्य जाति का शिकार खेला है, तो वह यहीं अमेरिका में। यों तो गोरी जाति पर आधुनिक इतिहास में जितने अधिक कलङ्क हैं, उतने शायद सारे संसार की अन्य जातियों पर सब मिलाकर भी उतने अधिक कलंक न होंगे, पर रक्त वर्ण के लोगों के नाश के सम्बन्ध में उन पर जो कलंक है, उसके सामने उन सब कलंकों की भी कोई गिनती नहीं है! बहुत ही अच्छा होता, यदि इस सम्बन्ध का कोई विस्तृत और निष्पक्ष इतिहास लिखा जाता; क्योंकि उससे लोगों को इस बात का पता तो लग जाता कि जो गोरी जाति आजकल अपने परम सभ्य होने का इतना अधिक अभिमान करती है, उसकी सभ्यता की नींव कैसी कैसी घृणित और निन्दनीय करतूतों से रखी गई थी! अस्तु।

दक्षिण अमेरिका के मध्य के कुछ प्रदेशों में अब भी रक्त वर्ण

के थोड़े से लोग इन गोरों के लिए भार-स्वरूप बच ही गये हैं। उन्हें शायद इन लोगों ने कृपाकर चिड़ियाखानों में नहीं तो कम से कम प्रदर्शिनियों आदि में रखने के लिए ही बचा रखा है। लेकिन फिर भी शुद्ध रक्त वर्ण के लोगों की बहुत ही कमी है। उनमें अधिकांश को या तो इन गोरों ने स्वयं ही वर्णसंकर बना डाला है और या उनमें अपने गुलाम हबशियों का रक्त मिलवा दिया है। इस समय शुद्ध और वर्ण संकर दोनों प्रकार के अमेरिकन इण्डियनों की संख्या ४,००,००,००० के लगभग है। इसके अतिरिक्त इनके प्रदेशों में लाखों करोड़ों हबशी आदि भी रहते हैं। पर गोरों की आबादी औसत १० प्रति सैंकड़े से अधिक नहीं है। पाठकों को इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि लेखे में हमने वेस्ट इण्डीज टापुओं अथवा दक्षिण अमेरिका के दक्षिणी प्रदेशों को नहीं लिया है। वेस्ट इण्डीज में तो रक्त वर्ण वालों का प्रायः पूरा पूरा नाश ही हो चुका है और वहां हबशियों की बस्ती बस गई है और दक्षिण अमेरिका को, और विशेषतः वहाँ के आर्जेण्टाइन और युरुग्वे प्रदेशों को इन गोरों ने अपनी बपौती बना लिया है। वहाँ हबशी तो बिलकुल नहीं हैं, पर रक्त वर्ण के बहुत ही थोड़े से लोग हैं। इधर कुछ दिनों से बेचारे रक्त वर्ण वालों की जान बचने लगी है और धीरे धीरे उनकी संख्या में कुछ वृद्धि होने लगी है। यह उस प्रदेश की बात है जिसे आज कल ये गोरे लैटिन अमेरिका कहने लगे हैं और जो दक्षिण अमेरिका के रायो ग्रैण्ड से उसके दक्षिणी अन्तरीप हार्न तक विस्तृत है।

लैटिन अमेरिका का विकास स्पेन वालों की विजय से आरम्भ हुआ था। यहाँ विजय शब्द जरा ध्यान रखने योग्य है; क्योंकि

इसका प्रयोग वास्तव में शिकार के लिए किया गया है। जिस प्रकार जंगली पशुओं का शिकार करके उन पर विजय प्राप्त की जाती है, उसी प्रकार यहाँ रक्त वर्ण वालों का शिकार करके उन पर भी विजय प्राप्त की गई थी। पहले अमेरिका के संयुक्त राज्यों में गोरों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे और वहाँ वे अपने बाल-बच्चों को ले जाकर रहे थे। वहाँ के रक्त वर्णवालों को, जिनकी उच्च कोटि की सभ्यता के आज कल बड़े बड़े गीत गाये जाते हैं और जिनकी प्राचीन सभ्यता आदि की खोज करने के लिए करोड़ों रुपये वार्षिक का व्यय किया जाता है, इन गोरों ने पहले स्वार्थवश बिलकुल जंगली समझ लिया था, और अनेक प्रकार के अत्याचारपूर्ण कृत्यों से उनका नाश आरम्भ कर दिया था। जहाँ रक्त वर्ण के लोग मिलते थे, वहीं वे या तो गोलियों से मार डाले जाते थे और या अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि बाल-बच्चे भी छोड़ कर जंगलों में भागने के लिए विवश किये जाते थे। ये रक्त वर्ण वाले थे तो परम सभ्य, पर इनका एक मात्र-दोष यही था कि ये गोली बारूद का आविष्कार नहीं कर सके थे और न परम सभ्य गोरे विजेताओं की तरह छल कपट और स्वार्थ-साधन करना जानते थे। इनके यहाँ उस समय पूर्ण सत्य-युग व्याप रहा था, इसी लिए ये कलियुगी राक्षसों का मुकाबला करने में असमर्थ थे। इनका यह अपराध कुछ कम नहीं था, इस लिए गोरे इनका नाश करने के लिए विवश हुए थे। चुटकी बजाते हुए इन थोड़े से गोरों ने रक्त वर्णवालों के देशों में पहुंच कर उनके बड़े बड़े राज्य और साम्राज्य नष्ट कर दिये, उनके पुरुषों का नाश कर दिया और उनकी स्त्रियों तथा सम्पत्ति को अपने अधि-

कार में कर लिया। यही इन गोरों की सभ्यता का बाहरी संसार में बीजारोपण था। हजार दो हजार दानवों ने लाखों करोड़ों देवताओं का जितने सहज में और जितनी बुरी तरह नाश किया, यदि उनका पूरा पूरा वर्णन किया जाय तो सहृदय मनुष्य का खून खौलने लगे और वह उन दानवों की सन्तान का मुँह देखने में भी पाप समझे। जिस समय मेक्सिको को फतह करने के लिए स्पेनी महावीर कार्टेज चला था, उस समय उसके केवल ६०० साधारण सैनिक थे और भीम पिंजारों ने तो केवल ३१० साथियों को ले कर ही पेरू के लिए अपनी विजय यात्रा आरम्भ की थी। बस इसीसे समझ लीजिए कि ये गोरे कितने वीर थे और बेचारे रक्त वर्ण वाले कितने कायर और नामर्द थे! इन महावीरों को इतने थोड़े से सैनिकों की सहायता से गोले गोलियाँ चलाकर इतने अधिक मनुष्यों की हत्या करते लज्जा भी न आई। लज्जा कैसे आती वहाँ तो जर, जमीन और जन इन तीनों की प्राप्ति का प्रश्न था। अपने पूर्वजों के ऐसे ऐसे कृत्यों का समर्थन करने के लिए ही न आज कल के यूरोपियन जोरों के साथ इस सिद्धात का प्रतिपादन करते हैं कि संसार में जो सब से अधिक योग्य और समर्थ होगा, वही जीवित रह सकेगा, अयोग्य और असमर्थ को नष्ट हो जाना पड़ेगा। बस योग्यता और सामर्थ्य का आज कल संसार में यही अर्थ रह गया है कि मनुष्य हो कर भी अपने से अयोग्यों और असमर्थों का नाश कर डालो, उनकी जमीन, उनकी दौलत और उनकी औरतें छीन लो। बस फिर तुम संसार में बेखटके योग्य और समर्थ माने जाओगे और अयोग्यों तथा असमर्थों को स्वर्ग भेजने के

कारी तक उसके सदस्य हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि अन्य वर्ण की सभी जातियों में जो गोरों का द्वेष बढ़ रहा है उसके प्रबल वेग के सामने यह बेचारी संस्था कहां तक टिक सकेगी।

गोरे बहादुरों ने निहत्थे और निरीह पुरुषों को अपने पूर्वजों की भूमि छोड़ कर भागने या नष्ट होने के लिए विवश किया और उनकी अतुल संपत्ति पर अधिकार कर लिया। इस संपत्ति के सम्बन्ध में हम इतना ही कह देना यथेष्ट समते हैं कि वह अतुल थी और इतनी अधिक थी, जितनी इन गोरों ने पहले कभी स्वप्न में भी नहीं देखी थी। यदि इन विजेताओं और विजितों की उस समय की आर्थिक अवस्था की तुलना की जाय तो कहना पड़ेगा कि अभागे विजित लोग लखपती और करोड़पती थे और उनके सामने गोरे विजेता बहुत ही साधारण, बलिक प्रायः दरिद्र थे। उस समय विजेताओं का मुख्य उद्देश्य भी सम्पत्ति प्राप्त करना ही था और इसी सम्पत्ति के लिए उन्होंने ऐसे ऐसे क्रूर कृत्य किये थे, जिनकी तुलना नहीं हो सकती। इन्होंने पहले तो रक्त वर्ण वालों को मार कर उनकी सम्पत्ति पर अधिकार किया और तब उनके देश पर। जब ये वीरवर अपने घर से इतना बड़ा धर्मयुद्ध करने निकले थे, तब ये अपने साथ अपनी स्त्रियों को तो ले ही नहीं गये थे। और दूसरे, विजेताओं को इस बात का अधिकार भी होता है कि वे विजितों की सम्पत्ति के अतिरिक्त उनके देश और स्त्रियों पर भी अधिकार कर लें। इसलिए इन्होंने उन भागे हुए अथवा मरे हुए रक्त वर्ण वालों की स्त्रियों को भी अपने अधिकार में कर लिया और उस प्रकार रक्त वर्ण वालों पर सर्वाङ्ग पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। पुरुषों के नाश के कारण रक्त वर्ण की

वंशवृद्धि तो बिलकुल रुक गई और वर्ण-संकर सृष्टि ने जोर पकड़ा। एक गये बीते गोरे सिपाही के पास भी रक्त वर्ण के सैकड़ों गुलाम और सैकड़ों स्त्रियाँ दिखाई देने लगीं। अंधे के हाथ बटेर नहीं बल्कि बटेरों का झुण्ड लग गया। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में सारा देश वर्ण संकरों से भर गया। आजकल के अधिकांश यूरोपियन भी और अमेरिकन भी इन कृत्यों की बहुत अधिक निंदा करते हैं, पर वे इसके लिए केवल स्पेनियों को ही दोषी ठहराते हैं। पर हम इस समय केवल वर्णों के कृत्यों और अवस्थाओं आदि का ही वर्णन कर रहे हैं और हमें अपने काम के लिए गोरों की भिन्न भिन्न शाखाओं का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम उन शाखाओं में इसलिए कोई विशेष अन्तर भी नहीं समझते कि आखिर वे सब हैं तो एक ही वंश-वृत्त की शाखा; इसलिए हम उन सब को एक मान कर ही चलते हैं। आशा है, इसके लिए पाठक हमें दोषी न ठहरावेंगे।

स्पेनियों ने रक्त वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके जो सन्तान उत्पन्न की थी, वह मेस्टिजो या चोलो कहलाई। रक्त वर्ण के जिन लोगों को स्पेनियों ने पकड़ कर अपना गुलाम बनाया था, वे बेचारे अपने गोरे प्रभुओं के अत्याचार सहने में असमर्थ थे; इसलिए और कोई उपाय न देख कर धीरे धीरे स्वर्ग का रास्ता पकड़ने लगे। लोग कहते कि एक पाप से अनेक पापों की सृष्टि होती। गोरों ने अमेरिका में इतने पाप किये थे। इन पापों से और पापों की सृष्टि क्यों न होती! उनके पास यथेष्ट सम्पत्ति भी हो गई थी, यथेष्ट भूमि भी हो गई थी और यथेष्ट स्त्रियाँ भी हो गई थीं। भला पाप के इतने साधनों के रहते

अधिक पाप क्यों न करते ! जब उनके रक्त वर्ण के पुराने गुलाम मरने लगे, तब नये गुलामों की चिन्ता हुई; क्योंकि हराम का वैभव होते हुए हरामी वंश बिना गुलाम के कैसे रह सकता था ? इस काम के लिए उन्हें आफ्रिका के हबशी सबसे अधिक उपयुक्त दिखाई दिये। वे चट आफ्रिका से हबशी गुलाम ला ला कर भेड़ बकरियों की तरह उनका व्यवसाय करने लगे। इन हबशी गुलामों के साथ भी जो जो अत्याचार हुए, उनका वर्णन सुन कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। न तो हमारे पास उसका वर्णन करने के लिए स्थान ही है और न हम में इतनी सामर्थ्य ही है। यदि पाठक चाहें तो अन्य ग्रंथों में उनका वर्णन पढ़ सकते हैं। हमारा तात्पर्य केवल यह बतलाना ही है कि स्पेनियों के कारण वहाँ वर्ण संकरता कितनी और कैसे वृद्धि हुई। रक्त वर्ण की स्त्रियों को तो गोरे अपने पास रखते ही थे और उनसे सन्तान उत्पन्न करते ही थे। अब वे हबशी जाति की स्त्रियों को भी कृतार्थ करने लगे। इस संयोग से मुलटो नामक वर्ण-संकर जाति की सृष्टि हुई। उधर रक्त और कृष्ण वर्ण के लोगों के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न हुई, वह जम्बू कहलाई। तात्पर्य यह कि थोड़े ही समय में दक्षिण अमेरिका में गोर, कृष्ण और रक्त इन तीनों वर्णों के संयोग से अनेक ऐसी रंगबिरंगी और तरह तरह की वर्ण संकर जातियों की सृष्टि हो गई जो सब प्रकार से अभूतपूर्व और अनुपम थी।

लेकिन इतना होने पर भी एक बात थी। राजनीतिक दृष्टि से इन वर्ण-संकर जातियों का उन देशों में कुछ भी महत्व नहीं था। स्पेनी लोग अपने आपको देश का मालिक और शासक समझते थे और उनके राज्य में शुद्ध गोरों के अतिरिक्त और किसी को

किसी प्रकार का राजनीतिक, सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं था। इतने पर भी तमाशा तो यह था कि यूरोप में जन्म लेनेवाले स्पेनी अमेरिका उपनिवेश में जन्म लेनेवाले अपने स्पेनी भाइयों को भी अपने से तुच्छ समझते थे। अमेरिका में जन्म लेनेवाले स्पेनी यूरोप में क्रियोल कहे जाते थे। धीरे धीरे ये क्रियोल लोग अनेक बातों में पतित भी होते गये जिसके कारण वे दिन दिन अपनी जन्मभूमि में और भी निकृष्ट माने जाने लगे। एक तो उन देशों का जल-वायु कुछ गरम होने के कारण इन युरोपियनों के अनुकूल नहीं था; और दूसरे कृष्ण तथा रक्त वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध होने के कारण भी वे दिन पर दिन पतित और अयोग्य होते जाते थे। यद्यपि कानून बनाकर अनेक रुकावटें खड़ी की गईं, तथापि रक्त और कृष्ण वर्ण ने गोरे वर्ण को अपने आप में मिला लिया। फिर भी जब तक वहाँ स्पेनियों का शासन था, तब तक स्पेनी वंश की थोड़ी बहुत रक्षा होती ही जाती थी, अथवा यों कहना चाहिए कि जिस व्यक्ति का रंग कुछ गोरा होता था, वही गौर वर्ण का मान लिया जाता था और समाज में उसी का आदर होता था। पर आगे चलकर वह बात भी न रह गई।

इसके उपरान्त लैटिन अमेरिका में स्पेन के विरुद्ध क्रान्ति हुई। क्रियोलों को यूरोपवाले तुच्छ समझते थे और उनके साथ भी अनेक प्रकार के अत्याचार करने लग गये थे। इसलिए क्रियोलों ने यूरोपियनों के साथ लड़ना भिड़ना आरम्भ कर दिया। उनका यह झगड़ा १८०९ में आरम्भ हुआ था और प्रायः बीस वर्ष तक चलता रहा। दोगले गोरों ने शुद्ध गोरों को दबा लिया और २८

गोरों को वहाँ से भागना पड़ा। दूसरी वर्ण-संकर जातियों ने भी उस विद्रोह में क्रियोलों का साथ दिया था, इसलिए जब क्रियोलों की विजय हो गई, तब वे वर्ण-संकर उनसे अपना पुरस्कार माँगने लगे। क्रियोल चाहते थे कि अब जो नई सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था हो, उसमें भी वही पुराना सिद्धान्त काम दे, और गौर वर्ण को ही सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हों। वे चाहते थे कि राजकार्यों में मत देने का अधिकार केवल गोरों को ही प्राप्त हो। उस समय उत्तर अमेरिका और फ्रान्स में राज्य-क्रान्तियाँ हो रही थीं और सब जगह प्रजातंत्र की चिल्लाहट भी हुई थी। इसलिए वहाँ के वर्ण-संकर भी कहने लगे कि हमें मत देने का अधिकार मिले और सब लोगों को समान अधिकार मिलें। केवल वर्ण के विचार से किसी को अधिक और किसी को कम अधिकार न दिये जायँ। यह गड़बड़ देखकर राज्य-क्रान्ति का प्रधान नेता बोलिवर तो वहाँ से गायब हो गया और उसके पीछे उसके साथियों और सहायकों में छोटे मोटे अनेक युद्ध छिड़ गये, जो बहुत दिनों तक होते रहे। सारे देश में अराजकता फैल गई, जिसके परिणाम-स्वरूप वहाँ गोरों का प्रभुत्व तो घट गया और वर्ण-संकरों का राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार बढ़ गया। गोरे अमीरों पर गरीब वर्ण-संकर सैनिक आक्रमण करके उन्हें अपनी आज्ञानुसार चलने के लिए विवश करते थे। वे गोरे अमीरों पर अनेक प्रकार के अत्याचार करके उनके गुलामों को मुक्त करते थे और अपनी इच्छानुसार प्रजातंत्र राज्य स्थापित करते थे।

इन सब बातों का परिणाम स्वभावतः बहुत बुरा हुआ। अच्छा परिणाम हो भी नहीं सकता था। पहले स्पेनियों के शासन-

काल में वर्ण-संकरों पर अत्यचार होते थे और बलपूर्वक शान्ति रखी जाती थी। अब वर्ण-संकर लोग स्पेनियों पर अत्याचार करते थे और सब जगह अशान्ति तथा अराजकता का राज्य हो गया था। इस झगड़े में अयोग्य वर्ण संकरों की खूब बन आई और उनके हाथों अनेक शुद्धवंशियों और योग्य तथा बुद्धिमान् पुरुषों का अन्त भी हुआ। स्पेनियों ने पाप का जो बीज बोया था, अब वही फल फूल रहा था। सबको वे फल चखने और वे फूल सूँघने पड़ते थे। प्रकृति की ओर से यह अनिवार्य दण्ड था जो सबको भोगना पडता था। भला उससे कोई कैसे बच सकता था।"

प्रायः उन्नीसवीं शताब्दि मध्य तक लैटिन अमेरिका की अराजकता आदि के कारण यही दुर्दशा होती रही। अराजकता के साथ अत्याचार भी सदा अनिवार्य ही हुआ करता है। जो जबरदस्त होता था, वही बरसों तक दूसरों को अपने अधिकार में रखता और उनपर हुकूमत चलाता था। कहीं कहीं कुछ शान्ति भी स्थापित हो चली थी। पर अधिकांश स्थानों में यही होता था कि कुछ जबरदस्त अपने थोड़े से साथियों को लेकर अधिकारारूढ़ हो जाते थे और अपने आसपास के प्रदेशों को अपनी आज्ञानुसार चलने के लिए विवश करते थे। पर इन जबरदस्तों और वर्ण-संकरों के कारण शान्ति स्थापित नहीं होने पाती थी। पर दो एक प्रदेश ऐसे भी थे जिनमें अराजकता नहीं फैल सकी थी और जहाँ शान्तिपूर्वक उन्नति हो रही थी। इन प्रदेशों में चिली मुख्य था। बात यह थी कि चिली का जलवायु बहुत ठण्डा था और वहाँ सोने आदि की खानें भी नहीं थीं, जिससे विदेशियों को अधिक लूटपाट का अवसर मिलता। और इस प्रकार असन्तपो

की उत्पत्ति होती। युरोप के अनेक देशों के शुद्ध गोर वर्ण के लोग वहाँ आकर बसने लगे। वे लोग अपने साथ अपनी स्त्रियों और बच्चों को भी वहाँ ले जाते थे इसलिए झगड़ों बखेड़ों का अवसर और भी कम हो गया था। वे लोग देश के मूल वासियों के साथ विवाह सम्बन्ध भी बहुत कम स्थापित करते थे, जिससे वर्ण-संकरी सृष्टि भी वहाँ नहीं होने पाती थी। वहाँ के मूल निवासी इन गोरों से दूर रहते थे और कभी कभी उनसे लड़ भी जाते थे। पहले एक बार चिली में भी क्रान्ति की लहर उठी थी, पर उसका मूल राजनीतिक था, सामाजिक या वर्ण सम्बन्धी नहीं। इसके अतिरिक्त वहाँ नित्य नये शुद्ध गोर वर्ण के लोग पहुँचते थे जो वहाँ के मूल निवासियों को दबाये रखते थे और अधिक उपद्रव नहीं होने देते थे। अमेरिका की स्वतंत्रता के युद्ध में जो अनेक अँगरेज सम्मिलित हुए थे, वे पीछे से उस देश को अनुकूल पाकर उसी में आ बसे थे। जरमनों की संख्या भी वहाँ कम नहीं थी। इन सब कारणों से चिली में अन्य देशों की अपेक्षा अधिक व्यवस्था और शान्ति थी।

शान्ति और व्यवस्था आदि में चिली के बाद पेरू, कोलम्बिया और कास्टारिका आदि का नम्बर था। इन देशों में भी बहुत से शुद्ध युरोपियन जा बसे थे जो सामाजिक दृष्टि से देशियों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे। वे गोरे भी अपनी सामाजिक श्रेष्ठता की भली भांति रक्षा करते थे। चिली में तो देशियों की संख्या कम थी, पर इन देशों में देशियों और हबशियों दोनों की संख्या बहुत अधिक थी। वर्ण संकरों की संख्या भी कम नहीं थी। वहाँ भी कुछ झगड़े बखेड़े हुए थे और अब तक थोड़े बहुत होते रहते

हैं, पर अन्य देशों की अपेक्षा कम। वहाँ गोरों का ही विशेष प्रभुत्व है। पर वे गोरे अपने वंश की शुद्धि शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं और उनकी दूसरी या तीसरी पीढी वर्ण-संकर हो जाती है। कास्टारिका एक छोटा सा ठण्डा देश है और वहुत दिनों से वहाँ गोरों का उपनिवेश स्थापित है। वहाँ गोरों ने अपेक्षाकृत अच्छी उन्नति की है।

आरजेण्टाइन और युरुग्वे में भी वहाँ के मूल निवासियों अथवा विदेशियों का उतना अधिक सामाजिक पतन नहीं हुआ है। क्रान्ति के समय वहाँ भी रक्त तथा कृष्ण वर्णवालों की अधिकता थी और उन्होंने भी गोरों को दवा लिया था। वे दोनों देश थे तो ठण्डे और युरोपियनों के अनुकूल ही, पर वहाँ सोना आदि अधिक नहीं था, इसलिए आरम्भ में स्पेनियों ने उसकी उपेक्षा की थी, वहाँ की भूमि वहुत अधिक उपजाऊ थी जो वहीं के आदिम निवासियों के हाथ में थी। जो थोड़े से गोरे वहाँ पहुँचे भी थे, वे समुद्र तट पर दो एक वड़े वन्दर वनाकर वहीं रहते थे। पर पीछे से वहाँ पशु-पालन और कृपि-कर्म वहुत अधिकता से होने लगा जिसके कारण वहाँ गोरे भी अधिक संख्या में पहुँचने लगे, अव वहाँ गोरों की ही अधिकता और उन्हीं का प्रभुत्व है। वहाँ के देशी उनके सामने दवते जा रहे हैं। ब्रेजिल के दक्षिणी प्रान्तों में भी, जो युरुग्वे की सीमा के पास पडते हैं, गोरों की वस्ती वरा-वर वढती जाती है। जिस प्रकार स्पेन ने आरजेण्टाइना और युरुग्वे की उपेक्षा की थी, उसी प्रकार पुर्तगाल ने ब्रेजिल के इन दक्षिणी प्रान्तों की भी उपेक्षा की थी। इसी लिए आज से प्रायः चार सौ वर्ष पहले वहाँ वहुत कम आवादी थी। पर आज-

कल वहाँ लाखों इटेलियन, पुर्तगाली और जरमन बसते हैं। ब्रेजिल के इन दक्षिणी प्रान्तों में बहुत अधिक संख्या गोरों की है और उत्तर के प्रान्तों में रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लोगों की अधिकता है।

परन्तु लैटिन अमेरिका के जो प्रदेश गरम हैं, वे प्रायः रक्त वर्णवालों के ही हाथ में हैं। अब वहाँ गोरों का प्रभुत्व प्रायः नहीं के समान हो गया है। वहाँ जो थोड़े बहुत गोरे परिवार हैं भी, उनमें देशियों का रक्त मिल गया है। तो भी उन देशों में उनका प्रभुत्व कम नहीं होने पाया है। पर आजकल वहाँ भी मेक्सिको की भांति उपद्रव होने लगे हैं और गोरों के विरुद्ध वहाँ के रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लोग सिर उठाने लगे हैं। कदाचित् वे भी इन गोरों के प्रभुत्व से सन्तुष्ट नहीं हैं।

अनेक विद्वानों का मत है कि लैटिन अमेरिका के वर्णसंकर योग्यता आदि में शुद्ध गोरों की अपेक्षा बहुत कम हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गोरों और रक्त वर्ण वालों के संयोग से उत्पन्न मेस्टिज़ी कुछ पर योग्य होते हैं गोरों तथा कालों के संयोग से उत्पन्न मुलटो और भी अयोग्य होते हैं। रक्त तथा कृष्ण वर्ण के संयोग से जो जम्बो उत्पन्न होते हैं, वे तो सब से गये बीते हैं। पेरू के एक प्रसिद्ध विद्वान् का मत है कि अमेरिका के इतिहास में वर्ण सम्बंधी प्रश्न बड़ा ही विकट है। उससे इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार कुछ लोगों की उन्नति और किस प्रकार कुछ की अवनति हुई। उसी प्रश्न पर विचार करने से यह भी मालूम हो सकता है कि आज कल अमेरिका में जो अव्यवस्था है, वह किस कारण से है। इसी वर्ण संबंधी प्रश्न पर वहाँ की साम्पत्तिक, व्यापारिक तथा शिल्प संबंधी उन्नति

निर्भर है। शासन की दृढ़ता और देशहित के भावों का आधार भी यही वर्ण संबंधी प्रश्न है। वर्ण संकरता के कारण वहाँ अनेक जटिल प्रशनों की सृष्टि हो गई है। ऐसी विकट अवस्था में क्या यह संभव है कि लोगों में राष्ट्रीयता के भाव समान रूप से हों? ऐसी स्थिति में पड़े हुए देश किसी वलिष्ठ आक्रमणकारी या श्रेष्ठ आगन्तुक का आक्रमण भी नहीं सह सकते। आगे चलकर वह विद्वान् वतलाता है कि जो गोरे वहाँ पहुँच कर वर्ण-संकर हो गये हैं, वे वहुत ही निकम्मे, आलसी और अयोग्य हो गये हैं। दिन पर दिन उनका भी और उनके साथ रक्त तथा कृष्ण वर्ण वालों का भी अनेक दृष्टियों से पतन होता जाता है। अंत में उस विद्वान् ने उद्धार का एक मात्र उपाय यही वतलाया है कि युरोप के शुद्ध गोरे वहाँ पहुँच कर अपना अधिकार तथा प्रभुत्व स्थापित करें। इसके अतिरिक्त रक्षा का और कोई उपाय नहीं है। इसी से मिलता जुलता मत और भी अनेक विद्वानों का है। पर हम यह वात नहीं मानते। हमारी समझ में इस प्रकार की वातें कर के गोरे उन प्रदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित करने के लिए वहाने निकालते और पेशवन्दियाँ करते हैं। यदि आज वहाँ वहुत से गोरे पहुँच जायँ तो उसका परिणाम यही होगा कि वे कुछ दिनों तक वहाँ के धन का खूव अपहरण करेंगे और तव थोड़े दिनों वाद जव वहाँ के देशी निवासियों की आँखें खुलेंगी, तव फिर वही झगड़े वखेड़े खड़े होंगे जो गोरों के अन्यान्य अधीनस्थ देशों में हो रहे हैं। और अंत में फिर भी विजय देशियों की ही होगी। हाँ इससे पहले गोरों को अनर्थ और अपहरण करने का यथेष्ट अवसर मिल जायगा। इससे पहले जो जो अनर्थ और

कल वहाँ लाखों इटेलियन, पुर्तगाली और जरमन बसते हैं। ब्रेजिल के इन दक्षिणी प्रान्तों में बहुत अधिक संख्या गोरों की है और उत्तर के प्रान्तों में रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लोगों की अधिकता है।

परन्तु लैटिन अमेरिका के जो प्रदेश गरम हैं, वे प्रायः रक्त वर्णवालों के ही हाथ में हैं। अब वहाँ गोरों का प्रभुत्व प्रायः नहीं के समान हो गया है। वहाँ जो थोड़े बहुत गोरे परिवार हैं भी, उनमें देशियों का रक्त मिल गया है। तो भी उन देशों में उनका प्रभुत्व कम नहीं होने पाया है। पर आजकल वहाँ भी मेक्सिको की भांति उपद्रव होने लगे हैं और गोरों के विरुद्ध वहाँ के रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लोग सिर उठाने लगे हैं। कदाचित् वे भी इन गोरों के प्रभुत्व से सन्तुष्ट नहीं हैं।

अनेक विद्वानों का मत है कि लैटिन अमेरिका के वर्णसंकर योग्यता आदि में शुद्ध गोरों की अपेक्षा बहुत कम हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गोरों और रक्त वर्ण वालों के संयोग से उत्पन्न मेस्टिजी कुछ पर योग्य होते हैं गोरों तथा कालों के संयोग से उत्पन्न मुलटो और भी अयोग्य होते हैं। रक्त तथा कृष्ण वर्ण के संयोग से जो जम्बो उत्पन्न होते हैं, वे तो सब से गये बीते हैं। पेरू के एक प्रसिद्ध विद्वान् का मत है कि अमेरिका के इतिहास में वर्ण सम्बंधी प्रश्न बड़ा ही विकट है। उससे इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार कुछ लोगों की उन्नति और किस प्रकार कुछ की अवनति हुई। उसी प्रश्न पर विचार करने से यह भी मालूम हो सकता है कि आज कल अमेरिका में जो अव्यवस्था है, वह किस कारण से है। इसी वर्ण संबंधी प्रश्न पर वहाँ की साम्पत्तिक, व्यापारिक तथा शिल्प संबंधी उन्नति

निर्भर है। शासन की दृढ़ता और देशहित के भावों का आधार भी यही वर्ण संबंधी प्रश्न है। वर्ण संकरता के कारण वहाँ अनेक जटिल प्रशनों की सृष्टि हो गई है। ऐसी विकट अवस्था में क्या यह संभव है कि लोगों में राष्ट्रीयता के भाव समान रूप से हों? ऐसी स्थिति में पड़े हुए देश किसी बलिष्ट आक्रमणकारी या श्रेष्ट आगन्तुक का आक्रमण भी नहीं सह सकते। आगे चलकर वह विद्वान् बतलाता है कि जो गोरे वहाँ पहुँच कर वर्ण-संकर हो गये हैं, वे बहुत ही निकम्मे, आलसी और अयोग्य हो गये हैं। दिन पर दिन उनका भी और उनके साथ रक्त तथा कृष्ण वर्ण वालों का भी अनेक दृष्टियों से पतन होता जाता है। अंत में उस विद्वान् ने उद्धार का एक मात्र उपाय यही बतलाया है कि युरोप के शुद्ध गोरे वहाँ पहुँच कर अपना अधिकार तथा प्रभुत्व स्थापित करें। इसके अतिरिक्त रक्षा का और कोई उपाय नहीं है। इसी से मिलता जुलता मत और भी अनेक विद्वानों का है। पर हम यह बात नहीं मानते। हमारी समझ में इस प्रकार की बातें कर के गोरे उन प्रदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित करने के लिए बहाने निकालते और पेशबंदियाँ करते हैं। यदि आज वहाँ बहुत से गोरे पहुँच जायँ तो उसका परिणाम यही होगा कि वे कुछ दिनों तक वहाँ के धन का खूब अपहरण करेंगे और तब थोड़े दिनों बाद जब वहाँ के देशी निवासियों की आँखें खुलेंगी, तब फिर वही झगड़े बखेड़े खड़े होंगे जो गोरों के अन्यान्य अधीनस्थ देशों में हो रहे हैं। और अंत में फिर भी विजय देशियों की ही होगी। हाँ इससे पहले गोरों को अनर्थ और अपहरण करने का यथेष्ट अवसर मिल जायगा। इससे पहले जो जो अनर्थ और

उपद्रव हुए है। वे भी इन्हीं गोरों के कारण हुए हैं। गोरों ने वहाँ पहुँच कर अनेक प्रकार के अत्याचार किये, लोगों की धन संपत्ति लूटी और देशियों को अपना गुलाम बनाया। इसके बाद वे ऐश आराम में लग गये और वर्ण-संकरी सृष्टि उत्पन्न करने लगे गये। आज कल जो उपद्रव और उत्पात होते हैं, वे इन्हीं सब दुष्कर्मों के परिणाम हैं। अब यदि गोरे फिर वही काम किसी दूसरे और अधिक सभ्य रूप में करना चाहेंगे, तो आगे चल कर उसका परिणाम भी इससे कुछ मिलता जुलता ही होगा; क्योंकि गोरों का यह नियम सा हो गया है कि वे पहले तो किसी देश को उन्नत करने और सभ्य बनाने के बहाने अपने हाथ में कर लेते हैं और तब वहाँ अत्याचार और अपहरण करने लगते हैं। अब कुछ दिनों बाद लोगों की आँखें खुलती हैं और वे उनके अधिकार से निकलने का उद्योग करते हैं, तब ये अपना हक बतलाने लगते हैं और दूसरों को विद्रोही तथा अराजक ठहराते हैं। यदि दक्षिण अमेरिका के गरम प्रदेशों में शांति और व्यवस्था स्थापित करने के बहाने बहुत से गोरे जा बसेंगे, तो थोड़े दिनों बाद उन प्रदेशों में भी वही दृश्य देखने में आवेंगे जो आज कल गोरों के अधीनस्थ अन्यान्य देशों में देखने में आते हैं। संसार के अनेक बड़े बड़े देशों को तो इन गोरों की शांति और व्यवस्था आदि का पूरा पूरा परिचय मिल चुका है और वहाँ से इनके प्रस्थान का समय समीप आ रहा है। इसलिए अब ये अपने लिए नये नये शिकार ढूँढने की चिंता में लगे हुए हैं और उन्हीं नये शिकारों में ये दक्षिण अमेरिका के कुछ प्रदेशों को भी लाना चाहते हैं, जिन्हें अब तक इन लोगों ने अनेक कारणों से छोड़ रखा था।

हम यह मानते हैं कि दक्षिणी अमेरिका में आज कल शांति तथा व्यवस्था का बहुत अधिक अभाव है। पर प्रश्न तो यह है कि इसमें दोष किसका है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस के दोषी गोरे ही प्रमाणित होंगे। उन्होंने पहले तो देशियों को लूट मार कर बिलकुल दरिद्र बना दिया और तब कृष्ण वर्ण वालों को ला कर उनके साथ रक्त वर्ण वालों का संयोग करा दिया। साथ ही स्वयं भी अनेक प्रकार के दुराचार तथा अनाचार किये और देश को वर्ण संकरों से भर दिया। अब यदि वे दरिद्र वर्ण संकर अनेक प्रकार के उपद्रव करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पुराने गोरों ने तो पुराने उपायों से उन लोगों का नाश और पतन किया जिसकी निंदा आज कल के अनेक गोरे भी करते हैं। पर वे ही निन्दक अब सुधार के ऐसे उपाय बताते हैं जो उन पुराने उपायों के केवल परिवर्तित और संशोधित रूप ही हैं। उनका भी मुख्य उद्देश्य अपहरण ही था और इनका भी वही उद्देश्य है। अन्तर केवल उसके प्रकार में है। पर ऐसे लोगों को समझ रखना चाहिए कि जो काम बुरा है वह चाहे अच्छे प्रकार से किया जाय और चाहे बुरे प्रकार से किया जाय, उसका परिणाम सदा बुरा ही होगा। केवल प्रकार बदलने से बुरे काम की बुराई दूर नहीं हो सकती। और साथ ही अब गोरों के शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने के बहाने अधिक दिनों तक नहीं चल सकते।

गोरों ने दक्षिण अमेरिका के रक्त-वर्ण वालों का सर्वस्व लूट लिया, पर उनकी किसी प्रकार की उन्नति करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अब उनकी दशा प्रायः जंगलियों की सी हो गई है। आधुनिक संसार का, न तो उनको कोई ज्ञान है और न

अनुभव। वे गाँवों में रहकर खेती बारी करते और पशु पालते हैं। गोरे उन पर ठीक ठीक शासन नहीं कर सकते इसलिए वे लोग अवसर पाकर सिर उठाते हैं। वे अपने साथ कुछ आदमी ले लेते हैं और लूट मार कर करके गोरों से अपना पुराना बदला निकालने का उद्योग करते हैं। धीरे धीरे वे अपना अधिकार भी बढ़ा लेते हैं। जब शिक्षित और सभ्य गोरे अधिकार प्राप्त करके अनेक प्रकार के अनर्थ और अत्याचार करने लगते हैं, तब यदि अमेरिका के सीधे सादे रक्त वर्ण वाले अधिकार प्राप्त करके, और वह भी केवल बदला चुकाने के लिए, अनर्थ और अत्याचार करें तो इसमें गोरों को कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। पुराने गोरों की बात जाने दीजिये। यदि आजकल के गोरे भी वास्तव में परोपकारी होते और अमेरिका के रक्त वर्ण वालों का सचमुच कल्याण करना चाहते, तो आज वहाँ शान्ति भी स्थापित हो सकती है और देश भी उन्नत हो सकते हैं। पर कठिनता तो यह है कि गोरे सब जगह केवल अपना ही मतलब निकालना चाहते हैं और ढोंग रचते हैं दूसरों के उपकार का। उपकार के बहाने जिन लोगों का ये लोग अपकार करते हैं, वे यदि इससे असंतुष्ट हों और इनके साथ किसी प्रकार का वैर करें तो इसमें दोष किसका है? स्वयं उपद्रव खड़ा करना और फिर उस उपद्रव के लिए दूसरों को दोषी ठहराना यही गोरों का एक मुख्य सिद्धांत है। इस सिद्धांत के सहारे उन्होंने अबतक अपना बहुत कुछ काम निकाला है और बहुत अधिक आर्थिक लाभ किया है। पर धूर्तता आदि की भी कोई सीमा होती है। इधर सैकड़ों बरसों से संसार इनकी चाल जियाँ देख रहा है और अब वह धीरे धीरे होशियार होता जाता

है। अब वह इनके जाल से निकलना चाहता है और भविष्य में इनकी धूर्तता से बचना चाहता है। 'पर ये भी कुछ कम चतुर नहीं हैं। ये नित्य नये नये बनाते चले जाते हैं। और जब तक इनका बल चलेगा तब तक बनाते रहेंगे। इस जाल का अंत तभी होगा, जब सारा संसार इन गोरों का विश्वास करना छोड़ देगा।

आजकल दक्षिण अमेरिका की जो अवस्था है, उसका संक्षिप्त रूप यही है। गोरों ने वहाँ पहुच कर जो क्रान्ति की, उसके परिणाम स्वरूप वहाँ नई नई क्रान्तियाँ होती हैं। और उन्होंने पहले जो अत्याचार किये थे, उन अत्याचारों के फल स्वरूप वहाँ नये नये अतयाचार होते हैं। इन क्रान्तियों और अत्याचारों का परिणाम यह होता है कि देश के धन और जन की यथेष्ट हानि होती है और देशवासियों का दिन पर दिन पतन होता जाता है। गोरों का अधिकार वहाँ से प्रायः उठ सा गया है और धीरे धीरे वे वहाँ से हटने लगे हैं। वर्ण-संकरों ने अपना अधिकार जमाना चाहा था, पर उन को भी सफलता नहीं हो सकी। वहाँ की अराजकता और अत्याचार देखकर नये गोरों को वहाँ जा कर बसने का साहस भी नहीं होता। वे सोचते है कि जलती हुई आग में बाल बच्चों को लेकर कूदने कौन जाय? इसलिए अभी कुछ दिनों तक वहाँ अराजकता के बने रहने की सम्भावना है। यह अराजकता न तो गोरों के दूर किये दूर हो सकती है और न वर्ण-संकरों के प्रयत्न से ही नष्ट हो सकती है। यह अराजकता वही लोग दूर करेंगे, शान्ति वही लोग स्थापित करेंगे जो वास्तव में उस देश के स्वामी हैं, और उन देशों के नैसर्गिक अधिकारी हैं।

देश रक्त वर्ण वालों का है और वहाँ शान्ति तभी होगी जब

देश पर पूरा पूरा अधिकार उन्हीं रक्त-वर्ण वालों का होगा। यदि गोरे यह सोचते हों कि हमारे अधिक संख्या में वहाँ आकर बस जाने से ही शांति स्थापित हो जायगी, तो यह उनका भ्रम है। सम्भव है कि कुछ समय के लिए इस उपाय से थोड़ी बहुत झूठी-सच्ची शांति स्थापित हो जाय, पर वह शांति कभी स्थायी नहीं होगी। पहले रक्त-वर्ण वाले गोरों के बड़े भक्त थे। पर इन गोरों ने अपने कृत्यों से उनकी भी भक्ति नष्ट कर दी। अब वे भी गोरों के विरोधी हो रहे हैं। भला जिन गोरों ने रक्त-वर्ण वालों का सर्वस्व लूट लिया, जो गोरे उनको दरिद्र बना कर स्वयं उनकी सम्पत्ति से अनेक प्रकार के सुख भोगते हैं और जो गोरे इतना सब कुछ करके भी उन रक्त-वर्ण वालों को बिलकुल तुच्छ, हीन और अपना गुलाम समझते हैं, उन गोरों से वे रक्त-वर्ण वाले कहां तक प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकते हैं। इसलिए आजकल अमेरिका के रक्त-वर्ण वालों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ हो चला है। कुछ तो गोरों के अत्याचारों ने और कुछ युग-धर्म ने उनकी आँखें खोल दी हैं। अब वे भी इस बात का उद्योग करने लगे हैं कि हमारे देश में विदेशियों का प्रभुत्व न रह जाय। यह आन्दोलन और देशों की अपेक्षा मेक्सिको में कुछ अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर भी इस आन्दोलन का पूर्व रूप दिखाई देने लगा है। वे धीरे धीरे अपनी नष्ट सम्पत्ति भी प्राप्त कर रहे हैं, अपनी नष्ट मर्यादा भी सम्पादित कर रहे हैं और अनेक उपायों से अपनी उन्नति भी कर रहे हैं। उनके रंग ढंग देख कर अनेक गोरों को इस बात का भय होने लगा है कि ये लोग हमारे हाथ से निकल जायँगे और अपने

देश पर फिर से अधिकार कर लेंगे। १९१२ में दक्षिण अमेरिका सम्बन्धी अपनी पुस्तक में लार्ड ब्राइस ने लिखा था कि बोलिविला में इधर रक्त-वर्ण वालों के उपद्रव बढ़ चले हैं। अब उनके पास पहले की अपेक्षा हथियार भी अधिक हो गये हैं। उनकी संख्या तो पहले से ही बहुत अधिक है। यदि वे लोग मिल कर गोरों के विरुद्ध कोई उपद्रव करना चाहें तो भीषण उपद्रव कर सकते हैं। उनके उपद्रव की तो इन गोरों को इतनी चिंता है, और स्वयं जो जो अनर्थ तथा अत्याचार कर चुके हैं, उनका कोई ध्यान ही नहीं है। दूसरों का सर्वस्व छीन लेना और जब वे लोग अपना माल वापस करने की कोशिश करें, तो चिन्तित और भयभीत होना ही इन सभ्य गोरों का कर्तव्य रह गया है।

लेटिन अमेरिका के अधिकांश प्रजातंत्र राज्यों में से गोरों का प्रभुत्व तो उठ ही गया। अब वहाँ के वर्ण-संकरों के हाथ से रक्त-वर्ण वाले सब अधिकार छीनना चाहते हैं। अतः अब हमें संक्षेप में इस बात का विचार करना चाहिए कि वे रक्त वर्ण वाले शासन-कार्यों के लिए कहाँ तक योग्य हैं, उनके हाथ में शासन आ सकता है या नहीं और यदि आ सकता है तो वे उसे कहाँ तक अपने हाथ में रख सकते हैं।

इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि रक्त-वर्ण वाले कृष्ण-वर्ण वालों की अपेक्षा कहीं अधिक योग्य हैं। हबशियों ने विदेशियों के प्रभाव में पड़ कर और उनकी सहायता पा कर भी अब तक कोई विशेष महत्व का अथवा प्रशंसनीय काम नहीं किया। न तो पहले उनकी कोई निज की ही सभ्यता थी और न वे बाद में दूसरों की सहायता से ही

अपनी सभ्यता संघटित कर सके। पर रक्त-वर्ण वालों ने सदा सारे संसार से अलग रह कर भी अपनी बहुत अच्छी सभ्यता संघटित की थी। उन्होंने अपने यहाँ सभ्य समाज की सृष्टि की अनेक प्रकार की उन्नति की और बड़े बड़े राज्य तथा साम्राज्य स्थापित किये। इससे पता चलता है कि उनमें बुद्धि का कभी अभाव नहीं था। मध्य अथवा पौराणिक युगों में युरोप अथवा एशिया वालों ने जितनी अधिक उन्नति की थी, यदि उतनी अधिक नहीं तो भी उससे कुछ ही कम उन्नति इन रक्त वर्ण वालों ने भी अवश्य की थी।

रक्त वर्ण वाले बहुत दृढ़चित्त होते हैं और वे जल्दी दूसरों के प्रभाव में नहीं आते। पर कदाचित् अपने इसी गुण के कारण वे विशेष उन्नति भी नहीं कर सकते। वे एक बार जिस अवस्था में पहुँच जाते हैं, उस अवस्था से आगे बढ़ने में उनको बहुत अधिक समय लगता है। यही कारण है कि लोगों को इस बात का सन्देह होता है कि वे आधुनिक सभ्यता की दौड़ में न ठहर सकेंगे। हाँ, यह बात दूसरी है कि आधुनिक सभ्यता की आज कल की दौड़ का ढंग ही बिलकुल बदल जाय। रक्त वर्ण वाले अपनी पुरानी चाल ढाल ही बहुत अधिक पसंद करते हैं और उनको गोरों की चाल ढाल बिलकुल पसंद नहीं है। यद्यपि उनकी भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर बहुत अधिक अन्तर है, तथापि मुख्य गुण सब में एक ही है। एक विद्वान् का मत है कि रक्त वर्ण वाले बहुत ही पिछड़े हुए हैं। उनकी बुद्धि मन्द होती है और वे नये विचार ग्रहण नहीं कर सकते। सम्भव है कि आगे चल कर उनमें परिवर्तन हो जाय और वे उन्नति कर सकें, प

इधर चार सौ वर्षों तक गोरों के साथ रहने पर भी उनमें बहुत ही कम परिवर्तन हुआ है, इसलिए भविष्य में भी उनसे कोई विशेष आशा नहीं की जा सकती। अब तक उनकी जैसी अवस्था रही है, उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि अभी कई पीढियों तक उनमें बहुत ही कम परिवर्तन होगा। जो रक्त वर्ण वाले गोरों के नगरों में रहते हैं, उनमें अवश्य थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है। पर फिर भी उनकी प्रवृत्ति से यही जान पड़ता है कि अवसर पाते ही वे फिर अपने पुराने रास्ते पर चलने लगेंगे। गोरों के प्रभाव-क्षेत्र से निकल ते ही वे पुनः अपनी पुरानी सभ्यता ग्रहण कर लेंगे। उनके सम्बंध में लार्ड ब्राइस का मत भी इसी से कुछ मिलता जुलता जुलता है। वे यह तो मानते हैं कि रक्त वर्ण वाले खूब लड़ने भिड़ने वाले और अच्छे योद्धा होते हैं, पर उनका कहना है कि राजनीति अथवा युद्ध-क्षेत्र में उन्होंने आज तक कभी कोई विशेष उन्नति नहीं की। वे सदा अपने पुराने हिसाब से ही चलते हैं। उनमें आज तक कोई ऐसा योग्य व्यक्ति नहीं हुआ जो अपने समाज के और आदमियों से कुछ बढ़ चढ़ कर अथवा विदेशियों के मुकाबले का हुआ हो।

रक्त वर्णवालों के सम्बन्ध में यह प्रायः एक निश्चित सिद्धान्त है कि यदि वे लोग अकेले छोड़ दिये जाते और उनके कामों में कोई हस्तक्षेप न करता तो वे बराबर अपनी उन्नति, अपने ढंग पर करते चलते। हाँ, यह सम्भव था कि वे बहुत जल्दी जल्दी और बहुत अधिक उन्नति न करते। पर फिर भी वे कुछ न कुछ उन्नति अवश्य करते। पर कठिनता तो यह हुई कि बीच में ही विदेशियों ने वहाँ पहुँचकर उनकी उन्नति के मार्ग में भारी बाधा खड़ी कर

दी। केवल बाधा ही नहीं खड़ी कर दी। बल्कि एक प्रकार से उनका सर्वनाश कर दिया। क्रूर विजेताओं ने उन पर भीषण रूप से आक्रमण करके उनकी सारी सभ्यता का नाश कर दिया, उनका सर्वस्व लूट लिया और उनको गुलामी की जंजीरों में जकड़ दिया। बस उनकी सारी बनी बनाई इमारत गिर गई और उनकी सभ्यता तथा उन्नति का एक प्रकार से अन्त ही हो गया। वे अपने ढंग पर अपनी उन्नति तो करने ही नहीं पाते थे और अपने कारणों से अपने आपको अपने स्पेनी विजेताओं के अनुकूल भी नहीं बना सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपनी, सब पुरानी आदतों को भूल गये और कोई नई बात सीख ही न सके। बस यही बात गत चार सौ वर्षों से वहाँ हो रही है। इन चार सौ वर्षों में उन्होंने कोई नई बात तो सीखी नहीं और अपनी पुरानी सीखी सिखाई सब बातें भुला दीं। उनके जितने मानसिक गुण थे, वे सब नष्ट हो गये और जब से बिलकुल अयोग्य गुलाम रह गये हैं। न तो उनको यथेष्ट भोजन मिलता है और न कोई उनके स्वास्थ्य आदि का ही ध्यान रखता है। उन्हें दिन रात पशुओं के समान काम करना पड़ता है। इसलिए दिन पर दिन उनका नाश होता जाता है। अपने शारीरिक, आर्थिक तथा मानसिक कष्टों को भुलाने के लिए वे आज-कल खूब शराब पीते हैं और यह शराबखोरी उनके नाश में और भी अधिक सहायक होती है।

एक बात और ऐसी है, जो उनके नाश में बहुत अधिक सहायक हो रही है। उनमें वर्ण-संकरता भी भीषण रूप से बढ़ रही है। इसके कारण स्वयं उनका भी पतन होता है और उनके साथ साथ गोरों आदि का भी। वेनेजुला तथा मध्य अमेरिका के दूसरे

कइ देशों में शुद्ध रक्त वर्ण वालों की संख्या अब बहुत कम रह गई है। प्रायः सभी लोग वर्ण संकर दिखलाई देते हैं। वहाँ मेस्टिजो बहुत अधिक हो गये हैं। इसके अतिरिक्त समुद्र तट के जो गरम देश हैं, उनमें अब हवशियों की और उन हवशियों के कारण वर्ण-संकरता की और भी अधिक वृद्धि हो रही है। गौर वर्णवालों का रक्त तो उनके लिए केवल हानिकारक ही प्रमाणित होता है, पर कृष्ण वर्णवालों का रक्त उनके लिए बिलकुल नाशक ही है। लेकिन इतना होने पर भी वहाँ वर्ण-संकरता रुकती नहीं, बल्कि दिन दिन बढ़ती ही जाती है। रक्त वर्णवाले विवाह सम्बन्ध के लिए किसी प्रकार का वर्ण सम्बन्धी विचार नहीं करते और इस प्रकार अपने वंश और वर्ण का नाश करते जाते हैं।

इन सब बातों को देखते हुए अमेरिका के रक्त वर्ण वालों का उद्धार इस समय बहुत कठिन जान पड़ता है। यदि उनके कामों में विदेशियों का हस्तक्षेप न हो और वे स्वतंत्र छोड़ दिये जायँ तो भी इस बात की बहुत कम आशा है कि वे अपना सुधार कर सकेंगे। आजकल उनमें जो राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ रहा है, उसका उद्देश रक्त वर्ण वालों की उन्नति करना तो कम है पर अपने विदेशी शासकों से बदला चुकाना ही अधिक है। वर्ण-संकरों के अत्याचारों से भी वे बहुत घबरा गये हैं और उनसे भी वे बदला ही चुकाना चाहते हैं। यद्यपि इस समय वहाँ मनरो सिद्धान्त काम कर रहा है जिसके कारण अन्य देशों के लोगों को वहाँ पहुँचने का साहस नहीं होता, लेकिन फिर भी वहाँ की परिस्थिति देखते हुए इस बात की आशा नहीं होती कि वहाँ अधिक समय तक इस सिद्धान्त की रक्षा अथवा पालन हो सकेगा। संसार की जन-संख्या

दिन पर दिन बढ़ती जाती है और अमेरिका में स्थान बहुत अधिक है। वहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति भी बहुत अधिक है और उपद्रव भी खूब होते हैं। आजकल संसार जिस ढंग से चल रहा है, यदि उसी ढंग से वह और कुछ दिनों तक चलता रहा, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि और और विदेशी वहाँ पहुँच कर अपना प्रभुत्व जमा लेंगे। पर अभी यह कोई नहीं कह सकता कि वहाँ किसका प्रभुत्व होगा। सम्भव है कि अमेरिका के संयुक्त राज्य वहाँ के और सब देशों को भी मिलाकर एक कर लें और उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका पर उसका और उसके साथियों का अधिकार हो जाय। यह भी सम्भव है कि यूरोप की कुछ बड़ी बड़ी शक्तियाँ जब यह देखें कि दक्षिण अमेरिका की बहुत अधिक प्राकृतिक सम्पत्ति बिलकुल व्यर्थ पड़ी है और वहाँ के लोग उसका दुरुपयोग कर रहे हैं, तब वे मिलकर उस पर आक्रमण करें और उसे अपने अधिकार में कर लें और यह भी सम्भव है कि जापानी वहाँ पहुँचने का उद्योग करें।

रंग ढंग देखते हुए कुछ लोगों को इस बात का संदेह हो रहा है कि शीघ्र ही दक्षिण अमेरिका पीत वर्ण वालों के हाथ में चला जायगा। हम पहले ही बतला चुके हैं कि पीत वर्णवालों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है और उनके पास रहने के स्थान की बहुत कमी है। वे अपने लिए किसी उपयुक्त और प्रशस्त स्थान की चिंता में हैं। हम यह तो बतला ही चुके हैं कि पीत वर्ण वालों ने यह निश्चय कर लिया है कि हम अपने प्रदेशों में विदेशियों को अब नहीं घुसने देंगे। आगे चलकर हम यह भी बतलावेंगे कि गोरों के किन किन देशों पर उनकी नज़र है और वे किस प्रका

उन पर अधिकार जमाने की ताक में हैं। पर यहाँ प्रसंगवश हम यह बतला देना चाहते हैं कि दक्षिण अमेरिका को हम लोग अपने लिए बहुत ही उपयुक्त समझते हैं। वहाँ बहुत सी जमीन बेकार पड़ी है और प्रचुर प्राकृतिक सम्पत्तिका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। अराजकता और अनाचार आदि की भी वहाँ कमी नहीं है। तब फिर पीत वर्ण वालों की निगाह उन देशों पर क्यों न हो? यदि उनको अवसर मिल गया तो वे थोड़े ही समय में ऐसे आश्चर्यजनक रूप से सारे दक्षिण अमेरिका में अपना अधिकार कर लेंगे जिसकी इतिहास में समता न हो सकेगी।

इधर जापान की पर राष्ट्रीय नीति सदा यही रही है कि जिस प्रकार हो, अपने साम्राज्य की वृद्धि की जाय और पीत वर्ण-वालों के रहन के लिए और अधिक देश हस्तगत किये जायँ। इसलिए लैटिन अमेरिका पर उसकी पूरी-पूरी नजर है। बहुत दिनों से जापानी राजनीतिक इस लैटिन अमेरिका वाले प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में चीनियों ने आगे बढकर उनका काम और भी प्रशस्त कर दिया था। उस समय बहुत से चीनी आकर पेरू में बस गये थे उनकी भीषण वृद्धि देख कर पेरूवाले इतना घबरा गये थे कि उनको अनेक प्रकार के कानून बनाकर चीनियों का वहाँ आना रोकना पड़ा था। जो बेचारे चीनी कुली वहाँ जाकर बसे थे, उनका रक्षक और समर्थक कोई नहीं था। लेकिन इतना होने पर भी उन्होंने वहाँ यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी। यह देखकर जापानियों का हौसला और भी बढ़ गया। काउण्ट ओकुमा ने अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्र-वेत्ता प्रोफेसर राससे कहा था कि दक्षिण अमेरिका में और

विशेषतः वहाँ के उत्तरी भागों में हमारी बढ़ती हुई प्रजा को बहुत अधिक स्थान मिलेगा। अपने देशवासियों से ओकुमा ने एक बार कहा था कि जापानी सारे संसार में टिड्डी दल की तरह फैल जायँगे वे पहले उत्तर अमेरिका के तटों पर उतरेंगे और सब वहाँ से सारे मध्य तथा दक्षिण अमेरिका में फैल जायँगे। लैटिन अमेरिका के देश तो ओकुमा को बहुत अधिक पसन्द थे; क्योंकि वे समझते थे कि उन देशों पर जापानियों का बहुत ही सहज में प्रभाव पड़ सकता था।

अब तक तो जापानी लैटिन अमेरिका के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार ही कर रहे थे, पर अब उन्होंने उन विचारों के अनुसार थोड़ा बहुत काम करना भी आरम्भ कर दिया है। दक्षिण अमेरिका के पश्चिम तट के देशों में जापानी व्यापारियों आदि की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जाती है। वहाँ के बाजार अभी से जापानी माल से भरने लगे हैं। जापानी महाजन वहाँ अनेक प्रकार के अधिकार और सुभीते प्राप्त करने के उद्योग में लगे हुए हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्यों को यह देखकर चिन्ता हो रही है और वे इस बात का उद्योग कर रहे हैं कि मेक्सिको आदि देशों में जापानियों को किसी प्रकार के अधिकार न मिलने पावें।

अभी लैटिन अमेरिका में जापान कोई बहुत बड़ी कारवाई नहीं कर रहा है। अभी तो वहाँ की नाप-जोख ही उसने शुरू की है। अभी वह वहाँ के लिए अपना कार्यक्रम बना रहा है। हाँ आगे चलकर वह कार्रवाई भी करने लगेगा। वह अभी से अपनी कार्रवाई शुरू कर देता, पर अमेरिका के बाधक होने के कारण ही वह अभी कुछ रुक रहा है। वह अच्छी तरह समझता है कि

यदि हम दक्षिण अमेरिका के देशों पर अधिकार करना चाहेंगे तो उसके पहले हमें अमेरिका के संयुक्त राज्यों से लोहा बजाना पड़ेगा। अभी वह अमेरिका के साथ लड़ना नहीं चाहता; क्योंकि पूर्वी एशिया में ही अभी उसे कई काम दिखाई पड़ते हैं। तो भी वह समय की प्रतीक्षा में है। ज्यों ही वह उपयुक्त समय देखेगा, त्यों ही वह अपना काम कर गुजरेगा। लैटिन अमेरिका में उसने बहुत से लोगों को अपना पक्षपाती और समर्थक भी बना लिया है। अमेरिका के संयुक्त-राज्यों ने अनेक ऐसे नियम बनाये हैं जो रक्त वर्णवालों तथा वर्ण संकरों के मार्ग में बहुत बाधक होते हैं। इसलिए वे लोग अमेरिका के विरोधी हो रहे हैं। वे मनरो-सिद्धान्त को अपने लिए हानिकारक समझते हैं और जापानियों को अपना सहायक मानते हैं वे यह भी समझते हैं कि इन गोरों के अत्याचार से अन्य वर्णों के लोगों को यदि कोई बचा सकता है, तो वह जापान ही बचा सकता है।

मेक्सिको में जापान धीरे-धीरे अपनी कार्रवाई करता चलता है। वहाँ की तीन बातें उनके लिए बहुत ही उपयुक्त हैं। एक तो यह कि वहाँ वाले अमेरिकन संयुक्त राज्यों के घोर विरोधी हैं। दूसरे यह कि वहाँ के मेस्टिजो गोरों से बहुत घृणा करते हैं। और तीसरे यह कि वहाँ के रक्त वर्णवालों में जातीयता के भावों का विकास और प्रचार हो रहा है। इधर कुछ दिनों से मेक्सिको की अवस्था बहुत ही खराब हो रही है। वहाँ भीषण विद्रोह और मार-काट हो रहा है। वहाँ के मेस्टिजो तो गोरों के शत्रु हो रहे हैं और रक्त वर्णवाले गोरों के भी शत्रु हो रहे हैं और मेस्टिजो के भी। १८४७ में अमेरिका के संयुक्त राज्यों ने मेक्सिको के साथ

जो युद्ध किया था, उसे मेक्सिको वाले अभी तक भूले नहीं है। वे उसका बदला चुकाना चाहते हैं। और संयुक्त राज्यों से अपने वे प्रदेश वापस लेना चाहते हैं, जो उस समय उनसे छीन लिये गये थे। जब युरोप में महायुद्ध आरम्भ हुआ, तब अमेरिका के संयुक्त राज्य युद्ध के लिए बिलकुल तैयार नहीं थे। यह देखकर मेक्सिको-वालों ने उनके विरुद्ध भीषण विद्रोह खड़ा कर दिया था। विद्रोहियों ने दक्षिण मेक्सिको के निवासियों में घोर असन्तोष उत्पन्न किया, दक्षिण के हबशियों को भी भड़काया और टेक्सा में भी अशान्ति उत्पन्न की। वे चाहते थे कि अमेरिकन संयुक्त राज्यों के दक्षिण के कुछ प्रदेश तो फिर से मेक्सिको में मिला लिये जायँ और शेष कुछ प्रदेशों में कृष्ण वर्ण वालों का प्रजातंत्र स्थापित कर दिया जाय। इस काम के लिए वे जो सेना संघटित करना चाहते थे, उस में वे गोरों को बिलकुल नहीं रखना चाहते थे। उनका यह भी विचार था कि अमेरिकन संयुक्त राज्यों के दक्षिणी प्रान्तों की गोरी प्रजा एक दम कतल कर दी जाय। पर मेक्सिको वालों के ये विचार कार्य रूप में परिणत न हो सके और उनका विद्रोह सहज में ही दबा दिया गया।

यद्यपि उस समय मेक्सिको वालों को विद्रोह में सफलता नहीं हुई, तथापि उस विद्रोह से इतना पता अवश्य चलता है कि वहाँ के निवासी गोरों के घोर विरोधी हैं। उस विद्रोह के नेता ऐसे वैसे नहीं, बल्कि बहुत समझदार और प्रभावशाली लोग थे। इधर कुछ दिनों से मेक्सिको में गोरे अमेरिकनों पर भी खूब आक्रमण होते हैं। वहाँ के समाचार-पत्र तो खुल्लम आम लोगों को अमेरिका के विरुद्ध भडकाते हैं और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि इन अमेरि-

कनों को जहाँ पाओ, वहीं उनको मार डालो, उनकी आँखे निकाल लो, उनका सिर तोड दो, आदि आदि।

जापानियों के लिए ये सब बातें बहुत ही अनुकूल पड़ती है। मेक्सिको के रक्त वर्णवालों के ऐसे भावों से वे यथेष्ट लाभ उठाना चाहते हैं और इसीलिए समय समय पर उनको उत्तेजित भी करते रहते हैं। वे रक्त वर्ण वालों को अपनी ओर मिलाने के लिए कहते हैं कि हम दोनों जातियों में तो बहुत कुछ समानता है और किसी समय हम दोनों बिलकुल एक थे। पर बीच में अलग हो गये थे और एक दूसरे को भूल गये थे। १९१४ के आरंभ में मेक्सिको का एक राजदूत राजनीतिक उद्देश्य से जापान भी गया था। वहाँ उसका खूब सत्कार हुआ था और दोनों देशों के निवासियों में मित्र-भाव स्थापित करने के अनेक उद्योग किये गये थे। महायुद्ध के समय जापान और मेक्सिको में प्रायः आपसदारी का संबंध था। जहाँ तक संसार को मालूम है, अभी तक दोनों देशों में कोई गुप्त समझौता नहीं हुआ है। पर फिर भी मेक्सिको के एक लेखक का कहना है कि १९१२ में ही मेक्सिको के राष्ट्रपति मडेरो ने दक्षिण अमेरिका के अन्यान्य प्रजातंत्रों तथा जापान के साथ समझौता कर लिया था कि आवश्यकता पड़ने पर सब लोग मेक्सिको की सहायता करेंगे। यह भी कहा जाता है कि जब मेक्सिको नगर में आंतरिक विद्रोह के कारण बारह दिन तक भीषण मार-काट होती रही और अंत में यह अफवाह फैली कि अमेरिका के संयुक्त-राज्य बीच में हस्तक्षेप करना चाहते हैं, तब राष्ट्रपति मडेरोने कहा था कि अभी शायद अमेरिकन सरकार को यह मालूम नहीं है कि इस बार उसको मेक्सिको से नहीं बल्कि

जापान से काम पड़ेगा। जो हो, पर इसमें संदेह नहीं कि जापान वालों ने रक्त वर्ण वालों को बहुत कुछ अपनी ओर मिला लिया है और वे गोरों के विरोधी तो पहले से हैं ही।

जापान के साथ चाहे मेक्सिको का कोई समझौता हुआ हो और चाहे न हुआ हो, पर असल बात यह है कि मेक्सिको वाले अमेरिका से बहुत नाराज़ हैं। यदि कभी कोई भारी झगड़ा खड़ा होगा तो मेक्सिको चाहे जापान को सहायता दें या न दें, पर वह अमेरिका को अवश्य ही किसी प्रकार की सहायता न देगा। अमेरिका के दूसरे शत्रु देशों के साथ भी मेक्सिको की मित्रता है। मेक्सिको में जो जापानी रहते हैं, वे समय समय पर ऐसी बातों से भी अपना कुछ न कुछ काम निकाल ही लेते हैं। और कुछ नहीं तो मेक्सिको वालों का मत ही अपनी ओर खींच लेते हैं। १९१६ में जब मेक्सिको में उपद्रव खड़ा हुआ था, उस समय वहाँ के कुछ प्रमुख जापानियों ने अपने दूसरे देशभाइयों के नाम एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था। उस घोषणा-पत्र में कहा गया था कि मेक्सिको हमारा मित्र राष्ट्र है। उसके साथ हमारा घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध है। हमारी तरह वह भी वीरों की जाति है। वह अत्याचारी अमेरिकनों का प्रभुत्व कभी सहन न करेगी। यदि किसी ज़बरदस्त राष्ट्र के साथ उसका झगड़ा हो तो उस समय हम उसको छोड़ नहीं सकते। मेक्सिको वाले अपनी रक्षा करना तो जानते हैं, पर उनको सहायता की आवश्यकता है। हम उनको वह सहायता पहुचा सकते हैं। यदि अमेरिकन गोरे मेक्सिको पर आक्रमण करेंगे और कैलिफोर्निया के तट पर अधिकार कर लेंगे तो जापानी व्यापार और जापानी जल-सेना बड़े संकट

गोरे उनका विरोध भी कर रहे हैं और स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हमें हर तरह से जापानियों का विरोध करना चाहिए और दक्षिण अमेरिका के देशों को उनकी साम्राज्य-लिप्सा का शिकार न होने देना चाहिए।

प्रोफेसर रास का मत है कि यदि दक्षिण अमेरिका में एशिया वालों को आने से रोका न जाय तो बहुत सम्भव है कि इस शताब्दि के अन्त में वहाँ पचीस तीस लाख एशियाई और उनकी सन्तानें बढ़ जायँगी। यदि ऐसा हुआ तो दक्षिण अमेरिका के भविष्य में बड़ा भारी परिवर्तन हो जायगा। आज कल यूरोप के राजनीतिज्ञ सोचते हैं कि आगे चल कर हमारे यहाँ की प्रजा दक्षिण अमेरिका में अच्छी तरह रह और बहुत अधिक संख्या में बढ़ सकेगी पर यदि एशिया वाले वहाँ जाकर बस जायँगे तो फिर यूरोप वालों की वहाँ गुजर न हो सकेगी। मेस्टिजो लोगों के कुशासन से वे अपनी प्रजा को निकालने का जो विचार कर रहे हैं, वह भी पूरा न हो सकेगा गोरों को या तो अपनी जन-संख्या की वृद्धि रोकनी पड़ेगी और या आपने लिए कोई और स्थान ढूँढना पड़ेगा। क्योंकि अमीर गोरे सदा दरिद्र एशिया वालों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करने से घबराते हैं। और फिर दक्षिण अमेरिका ईसाइयों के हाथ से भी निकल जायगा और वहाँ के कुछ प्रजातंत्र राज्य एशिया वालों के अधिकार में चले जायँगे।

प्रोफेसर रास का यह भी मत है कि यदि दक्षिण अमेरिका में एशियावालों का प्रभुत्व हो जायगा, तो फिर रक्त-वर्ण वालों की कुछ भी उन्नति न हो सकेगी और एक प्रकार से उनका अन्त हो जायगा। उन्नत जापानियों और चीनियों के मुकाबले में रक्त वर्ण

में जो गोरे बच रहे थे, उन्होंने आपस में लड़ भिड़कर अपना और भी अधिक नाश कर लिया ।

अब झगड़ा बढ़ा, तब गोरों ने अधगोरों की सहायता लेकर विजय प्राप्त की । पर उनकी विजय हो जाने पर अध-गोरे अपना पुरस्कार माँगने लगे । अब एक नया झगड़ा खड़ा हो गया जिसमें अध-गोरों की विजय हुई और उनके हाथ में राजनीतिक अधिकार चले गये । उन अध-गोरों ने रक्त तथा कृष्ण-वर्ण वालों से सहायता ली थी, इसलिए अब उन लोगों के भी बढ़ने की बारी आ गई। जब रक्त तथा कृष्ण वर्ण-वालों का एक नया आन्दोलन खड़ा हो गया है । यदि उनका यह आन्दोलन सफल हो गया तो फिर गोरों का वहाँ कहीं ठिकाना न लगेगा । इधर सौ वर्षों से यही हो रहा है कि लैटिन अमेरिका में गोरों का प्रभुत्व दिन पर दिन घटता जाता है और रक्त तथा कृष्ण-वर्ण वालों का बल बराबर बढ़ता जाता है ।

पर लक्षणों से यह भी जान पड़ता है कि कदाचित् रक्त और कृष्ण वर्ण वालों के हाथ से भी लैटिन अमेरिका निकल जाय । या तो उस पर गोरों का अधिकार हो जाय और या पीत वर्ण वालों का । क्योंकि रक्त तथा कृष्ण वर्ण वाले अभी तक अपनी किसी प्रकार की योग्यता का कोई प्रमाण नहीं दे सके हैं । उनकी अयोग्यता के कारण जो स्थान खाली होगा, उसकी पूर्ति की चिंता में अभी से लोग लगे हैं और अपनी अपनी ओर से तैयारियाँ कर रहे हैं ।

लैटिन अमेरिका की दशा भी अनेक अंशो में आफ्रिका की दशा से मिलती जुलती है । आफ्रिका की भांति लैटिन अमेरिका

है कि कभी उनका समूल नाश न होगा: और यह भी निश्चित ही है कि वे कभी न कभी योग्य भी अवश्य ही होंगे। उनकी वर्तमान अयोग्यता कम से कम अब स्थायी नहीं रह सकती। अत: आगे चलकर जब वे योग्य होंगे, तब उन लोगों से अपना पूरा-पूरा बदला चुका लेंगे जो इस समय उनकी अयोग्यता से लाभ उठावेंगे। गोरों से वे असन्तुष्ट हो ही गये हैं और उनसे अपना पीछा छुड़ाने की चिन्ता में लगे ही हैं। इसी तरह आगे चलकर वे पीत वर्णवालों से भी, यदि पीत वर्णवालों का अधिकार उनके देशों पर हो गया तो, अपना पिण्ड छुड़ाना चाहेंगे। उस समय पीत वर्णवाले भी उनसे वैसे ही दु:खी हो जायँगे जैसे कि आजकल गोरे हैं। दूसरों के देशों पर अधिकार करने का परिणाम अच्छा नहीं होता। उससे सदा अशान्ति और कष्टों की वृद्धि ही होती है। अत: जो लोग यह चाहते हों कि संसार की अशांति और अधिक न बढ़े, यहीं उसका अंत हो जाय, उनको उचित है कि वे अयोग्य जातियों के देशों पर अधिकार करने का विचार कुछ कम कर दें और उन अयोग्य जातियों को योग्य बनाने की चिंता करें। पर योग्य बनाने का वह उद्योग वैसा नहीं होना चाहिए जैसा आजकल के गोरे करते हैं। अर्थात् उसकी ओट में स्वार्थ-साधन नहीं होना चाहिए। वह उद्योग सच्चे हृदय से होना चाहिए और संसार की सब जातियों को अपना भाई समझ कर होना चाहिए।

गोरों का प्रसार

(६)

सन् १५०० से लेकर १९०० तक संसार में गोरों का जितना अधिक प्रसार हुआ है, उसकी उपमा संसार के लिखित इतिहास में नहीं मिल सकती। इस पुस्तक के आरम्भ में यह बतलाया जा चुका है कि गोरों का वास्तविक निवास-स्थान कहाँ कहाँ है और उनका राजनीतिक-प्रभुत्व किन किन देशों में है। संसार में इस समय जितने मनुष्य बसते हैं, उनमें से प्रायः एक तृतीयांश गोरे हैं। यह भी बतलाया जा चुका है कि सारे संसार में मनुष्यों के बसने योग्य जितना स्थान है, उसके दो पंच-मांश में तो गोरों की बसती है और सारे संसार का नौ दशमांश इन गोरों के राजनीतिक अधिकार में है। संसार की यह परिस्थिति विलक्षण और अभूत-पूर्व होने के साथ ही साथ असह्य भी है। आज तक कोई जाति न तो संख्या में इतनी बढ़ी थी और न अधिकार में ही।

गोरों के प्रसार के सम्बन्ध में एक और भी विलक्षण बात यह है कि इसका आरम्भ बिलकुल अचानक हुआ था और उनके विकास की गति बहुत ही तीव्र थी। कोलम्बस की यात्रा से दस ही वर्ष पहले कोई यह नहीं सकता था कि तीन चार सौ वर्षों के

अंदर ही गोरों का प्रताप इतना बढ़ जायगा और प्राय: सारे संसार पर उनका अधिकार हो जायगा। पन्द्रहवीं शताब्दि के अंत में गोरी जाति पश्चिमी और मध्य यूरोप, नार्वे, स्वीडन तथा यूरोपीय रूस के उत्तर पश्चिमी भागों में ही रहती थी। उस समय उनके रहने के देशों का क्षेत्र-फल आजकल के क्षेत्र-फल का केवल दशमांश ही, अर्थात् लगभग २०,००,००० वर्ग मील था। उस समय उनकी जन-संख्या भी आजकल की जन-संख्या का लगभग एक षष्ठमांश ही थी। उससे प्राय: सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले प्लेग और मरी आदि के कारण यूरोप की जन-संख्या बहुत ही घट चुकी थी और अनेक युद्धों में भी गोरों का बहुत अधिक नाश हो चुका था। उस समय वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्था भी ऐसी ही थी जो जन-संख्या की वृद्धि के लिए कुछ विशेष अनुकूल नहीं थी। यूरोपवालों ने धार्मिक युद्ध आरम्भ करके अपना प्रसार चाहा, पर उसमें उनको पूरी-पूरी विफलता ही हुई थी। प्रसार के बदले उनका और ह्रास ही हुआ था; क्योंकि एशिया के धूसर तथा पीत वर्ण के लोग प्राय: यूरोप में पहुँचकर गोरों पर आक्रमण किया करते थे। पहले तो रोम-साम्राज्य के पतन-काल में हूणों ने, बीच में अरबों ने और अन्त में मंगोलों और तुर्कों ने यूरोप पर अनेक आक्रमण करके वहाँ के निवासियों को खूब तंग किया था। इस बीच में यूरोपवालों ने बड़ी कठिनता से अपनी स्वाधीनता की रक्षा की थी। तो भी उसकी सीमा पर के कुछ प्रदेश एशियावालों के अधिकार में आ ही गये थे। उदाहरणार्थ सन् १४८० में तुर्क लोग बरा-बर विजय प्राप्त करते हुए यूरोप के दक्षिण-पूर्वी भागों में बढ़ते जा रहे थे, रूस का बहुत बड़ा अंश

तातारों के हाथ में चला गया था और मूर लाग दक्षिण स्पेन पर अधिकार करके बैठे हुए थे।

पन्द्रहवीं शताब्दि के अन्त में गोरी जाति की जो अवस्था थी, उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि उस समय उसका प्रायः अन्तिम काल आ गया था। उस समय की स्थिति देखते हुए कम से कम उसका भविष्य अच्छा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता था। उन दिनों या तो यूरोप की आबादी ज्यों की त्यों रहती थी या घटती जाती थी। बाहर से बड़े बड़े प्रबल शत्रु आ कर उस पर आक्रमण किया करते थे और स्वयं वहाँ की प्रजा में भी अनेक प्रकार के गृह-विवाद तथा युद्ध आदि चल रहे थे। इन सब बातों को देखते हुए उस समय कौन कह सकता था कि यही गोरी जाति, जो इस समय अनेक प्रकार की दुर्दशा भोग रही है, तीन चार सौ वर्षों के अन्दर ही सारे संसार की स्वामिनी हो जायगी ? पर अन्त में हुआ यही।

पर अचानक दो ही तीन वर्षों में सारी परिस्थिति बदल गई। १४९२ में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, १४९४ में वास्को डी गामा ने आफ्रिका की परिक्रमा करके भारत का मार्ग ढूँढ निकाला। कोलम्बस भी वास्तव में भारत का ही मार्ग ढूँढने के लिए निकला था, पर संयोगवश उसके द्वारा अमेरिका का आविष्कार हो गया। तात्पर्य यह है कि गोरों के अभ्युदय का आरम्भ भारत पहुँचने की चिंता से ही हुआ था। उससे पहले यूरोप वाले समुद्र से बहुत घबराते थे। पर कोलम्बस और वास्को-डी गामा की कृपा से पलक मारते ही उनकी वह घबराहट दूर हो गई और वे बड़ी बड़ी समुद्री यात्रायें करने लगे। बात की

अंदर ही गोरों का प्रताप इतना बढ़ जायगा और प्राय: सारे संसार पर उनका अधिकार हो जायगा। पन्द्रहवीं शताब्दि के अंत में गोरी जाति पश्चिमी और मध्य यूरोप, नार्वे, स्वीडन तथा यूरोपीय रूस के उत्तर पश्चिमी भागों में ही रहती थी। उस समय उनके रहने के देशों का क्षेत्र-फल आजकल के क्षेत्र-फल का केवल दशमांश ही, अर्थात् लगभग २०,००,००० वर्ग मील था। उस समय उनकी जन-संख्या भी आजकल की जन-संख्या का लगभग एक षष्ठमांश ही थी। उससे प्राय: सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले प्लेग और मरी आदि के कारण यूरोप की जन-संख्या बहुत ही घट चुकी थी और अनेक युद्धों में भी गोरों का बहुत अधिक नाश हो चुका था। उस समय वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्था भी ऐसी ही थी जो जन-संख्या की वृद्धि के लिए कुछ विशेष अनुकूल नहीं थी। यूरोपवालों ने धार्मिक युद्ध आरम्भ करके अपना प्रसार चाहा, पर उसमें उनको पूरी-पूरी विफलता ही हुई थी। प्रसार के बदले उनका और ह्रास ही हुआ था; क्योंकि एशिया के धूसर तथा पीत वर्ण के लोग प्राय: यूरोप में पहुँचकर गोरों पर आक्रमण किया करते थे। पहले तो रोम-साम्राज्य के पतन-काल में हूणों ने, बीच में अरबों ने और अन्त में मंगोलों और तुर्कों ने यूरोप पर अनेक आक्रमण करके वहाँ के निवासियों को खूब तंग किया था। इस बीच में यूरोपवालों ने बड़ी कठिनता से अपनी स्वाधीनता की रक्षा की थी। तो भी उसकी सीमा पर के कुछ प्रदेश एशियावालों के अधिकार में आ ही गये थे। उदाहरणार्थ सन् १४८० में तुर्क लोग बराबर विजय प्राप्त करते हुए यूरोप के दक्षिण-पूर्वी भागों में बढते जा रहे थे, रूस का बहुत बड़ा अंश

तातारों के हाथ में चला गया था और मूर लाग दक्षिण स्पेन पर अधिकार करके बैठे हुए थे।

पन्द्रहवीं शताब्दि के अन्त में गोरी जाति की जो अवस्था थी, उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि उस समय उसका प्रायः अन्तिम काल आ गया था। उस समय की स्थिति देखते हुए कम से कम उसका भविष्य अच्छा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता था। उन दिनों या तो यूरोप की आबादी ज्यों की त्यों रहती थी या घटती जाती थी। बाहर से बड़े बड़े प्रबल शत्रु आ कर उस पर आक्रमण किया करते थे और स्वयं वहाँ की प्रजा में भी अनेक प्रकार के गृह-विवाद तथा युद्ध आदि चल रहे थे। इन सब बातों को देखते हुए उस समय कौन कह सकता था कि यही गोरी जाति, जो इस समय अनेक प्रकार की दुर्दशा भोग रही है, तीन चार सौ वर्षों के अन्दर ही सारे संसार की स्वामिनी हो जायगी ? पर अन्त में हुआ यही।

पर अचानक दो ही तीन वर्षों में सारी परिस्थिति बदल गई। १४९२ में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, १४९४ में वास्को डी गामा ने आफ्रिका की परिक्रमा करके भारत का मार्ग ढूँढ निकाला। कोलम्बस भी वास्तव में भारत का ही मार्ग ढूँढने के लिए निकला था, पर संयोगवश उसके द्वारा अमेरिका का आविष्कार हो गया। तात्पर्य यह है कि गोरों के अभ्युदय का आरम्भ भारत पहुँचने की चिंता से ही हुआ था। उससे पहले यूरोप वाले समुद्र से बहुत घबराते थे। पर कोलम्बस और वास्को-डी गामा की कृपा से पलक मारते ही उनकी वह घबराहट दूर हो गई और वे बड़ी बड़ी समुद्री यात्रायें करने लगे। बात की

तातारों के हाथ में चला गया था और मूर लाग दक्षिण स्पेन पर अधिकार करके बैठे हुए थे।

पन्द्रहवीं शताब्दि के अन्त में गोरी जाति की जो अवस्था थी, उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि उस समय उसका प्रायः अन्तिम काल आ गया था। उस समय की स्थिति देखते हुए कम से कम उसका भविष्य अच्छा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता था। उन दिनों या तो यूरोप की आबादी ज्यों की त्यों रहती थी या घटती जाती थी। बाहर से बड़े बड़े प्रबल शत्रु आ कर उस पर आक्रमण किया करते थे और स्वयं वहाँ की प्रजा में भी अनेक प्रकार के गृह-विवाद तथा युद्ध आदि चल रहे थे। इन सब बातों को देखते हुए उस समय कौन कह सकता था कि यही गोरी जाति, जो इस समय अनेक प्रकार की दुर्दशा भोग रही है, तीन चार सौ वर्षों के अन्दर ही सारे संसार की स्वामिनी हो जायगी? पर अन्त में हुआ यही।

पर अचानक दो ही तीन वर्षों में सारी परिस्थिति बदल गई। १४९२ में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, १४९४ में वास्को डी गामा ने आफ्रिका की परिक्रमा करके भारत का मार्ग ढूँढ निकाला। कोलम्बस भी वास्तव में भारत का ही मार्ग ढूँढने के लिए निकला था, पर संयोगवश उसके द्वारा अमेरिका का आविष्कार हो गया। तात्पर्य यह है कि गोरों के अभ्युदय का आरम्भ भारत पहुँचने की चिंता से ही हुआ था। उससे पहले यूरोप वाले समुद्र से बहुत घबराते थे। पर कोलम्बस और वास्को-डी गामा की कृपा से पलक मारते ही उनकी वह घबराहट दूर हो गई और वे बड़ी बड़ी समुद्री यात्रायें करने लगे। बात की

वालों की मार खा खा कर यूरोप वाले मजबूत तो हो ही चुके थे और उनकी कृपा से सभ्यता के मार्ग पर भी कुछ कुछ चल निकले थे। ऐसी दशा में यदि कृष्ण और रक्त-वर्ण के लोग उनसे डर गये, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

जिस प्रकार छत्ते में से शहद की मक्खियाँ निकल निकल कर सारा जंगल भर देती हैं, उसी प्रकार अब ये गोरे भी यूरोप से निकल निकल कर सारा संसार भरने लगे। बस फिर क्या था! यूरोप की मरती हुई गोरी जाति में एक नये जीवन का संचार हो गया नित्य नये विचार उत्पन्न होने लगे, नित्य नये साधन निकलने लगे और नित्य नये कल-पुरजे बनने लगे। इस प्रकार घात-प्रतिघात से यूरोप वालों की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति होने लगी। जिन स्पेनियों और पुर्तगालियों ने आरम्भ में समुद्र पर विजय प्राप्त करके नये नये महादेशों का आविष्कार किया था, वे तो सुस्ती और अयोग्यता आदि के कारण पिछड गये और उनके स्थान पर यूरोप के उत्तरी देशों के निवासियों ने पहुँच कर सारे संसार पर अपना प्रभुत्व जमाना आरंभ कर दिया। चार सौ वर्ष तक वे लोग बराबर आगे बढ़ते गये। इस बीच में उनका कदम कभी नहीं रुका। इस निरन्तर और अविरत प्रसार का परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दि के अंत में प्रायः सारा संसार गोरों के अधिकार में आ गया।

लगातार चार सौ वर्षों तक उन्नति और अधिकार वृद्धि करते करते अंत में गोरों को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब हमारा प्रसार कभी रुक नहीं सकता। अब दिन पर दिन हमारी उन्नति होती जायगी और हमारे अधिकार बढ़ते जायँगे। उन्नति के अभि-

मान ने उनको यह सोचने का अवसर ही न दिया कि संसार परिवर्तनशील है और इसमें सदा कोई अधिकारारूढ़ नहीं रह सकता। उन्होंने अवश्य ही बड़े बड़े दार्शनिक और बड़े बड़े इतिहासज्ञ उत्पन्न किये, पर कोई उनको यह न समझा सका कि जिसकी उन्नति होती है, उसीकी अवनति भी होती है, जो ऊपर चढता है, वही नीचे भी गिरता है और जो आगे बढ़ता है, वही पीछे भी हटता है। परन्तु उनके न समझने के कारण प्रकृति तो अपना काम रोक ही नहीं सकती थी। विवश हो कर ईश्वर ने ही गोरों को समझाने बुझाने का काम अपने हाथ में लिया। पर अधिकार-मद जल्दी किसी को ठीक मार्ग पर आने नहीं देता। और फिर यदि मनुष्य बीच में ही सँभल कर ठीक मार्ग पर आ जाय तो फिर आगे चल कर उसका पतन और नाश कैसे हो? इधर बीस-बाईस वर्षों में प्रकृति ने गोरों को जो चेतावनी दी है, उसकी अवहेला उन्होंने इसीलिए की है। सन् १९०४ में रूस-जापान युद्ध होने से पहले यदि ढूँढा जाता तो लाख पचास हजार गोरों में से भी शायद ही एकाध ऐसा गोरा निकलता जो यह समझता होता कि गोरों का यह प्रसार यह उन्नति कभी रुक भी सकती है। तब फिर अवनति या पतन की कल्पना तो बहुत दूर की बात है। तीन चार सौ वर्षों की उन्नति ने तो उनको अंधा कर डाला था। भविष्य की ओर उनकी दृष्टि जाती भी तो क्यों कर जाती! अमेरिका, आस्ट्रेलिया और साइबेरिया के आदिम निवासियों को इन गोरों ने कीड़े मकोडे समझ कर या तो मार डाला था या किसी प्रकार उनको दूर करके अपना मार्ग निष्कण्टक करते हुए उन प्रदेशों को अपना निवास-स्थान बना लिया

था। एशिया और आफ्रिका को अपने अधिकार में करके उन्होंने करोड़ों मनुष्यों को अपना गुलाम बना लिया था और मुट्ठी भर गोरे उनका शासन करने लग गये थे। ये दोनों घटनाएँ देखकर गोरों को अपनी अजेयता का पूरा पूरा विश्वास हो गया था और उन्होंने समझ लिया था कि अब सारे संसार पर सदा के लिए हमारा अधिकार हो गया अब हम जिसके साथ जैसा चाहेंगे, वैसा व्यवहार करेंगे। कोई हमारे सामने चूँ तक न कर सकेगा। संसार के सब लोग हमारे सामने सिर झुका ही रहे हैं और हमारे अधिकार में आ ही चुके हैं। अब किसकी मजाल है जो हमारे सामने सिर भी उठा सके? वे सोचते थे कि संसार के गरम देशों में अब तक अन्य वर्णों के लोगों का अस्तित्व हमने केवल इसी लिए रहने दिया है कि वहाँ हम बस तो सकते ही नहीं। और फिर हमें गुलामी के लिए कुछ आदमियों की भी आवश्यकता होगी ही। और यह बावत एक प्रकार से ठीक भी है। यदि जल-वायु की दृष्टि से सारा संसार इन गोरों के बसने के योग्य होता तो बहुत सम्भव था कि इन चार सौ वर्षों में वे अन्य समस्त वर्णों का समूल नाश कर देते और तब सारे संसार में केवल गोरे ही गोरे दिखाई देते। पर कठिनता यह थी कि सारा संसार उनके बसने के योग्य नहीं था। जो देश उनके बसने के योग्य थे, उनको तो उन्होंने वहाँ के आदिम निवासियों से खाली करा ही लिया और जो देश उनके बसने के योग्य नहीं थे, उन पर वे राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके ही सन्तुष्ट हो रहे। तो भी वे यही सोचते थे कि ये अन्य वर्ण वाले कभी हमारे विरुद्ध सिर उठाने का साहस भी न कर सकेंगे। और यदि कभी दुर्भाग्यवश सिर उठावेंगे भी तो उनको

पीस डालने में हमें अधिक विलम्ब न लगेगा। पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो और आगे बढ गये थे। वे सोचते थे कि धीरे धीरे विज्ञान इतनी उन्नति कर लेगा कि गोरे लोग गरम देशों में रहने के उपाय भी निकाल लेंगे और गोरों को गरम देशों में रहने के कारण जो रोग होते हैं, वे रोग सदा के लिए विज्ञान की कृपा से समूल नष्ट हो जायेंगे। उस दशा में गोरों को खूब सुभीता हो जायगा और वे सारे संसार में पैर पसार कर सुखपूर्वक सो सकेंगे। संसार की ओर कोई जाति रह ही न जायगी। केवल गोरे गोरे रहेंगे। न किसी का डर और न किसी का खटका। चलो छुट्टी हुई!

अधिकार-मद और अज्ञान के कारण इन गोरों ने अनेक शास्त्रों के आधार पर अपने मतलब के तरह तरह के सिद्धान्त भी गढ़ लिये थे और उन सिद्धान्तों का मनमाना अर्थ लगाना भी आरम्भ कर दिया था। उनमें से एक सिद्धान्त यह भी था कि जो सबसे योग्य होगा, वही बच रहेगा। जो प्रबल होगा, उसी का अस्तित्व बना रहेगा। बस, इस सिद्धान्त के सामने यह सिद्धांत कब ठहर सकता था कि संसार की सभी चीजें नश्वर हैं, और जो बढ़ता है वह घटता भी है? वे समझते थे कि जो सबसे अधिक योग्य और प्रबल होता है वही सर्वश्रेष्ठ भी होता है। पर वे यह समझने का कष्ट नहीं उठाते थे कि इस परिवर्तनशील संसार में और बातों के साथ साथ परिस्थिति आदि में भी परिवर्तन हुआ करता है और एक परिस्थिति में जो सबसे अधिक योग्य होता है, दूसरी परिस्थिति में वह सबसे अधिक निकृष्ट भी हो सकता है। और यदि परिस्थिति किसी दुर्बल के ही अनुकूल हो, तो फिर हर ... से उस दुर्बल की ही उन्नति होती रहती है। ठीक इसी

नियम के अनुसार स्वयं गोरों की भी उन्नति हुई थी। उस समय परिस्थिति उनके अनुकूल थी, इसलिए वे इतने उन्नत हो गये। पर उनकी समझ में यह बात नहीं आई थी, और कदाचित् अब तक भी नहीं आई है कि अब परिस्थिति उनके प्रतिकूल होती जा रही है। इन गोरों ने अर्थशास्त्र के अनेक बड़े बड़े और बढ़िया सिद्धान्त ढूँढ निकाले और उसकी बहुत उन्नति की। उसी अर्थशास्त्र का एक सिद्धान्त यह भी है कि जब बाजार में खराब सिक्का चलने लगता है, तब अच्छा सिक्का आपसे आप गायब हो जाता है। अर्थात् उस दशा में लोग अच्छे सिक्के को तो दबा दबा कर घर में रखने लगते हैं और बाजार में केवल खराब सिक्के ही रह जाते हैं। इस सिद्धान्त को तो गोरे खूब अच्छी तरह जानते थे, पर स्वयं अपने सम्बन्ध में वे स्वप्न में भी उसका प्रयोग नहीं कर सकते थे। वे सोच ही नहीं सकते थे कि कभी किसी योग्य को कोई अयोग्य भी परास्त कर सकता है। पर संसार में ऐसा भी होता है और अवश्य होता है। एक योग्य के मुक़ाबले में योग्य बनना और योग्यता में उस पहले योग्य से बहुत बढ़ जाना बहुत कठिन होता है इसीलिए प्रकृति ने यह भी एक नियम बना रखा है कि जब योग्यता प्राप्त करके योग्य का मुक़ाबला करना कठिन हो जाय, तब अयोग्य ही किसी प्रकार योग्य पर विजय प्राप्त कर लिया करे। पर गोरे इन बातों को जान बूझ कर भी नहीं समझते थे और अपने आपको भीषण भ्रम में डाले हुए थे। वे जब तक चाहें, तब तक अपने आपको भ्रम में डाले रहें, पर प्रकृति को तो वे भ्रम में डाल सकते ही नहीं और न उसका काम ही रोक सकते हैं। इसलिए प्रकृति अपना काम कर रही है। आशा है कि

शीघ्र ही उनके भ्रम की भांति उनका अधिकार भी नष्ट हो जायगा। अपनी अजेयता के सम्बन्ध में गोरों को जो दृढ़ विश्वास था, वह तो रूस-जापान युद्ध के समय जापान की कृपा से दूर हो गया और उसके बाद से उनके अधिकार के नाश के लक्षण भी दिखाई देने लगे।

कुछ दिनों तक तो गोरों के लिए उनका अज्ञान ही लाभदायक था। पहले तो गोरों ने आफ्रिका और एशिया के अनेक भागों पर पूरा पूरा अधिकार किया और तब उसके बाद उन्होंने पूर्वी एशिया के पीत वर्ण को अपने अधिकार में लाने का विचार किया; यूरोप वाले चाहते थे कि हम लोग चीन को आपस में बाँट लें, और साईबेरिया का भक्षण करके रूस चाहता था कि प्रशान्त महासागर और जापान हमारे हाथ में आ जाय। गोरों का हौसला भी उस समय खूब बढ़ा-चढ़ा था और उनको अपने आप पर विश्वास भी पूरा पूरा था। इसलिए वे आगे बढ़ने के सिवा और कुछ जानते ही न थे। पर फिर भी उनमें थोड़े से समझदार अवश्य ऐसे थे जो यह समझ गये थे कि अब गोरों का और अधिक प्रसार नहीं हो सकता और उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ खड़ी होने वाली हैं। प्रोफेसर पियर्सन और मेरेडिथ टाउन्सें आदि ने इन गोरों को पहले ही सचेत करना चाहा था। पर गो ने या तो उनकी बातें सुन कर बुरा माना था, उनकी हँसी उ और या उनकी उपेक्षा की। मनुष्य का यह स्वभाव ही है जिस समय वह परम सुखी और प्रसन्न रहता है, उस समय उसके सम्बन्ध में कोई व्यक्ति किसी प्रकार की अशुभ भवि वाणी कहता है, तो उस मनुष्य को या तो बुरा मालूम होता

और या वह उसकी बातों को हँसी में टाल देता है। बस, वही दशा उस समय गोरों की भी हुई थी। वे अपने सम्बन्ध में कोई अशुभ भविष्यद्वाणी सुनना ही नहीं चाहते थे। और जो कोई उनको जबरदस्ती सुनाना चाहता था, उससे वे बुरा मानते थे और उनकी उपेक्षा करते थे। कुछ थोड़े से ऐसे समझदार गोरे भी थे वे यह मानते थे कि इन लोगों की भविष्यद्वाणी ठीक होगी, पर जो यह समझते थे कि अभी इसमें बहुत विलम्ब है। ऐसा कोई नहीं था जो यह समझता हो कि गोरों का पतन बहुत ही समीप है और उस पतन की गति उनकी उन्नति की गति की उपेक्षा कहीं अधिक तीव्रतर और वेगपूर्ण होगी।

सन् १८९९ में मेरेडिथ टाउन्सेंड का यह विश्वास था कि शीघ्र ही सारे एशिया पर गोरों का इतना पूर्ण और प्रभावशाली राज्य स्थापित हो जायगा कि फिर एशिया वाले किसी प्रकार गोरों के अधिकार से निकल ही न सकेंगे। आफ्रिका की भांति एशिया को भी गोरे सदा के लिए आपस में बाँट लेंगे। एशिया वाले सदा के लिए यूरोप वालों के दास हो जायेंगे। पर जब बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में रूस-जापान युद्ध हुआ और रूस परास्त हो गया, तब एशिया में विलक्षण जागृति उत्पन्न हुई, जिससे गोरों का मोह दूर हो गया और १९११ में ही टाउन्सेंड को अपना पुराना मत बदलना पड़ा। उसे कहना पड़ा कि अब एशिया में गोरों का राज्य अधिक समय तक नहीं रह सकता और शीघ्र ही उन्हें वहाँ से बोरिया-बन्धना बाँध खिसकना पड़ेगा। इधर दस बारह वर्षों की घटनाओं से उसके इस मत का और भी अधिक समर्थन होता जा रहा है और ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों

इस बात के अधिकाधिक प्रमाण मिलते जाते हैं कि एशिया में गोरों के प्रभुत्व के दिन समाप्ति पर आ रहे हैं। बात यह है कि १९०० में ही गोरों का प्रताप-सूर्य शीर्षबिन्दु तक पहुंच चुका था और तभी से वह ढलने लगा है। अब गोरे लाख उद्योग करें, पर उनके प्रताप सूर्य की नीचे की ओर की गति किसी प्रकार रुक नहीं सकती। आर्थर बन्दर पर जापानियों के गोले बरसने के साथ ही साथ गोरों के प्रभुत्व और अधिकार का ह्रास आरम्भ हो गया था। और इधर यूरोपीय महायुद्ध ने तो मानों एक प्रकार से उसकी पूर्ति का ही बीज बो दिया है।

पतन का आरम्भ

(७)

मानव-जाति के इतिहास में रूस जापान युद्ध एक ऐसी घटना है जिसका महत्व समय के बीतने के साथ ही साथ बराबर बढ़ता जाता है। उस युद्ध में और जो कुछ हुआ वह तो हुआ ही, पर साथ ही एक और बहुत बड़ी बात हुई। उस युद्ध से गोरों की प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा आघात पहुंचा। पहले अन्यान्य वर्णों के लोग यही समझा करते थे कि गोरे अजेय हैं, युद्ध में कोई उन पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। पर उस युद्ध के कारण लोगों की वह भावना नष्ट हो गई और गोरों की अजेयता का भ्रम लोगों के हृदय से दूर हो गया। यही नहीं बलिक गोरों के अनेक रहस्य भी लोगों पर प्रकट हो गये और उनके दोषों तथा दुर्बलताओं पर पड़ा हुआ परदा हट गया। लोगों के लिए उन पर टीका-टिप्पणी करने का मार्ग खुल गया और सारे संसार ने समझ लिया कि यदि पूरा पूरा उद्योग किया जाय, तो ये गोरे भी नीचा देख सकते हैं। यह कोई साधारण बात नहीं थी; और इसी कारण इस युद्ध का अन्य वर्ण वालों के लिए बहुत अधिक महत्व है।

जिस समय यह युद्ध हुआ था, उस समय लोगों ने उसका बहुत ही कम महत्व समझा था। विशेषतः गोरों की समझ में तो उस युद्ध का और भी कम महत्व आया था। अन्य वर्णों में भी बहुत ही थोड़े ऐसे समझदार और दूरदर्शी थे जो उसका ठीक ठीक महत्व समझ सके थे। गोरे तो बहुत दिनों से एक पर एक विजय प्राप्त करने के कारण मदान्ध हो रहे थे और उन्नीसवीं शताब्दि में अनेक देशों और जातियों को अपने अधिकार में कर चुके थे। उनकी संख्या भी बहुत अधिक बढ़ चुकी थी। सन् १५०० में कुल गोरों की संख्या ७,००,००,००० थी और उस समय सब के सब गोरे केवल यूरोप में ही बसते थे। इसके तीन सौ वर्ष बाद अर्थात् सन् १८०० में यूरोप में रहने वाले गोरों की संख्या दूनी से भी अधिक अर्थात् १५,००,००,००० हो गई थी। इसके अतिरिक्त यूरोप के बाहर अन्यान्य देशों में जो गोरे बसते थे, वे अलग थे। और उनकी संख्या भी १,००,००,००० थी। इस प्रकार तीन सौ वर्षों में गोरे दूने से भी अधिक हो गये थे। पर इसके उपरान्त सौ वर्षों में उनकी जो वृद्धि हुई, वह और भी आश्चर्यजनक थी। सन् १९०० में यूरोप में गोरों की आबादी ४५,००,००,००० हो गई थी और यूरोप के बाहर सारे संसार में १०,००,००,००० गोरे हो गये थे। इस प्रकार केवल सौ वर्षों में ही यूरोप में गोरों की संख्या तिगुनी और यूरोप के बाहर सारे संसार में दस गुनी हो गई थी। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में सारे संसार में ५५,००,००,००० गोरे थे। अर्थात् चार सौ वर्षों में वे लगभग अठगुने हो गये थे। भला इस वृद्धि का कहीं ठिकाना

उनकी यह वृद्धि इस दृष्टि से बिलकुल स्वाभाविक और

अनिवार्य ही थी कि सारे संसार पर उन्हींका राज्य था और संसार के सारे सुख भी मानों उन्हींके हो गये थे।

यूरोप के गोरों की जो वृद्धि हुई थी, उसमें सब से अधिक और परम आश्चर्यजनक वृद्धि अंग्रेजों की हुई थी। सन् १४८० में इंगलैण्ड की आबादी केवल २०,००,००० थी। यद्यपि मध्य-युग में अनेक युद्धों आदि के कारण प्रायः सारे यूरोप की आबादी बहुत कम हो गई थी, तथापि इङ्गलैण्ड की यह आबादी अपेक्षाकृत और भी कम थी। इसके एक सौ वर्ष बाद, महारानी एलिजबेथ के समय में इंगलैण्ड की आबादी बढ़ कर इससे ठीक दूनी अर्थात् ४०,००,००० हो गई। पर सन् १९०० में वहाँ की आबादी बढ़ कर ३,००,००,००० और सन् १९१० में ३,५०,००,००० हो गई थी। यह आबादी केवल इंगलैण्ड की थी और सारे ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड में उस समय ४,५५,००,००० आदमी बसते थे। यह तो केवल इंगलैंड, स्काटलैंड और आयर्लैंड की बात हुई। पर इसी बीच में अंगरेज जाति संसार के कोने कोने में फैल गई थी और इस समय सारे संसार में १०,००,००,००० से कम अंगरेज नहीं है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से आधे के लगभग ऐसे अंगरेज या उनकी संतानें हैं जो अमेरिका के संयुक्त राज्यों में जा कर बस गई हैं। इस प्रकार लगभग चार सौ वर्षों में अंगरेजों की संख्या प्रायः पचास गुनी हो गई है।

उन्नीसवीं शताब्दि में गोरों की जन-संख्या में जो यह भीषण वृद्धि हुई थी उसके कई कारण थे। एक तो यह कि वे सारे संसार का राज्य पा जाने के कारण परम सुखी हो गये थे, और दूसरे

यह कि नये नये आविष्कार करके और ज्ञान-विज्ञान में यथेष्ट उन्नति करके गोरों ने प्राकृतिक साधनों आदि पर बहुत कुछ अधिकार प्राप्त कर लिया था। उनकी यह उन्नति साधारणतः यन्त्र-युग की क्रांति के नाम से प्रसिद्ध है। यह यन्त्र-युग की क्रांति अठारहवीं शताब्दि के अंतिम दशकों में आरम्भ हुई थी और तब से अब तक उसने संसार की व्यवस्था और रूप में बहुत ही शीघ्रता के साथ अनेक भीषण और आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिये हैं। जितने अधिक परिवर्तन इन सौ डेढ़ सौ वर्षों में हुए हैं, उतने आज तक और कभी नहीं हुए थे। अब तक मनुष्य की ऐहिक उन्नति क्रमशः विकास मात्र के रूप में हुआ करती थी, पर अब उसमें एकबारगी भीषण क्रांति हो गई थी। क्रांति-काल से पहले मनुष्य ने एक बारूद को छोड़ कर बहुत दिनों से और कोई नया ऐहिक बल नहीं प्राप्त किया था। इस क्रान्ति से पहले संसार में वैसे ही रथ और वैसे ही जहाज़ आदि देखने में आते थे, जैसे उससे हजारों वर्ष पहले काम में आते थे और उनका शिल्प आदि भी हजारों वर्षों से ज्यों का त्यों और प्रायः एक ही रूप से चला जाता था। पर सहसा संसार की सारी बातें बदल गईं। भाफ और बिजली के इंजिनों से सारा संसार भर गया, प्रकृति की गुप्त और भीषण शक्तियाँ मनुष्य की दासी हो गईं, प्रकृति के दुर्गम भाण्डार उसके लिए बिलकुल खुल गये, दूसरी ओर गमनागमन का प्रश्न ही संसार से उठ गया और सारा संसार मानों मनुष्य के करतलगत हो गया। उसने एक ऐसे नये संसार में प्रवेश किया जिसका पहले वाली पीढ़ियों को स्वप्न में भी अनुमान न था।

यहाँ उन्नीसवीं शताब्दि के मनुष्य से हमारा तात्पर्य केवल

गोरी जाति से है। संसार में यह भीषण परिवर्तन, यह विकट क्रान्ति केवल गोरों ने ही की थी। ये सब आविष्कार गोरों के ही किये हुए थे, और किसी ने रत्ती भर भी उसमें कोई सहायता नहीं की थी। और यही कारण है कि इन सब आविष्कारों से सब से पहले उन्हीं गोरों ने ही लाभ भी उठाया। संसार में जो यह नई व्यवस्था उत्पन्न हुई थी, उसमें दो बातें सर्व-प्रधान थीं। एक तो यह कि तरह तरह की नई कलें आदि बनने के कारण थोड़े से आदमी बहुत अधिक माल तैयार करने लग गये थे, और दूसरे यह कि स्वयं मनुष्य के एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने जाने और माल-असबाब ले जाने तथा ले आने के अनेक सुगम साधन उत्पन्न हो गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि चीजें बनने भी किफायत में लगीं और उनके भेजने या माँगने में भी बहुत किफायत होने लगी। यूरोप मानों सारे संसार के लिए चीजें बनाने का कारखाना बन गया और सारे संसार का धन वहीं आ कर जमा होने लगा इसीके परिणाम-स्वरूप वहाँ की आबादी भी भीषण रूप से बढ़ने लगी। माल, पूँजी और आदमियों का यूरोप मानों गोदाम बन गया। वहाँ के लोग संसार के सभी भागों में कच्चा माल मँगा मँगा कर तरह तरह की चीजें तैयार करने लगे और उन चीजों को सारे संसार में भेज भेज कर वहाँ का धन अपने घर में भरने लगे। उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ से अब तक गोरों ने, और विशेषतः यूरोप के गोरों ने जितना अधिक धन एकत्र किया है, उसका हिसाब लगाना तो दूर रहा, कदाचित् उसकी ठीक ठीक कल्पना भी नहीं हो सकती। हाँ सारे संसार के व्यापार की वृद्धि का हिसाब लगाकर यदि आप चाहें तो उसकी थोड़ी बहुत कल्पना

कर सकते हैं। सन् १८१८ में सारे संसार में लगभग ६ अरब का व्यापार हुआ था। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ तक मनुष्य व्यापार-क्षेत्र में जो कुछ कर सका था, उसका मूल्य, एक साल में ६ अरब तक ही पहुंच सका था। सन् १८५० में भी सारे संसार का यह व्यापार उस समय केवल दूना हो सका था, अर्थात् लगभग १२ अरब का व्यापार हुआ था। पर सन् १९०० में वह बढ़ कर प्रायः ६० अरब हो गया था और सन् १९१३ में तो वह बढ़ कर १ खरब और २० अरब तक पहुंच गया था। अर्थात् सौ वर्ष से भी कम समय में वह प्रायः बीस गुना हो गया था। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि ये अंक केवल एक वर्ष के हैं। इन्हीं अंकों से इस बात का अनुमान हो सकता है कि इधर के सौ वर्षों में यूरोप के गोरों ने सारे संसार का कितना अधिक धन अपने घर में भर लिया होगा और सारे संसार को धन से कितना खाली कर दिया होगा।

अब इसीसे आप कल्पना कर लीजिये कि उन्नीसवीं शताब्दि में गोरों की सभ्यता ने क्या क्या काम किये। पर इस उन्नति और आर्थिक लाभ को देख कर ही आप भ्रम में न पड़ जायँ। इस सभ्यता का एक और अंग था, जो दोषों का था और जो गुणों वाले अंग की अपेक्षा सैंकड़ों हजारों गुना अधिक भारी था। जब गुणों और लाभों का ही पूरा पूरा वर्णन या अनुमान नहीं हो सकता, तब उन दोषों के अनुमान का तो कहना ही क्या है! वे दोष ऐसे हैं जिनकी निंदा गोरों की सभ्यता का समर्थन करने वाले हजारों बड़े बड़े विद्वानों और प्रसिद्ध लेखकों ने बराबर

समय समय पर की है। यहाँ उन सब का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मनुष्यत्व और सभ्यता के ऊँचे ऊँचे आदर्शों को एकदम से छोड़ कर गोरे लोग केवल स्वार्थ-साधन में लग गये और पूरे धन-लोलुप बन गए। फिर भी गोरी सभ्यता के थोड़े से समर्थक ऐसे हैं, जो यह कह कर अपना दोष छिपाना चाहते हैं कि हमें इस मार्ग का ग्रहण नितांत बदली हुई परिस्थितियों के कारण करना पड़ता था। वे कहते हैं कि सभ्य गोरी जाति ने अब एक ऐसे नये भौतिक जगत् में प्रवेश किया था, जो उसके पूर्वजों के समय के जगत से एकदम भिन्न था। यह एक वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्त है कि जो जीव अपने जीवन की रक्षा करना चाहता हो, उसे यह आवश्यक है कि अपने आपको नई और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनाता है, तो उसका नाश अवश्यम्भावी है। परिस्थितियों में जितना ही अधिक और शीघ्रता से परिवर्तन होता है, जीवित रहने की इच्छा करने वाले प्राणी को भी अपने आप में परिवर्तन करके उतनी ही शीघ्रता से अपने आप को उन नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ता है। कदाचित् यहाँ पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि गोरी सभ्यता के पृष्ट-पोषकों का यह तर्क बिलकुल थोथा है और इसमें कोई तथ्य नहीं है। प्रकृति कभी कोई ऐसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न करती जिसमें किसी मनुष्य को, और वह भी सभ्य बनने वाले मनुष्य को, अनिवार्य रूप से दूसरों के देश और सम्पत्ति पर इस बुरी तरह से अधिकार कर लेने की आवश्यकता पड़े। यह तो अपनी पाशविक वृत्ति का समर्थन करने के लिए गढ़ा हुआ तर्क

है। यहाँ यह बात भी स्मरण रखने के योग्य है कि उक्त वैज्ञानिक सिद्धांत को गोरी सभ्यता के समर्थक विद्वानों ने जान बूझ कर ऐसा रूप दे दिया है कि लोग उसके धोखे में पड़ कर उनके सिर दोष मढना छोड़ दें। इसके सिवा इस तर्क का कोई अर्थ नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दि से पहले यूरोप वालों के आदर्श अवश्य ही बहुत कुछ उच्च तथा प्रशंसनीय थे। पर उन्नीसवीं शताब्दि में गोरों ने उन आदर्शों का बिलकुल त्याग कर दिया और वे हर तरह से दूसरों के देशों और धन-सम्पत्ति पर अधिकार करने की चिन्ता में लग गये। उनके इस एकांगी प्रयत्न की खराबियाँ भी जल्दी ही दिखाई देने लग गईं। मुख्य बात यह है कि प्रकृति कभी किसी प्रकार का बहाना नहीं सुनती। वह केवल शुभ परिणाम पर ध्यान रखती है। और जिसके कार्य का परिणाम शुभ नहीं होता, उसे वह तुरन्त ही पूरा पूरा दंड देती है। गोरों को भी अब वह दण्ड मिलना आरम्भ हो गया है। पर उन में से कुछ तो उस दण्ड का स्वरूप देख कर अभी से सचेत होने लग गये हैं और बहुत से लोग अभी उसकी उपेक्षा ही कर रहे हैं। वे अपनी शक्ति के घमंड में प्रकृति को भी कोई चीज नहीं समझते। पर यदि सच पूछा जाय तो वे इस उदासीनता से दूसरों की जो हानि करते हैं, वह तो करते ही हैं, पर साथ ही साथ वे अपने अपराधों की भीषणता भी बढ़ाते जाते हैं और उसके परिणाम स्वरूप अधिक कठोर दंड के भागी बनते जाते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में ही इस बात के लक्षण दिखाई देने लग गये थे कि शीघ्र ही गोरों की उन्नति का अन्त और
का आरंभ होने वाला है। उनमें तरह तरह की कमजोरियाँ

आने लग गईं थीं यहाँ तक कि उनके जातीय बल और गुणों का भी ह्रास होने लग गया था। उन लक्षणों को देख कर विचारशील लोग चिन्तित होने लग गए थे। सभी स्थानों से गोरों का रोब कम होने लग गया था—सभी जगहों में लोग उनके अधिकार से बाहर निकल ने का प्रयत्न करने लग गये थे। उनकी भीतरी दशा भी अच्छी नहीं थी। पारस्परिक राग, द्वेष और वैमनस्य की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। सभी जगह वे एक दूसरे को निगल जाने का प्रयत्न कर रहे थे। कोई किसी का वैभव नहीं देख सकता था। मारे अभिमान के कोई जमीन पर पैर नहीं रखता था। सारे संसार में मानो स्वार्थ का ही राज्य रह गया था। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले सिद्धांत के सिवा और कोई सिद्धांत दिखाई हीं नहीं देता था। भला इस अवस्था में संसार कितने दिनों तक चल सकता था? इसलिए प्रकृति ने गोरों को उनके अपराध का दंड देने के लिए अपना भीषण दंड उठाया। उस दंड के कुछ प्रहार हो भी चुके हैं; पर लक्षणों से जान पड़ता है कि अभी और कई प्रहार होने को बाकी हैं।

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में सबसे पहली बात यह हुई कि प्रायः सभी गोरी जातियों की सन्तान की वृद्धि रुक गई। फ्रांस की जन-संख्या की वृद्धि तो मानों एकदम से रुक गई। बहुत दिनों तक वहां की जन-संख्या ज्यों की त्यों बनी रही। यह कोई साधारण बात नहीं थी; इसलिये अनेक विद्वानों का ध्यान इस ओर गया। यह बात असाधारण इसलिये है कि मनुष्य की जनन-शक्ति बहुत अधिक है। और इसीलिये संसार की आबादी आरम्भ से अब तक बराबर बढ़ती ही गई है। पर साथ ही एक बात और

है। प्रकृति बीच बीच में अनेक उपायों से यह वृद्धि रोकती भी रहती है। यदि वृद्धि में रुकावट न हो तो वह ऐसा भीषण रूप धारण कर सकती है जिसका अनुमान करना भी हमारे लिये असम्भव है। यदि वृद्धि में किसी प्रकार की रुकावट न हो तो साल दो साल में ही किसी पक्षी के एक जोड़े से लाखों पक्षी हो सकते हैं। पशु-जगत में हाथी प्राय: सबसे कम बच्चे देता है। पर हिसाब लगा कर देखा गया है कि यदि प्रकृति की ओर से वृद्धि की रुकावट की व्यवस्था न होती तो हाथी के एक ही जोड़े से ७५० वर्षों में अठारह करोड़ हाथी हो जाते। अधिकांश मछलियाँ एक ही बार में लाखों अंडे देती हैं। यदि उनकी वृद्धि में विघ्न न पड़े तो थोड़े ही दिनों में एक ही प्रकार की मछलियों से संसार के सारे महासमुद्र भर जायँ। और जातियों की मछलियों के रहने के लिये स्थान ही न बच जाय। बरगद और पीपल के करोड़ों बीज हुआ करते हैं। यदि उनमें से प्रत्येक बीज जमकर वृक्ष बनने लगे तो संसार में और किसी वनस्पति या जीव के रहने के लिये स्थान ही न मिले। इसलिए वृद्धि का बिलकुल ही रुक जाना और वह भी एक सभ्य उन्नत और सुखी जाति की वृद्धि का रुक जाना अवश्य ही चिन्ताजनक है।

यह बात नहीं थी कि सारे संसार में गोरों की वृद्धि होती नहीं थी। वृद्धि तो नियमानुसार अवश्य होती थी, पर वह बहुधा यूरोप के बाहर हुआ करती थी। केवल यूरोप की जन-संख्या की वृद्धि रुक गई थी। यूरोप के बाहर दूसरे महादेशों में यूरोप वाले जाकर अधिकार जमाने लग गए थे और प्रायः वहीं बसने भी लग गए थे। यद्यपि गोरों ने अनेक प्रकार के नए नए

आविष्कार करके और तरह तरह के यन्त्र आदि बना कर जीविका निर्वाह के यथेष्ट नए साधन उत्पन्न कर लिये थे, पर फिर भी वे उतने से सन्तुष्ट नहीं हुए। दूसरों के देशों और सम्पत्ति पर अधिकार करने का उन्हें चसका लग गया था, वह उन्हें अपने देश में जमकर रहने ही न देता था। इस प्रकार बहुत से लोग तो यों अपनी मातृभूमि से अलग हो जाते थे और उधर मातृभूमि में जो लोग रहते थे, उनकी जनन-शक्ति के घटने के लक्षण दिखाई देते थे। जातीय बल भी धीरे धीरे कम होता जाता था। आदर्श भी धीरे धीरे नष्ट होते जाते थे। राजनीतिक वैमनस्य और सामाजिक असन्तोप भी बहुत बढ़ गया था। तात्पर्य यह है कि ह्रास के सभी लक्षण दिखाई देने लग गए थे। और अभी तक वे लक्षण प्रायः बराबर बढ़ते ही जाते हैं। और फिर इनका बढ़ना अनिवार्य भी है। संसार में कोई एक ही जाति सदा किस प्रकार बलवती और प्रधान बनी रह सकती है! उसे एक न एक दिन दूसरों के लिए अपना स्थान छोड़ना ही पड़ेगा। यह परिवर्तन भी प्रकृति का एक अटल नियम है। इससे किसी प्रकार बर्ताव हो ही नहीं सकता। इससे बचने के लिए जो उपाय होंगे, वे अस्थायी ही होंगे; स्थायी कभी हो ही नहीं सकते। क्योंकि प्रकृति के नियमों में बाधक होना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है।

इधर पचास साठ वर्षों से यूरोप में राष्ट्रीय साम्राज्यवाद का ज़ोर बहुत अधिक बढ़ गया था। प्रत्येक राष्ट्र केवल अपना साम्राज्य बढ़ाने की चिंता में लगा था। यही कारण था कि यूरोपीय राष्ट्र एक दूसरे की सुख-समृद्धि किसी प्रकार नहीं देख सकते थे। सब लोग केवल अपना ही भला चाहते थे; और जब कभी वे अपने

रखते हैं, वे कह सकते हैं कि भारत के सम्बन्ध में प्रबल ब्रिटिश सरकार भी रूस से कितनी अधिक भयभीत रहा करती थी। केवल रूस के डर के मारे ही बहुत दिनों तक अंग्रेज़ लोग लाखों करोड़ों रुपये अफगानिस्तान सरकार को दिया करते थे। पर जब वही रूस एशिया के एक बालक राष्ट्र जापान से युद्ध में हार गया, तब यूरोप के अन्यान्य राष्ट्रों की प्रसन्नता का ठिकाना न रह गया। यह एक नियम है कि बहुधा लोगों को अपने तत्कालिक स्वार्थ के आगे सुदूर भविष्य दिखाई नहीं देता। यह दोष, दृष्टि या बुद्धि का नहीं, स्वार्थ का ही है। उस समय गोरी जाति का प्रताप-सूर्य अपने शीर्ष-बिन्दु पर जा पहुंचा था और उस बिन्दु पर पहुंचने के उपरांत कोई सूर्य कभी वहाँ ठहर ही नहीं सकता। उसे अवश्य नीचे की ओर चलना पड़ता है। ऐसी दशा में यदि यूरोप वालों ने रूस-जापान युद्ध से जैसी चाहिए वैसी शिक्षा नहीं ग्रहण की, तो इसमें किसीको आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

रूस के पराजय पर यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों को आनन्द मनाते देखकर रेने पिनन नामक एक फ्रान्सी राजनीतिज्ञ ने कहा था "सम्भवतः इस समय यूरोप रूस-जापान युद्ध का महत्व समझने और उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिये तैयार नहीं है। जो राष्ट्र बनियापन करके अपना काम चलाते हैं, उनका ध्यान केवल तात्कालिक लाभ पर ही होता है। वे सुदूर भविष्यत् के लिये तैयार नहीं हो सकते। जिस यूरोप में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेकानेक स्वार्थों का राज्य है, जिसमें अनेक प्रतिस्पर्धी हैं, उस यूरोप में भला एकता कैसे हो सकती है? इस समय परिस्थिति ही ऐसी है कि चाहे बाहरी संकटों की कितनी ही अधिक आशंका क्यों न हो, पर

राजनीतिक राग-द्वेष किसी प्रकार कम नहीं हो सकता । जापान अपनी सेनाओं और लड़ाई के जहाजों के कारण जितना बलवान हो सकता है, उससे अधिक बलवान वह हम लोगों की पारस्परिक फूट के कारण होगा । वास्तविक संकट कहीं बाहर से नहीं आ रहा है । वह तो स्वयं हम लोगों में ही है ।"

पर पिनन की इन बातों की ओर यूरोपीय राष्ट्रों का ध्यान जा ही कैसे सकता था ? "विनाश काले विपरीत बुद्धिः" वाला सिद्धान्त चरितार्थ होने लगा । यूरोपीय राष्ट्रों के जितने दुर्गुण, जितनी दुर्बलताएँ थीं, उन सब में निरन्तर वृद्धि होती गई । यूरोपीय राष्ट्र दूसरों को खा चुकने के उपरान्त आपस में एक दूसरे को खाने की चिन्ता में प्रवृत्त हुए । प्रकृति ने फिर अपना दण्ड उठाया । मानों किसी अज्ञात और परम प्रबल शक्ति ने जबरदस्ती गरदन पकडकर यूरोप को एक बहुत बड़े गहरे और नाशक गड्ढे में ढकेल दिया । यह गहरा और नाशक गड्ढा गत यूरोपीय महायुद्ध था । पर मजा तो यह है कि उस गड्ढे में गिरने के उपरान्त भी, उस महायुद्ध की समाप्ति हो जाने पर भी, आज तक यूरोप वालों की बुद्धि ठिकाने नहीं आई है । वही घातक और नाशक नीति अब तक पहले की भांति ही अपना काम करती जा रही है । आज भी यूरोप में उसी पारस्परिक राग द्वेष का राज्य है, आज भी वहाँ वाले आपस में एक दूसरे को निगलने का मौका ढूँढ रहे हैं; और शेष संसार उत्सुकता और उत्कंठा से और भी अधिक भीषण परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा है ।

यूरोपीय महायुद्ध

(८)

सन् १९१४ में महायुद्ध में प्रवृत होकर यूरोप ने मानों आत्म-हत्या का एक वहुत वड़ा प्रयत्न किया था। संसार का कदाचित् कोई युद्ध भीषणता में उसका मुकावला नहीं कर सक्ता। अव तक के इतिहास में वह युद्ध अभूत-पूर्व है।

महायुद्ध के आरम्भ से पहले यूरोप के सभी राष्ट्र वहुत अधिक वलवान् और शक्तिशाली हो गए थे। वहुत दिन पहले से ही वे अपना अपना वल वढ़ा रहे थे। तोपों पर तोपें और जहाजों पर जहाज वनते चले जा रहे थे। सैनिक वल की प्रतियोगिता चरम सीमा को पहुंच चुकी थी। मानों सभी राष्ट्र भली भांति यह जानते थे कि शीघ्र ही भीषण महायुद्ध होने वाला है और उसके लिये तैयार हो रहे थे। जिस प्रकार वलिदान अथवा हलाल करने के लिये खसी पहले खिला पिलाकर खूव अच्छी तरह तैयार की जाती है, उसी प्रकार प्रकृति-देवी मानों यूरोपीय राष्ट्रों को वहुत ही यत्नपूर्वक हृष्ट पुष्ट कर रही थी। जव यूरोप खूव अच्छी तरह लड़ने के लिए तैयार हो गया, तव वह लड़ पड़ा। इस समय कुछ लोग समझते हैं कि यूरोपीय महायुद्ध समाप्त हो गया और अव

संसार में फिर शान्ति विराज रही है। पर यह उनकी भूल है। इस समय भी यूरोप से शान्ति उतनी ही दूर है, जितनी दूर वह महायुद्ध के आरम्भ होने के समय थी: बल्कि अनेक अंशों में उससे भी कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी है। यूरोपीय राष्ट्रों ने अभी युद्ध समाप्त नहीं किया है। अभी तो वे लड़ते लड़ते थककर जरा दम लेने के लिये बैठे हैं। पर बैठे भी खाली नहीं हैं। फिर से कट मरने की तैयारी कर रहे हैं। और आज यह तैयारी पहले से भी ज्यादा जोरों पर है। विजयी पक्ष ने अपने विजित शत्रुओं से कह दिया है कि जरा ठहरो; हम फिर से तुम्हारी खबर लेना चाहते हैं। उधर विजित पक्ष मन ही मन समझ रहा है कि तुम जाते कहाँ हो, इस बार तो मैं तुम्हें लड़ाई का मजा चखाऊँगा। गत महा-युद्ध तो उस युद्ध-चक्र का केवल एक आरा है जो प्रकृति ने गोरी शक्ति का अन्त करने के लिये तैयार किया है। अब यदि आप इसे शान्ति समझना चाहें तो प्रसन्नता से समझ सकते हैं।

गोरी जाति अपनी आत्मा का तो उसी समय नाश कर चुकी थी जब उसने अपने पुराने उच्च आदर्शों को छोड़ कर अपनी सारी शक्ति ऐहिक पदार्थों और सुखों की प्राप्ति में ही लगा दी थी; और अब वह अपना शरीर भी नष्ट करने पर उतारू हुई थी। यूरोप की आधुनिक गोरी सभ्यता की जननी यूनानी सभ्यता ने भी एक बार इसी प्रकार आत्म-हत्या की थी। उस सभ्यता ने भरी जवानी में अपने हाथों अपने प्राण गँवाए थे और वह अपने अनेक ऐसे गुण, जिनसे संसार का बहुत कुछ कल्याण हो सकता था, अपने साथ ही लेती गई थी। अब संसार में उस सभ्यता केवल नाम ही नाम रह गया है, और रह गई है उसकी

उत्तराधिकारिणी आधुनिक गोरी सभ्यता, जो कम से कम आत्म-हत्या के प्रयत्न में तो अवश्य ही अपनी जननी का पूरा पूरा अनुकरण कर रही है। वह क्या अनुकरण कर रही है, बलवती विधि उससे बलपूर्वक ऐसा करा रही है। वह विधि किसी को अपने शासन-क्षेत्र से बाहर नहीं निकलने देती। जन्म देना और नष्ट करना दोनों उसके अटल नियम हैं—परम निश्चित सिद्धांत हैं। उसके दंड से बचना असम्भव है।

यों तो गोरी सभ्यता के नाश का बीज बहुत पहले से ही बोया जा चुका था, पर बीसवीं शताब्दि के आरंभ में उसके अंकुर बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई देने लग गये थे। सारे यूरोप में घोर अशांति का साम्राज्य स्थापित हो गया था। सैनिकवाद का भाव पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। जिस प्रकार नाशक भूकम्प आने से पहले भूगर्भ में अन्दर ही अन्दर उथल-पुथल मचती है, ठीक उसी प्रकार की उथल-पुथल यूरोप में भी मच रही थी। पाशविक वृत्तियों से उत्तेजित होने के कारण मानवी बल ज्वालामुखी की भाँति फूटा पड़ता था। ऐसा जान पड़ता था कि लोग शांति से नितांत विरक्त हो गये हैं और अपनी सारी शक्ति लगा कर अशान्ति का आह्वान् कर रहे हैं। रणचंडी के नृत्य के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, वे सभी चीजें जमा की जा रही थीं कोई आयोजन बाकी नहीं छोड़ा जाता था। यह प्रयत्न जान बूझ कर भी किया जाता था और अनजान में भी आप से आप होता चलता था। भावी भीषण नाश के लिए केवल मनुष्य का हाथ ही यथेष्ट बलवान् नहीं था; इसलिए दैवी हाथ भी उसमें सहायक हो रहा था।

कई बार युद्ध छिड़ने की नौबत आई, पर फिर भी युद्ध रह ही गया। इसका यह कारण नहीं था कि लोग युद्ध करना नहीं चाहते थे, बल्कि यह कारण था कि लोग युद्ध के लिए अच्छी तरह तैयार नहीं थे। सभी राष्ट्र जानते थे कि आगामी युद्ध कितना अधिक भीषण होगा और इसीलिए वे पूरी तैयारी करने के लिए युद्ध को टालते चलते थे। पर उस समय युद्ध छिड़ने के केवल दो ही प्रबल कारण थे। पहला कारण एक प्रकार से दैवी भी माना जा सकता है। वह कारण युद्ध का प्रत्यक्ष और तात्कालिक कारण था। कारण क्या था युद्ध का एक बहाना था। और ऐसा अच्छा बहाना फिर जल्दी हाथ नहीं आ सकता था। युद्ध छिड़ने का उस समय दूसरा कारण यह था कि जर्मनी यह समझता था कि चाहे इस समय हम युद्ध के लिए पूरे पूरे तैयार न हों, पर फिर भी औरों की अपेक्षा कहीं अधिक तैयार हैं।

पर और राष्ट्र भी युद्ध के लिए कुछ कम तैयार नहीं थे। और जो तैयार नहीं थे, उन्हें स्वयं प्रकृति तैयार कर रही थी। युद्ध आरंभ होने से महीनों पहले यूरोप के सभी देशों में घोर सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विप्लव हो रहे थे। इंगलैंड में आंतरिक झगड़े और बखेड़े हो रहे थे। रूस में घोर सामाजिक विप्लव की तैयारियाँ हो रही थीं। इटली में भारी अराजकता फैली हुई थी। तात्पर्य यह कि यूरोप के सभी देशों में खलबली मची हुई थी। यदि उस समय युद्ध न भी आरंभ होता, तो भी वहाँ आन्तरिक और गृह कलह के लिए बहुत अच्छा क्षेत्र तैयार हो चुका था।

पर इसी बीच में महायुद्ध छिड़ गया और दिन पर दिन

भीषण रूप धारण करता गया। इस युद्ध का इतिहास बतलाना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। हमें तो केवल उसके परिणाम पर ध्यान देना चाहिए। इस युद्ध के कारण होने वाला धन और जन का नाश कल्पनातीत है। और फिर इसके कारण संसार का जो कुछ नैतिक अथवा आध्यात्मिक पतन हुआ है, उसका तो कोई ठिकाना ही नहीं है।

सब से पहले धन-नाश को लीजिए। यदि सच पूछिए तो इस महायुद्ध के कारण जितने अधिक धन का नाश हुआ है, उसका कोई ठीक ठीक लेखा तैयार ही नहीं हो सकता। यह धन-नाश भी दो प्रकार का है। एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष तो वह है जो इस युद्ध में व्यय हुआ और अप्रत्यक्ष वह है जो इसके कारण लोगों के काम-धंधे में होने वाले हर्ज या हानि के कारण हुआ। बहुत से लोगों ने अनेक प्रकार से इस युद्ध में होने वाले व्यय का लेखा तैयार किया है। एक अमेरिकन विद्वान् के हिसाब से इस युद्ध में लगभग छः खरब रुपये तो प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुए; और अप्रत्यक्ष रूप से होने वाली हानि भी कम से कम इतनी तो अवश्य ही समझ लीजिए, चाहे वह हुई हो इससे कहीं अधिक। पर यह लेखा भी मन को समझाने के लिए ही है। और नहीं तो अङ्कों में तो उसका कोई हिसाब हो ही नहीं सकता। बस यही समझ लीजिए कि पाँच वर्ष तक सभी योद्धा राष्ट्रों के नित्य लाखों करोड़ों रुपए खर्च होते रहे। ठीक ठीक हिसाब लगाना तो मनुष्य की शक्ति के सचमुच बाहर है।

यदि जन-नाश पर ध्यान दिया जाय तो वह इससे भी बढ़ कर भीषण और कलेजा दहलाने वाला है। धन चाहे कितना ही

अधिक क्यों न नष्ट हुआ हो, पर उसकी पूर्त्ति यदि आज नहीं तो कल और कल नहीं तो सौ वर्ष बाद हो भी सकती है। पर जन-नाश की पूर्त्ति भला कब और कैसे हो सकती है? जो करोड़ों आदमी इस युद्ध में मारे गए, क्या उनमें से एक भी किसी प्रकार फिर जीवित हो सकता है? कदापि नहीं। आज तक मनुष्यों ने आपस में लड़ कर कभी अपनी संख्या की इतनी भीषण हानि नहीं की थी। गत महायुद्ध में लगभग छः करोड़ सैनिक एकत्र किये गए थे, जिनमें से साढ़े तीन करोड़ के लगभग या तो मारे गये, मर गये या सदा के लिए बेकाम हो गए। अस्सी लाख आदमी या तो युद्ध में निहत हुए थे या युद्ध के उपरांत रोगों आदि के कारण मरे थे। दो करोड़ के लगभग आदमी घायल हुए थे। और सत्तर लाख के लगभग कैद हुए थे। रूस की जन-हानि सब से अधिक हुई थी। उसके ९० लाख के लग-भग आदमी या तो मारे गए थे, या और प्रकार से नष्ट हुए थे। जर्मनी के हतों और आहतों आदि की संख्या ६० लाख और फ्रान्स वालों की ४५ लाख के लगभग थी। ब्रिटिश साम्राज्य के भी प्रायः तीस लाख आदमी किसी न किसी प्रकार नष्ट हुए थे। अमेरिका बहुत बाद में युद्ध में सम्मिलित हुआ था, इसलिए उसकी जन-हानि केवल तीन ही लाख थी।

पर खाली यह लेखा भी जन-हानि का ठीक ठीक अनुमान कराने में असमर्थ ही है। यह संख्या तो केवल योद्धाओं से ही सम्बन्ध रखती है। इसके सिवा साधारण नागरिक, जो युद्ध से बिलकुल अलग थे, कम नहीं नष्ट हुए। विशेषतः पूर्वी यूरोप और ... में नागरिकों की संख्या में बहुत ही अधिक ह्रास हुआ था।

नागरिकों का नाश अनेक रूपों में हुआ था। बहुत से नागरिक तो जेता योद्धाओं के हाथों मारे गये थे। बहुत से केवल इसलिये भूखों मर गये थे कि उनका भरण-पोषण करने वाला कोई नहीं था। और बहुत से लोग युद्ध के परिणाम-स्वरूप फैलने वाले रोगों के शिकार हुए थे। भारत में अभी हाल में जो इनफ्ल्यूएंजा इतने भीषण रूप से फैला था, वह भी एक प्रकार से इस महायुद्ध का ही प्रसाद था। अनुमान किया जाता है कि सारे संसार में इस प्रकार के रोगों से मरने वालों की संख्या करोड़ों के लगभग थी। साथ ही इसका एक और अंग है। युद्ध में सदा युवक और हृष्ट पुष्ट लोग ही सम्मिलित होते हैं। उनके मारे जाने से देशों की जनन-शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार यदि यह देखा जाय कि युद्ध के कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कितनी जन-हानि हुई, तो फिर यही कहना पड़ता है कि उसका ठीक ठीक हिसाब लगाना नितान्त असम्भव है। यहाँ तक कि उसकी पूरी पूरी कल्पना भी नहीं हो सकती। पर फिर भी साधारणतः यह कहा जा सकता है कि युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से जितने आदमी मारे गये या घायल हुए, उन से छः गुने अठगुने आदमी अवश्य ही अप्रत्यक्ष रूप से भी नष्ट हुए हो।

गत महायुद्ध के कारण यूरोपीय देशों की जन-संख्या की कितनी भीषण हानि हुई है, इसका अनुमान एक फ्रांस के उदाहरण से ही किया जा सकता है। सन् १९१४ में फ्रांस की आबादी चार करोड़ से भी कुछ कम ही थी। इतनी थोड़ी आबादी में से प्रायः ८० लाख आदमी युद्ध के लिए सेना में भरती किये गए थे। इनमें से लगभग १४ लाख आदमी तो युद्ध-क्षेत्र में मारे गए

प्रायः ३० लाख आदमी घायल हुए और चार लाख से अधिक कैद हुए। जो लोग घायल हुए थे, उनमें से आठ नौ लाख आदमी ऐसे थे जो सदा के लिए बेकाम हो गये। इस प्रकार फ्रांस की आबादी में से प्रायः बीस लाख आदमी कम हो गये। वे या तो सदा के लिए बेकाम हो गए या जान से ही गये। और ये बीस लाख आदमी कैसे थे? फ्रान्स में सब से अच्छे हृष्ट पुष्ट और कमाने वाले थे।

नागरिकों की जन-संख्या में भी कम हानि नहीं हुई। फ्रांस के जिन उत्तरी प्रदेशों पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया था, उनमें जितने नागरिक निहत हुए थे, उनकी बात तो एक ओर रही। सन् १९१४ में वहाँ जितने बालकों ने जन्म लिया था, उनकी अपेक्षा मरने वालों की संख्या पचास हजार अधिक थी। इसके उपरांत लगातार चार वर्षों तक जन्म की अपेक्षा मृत्यु-संख्या औसत तीन लाख अधिक थी। यह अधिकता वयस्क पुरुषों के मरने के कारण नहीं हुई थी। बल्कि जनने में कमी होने के कारण हुई थी। सन् १९१३ में फ्रान्स में प्रायः छः लाख बालकों ने जन्म लिया था। पर सन् १९१६ में वहाँ केवल ३,५१,००० बालकों ने और १९१७ में ३,४३,००० बालकों ने ही जन्म लिया था। यदि इस हिसाब से देखा जाय तो सन् १९१३ से १९१९ तक फ्रान्स की जन-संख्या में लगभग तीस लाख की कमी हो गई। और यह संख्या उसकी समस्त जन-संख्या की लगभग दशमांश होती है।

यह बात नहीं है कि यह हानि केवल फ्रान्स की ही हुई थी। यह तो हाँडी में का एक चावल है। ठीक यही दशा यूरोप के प्रायः

सभी देशों की हुई थी। इस महायुद्ध के कारण होनेवाली हानि अपरिमित और परम भीषण थी। यह गोरी जाति की आत्म-हत्या नहीं थी तो और क्या था। यह यूरोप के नागरिकों का एक भीषण गृह-युद्ध था जिसमें वे सब आपस में ही कट मरे थे। सारे यूरोप में जितने बलवान् और बुद्धिमान् थे, वे सब जबरदस्ती पकड़-पकड़ कर लाये जाते थे और युद्ध-क्षेत्र में रण-चंडी के आगे बलि चढ़ाए जाते थे। और यदि कोई पूछे कि थोड़े से राजनीतिक अधिकारियों को इस प्रकार जबरदस्ती अपने देश और देशवासियों का बल्कि यों कहना चाहिए कि मानव-जाति का नाश करने का क्या अधिकार था, तो उसका कोई समुचित उत्तर हो ही नहीं सकता। यदि हम बात को जाने भी दें और केवल यही पूछें कि इस भीषण नर-हत्या से क्या लाभ हुआ, तो उसका भी कोई उत्तर नहीं हो सकता। यदि इन बातों का कोई उत्तर हो सकता है तो वह केवल यही कि बहुत दिनों से मनुष्य में कटने-मरने की जो पाशविक वृत्ति चली आती है, वही अपना प्रभाव दिखला रही थी। जिस प्रकार कुत्ते रोटी के टुकडे अथवा हड्डी के लिए आपस में लड़ते हैं, उसी प्रकार युरोप वाले भी एक दूसरे के अधिकृत देशों पर अपना अधिकार करने के लिए लड़ मर रहे थे। बल्कि एक बात में तो वे इन कुत्तों आदि से भी गये-बीते थे; क्योंकि कुत्ते तो केवल स्वयं ही लड़ते भिड़ते हैं, पर समाज में सर्वश्रेष्ठ कहलाने वाले ये राजनीतिज्ञ आप तो आराम से कुरसियों पर बैठे रहा करते थे, और तरह तरह के तर्क निकाल कर अपने देश-वासियों को आपस में कटने मरने पर उद्यत कर रहे थे।

अगस्त १९१४ में ही कुछ बुद्धिमानों ने यह बात अच्छी तरह

समझ ली थी कि यह युद्ध बहुत ही भीषण और नाशक होगा। यह ठीक है कि युद्ध आरम्भ होने के समय अनेक स्थानों पर सर्व-साधारण एकत्र हो कर युद्ध छिड़ने पर अनेक प्रकार से अपनी प्रसन्नता प्रकट किया करते थे, पर वह प्रसन्नता वास्तविक नहीं थी। वास्तव में बहुत दिनों से उनका ऐसा संस्कार ही किया गया था कि वे युद्ध के नाम पर प्रसन्नता प्रकट करें। उन्हें साम्राज्य-वाद का वह नाशक पाठ पढाया गया था, जिसने उन्हें अन्धा और विवेक-हीन बना दिया था। उनको बड़ी-बड़ी अशाएँ दिलाई जाती थीं। भावी वैभव और सुख-समृद्धि के सब्ज बाग दिखाए जाते थे और उन्हें ले जाकर युद्ध क्षेत्र में बलि चढाया जाता था। और उससे भी बढकर विलक्षण बात यह थी कि उस बलि-दान का व्यय भी एक नहीं अनेक प्रकार से उन्हीं से वसूल किया जाता था। उस समय हेरल्ड बेग्बी नामक एक अंग्रेज लेखक ने कहा था "याद रखो, इस समय तुम जिन लोगों को हजारों नहीं लाखों की संख्या में कटने मरने के लिए जबरदस्ती युद्ध-क्षेत्र में भेज रहे हो, वे ही हमारे समाज के सर्व श्रेष्ठ अंग हैं। इस युद्ध में हम ऐसे लोगों का नाश करने जा रहे हैं जिनमें से बहुत से आगे चलकर दस-बीस बरस में मानव-जाति और समाज के दुःखों को दूर करने के अनेक अच्छे-अच्छे उपाय निकाल सकते हैं और अनेक प्रकार से संसार का कल्याण कर सकते हैं। हम इन आत्माओं का सदा के लिए अन्त करने जा रहे हैं।" इन बेग्बी महाशय की तरह और भी अनेक विद्वान् थे जो समय-समय पर इसी प्रकार अपने राष्ट्रों, राजनीतिज्ञों और देश-वासियों को इसी प्रकार की चेतावनी दिया करते थे। पर आप जानते हैं कि इन

चेतावनी देने वालों का क्या परिणाम होता था ? ये लोग देश-द्रोही समझे जाते थे और इस चेतावनी देने के अपराध में ही बहुतों को कारावास का दंड मिलता था। जो समाज, जो राष्ट्र अपने शुभचिन्तकों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करते हों, यदि उनकी ऐसी दुर्दशा हो तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है।

मि० विल इरविन नामक एक अमेरिकन सज्जन थे जो अपने देश के किसी पत्र के सम्वाददाता हो कर यूरोप के युद्ध-क्षेत्र में गये थे। सन् १९१५ के मध्य में ही वहाँ उन्हें इस बात का पता लग गया था कि यूरोप की साधारण प्रजा इस महायुद्ध के कारण होने वाले जन-नाश और उसके परिणाम की भीषणता का बहुत कुछ अनुमान करने लग गई है। उस समय उन्होंने लिखा था— "मैंने अंग्रेज अफसरों, सैनिकों और महिलाओं से बात चीत की। फ्रान्सीसी अधिकारियों और साधारण लोगों से भी बातें की। मुझे पता लगा कि सभी लोगों के मन में एक विचार दृढ़ता पूर्वक जमा हुआ है। वे लोग यही सोचकर चकित हो रहे थे कि यदि और कुछ दिनों तक यही अवस्था बनी रही, तो फ्रान्सीसियों, अंग्रेजों और जर्मनों की जाति का क्या परिणाम होगा !" तात्पर्य यह कि उस समय भी लोग यह बात अच्छी तरह समझने लग गये थे कि यह युद्ध देशों और जातियों का सर्वनाश करने-वाला है। पर राजदंड के भय से कोई खुलकर कुछ कह ही नहीं सकता था। राजनीतिज्ञों पर तो युद्ध का भूत सवार था। भला वे किसी की क्यों सुनने लगे ? वे इसीमें देश-सेवा समझते थे और इसीमें मानव-जाति का कल्याण देखते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय भी कुछ राष्ट्र ऐसे थे, जो महायुद्ध से अपना

वृद्धि की दृष्टि से कदाचित् यही सब से अधिक बुरी और दुःख पूर्ण बात है।

"इस समय १९ और २५ वर्ष के बीच की अवस्था के सभी स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट युवक सेना में काम कर रहे हैं। जबरदस्ती भरती की हुई यूरोप की जितनी सेनाएँ हैं, वे सब उमर के हिसाब से अलग अलग बाँटी हुई हैं। और इनमें से जिन सेनाओं में सब से कम उमर के सैनिक हैं, उन्हीं सेनाओं को सब से आगे बढ़ कर प्रत्यक्ष युद्ध करना पड़ता है जिन लोगों की अवस्था तीस और चालीस वर्ष के मध्य में होती है, वे बहुधा सेनाओं और नगरों आदि की रक्षा के काम पर नियुक्त किये जाते हैं अथवा उनसे युद्ध-सामग्री पहुंचाने का काम लिया जाता है। आगे चल कर जब इस युद्ध में काम आने वाले वीरों की संख्या आदि का हिसाब लगाया जायगा, तब पता चलेगा कि मारे जाने वालों में से अधिकांश तीस वर्ष की अवस्था से कम के ही थे और उनमें भी बहुत से लोग पच्चीस वर्ष से भी कम अवस्था के थे। इसका अर्थ यह है कि साधारणतः चालीस या पैंतालीस वर्ष की अवस्था के लोग जितनी संतान उत्पन्न करके अपने देश की भेंट कर सकते थे, उतनी तो वे कर चुके; और पच्चीस वर्ष से कम अवस्था के लोग एक भी सन्तान न उत्पन्न करने पाए!"

मि० इरविन का ध्यान इस बात पर था कि युद्ध के कारण कितने युवक और सशक्त पुरुषों का नाश हो रहा है। फिशर नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने इस बात पर विचार किया था कि युद्ध में कितने विद्वानों और बुद्धिमानों का नाश होता है। युद्ध में निहत होने वालों की जो सूचियां समय समय पर प्रकाशित हुआ

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऊपर जो बातें कही गई हैं, वे केवल योद्धाओं के ही सम्बन्ध में हैं। हम अभी कह चुके हैं कि युद्ध में जितने सैनिक मारे गये थे, उनकी अपेक्षा पांच गुने या छः गुने नागरिक भी मरे थे। इसलिए मानव-जाति पर युद्ध का निर्बलता उत्पन्न करने वाला जो प्रभाव पड़ा है, उसका कभी पूरा पूरा अनुमान ही नहीं हो सकता। युद्ध का जो बल-नाशक परिणाम होता है, उसमें केवल दरिद्रता और रोग ही सम्मिलित नहीं है, बल्कि स्नायु आदि पर होने वाला आघात तथा मानसिक शक्ति को नष्ट करने वाली अनेक दूसरी बातें हैं। प्रसिद्ध विद्वान् हैवलॉक एलिस का मत है कि मनुष्यों पर चलने वाले प्रत्येक घातक गोली बराबर दरिद्रता और कष्टों की वृद्धि करती जाती है। यदि युद्ध-क्षेत्र में एक आदमी मारा जायगा, तो उसके कारण देश में पाँच आदमी दुखी या दरिद्र होंगे। अथवा किसी और ऐसी विपत्ति में पड़ेंगे जो किसी न किसी प्रकार से जीवन के लिए घातक होगी।

युद्ध का सब से अधिक भीषण और नाशक प्रभाव बालकों पर पड़ता है। यदि सच पूछिए तो युद्ध-क्षेत्र में भी और देश में भी, घर में भी और बाहर भी, सब से अधिक बालकों का ही बलिदान होता है। नागरिक समुदाय की सब से बड़ी हानि छोटी अवस्था में बालकों के मरने और जन्म-संख्या घटने से ही होती है। इन अबोध शिशुओं का नाश दोहरा होता है। इससे लाखों तो प्रस्तुत बालक मरते हैं और लाखों भावी सन्तान का नाश होता है। प्रायः देखा गया है कि युद्ध के समय अच्छी दशा में रहने वाली स्त्रियों की जनन-शक्ति भी कम होती जाती है। इससे यह सिद्ध होता है

कि युद्ध का मन पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। और यह प्रभाव यहाँ तक बुरा होता है कि इससे त्रियों में किसी अंश में स्थायी ही सही पर बाँझपन अवश्य आ जाता है। प्रो० सरजी नामक एक इटालियन विद्वान ने इस बात की बहुत दूर तक खोज की है। उनका मत है कि युद्ध में सन्तान उत्पन्न करने वाले नव युवकों का जो नाश होता है, वह तो होना ही है, पर साथ ही जाति सहसा बहुत ही बुरी अवस्थाओं में भी पहुंच जाती है। इन दुरवस्थाओं के कारण मनुष्य के मस्तिष्क, आत्मा और विचारों आदि पर इतना बुरा प्रभाव पड़ता है कि उनमें बहुत कुछ-विकार आ जाता है। इससे मनुष्य में दुर्बलता, चिन्ता, शोक और अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते हैं और इन कष्टों को युद्ध-काल की आर्थिक कठिनाइयाँ और भी भीषण बना देती हैं। और इन सब बातों का राष्ट्रों की आर्थिक अवस्था पर बहुत ही हानि कारक प्रभाव पड़ता है। एक और विद्वान का मत है कि यूरोप में इस समय अधेड़ और बुड्ढे तो अपेक्षा कृत बहुत अधिक हैं, पर युवकों का नितांत अभाव है। हम अधेड़ लोग शान्ति में रह कर वृद्ध हो जायँगे; पर हमारा जातीय भविष्य बहुत ही बुरा हो जायगा। श्रेष्ठ गुणों वाले लोग तो बहुत कम उत्पन्न होंगे और रद्दी या फालतू आदमियों की संख्या बराबर बढ़ती जायगी।

महायुद्ध के उपरांत यूरोप के प्रायः सभी देशों में करों की बहुत अधिक वृद्धि हो गई है और ये कर प्रायः ऊँची श्रेणी के लोगों से ही लिये जाते हैं। पाँच छः वर्ष पहले लन्दन के Saturday Review नामक एक पत्र में एक लेख निकला था, जिसमें बतलाया गया गया था कि युद्ध के कारण करों में जो वृद्धि

हुई है, उसके परिणाम स्वरूप जन्म-संख्या कैसे और कहाँ तक कम होती है। उस लेख का आशय यह था कि आज तक जिस आदमी को दो हजार रुपये वार्षिक आय होती है, उससे छः सौ रुपये कर के रूप में वसूल कर लिये जाते हैं। पर अब रुपये का मूल्य बहुत घट गया है; इसलिए बाकी बचे हुए चौदह सौ रुपयों की क्रय-शक्ति उतनी ही रह गई है, जितनी युद्ध से पूर्व सात सौ रुपयों की थी। इसलिए आज कल जिस आदमी की वार्षिक आमदनी दो हजार रुपये से कम होगी, वह जल्दी विवाह करने का विचार ही न करेगा। यह तो हुई उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगों की बात। अब ज़रा दरिद्रों या निम्न कोटि के लोगों की दशा का विचार कीजिए। जीवन के आरम्भ में जिस आदमी के पास कुछ भी न होगा, वह उन्नति करते करते जब दस हज़ार रुपये वार्षिक कमाने के योग्य होगा, तब तक कदाचित् वह अवस्था पार कर जायगा जिसमें लोग विवाह करते अथवा कर सकते हैं। इससे यह सिद्ध है कि देश में साधारणतः ऐसे मजदूरी पेशा लोगों की सन्तान ही बढ़ेगी, जिनका मानसिक बल बहुत ही साधारण या निम्न कोटि का होगा।

तात्पर्य यह कि इस समय सभी दृष्टियों से यूरोप वाले बहुत ही दुरवस्था में पड़े हुए हैं। सब से पहले वहाँ की राजनीतिक परिस्थिति को ही लीजिए जो परम असन्तोषजनक है। वार्सेल्स की शांति महासभा में जो राजनीतिक व्यवस्थाएँ हुई हैं, वे न तो दृढ़ हैं और न स्थायी। असन्तोष, अशांति, अराजकता और वैमनस्य आदि का अब भी वहाँ वैसा ही राज्य है, जैसा पहले था; बल्कि अनेक अंशों में उससे भी अधिक है। सब के मन में प्रति-

हो गये । अब इस मशीन को फिर से तैयार करके काम चलाने के योग्य बनाने में समय लगेगा । यही कारण है कि इधर कुछ दिनों से यूरोप के प्रायः सभी देशों में मँहगी बहुत बढ़ गई है । न तो लोगों को काम मिलता है और न खाने को भोजन । इधर बीच बीच में भीतरी हालत बहुत ही खराब हो गई थी । अभी तक निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह अवस्था कब तक सुधरेगी । बहुत सम्भव है कि किसी दिन यूरोप की यह भीतरी दुर्दशा ही उसका बहुत कुछ अनिष्ट कर बैठे ।

मि० हर्बर्ट हूवर नामक एक अर्थ-शास्त्रज्ञ कुछ दिनों तक यूरोप के मित्र-राष्ट्रों के खाद्य पदार्थों के व्यवस्थापक थे । उन्होंने यूरोप की परिस्थिति पर भली भाँति विचार करके सन् १९१९ में एक बार कहा था "यूरोप के निर्वाह के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता है, इस समय वे सब पदार्थ जितनी कम मात्रा में उत्पन्न होते हैं, उतनी कम मात्रा में आज तक कभी नहीं पहुँचे थे । इस समय सारे यूरोप में लगभग डेढ़ करोड़ परिवार बिलकुल बेकार पड़े हुए हैं और उन्हें अपने अपने देश की सरकार की ओर से किसी न किसी रूप में बेकारी का भत्ता मिलता है । यूरोप में उत्पन्न होने वाले माल से जितने आदमियों का निर्वाह हो सकता है, उनकी अपेक्षा इस समय यूरोप में प्रायः दस करोड़ आदमी अधिक हैं । बाहर से तो कच्चा माल आना कम हो ही गया है, साथ ही स्वयं यूरोप में भी कच्चे माल की उपज बहुत कम हो गई है । पहले यूरोप वाले अपनी आवश्यकता की बहुत सी चीजें आप ही तैयार कर लिया करते थे, पर अब उनमें से बहुत सी चीजें उन्हें विदेशों से मँगानी पड़ती हैं । युद्ध जिस समय

बहुत अधिक नैतिक पतन हो चुका है। दूसरे, इस समय इतनी भीषण विपत्ति पड़ने पर तो वे उससे अपना उद्धार करने के लिए न जाने कितनी नई अनीतियाँ करने लगेंगे; और जिस प्रकार हो सकेगा, अपनी क्षति की पूर्त्ति करना चाहेंगे। यह नैतिक पतन नये सिरे से आरम्भ भी हो गया है। व्यापार आदि में यूरोपवाले तरह तरह की बेईमानियाँ करने लग गये हैं। जरमनी वाले अपना माल बेचने के लिए उस पर "इंगलैण्ड में बना" की छाप लगाते हैं और मैनचेस्टर वाले ऐसे मोटे कपड़े तैयार करते हैं जो देखने में भारत के बने जान पड़ते हों। अन्दर ही अन्दर इसी प्रकार की सैंकड़ों, हजारों बातें होने लग गई हैं जिनका सर्व-साधारण को जल्दी पता ही नहीं लग सकता। एक ओर साम्राज्य-वृद्धि का भूत फिर से लोगों पर सवार होने लगा है, तो दूसरी ओर बोलशेविज्म के नाम पर अनेक प्रकार के अनर्थ होने लगे हैं। तात्पर्य यह कि जीवन के सभी क्षेत्रों में ऐसी विलक्षण हलचल मच गई है कि बस ईश्वर ही रक्षक है।

अनेक विद्वानों का यह मत है और वह बहुत ठीक है कि युद्ध-काल में युद्ध के कारण जो हानियाँ होती हैं, वे उन हानियों के मुकाबले में कुछ भी नहीं होतीं जो युद्ध के उपरान्त होने लगती हैं। युद्ध की सारी भीषणता तो उसके समाप्त हो जाने पर ही अपनी विकराल मूर्त्ति दिखलाना आरम्भ करती है। युद्ध के पश्चात् का काल ही सर्व साधारण के लिए सबसे अधिक भीषण होता है। युद्ध के समय तो किसी को कुछ देखने-सुनने का अवसर ही नहीं मिलता। और यदि अवसर मिले भी तो कई बातें ऐसी होती हैं, जिनके कारण वह भीषणता किसी को जल्दी दिखलाई

ही नहीं देतीं। युद्ध के उपरान्त एक और बात होती है। वह यह कि लोगों को अपनी क्षति-पूर्त्ति के लिए उद्योग करने के सिवा और कोई अच्छा काम करने का अवसर ही नहीं मिलता। और यदि कुछ करने का अवसर मिल भी गया, तो बेईमानी, दगा-बाजी, चालाकी और छल-कपट अपना राज्य जमाने लगते हैं। यही सब युद्ध के भीषण परिणाम हैं जो इस समय यूरोप भोग रहा है और जो अभी आगे चलकर और बहुत दिनों तक उसे भोगने पड़ेंगे।

महायुद्ध की नाशकता का वर्णन करते हुए लन्दन के एक पत्र में लिखा गया था कि जिन बातों की रक्षा करने के लिए हमारे असंख्य अच्छे अच्छे सिपाही कट मरे, स्वयं महायुद्ध ने ही उन सब अच्छी अच्छी बातों का नाश कर दिया। इस युद्ध ने जितने प्रश्नों का निराकरण किया, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक नये प्रश्न उपस्थित कर दिये। युद्ध के कारण इङ्गलैण्ड का जितना अधिक नाश हुआ है, उसकी रक्षा के लिए हम एक दरजन बड़े बड़े गिरजे बलि के रूप में दे सकते थे। यदि हो सकता तो हम बहुत प्रसन्नता से अपने दस अच्छे से अच्छे गिरजे बदले में हिंडनबर्ग के तोप-खाने से उड़ाए जाने के लिए दे सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वेस्ट मिनिस्टर एब्बे दे देना इस बात से कहीं अच्छा है कि फिर हमारे पास इस योग्य आदमी ही न रह जायं जो वहाँ गाड़े जा सकें !

महायुद्ध के उपरान्त से यूरोप सचमुच बहुत ही भीषण और पतित परिस्थिति में से गुजर रहा है। उसकी इस समय की अवस्था न तो सन्तोषजनक ही है और न उत्साहवर्धक ही। लोगों

का सारा उत्साह, सारा जोश ठंडा पड़ गया है। उनकी दशा मुरदों की सी हो रही है। बड़े बड़े सेनापति निकल गये और बड़े बड़े राज्य उलट गये। युद्ध समाप्त होते ही अपनी अपनी भीषण हानि देखकर सब लोग ठंडे हो गये। यूरोप परम दुर्बल और परम शिथिल हो गया है। उसे अपना भविष्य देखकर भय लगता है। पर तमाशा यह है कि अब भी उन्हीं विचारों, उन सिद्धान्तो में निरन्तर वृद्धि ही होती जाती है जिनके कारण गत महायुद्ध हुआ था। इससे तो यही धोखा होने लगता है कि कदाचित् यूरोप वाले यह समझते हैं कि हम और हमारी सभ्यता दोनों अमर हैं। अभी तक यह बात उनकी समझ में नहीं आई कि संसार की सभी चीजें समय पाकर नष्ट हो जाती हैं। काल सभी चीजो को अपने उदर में रख लेता है। कोई चीज इतनी बड़ी नहीं हो सकती जो उसके उदर में न समा सके।

यूरोप की सैनिकता बहुत अधिक थक जाने के कारण थोड़ी देर के लिए बैठ गई है। उसकी आर्थिक कठिनाइयाँ चरम सीमा को पहुँच चुकी हैं, और उसकी मानसिक दुरवस्था का तो कहीं ठिकाना ही नहीं है। उसकी सभ्यता के सभी अंग बुरी तरह से क्षत-विक्षत हो चुके हैं। शिल्प कला का नाश हो चुका है। सारा धन स्वाहा हो चुका है। सभी राष्ट्र दीवालिये हो रहे हैं। यह सब कुछ है, पर फिर भी अभी तक रण-चण्डी तृप्त नहीं हुई है। अभी तक लोग एक दूसरे से बदला लेने की चिन्ता में ही लगे हुए हैं। अभी तक साम्राज्यवाद का भूत उनका पीछा नहीं छोड़ रहा है। न जाने यह भूत इस गोरी सभ्यता का और उसके साथ साथ शेष संसार का अभी और कितना नाश करेगा! यह गोरी सभ्यता

ठीक रास्ते पर तो आने से रही; इसलिए हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि ईश्वर ऐसी सभ्यता से शीघ्र ही इस संसार की रक्षा करे।

गोरों की एकता का नाश

(१)

गत यूरोपीय महायुद्ध के जितने भीपण परिणाम हुए अथवा हो सकते हैं, प्राय: उन सब का उल्लेख हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। पर उसमें एक वात ऐसी है, जो वहुत से अंशों में महा-युद्ध का कारण भी थी और जो महायुद्ध की समाप्ति पर उसके परिणाम स्वरूप और भा वढ़ गई है। अर्थात् महायुद्ध का जो मूल कारण था, वह उसके समाप्त होने पर और भी वढ़ गया है। हमारा तात्पर्य गोरों की एकता के नाश से है। गोरों में पारस्परिक वैमनस्य वहुत वढ़ गया था, जिसके कारण गत महायुद्ध हुआ था; और अव भी वह वैमनस्य वरावर वढ़ता ही जाता है, जिसके कारण लोगों को भविष्य में और भी अधिक भीपण महायुद्ध होने की आशंका हो रही है।

उन्नीसवीं शताब्दि में सभी गोरी जातियों को अपनी एकता का वहुत अधिक ध्यान रहता था। जिन वड़े-वड़े अविष्कारकों तथा। साम्राज्य निर्मायकों ने संसार में इस सिरे से उस सिरे तक गोरी सभ्यता और गोरे शासन का विस्तार किया था, वे समझते थे कि हम सव लोग एक ही जाति और एक ही महादेश की और

अपनी सभ्यता और अपने प्रभुत्व का विस्तार करने तथा शेष सारे संसार का कल्याण करने के लिए अवतार धारण करके आये हैं। यह ठीक है कि समय समय पर उन लोगों में परस्पर प्रतिस्पर्धा भी होती थी और राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में उन लोगों में झगड़े भी होते थे। पर फिर भी जब वे लोग शान्त हो कर बैठते थे, तब यही समझते थे कि यदि हममें से किसी एक जाति के राज्य का विस्तार होगा, तो वह हमारी सभी जातियों के प्रभुत्व का विस्तार होगा। उस समय यूरोप के प्रायः सभी देशों के निवासी यह समझते थे कि हम सब लोग एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं, और हम सब लोगों का एक ही प्रधान उद्देश्य था—सारे संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना। बहुत दिनों तक वे लोग इसी उद्देश्य की सिद्धि में लगे रहे और बहुत कुछ सफल-मनोरथ भी हुए। परन्तु जब उनकी उन्नति पराकाष्ठा को पहुँच गई और उसका अन्त समीप आने लगा, तब उनका यह एकतावाला भाव भी जाता रहा। और यही बहुत से अंशों में उनके नाश और पतन का भी कारण हुआ।

धीरे-धीरे यूरोप में राष्ट्रीय साम्राज्यवाद का प्रभुत्व स्थापित होने लगा। कुछ दूसरे राष्ट्रों को अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार करते देखकर उनके प्रतिस्पर्धियों से ईर्ष्या का भाव जागृत होने लगा। वे अपने ही भाइयों की इतनी अधिक समृद्धि न देख सके और आप भी उन्हींके समान अपने-अपने साम्राज्य के विस्तार की चिन्ता में लग गये। इस भाव ने बढ़ते-बढ़ते इतना विकराल रूप धारण किया कि यूरोप के सभी राष्ट्र यह चाहने लगे कि सारी पृथ्वी पर एक मात्र हमारा ही राज्य हो जाय, संसार

में और कोई दूसरा शासक हमें दिखलाई ही न पड़े। रूस का विस्तार तो पहले से ही बहुत अधिक था और वह उस देश की भौगोलिक अवस्था के कारण था। पीछे से इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने भी अपने-अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार कर लिया। विशेषतः इंग्लैण्ड का राज्य-विस्तार तो एक प्रकार से अभूत और अश्रुतपूर्व था। यह देखकर जर्मन और स्लाव आदि जातियों से न रहा गया। वे अपने-अपने साम्राज्य के विस्तार के उपाय सोचने, ढूँढने और निकालने लगीं।

उनका यह सोचना एक प्रकार से स्वाभाविक भी था। जब वे यह देखतीं थीं कि प्रायः और सभी जातियाँ दूर दूर तक अपने राज्य का विस्तार कर रही हैं और विपुल धन-सम्पत्ति की स्वामिनी हो रही हैं तब उनका भी उसी प्रकार राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक होना बहुत ही स्वाभाविक था। उनके सामने जो उदाहरण उनके जाति-भाइयों ने ही उपस्थित किया था उसका वे अनुकरण क्यों न करतीं? और फिर विशेषतः ऐसी दशा में जब कि स्वयं उनका देश उनका रहन-सहन और पालन-पोषण आदि के लिए उन्हें यथेष्ट नहीं दिखाई देता था। ऐसी दशा में युद्ध छेड़ने के लिए जर्मनी या आस्ट्रिया उतना ही अपराधी ठहराया जा सकता है, जितने अपराधी इङ्गलैण्ड, फ्रान्स या रूस हैं अथवा हो सकते हैं। इस विषय में यूरोप की किसी एक जाति का अपने आप को निर्दोष और दूसरी जाति को दोषी बतलाना कदापि न्याय-संगत नहीं हो सकता।

अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए इधर कुछ दिनों से रूस वाले यह कहने लग गए थे कि रूस का सम्बन्ध यूरोप की

सकता है। अब लोगों की दृष्टि में गोरे पहले की भाँति न तो देवता ही रह गये हैं और न अजेय ही। अब सब लोगों पर उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो गया है।

सन् १९०२ में अंगरेजों ने पहले पहल जापान के साथ संधि की थी। उस संधि का मुख्य उद्देश्य यह था कि किसी प्रकार रूस के बढ़ते हुए साम्राज्य को रोका जाय। यदि उस समय की परिस्थिति और इंग्लैण्ड के हित पर ध्यान दिया जाय, तो उसने जिस मार्ग का अवलम्बन किया था वह अनिवार्य था और उसके लिए वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। पर इंगलैंड और जापान में फिर दोबारा जो संधि हुई, उसका परिणाम और प्रभाव बहुत दूर तक पहुँचता था। इस दूसरी संधि की निंदा एशिया के पूर्वीय देशों में रहने वाले प्रायः सभी गोरों ने, जिनमें कुछ अंगरेज भी सम्मिलित थे, एक स्वर से की थी।

एक ओर रूस को और दूसरी ओर इंग्लैड को इस प्रकार स्वार्थ-साधन में रत देखकर जर्मनी ने भी हाथ-पैर फैलाये। उसे रूस और फ्रान्स से तो भय था ही, इसलिए वह अन्दर ही अन्दर ऐसी तैयारियाँ करने लगा जो अपने पड़ोसियों के साथ युद्ध छिड़ने पर काम आ सकें। इसके अतिरिक्त उसने तुर्कों के साथ भी जोड़-तोड़ लड़ाना आरम्भ किया और मध्य आफ्रिका में हब-शियों का एक सैनिक साम्राज्य स्थापित करने के उपाय सोचने लगा। अब भला फ्रान्स क्यों पिछे रहने लगा था! ये सब रंग ढंग देख कर उसने यूरोप में होने वाले युद्ध की आशंका से लड़ने के लिए कृष्ण, धूसर और पीत वर्ण के लोगों को अपनी सेना में भरती करना आरम्भ किया। और अन्त में इटली ने ट्रिपोली पर

जिस समय रूस-जापान युद्ध के कैदी पहले पहल जापान के तट पर जहाज पर से उतारे गये थे, उस समय दृश्य बहुत ही विलक्षण और प्रभावोत्पादक था। जापान तथा एशिया के दूसरे देशों के निवासियों के लिए तो वह इसलिए विलक्षण और प्रभावोत्पादक था कि वह पहला ही अवसर था जब कि एशिया के एक छोटे से राष्ट्र ने युद्ध में गोरे कैदियों को पकड़ा था और उन्हें अपने यहाँ ला कर रखा था। पर गोरों के लिए भी वह दृश्य कम अद्भुत और अभूतपूर्व नहीं था। यद्यपि यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों के राजनीतिज्ञ और साम्राज्य-संचालक मन ही मन रूस की हार से प्रसन्न हो रहे थे, तथापि उस समय जो गोरे जापान के समुद्र तट पर उपस्थित थे, उनका हृदय उस समय करुणा और लज्जा से परिपूर्ण हो रहा था। एक फ्रान्सीसी लेखक पर उस दृश्य का बहुत ही करुणापूर्व प्रभाव पड़ा था। उसने उस समय लिखा था "यह अपमान केवल रूसियों का ही नहीं था, बल्कि समस्त यूरोपियनों का था। गोरे लोग पराजित हो कर बन्दी हुए थे और पीत वर्ण के स्वतंत्र और विजयी योद्धा उन्हें पकड़ लाये थे। इसका केवल यही अर्थ नहीं था कि जापान से रूस पराजित हुआ था, बल्कि इसमें एक और बहुत बड़ी और बिलकुल नई बात थी। यह एक संसार की दूसरे संसार पर होने वाली विजय थी। इधर शताब्दियों से एशिया जो अपमान सहता आ रहा था, यह उसी का एक बदला था। इसके कारण एशिया वालों में नई आशाओं का संचार हो रहा था। जो गोरे अब तक प्रायः बिना लड़े भिड़े ही सब जगह विजय प्राप्त कर लिया करते थे, उन्हीं गोरों पर एशिया वालों का यह पहला आघात था। उस समय वहाँ जापा-

नियों की वहाँ भीड़ लगी हुई थी, वह तो ये सब बातें समझती ही थी, साथ ही एशिया के दूसरे देशों के जो निवासी वहाँ उपस्थित थे, वे भी एक प्रकार से अपनी विजय समझ रहे थे। मैं तो उस समय यह बात बिलकुल भूल ही गया था कि ये कैदी रूसी हैं। मुझे केवल यही स्मरण रहा कि ये लोग गोरे हैं। साथ ही वहाँ और जो यूरोपियन उपस्थित थे, वे चाहे रूस के विरोधी ही क्यों न रहे हों, पर फिर भी उन्हें यह दृश्य देख कर बहुत अधिक दुःख हुआ था। उन्हें भी विवश हो कर यह समझना पड़ा था कि ये कैदी हमारी ही जाति और हमारे ही वर्ण के हैं। हम सब लोगों के मन में यह विचार इतनी दृढ़ता से अंकित हुआ था कि जब हम लोग कोबी जाने के लिए गाड़ी पर सवार होने लगे, तब सब लोग एक साथ एक ही कमरे में जा बैठे।"

जो लोग अपने भाइयों की दुर्दशा देखकर फूले नहीं समाते, उन्हें उक्त वर्णन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इन गोरों को अपनी जातीयता का कितना अधिक ध्यान और कितना अधिक अभिमान रहता है। उनके इस अभिमान का एक मात्र कारण यही था कि बहुत दिनों से वे लोग अपने आपको अजेय समझते आ रहे थे। इन गोरों का यह विश्वास सा हो गया था कि संसार के सारे प्रदेश हमारे अधीन रहने के लिए और संसार की सारी जातियाँ हमारा दासत्व करने के लिए बनाई गई हैं। ये लोग समझते थे कि हमारा यह अधिकार, यह प्रभुत्व सदा अटल रूप से बना रहेगा, और जब उनके इस विश्वास पर आघात लगा, जब उन्हें इसके विपरीत घटनाएँ दिखाई पड़ीं, तब उनकी असीम निराशा हुई।

परन्तु रूस की इस हार से भी यूरोपवालों की आँखें नहीं खुलीं। बात यह है कि मद की मात्रा जितनी ही अधिक होती है, होश में आना भी उतना ही कठिन होता है। यूरोपवाले भी बहुत अधिक मत्त हो रहे थे, इसलिए उनकी आँखे खुलने में भी अभी देर थी। इसी लिए यह अवस्था महायुद्ध के समय तक भी ज्यों की त्यों बनी रही। जब महायुद्ध आरम्भ हुआ, तब भी यूरोप के सब राष्ट्र आपस में उतने ही दूर थे, जितने रूस-जापान युद्ध के समय थे, बल्कि अनेक अंशों में उनकी पारस्परिक दूरी और भी बढ़ गई थी। और इसका कारण भी वही अधिकार-मद और स्वार्थ था। दोनों ही पक्ष प्राण-पण से एक दूसरों को नामशेष करने की कसम खा कर ही घर से निकले थे। अपने विपक्षी को कोई इस संसार में जीवित छोड़ना ही नहीं चाहता था। और फिर आखिर युद्ध में और होता ही क्या है। अपने शत्रु का पूरा-पूरा नाश करने के लिए ही तो युद्ध किया जाता है। मुसलमानों के आगमन से कुछ पहले और उनके आ चुकने के बहुत बाद तक भी भारतवासी और क्या किया करते थे? यही गृह-कलह और पारस्परिक नाश ही तो उनका मुख्य कार्य रह गया था। ईश्वरीय सृष्टि की योजना ही कुछ ऐसी है कि जब कोई शक्ति बहुत बलवती हो जाती है और कोई दूसरी शक्ति उसका सामना करने के योग्य नहीं रह जाती, तब अन्त में वही शक्ति अपना भी नाश कर लेती है। यदि महायुद्ध के समय इन गोरों को इस बात का ध्यान होता कि हम लड़ भिड कर अपनी ही जाति और अपने ही वंश का नाश कर रहे हैं, तो फिर आखिर उनका नाश और किस प्रकार होता? इस युद्ध में केवल योद्धा और राजनीतिज्ञ ही अपने

भाइयों का नाश करने में नहीं लगे थे, बल्कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक और विद्वान् भी अपनी ओर से उन्हें पूरा-पूरा प्रोत्साहन दे रहे थे और यथासाध्य ऐसी सामग्री प्रस्तुत करते थे जो उनकी इस आत्म-हत्या में सहायक होती थी।

इस आत्मघातक युद्ध में कोई उपाय, कोई युक्ति कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ा गया था। जिससे जो कुछ हो सकता था, वह कर ही गुजरता था। कोई धूसर वर्णवालों को अपने पक्ष में मिलाए रखने के लिए उन्हें तरह तरह के प्रलोभन देता था, तो कोई कृष्ण वर्णवालों को बढ़ावा देकर अपना साथी बनाता था। यहाँ तक कि एक ही पक्ष के अनेक राष्ट्र आपस में भी अनेक प्रकार के छल-कपट किया करते थे। इधर किसी राष्ट्र से कुछ समझौता किया जाता था, तो उधर दूसरे राष्ट्र से उसके बिलकुल विपरीत निश्चय होता था। आज कुछ और कहा जाता था, तो कल कुछ और ही राग अलापा जाता था। तात्पर्य यह कि महायुद्ध के पाँच वर्षों में सारे संसार ने देख लिया कि इस गोरी सभ्यता का क्या स्वरूप है। जिन लोगों को यह विश्वास था कि गोरे बहुत ही सच्चे, परोपकारी, सभ्य और योग्य होते हैं, उनकी आँखों पर से इस युद्ध ने वह पुराना परदा हटा दिया। जो लोग इनसे किसी प्रकार की आशा रखते थे, वे महायुद्ध में इनका आचरण देखकर अपनी तकदीर ठोंकने लगे। और जो लोग कुछ होशियार थे, वे इस अवसर से शिक्षा ग्रहण करने लगे और यदि हो सका तो लाभ भी उठाने लगे। इन लाभ उठाने वालों में मुख्य जापान था जिसने यूरोप वालों को आपस में कटते मरते देखकर चीन को अपने वश में करने का अच्छा अवसर पाया था। यह

अवस्था देख कर कुछ यूरोपियन चिन्तित भी हुए थे। उन्होंने समझ लिया था कि इस युद्ध का यहीं अन्त नहीं है, चाहे कोई पक्ष विजयी हो, पर आगे चल कर यूरोप वालों को कई भीषण युद्धों में प्रवृत्त होना पड़ेगा। जो परास्त होगा, वह आगे चलकर अपना बदला चुकाने में कोई बात बाकी न छोड़ेगा। महायुद्धों का एक ताँता सा लग जायगा जो अन्त में यूरोप का सर्वनाश करके छोड़ेगा। उस समय इन लोगों को साथ ही साथ यह भी चिन्ता हो रही थी कि इस समय अन्यान्य वर्णों की जो जातियाँ हमारे अधीन हैं, वे भी हमारी दुर्बलताओं से परिचित हो जायँगी और समय पाकर हमारे अधिकार से निकल जायँगी। इस प्रकार यूरोपियनों की सारी प्रधानता नष्ट हो जायगी। उन लोगों का यह सोचना भी बहुत अंशों में ठीक था। इस समय कुछ ऐसे ही लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। संसार पर से गोरों का आतङ्क बराबर नष्ट होता जाता है। उनकी चालबाजियाँ भी सब लोगों को मालूम हो गई हैं और उनका विश्वास भी जाता रहा है। उधर महायुद्ध में जो जातियाँ परास्त हुई थीं, वे जेता जातियों से बदला चुकाने के लिए दाँत पीस रही हैं। गोरों को इस समय घर और बाहर सभी जगह सर्वनाश सामने दिखाई दे रहा है। पर वह सर्वनाश इतना भीषण है कि यूरोप वाले आँख भर कर उसकी ओर अच्छी तरह देख भी नहीं सकते। अथवा यों कहना चाहिए कि उस भावी सर्वनाश ने ही उनको अन्धा बना दिया है। वे उसकी तरफ से जान बूझ कर आँखें मूँद लेते हैं और अपने नाशक मार्ग जोरों से बढ़ते चले जाते हैं।

गत यूरोपीय महायुद्ध ने गोरों के एक बहुत बड़े अभिमान

का भी नाश किया था। पहले यह गोरे अपने सामने अन्य वर्ण वालों को कुछ समझते ही नहीं थे। वे अपने आप को देवता और दूसरों को निरा पशु, बल्कि उससे भी कुछ और गया बीता समझते थे। जब दो गोरी जातियाँ कभी आपस में लड़ती थीं, तब केवल गोरे सैनिकों से ही काम लिया करती थीं। अपने गोरे भाइयों के मुकाबले में वे अन्य वर्णवाले दासों को ला कर खड़ा करना अपना और अपने भाइयों का अपमान समझती थीं। वे यह नहीं देख सकती थीं कि अन्य वर्ण का कोई आदमी हमारे मुकाबले में या कन्धे से कन्धा भिड़ा कर हमारे साथ आकर खड़ा हो और हथियार चलावे। दक्षिण आफ्रिका में जिस समय बोअर युद्ध हुआ था, उस समय अंग्रेज़ लोग इस बात के घोर विरोधी थे कि अपने गोरे शत्रुओं का मुकाबला काले हब्शियों अथवा धूसर वर्ण के भारतवासियों से कराया जाय। एक बार जब फ्रान्सीसियों ने यूरोप में लड़ाने के लिए आफ्रिका के काले हब्शियों की सेना संघटित करने का विचार किया था, तब प्रायः सभी यूरोपियनों ने उनके इस विचार का घोर विरोध और निन्दा की थी। तात्पर्य यह कि उस समय तक यूरोप वाले यही समझते थे कि आखिर तो हम सब लोग एक ही हैं। फिर इस प्रकार अन्य वर्ण के लोगों को युद्ध-क्षेत्र में बुला कर व्यर्थ आप ही अपना अपमान क्यों करें! पर गत यूरोपीय महायुद्ध के समय उनका यह सारा अभिमान चूर्ण हो गया था। उस समय सभी योद्धा राष्ट्रों ने अन्य वर्णों के सैनिक जितनी अधिक संख्या में हो सकते थे, भरती किये थे। और उनके इस कृत्य की उन राष्ट्रों की प्रजाओं ने बहुत प्रशंसा की थी! काले, पीले और भूरे सभी रंगों के लोग बहुत आदर-सत्कार के साथ

सेना में भरती किये जाते थे। आज आप को भारत में सैंकड़ों हजारों ऐसे सिक्ख, राजपूत, गोरखे और पठान आदि मिलेंगे जो अभिमानपूर्वक बहुत ही विस्तार के साथ यह बतलावेंगे कि फ्रान्स के युद्ध-क्षेत्र में पहुंचने से पहले और लौटने के समय फ्रान्सीसी महिलाओं ने उनकी कितनी आव-भगत की थी, उन्हें कितने प्रेम से मालाएँ पहनाई थीं और उन्हें कितनी आपसदारी दिखला कर जल-पान कराया था।

जब जर्मनी ने तुर्कों को युद्ध-क्षेत्र में ला कर मित्र राष्ट्रों के सामने खड़ा किया था, तब मित्र राष्ट्रों के सैनिक और प्रजा वर्ग ने बहुत असन्तोष प्रकट किया था। और जब मित्र राष्ट्रों ने उनके सामने सिंघालियों और गोरखों को ला खड़ा किया, तब जरमनों के क्रोध का ठिकाना न रह गया! एक जरमन अफसर ने तो भीषण और रक्त-पिपासु गोरखों की बहुत ही अधिक निन्दा की थी। उसने उनका बहुत ही निकृष्ट चित्र खींचते हुए उन्हें "कुत्ता" और "शैतान" तक कह डाला था। जब अंग्रेजों ने आफ्रिका के हबशियों को युद्ध-क्षेत्र में लाने का विचार किया था, तब फिर जर्मनों में घोर असन्तोष फैला था। पर कोई किसी के असन्तोष और विरोध पर ध्यान नहीं देता था। सब लोग वही काम करते थे और साथ ही सभी उस काम के लिए एक दूसरे की निन्दा भी करते थे। एक ओर तो ये मत्त गोरे अन्य वर्णों के मनुष्यों को मनुष्य नहीं समझते थे और दूसरी ओर उनके बिना उनका काम भी नहीं चलता था। इसलिए अन्त में धीरे धीरे उनकी घबराहट दूर होने लगी और सभी योद्धा राष्ट्र युद्ध-क्षेत्र में अच्छी तरह अन्य वर्णों के लोगों को भरने लग गये। उस घोर संकट के

समय गोरों को अन्य वर्णों के लोगों की थोड़ी बहुत कदर होने लग गई थी। पर यह कदर भी बस अपने मतलब के लिए ही थी। जब उनका वह मतलब निकल गया, तब फिर सारे संसार में गोरों के हाथों उनकी फिर पहले की सी दुर्दशा होने लगी।

जर्मनी वाले यूरोप के मुख्य युद्ध-क्षेत्र में तुर्की सैनिकों को अधिक संख्या में नहीं ला सकते थे; इसलिए उन लोगों ने और ही प्रकार से बदला लेना चाहा। उन्होंने तुर्की को भी अपना साथी बनाकर युद्ध में सम्मिलित कर लिया। उस समय एक जर्मन ने कहा था—तुर्की में एनाटोलिया और मेसोपोटामिया हैं। एनाटोलिया सूर्योदय का प्रदेश है और मेसोपोटामिया प्राचीन स्वर्ग है। ईश्वर करे, ये दोनों नाम हमारे लिए शुभ हों। ईश्वर करे, यह संसार-व्यापी युद्ध जर्मनी और तुर्की के लिए नये युग का सूर्योदय और स्वर्ग लावे।" भला कहाँ तो अन्य वर्णों के लोगों से वह घृणा और कहाँ उनके साथ मिलकर विजय प्राप्त करने और नवीन युग प्रस्तुत करने की यह कामना !

इसमें जरमनी का एक और उद्देश्य था। तुर्की को जरमनी ने जो सहायता दी थी, उसका एक और मतलब था। वह चाहता था कि एशिया में अंगरेजों और रूसियों की अधीनता में जो प्रदेश इस समय पिस रहे हैं, वे उत्तेजित हो कर उभड़ खड़े हों। वह चाहता था कि तुर्की, फारस, अफगानिस्तान और चीन सब हमारी ओर मिल जायें, और सारे एशिया में ऐसा उपद्रव खड़ा हो जाय जो हमारे शत्रुओं से शांत न हो सके। वह कुस्तुन्तुनिया से पेकिंग तक एक सीधी रेल बनाने का स्वप्न देख रहा था। वह यह प्रकट करना चाहता था कि हम एशिया को पूर्ण

स्वतंत्र बनाना चाहते हैं। एक जर्मन लेखक ने तो साफ़ कह दिया था कि जर्मनी का मुख्य उद्देश्य एशिया को फिर से नवीन जीवन प्रदान करना है। इसके उत्तर में मित्र राष्ट्र भी अपने अधीनस्थ देशों को भविष्य के लिए बहुत कुछ लालच देते थे और कहते थे कि यह सारा युद्ध बस तुम्हीं लोगों को स्वतंत्र और सुखी करने के लिए हो रहा है। मानों अन्य वर्णों के लोगों के कल्याण और मंगल के लिए ही यूरोप वाले कटे मरते थे! सच तो यह है कि समय पाकर उनके अभिमान का स्थान झूठ और पाखंड ने ले लिया था। सब को अपने प्राण बचाने और दूसरों के प्राण लेने की चिन्ता लगी हुई थी और वे अपना मतलब पूरा करने के लिए कोई बात उठा नहीं रखना चाहते थे। और नहीं तो युद्ध समाप्त हो जाने पर विजयी मित्र राष्ट्रों ने अपने अधीनस्थ देशों के साथ जैसा उपकार और सद्व्यवहार किया, वह तो सारा संसार देख ही रहा है; और भारत तो प्रत्यक्ष भोग ही रहा है!

जापान का ध्यान किसी और ही बात पर था। वह सोचता था कि जब तक ये गोरे आपस में लड़ रहे हैं, तब तक अपने हाथ रँग लेने चाहिए। इसीलिए उसने यूरोप के प्रत्यक्ष युद्ध में किसी पक्ष को कोई विशेष और उल्लेख योग्य सहायता नहीं दी थी। उसकी उस आंशिक उदासीनता से जर्मनी बहुत ही प्रसन्न और सन्तुष्ट था। पहले पहल जब जापान ने जर्मनी का अधिकृत क्याऊचाऊ ले लिया था, तब तो एक बार जर्मनी बहुत बिगड़ा था। पर पीछे से कुछ सोच समझ कर वह शांत हो गया और उसके अच्छे अच्छे लेखक आदि यह कहने लगे कि पूर्वी एशिया के स्वामी जापान के साथ हमें बिगाड़ नहीं करना चाहिए।

हो जाना चाहिए। जापान से बिगाड़ कर आगे हम कुछ भी न कर सकेंगे; इसलिए हमें जापान से मिल जाना चाहिए। और हम लोग मिल भी सकते हैं। जर्मनी ही एक ऐसा देश है जो और सब देशों के मुकाबले में पूर्वी एशिया के निवासियों के साथ मिल कर सब से अधिक लाभ उठा सकता है।

प्रायः इसीसे मिलते जुलते भाव और सब योद्धा राष्ट्रों के भी थे। सभी लड़ने वाले अपने सवर्ण शत्रुओं को दबाने के लिए अन्य वर्णों के लोगों की सहायता लेते थे। उन्हें अनेक प्रकार से प्रसन्न करने और बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाकर अपनी ओर मिलाते थे और उनसे अपना काम निकालते थे। खैर।

मित्र राष्ट्रों ने अच्छी तरह समझ लिया था कि यह युद्ध जितने ही अधिक दिनों तक चलता रहेगा, वह उतना ही अधिक घातक और नाशक होगा। दोनों पक्षों ने यह भी समझ लिया था कि हम सहज में अपने विपक्षी पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसी लिए दोनों पक्ष अमेरिका को अपनी ओर मिलाने के लिए सिर-तोड़ परिश्रम करने लगे। पर अन्त में मित्र राष्ट्रों की बन आई। उन्होंने जैसे तैसे अमेरिका को अपने पक्ष में मिलाने के लिए तैयार कर लिया। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति मि० विलसन मित्रों के चकमें में आ गये। वे एक प्रजातन्त्र राष्ट्र के राष्ट्रपति थे और स्वयं उनके विचार भी बहुत ऊँचे थे। उन्होंने युद्ध की समाप्ति के लिए कुछ शर्तें लगाईं जो मित्र राष्ट्रों ने अपनी गरज के कारण ज्यों की त्यों मंजूर कर लीं। यहाँ इस बात का विवेचन करने का अवसर नहीं है कि उन शर्तों का कहाँ तक पालन हुआ। और फिर उनका जैसा पालन हुआ, वह किसी से

शान्ति स्थापित हुई। उलटे संसार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घोर असन्तोष फैल गया। राजनीतिक समस्याएँ पहले से कहीं अधिक जटिल हो गईं और आर्थिक संकट पहले से कहीं अधिक विकट हो गए।

यूरोप में कुछ थोड़े से समझदार ऐसे भी थे जो पहले से ही यह बात जानते थे कि युद्ध की समाप्ति पर जब बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ आपस में समझौता करने बैठेंगे, तब यूरोप को फिर से संघटित करने की समस्या ऐसी जटिल हो जायगी कि उनकी कोई मीमांसा ही न हो सकेगी। पर अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की थी जो शान्ति महासभा से बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते थे। इसी लिए अन्त में प्रायः सभी लोगों को निराश होना पड़ा और सभी लोगों को यह जान पड़ने लगा कि हम लोग धोखे में थे। वार्सेल्स में जो कुछ निश्चय हुआ था, वह सिर से पैर तक अनेक प्रकार की त्रुटियों से पूर्ण था। इसी लिए प्रायः सभी ओर से उसकी बहुत अधिक निन्दा भी हुई थी। पर कुछ लोग तो ऐसे थे जो यह समझते थे कि इतनी अधिक दुरवस्था उत्पन्न हो चुकने के उपरान्त जो कुछ निश्चय हो गया, वही गनीमत है। और कुछ लोग ऐसे थे जो यह समझते थे कि यह निर्णय कोई निर्णय ही नहीं है और इससे अनेक बड़े-बड़े अनर्थों का बीजारोपण हुआ है। और वास्तव में यही बात बहुत से अंशों में ठीक भी है।

सुप्रसिद्ध जनरल स्मट्स दक्षिण आफ्रिका के प्रतिनिधि बनकर शान्ति महासभा में आए थे। वे उस दल में के हैं, जो शान्ति महासभा के निर्णय से असन्तुष्ट होने पर भी उसे गनीमत समझता है। वार्सेल्स के निर्णय का विरोध करते हुए उन्होंने कहा

पक्ष सन्तुष्ट नहीं, उस निर्णय से कहाँ तक शान्ति स्थापित हो सकती है ! ऐसी सन्धि का अनिवार्य परिणाम भीषणतर युद्ध ही है। जब तक लोगों का हृदय स्वच्छ नहीं होगा और जब तक साम्राज्यवाद का भूत यूरोप के सिर से नहीं उतरेगा, तब तक सच्ची शान्ति की आशा दुराशा मात्र है। अभी तो शान्ति संसार से बहुत दूर है।

मि० जे० एल० गार्विन नामक एक अंग्रेज अर्थ-शास्त्रज्ञ ने भी इस सन्धि की अच्छी आलोचना की थी। उसने कहा था—"सन्धिपत्र पर चाहे हस्ताक्षर भी क्यों न हो जायँ, पर फिर भी वह आखिर एक कागज़ ही है। वह कागज स्वयं तो कुछ कर ही नहीं सकता। उसका उपयोग तभी हो सकता है जब उसमें लिखी हुई बातों का पालन आदि करने के लिए उसके साथ कुछ जीवित शक्तियाँ भी लगी हों। जिन सन्धियों में निश्चित और ठीक बातें नहीं होतीं, अन्त में उन सन्धियों का ठीक उसी प्रकार निरादर या अपमान होता है जिस प्रकार झूठी हुंडियों आदि का होता है। आप केवल कागज पर लिखने से ही शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। और फिर सब से बड़ी बात यह है कि जिस प्रकार चमकने वाली सभी चीजें सोना नहीं होतीं, उसी प्रकार जिसे लोग "शान्ति" कहा करते हैं, वह सदा आवश्यक रूप से कल्याणकारक और समृद्धिवर्धक नहीं होती। आप चारों ओर एकान्त या निर्जनता उत्पन्न करके उसीको शान्ति कह सकते हैं। चेतनता का अभाव अथवा मृत्यु भी तो एक प्रकार की शान्ति ही है। आप बिलकुल गति-हीन हो सकते हैं और फिर भी उसे शान्ति कह सकते हैं। पर वह शान्ति न तो स्थायी होगी और न उससे किसी प्रकार का

विधायक कार्य ही होगा। साथ ही वह शान्ति वैसी नहीं होगी जिसकी कल्पना लोग युद्ध-काल में किया करते थे। और उसी उच्च तथा बुद्धिमता पूर्ण शान्ति के लिए हमने सैंकड़ों वर्षों से इकट्ठी की हुई अपनी शक्तियाँ और खजाने नष्ट किये थे और इतने अधिक अच्छे से अच्छे आदमियों को युद्ध-क्षेत्र में मरने के लिए भेजा था।"

डा० ई० जे० डिलन सार्वराष्ट्रीय राजनीति के बहुत बड़े ज्ञाता हैं। उन्होंने सन्धि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था वह इस प्रकार है—"पहले तो यह सोचा गया था कि सन्धि (अमेरिका की) चौदह शर्तों के अनुसार होगी अथवा सीमा सम्बन्धी सिद्धांतों पर होगी। पर इन दोनों में से एक बात के आधार पर भी सन्धि नहीं हुई। हाँ, वह एक ऐसे समझौते के आधार पर हुई है, जिस में गुण या लाभ तं दोनों में से एक के भी नहीं हैं पर दोनों की कुछ कुछ हानियाँ या दोष अवश्य हैं। यह सन्धि युद्ध के मूल पर आघात करने में असमर्थ हुई है। बल्कि हम कह सकते हैं कि युद्ध के जिन कारणों का नाश करना इसका उद्देश्य था, उन कारणों की संख्या इसने और भी बढ़ा दी है। इस सन्धि में बहुत सी ऐसी बातें आ गई हैं, जिनसे केवल गत महायुद्ध में लड़ने वाले राष्ट्रों में ही नहीं बल्कि अन्यान्य राष्ट्रों में भी आगे चलकर बहुत से झगड़े और युद्ध होंगे। और इस समय जो लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं, यदि उन पर विश्वास किया जाय तो कहा जा सकता है कि समय पाकर युद्ध के अंकुर खूब फूलें फलेंगे।"

वार्सेल्स की सन्धि के दूषित और त्रुटिपूर्ण होने का सब से प्रमाण यह है कि इसने जो सार्वराष्ट्रीय लीग या महासभा

स्थापित की है, उसके प्रति लोगों की सहानुभूति और उत्साह का बिलकुल नाश हो गया है। बहुत से लोग ऐसे हैं जिनके मन में पहले लीग के प्रति बहुत अधिक उत्साह था; जो लीग के बहुत बड़े समर्थक थे, और जिन्हें लीग से बहुत कुछ आशा थी। पर अब वही लोग यह कहने लग गये हैं कि लीग का कोई नैतिक आधार ही नहीं रहा गया। ऐसे लोगों का यह भी मत है कि यदि लीग की कार्य-प्रणाली सिद्धान्ततः ठीक भी होती, तो भी जिस आधार पर वर्तमान सन्धि की गई है, उस आधार को देखते हुए कहा जा सकता है कि लीग केवल बालू पर बना हुआ महल है। जिस लीग की स्थापना कुछ प्रबल राष्ट्रों ने लोगों को केवल धोखा देने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के ही उद्देश्य से की हो, भला उसका नैतिक आधार ही क्या हो सकता है! जिस लीग को लोग टट्टी बना कर उसकी आड़ में शिकार खेलते हों, उस पर लोगों का कहाँ तक विश्वास रह सकता है! और जिस संस्था पर किसी का विश्वास ही न हो, वह कहाँ तक स्थायी हो सकती है! हमारी इन सब बातों का प्रमाण यदि पाठक एक ही स्थान पर प्राप्त करना चाहें, तो उन्हें लीग द्वारा प्रस्तावित और जेनेवा में होने वाली अफीम सम्बन्धी दूसरी सार्वराष्ट्रीय महासभा के उस अधिवेशन की ओर ध्यान देना चाहिए जो अभी हाल में सन् १९२५ के आरंभ में हुआ था। क्या उसकी कार्रवाई देख कर कोई समझदार आदमी कह सकता है कि इंग्लैण्ड ने जिस समय संसार में अफीम की उपज कम करने का सिद्धांत स्वीकृत किया था और जिस समय वह इसके लिए कानफ्रेन्स करने के लिए तैयार हुआ था, उस समय उसका दिल बिलकुल साफ था और वह अपना कोई स्वार्थ नहीं

सिद्ध करना चाहता था ? क्या उसने ये सब बातें लोगों को केवल धोखा देने के लिए नहीं की थीं ? यदि ऐसा न होता तो उस कानफ्रेन्स में से पहले अमेरिका के प्रतिनिधियों को और फिर चीन के प्रतिनिधियों को उठ कर चले जाने की क्या आवश्यकता थी ? यदि कोई कहना चाहे तो वह यहाँ तक कह सकता है कि कुछ स्वार्थी राष्ट्रों ने पहले से ही कुछ ऐसा रूपक साधना आरम्भ कर दिया था कि जिसमें हमारे विरोधी प्रतिनिधि महासभा में से उठ कर चले जायँ और फिर हमें मनमानी कार्यवाही करने को अवसर मिल जाय। खैर।

हमारे कहने का मुख्य तात्पर्य यह है कि यूरोप इस समय बहुत ही बुरी दशा में है और उसकी दुरवस्था दिन पर दिन बढ़ती जाती है। ऊपर हमने सन्धि के सम्बन्ध में जो मत दिये हैं, वे बहुधा मित्र राष्ट्रों के पक्षपातियों के ही हैं। यदि सन्धि के सम्बन्ध में जर्मनी, आस्ट्रिया या तुर्की आदि के पक्षपातियों की सम्मतियों पर ध्यान दिया जाय, तो परिस्थिति की भयंकरता और भी बढ़ी हुई जान पड़ती है। युद्ध में जो पक्ष विजयी हुआ है, जिसने बहुत से नये प्रदेश पाये हैं, और जो बहुत सा हरजाना वसूल कर रहा है, जब वही पक्ष सन्धि से सन्तुष्ट नहीं है, तो फिर जो पक्ष पराजित हुआ है, जिसके हाथ से अनेक प्रदेश निकल गये हैं और जिसे हरजाने की बड़ी बड़ी रकमें देनी पड़ रही हैं, वह इस सन्धि से चाहे जितना असन्तुष्ट हो, थोड़ा है। ऐसी अवस्था में यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि यूरोप के राजनीतिज्ञ ऐसा निर्णय करने में नितांत असमर्थ सिद्ध हुये हैं, जो सब लोगों लिए सन्तोषजनक हो और जिसका परिणाम शुभ तथा

कल्याणकारी हो। पुरानी जटिल समस्याएँ तो ज्यों की त्यों बनी रह गईं और ऊपर से अनेक नई नई विकट समस्याएँ भी खड़ी हो गईं। यदि कोई पूछे कि इसका कारण क्या है, तो उसका यही उत्तर है कि जो पक्ष विजयी और बलवान् था, उसने केवल अपने हित को छोड़ कर और किसी बात पर ध्यान नहीं दिया और जहाँ तक हो सका, अपने विपक्षी को दबाने की ही नहीं, बल्कि पीस डालने की भी पूरी पूरी कोशिश की।

एक ओर तो महायुद्ध में पराजित पक्ष असन्तुष्ट है, और दूसरी ओर उन अधीनस्थ देशों के निवासियों का बहुत बड़ा समूह असन्तुष्ट है, जिन्हें जेता राष्ट्रों ने युद्ध-काल में बहुत बड़ी बड़ी आशाएँ दिलाई थीं और युद्ध से छुट्टी पाने पर वे जिन्हें पहले की अपेक्षा और भी अधिक निराश तथा दुःखी कर रहे हैं। विशेषतः एशिया और आफ्रिका के अधिकांश अधीनस्थ देश बहुत ही अधिक असन्तुष्ट हैं। उनके लिए अब गोरों के प्रभुत्व और भार का सहना दिन पर दिन असम्भव होता जाता है। महायुद्ध ने उन की आँखें और भी खोल दी हैं। वे यूरोप वालों की चालबाजियों से भी परिचित हो गये हैं और पराधीनता के कष्ट झेलते झेलते तंग भी आ गये हैं। वे अब स्वाधीन होने के लिए पूरा पूरा प्रयत्न करने लग गये हैं। अब गोरों के प्रति उनका वह पहले वाला भाव नहीं रह गया है। इसलिए यदि आगे चल कर फिर कभी यूरोप में कोई गृहयुद्ध छिड़ा तो कदाचित् अन्य वर्णों के लोगों से उन्हें कोई सहायता भी न मिलेगी। अब सब लोग अपना अपना घर सँभालेंगे और निरर्थक स्वामिभक्ति के लिए प्राण नहीं देने जायँगे। परन्तु फिर भी यह गोरे लड़ने से मानेंगे नहीं। और भावी युद्धों

की आशंका से ही वे अपने अधीनस्थ देशों को और भी दृढ़ता पूर्वक जकड़ने का उद्योग करेंगे। चाहे आज या पचास वर्षों के बाद परिणाम यही होगा कि अन्य वर्णों वाले तो स्वाधीन हो जायँगे और गोरों के प्रभुत्व का अन्त हो जायगा। और जब गोरों के प्रभुत्व का अन्त हो जायगा तब मानों उनकी सभ्यता का भी अन्त हो जायगा और उसके स्थान पर किसी और नई सभ्यता का आविर्भाव होगा। यही सृष्टि का क्रम है और इसी की पूर्ति में सब लोगों को सहायक होना चाहिए।

उपसंहार

(१०)

हम आरम्भ में ही यह बात कह चुके हैं कि संसार में गोरों का प्रसार दो प्रकार का है। कुछ स्थानों में तो वे जाकर बस गये हैं और कुछ स्थानों पर उन्होंने अपना शासन जमा रखा है। उत्तरी अमेरिका आदि जिन स्थानों में गोरे लोग जा कर बस गये हैं, उन स्थानों को उन्होंने मानों बिलकुल अपना देश ही बना लिया है। और भारत सरीखे देश उनके अधिकृत और अधीनस्थ हैं। पर एक कोटि इन दोनों के बीच की है। इस कोटि में दक्षिण आफ्रिका जैसे कुछ ऐसे देश हैं जिनमें जाकर गोरे बस तो बहुत बड़ी संख्या में गये हैं, पर जहाँ के मूल निवासियों का उन्होंने अमेरिका के रक्त वर्ण वाले मूल निवासियों की भांति शिकार करके अथवा और किसी उपाय से समूल नाश नहीं कर दिया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रदेश भी हैं, जिन पर गोरों ने अपना पूरा पूरा अधिकार कर लिया है, पर जहाँ उन प्रदेशों के मूल-निवासी भी बसते हैं। ऐसे प्रदेश गोरी जातियों के संसार से इतनी दूरी पर हैं कि गोरों को अभी तक विश्वास ही नहीं है कि हमारा अधिकार इन प्रदेशों पर स्थायी रूप से बना रह सकेगा। आस्ट्रेलिया ऐसे ही प्रदेशों में से है।

हाँ, जबरदस्ती की बात दूसरी है। इसलिए अब कुछ साम्राज्यवादी ऐसे भी उत्पन्न हो गये हैं जो मन ही मन यह समझने लग गए हैं कि दूसरे देशों और जातियों पर हमारा यह अधिकार सदा नहीं बना रह सकता। यदि हम अपने इस अधिकार को स्थायी रूप देना चाहेंगे तो हमें संसार की सभी जातियों का नाश करना पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य जब तक जीवित रहेंगे, तब तक वे स्वतन्त्र होने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। पर संसार की अन्य सब जातियों का नाश करना भी सम्भव नहीं है। इसलिए वे बहुत असमंजस में पड़ गये हैं और यह सोच रहे हैं कि आगे चल कर हमें किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

यदि जर्मनी को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह बेलजियम को निगल जाय, अथवा आस्ट्रिया को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह इंग्लैड पर अपना प्रभुत्व जमावे, तो फिर इंलैएड को इस बात का क्या अधिकार है कि वह भारत या मिस्र को अपनी अधीनता में रख सके? अथवा फ्रान्स को इस बात का क्या अधिकार है कि वह एलजीरिया या कम्बोडिया को अपने शासन में रख सके? जब साम्राज्यवादी इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं दे सके, तब उनकी सहायता के लिए कुछ वैज्ञानिक साम्राज्यवादी उत्पन्न हो गए। वे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे कि संसार में केवल बलवान् ही रहते हैं और निर्बल या अशक्त नष्ट हो जाते हैं। यदि हम भी निर्बलों और अशक्तों का नाश कर दें तो मानों एक प्रकार से प्रकृति के काम में सहायक होंगे। यह "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले सिद्धान्त का वैज्ञानिक रूप है, और केवल वैज्ञानिक होने के ही कारण उस

विचार से न सही तो अपने कल्याण के विचार से ही सही, इन लोगों के अधिकारों का पूरा-पूरा आदर करना चाहिए और अपने मस्तिष्क में से यह भ्रम-पूर्ण विचार निकाल देना चाहिए कि ईश्वर ने सारे संसार पर शासन करने के लिए केवल हमारी ही सृष्टि की है—अन्य सब जातियाँ हमारी दासता के लिए उत्पन्न की गई हैं। यदि वे इस सत्य सिद्धान्त को समझने में किसी प्रकार की आना-कानी करेंगे, तो अन्त में स्वयं प्रकृति ही उनका दिमाग ठिकाने ले आवेगी। क्योंकि वे इस समय जो अपराध कर रहे हैं, वह प्रकृति और ईश्वर की दृष्टि में कभी क्षम्य नहीं हो सकता। पर एक बात और है। गोरों का तो इस अपराध से बचना कर्तव्य है ही। साथ ही अन्य वर्णवालों का भी यह कर्तव्य है कि वे स्वयं बलवान् बन-कर अपने घर का आप ही प्रबन्ध करके गोरों को इस अपराध से बचने में सहायता दें। लोग कहते हैं कि दुर्बल होना भी एक अपराध है और भारी अपराध है। यह कथन चाहे और किसी दृष्टि से ठीक हो और चाहे न हो, पर इस दृष्टि से अवश्य ठीक है कि एक पक्ष की दुर्बलता ही दूसरे पक्ष को उसपर अन्याय और अत्याचार करने के लिए उत्तेजित करती है। यदि एक ओर अत्याचार करने के लिए गोरे अपराधी हैं, तो दूसरी ओर अत्या-चार सहने के कारण अन्य वर्णों के लोग भी अपराधी हैं। और फलतः दोनों ही दंड के भागी भी हैं।

यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्य की स्थिति उसकी योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप ही हुआ करती है। जो जाति स्वतंत्र होने के योग्य बन जाती है, वह फिर कभी किसी प्रकार परतंत्र रह ही नहीं सकती। गोरों ने अपने आपको शासक

करो । पर हमारी समझ में ये सभी बातें आवश्यक होने पर भी गौण ही हैं । स्वतंत्र होने के लिए सब से पहले इस बात की आवश्यकता है कि सब लोगों में स्वतंत्र होने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो । जब किसी जाति के प्रत्येक मनुष्य में स्वतंत्र होने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जायगी, तब फिर कभी कोई शक्ति उसे परतंत्र न रख सकेगी । और फिर जब वह जाति स्वतंत्र हो जायगी, तब अन्यान्य ऊपरी और आवश्यक बातें धीरे धीरे उसमें आप ही आ जायँगी ।

एशिया में मुख्यतः धूसर और पीत इन्हीं दो वर्णों के लोग बसते हैं और गोरों को सब से अधिक इन्हीं दोनों वर्णों के लोगों से खटका है । इन दोनों वर्णों की जन-संख्या भी बहुत अधिक है। वे समझते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि ये दोनों वर्णों के लोग मिलकर एशिया में हमारे प्रभुत्व के विरुद्ध शस्त्र उठावें । पर उन्हें इस बात की आशंका नहीं होनी चाहिए; क्योंकि अभी इन लोगों में वह शक्ति आने में बहुत विलम्ब है जिससे वे रण-क्षेत्र में जम कर कुछ दिनों तक लड़ सकें । हमारा विश्वास है कि वह समय आने से बहुत पहले ही संसार का रंग बिलकुल बदल जायगा और एशिया वालों को गोरों के विरुद्ध कम से कम शस्त्र उठाने की आवश्यकता ही न पड़ेगी । हाँ यह अवश्य हो सकता है कि ये लोग मिलकर इतना प्रबल आन्दोलन करें कि गोरों को विवश हो कर एशिया पर से अपना शासन उठा लेना पड़े । और कदाचित् यही बात होगी भी । गोरी जातियाँ प्रायः यह कहा करती हैं कि हम तो अपनी शासित जातियों के संरक्षक मात्र हैं । ज्यों ही ये जातियाँ अपने पैरों आप खड़ी होने के योग्य हो जायँगी, त्यों

ही हम उन पर से अपना शासन उठा लेंगे। पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो गोरों के इस प्रकार के कथनों का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। गोरों ने प्रायः आर्थिक दृष्टि से लाभदायक समझ कर ही संसार के अन्यान्य देशों पर अधिकार जमा रखा है। और वे यह लाभ यथा साध्य चरम सीमा तक उठा कर ही दम लेंगे। किसी अधीनस्थ देश के निवासी को कभी यह आशा नहीं करनी चाहिए कि हमारे गोरे शासक किसी न किसी समय शासन की बागडोर आप ही हमारे हाथ में सौंप कर अपने घर चले जायँगे। गोरों के हाथ से अपना अधिकार छीनने के लिए पराधीन जातियों को अनेक प्रकार के प्रबल उद्योग करने पड़ेंगे और साथ ही अनेक प्रकार के कष्ट भी सहने पड़ेंगे। पराधीनों को यह उद्योग करने और कष्ट सहने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

गोरों को अन्य वर्णों के लोगों से दूसरा खटका यह है कि वे शीघ्र ही शिल्प तथा कला आदि के क्षेत्र से हमें बाहर निकाल देंगे। अर्थात् वे भी अपने ही देश में अपनी आवश्यकता की सभी चीजें तैयार करने लग जायँगे और उस दशा में हमारा रोजगार मारा जायगा। उनका यह भय बहुत कुछ ठीक है। पर हम तो यह कहेंगे कि संसार की सभी जातियों के कल्याण की दृष्टि से इससे बढ़कर और कोई बात ही नहीं हो सकती कि सब देशों के लोग अपनी अपनी आवश्यकता की सब चीजें आप ही तैयार करने लग जायँ। यदि यह बात हो जाय तो उन थोड़े से बड़े बड़े प्रलोभनों में से एक प्रलोभन तो अवश्य नष्ट हो जाय जिसके कारण गोरे लोग प्रायः सारे संसार पर अपना अधिकार

जमा कर बैठे हुए हैं और जिसके परिणाम-स्वरूप वे अन्य वर्णों के लोगों को बिलकुल दरिद्र बना कर आप परम सम्पन्न बन बैठे हैं। एक गोरों को छोड़ कर अन्यान्य सभी वर्णों के लोग दिन पर दिन बराबर दरिद्र होते जा रहे हैं। सब स्थानों का धन खिंच खिंच कर एक ही स्थान पर चला जा रहा है। ऐसी परिस्थिति न तो कभी वांछनीय हो सकती है और न स्थायी। यदि हम अपने महल्ले या गांव के सब लोगों का धन छीनकर उन्हें दरिद्र बना दें और उनके धन से आप धनवान् बनकर उन्हीं के बीच में भारी महल बना कर ठाठ बाठ से रहने लगे, तो मानों हम प्रकारान्तर से उन लोगों को इस बात के लिए विवश और उत्तजित करते हैं कि वे आकर हमारा घर लूट लें। गोरों से तो सहसा यह आशा की ही नहीं जा सकती कि वे इन इन बातों को समझकर दूसरों का धन हरण करनेवाली नीति बदल देंगे। इसलिए हमें स्वयं ही अपना घर सँभालने की चेष्टा में लग जाना चाहिए। गोरों के प्रभुत्व और शासन का मूल उनका व्यापार और वाणिज्य है। यदि हम व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में उनके मुकाबले में खड़े होने लग जायँगे, तो मानों उनकी एक प्रबल शक्ति का अस्त कर देंगे। जापान ने यह कार्य करना आरम्भ कर दिया है। पर चीन, भारत और फारस आदि अभी इन बातों में बहुत पीछे हैं। यह क्षेत्र ऐसा है जिसमें हमें राज-नीतिक क्षेत्र के समान ही तत्परता और दृढ़ता पूर्वक कार्य करना चाहिए।

एशिया की दरिद्रता और पराधीनता दोनों का कारण यही है कि गोरों ने एशियावालों के वाणिज्य-व्यापार का बिलकुल नाश

गोरों की संख्या तो बहुत कम और बसने योग्य जमीन बहुत अधिक है। गोरे यह चाहते हैं कि इस प्रकार के देश सदा हमारे हाथ में ही बने रहें। यदि हम इस समय उन्हें पूरी तरह बसा नहीं सकते हैं, तो न सही आगे चलकर वह खाली जमीन हमारी सन्तान के काम आवेगी। अपनी भावी सन्तान के सुख का ध्यान रखना कुछ बुरा नहीं है। पर उसके साथ ही दूसरों को जीने न देना भी कोई अच्छी बात नहीं है। पीत वर्ण के कुछ लोग आस्ट्रेलिया, कनाडा और कैलिफोर्निया आदि देशों में जा कर बसने लग गये हैं जिसके कारण गोरों ने हाहाकार मचाना आरम्भ कर दिया है। कैसी अच्छी नीति है कि गोरे लोग अन्य वर्णों के लोगों को न तो उनके देश में ही रहने देना चाहते हैं। और न संसार की खाली और गैर-आबाद जमीन में ही बसने देना चाहते हैं। यह प्रश्न बहुत जटिल है और इसके इतने अधिक अंग हैं कि यदि उन सब का पूरा पूरा विचार किया जाय, तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है। इस प्रश्न का निपटारा भी सहज में नहीं हो सकता। निपटारे के केवल दो ही उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि गोरे कुछ समझदारी से काम लेकर सहनशील बन जायँ, और दूसरों को भी जीवित रहने का अवसर दें। और दूसरा उपाय यह है कि इस प्रकार के खाली प्रदेशों के लिए गोरों तथा अन्य वर्णों के लोगों में भीषण युद्ध हो। पहला उपाय जितना ही सात्विक और न्यायपूर्ण है, गोरों की प्रवृत्ति देखते हुए वह उतना ही असम्भव भी जान पड़ता है। आजकल की गोरी सभ्यता ही ऐसी है, जो सहनशीलता को अपने जीवन के लिए विष समझती है और स्वार्थ-साधन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानती है। यह तो एक दुःख की

लिए कुछ लोग हब्शियों को ईसाई बना लेने का विचार कर रहे हैं। उनमें से बहुत से लोग तो ईसाई बन भी चुके हैं। पर केवल धर्मपरिवर्तन से ही सारी कठिनाइयाँ दूर नहीं हो सकतीं। यदि हम यह बात मान भी लें कि सारे हब्शी ईसाई हो जायँगे और इस प्रकार मुसलमानों के हाथ से निकल जायँगे, तो भी परिस्थि-को विकटता बनी ही रह जायगी। मान लीजिए कि सारा हब्शी संसार ईसाई हो गया। पर यदि उस पर गोरों का वैसा ही प्रभुत्व बना रहा जैसा कि इस समय भारत अथवा अन्य देशों पर है, तो क्या वे केवल ईसाई होने के कारण ही गोरों के विरुद्ध किसी प्रकार का आन्दोलन न करेंगे? इसलिए उनका केवल ईसाई हो जाना ही शांति का सूचक नहीं हो सकता। शांति के मार्ग तो कुछ और ही हैं जिनसे गोरों ने सारे संसार को बहुत दूर जा पटका है।

प्रश्न यह है कि क्या कभी सारे संसार में स्थायी शान्ति हो सकेगी अथवा उसमें इसी प्रकार सदा अशांति और असन्तोष का राज्य बना रहेगा। विवेक तो यही कहता है कि संसार का अंतिम उद्देश्य सुख और शांति है और मनुष्य के सारे उद्योग सुख तथा शांति की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। परन्तु लक्षणों से जान पड़ता है कि वह सुख और शांति अभी बहुत दूर है जिसे लोग मानव-समाज का अंतिम उद्देश्य बतलाते हैं। कदाचित् उस सुख और शांति की प्राप्ति से पहले संसार को बहुत अधिक दुःख भोगने पड़ेंगे और भीषण अशान्ति में से होकर निकलना पड़ेगा। स्थायी सुख और शांति ऐसी चीजें नहीं हैं, जो सहज में प्राप्त हो सकें। उन्हें प्राप्त करने से पहले हमें उनका पूरा पूरा मूल्य देना पड़ेगा।

और वह मूल्य कदाचित् रक्तपात के रूप में होगा। पर यदि सब लोग अभी से यह मूल सिद्धान्त समझने लग जायँगे और सहनशीलता तथा न्यायपरायणता का परिचय दे सकेंगे, तो बहुत सम्भव है कि प्रकृति हमें वह सुख तथा शान्ति थोड़े ही मूल्य में दे दे। संसार के समस्त मनुष्यों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जिस प्रकार हमें जीवित रहने का अधिकार है, उसी प्रकार और सब लोगों को भी है। जितने ही अधिक लोग इस सिद्धान्त का पालन करेंगे, उतना ही कम मूल्य हमें सुख तथा शान्ति का देना पड़ेगा। न्यायतः सभी लोगों को अपने अपने देशों में सुख तथा स्वतन्त्रता पूर्वक रहने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि हम कोई बहाना निकाल कर इस सिद्धान्त का उल्लंघन करना चाहेंगे, तो पहले दूसरों की और बाद में अपनी हानि करेंगे। जो लोग यह चाहते हों कि सारे संसार में स्थायी शान्ति स्थापित हो, उनका पहला कर्तव्य यह होना चाहिए कि सब लोगों को सब राष्ट्रों को, सब जातियों को, सब देशोंको-सहनशील तथा न्यायपरायण बनाने का उद्योग करें। दूसरों के धन, दूसरों की सम्पत्ति तथा दूसरों की भूमि पर अधिकार कर लेने का परिणाम तो वही अशान्ति है, जिसका साम्राज्य इस समय सारे संसार में दिखलाई पड़ रहा है। यों तो इस अशान्ति का नाश करना सभी लोगों का समान रूप से कर्तव्य है, पर गोरों पर इसका उत्तरदायित्व इसलिए सबसे अधिक है कि वह इस अशान्ति के जनक हैं, और उन्हीं के हाथ में इसे दूर करने की सबसे अधिक शक्ति है। संसार के विचारशील लोग बड़ी ही उत्कंठा से देख रहे हैं कि गोरे अपने इस कर्तव्य का किस प्रकार पालन करते हैं। पर गोरों से निराश रहने के कारण

भी कम नहीं हैं। कदाचित् गोरों की संस्कृति में ऐसे तत्व ही नहीं हैं जिनसे शान्ति की सृष्टि होती हैं। वे तत्व एशिया में बसने वाली जातियों में ही पाये जाते हैं। इसलिए बहुत से विचारवान् एशिया से ही यह आशा रखते हैं कि जिस प्रकार वह पहले किसी समय सारे संसार का गुरु था, उसी प्रकार वह फिर सब का गुरु और शिक्षक बने। जब तक एशिया इस विषय में अग्रसर न होगा, तब तक इस प्रश्न की ठीक ठीक मीमांसा न हो सकेगी। ईश्वर करे, यह श्रेय एशिया ही सम्पादित करे। वह संसार से अशान्ति, अन्याय और अत्याचार का नाम मिटा दे और उनके स्थान पर शान्ति न्याय तथा प्रेम का राज्य स्थापित कर दे।

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालाएँ प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्राम संगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) ऊपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फ़ीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ही ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्य्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≡) सर्वसाधारण से ॥।)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १३२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी। प्रथम भाग पृष्ठ ३१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥|-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २३६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश-पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पार० सम्बन्ध पर आदर्श विचार-पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १३० मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥।-) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ॥) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।-)॥

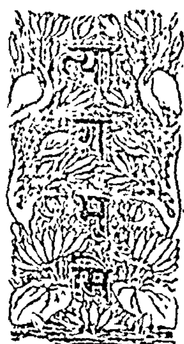
(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) मू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहकों से ।)

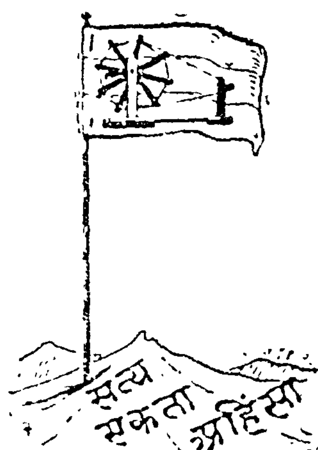
(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ ३६१ मू० ॥।=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १७६२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं



सस्ता-मण्डल से प्रकाशित पुस्तकों का हाल अन्दर पढ़िए

हाथ की कताई-बुनाई



उल्थाकार

श्री रामदास गौड एम० ए०

हाथ की कताई-बुनाई

(निबंध)



लेखक

श्री एस० वी० पुन्ताम्बेकर

और

श्री एन्. एस. वरदाचारी



उल्थाकार

श्री रामदास गौड़, एम० ए०



प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल

अजमेर



प्रथम बार]　　१९२६　　[मूल्य ॥=)

प्रकाशक—
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनका पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर जरा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नम्बर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर जरूर लिखा करें!

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी

प्रस्तावना

(भाषान्तर)

लोगों को याद होगा कि राष्ट्रीय महासभा के सहकारी कोषाध्यक्ष श्रीयुत् रेवाशङ्कर जगजीवन मेहता ने पिछले बरस के शुरू में कताई के बारे में सब से उत्तम लेख पर एक हजार रुपया इनाम देने की सूचना दी था। श्रीयुत् अम्बालाल साराभाई, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमगनलाल गाँधी और मैं निर्णायक बनाये गये थे। अड़सठ निबन्ध आये। बहुत कुछ विचार के बाद निर्णायकों ने यह निश्चय किया कि श्रीयुत् एन० एस० वरदाचारी और आज कल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस० वी० पुन्ताम्बेकर इन दोनों सज्जनों में इनाम की रकम बाँट दी जाय। दोनों इनाम पानेवालों से कहा गया कि अपने लेखों को मिला कर दोनों का एक निबन्ध तैयार करें। आज जो पोथी सर्व-साधारण की भेंट है, उन्हीं की मिलीजुली कोशिश का फल है। यह कहना कठिन है कि ऐसी कोशिश से असली निबन्धों से कितना सुधरा हुआ रूप होगा। परन्तु हाथ की कताई के भारी मैदान में जो लोग काम कर रहे हैं उन्हें अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने में इन पत्रों से बहुत कुछ सामग्री मिलेगी और अगर हाथ की कताई-बुनाई पर सन्देह करनेवालों को सोच विचार के लिये इसमें काफी सामग्री न मिली तो मुझे बड़ा आश्चर्य होगा।

लेखकों ने विशेष करके नीचे लिखे प्रस्तावों की पूरी जाँच करने की कोशिश की है।

उल्थाकार का निवेदन

भाषान्तर का काम अत्यन्त कठिन है और भारी जिम्मेदारी का। आदर्श उल्था वही समझा जाता है जिसमें मूल का भाव पूरा पूरा आवे, भाषा की सुन्दरता और शील नष्ट न हो और सहज ही समझ में भी आवे। हाथ की कताई-बुनाई का सरल हिन्दी में प्रचार अत्यन्त प्रिय होने के कारण अपनी कमजोरियों को खूब जानते हुए भी मैंने म० गाँधीजी की आज्ञा से इस काम को हाथ में लेने का साहस किया है। मूल लेखकों ने जिस सुन्दरता से परायी भाषा में लिखा है, अब भी मैं चाहता हूँ कि वैसी ही सुन्दरता से अपनी भाषा में लिख सकता। यह उल्था बहुत जल्दी हुआ है, सही, पर इसमें जो त्रुटियां हैं वह मेरी अधिक हैं, समयाभाव की कम।

मूल में अनेक जगह छापे की भूलें हैं। उल्थे में जहाँ उनको सुधारा गया है, वहाँ हिन्दी की ही छपाई की भूलें पुस्तक शीघ्रता में छपाने के कारण कहीं अधिक रह गयी हैं। शुद्धि-पत्र देख-कर पुस्तक शुद्ध कर लेने का कष्ट कम लोग उठाते हैं। इसी लिये लम्बा शुद्धि-पत्र नहीं दिया गया। भरसक अंकों में कोई भूल नहीं छूटी है।

मूल में जहाँ जहाँ ईसवी सन् हैं, उल्थे में विक्रमी संवत् कर दिया गया है। ५७ घटा देने से ईसवी सन् बन जाता है।

मूल में एक दो सारणियों को छोड़ कर प्रायः सब जगह जहाँ सोने का सिक्का पौंड था, वहाँ उसे १५) का मान कर रुपये के अंक लिखे गये हैं कि हिन्दी के पढ़नेवालों को सुभीता हो। सिक्के की बदलाई का भाव बदलता रहता है, इसलिये यह बात

यहाँ बतायी गयी है। जहाँ अंकों की कमी बेशी का केवल मिलान करना रहता है, वहाँ भँजाई के भाव की कमी बेशी से कोई हरज नहीं होता।

जहाँ टनों का प्रयोग है वहाँ उसके मन बना दिये हैं। तौल-वाला पौंड कई जगह करोड़ों की गिनती में आया है। वहाँ ४०) भर के आध सेर के बराबर पौंड की तौल मान कर उस पूरी संख्या के मन बना दिये हैं। ८०) भरकी तौल को सेर माना है और ऐसे ही ४० सेर का एक मन माना है। तौल में प्रान्तों में भी भेद है, इसीलिये यहाँ उसका उल्लेख कर दिया गया।

उल्थे में इस बात की भरसक कोशिश की गयी है कि भाषा सब तरह के लोगों को समझ में आवे और खास तौर पर उन लोगों को इसे समझने में कठिनाई न हो जो चरखासंघ में काम करते हैं।

बड़े बड़े अवतरण जो मूल में प्रस्तर के गर्भ में रखे गये थे, उल्थे में उनके भाषान्तर को अलग प्रस्तर का रूप दे दिया गया है। जहाँ कहीं जो वाक्य ज्यादा महत्व के दीखे, उन्हें भिन्न टाइप में उल्थाकार ने कर दिया है। मूल में यह भेद नहीं रखा गया था।

विभक्ति प्रत्ययों को प्रकृति से मिलाकर लिखना ही मेरे मत से शुद्ध है, और इसमें छपाई की भी किफायत है। परन्तु प्रकाशक के आग्रह से इसकी छपाई में प्रत्यय प्रकृति से अलग रखे गये हैं। मेरे ऊपर इसका दायित्व नहीं है।

बड़ी पियरी, काशी
२५ फाल्गुन, १९८३

रामदास गौड़

विषय-सूची

पहला अध्याय

हिन्द में हाथ की कताई-बुनाई का अंग्रेजों के आने के पहले का इतिहास

विषय	पृष्ठ
(१) प्रस्तावना	१३
(२) कताई का इतिहास	१४
(३) वेदों में बुनाई की चर्चा	१५
(४) कताई का रूपक	१६
(५) वैदिक युग के भाँति भाँति के पहिरावे ...	१८
(६) कताई-बुनाई की व्यवस्था	१९
(७) मजूरी पर कताई और कपड़े का प्रमाण ...	२१
(८) दीन-बन्धु चरखा	२३
(९) सूती कपड़े का व्यापार और वाणिज्य-मार्ग	२४
(१०) विदेशियों की गवाही	२८
(११) भारतीय उत्तमता के कारण	३३
(१२) मुसलमानों की संरक्षता	३४
(१३) अकबर के मरने के बाद	३५
(१४) व्यवसाय औरों के हाथ में गया... ...	३७
(१५) धुनिया कब से हुआ...	३८

विषय	पृष्ठ
(१६) युरोपवालों का संघर्ष	३९
(१७) ढाके की मलमल	४०
(१८) ढाके की सूत की कताई	४२
(१९) तैयार सूत की मात्रा और चोखाई के कुछ अंक	४६
(२०) ढाके में मलमल की बुनाई	४९
(२१) मलमल के व्यापार का गिरना	५१
(२२) भावों में भारी भेद	५३

दूसरा अध्याय

हाथ की कताई-बुनाई की बरबादी

(१) किस लालच से अंग्रेज भारत में आये ...	५५
(२) भारी मुनाफे और उस पर होहल्ला ...	५९
(३) बाधक नीति	६४
(४) अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की स्थिति	६५
(५) अत्याचार और कुशासन	६९
(६) इजारे के बल से शासन	७०
(७) कायदों के बल से अत्याचार कानूनी बनाये गये	७६
(८) कम्पनी कैसे काम करती थी	७९
(९) संवत् १८५७ से ६२ तक कताई और बुनाई	८१

विषय पृष्ठ

(१०) डाक्टर बुकानन की जाँच ८२
(११) साधारण खर्च का परिमाण ८९
(१२) दक्षिण भारत और महीशूर ९०
(१३) विदेशी कपड़ों की माँग न थी ९३
(१४) भारी बाधक कर और भारतीय माल ... ९५
(१५) संवत् १८७० से ९० तक में व्यापार की स्थिति १०३
(१६) टोलवर की नोच खसोट १०४
(१७) गुलामी का युग १०९
(१८) विलायती माल का भारत में भरा जाना ... ११५
(१९) फाब्र्स वाटसन की जाँच ११६
(२०) भारतवर्ष एक भारी गाहक हो गया ... १२०
(२१) संवत् १९२७ में मध्यप्रान्त में खद्दर ... १२२
(२३) संवत् १९२७ में बंगाल की दशा ... १२६
(२४) मद्रास में हाथ के करघे के काम पर
होड़ की प्रतिक्रिया १२७
(२५) विदेश में रुई भेजनेवाला भारतवर्ष ... १३१
(२६) 'रेलों की' ओर से धक्का १३४
(२७) रुई का निर्यात और अनाज का भाव ... १३७
(२८) गाँवों की बरबादी १३८

विषय			पृष्ठ
(१८) धंधे की आदर्श अवस्था	...	...	१८४
(१९) कताई के संगठन के बँटे रहने की जरूरत है			१८६
(२०) कातने वाले का कपास जमा करना बेकारी का बीमा है			१८८
(२१) माल की चोखाई और भाव, कपास जमा करना			१९१
(२२) रुई के काम में किफ़ायत	...	...	१९३
(२३) बारीक और मझोल नम्बरों का सुभीता		...	३९५
(२४) बारीक और मझोली कताई का मामला		...	१९६
(२५) नफे का घटता जाना और लागत का बढ़ता जाना			२००
(२६) रुई के भाव का चढ़ जाना	...	...	२०२
(२७) वेग की जाँच और मजूरी के प्रमाण		...	२०२
(२८) महीन कताई और अपनी इच्छा से कोशिश			२०४
(२९) खुले बाज़ार में बिक्री	...	...	२०६
(३०) सूत के दामों का मुकाबला	...	...	२०७
(३१) स्वेच्छा कताई ...	...	...	२०८
(३२) फुटकर बिक्रियों पर इनाम	...	...	२१०
(३३) कातनेवाले का इनाम	...	...	२११
(३४) बुननेवाले का इनाम	...	...	२१३
(३५) नकली खद्दर	...	...	२१७
(३६) व्यापारी संग्रहालय और चरखा-पीठ		...	२१९
(३७) मिलों से मिलान ...	...	...	२२१

विषय		पृष्ठ
(३८) मिलों की उन्नति	... ...	२२१
(३९) कितनी पूँजी चाहिये	... ...	२२५
(४०) वेग की भूल	... ...	२२७
(४१) मिल के व्यवसाय के आगे क्या होगा	...	२२९
(४२) खर्चे में कमी करना	... ...	२३३
(४३) खर्चों का मुकाबला	... ...	२३४
(४४) सब मिलाकर बचत	... ...	२३८
(४५) काम करनेवालों पर समाज का प्रभाव	...	२४२

चौथा अध्याय

चरखे से विदेशी कपड़े के बहिष्कार पर विचार

(१) बहिष्कार के दो रूप	... ...	२४६
(२) विदेशी आयात	... ...	२४९
(३) बहिष्कार पर कुछ आपत्तियाँ	... ...	२५३
(४) मिल या चर्खे का कार्य-क्रम	... ...	२५५
(५) खद्दर की माँग को बढ़ाना चाहिये	...	२५८
(६) कातनेवाले का कर्तव्य	... ...	२६१
(७) स्थानीय संस्थाएँ भी मदद करें	... ...	२६१
(८) उपज को किस तरह जारी रखना चाहिये	...	२६२
(९) परिणाम	... ...	२६५

खद्दर के सम्बन्ध में अनमोल उपदेश

"हमें आज ही विदेशी वस्त्रों का मोह छोड़ देना चाहिए। हमारी परतंत्रता का कारण यही विदेशी वस्त्रों का मोह है। इसी मोह के कारण आज हम इतने दीनहीन हो गये हैं। इसी मोह के कारण आज हमारे करोड़ों भाई भूखों मर रहे हैं। यही मोह अनेक दुर्भिक्षों को न्यौता दे रहा है और अनेक रोगों का पिता है जिसके कारण करोड़ों भारतीय प्रतिवर्ष मृत्यु के मुँह में जा पड़ते हैं। यही मोह हमारी तमाम विपदाओं का जनक है। शुद्ध पवित्र खादी ही धारण कीजिये. यही सब आपदाओं को हरण करेगी। यही आपके करोड़ों भाइयों को भीषण दुर्भिक्षों से बचावेगी और आपको स्वराज्य प्राप्त करा देगी।"

—"नवजीवन" ता० ९ एप्रिल १९२२

बहनें इस बात का विचार क्यों नहीं करतीं कि विदेशी कपड़ा पहिनने में कितना पाप है? महीन कपड़े बिना यदि काम नहीं चलता हो तो उन्हें महीन सूत कातना चाहिए। धर्म की रक्षा का अंश तो स्त्रियों में ही अधिक होता है। भावी सन्तान को हमें यह कहने का मौका तो हरगिज नहीं देना चाहिए कि स्त्रियों के बनाव शृंगार के बदौलत भारत को स्वराज्य मिलते मिलते रुक गया।"

—श्री० कस्तूरीबाई गान्धी

विषय				पृष्ठ
(३८) मिलों की उन्नति	...	...	...	२२१
(३९) कितनी पूँजी चाहिये		...	...	२२५
(४०) वेग की भूल	...	...	...	२२७
(४१) मिल के व्यवसाय के आगे क्या होगा			...	२२९
(४२) खर्चे में कमी करना	...	...	...	२३३
(४३) खर्चों का मुकाबला	...	...	...	३३४
(४४) सब मिलाकर बचत	...	...	...	२३८
(४५) काम करनेवालों पर समाज का प्रभाव			...	२४२

चौथा अध्याय

चरखे से विदेशी कपड़े के बहिष्कार पर विचार

(१) बहिष्कार के दो रूप	...	...	...	२४६
(२) विदेशी आयात	...	...	...	२४९
(३) बहिष्कार पर कुछ आपत्तियाँ		...	...	२५३
(४) मिल या चर्खे का कार्य-क्रम		...	...	२५५
(५) खद्दर की माँग को बढ़ाना चाहिये			...	२५८
(६) कातनेवाले का कर्तव्य		...	...	२६१
(७) स्थानीय संस्थाएँ भी मदद करें		...	...	२६१
(८) उपज को किस तरह जारी रखना चाहिये			...	२६२
(९) परिणाम	...	...	...	२६५

खद्दर के सम्बन्ध में अनमोल उपदेश

"हमें आज ही विदेशी वस्त्रों का मोह छोड़ देना चाहिए। हमारी परतंत्रता का कारण यही विदेशी वस्त्रों का मोह है। इसी मोह के कारण आज हम इतने दीनहीन हो गये हैं। इसी मोह के कारण आज हमारे करोड़ों भाई भूखों मर रहे हैं। यही मोह अनेक दुर्भिक्षों को न्यौता दे रहा है और अनेक रोगों का पिता है जिसके कारण करोड़ों भारतीय प्रतिवर्ष मृत्यु के मुँह में जा पड़ते हैं। यही मोह हमारी तमाम विपदाओं का जनक है। शुद्ध पवित्र खादी ही धारण कीजिये, यही सब आपदाओं को हरण करेगी। यही आपके करोड़ों भाइयों को भीपण दुर्भिक्षों से बचावेगी और आपको स्वराज्य प्राप्त करा देगी।"

—"नवजीवन" ता० ९ एप्रिल १९२२

बहनें इस बात का विचार क्यों नहीं करतीं कि विदेशी कपड़ा पहिनने में कितना पाप है? महीन कपड़े बिना यदि काम नहीं चलता हो तो उन्हें महीन सूत कातना चाहिए। धर्म की रक्षा का अंश तो स्त्रियों में ही अधिक होता है। भावी सन्तान को हमें यह कहने का मौका तो हरगिज नहीं देना चाहिए कि स्त्रियों के बनाव शृंगार के बदौलत भारत को स्वराज्य मिलते मिलते रुक गया।"

—श्री० कस्तूरीबाई गान्धी

लागत का ब्योरा

कागज़	... ...	४५०) रु०
छपाई	... ...	३४०) „
बाइंडिंग	... ...	६८) „
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च		५१०) „
		१३६८) रु०

कुल प्रतियाँ २०००

लागत मूल्य प्रति संख्या ।-)॥

आदर्श पुस्तक-भण्डार

हमारे यहाँ दूसरे प्रकाशकों की उत्तम, उपयोगी और चुनी हुई हिन्दी-पुस्तकें भी मिलती हैं। **गन्दे और चरित्र-नाशक उपन्यास, नाटक आदि पुस्तक हम नहीं बेचते।** हिन्दी-पुस्तकें मँगाने की जब आपको जरूरत हो तो इस मण्डल के नाम ही आर्डर भेजने के लिये हम आपसे अनुरोध करते हैं, क्योंकि बाहरी पुस्तकें भेजने में यदि हमें व्यवस्था का खर्च निकाल कर कुछ भी बचत रही तो वह मण्डल की पुस्तकें और भी सस्ती करने में लगाई जायगी।

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर

हाथ की कताई-बुनाई

हाथ की कताई-बुनाई



पहला अध्याय



हिन्द में हाथ की कताई-बुनाई का अंग्रेजों के आने के पहले का इतिहास

१. प्रस्तावना

यह बात अक्सर बिना विचारे कह दी जाया करती है कि गाँवों में करोड़ों भारतीयों का जीवन सदियों से बिना फेरफार के ज्यों का त्यों बना हुआ है। पर सच बात कुछ और ही है। पहले जो लोग खुशहाल, मेहनती और सन्तोषी थे, जो अपने अपने धंधों में बराबर लगे रहते थे, जिनमें कला और हाथ की कारीगरी का अद्भुत चमत्कार था, वही लोग मानो किसी प्रबल और भयानक शाप से धीरे धीरे बेजाने ही दरिद्रता से पिसी हुई जाति बन गये। उन्हें साल में कई महीने तक कोई धरम का धंधा न मिलने से जबरदस्ती बेकार रहना पड़ता है और नित की बढ़ती दरिद्रता और ऋण के बोझ से उठने के बेकार जतन करते रहना

हाथ की कताई-बुनाई



पहला अध्याय



हिन्द में हाथ की कताई-बुनाई का अंग्रेजों के आने के पहले का इतिहास

१. प्रस्तावना

यह बात अक्सर बिना विचारे कह दी जाया करती है कि गाँवों में करोड़ों भारतीयों का जीवन सदियों से बिना फेरफार के ज्यों का त्यों बना हुआ है। पर सच बात कुछ और ही है। पहले जो लोग खुशहाल, मेहनती और सन्तोषी थे, जो अपने अपने धंधों में बराबर लगे रहते थे, जिनमें कला और हाथ की कारीगरी का अद्भुत चमत्कार था, वही लोग मानो किसी प्रबल और भयानक शाप से धीरे धीरे बेजाने ही दरिद्रता से पिसी हुई जाति बन गये। उन्हें साल में कई महीने तक कोई धरम का धंधा न मिलने से ज़बरदस्ती बेकार रहना पड़ता है और नित की बढ़ती दरिद्रता और ऋण के बोझ से उठने के बेकार जतन करते रहना

एक से अत्यन्त बारीक और पूर्ण ब्रह्मसिद्धान्त निकले, वैसे ही दूसरे से अत्यन्त बारीक और सुन्दर कपड़े बने। जिस समय मिस्र देश ने अपने विशाल स्तूप बनाये, और बाबुल-राज हम्मुरवि ने अपना बड़ा धर्म्म-शास्त्र बनाया, उस समय भारतवर्ष कब का इस अनोखे पथ का पथिक हो चुका था। जैसे अज्ञान-छिद्र को ढकने के लिये (वेदान्ती) "तत्ववाय" ने जीवात्मा को ज्ञान की चादर उढ़ायी, उसी तरह हमारे (बुननेवाले) तन्तुवाय ने मनुष्य के नंगे शरीर को कपड़ों से ढक दिया। भारत की अमर सभ्यता और सतयुग की कथा का सार इन्हीं दोनों की जीवनी में मिलेगा,—वेदान्ती की, जो तत्त्व का गुनने वाला था और कोष्ठी की जो तन्तु का बुनने वाला था। एक सत्य का द्रष्टा था तो दूसरा सच्ची कला का स्रष्टा था। तन्तुवाय की ही उपजाऊ बुद्धि की दृढ़ नींव पर भारत की कला और व्यापार का मंदिर बना था, इस लिये हम अब उसीका इतिहास कहेंगे।

३. वेदों में बुनाई की चर्चा

यह बहुत संभव है कि बुनाई का काम कताई के पहले ही शुरू हो गया हो और शायद पहली बुनाई कपड़े की न रही हो। हम जब बुनाई के विकास पर विचार करते हैं तो सभ्यता के उषःकाल से हमें आरम्भ करना पड़ता है, पर यह बात तो निश्चय है कि मनुष्य ने जभी यह कला निकाली तभी उसे आखिरी हद को पहुँचा दिया। ताना तनने, भरनी करने और ताने के एक एक सूत को छोड़कर उठाने की जो अजब हिकमत निकाली तो ऐसी कि हज़ारों बरस बीत गये, फिर भी कोई इससे बढ़कर हिकमत

है। हमारे पुरखों के जीवन में कताई का कितना बड़ा स्थान था, यह बात नीचे के कुछ नमूने के अवतरणों से प्रकट हो जाती है। इसमें तो जरा भी शक नहीं कि कताई अत्यन्त मामूली कला थी, परन्तु तो भी उसकी गिनती पावन संस्कारों में थी। देवाधिदेव भगवान् विष्णु का नाम ही "सुतन्तुः" और "तन्तुवर्धनः" है। अग्निदेवता के आवाहन-गान में देवताओं से ऋषि की प्रार्थना है कि "प्राचीन सूत कात डालें" अच्छी तरह कते सूत के अटूट तार से मनुष्य जाति के और जीवन के भी सतत बने रहने की उपमा दी जाती है। "बराबर एक तार कतते रहनेवाले सूत की तरह (तन्तुमाततं, ऋग्वेद १०।५६।६) पितरों ने धरती पर अपनी सन्तति को छोड़कर अपनी सत्ता बना रखी है।" एक जगह इस तरह तेहरे बटे हुए डोरे की चर्चा है, "जिसे तीनों संध्याओं के महायज्ञ रूपी तेहरे सूत का कातना (तन्तुं तन्वानः त्रिवृतं) मालूम है की उसने सूर्य्य की रश्मियों को पहन रखा है" (९।८६।३२)।

सर्व साधारण में कताई बुनाई का व्यापक प्रचार था। * यह बात अथर्ववेद की इस चर्चा से सिद्ध होती है, कि विवाह के

---

* वेदों में इस सम्बन्ध के कई पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। शायद पाठकों को यह शब्दावली रुचे इसलिये यहां देते हैं। ओतु = भरनी। तन्तु = ताना। [वा = बुनना। तत् = तानना, फैलाना।] प्रवय = आगे बुनो। अपवय = पीछे बुनो। तसर = ढरकी। वेमन् = करघा। वाय = बुननेवाला। मयूख = खूंटा। तर्कु = तकुआ। सिच = किनारा। सीरी = बुननेवाला रजयित्री = रंगरेजिन। द्रापी = ओढ़ना। पांढव = बेरंगा कपड़ा। परिधान = कपड़ा। अधिवासः = ओढ़ना। पेशस = कामदार कपड़ा। प्रघात = अंचल। वायित्री = बुनकारिन। वासोवाय = बुनकार। तूष = झालर।

पहले दिन नव-वर अपनी वधू के हाथ का कता बुना कपड़ा पहनता है। बड़े कुतूहलकी बात है कि उड़ीसा के संभलपुर जिले में और आसाम में भी कई जगह आज भी यही चाल है और इन जगहों में नयी बहुओं को पहले साल तो कातने के सिवा और कोई काम ही नहीं मिलता। उसी पुरानी चाल से बची बचायी रीति है कि आज भी प्रायः सभी जगह वर को लोढ़ा, मूसल, तकली और रई से परछती हैं, मानों उसे चेताती हैं कि यही चारों घर के भीतर सुख और संतोप के आधार हैं। अब भी यही बात है और वेदों के युग में भी यही बात थी। घर के लिये सूत कातने से जीवन की पहली आवश्यकता पूरी होती थी और बड़े छोटे सबको इस कला का अभ्यास करना पड़ता था। अब की तरह तब भी ब्राह्मण अपना यज्ञोपवीत कातकर बनाता था। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा आदमी भी कताई के कर्त्तव्य से छुटकारा नहीं पा सकता था।

५. वैदिक युग के भाँति भाँति के पहिरावे

वेदों के युग और रामायण महाभारत के काल में नर नारियों में सिलाई की कला बहुत दूर तक पहुँच चुकी थी। पुरुष तीन कपड़े पहनते थे। भीतरी को नीवी कहते थे। ऊपरी कपड़े को परिधान या अधिवास कहते थे। एक और कपड़ा होता था उसे वस्त्र कहते थे। पगड़ी भी पहनी जाती थी जिसे उष्णीष कहते थे, [अथर्ववेद ८।२।१६]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक प्रकार के सुनहले कपड़े की चर्चा है। वेदों में लिखा है कि मरुद्गण जरी के कामदार कपड़े पहनते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त में [५।५५।६] "व्योममंडल की तरह देखने में विचित्र सुन्दर वस्त्र पहनना" लिखा

है। इससे स्पष्ट है कि वेदों के युग में भी अत्यन्त महीन और मृदुल विनावट और अनुपम सौन्दर्य के कपड़े जरूर बनते थे। अमीरों की बारीक धोतियाँ "प्रावार" कहलाती थीं। शरीर के ऊपर उत्तरीय पहना जाता था। स्त्रियों के लिये दो कपड़े होते थे। अन्तरीय तो साड़ी थी जो सिर से ओढ़ी जाती थी। उत्तरीय एक तरह की चादर थी जो सारे शरीर को ढकती थी। यह तो प्रकट है कि रामायण और महाभारत के युग में रेशमी ऊनी और सूती सभी तरह के भाँति भाँति के कपड़े बहुतायत से बनते थे और उनका बहुत बड़ा प्रचार था। वाल्मीकि ने लिखा है कि सीताजी के दहेज में ऊनी कपड़े, हीरे जवाहर, महीन रेशमी कपड़े, रंग विरंग के जामे, राजकीय रत्न और आभूषण और भाँति भाँति के रत्न से जड़े रथ मिले थे (बालकांड ७४।४)। महाभारत के सभापर्व के ५१ वें और ५२ वें अध्याय में दुर्य्योधन ने जहाँ राजसूय यज्ञ में भारत के विविध राजाओं की लायी हुई भेंट का वर्णन किया है वहाँ कहा है कि गुजरात के आभीर सुनहरे काम के शाल दुशाले, और उत्तम से उत्तम कम्बल लाये, कर्णाटक और महाशूर देश के लोग ऊन और कीड़ों के सूत (रेशम) के, और पट्ट के कपड़े और महीन मलमल लाये, पाण्ड्य और चोल सुनहले काम के बहुत महीन सूती कपड़े लाये। इन बातों से प्रमाणित होता है कि इतने पुराने जमाने में भी कताई बुनाई की कला खूब बढ़ चुकी थी और पूर्णता को पहुँच चुकी थी।

६. कताई-बुनाई की व्यवस्था

कताई और बुनाई का काम भी असल में घरेलू धंधा था

ने अपने नियम बना रखे थे। नारद स्मृति जैसी अत्यन्त पुरानी पोथी में दस्तकारी के आचार्यों की भी चर्चा है और आचार्य और छात्र के परस्पर सम्बन्ध के धर्म्म और कर्त्तव्य पर बहुत विस्तार से नियम दिये गये हैं।

७. मजूरी पर कताई और कपड़े का प्रमाण

देश की जनता के लिये अनाज या कपड़े खरीदने की तो कोई बात ही न थी, क्योंकि यह दोनों चीजें तो जनता आप उपजा बना लेती थी। राजा और रईस या धनीमानी शहरी ही मजूरी देकर कतवाते थे और अपने ही स्वार्थ के लिये महीन कताई की कला को प्रोत्साहन देते रहते थे। देश से बाहर माल भेजनेवाले व्यापारी मेलों में सूत मोल लेकर कपड़े बुनवा लेते थे। परन्तु हर राजा की गृहस्थी में बारीक कताई और बुनाई के लिये नियमपूर्वक एक विभाग ही चलाना पड़ता था। इस विभाग के बिना काम ही नहीं चल सकता था। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में सूत्राध्यक्ष नाम के एक भारी कर्मचारी के कर्त्तव्यों का विस्तार किया है और उसका दैनिक कार्य्यक्रम और काम दिखलाये हैं। इनमें से कई नियम तो अत्यन्त मर्मपूर्ण हैं। उनसे पता लगता है कि मजूरीपर कताई कैसे होती थी। जैसे, एक नियम में है, "कच्चे माल की अच्छाई के मुकाबले अगर कता सूत खराब निकला तो मजूरी काट ली जायगी।" इससे सिद्ध है कि हर तरह की रुई के लिये दरबार की ओर से बारीकी का प्रमाण ठहराया रहता था। उस प्रमाण से नाप में सूत अगर कम ठहरता था तो मजूरी भी हिसाब से घटा दी जाती थी। दरबार की ओर से कातने

विशेषताएं थीं। "दुकूल" नाम का मृदुल और उज्वल कपड़े के लिये वंग (बंगाल) मशहूर था। रत्न के ऊपरी तल की तरह चिकना और कोमल और एकरस वरावर और मिश्रित तानेवाने के एक तरह के काले कपड़े के लिये पांड्य* देश प्रसिद्ध था। मथुरा, अपरान्त [आधुनिक वम्बई पूना प्रदेश] कलिंग (उत्तरी सरकार, उड़ीसा के दक्खिन), काशी, वत्स (कौशाम्बी अर्थात् प्रयाग और चित्रकूट के बीच का प्रान्त), और महिष वा माहिष्मती (जो आधुनिक भड़ौच के पच्छिम सतपुरा पहाड़ियों के आस पास था) यह सब प्रदेश कपास के कपड़ों के लिये प्रसिद्ध थे। (कौटिलीय अर्थ-शास्त्र २।११)।

८. दीनवन्धु चरखा

कताई का काम तो देश में अत्यन्त साधारण काम था, इस लिये सभी जानते थे कि जब कोई काम और तरह का न मिले तो ईमानदारी के साथ किसी न किसी तरह चरखा कातकर गुजर वसर हो सकता है। दिन दुखियों दरिद्रों के लिये चरखा रोजी थी, डूबतों के लिये सहारा था। जातक की एक कहानी में अपने मरते हुए पति को स्त्री तसल्ली देती है "मैं चरखा कात लेती हूँ, किसी तरह बच्चों को पाल पोसकर बड़ा कर लूँगी, आप चिन्ता न कीजिये।" यह कितनी जबरदस्त मिसाल है। चरखे से दरिद्रता बहुत कुछ घटायी जा सकती थी। अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि सूत्राध्यक्ष का काम था कि एकदम दुर्बल दरिद्र, और अपङ्ग

*पांड्य देश आज कल त्रावणकोर (त्रिवंकुर) या केरल की रियासत के पूर्वी भाग है जिसमें मधुरा और तिरुनलवेली जिले शामिल हैं।

को, लुंजों को, घर से बाहर न निकलनेवाली दरिद्र नारियों को पेट पालने के लिये काम खोजनेवाली दरिद्र कन्याओं को और इसी तरह के मुहताजों को कताई का काम दें। इस तरह चरखा एक तरह का दीनबन्धु था। जैसा कि मनु के योग्य भाष्यकार कुल्लूक भट्ट के लिखने से जान पड़ता है, मनु के समय में भी चरखा दीन-बन्धु था। जो दरिद्र स्त्रियाँ बाहर निकलकर मजूरी नहीं कर सकती थीं और विशेषतः जो विधवाएं थीं उनके लिये मनु के मत से चरखा ही एक मात्र धंधा था जिसमें वह धरम ईमान की कमाई कर सकती थीं।

६. सूती कपड़े का व्यापार और वाणिज्य-मार्ग

जब दूसरे देशों ने सूती कपड़ों का नाम भी नहीं सुन पाया था उस काल में सारे भारत में कताई बुनाई की कला व्याप रही थी और आम तौर से लोग कातते बुनते थे। यह बात तो इतिहास से पूरी तौर से सिद्ध हो चुकी है। इतिहास कहता है कि ईसा के कई हजार बरस पहले भी बाबुल देश में भारतवर्ष के सूती कपड़े जाया करते थे। असुरिया देश के सम्बन्ध में खोज करनेवालों में डाक्टर सैस का नाम प्रसिद्ध है। वह कहते हैं कि सिन्धु नदी के आसपास के प्रदेश में रहनेवाली और आर्य्य-भाषा बोलने-वाली किसी जाति से समुद्रमार्ग से बाबुलवालों के साथ व्या-पार-सम्बन्ध जरूर था क्योंकि बाबुल की कपड़ों की एक पुरानी सूची मिली है उसमें मलमल के लिये "सिन्धु" शब्द आया है। यद्यपि मिस्टर वेन सरीखे लेखकों को इस प्रसिद्ध वाद में सन्देह है कि मिस्र की समाधियों में सुरक्षित मुरदों को भारतीय मलमल

से लपेटते थे, तो भी भारतीय सूती कपड़ों के व्यापार की प्राचीनता में बट्टा नहीं लगता। सूती कपड़ों के लिये यूनानी भाषा में जो "सिंदोन" शब्द है वह तो व्याकरण-तत्त्व से भारत के सिन्धु से ही निकला सिद्ध होता है। यूनानी में मलमल के लिये "गंगेतिका" का शब्द बताता है कि मलमल कहाँ से आता था। छींट और सादे बारीक कपड़ों के लिये युरोप में "कालिको" का व्यवहार कालीकट का पता देता है जहाँ के समुद्र तट से ऐसे माल का चलान होता था। यह शब्द बहुत व्यापक और विस्तृत व्यापार का पता देते हैं जो समुद्र-मार्ग से बराबर सैकड़ों सदियों तक इस देश से जारी था। हीरोदोतस् ईसा से कई सौ बरस पहले यूनान का प्रसिद्ध इतिहास लेखक हो गया है। इसने लिखा है कि रूई एक प्रकार का ऊन है जो भेड़ के रोएँ से अच्छी होती है। सिकन्दर बादशाह का एक सेनानी अरिष्टबुलुस था। उसने लिखा है कि कपास ऊन का पेड़ होता है। उसमें एक ढोंढ़ी फलती है, जिसके भीतर का बीज निकाल कर बाकी चीज ऊन की तरह धुन ली जाती है। सिकन्दर के अमीराल नियरकुस ने सूचना भेजी थी कि भारतवर्ष में बड़े बड़े पेड़ होते हैं जिनकी शाखाएँ भेड़ के झुंड की तरह ऊन देती हैं। इसी ऊन से भारतवासी अत्यन्त उजले कपड़े बनाते हैं। * इन बातों से यह प्रकट है कि ईसा से सदियों

* युरोप के इतिहास के मध्य युग में एक विचित्र कहानी प्रचलित थी जिसका नाम था "तातरी मेमने का पेड़" या "शाकद्वीपीय मेमना।" यह समझा जाता था कि एक पेड़ में फलियाँ लगती हैं। जब वह फूट जाती हैं तो उसके भीतर एक नन्हासा मेमना दीखता है। इन्हीं पेड़ के मेमनों के अत्यन्त उजले ऊन से ऐसे मेमनों के देशवाले लोग कपड़े और

शाम, बाबुल, ईरान, चीन, यवद्वीप, पेगू, मलक्का, यूनान, रोम और मिस्र को जाते थे। भारत के बाहर यह माल बड़े बड़े कारवानी मार्ग से, समरकन्द से, या हिन्दूकुश के दर्रों से या बुखारा या खैबर से चलकर तुर्किस्तान और तातार से होकर रूस में पहुँचता था और मिस्र में पहुँचकर वहाँ से मध्यवर्त्ती समुद्र के देशों में पहुँचता था। हिन्दुस्तान और चीन के बीच में तो नाविक व्यापार बड़ी धूम से चलता था। ब्रह्मदेश (सुवर्णभूमि) का सारा समुद्रतट चीन तक, और मलयद्वीपमाला के समुद्री किनारे, भारतीय उपनिवेशों से और नाविक पड़ावों से जटित थे और महासागरचारी पोत जो बराबर इन पूर्वी समुद्रों में चलते रहते थे, इन बन्दरों पर सुभीते से ठहरा करते थे। कुछ प्रसिद्ध बन्दरगाह और विशेष पोत-पड़ावों की चर्चा प्राचीन भारत के इतिहास में आयी है जहाँ से सूती माल देसावरों को जलमार्ग से जाया करता था। यह नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। (१) सिंधु के मुहाने पर का बर्बरिकन। (२) खलीज खम्बात (अना के या अपरान्तक के पास) (३) उज्जैन, जहाँ से भड़ौंच को बहुत तरह का माल जाया करता था। (४) पैठान और देवगिरि, कोकण प्रदेश के प्रधान महाराष्ट्रीय बाजार। (५) सुराट और नवसारी। (६) कन्याकुमारी मछलीपत्तनम्, कावेरीपत्तनम् आदि और और द्रविड़ बन्दरगाह थे जहाँ यवन आदि देसावर के व्यापारी भरे रहते थे। थोड़ी समाई के बड़े मोल के माल समुद्रमार्ग के व्यापार में विशेष रूप से उन दिनों जहाजों में भेजे जाते थे। इसमें कपड़े का सामान बहुत रहा करता होगा क्योंकि उस समय भारत की वाणिज्यलक्ष्मी का यह व्यापार कोई छोटा अंश न था।

वस्त्र-कला में भारत की कीर्ति ने और औद्योगिक रसायन में उस की बड़ी बड़ी खोज और उन्नति ने उसे पूर्व और पश्चिम के सारे बाजारों का अनेक सदियों तक स्वामी बना रखा था। उसके बन्दरगाहों में सदा व्यापारियों की भारी भीड़ रहती थी, व्यापार वहाँ सदा बढ़ती पर था और संसार में अधिक से अधिक फैलता जाता था। इन बातों को देखकर हर विदेशी यात्री जो इस देश में आता था अपने आप खुशी से इसकी जीभर प्रशंसा किया करता था।

१०. विदेशियों की गवाही

प्राचीन भारत में कताई-बुनाई का प्रचार इतने रूपों में था और ऐसी उत्तमता और वैज्ञानिक पूर्णता को यह कलाएं पहुँच चुकी थीं कि इस देश में जो ही विदेशी यात्री आता था चाहे व्यापार के लिये हो, चाहे तीर्थयात्रा आदि अन्य कामों से हो, वह यहाँ की रूई की करामात को देखकर अवाक् रह जाता था और अचरज की निगाहों से देखता था और इस देश के सूत के काम की जी खोलकर प्रशंसा लिखने को उसे लाचार होना पड़ता था। पेरिप्लुस* का रचयिता, जो संसार के वाणिज्य और व्यापार पर सब से प्राचीन प्रमाणों में गिना जाता है, अनेक तरह के भारतीय कपड़ों की चर्चा करता है और उनका "कार्पासास्" नाम देकर साधारण, उत्तम और अत्यन्त महीन प्रकारों की विवेचना करता है। वह यह भी लिखता है कि भारत में रूई गद्दों में, तकियों में

* Periplus of the Erythrean Sea.

और रजाइयों में भी भरवाते हैं। उसी (विक्रमी १८८-१९२) सदी के वीतते वीतते आर्य्यान भी आया था। उसने लिखा है कि और सभी देशों से कहीं अधिक उजले सूती कपड़े अरब के लोग भड़ौंच से लाल समुद्र में ले जाते थे और अदूली में उतारते हैं और यह भी लिखा है कि मछलीपटनम् के रंगीन थानों का वाणिज्य वड़ी धूम से चल रहा है। और यह कि हिन्दुस्तान के लोगों का पहिरावा धोती और दुपट्टा यही दो चीजें हैं, परन्तु अधिकांश वहुत चमकीला और रंग विरंगा या फुलवर के काम का अत्यन्त सुन्दर होता है। हर विदेशी के लिये भारत रुई का देश था। सूती कपड़ों के लिये रोम और रोम साम्राज्य अधिकांश भारतवर्ष का ही ग्राहक था। भारत का तय्यार माल मिश्र देश के द्वारा रोम देश में पहुँचता था। यह भारत और मिश्र देश का पारस्परिक नाविक व्यापार एक हजार वरस के लगभग जारी रहा और तभी इसका अन्त हुआ जव खलीफा उमर ने मिश्र पर विजय पायी और भारत से उसका व्यवहार वन्द कर दिया। विक्रम की पहली शताब्दी के लगभग रोमन जाति ने भारतीय सूती कपड़े को अपना राष्ट्रीय पहिरावा वनाया। रोमन लोगों ने अपनी गुण-ग्राहकता को इस हद तक पहुँचायी कि वह भारतीय मलमल के, रेशमी कपड़ों के और सुनहले कामदार वढ़िया ज़री के कपड़ों के कल्पनातीत ऊँचे दाम देते थे, जिस पर वड़े प्लैनी को वड़ा क्रोध आया। उसने इस फजूल खर्ची की घोर निन्दा की है और लिखा है कि इस अपव्यय में पचीस करोड़ के लगभग राज्य का खर्च हो जाता है।*

* रोम में रेशम, मलमल और खद्दर इतने दामों पर विकते थे कि

भारत के सूती कपड़े के नफ़े का व्यापार सदियों तक जारी रहा, क्योंकि संसार में इसके मुकाबले की कोई चीज ही न थी। गुजरात और कारामंडल के सामुद्रिक किनारों के बन्दरों से देसावरों में सूती कपड़ों की धारा सी बह रही थी। जुष्टिनियन की विधान-माला में [वि० ६०९] जहाँ उन वस्तुओं की सूची है जिन पर कर लगाया था वहाँ भारतीय सूती कपड़े भी सूची में शामिल हैं। यह तो ऐतिहासिक बात है कि दूसरे खलीफा, हज़रत उमर लत्ते लत्ते उड़ा हुआ सूती अंगा पहने उपदेश देते थे। वह बारह जगह फटा था। हज़रत अली पतला सूती अंगा पहनते थे। बात तो यह है कि हर जगह भारतीय सूती कपड़ा सभ्य समाज का पहरावा था। ईरान, इराक, छोटी एशिया, एवद्वीप और हिन्द-चीनी द्वीपमाला, कोई देश इससे बचा न था। जो जो देश कपड़े मँगवाते थे, महीन कपड़े बहुत ज्यादा पसन्द करते थे। बंगाल की मलमल एक तरह से अनूठी चीज़ थी सही, पर देश में अकेले यही महीन मृदुल और सुन्दर चीज़ न थी। और भी दूर दूर तक इसी तरह के मशहूर कपड़े थे जिनके सांचे या ठप्पे का सौंदर्य्य और मृदुलता, भांति भांति के मनोमोहक रंगों का मेल ऐसा अनुपम था कि संसार में वह अपना जोड़ नहीं रखते थे। मारकोपोलो विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया था। वह आन्ध्र देश में बननेवाले महीन से महीन तंजेब और दूसरे कीमती कपड़ों की चर्चा करते हुए लिखता है कि

सुन कर अकल दंग हो जाती है। आरीलियन के राज्य में रेशम की कीमत उसी भर सोना था। तिबेरिउस सीज़र को अन्त में कानून बनाना पड़ा कि कोई महीन पारदर्शी रेशम न पहने, क्योंकि उसका पहनना और लज्जास्पद है।

"वास्तव में वह तो मकड़ी के जाले के तारों की तरह दीखते हैं। संसार में शायद ही कोई राजा-रानी हो जो इसे पहनने को लालायित न हो।" विज़गापत्तम का पंजम, मसूला की छींट, नज़ोर का सलीमपूर और अरनी के तंजेव को देसावरों में लोग शौक से खरीदते थे। वारवोसा जिसने विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के लगभग यात्रा की थी खम्वात के वर्णन में यों कहता है कि "यह शहर सभी देशों के व्यापारियों से भरा हुआ है यहाँ दस्तकार और माल तय्यार करने वाले गुणी* फ्लांडर्स की तरह हैं। यह बहुत ही लाभदायक और उन्नत व्यापार है।" वारवोसा के आने के कोई सौ ही वरस पहले कपास के पौधे दक्खिनी युरोप में लगाये जाने लगे थे†। कुछ दिनों तक रुई से कागज़ ही बनते थे। फिर इटली के राज्यों ने ही पहले पहल उससे कपड़े वनाने की कोशिश की। वीनिस, और मीलान, फिर सक्सनी और प्रुशा ने सूती कपड़े बनाये, परन्तु यह चीजें भारतीय माल को कहाँ पा सकती थीं? भारतीय सूती कपड़ों का रोजगार और भी चमक गया और धूम से जारी रहा। अरवों ने मध्यसागर के पूर्वी तट पर फैलाया और इटलीवालों ने लीवॉट में इसका प्रचार किया। पैराडं, वारवोजा, निकोलो-कोंटी, लिनशोटन आदि यात्रियों की साक्षी से सिद्ध है कि भारत के पच्छिमी और पूर्वी सभी द्वीपों और देशों में और दक्षिण अफ्रिका के मुल्कों में भारतीय सूत का वरावर साम्राज्य रहा। सम्वत् १५६० से

---

* आधुनिक वेळजियम, हालैंड और फ्रान्स के भागों से सम्मिलित एक प्राचीन युरोपीयन देश।

† "भारत का ऋणी जापान" (What Japan Owes to

१५६५ तक बारथीमा भारत में घूमा। बंगाल की समृद्धि के बारे में कहता है कि संसार के किसी देश में इतनी रूई न होगी जितनी कि बंगाल में है। उसने लिखा है कि बान-बेल शहर से रेशमी और सूती माल से लदे हुए हर साल पचास पचास जहाज़ चला करते हैं। वेनिस का एक सौदागर सीज़र फ्रेड्रिक ६० वर्ष पीछे भारत में आया था। वह सेनटोम और पेगू के बीच हर तरह के सूती कपड़े के बहुत विस्तृत व्यापार का वर्णन करता है। यह कपड़े रंगे और छपे थे। "यह बहुत अनोखी बात है क्योंकि यह कपड़े रंग विरंग के चित्रित और सुनहले हैं और इनके रंग जितना ही धोइये उतना ही चटकीले निकलते आते हैं।" विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीतते बीतते लिनशोटेन भी भारत में आया था। वह लिखता है कि "नेग-पटनम, सेंटोम और मछलीपटनम में सूत का बड़ा ही सुन्दर सफ़ेद कपड़ा बनता है जो सभी तरह के रंगों का होता है। भाँति भाँति की बुनावट का बहुत महीन और बहुत उत्तम कामदार होता है, भारत वर्ष में इसे अधिक पहनते हैं और रेशम से इसे कहीं अधिक अच्छा समझते हैं क्योंकि यह इतना महीन और ऐसे बारीकी के काम का होता है कि इसके दाम रेशम से भी ज्यादा लगते हैं।"

इसके बाद का इसी शताब्दी का यात्री बर्नियर भी भारतीय सूती कपड़े की अनूठी बारीकी पर आश्चर्य करता है।

India) नाम के लेख में जो हिन्दू-जपानी समाज के मुखपत्र के जनवरी १९१० के अंक में छपा है, डाक्टर ताका कासू लिखते हैं कि यह बात जापान के सरकारी इतिहास में अंकित है कि ग्यारह सौ बरस पहले दो भारत-वासियों ने पहले पहल रूई का जापान में प्रवेश कराया।

उसी समय टेवर्नियर भी भारत में आया था। मालवे और बंगाल के नयनसुख की बड़ाई करते हुये टेवर्नियर कहता है कि यह इतने महीन होते हैं कि हाथ में मालूम नहीं होते और जिस घड़ी सूत कतता रहता है, मुश्किल से दिखाई पड़ता है। और और यात्रियों के वर्णनों से निकाल निकाल कर इस तरह की बड़ाइयों के हम जितने चाहें उतने अवतरण सहज ही दे सकते हैं। ये सब के सब बहुत हैं। ये एक दूसरे का समर्थन करते हैं। सबसे यही सिद्ध होता है कि भारत के सूत की कारीगरी की चोखाई कभी घटी नहीं थी बल्कि सदियों की कुशलता और दक्षता ने राष्ट्र के चरित्र के ऊपर अपनी छाप लगा दी थी और जब माउन्ट स्टुवर्ट इलिफन्स्टन ने सं० १८९७ में नीचे के शब्द लिखे थे तो केवल युगों की पुरानी साक्षी को दुहराया था। उसने लिखा कि भारत की सारी कारीगरी में सूती कपड़ा सब से अनोखा है। इसकी सुन्दरता और मृदुलता की सराहना युगों से होती आ रही है और किसी दूसरे देश में कोई कारीगर ऐसी उत्तम बुनावट और बारीकी के पास भी नहीं पहुँचा है।

११. भारतीय उत्तमता के कारण

वह क्या बात थी जिसने सूत की कारीगरी में भारतवर्ष को संसार का सिरमौर बना दिया? एक बात तो बिल्कुल साफ़ है। सबसे बड़ी बात भारत के साथ यह थी कि इसी देश में रूई पैदा होती थी और यह कच्चा माल भारतवर्ष को यथेष्ट मिलता था। एक पहले के यात्री ने भी कहा था कि भारतवर्ष में जैसे अनाज बहुत था वैसे रूई भी बहुत थी। कुटुम्ब के कुटुम्ब और जाति की जाति इस कच्चे माल पर काम करती थी, उसके

हाथों की सफ़ाई युगों की मेहनत से आई थी, बड़े उत्साह से पैदा हुई थी और बड़ी कोमलता से उसका लालन पोषण हुआ था। तभी तो इन्हीं हाथों से वह महीन कपड़े निकलते थे जिनका जोड़ मनुष्य ने कभी देखा नहीं था। यहाँ धरती इतना उपजाती थी जितनी की कल्पना हो सकती थी और सारी जाति को बारीक काम के लिये अजीब ताकत दे देती थी। भारतीय बुनकार अपने मन से लगातार हाथ की मेहनत कर सकता था। रंगने और छापने की कला में अपने को सदा निपुण बनाये रहता था। इसीसे उसने संसार के सभी बाज़ारों पर सहज ही अपनी विजय का सिक्का जमा दिया। वह ऐसी अनुकूल ऋतु में काम करता था जिसमें सभी रंग चटकीले, टिकाऊ और सुन्दर हो जाते थे और उसकी कारीगरी में अनूठी छवि आ जाती थी। उसकी मेहनत का फल भी बहुत अच्छा मिलता था। उसकी चीज़ों के बहुत दाम मिलते थे। वह हमेशा जनता से सहायता पा सकता था और जनता भी उसके काम से खुश होकर उसे ऐसा मानती थी कि समाज में उसे बहुत ऊँची जगह देती थी। जनता के शरीर को सबसे अधिक कातने और बुनने वाले सजाते थे। इसलिये राष्ट्र भी उनसे अपना गौरव मानता था।

१२. मुसलमानों की संरक्षता

जहाँ तक भारत की व्यवसाय समृद्धि का सम्बन्ध है वहाँ तक तो बादवाली मुस्लिम चढ़ाइयों और विजयों से कोई भेद नहीं पड़ा। अगर कुछ भेद समझा भी जाय तो वह यही था कि मुसलमान सम्राटों ने हिन्दुस्तान की कारीगरी को और भी सम्मान दिया। जैसे पहले के हिन्दू राजाओं ने कताई और बुनाई की कला ध्यान दिया था मुसलमान सम्राटों ने भी इन कलाओं की रक्षा

की। इसके उदाहरण वहुत हैं। एक उदाहरण यह है कि ढाके की मलमल का व्यापार प्रायः कुल हिन्दू कातनेवालों और वुनकारों के हाथ में था। इन्हें ढाके के नवाबों और दिल्ली के सम्राटों ने सम्मान दिया, इनका हौसला वढ़ाया और इन पर वड़ी कृपा करते थे और मानते थे। नवाबों और सम्राटों को ऐशआराम और शान-शौकत की चाट थी, वह देशी कलाओं को वढ़ाने और सम्मान देने में आपस में वड़ी लाग-डाट थी। दुर्भाग्य से मुगल सम्राटों के ज़माने में देश में सूत की कारीगरी कैसी थी और कितना माल वनता था इन वातों का पूरा पता देनेवाली सामग्री या अंक नहीं हैं।

१३. अकवर के मरने के वाद

"अकवर के मरने के समय भारतवर्ष की दशा" पर लिखते हुए मि० मोरलैंड ने ऐसी एक अटकल वनाने की कोशिश की है और उस समय भारतवर्ष की जो आवादी थी उसका हिसाव लगा के यह आँका है कि प्राणी पीछे उस समय केवल १२ गज़ कपड़ों की ज़रूरत होती थी। उन्होंने यह किस तरह से निष्कर्ष निकाला है इस वात पर विस्तार से विचार करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है। हमारे लिये तो यहाँ इतना ही वता देना काफ़ी होगा कि जिस विधि से उन्होंने यह अंक निकाला है वह अत्यन्त दोषपूर्ण है। जहाज पर कितने टन लदाई होती है इन्हीं अंकों से सूत के विदेशी व्यापार का अन्दाज़ा करने की कोशिश की गई है। इस तरह के हिसाव में भूल की वड़ी गुंजाइश है और वहुत कुछ मतभेद भी हो सकता है क्योंकि इस मामले में मि० मोरलैंड के लिये केवल अंग्रेजी और ओलंदेजी जहाज़ों के कागज-पत्र और वीजक मात्र ही प्रमाण थे। फिर देश के भीतर सूती

और व्यापार को देखा तो उसके मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने लिखा है*—

"यहाँ की प्रधान सम्पत्ति विशेष कर उत्तम प्रकार के रेशमी और सूती कपड़े हैं। इन्हीं से उत्तमाशा अन्तरीप से लेकर चीन तक के नर-नारी सिर से पैर तक लसे हैं। इन सब पर बढ़िया काम होता है और सूत के कपड़े भी बरफ़ की तरह से सफ़ेद होते हैं और अत्यन्त मृदुल और महीन होते हैं। उनकी सभी कारीगरी की चीज़ों में एक बात बड़े मार्के की है। वह यह है कि इतनी अच्छी कारीगरी के होते हुये भी माल सस्ता पड़ता है।"

देशावर भेजने के लिये खंभात की खाड़ी से, कारामण्डल और बंगाल के बन्दरगाहों से और सिन्धु के किनारे के मैदानों से माल का चालान होता था। पैराड के पहले जो बहुत से यात्री आये थे वह और आप भी सभी यहाँ के सूती माल के बहुत फैले हुये व्यापार को देख कर दंग हो गये थे। पीछे आने वाले यात्री बर्नियर और टेवर्नियर की भी यही दशा थी और यह तो बिना अत्युक्ति के कहा जा सकता है कि मुगल सम्राटों के राजों में बराबर यहाँ का प्रधान व्यवसाय कताई और बुनाई बड़े जोर से उन्नति करती रही।

१४. व्यवसाय औरों के हाथ में गया

उत्तर भारत के कुछ भागों में बुनाई की कला इसी समय के लगभग हिन्दुओं के हाथों से निकल कर मुसलमानों के हाथों

कालीकट—कालिको के नाम से कालीकट से बहुत महीन सूती कपड़े और भाँति भाँति के रंगे और छपे परदे आदि संसार के सभी देशों में भेजे जाते हैं। यहाँ पर सभी जातियों के लोग इकट्ठे होते हैं।

* Pyrard's Travels, Vol. II, p. 247

छोटी धुनकी से अपनी रुई आप धुन लेते थे। आज भी तो बंगाल और दक्षिण भारत में हजारों कातनेवाले छोटी धुनकी काम में लाते हैं। बड़ी धुनकी और धुनिये के अलग रोजगार का इतिहास महत्व का है और इतिहास के खोजों को चाहिये कि इसकी छानबीन करें।

१६. युरोपवालों का संघर्ष

विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूरब के देशों में और विशेष कर भारतीय बाजारों में व्यापार को हथियाने के लिये युरोप की शक्तियों में आपस का रगड़ा-झगड़ा चला। सोने के लालच से वह भारतवर्ष में और पूरब के अन्य देशों में खिंच आये। पहले तो पुर्तगाली आये, फिर ओलन्देजी और अन्त में फिरंगी* और अंग्रेज आये। उनका असली मतलब था व्यापार, और वह तुरन्त ही भारतीय बुनकारों और दूसरे कारीगरों का माल बहुत नफे के साथ देशावर भेजने लगे। ईस्ट इण्डिया कंपनी की भारतवर्ष में सूरत, हुगली, मछलीपटनम और कालीकट में जो पहले पहल कोठियाँ बनीं वह तो असल में बुनकारों की बस्तियाँ थीं। भारतीय नयनसुखों की माँग इंगलिस्तान में बराबर बढ़ती जा रही थी और संवत् १७२२ में कम्पनी के विधाताओं ने अपने भारतीय गुमाश्तों को जो चिट्ठी लिखी उसमें यह भी लिखा था कि "भारतीय नयनसुख जो तुम लोगों की ओर से आया करता है उसकी माँग इस समय अत्यन्त बढ़ी हुई है, व्यापार का ध्यान इसी खास चीज़ की तरफ़ रक्खो।" यह व्यापार एक

* फिरंगी शब्द फ्रांस के निवासियों के लिये व्यवहार में आता था। पीछे सभी युरोपवालों के लिये रूढ़ि से इस शब्द का प्रयोग होने लगा।

पाया नहीं जाता। यह इतना महीन और ऐसा कोमल होता है कि इसकी वनी चीज़ को अंगूठी के भीतर से निकाल सकते हैं। यह सूत का वना हुआ होता है और मैंने इसका एक थान देखा है।"

यह वात ढाके की मलमल के लिये ही कही जा सकती है। हज़ारों वरस से इस कला का विकास होता आया था और जव पैरार्ड वंगाल में आया था तो उसने यहभी देखा था कि कुछ कपड़े ऐसे महीन होते हैं कि जो कोई उनको पहनता है पता नहीं लगता कि पहने हुये है या नंगा है। राल्फफिच ने लिखा है कि सारे भारत में सव से महीन सूती कपड़ा ढाके के पास सोनार गाँव में वनता है। मलमल की तैयारी में कारीगर लोग ऐसा अनुपम कौशल दिखाते थे कि मुगल सम्राट् उनके काम पर मोहित थे और उनका वड़ा सम्मान और आदर करते थे। नूरजहाँ वेगम ने इस कला को खूव वढ़ाया और उसकी संरत्तता में इसका खूव नाम हुआ। सम्राटों के दरवार में जो भारी भारी मिलनेवाले आते थे उन्हें सम्राट् की ओर से जो सवसे वड़े तोहफे मिलते थे मलमल का थान होता था। टवर्नियर ने लिखा है कि "ईरान के राजदूत ने अपने वादशाह को सुरखाव के अंडे के वरावर एक नारियल का डव्वा भेंट किया जिस पर मोती जड़े थे जव वह डव्वा खोला गया तो उसमें से ६० हाथ लम्वी मलमल की पगड़ी निकली।" मलमल सभी जगह वड़ी आसानी से विकती थी और जव ईस्ट इण्डिया कंपनी के सौदागर वंगाल में आये तो वह तो इसी पर टूटे पड़ते थे। विक्रम की वर्त्तमान शताव्दी के लगते लगते तक भारत से जो माल देशावर जाता था उसमें मलमल खास चीज़ होती थी। परन्तु इसके वाद जव विदेशों की

थी इसीलिये यह "देशी" कपास भी खास तरह की होती थी। बंगाल की ओर कपासों के मुकाबले में इसके रेशे बहुत महीन और ज्यादा लम्बे होते थे तो भी आजकल के दक्खिणी द्वीप और अमेरिका की कपासों से मिलान करने पर इनके रेशे कुछ छोटे ठहरेंगे। ढाके के बुनकारों में इस रुई की एक साधारण परख यह थी कि धुलने पर यह रुई फूल आया करती थी। ढाके के कातनेवाले जिस पौधे से यह कपास लोढ़ते थे उसकी अच्छी तरह जाँच करके एक पारखी ने यह चार बातें लिखी हैं—

(१) शाखायें अधिक सीधी हैं और पत्तियों के किनारे अधिक नोकदार।

(२) सारे पौधे में लाल रंग की एक झलक है यहाँ तक कि पत्तियों की नसें और डंठल भी कम पारदर्शी हैं।

(३) जिन काण्डों पर फूल सँभले हुये हैं ज्यादा लम्बे हैं और पँखड़ियों का बाहरी किनारा कुछ सुर्खी लिये हुये है।

(४) रुई के रेशे बंगाल की ओर रुइयों के मुकाबले ज्यादा लम्बे हैं, बहुत महीन हैं और अधिक कोमल हैं।*

यह पौधा साल भर रहता था और पाँच फुट तक बढ़ता था। जब इस व्यवसाय के बहुत अच्छे दिन थे तब इसकी खेती बहुत होती थी। उस समय रेशे की तरह तरह की अच्छाइयों का ख्याल किया जाता था। डा० टेलर ने जब ढाके के बारे में लिखा उस

* आज कल गंजाम के कातनेवाले जो कपास काम में लाते हैं वह भी गंजाम ही की चीज है। इसके रेशे बहुत लंबे नहीं होते परन्तु ऊपरीतह चिकना और रेशमी होता है। वहाँ के पहाड़ी ढलुओं पर जहाँ अच्छी वर्षा होती है इसकी खेती होती है।

से अलगाने के लिये धुनकते हैं। इसके लिये बाँस की एक छोटी धनुही लेते हैं जिसमें ताँत या मूँगा रेशम की डोरी लगी होती है। बारीक से बारीक सूत के लिये जो रुई काम में आती है उसे धुनकने के पहले तूम लेते हैं। तूमने के लिये बावली मछली की दाढ़ की सूखी हड्डी काम में लाई जाती है। यह लगभग २ इंच व्यास की धनुही सी होती है जिसकी भीतरी तल के किनारे बहुत बारीक मुड़े हुए दाँतों की पाँती होती है। यह कंघी की तरह काम में लाई जाती है और इसमें से रुई के बारीक रेशे ही निकलते हैं। इस तरह तूम लेने के बाद धुनकी से धुन कर रुई को बहुत मुलायम मक्खन सा बना लिया जाता है। फिर उसे चीतल या कुचिया मछली की सूखी खाल के चिकने तल पर सावधानी से फैलाते हैं, फिर इसकी पूनियाँ बना लेते हैं और छोटे से चोंगे में रख के हाथ में पकड़कर कातते हैं। एक छोटे से बेलहरे में या छोटी टोकरी में कातने का सारा सामान रहता है। पूनियाँ, एक बहुत छोटी सी लोहे की नाज़ुक तकली, मिट्टी में जमाई हुई एक सुतुही और हाथ में कभी कभी मल लेने के लिये एक नन्हीं सी कूँड़ी या पथली में खड़िया मिट्टी का चूर्ण, यही चीजें रहती हैं। तकली एक साधारण मोटी सुई से ज्यादा मोटी नहीं होती।* लम्बाई में १० से लेकर १४ इंच तक होती है और उसके निचले सिरे के पास कच्ची मिट्टी का एक छोटा गोला लगा रहता है कि जिससे घूमने में काफी बोझल हो जाय। कातने वाली तकली को जरा तिरछे थामती है इस तरह कि उसका निचला सिरा सुतुही के भीतर पड़ जाता है और तब दहने हाथ के अँगूठे

* डाक्टर टेलर लिखते हैं कि ६० नम्बर से नीचे का मोटा सूत तकली पर नहीं कतता था बल्कि चरखे पर कता करता था।

करती थीं। जो सूत कतता था उसमें किसी तरह की कमी न होती थी और बड़े बड़े पारखियों की तो यह राय है कि विदेशों के कलों के कते सूत से यह हर तरह पर कहीं अच्छा होता था। दिल्ली के दरबार के लिये मलमल तैयार करने में जिस प्रमाण और बारीकी का सूत लगता था वह रत्ती पीछे में १५० से १६० हाथ तक का होता था। डा० टेलर लिखते हैं कि "सं० १९०३ में मेरे सामने एक भारतीय बुनकार एक लच्छा लाया था। वह बड़ी सावधानी से पीछे तौल लिया गया। हिसाब लगाया गया तो आध सेर में १५० मील लंबाई को पहुँचा।" इसका मतलब यह है कि ५०० नंबर से ऊपर का सूत था। बहुत संभव है कि पहले ज़माने में जब कला की दशा इतनी गिरी हुई नहीं थी ५०० से बहुत ऊँचे नंबर भी कतते रहे होंगे। ढाके के जिस कपास से यह सूत कता था उसके रेशे कुछ छोटे ही होंगे और पुतलीघर में कतने लायक बिल्कुल न होंगे। ढाके के सूत का वट भी मशीन से बने बारीक सूत के वट से अधिक भारी था। ढाके के सूत में चोमड़ापन और ताकत ज्यादा थी। "भारत के पहिरावे और कपड़ों की कारीगरी की रिपोर्ट" नाम के अपने ग्रन्थ में लिखते हुये मि० फार्ब्स वाटसन ढाके के सूत की अच्छाई पर एक बड़े पारखी का प्रमाण इस प्रकार देते हैं—

"यह सम्मति तीन बातों पर बिल्कुल पक्की है, पहली बात यह कि युरोप के कते महीन से महीन सूत से मुकाबला करने पर ढाके के सूत का व्यास कम है, दूसरी बात यह कि युरोप के सूत के मुकाबले ढाके के हर तागे में रेशों की गिनती अत्यन्त कम है। तीसरी बात यह कि ढाके के सूत की बारीकी

२०. ढाके में मलमल की बुनाई

जिस तरह ढाके में कातनेवाले अपने काम में होशियार थे उसी तरह ढाके के बुननेवाले भी अपने कार्य में कुशल थे। बुनाई में वह १२६ भिन्न भिन्न विधियों से काम लेते थे। डा० फार्ब्स वाटसन ने बहुत विस्तार से ताना तनने, पाई करने, माड़ी देने, धोने और कलप करने की विधियाँ दो हैं। ढाके के बुनकार सभी हिन्दू थे, बड़े फुरतीले थे, पतले डील-डौल के और कोमल ढाँचे के होते थे, बड़े परिश्रमी थे, लगातार मेहनत को सह सकते थे, इतना धीरज था कि थकते न थे और उनके स्पर्श और उँगलियों की अटकल अनुपम थी, तौल का उनका अन्दाजा अजीब था, छूकर वह काम को ऐसा समझते थे कि जिस तरह की बूटी वह चाहते थे, जिस तरह की बुनावट और जिस तरह के रूप की उत्तमता उनको इष्ट होती थी किसी थान में इन सब बातों में कभी कोई कमी न आती थी। शबनम के लिये जो माँड़ी काम में लाते थे उसमें हमेशा कुछ कजली मिला देते थे। बुनकार लोग छाँह में करघा चलाते थे। बरसात में सब से ज्यादा काम करते थे, आसाढ़, सावन और भादों के महीने उनके काम के लिये सब से अच्छे थे। इसका सबब शायद यह था कि नमी से सूत बहुत कम टूटते थे, गरमी के दिनों में करघे के नीचे पानी भरे छिछले बरतन भरे रहते थे। मलमल का एक थान मामूली तौर पर एक गज पनहे का २० गज लम्बा होता था। पहले, दूसरे या तीसरे दर्जे के हिसाब से उसकी बुनाई में १० से लेकर ६० दिन तक लगते थे। मलमल खासा या सरकारआली के सब से बारीक थान का आधा तैयार करने में ५ से ६ महीने लग जाते थे। बारीक चार-

वर्दी खाँ के यहाँ एक हिन्दू बुनकार ने बारीक मलमल का एक थान भूल से घास पर रख दिया था। यह नवाब के लिये लाया था। नवाब की गाय घास समझ कर उसे खा गई। इस अपराध पर नाराज होकर नवाब ने बुनकार को दण्ड दिया और शहर से बाहर निकलवा दिया। यह भी मशहूर है कि एक बार दरबार में बाद शाहज़ादी आई तो औरंगजेब उसे नंगी देख कर चौंक पड़ा और शाहजादी को नसीहत की। इस पर शाहजादी बोली कि मैं नंगी नहीं हूँ, मैं तो सात परत मलमल पहने हुए हूँ।

२१. मलमल के व्यापार का गिरना

मुगलों की रक्षा में यह कला अपनी पूर्णता के हद दरजे को पहुँच गई थी, परन्तु जब देश के बाज़ारों में विदेशी रद्दी और सस्ती मलमल बिकने लगी और इंग्लिस्तन में भारतीय मलमल पर सैकड़ा पीछे ७५) और ८०) रुपये का कर लगने लगा तब उस कला का अन्त हो गया। संवत् १५६५ में बारथीमा ने और संवत् १६५५ में फिच ने और संवत् १७२३ में टेवर्नियर ने भिन्न भिन्न अवसरों पर इस बात की गवाही दी है कि अरब, ईरान, मिश्र, पेगू, मलक्का, सुमात्रा और मध्यसागर पर के कई देशों से भारतवर्ष की मलमल का व्यापार बड़े जोरों से था और बहुत भारी था। संवत् १८२९ में मि० वोल्टस ने लिखा है कि नवाब अलीवर्दी खाँ के ज़माने में यह एक मामूली सी बात थी कि एक उस्ताद बुनकार व्यापारी के पास एक बारगी आठ आठ सौ थान मलमल बेचने को लाता था। सं० १८४४ में मि० डे ढाके के कलक्टर थे, उनका यह अंदाजा था कि ढाके का व्यापार एक करोड़ रुपये का है, जिसमें तीस चालीस

सं० १८९७ में निर्यात व्यापार प्रायः बन्द ही हो गया। भारतवर्ष में ही वर की खपत ढीली हो गई और कभी कभी फर्माइश पर जो थान बन जाते थे उस के सिवाय कोई थोक माल तैयार नहीं होता था। पहले तो यह दस्तूर था कि बुनकार अपने मन से माल तैयार करता था और नफे के साथ सौदागरों को बेचता था, परन्तु अब दशा बिल्कुल बदल गई थी; यहाँ तक कि सं० १९०७ में जब खास फर्माइश दी जाती थी और जब पेशगी रकम मिल जाती थी, तब बुनकार काम करना मंजूर करते थे।

२२. भावों में भारी भेद

देशी और विलायती माल के भावों में इतना भारी भेद था कि उसमें चूक नहीं हो सकती थी। १८० नंबर के सूत में तो देशी माल का भाव विदेशी भाव से चौगुना और पँचगुना पड़ जाता था, देशी माल को विलायती लाग-डाट से कितना नुकसान उठाना पड़ता था इस बात को समझने के लिये सं० १८९७ के भावों का मुकाबला करना चाहिये।

सूत का नंबर	रुपयों में सूत की तौल	डेढ़ अट्टियों की कीमत	
		अंग्रेजी	हिन्दुस्तानी
२००	१)	≡)	।।।)
१९०	१)।।।=	=)।।।	।।=)
१८०	१-)।।।	=)।।।	।=)
१७०	१=)।।।	=)।।	।-)
१६०	१।)	=)।।।	।)
१५०	१=)।।।	=)।।	≡)।।

दूसरा अध्याय

हाथ की कताई-बुनाई की बरबादी

१ किस लालच से अंग्रेज भारत में आये

अंग्रेजों के आने के पहले और उनके आने के डेढ़ शताब्दी पीछे भी सूती माल के नाते तो भारतवर्ष के हाथों में एक तरह से संसार भरके बाज़ार थे, परन्तु देश की इस कोमल कला को आर्थिक कूटनीति और लूट की भारी भुजा ने दबा लिया, युगों के ठोस उद्योग और रोजगार को कुचल डाला, और देश को विदेशी कपड़ों के सबसे बड़े मुहताज की दशा को पहुँचा दिया। जिस प्रलयकारी फेरफार से सब से बड़ा बेचने वाला बदल कर सब से बड़ा खरीदने वाला हो गया। सब से बड़ा संसार को पहनाने वाला उलट कर विदेशों से मँगा कर सब से बड़ा पहनने वाला हो गया, हम उसी दुर्घटना की व्याख्या यहाँ करना चाहते हैं। हम अभी बतला चुके हैं कि भारत की दस्तकारी के व्यापार में बेहद गुंजाइश देख कर ही फिरंगी जातियाँ भारत में आयीं। क्यों कि उस समय युरोप महाद्वीप या विलायत में कहीं भी नाम लेने लायक कोई दस्तकारी न थी जिसका वह भारत में व्यापार करते। भारतीय द्वीपों से मसाले और भारत से सूत और सूती माल दोनों से बड़ा मुनाफ़ा उठता था और बारी बारी से पुर्तगाल, डच फरासीसी और अँगरेज एक के बाद दूसरी जाति यहाँ के भारी व्यापार को हथियाने के लिये आपस में भिड़ते रहे। पूरबी बाजारों पर अपना अपना राज रखने के लिये अनेक युद्ध हुए। इनमें सब से अन्त में अंग्रेजों की ही जीत हुई। उन्होंने और जातियों को खदेड़

के बीजक में सूती माल पूरी तीस जगहों में अलग अलग चढ़ाया गया था। मँगानेवाले देशों में सूती माल की कितनी चाह थी इस बात की जरासी अटकल इससे मिलती है कि फार्स्टर ने जो English Factories (अंग्रेजी कारखाने) नाम की पोथी कई जिल्दों में लिखी है उसमें लगभग डेढ़ सौ तरह के सूती माल का उल्लेख है। उन सब को वर्ण-क्रम-सूची में दिखाया है और यह लिखा है कि इनमेंसे हर एक की जबर्दस्त मांग थी। पहले इंग्लिस्तान के लोग भारत को सोना भेजने में कुछ हिचकते थे। सर टामस रो ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के डैरेक्टरों से कहा कि भारतीय माल की मांग तो इंग्लिस्तान में बहुत कम है इसलिये अच्छा होगा कि कम्पनी अपना सूती व्यापार अधिकांश एशिया और अफ्रिका से ही रखे। पर सर टामस रो की बात जल्दी ही झूठ ठहर गयी, क्योंकि भारतीय माल की मांग बराबर तेज़ी से बढ़ती गयी। गुजरात, कारामंडल का किनारा और बंगाल, एक के बाद दूसरे बाजार को हथियाया गया। कारामंडल से तो सबसे अधिक लाभ दीखा और डचों की तरह अंग्रेज भी बहुत बरसों तक यहीं जमे रहे। सूरत से भी सूती माल का चालान बराबर बढ़ता ही गया। संवत् १६७१ में साढ़े बारह हजार थान भेजे गये और १६८२ में एक लाख पैंसठ हजार थान रवाना हुए। १६७५ में "रायल अन्न" जहाज से केवल चौदह हजार थान गये परन्तु छः बरस पीछे उसका पन्द्रह गुना माल मँगवाया गया। संवत् १६७१ में केवल साढ़े सात हजार रुपयों का सूत भेजा गया परन्तु उसकी माँग ऐसी तेज़ी से बढ़ी कि कम्पनी के नौकरों से कहा गया कि अगर तय्यार माल न मिल सके तो अटेरा, परेता या सादे लच्छों में भी जैसा ही सूत मिले

वाले माल में वारीक सूती कपड़ों की ही चाह सबसे ज्यादा है।

२—भारी मुनाफे और उसपर हो हल्ला

भारत की दस्तकारी ने अंग्रेज पहननेवालों की पसन्द को वदल दिया था। इसीलिये भारतीय माल की माँग एक तार बढ़ती चली जाती थी। यहाँ तक कि कम्पनी का व्यापार बहुत भारी हो गया और जब सब किसी ने देखा कि यह रोजगार बहुत नफे का है, तो और लोग भी निजी तौर से इसी व्यापार में लग गये और वैसे ही भारी नफे वह भी उठाने लगे। इतिहासकार कहता है कि "इङ्गलिस्तान के राज्य के पुनः स्थापन के पहले शायद ही किसी टेम्स के जहाज ने गंगा के मुहाने के दर्शन किये हों। परन्तु पुनः स्थापन के पीछे चौवीस वरसों के भीतर टेम्स के किनारे के आबाद और समृद्ध जिलों से भारत से आनेवाले सूती माल की कीमत साल में एक लाख वीस हजार से वढ़कर पैंतालीस लाख रुपये तक पहुँची। नफा इतना ज्यादा हुआ कि संवत् १७३३ में कम्पनी के हर मालिक को जितना उसका माल था उसी के बराबर माल उसे इनाम मिला और पाँच-वरसी मुनाफा वीस रुपया सैकड़ा सालाना भी मिला।" यह बात धन-लोलुपों की राल टपकाने को काफी थी। उन्होंने नयी कम्पनियाँ वनायीं, चढ़ा-ऊपरी करनेवाली व्यापार-यात्राएँ चलीं, और आपस में मिलकर षड़यंत्र रचा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को किसी तरह निकाल वाहर करना चाहिये। इंग्लिस्तान में रोजगारी चढ़ा-ऊपरी और आपस की ईर्षा से जितने झगड़े हुए उन सब का वर्णन करना हमें इष्ट नहीं है, पर हम इतना कह देना काफी समझते हैं कि विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के आरम्भ तक इंङ्गलिस्तान की सभी व्यापारी

सूती और रेशमी माल की आमद पर भारी से भारी कर लगाये गये। संवत् १७४२ में भारतीय सूती माल और भारतीय कामदार रेशम और सूत, पट, पाट आदि के अलग अलग या मिले जुले बने माल पर जो भारत से इंग्लिस्तान में जाता था दस रुपये सैकड़े कर लगाया गया। सं० १७४७ में यह कर दूना कर दिया गया। इन बाधाओं के होते हुए भी इंग्लिस्तान में भारतीय रेशमी और सूती कपड़े साधारण पहिरावा हो गये। अपने इंग्लिस्तान के इतिहास में लेकी लिखता है कि सं० १७४५ की राज्यक्रान्ति के पीछे जब रानी मेरी अपने पति के साथ इंग्लिस्तान में आयी, तो भारतीय रंगीन छपी मलमलों का बेहद शौक़ अपने साथ लायी, जिसका फल यह हुआ कि सभी वर्ग की प्रजाओं में इसकी चाट बात की बात में बढ़ गयी। यार्कशहर, विल्टशहर, नारिच और स्पिटलफील्ड के व्यापारियों और पूंजीवालों ने घोर विरोध में बड़ा हल्ला मचाया। मेकाले ने अपने इंग्लिस्तान के इतिहास में आलंकारिक भाषा में उनके मामले को संक्षेप में यों समझाया है—

"वह कहते थे कि हमारे दस्तकार शहरियों और पशु पालक किसानों के लिये तब बड़े चैन के दिन थे जब हर एक धोती, हर एक सदरी, हर एक बिछौना हमारी ही भेड़ों के रोएं का हमारे ही करघों पर का बना होता था। रानी एलिज़बेथ के राज के महलों की भीतों को सजानेवाले पुराने परदों का आज कहीं पता निशान नहीं है। जिन भलेमानसों के बाप दादों ने अंग्रेज़ी ऊन के अँग्रेज़ी हाथों से बने कपड़ों के सिवा और कोई चीज छूई न थी, उन्हें ही आज मुर्शिदाबाद की रेशमी जुर्राबों और विदेशी कपड़ों के बने कोट पतलून

पर से तरक्की करके पीठ पर चड्डी लगायी, पाँव के नीचे से उठकर कुरती के रूप में वदन में लपट गयी, यहाँ तक कि खुद रानी इस समय चीन और जापान में (चीनी रेशम और जापानी कपड़ों में) लसी हुई थीं। इतना ही नहीं, भारतीय कपड़े गुप्तघरों, शयनागारों तक में पैठ गये। परदे, गद्दे और कुरसियों तक में घुस गये, अन्त में ओढ़ना विछौना तक भारतीय नयनसुखों के सिवा और कुछ न रहा। निदान, जिन वस्तुओं से नारियों के पहरने या घरद्वार के सजाने का सम्बन्ध था उन सभी वस्तुओं में ऊन और रेशम का स्थान भारतीय सूत ने ले लिया। जितना कुछ माल भारत से खरीदा जाता है, छः में पांच भाग तो हमारे ही दामों से बनता है और यद्यपि यह दूर वाहर से लाया जाता है और वड़े मुनाफे से वेचा जाता है तो भी हमारे सस्ते से सस्ते माल से भी सस्ता पड़ता है।"

सस्ता इतना था कि विश्वास न होता था। टिकाऊ भी वेहद था। इन्हीं दो कारणों से भारतीय माल ने इंगिलस्तान के वाजार पर अपना इजारा कर लिया था। इंगिलस्तान के दस्तकारों का गुस्सा अव दव नहीं सकता था। यहाँ तक कि कोलचेस्टर में एक दिन भयानक वलवा हो गया। डीफो का कहना है कि इस वलवे में भारतीय कपड़े पहननेवाली नारियों पर वलवाई भीड़ टूट पड़ी और उनका अपमान किया। भारतीय माल के विरुद्ध जो आन्दोलन खड़ा हुआ उस पर पार्लियामेण्ट ने तुरन्त कार्रवाई की। सं० १७५७ तक में तरह तरह के कानून बनाकर इंगिलस्तान, स्काटलेण्ड और वेल्स में भारतीय कपड़ों का पहनना वन्द कर दिया।

अंग्रेजी व्यापार की होड़ न कर सकें। अंग्रेज यही चाहते थे कि भारतीय व्यापार का गला घोंट दिया जाय। अभी आगे चलकर हम यह देखेंगे कि सादे नयनसुख और मलमलों के प्रकार में से जो इन बाधाओं से बच रहे थे उनपर अत्यन्त भारी और असह्य कर लगाये गये।

४. अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की स्थिति

इन करों की जाँच करने के पहले अठारहवीं के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भारत में अंग्रेजी व्यापार और शासन की दशा का दिग्दर्शन आवश्यक है। इस काल के आरम्भ में नयनसुखों की आमद विलायत में इस प्रकार थी—

वर्ष	कितना नयनसुख आया
सं० १७५६	८,५३, ०३४ थान
सं० १७५७	९,५१, १०९ थान
सं० १७५८	८,२६, १०१ थान

इस लाभकर व्यापार से इंग्लिस्तान को बड़ा लाभ हुआ। ज्यों ज्यों समय बीतता गया वहाँ भारतीय माल की आमद पर बड़ी कष्टदायक बाधाएं लगती गयीं और सं० १८३७ से लेकर सं० १८४५ तक इन्हीं विकट बाधाओं के काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी जो माल बाहर ले जाती थी उसमें जहाँ सोना चाँदी की मालियत रु० ६६, ३५, ७००) वार्षिक औसत की और दूसरी चीजों की मालियत रु० १२, ८२, ४२०) वार्षिक औसत की थी वहाँ विलायत में आनेवाले माल की—जिसमें विशेष रूप से भारतीय नयनसुख और दूसरे कपड़े और कच्चा रेशम ही था,—

वि. संवत्	बंगाल के थान		मद्रास के थान		सूरत के थान		जोड़	
	थान	बिक्री गिन्नियों में	थान	बिक्री गिन्नियों में	थान	बिक्री गिन्नियों में	थान	बिक्री गिन्नियों में
१८२८	६०४५७९	१०७३८४१	११४७१०	२६१८९३	१३१११९८	९१३००	८५०६६५	१४२७०३४
१८२९	६२६११६०	१०३५६८६	२७३७६६	५२३०९४	१४७०२९	८७१७६	१०४६९५५	१०४५९५६
१८३०	७६१४८९	११२४४६७	१३४७८९	५०५५३३	५८१३८	६५२३१	९५४४१६	१७९५२३१
१८३१	६१६२२६	११०५२३०	२०७०८६	६४४५६३	३८३६६	५४७८८	८६१६७८	१८०४५९१
१८३२	५१७७६१	९६०२२४	१८१९५०	५८३७६५	४७४०५	६२३५५	७४७१६६	१६०६३६४
१८३३	६०७८७८	१०९०७४४	२०१५३८	५१५५५७	१८८२२	१३३०८	८३६२३८	१६१९६०९
१८३४	६५५३३२	१११४७३४	२२४१८३	४९२९२६	८३०२४	४८४६८	९६७५३९	१६५६१२८
१८३५	८०५०१०	११९४६१३	२९६१८२	४२२२१३	६१२८५	३२२०७	१६२४४७	१६४९०३३
१८३६	३३८४६५	५२४६३६	७४६७६	२०३१८६	३१५२५	१३२३०	४४४६६६	७४१०५२
१८३७	४७४७०३	९८४७६३	१७०१३०	२५७६२६	१८६०५	११३४९	६००४३८	१२५३७३८
१८३८	३०१६१७	५८२११६	९५८८८	२३३६४३	३३१४४	२३१२९	४३०६२९	८३८८८८
१८३९	४४६४८८	१०३३५५७	७२१८८	२०४१६३	३६५९७	२९४०३	५६५२७३	१२६७१२३
१८४०	४३७८०२	१०४९२२४	—	—	८२९६६	७९९४४	५२०७६८	११२९१६८
१८४१	५१६०८८	९०८३७०	४४८१०	११६८८३	३१११३०	२२६०७	५९२०२८	१०४७८६०
१८४२	७६८२८८	१४२६२५९	४५३५२	११५६३२	२६७६७	१८६९३	८४०३४७	१५६०८४७
१८४३	७६४१७३	१४५८४१६	४३२४०	९७५११	—	—	८०७४१३	१५५५९२७
१८४४	७४५४४९	११३७९३४	३८६४१	८४५९८	४१८२२	२८५६०	८२५९७२	१४३१०९२
१८४५	५९४७२८	९७८५०७	९६४५५	१९१८२६	४१८०६	२९९३७	७३२९८९	१२००२७०
१८४६	६१४८३९	९४३०९६	११२२१६	२२५१६९	४४७१५	३३३५७	७७१७७०	१२०१६२२
१८४७	८६६२८२	१४८५०८०	१२६२२१	२५३६२५	३३१३१	९६३९	१०२५६३४	१७४८३४४
१८४८	७०९५४०	११३१७१७	१४४९९६	४७५५९०	५७०८०	४४३८०	९१११६१५	१६५१६८७
१८४९	६०७३२९	११९४८७५	२४०१०८	५७७४००	२५९१०	२१०५०	८७३३४७	१७९३६२५
जोड़	१३३८०३४४	२३३८१८७०२	२८८४१०५	६९८६३९६	१०९०५२५	८२०३९१	१७३५४९७४	३११२४८८९

धन से लदे इंग्लिस्तान को लौटे हैं, जमींदारियाँ ली हैं या कम्पनी में हिस्से लिये हैं, और वहाँ अपना प्रभाव जमाकर कभी देश के हित की और कभी निरपराधों पर अत्याचार की दुहाई देकर उन्होंने न्याय का बड़ी ढिठाई से अपमान किया है।"

५. अत्याचार और कुशासन

अत्याचार और कुशासन हर जगह बढ़ रहा था। अंग्रेज कोठीवालों का हर नौकर वही अधिकार रखता था जो मालिक का था। और कोठीवालों के तो कम्पनी के ही अधिकार थे। दस्तकारों को लाचार किया जाता था कि महँगा खरीदें और सस्ता बेचें और उसपर भी बेकानूनी दंड उन पर लाद दिये जाते थे। कम्पनी का हर अदना सा नौकर लाट का सा रोब गाँठता था और कारबार के नियमों की ज़रा भी परवाह न करके बेईमानी के रोजगार से गहरा मुनाफा कमाकर धनवान बन रहा था। उस समय की दशा पर लिखते हुए मेकाले का कहना है—

"कम्पनी के नौकर का एक ही काम था कि भले बुरे किसी रोज़गार से दस बीस लाख रुपये निचोड़ ले और भारत की गर्मी से अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ने के पहले विलायत में लौट आवे और किसी लाट की बेटी से ब्याह कर ले या कार्नवाल में कोई सड़ी जमींदारी खरीद ले या सेन्ट जेम्स स्क्वायर में नाच मुजरा करावे।"

ईमान को ताक पर रख कर रोज़गार करने की धूम थी। घूस और ज़बरदस्ती बखशीश और तंग करके दस्तूरी लेना उन दिनों की चाल हो गयी थी। इसका एक उदाहरण लीजिये। जब संवत् १८१४ में मीरजाफर नवाब बनाये गये तब छोटे से

पूँजी कहते थे। कम्पनी की इसी लगाई हुई पूंजी को भरने में और कम्पनी के साथ साथ लोगों के निजी व्यापार के बढ़ने से भी भारतीय बुनकारों और व्यापारियों को भारी कष्ट हुआ। यह बात तो सही है कि हिन्दुस्तान के कुछ तरह के तन पर पहने जाने वाले नयनसुखों का जाना बन्द हो गया था तो भी मलमल, सादी छींट और बंगाल के बाफता के लिये रुकावट न थी, और जिनके लिये रुकावट भी थी, फिर फिर से भेजे जाने के लिये उनकी माँग होती थी। अंग्रेज़ी व्यापारी तो चाहते ही थे कि सूती माल के व्यापार में हमारा इजारा बना रहे और फल यह हुआ कि इजारे के पीछे पाछे जितने दोष आते हैं वह सभी दोष घहरा कर आ गिरे। सूरत में सं० १८५३ के लगभग कम्पनी के व्यापारी नौकरों की साधारण गतिविधि का भयानक वर्णन मिस्टर रिचर्ड्स ने सं० १८७० के छपे एक लेख में दिया है—

"कम्पनी की लागत पूँजी का रुपया सूरत में हद दर्जे की निठुराई और घोर अत्याचार के साथ इकट्ठा किया गया। बुनकारों को लाचार किया गया कि कम्पनी के लिये काम करने का प्रतिज्ञा पत्र लिख दें। यह प्रतिज्ञापत्र उनके बिल्कुल विरुद्ध था। वह इसे कदापि नहीं चाहते थे और कहीं कहीं तो ऐसा हुआ कि ज़बरदस्ती काम करने के बदले बुनकार ने अत्यन्त भारी दण्ड देना कबूल कर लिया। उनको ओलन्देज़, पुर्तगाली, फरासीसी और अर्बी सौदागर घटिया माल के लिये वह वह कीमतें देते थे जो बढ़िया माल के लिये भी कम्पनी नहीं देती थी। इसका फल यह हुआ कि देसावरी कोठियों के गुमाश्तों से और कम्पनी के व्यापारी कोठीवालों से हमेशा चढ़ा ऊपरी और झगड़े रहा करते थे और बुनकार भी आँख बचाते थे और माल निकाल

लत के हुक्म बराबर इस काम में लाये जाते थे कि इस तरह के मनमाने अत्याचार बेखटके किये जायँ।"

भारतवर्ष में कम्पनी के अधिकार में जो जो प्रान्त थे उन सब में इसी प्रकार का मनमाना अत्याचार फैला हुआ था। बंगाल की तो सब से बुरी दशा थी। मिस्टर वोल्ट्स का तो कहना है कि वहाँ अत्याचार एक रस भयंकरता से बराबर चलता रहा। हर बुनकार और दस्तकार भाँति भाँति के कष्टों से पीड़ा पा रहा था। कपड़े खरीदने की जो पद्धति थी उसमें छोटे मोटे अत्याचारों की तो बड़ी गुंजाइश थी। कम्पनी के एजेन्ट या बनिये अपने गुमाश्ते के साथ देहातों में जाते थे और सूबे का हाकिम जमींदार या गाँव के किसी अफसर के पास चिट्ठी या परवाना भेजता था कि कम्पनी के एजन्टों की मदद करो। वोल्टस् यों लिखता है—

"जब गुमाश्ता गाँव में या कस्बे में पहुँचता है तो अपनी कचहरी मुकर्रर कर लेता है और पियादों और हरकारों को भेजकर बुनकारों को और उनके साथ ही साथ उनके दलालों और पैकारों को भी बुलवाता है। अपने मालिक से रुपया पा लेने पर वह बुनकार से इस बात का वादा लिखवा लेता है कि हम इतना माल इतने दिन में इतने दाम पर देंगे और उन्हें थोड़ी सी रकम पेशगी दे देता है। इस बात को तो आवश्यकता ही नहीं समझी जाती कि बुनकार बेचारा कबूल कर रहा है या नहीं। कम्पनी के गुमाश्ते जो कम्पनी के लिए पूँजी उगाहने को नौकर हैं जैसा चाहते हैं वैसा कागज लिखाकर सही करा लेते हैं। गुमाश्तों की बही पर ऐसे बहुत से बुनकारों का नाम लिखा रहता है जो दूसरी जगह काम नहीं करने पाते। दलि-

गुमाश्तों को फौरन हवाले करें। जिन चीजों को वह नापसन्द करें उन्हें और किसी के हाथ बेचने की इजाज़त दे सकते हो। यह ख़याल रहे कि सिवाय उनके लोगों के ऐसे माल को तुम्हारी तरफ का कोई न खरीदे। यह मेरा कड़ा फरमान है। और इसकी अमलदरामद के लिए अपने व्यापारियों से तावान लिखवा लो।"

इस तरह का खत कम्पनी की ठगी में मदद देने के लिये नवाब की तरफ से अक्सर भिजवाये जाते थे। जब मद्रास में और प्रान्त अपने अधिकार में कर लिये गये तो वही अत्याचार वहाँ भी जारी हुआ। कई साल बाद मद्रास सरकार के नाम जब लार्ड वेलेस्ली का १९ जुलाई सन् १८१४ (सम्वत् १८७१) का मशहूर खरीदा गया, तो उसमें बड़े प्रामाणिक अधिकारों के आधार पर यह बात लिखी गयी कि "कम्पनी के व्यापार को बढ़ाने के लिए बड़ी उच्छृङ्खल चालें चली गयीं हैं, और देश के उन व्यापारियों को हानि पहुँचायी गयी है जिनको लाभ उठाने का सच्चा अधिकार था, और उनके वाणिज्य के मार्ग में कांटे बोये गये हैं। मनमाने माल लेकर मनमाने दाम लगाये गये हैं। और जब इस तरह बेईमानी करके थोड़ा दाम दिया जाता था और उसे लेने से बुनकार लोग इनकार करते थे तो उस समय उन्हीं के कमरबन्द से बांध कर उन्हें कोड़े मारे जाते थे और वे भगा दिये जाते थे।"

कम्पनी के दिये हुए दाम वाजबी से बहुत कम होते थे और बुनकार को लाचार होकर कबूल करना पड़ता था। सं० १८२७ में जो महा अकाल पड़ा उससे बंगाल और दूसरे प्रान्तों के हज़ारों घर उजड़ गये। तोभी कम्पनी के नौकरों ने अपने अत्याचार न

क़ायदा बन गया था कि अगर बुनकार किसी और के हाथ कपड़ा बेचे तो दीवानी अदालत में उस पर मुक़दमा चलाया जा सकेगा। यह भी कायदा था कि जिस किसी बुनकार के पास एक से ज्यादा करघे होंगे और एक या ज्यादह कारीगर उसके यहाँ काम करते होंगे और वह किसी कारण से लिखे हुए वादे पर माल न दे सकेगा तो हर थान के ठहराये हुए दाम पर उसे ३५) रु० सैकड़ा तावान देना पड़ेगा। बुनकार कितना ही चाहे वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता था और एक क़ायदा ऐसा बना था जिससे जमींदारों और काश्तकारों को यह हुक्म था कि किसी व्यापारी अफसर के बुनकारों के पास जाने में कोई रुकावट न डालें। इन पाशविक और तंग करनेवाली बाधाओं का मतलब यह था कि स्थानीय व्यवसायों का गला घोंट दिया जाय और वह पूरे तौर पर विदेशी व्यापारियों की मुट्ठी में आ जायँ। टामस मुनरो को बुनकारों की पीड़ा का सारा हाल मालूम था। सं० १८७० में पार्लियामेन्ट की एक कमेटी के सामने गवाही देते हुए उन्होंने कहा कि कम्पनी के नौकरों की आदत थी कि वह बुनकारों को जमा करते थे और उन पर गारद बैठा देते थे और जब तक वह कम्पनी के नौकरों के हाथ माल बेचने का इकरारनामा नहीं लिख देते थे तब तक उन्हें नहीं छोड़ते थे। बुनकार लोग इस तरह इकरारनामा लिख कर एक तरह की गुलामी में फंस जाते थे और बोल्ट्स का कहना है कि एक बार ऐसी सलाह हुई कि बुनकारों को अंग्रेज़ और ओलन्देजी सौदागरों में बाँट दिया जाय परन्तु बुनकारों के सौभाग्य से इस तरह से खुली और निर्लज्ज गुलामों की बांट को कम्पनी के डैरेक्टरों ने पसन्द नहीं किया। इस तरह की

क़ायदा बन गया था कि अगर बुनकार किसी और के हाथ कपड़ा बेचे तो दीवानी अदालत में उस पर मुक़दमा चलाया जा सकेगा। यह भी कायदा था कि जिस किसी बुनकार के पास एक से ज़्यादा करघे होंगे और एक या ज़्यादह कारीगर उसके यहाँ काम करते होंगे और वह किसी कारण से लिखे हुए वादे पर माल न दे सकेगा तो हर थान के ठहराये हुए दाम पर उसे ३५) रु० सैकड़ा तावान देना पड़ेगा। बुनकार कितना ही चाहे वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता था और एक क़ायदा ऐसा बना था जिससे ज़मीन्दारों और काश्तकारों को यह हुक्म था कि किसी व्यापारी अफसर के बुनकारों के पास जाने में कोई रुकावट न डालें। इन पाशविक और तंग करनेवाली बाधाओं का मतलब यह था कि स्थानीय व्यवसायों का गला घोंट दिया जाय और वह पूरे तौर पर विदेशी व्यापारियों की मुट्ठी में आ जायँ। टामस मुनरो को बुनकारों की पीड़ा का सारा हाल मालूम था। सं० १८७० में पार्लियामेन्ट की एक कमेटी के सामने गवाही देते हुए उन्होंने कहा कि कम्पनी के नौकरों की आदत थी कि वह बुनकारों को जमा करते थे और उन पर गारद बैठा देते थे और जब तक वह कम्पनी के नौकरों के हाथ माल बेचने का इकरारनामा नहीं लिख देते थे तब तक उन्हें नहीं छोड़ते थे। बुनकार लोग इस तरह इकरारनामा लिख कर एक तरह की गुलामी में फंस जाते थे और बोल्ट्स का कहना है कि एक बार ऐसी सलाह हुई कि बुनकारों को अँग्रेज़ और ओलन्देजी सौदागरों में बाँट दिया जाय परन्तु बुनकारों के सौभाग्य से इस तरह से खुली और निर्लज्ज गुलामों की बांट को कम्पनी के डैरेक्टरों ने पसन्द नहीं किया। इस तरह की

विश्वास योग्य लीखी हुई गवाही बराबर मिलती है कि बुनकारों पर आये दिन भारी दंड लगा करते थे, भारी तावान लिये जाते थे और कोड़े भी लगाये जाते थे। कभी कभी काठ में ठोंक दिये जाते थे और कभी बेड़ियाँ पहनाकर सड़कों पर घुमा कर उन की बेइज्ज़ती की जाती थी। उनके ऊपर बेजा जुर्माने होते थे और उन्हें वसूल करने के लिये बर्तन छीन लिए जाते थे। और यह सजाएँ अकसर इस अपराध पर भी दी जाती थीं कि उन्होंने कम्पनी के एजेन्टों को छोड़ कर औरों के हाथ माल बचने का साहस किया। बोल्ट्स इन बातों से घबरा कर लिखता है—

"देश में बुनकारों की संख्या बहुत घट गयी है उसके कारण क्या हैं ? तरह तरह के असंख्य विधियों से कम्पनी के एजेन्ट और गुमाश्ते इस देश में उन पर अत्याचार करते हैं। जुर्माने होते हैं, कैद होती है, कोड़े मारे जाते हैं, और उन से ज़बरदस्ती इकरारनामे लिखाये जाते हैं। कम्पनी के हिन्दुस्तानी बज़ाजों के साथ भी कोई अच्छा बर्ताव नहीं होता था। उन्हें कम्पनी के ही दामों पर युरोप की बनात लाचार हो खरीदनी पड़ती थी और यद्यपि देश में उसकी बिक्री सहज नहीं थी तो भी उन्हें बाजार में लाना पड़ता था।"

"Madras in the olden days." 'पुराने समय में मद्रास' नाम की पुस्तक में टालब्वाय जे. व्हीलर ने भिन्न भिन्न स्थानों में दिखाया है कि कम्पनी के बजाज अकसर बुला लिये जाते और उन्हें भारी भारी तवानों की धमकी दी जाती थी। तब लाचार होकर ऐसे भारी इकरारनामे लिख देते थे जिनका

वह पूरा नहीं कर सकते थे ।* देश में जिस तिस विधि से कम्पनी को लाभ पहुँचाने के लिये सब तरह के दबाव का पूरे तौर पर प्रयोग किया जाता था ।

८. कम्पनी कैसे काम करती थी

ऊपर जो बातें हमने विस्तार पूर्वक दिखायी हैं उनसे इस बात की एक झलक मिल जाती है कि अपने और अपने पड़ोसी देशों में सूती माल के भीतरी और बाहरी व्यापार का पूरा इजारा अपने हाथ में कर लेने के लिये कम्पनी ने क्या क्या उपाय किये थे । उनका सारांश यह है—

(१) जहाँ कम्पनी के गुमाश्ते देश में तमाम फैले हुए थे और अनगिनत अत्याचार कर रहे थे वहाँ और व्यापारियों को कड़ी मनाही भी थी कि गवर्नर के परवाने के बिना वह देश के अन्दर कोई माल खरीदने या बेचने के लिये गुमाश्ते न भेजें ।

(२) बुनकारों से कम्पनी के गुमाश्ते जो मुचलके लिखवा लेते थे उनसे उन बेचारों को लाचार हो कर कम्पनी के नौकरों के मुँहबोले दाम पर माल दे देना पड़ता था । उनके लिये कोई दूसरा निकास न था ।

---

* मार्च सन् १७६२ के एक खत में बंगाल के नवाब ने यह शिकायत की है कि कम्पनी के एजेन्ट रिआया और बनियों के माल और सामान जबरदस्ती उठा ले जाते हैं और उनके लागत की चौथाई की कीमत भी मुश्किल से देते हैं और अपने माल का जो एक रुपये की भी कीमत का नहीं होता मारपीट कर और तंग कर के रिआया से पाँच पाँच रुपये वसूल करते हैं ।

(३) बुनकारों से तावान लिये जाते थे। उन पर जुर्माने होते थे, कोड़े लगते थे और तरह तरह के दंड दिये जाते थे।

(४) निजी व्यापार करनेवाले सौदागरों और बुनकारों के माल जबरदस्ती छीन लिये जाते थे।

(५) देश के भीतरी व्यापार पर जो साधारण व्यापारी करते थे बहुत भारी आयात और निर्यात कर लगाये गये।

(६) इन सब बातों का फल यह हुआ कि वर्षों तक देश की दस्तकारी बड़े कष्टदायक दबावों से तंग आ गयी और बहुत थोड़ी मंजूरी पर बुनकारों को लाचार होकर एक मात्र कम्पनी के ही लिए काम करना पड़ा। वह अक्सर अपना काम छोड़ देते थे और रोटी के लिए जोखिम के धन्धे उठा लेते थे। इसके अनेक उदाहरण हैं। एक यही सुनिए। मिस्टर बोल्ट्स की गवाही है कि जंगलकाड़ी के चारों ओर के जिलों में से बुनकारों के ७०० परिवारों ने अपने अपने गाँव तुरन्त छोड़ दिये और अपना बुनकारी का धन्धा भी त्याग दिया क्योंकि उनके जिले में अत्याचार शुरू हो रहे थे। बोल्ट्स ने यह भी लिखा है कि कच्चे रेशम के परेतनेवालों ने जो "नागाओद" कहलाते थे इस डर से कि कहीं हम से जबरदस्ती काम न लिया जाय अपने अँगूठे काट डाले। बंगाल में जहाँ व्यापार भारी और विस्तृत था वहाँ अत्याचारों के परिणाम भी भयानक थे। हरी वरेलेस्ट उस समय बंगाल के गवर्नर थे। वह अपने १७ मार्च सन् १७६७ के पत्र में लिखते हैं कि " आजकल बुनकार बहुत ो गये हैं। यह बात बहुत असाधारण है। यह तो ठीक हा जा सकता कि देश जो पिछली विपत्ति में पड़ा हुआ

था वह कारण है या भारतवर्ष के बन्दरगाहों पर साधारणतया व्यापार मन्दा हो गया है वह कारण है। परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कपड़े बनानेवालों की एक बड़ी संख्या ने अपना रोजगार छोड़ दिया है और किसी कम जोखिम के रोजगार से अपना पेट पालने लगे हैं।

इस तरह अत्याचार के बढ़ने से बहुत से बाज़ार बरबाद हो गये और ज़ुल्म का यह फल हुआ कि देश के कई भागों में देशी उद्योग धन्धा बिलकुल चौपट हो गया।

९. संवत् १८५७ से ६२ तक कताई और बुनाई

इतने पर भी भारतवर्ष का ठोस धन्धा कताई और बुनाई का काम जारी रहा। देश के कुछ भागों में तो यह काम घटने के बदले बड़ी धूम से और सफलता से चलता रहा। सम्वत् १८३९ में जेनरल ओर्म ने अपनी आँखों देखी बातें लिखी हैं कि "कारा मंडल के समुद्री किनारे पर और बंगाल के प्रान्त में भी पक्की सड़क या पेड़ोंवालों कस्बों से कुछ दूर ऐसा कोई गावँ मिलना मुशकिल था जिसमें हर नर नारी और बच्चा कपड़ा बनाने के काम में न लगा हो। उत्तरी और दक्षिणी सरकार का सब से अधिक भाग अकेले इसी काम में लगा हुआ है। यह भी बड़ाई की बात है कि हर ज़िले में एक विशेष ही ढंग का कपड़ा तैयार होता है जिस पर उस ज़िले की अनूठी कारीगरी की छाप है। ऐसी दक्षता अनेक शताब्दियों की परम्परा से परिवारों में चली आ रही है। तभी तो जो चीज़ तैयार करते हैं अपना जोड़ नहीं रखती। हिन्दुस्तान के आधे निवासियों के जीवन का एक भाग सूत की दस्तकारी है और इसमें सन्देह ही क्या है कि आदमी के लिये कातने और बुनने से हलका

काम और कोई हो ही नहीं सकता और इस देश में ऐसे असंख्य लोग हैं जो दूसरा कोई काम करते ही नहीं। बुनकार खुले मैदान अपना काम करते हैं और सूत की दस्तकारी सब लोगों को इसीलिए सब से ज़्यादह पसन्द है कि करघे के काम में घरवाली और बाल बच्चे बुनकार की सभी मदद करते हैं। हिन्दुओं में बुनकार या कोष्टी कोई नीच जाति का आदमी नहीं समझा जाता। वह लोहार, बढ़ई, सुनार आदि कारीगरों से ऊपर और कायस्थों से नीचे समझे जाते हैं और अगर वह अपने रोजगार से बाहर का कोई धन्धा थाम ले तो अजाती कर दिया जाय।"

रोजगार की हैसियत से कपड़े बीनना जहाँ बड़े आदर से देखा जाता था और बहुत सफल था वहाँ कताई का काम भी उसी तरह घर घर फैला हुआ था और सभी जाति और बिरादरी के लोग चरखा कातते थे।

१०. डाक्टर बुकानन की जाँच

हमारे सौभाग्य से संवत् १८६३ से ६७ तक डाक्टर बुकानन ने जो विस्तृत आर्थिक जाँच की है वह देश के भारी भारी क्षेत्रों के विषय में है। दक्षिण भारत में महीशूर की, कन्नाड़ की और मलाबार की और बंगाल और बिहार प्रान्तों की भी जाँच की है *। डाक्टर बुकानन ने उत्तरी भारत की जो जाँच की है

* संवत् १८९२ के लगभग बंगाल के व्यापार के सम्बन्ध में डाक्टर मिलबर्न के Oriental Commerce पूर्वी वाणिज्य की जिल्दों से बड़े काम की गवाही मिलती है। उत्तरी भारत भर में यह कपड़े बड़ी मात्रा होते थे।

उन के स्थिति-पत्रों से कुछ महत्व की बातें लेकर हम आगे एक सारिणी देते हैं।

दक्षिण भारत के लिए डाक्टर बुकानन ने कोई बहुत विस्तृत और व्यापक स्थिति-पत्र नहीं दिये हैं। लेकिन जो कुछ उन्होंने

बाफ़ता—पटना, टांडा, चटगाँव, इलाहाबाद, बीरभूमि, खैराबाद, लक्खापुर।

खासा—पटना, टाँडा, इलाहाबाद, हरिभल, शान्तीपुर, मऊ, लखनऊ।

डोरिया— चन्द्रकोना, टांडा, ढाका, शान्तीपुर, हरीपाल।

महमूदी—टांडा, इलाहाबाद, खैराबाद, जोहाना, लखनऊ।

मलमल—ढाँका, पटना, शान्तीपुर, गाजीपुर, मेदनीपुर, काशी, मालदह।

सन्नो—टाँडा, इलाहाबाद, कोहाना, मऊ, बालासोर।

तरींदम—ढाँका, शान्तीपुर, कासिमाबाद, बुदावल, हरीपाल।

यह माल भारतवर्ष के कोने कोने, अमेरिका के संयुक्त राज्यों में, और युरोप के सभी भागों में भेजा जाता था। वाणिज्य का विस्तार इस प्रकार था।

संवत् १८६२ के लिए

बंगाल का वाणिज्य किस स्थान से था	आयात (जिसमें प्रधानतः सोना, चांदी आदि कोप शामिल था)	निर्यात कपड़ों के थानों का
१ लंदन	६७७२२) रु०	३३१५८२
२ डेन्मार्क	२१३५) रु०	३३७१२२
३ लिसबन्		१२१३३५३
४ अमेरिका (संयुक्तराज्य)	२५०९६) रु०	४७६३१३२

लिखा है उससे इतना तो निश्चय है कि दक्षिण भारत में कातने और बुननेवाले भरे पड़े थे। परन्तु दक्षिण भारत की अवस्था पर विचार आरम्भ करने के पहले यह अच्छा होगा कि सामने दी हुई सारिणी से इस धन्धे की स्थिति का जैसा पता लगता है हम उसका अनुशीलन कर लें। जो बात बिल्कुल स्पष्ट मालूम होती है वह यह है कि आबादी में नर नारी बच्चे मिलाकर हर दस प्राणी के पीछे कम से कम एक चर्खा चलता था।

अगर हम बड़ों ही को गिनें तो चर्खों की नैष्पत्तिक संख्या बहुत ऊँची हो जायगी। बेकारी की घड़ियों में कोई न कोई धन्धा करने के लिये और खेती आदि कामों से जो आमदनी होती थी उसे बढ़ाने के लिए प्रायः सभी घरों में, शायद ही कोई घर बचता हो—चर्खा कातना एक आवश्यक धन्धा था। घर के खर्च में इससे थोड़ा सहारा न था क्योंकि तकुआ पीछे साल में दो से लेकर चार रुपये तक उन्हें पड़ जाता था जोकि आजकल

---

५ लंका		१०३९३४
६ सुमात्रा		८५०८९
७ कारोमण्डल का किनारा ११५३९०) (विशेषतः माल)		४०७९४२
८ खलीज, फारस और अरब		८४५७८८
९ पेगू		८२२५४
१० पूलोपिनेङ्ग पूर्ववर्ती देश		८१६११२
११ बटेविया		९१५९९६
१२ चीन	१८२१२७)	३७९४१९

(चीन को रुई २८८४६१६) रु० की भेजी गयी

प्रान्त	आबादी	कातनेवालों की संख्या	सूत का दाम रुपयों में	कातनेवालों की वार्षिक औसत आमदनी रुपयों में	धुनिया की वार्षिक मजूरी	चरखों की संख्या	बुने हुए कपड़ों के दाम	प्रत्येक चरखे की सालाना आमदनी रुपयों में
पटना (बिहार)	३३६४४२०	३३०४२६	२३६७२७७	३।)	३६) रु० स्त्री और पुरुष के लिये	३३५२२	२४३८६६२१ (केवल खद्दर)	२८) से लेकर ५८) रु० तक
शाहाबाद	१४१६४५२०	१५६५००	१२५००००	१॥)	+	८७७८	१६३४०००	४८) से लेकर ५३) रु० तक
भागलपुर	२०१६६००	१६०००० बहुत घटाकर कूता हुआ	५३४६००	४)	+	७२७६	८३२४४०	३२) रु०
गोरखपुर	१५८६३१४	१७५६००	११०६२५०	२॥)	+	६११४	५२२८४०	२३॥) से लेकर ३६) रु० तक
दीनाजपुर	+	+	११६५०००	३)	+	+	१०००००	३६) से लेकर ४०) रु० तक
पुर्निया और रंगपुर	२६०४३८० २७३५०००	+ +	+ +	३) से लेकर ६) तक (यहाँ कताई अच्छी होती थी)	÷ +	३५०० (बढ़िया कपड़े के)	१३०००००	+

नन के अनुसार बहुत प्रचलित थे और जिनमें अच्छी कमाई होती थी बिनाई के साथ जोड़ लिये जायँ तो कम से कम कूतने पर भी भारत की सारी आबादी में सैकड़ा पीछे एक आदमी के जीवन का पूरा काम था। बुनकार को अच्छी मज़दूरी मिलती थी और जब वह बराबर दिन भर काम किया करता था तो उसकी आमदनी १०८।।) रु० साल या आजकल के हिसाब से ५४०) से ५५०) रु० तक होती थी। कुछ बुनकार खेत में भी काम करते थे। वह किसान होते थे और जब खेतों में काम न होता था तब वह बचे समय को कपड़ा बुनने में लगाते थे। दिनाजपूर के ज़िले के सम्बन्ध में लिखते हुये डाक्टर बुकानन कहते हैं कि "बहुत से किसानों के घर में चाहे मुसलमान हों चाहे हिन्दू एक एक करघा ज़रूर है और जब फ़ुरसत मिलती है तो घर के नर नारी सभी बुनने का काम करते हैं और गज्जी, गाढ़ा आदि खद्दर तैयार करते हैं।" जो बुनकार मजूरी पर काम करते थे उनकी जीविका अच्छी थी और उन्हें किसी बात की कमी नहीं रहती थी। धीरे धीरे कम्पनी के एजन्टों ने उनके ऊपर दबाव डालना शुरू किया और जिस पेशगी के हानिकारक फल इतने स्पष्ट थे कि डाक्टर बुकानन जैसे खोजी से छिप नहीं सकते थे। उसी पेशगी के सहारे कम्पनी के एजन्टों ने इन बुनकारों को दासता की जंज़ीर में जकड़ना चाहा। डाक्टर बुकानन ने लिखा है कि हर जगह मुझे यही बात दिखाई दे रही है कि पेशगी पाकर कम्पनी के एजन्टों और नौकरों के लिये काम करनेवाले बुनकारों की अपेक्षा अपनी इच्छा से स्वतंत्र रोजागार करनेवाले बुनकार कहीं अच्छी दशा में थे। यह तो मनुष्य का स्वभाव है कि

बहुत हानि न थी। वह वही समय ऐसे माल की तय्यारी में लगाते जिसकी माँग ज़िले में सबसे ज्यादा थी। कपड़ा तो मामूली तौर से बाज़ार के दिनों में नगद बिकता था, इसलिये बुनकार को कभी बेकार बैठना नहीं पड़ता था।

११. साधारण खर्च का परिमाण

भिन्न भिन्न श्रेणियों के परिवारों का साधारण खर्च विशेष करके जो खाने और कपड़े में पड़ता था डाक्टर बुकानन ने जो अटकल लगायी है, और जो विवरण इकट्ठा किया है वह समझने लायक है। दिनाजपुर ज़िले के लिये उन्होंने जो विश्लेषण किया है वही उत्तरी भारत के प्रायः सभी ज़िलों में थोड़े बहुत भेदों के साथ लग सकता है। उस ज़िले में कम से कम छः भिन्न भिन्न तरह के परिवार थे। उनका खर्च भी भिन्न परिमाण का था। नीचे की सारिणी में डाक्टर बुकानन के विश्लेषण का फल दिया जाता है।

पाँच प्राणियों के परिवार की श्रेणी	खाने में वार्षिक व्यय	कपड़े में वार्षिक व्यय
पहली	३३४।।।–) रु०	२१०) रु०
दूसरी	१७४) रु०	७२) रु०
तीसरी	१२८) रु०	३७।।) रु०
चौथी	६६) रु०	१७।।।) रु०
पाँचवीं	३०) रु०	३।=) रु०
छठीं	२०।।=) रु०	२।=) रु०

अंत की दोनों श्रेणियाँ सब से ग़रीब खेतिहर और दस्तकार की हैं। परन्तु मध्यम वर्ग के लोग और अच्छे अच्छे दस्त-

इकट्ठा करना ही जान पड़ता है। आमतौर से यह कहा जा सकता है कि दो एक महत्व के भेदों को छोड़कर दक्षिण भारत की विहार और बङ्गाल की सी ही दशा है। दक्षिण भारत में जैसे ब्राह्मण पुरुष हल थामना पाप समझते हैं वैसे ही ब्राह्मणी चरखा नहीं छूती हैं। पर उत्तर भारत में चरखा कातने से कोई नीच नहीं समझा जाता है। कताई से जो मजूरी उत्तर में मिलती है वही दक्षिण में भी। सूत की मोटाई और बारीकी के अनुसार घंटा पीछे १०० से ६०० गज़ तक की कताई होती है। जब सूत बहुत बारीक होता है अर्थात् १०० नम्बर से ऊपर होता है तो दिन भर में प्रायः ८४० गज़ की एक अंट्टी से ज़्यादा कोई स्त्री नहीं कात सकती है। और जब बहुत मोटा होता है तो तीन पाव तक कात लेती है और ~)॥ रोज़ से ज़्यादा कमा लेती हैं। और घंटे में पाँच छः सौ गज़ तक काता करती हैं।"

ओटना, धुनना, साफ़ करना आदि कताई के करने का सारा काम दक्षिण भारत में कातनेवाली अपने आप करती थी। डाक्टर बुकानन के दक्षिण भारत के विवरणों में कहीं धुनियों की चरचा नहीं है। बहुत संभव है कि बंगाल और विहार की तरह से वहाँ भी धुनाई के रोज़गार में कोई लाभ न था और न पेशे की तरह उसे लोग पसन्द करते थे, और कातनेवाली धुननेवाली का भी काम कर लेती थी। उत्तर और दक्षिण सारे भारत में हर जगह कपड़े का भाव एक ही होता था। हाँ, मलमल आदि महीन कपड़े दक्षिण में और जगह से सस्ते थे। बंगाल के बाफ्ते और कोयमवत्तूर के खद्दर प्रायः बराबर भाव पर बिकते थे। यद्यपि डाक्टर बुकानन दक्षिणी प्रान्तों में पहले ही पहल गये और उनकी पहले ही जाँच की तथापि उन्होंने इस सम्बन्ध में वहाँ के कोई पूरे स्थिति-

पत्र नहीं दिये हैं तो भी साधारण दशाओं का जो चित्र खींचा है उससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि विदेशी कपड़ा या विदेशी सूत का जनता पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा था। विदेशी सूत का तो कोई नाम ही नहीं जानता था परन्तु शहरों के कुछ इने गिने रहनेवालों के सिवाय विदेशी कपड़ों को भी कहीं पूछ न थी।*

* मिलबर्न ने "पूर्वी वाणिज्य" में लिखा है कि संवत् १८४९ से लेकर संवत् १८६५ तक मद्रास से विशेष रूप से कपड़े ही बाहर भेजे जाते थे। पूलीकाट रुमाल; वाटापलयाम रुमाल, नीले कपड़े, पअम, साड़ी; सालमपुर, पलामपुर, छींट, बुरु मलमल, मलमल के रुमाल और सब तरह के जिघम साधारणतया दक्षिण में बनते थे और इंग्लिस्तान और अमेरिका भेजे जाते थे। संवत् १८६२ में मद्रास का व्यापार यह था।

कहाँ जाता था	कपड़ा जो आता था	कपड़ा जो जाता था
(१) लंदन	१३०००)	१४६८११)
(२) अमेरिका के संयुक्त राज्य	×	१२४४४९४)
(३) बम्बई	७४७४९)	८८५७०)
(४) उत्तरी सरकार	१९१८०)	५५९१४३)
(५) मलाबार का किनारा	९६९०५)	१०५८२८)
(६) बंगाल	३३७५४६)	८९४००)
(७) पेनांग और उससे पूर्व	×	९२५८९२)

रूई, सूत और कपड़ों का व्यापार जो मद्रास के साथ संसार भर का होता था, इस प्रकार था।

वस्तु	आयात	निर्यात
(१) रूई	२५१४५८)	१७५४१६)
(२) सूत	५५११४)	८६४५)
(३) कपड़े	२०४४५८२)	५३६६१७१)

जो कपड़े आते थे वह देसावर से कम आते थे। अधिकांश भीतरी जिलों से और उत्तर भारत से ही आते थे।

१३. विदेशी कपड़ों की मांग न थी

डाक्टर वुकानन की गवाही से यह साफ़ जाहिर है कि उन दिनों हर तरह के लोग अपनी फुरसत की घड़ी में इस तरह का काम करके लाभ उठाया करते थे और सारा खर्च खेती ही के मत्थे नहीं मढ़ा जाता था। देशी दस्तकारी वरावर इतनी उत्तम होती रही कि भारतवर्ष में यूरोप की वनी चीज़ों की खपत वढ़ नहीं सकती थी। सँवत् १८७० में पार्लियामेण्टरी कमीटी के सामने वयान देते हुए वारेन हेस्टिंग्ज़ ने सव से ज्यादह इसी वात पर ज़ोर दिया था। जितने कपड़े की लोगों को ज़रूरत पड़ती थी उतने देश में ही वन जाते थे और विक जाते थे। जिस सस्तेपन को देख कर विदेशी लोग दंग रह जाते थे वही स्वदेशी चीज़ों के आगे विदेशी की विक्री असम्भव कर देता था। उत्तम-आशा अन्तरीप के उत्तर के देशों में और खासकर भारतवर्ष में विकने के लिए जो माल इंग्लिस्तान ने संवत् १८५७ से सं० १८७०

वैठता था। भारतीय माल पर भारी वाधक कर लगाये जाने से धीरे धीरे व्यापार घटता जाता था। कम्पनी की तरफ़ से इस वात की वरावर डटके कोशिश होती रही कि अंग्रेज़ी कपड़े भारत में फैल जावें और अंग्रेज़ी सूत भी खपने लगे। तो भी अंग्रेज़ी सूती माल लोगों को पसन्द नहीं आते थे। और सूत को तो कोई पूछता ही न था। **यहाँ तक कि भारत में पहले पहल सं० १८८० में विलायती सूत आया।**

१४. भारी वाधक कर और भारतीय माल

यह याद रखना चाहिये कि इन्हीं दिनों इंगलिस्तान में सूत की दस्तकारी ने लम्वे क़दम वढ़ाये थे। कारण यह था कि विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही कताई-वुनाई की अनेक कलें वहाँ वन गयी थीं। संवत् १८१७में खटक ढरकी (Fly shuttle) वनी और सं० १८२१ में कातनेवाली पुतली वनी और सं० १८२२ में कल से चलनेवाला करघा वना और सं० १८२५ में भाफ का इंजन वना। इस शताब्दी के उत्तरार्ध में जवकी चर्चा हम कर रहे हैं यह सव मशीनें हर तरह से पूरी हो गयी थीं और मँज गयी थीं और भारतवर्ष से जितना माल-दौलत जो भाँति भाँति से खिंच खिंच कर विलायत में आगया था, वह सव इकट्ठा होकर नयी पूँजी खड़ी होगयी थी। उसीके वल पर यह नयी मशीनें जो शायद सैकड़ों वर्ष तक पड़ी मोरचा खातीं, ज़ोरों से चल पड़ीं। भारतवर्ष का दुर्भाग्य इंग्लिस्तान का भाग्योदय था। धन के कल्प-वृक्ष को हिला हिला और काट काट कर वरसों पहले विलायत का खजाना भर लिया गया था और भारतवर्ष से लूटा हुआ

धन उमड़ रहा था। उसके साथ ही इंग्लिस्तान की साख जो कि इसी समृद्धि का फल था बेतरह बढ़ गयी थी। इसीने विलायत के नये उठते हुए उद्योग को बढ़ावा दिया। इस बात की लगातार कोशिश की गयी कि भारतवर्ष में कहीं न कहीं विलायती कपड़े खपाये जायँ। नेपोलियन ने यूरोप की तरफ इंगलिस्तान की राह रोक दी थी और उसके बहिष्कार के कारण अंग्रेज सौदागरों के लिए भारतवर्ष के बाजार के सिवाय कोई निकासी न रह गयी। संवत् १८७० में इंग्लिस्तान के दस्तकारों को विशेष लाभ पहुँचाने के लिए पार्लियामेन्ट की ओर से एक जाँच कमेटी बैठायी गयी। वारेन हेस्टिंग्स से लेकर सर टामस मुनरो तक भारतवर्ष की मिलकियत में जितने अच्छे शासक हो चुके थे उन सब से यह बात पूछी गयी कि क्या अंग्रेजी सूती माल भारत में बिकेगा? कमेटी के सामने जो गवाहियाँ हुईं उनका सार यह निकला कि बिक्री की बहुत सम्भावना नहीं मालूम होती, क्योंकि अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी माल के दामों में बड़ा फर्क है। सर टामस रो ने कहा कि यह केवल दर का सवाल है। श्री राबर्ट ब्राउन ने लार्ड्स कमीटी के सामने बोलते हुए कहा कि अगर बिना महसूल के भारतवर्ष के महीन कपड़े आने दिये जायँगे तो अंग्रेजी माल के बिकने में बड़ी बाधा पड़ेगी और भारत से जो खद्दर आता है वह तो एकदम से बाजार पर अधिकार कर लेगा क्योंकि उसकी बराबरी का अंग्रेजी माल बहुत महँगा पड़ता है और खद्दर सस्ता! श्री राबर्ट ब्राउन से पूछा गया कि "जिस भाव पर मार्च में कम्पनी की बिक्री भारतीय सफेद नयनसुखों की हुई थी और जिस भाव पर उतने ही पनहे का अंग्रेजी सफेद नयनसुख बुनने-

वालों के यहाँ से बाजार में आकर बिकता है, आपकी समझ में दोनों में क्या फर्क है?" उन्होंने उत्तर दिया कि "अभी हाल में मैंने हिसाब किया है तो मालूम हुआ कि उतने ही पनहे का और वैसा ही कपड़ा जैसा यहाँ का बना मिलता है, सैकड़ा पीछे ३० से लेकर ६० तक कम दाम पर भारतीय मिलता है। विलायत के बाजार में बिना कर लगाये भारतीय माल को वहाँ वाले कभी जाने नहीं दे सकते थे क्योंकि अंग्रेज बुनकारों की इसमें निश्चय ही हानि थी। पार्लियामेन्ट में भारतीय माल पर जो भारी भारी महसूल लगाये गये थे उन्हें उठा देने के लिए कोई प्रस्ताव नहीं कर सकता था। क्योंकि इससे अंग्रेज़ दस्तकार बिलकुल बर्बाद हो जाते। संवत् १८६९ में लार्डों की सभा में बोलते हुए लार्ड वेलेसली ने कहा था कि "आमतौर पर इस बात का बड़ा डर है कि अगर इंग्लिस्तान के बाजारों में भारतीय माल बिना महसूल लगाये आने दिये जायँ तो इंग्लिस्तान में सूती कार-बार एक दम बन्द हो जायगा और भय है कि अपने देश में भी कोई यहाँ के बने कपड़े न पहनेगा।" इंग्लिस्तान में जो माल बनता था ठीक उसी के मुकाबले का भारतीय माल वहाँ आकर पचास साठ प्रति सैकड़ा सस्ता बिकता था। नयनसुख का आना इंग्लिस्तान में बन्द करने के लिए सौ रुपए के माल पर ७०) से ८०) रु० तक महसूल लिया जाने लगा। मुक्तद्वार व्यापार इंग्लिस्तान में उस समय चला नहीं था, उसकी चर्चा तो से चली है जबकि अंग्रेजी माल की बिक्री की जड़ ऐसी ह गई थी कि उसे कोई शक्ति उखाड़ नहीं सकती थी, जब कि चढ़ाऊपरी का तनिक भी डर नहीं रह गया था। परन्तु इस

धन उमड़ रहा था। उसके साथ ही इंग्लिस्तान की साख जो कि इसी समृद्धि का फल था बेतरह बढ़ गयी थी। इसीने विलायत के नये उठते हुए उद्योग को बढ़ावा दिया। इस बात की लगातार कोशिश की गयी कि भारतवर्ष में कहीं न कहीं विलायती कपड़े खपाये जायँ। नेपोलियन ने यूरोप की तरफ इंगलिस्तान की राह रोक दी थी और उसके बहिष्कार के कारण अंग्रेज़ सौदागरों के लिए भारतवर्ष के बाज़ार के सिवाय कोई निकासी न रह गयी। संवत् १८७० में इंग्लिस्तान के दस्तकारों को विशेष लाभ पहुँचाने के लिए पार्लियामेन्ट की ओर से एक जाँच कमेटी बैठायी गयी। वारेन हेस्टिंग्स से लेकर सर टामस मुनरो तक भारतवर्ष की मिलकियत में जितने अच्छे शासक हो चुके थे उन सब से यह बात पूछी गयी कि क्या अंग्रेज़ी सूती माल भारत में बिकेगा? कमेटी के सामने जो गवाहियाँ हुईं उनका सार यह निकला कि बिक्री की बहुत सम्भावना नहीं मालूम होती, क्योंकि अंग्रेज़ी और हिन्दुस्तानी माल के दामों में बड़ा फ़र्क़ है। सर टामस रो ने कहा कि यह केवल दर का सवाल है। श्री रावर्ट ब्राउन ने लार्ड्स कमीटी के सामने बोलते हुए कहा कि अगर बिना महसूल के भारतवर्ष के महीन कपड़े आने दिये जायँगे तो अंग्रेजी माल के बिकने में बड़ी बाधा पड़ेगी और भारत से जो खद्दर आता है वह तो एकदम से बाजार पर अधिकार कर लेगा क्योंकि उसकी बराबरी का अंग्रेजी माल बहुत महँगा पड़ता है और खद्दर सस्ता! श्री रावर्ट ब्राउन से पूछा गया कि "जिस भाव पर मार्च में कम्पनी की बिक्री भारतीय सफेद नयनसुखों की हुई थी और जिस भाव पर उतने ही पनहे का अंग्रेजी सफेद नयनसुख बुनने-

वालों के यहाँ से बाजार में आकर बिकता है, आपकी समझ में दोनों में क्या फर्क है ?" उन्होंने उत्तर दिया कि "अभी हाल में मैंने हिसाब किया है तो मालूम हुआ कि उतने ही पनहे का और वैसा ही कपड़ा जैसा यहाँ का बना मिलता है, सैकड़ा पीछे ३० से लेकर ६० तक कम दाम पर भारतीय मिलता है। विलायत के बाजार में बिना कर लगाये भारतीय माल को वहाँ वाले कभी जाने नहीं दे सकते थे क्योंकि अंग्रेज बुनकारों की इसमें निश्चय ही हानि थी। पार्लियामेन्ट में भारतीय माल पर जो भारा भारी महसूल लगाये गये थे उन्हें उठा देने के लिए कोई प्रस्ताव नहीं कर सकता था। क्योंकि इससे अंग्रेज दस्तकार बिलकुल बर्बाद हो जाते। संवत् १८६९ में लार्डों की सभा में बोलते हुए लार्ड वेलस्ली ने कहा था कि "आमतौर पर इस बात का बड़ा डर है कि अगर इंग्लिस्तान के बाजारों में भारतीय माल बिना महसूल लगाये आने दिये जायँ तो इंग्लिस्तान में सूती कारबार एक दम बन्द हो जायगा और भय है कि अपने देश में भी कोई यहाँ के बने कपड़े न पहनेगा।" इंग्लिस्तान में जो माल बनता था ठीक उसी के मुकाबले का भारतीय माल वहाँ आकर पचास साठ प्रति सैकड़ा सस्ता बिकता था। नयनसुख का आना इंग्लिस्तान में बन्द करने के लिए सौ रुपए के माल पर ७०) से ८०) रु० तक महसूल लिया जाने लगा। मुक्तद्वार व्यापार इंग्लिस्तान में उस समय चला नहीं था, उसकी चर्चा तो पीछे से चली है जबकि अंग्रेजी माल की बिक्री की जड़ ऐसी दृढ़ हो गई थी कि उसे कोई शक्ति उखाड़ नहीं सकती थी, जब किसी चढ़ाऊपरी का तनिक भी डर नहीं रह गया था। परन्तु इन्हीं

बल भी उन्हें किसी तरह चला न सकता, वह तो भारतीय कारबार का बलिदान करके बनायी गयीं। भारत स्वतन्त्र होता तो उसने बदला लिया होता। अंग्रेजी माल के ऊपर बाधक कर लगा देता। अपने उपजाऊ उद्योग को नष्ट होने से बचा लेता। उसे इस तरह से अपनी रक्षा नहीं करने दिया गया क्योंकि वह बिल्कुल विदेशी मुट्ठी में था।"

यह तो राबराय का वही मूत्र था—

"राखै सोइ जेहितें बनै, जेहि बल होई सो लेइ"

जिन स्वार्थी व्यापारी सिद्धान्तों ने असमान करों की कूट-नीति चलायी थी, उनके विरुद्ध भारतवर्ष लड़ाई नहीं कर सकता था। सं० १८७० के बाद कम्पनी का इजारा रद कर दिया गया और भारतीय व्यापार का द्वार सभी अंग्रेजों के लिये खुल गया। भारत में आनेवाले अंग्रेजी माल को अनगिनत सुभीते दिये गये। नाम मात्र के आयात-कर को घटा कर ढाई रुपया सैकड़े तक कर दिया गया। और बहुत से कपड़े के किस्म के माल तो बिल्कुल बिना किसी तरह का कर दिये, भारतवर्ष में आने लगे। उनके ऊपर यात्रा में भी जो कर लगते थे वह भी घटा दिये गये। और कई ऐसे भी उदाहरण हैं जिन में वह बिल्कुल हटा दिये गये। देश के भीतर रुई पर जो कर लगता था वह बढ़ा दिया गया। परन्तु जो रुई यहाँ से इंग्लिस्तान भेजी जाती थी, उस पर कुछ भी नहीं लिया जाता था। जहाँ यह सब बातें थीं वहाँ भारतीय माल के भारत में ही बिकने में भाँति भाँति के अड़ंगे डाले गये। इस तरह की बेजोड़ लड़ाई

में बलवान पक्ष की जीत सहज हो गयी। जो अंग्रेज भारतवर्ष में अपने भाग्य के दाँव लगाने आये थे वह इसलिए नहीं जीते कि उन में भारतियों से अधिक और ऊँचे प्रकार की कार्य-दक्षता थी या उनके पास भारतीयों की अपेक्षा अधिक पूँजी थी। उन की जीत की कुंजी थी—असमान कर। जो कि इतनी होशियारी से लगाया कि हलके कर के बल से इंग्लिस्तान उछल कर ऊंचे हो जाय और भारी कर के बोझ से भारतवर्ष दब कर रसातल को चला जाय। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के हितैषी मिस्टर रिचर्ड्स ने भी कमीटी के सामने गवाही दी थी।

उन्होंने भी लिखा है कि "इंगलिस्तान में जो माल भारत से आता है उस पर अन्याय से और बेईमानी से कर लगाये जाते हैं। जो माल भारत से विलायत में आता है या विलायत से हिन्दुस्तान को जाता है, दोनों समान भाव से अंग्रेजी रिआया का ही माल है पर दोनों के ऊपर महसूल लगाने की विधि समान नहीं है। असमानता यह है कि हिन्दुस्तान के भीतर विलायती माल तो बिना कर के चला जाता है पर विलायत में हिन्दुस्तान से आनेवाले माल पर अति अधिक कर लगाया जाता है। बहुत साधारण खर्च में आनेवाली अनेक चीजों पर सौ प्रति सैकड़ा से भी अधिक बल्कि छः सौ प्रति सैकड़ा तक महसूल लगता है और एक चीज पर तो महसूल तीन हज़ार रुपये प्रति सैकड़ा तक पहुँच गया है।"

यह बाधक कर समय समय पर घटते बढ़ते रहते थे तभी उठा लिये गये जब यह निश्चयपूर्वक समझ लिया गया [illegible] कपड़ों का भारतीय निर्यात व्यापार एकदम मर गया अब फिर जी नहीं सकता। भिन्न भिन्न वर्षों में यह बाधक

कर किस तरह से घटता बढ़ता रहता था यह जानने लायक बात है।

* हर सौ गिन्नी की मालियत पर

सम्वत्	सफेद नयनसुख	मलमल और नानकीन	रंगे और छपे हुए	सूती माल जिन पर और तरह पर कर नहीं लगा
१८५४	१८—३-०	१९- ६-०	माल की	
१८५५	२१—३-०	२२-१६-०	मनाही थी	
१८५६	२६—९-१	३०—३-९	,,	
१८५९	२७—१-१	३०-१५-९		
१८६०	५९—१-३	३०-१८-१		
१८६१	६५-१२-६	३४—७-३		
१८६२	६६-१८-९	३५—१-३		
१८६३	७१—६-३	३७—७-१		
१८६६	७१-१३-४	३७—६-८		२७-६-८
१८६९	७३—०-०	३७—६-८		
१८७०	८५—२-१	४४—६-८		३२-९-२
१८७१	६७-१०-१	३७-१०-०		३२-१०-०
१८७२से १८८९	मालियत पर १० गिन्नी प्रति सैकड़ा महसूल और प्रति वर्ग गज साढ़े तीन सैकड़ा अगर छपा माल हो—			२०-०-०
१९०२	१० गिन्नीवाला महसूल रदकर दिया गया।			

---

* हम लोग एक सावरेन (सुवर्ण) पौंड को गिन्नी ही बोलते हैं। बहुत दिनों तक १ गिन्नी १५) के बराबर समझी जाती थी। १२ पेंस की एक शिलिंग और २० शिलिंग की एक गिन्नी होती है।

भिन्न भिन्न समयों पर जो बाधक कर प्रचलित थे उनकी दर से आयात और निर्यात व्यापार के अंकों का मुकाबला करने पर यह प्रकट हो जायगा कि अंगरेजी माल ने भारतीय माल को किस तरह दबाया था।

सम्वत्	भारतवर्ष से कितने थान गये	बाधक करों की दर	विलायत से कितने गज़ आये
१९७१	१२६६६०८	मलमल पर ३७) प्रति सैकड़ा नयनसुख पर ६७) प्रति सैकड़ा और माल पर ७७॥=)८पा. प्रति सैकड़ा	८१८२०८
१८७८	५३४४९५	मलमल पर ३७॥) प्रति सैकड़ा नयनसुख पर ६७॥) प्रति सैकड़ा और माल पर ५०) प्रति सैकड़ा	१९१३८७२६
१८८५	४२२८०४	महसूल १०) प्रति सैकड़ा	४२८२२०७७⅜
१८९२	३०६०८६	,, १०) प्रति सैकड़ा	५१७७७२७७

भारत में बाधक कर २॥) रु० प्रति सैकड़ा

मुक्तद्वार व्यापार के सिद्धान्त पर अगरेजी माल भारतवर्ष में आकर बाजारों में भरने लगा और स्वदेशी माल बिलकुल रोक दिये गये और उनके ऊपर बहुत भारी और बाधक कर लगाये गये। व विलायती माल अत्यन्त सस्ता हो गया और भारत के माल बिल्कुल बाहरी चालान बन्द हो गया तब यह बाधक कर भी तो उठा लिये गये या ढीले कर दिये गये।

१५. सं० १८७० से १८९० तक में व्यापार की स्थिति

जब सूती माल का व्यापार इंगलिस्तान में सुरक्षित हो गया और भारतवर्ष को लूटने के लिये खुला छोड़ दिया गया तो अंग्रेजी व्यापार का सं० १८७० से विकास होने लगा। स० १८७० से लेकर १८९० तक दोनों देशों में करों की असमानता थी। इस अवधि के भीतर भारतवर्ष से जो सूती माल बाहर गये और युरोपियन देशों से जो सूती माल भारत में आये, उनके आँकड़ों से यह साफ़ पता चलता है कि भारत के माल का बाहर जाना किस तरह बराबर घटता गया और विदेशी माल का यहाँ आना किस तरह बढ़ता गया।

संवत्	भारत से बाहर जाने वाले सूती माल का दाम	विदेश से आने वाले सूती माल का दाम	विदेश से आये हुए सूत का दाम
१८७०	५२९१४५८)	९२०७०)	
१८७१	८४९०७००)	४५०००)	
१८७२	१३१५१४२७)	२६८३००)	
१८७३	१६५९४३८०)	३१७६०२)	
१८७४	१३२७२१५४)	११२२३७२)	
१८७५	११५२७३८५)	२६५८९४०)	
१८७६	९०३०७९६)	१५८२३५३)	
१८७७	८५४०७६३)	२५५५६४२)	
१८७८	७६६४८२०)	४६७८६५०)	
१८७९	८००९४३२)	६५८२३५१)	

१८८०	५८७०५२३)	३७२०५४०)	
१८८१	६०१७५५५)	५२९६८१६)	
१८८२	५८३४६३८)	४१२४१५५)	१२३१४६
१८८३	३९४८४४२)	४३४६०५४)	७५२७६
१८८४	२८७६३१३)	५२५२७९३)	८८२७४३
१८८५	२२२३१६३)	७५५६३८३)	१९११२०५
१८८६	१३२४२३)	५२१६२२६)	३५२२६४०
१८८७	८५७२८०)	६०१२७२९)	१५५५३२१
१८८८	८४९८८७)	४५६४०४७)	३११२१३८
१८८९	८२२८९१)	४२६४७०७)	४२८५५१७

सं० १८९० तक भारत से सूती माल का वाहरी चालान इतना कम हो गया था कि उसे हम नगण्य कह सकते हैं। साथ ही अँगरेज़ी कपड़े और सूत भारतीय वाजारों में घुस आये और सदा के लिये उसके एक भाग पर अपना अधिकार जमा लिया।

१६. टोलघर की नोचखसोट

इतना ही नहीं हुआ कि भारतीय निर्यात व्यापार का वेईमानी से गला घोटा गया बल्कि देश के भीतर माल के आने जाने में कर लगाये गये। भारत के भीतर भारत ही के माल पर तरह तरह के कष्टदायक कर लिये गये। नवावों के और दूसरे भारतीय हाकिमों के शासनों में भी कर लगते थे परन्तु वह एक प्रकार की चुंगी सी थी। ❀ यह चुंगी माल के दाम पर नहीं लगती थी यह तो

❀ सं० १८९१ की लिखी हुई सर चार्ल्स ट्रेविलियन की रिपोर्ट पर

बैल, टट्टू या गाड़ी पीछे ली जाती थी। यह रकम इतनी छोटी होती थी कि उसको मारलेने का कोई किसी को काम न था। किसी परवाने की ज़रूरत न पड़ती थी और किसी भी बहाने से चुंगी घर के पास माल की तलाशी नहीं होती थी। जितनी दूर माल को ले जाया जाता था उतनी दूरी के हिसाब से कर लगता था। और ज्यों ज्यों व्यापारी आगे बढ़ता था उसे किस्तवार देना पड़ता था। लेकिन अंग्रेजों ने इस पद्धति को बिलकुल उलट दिया। व्यापारी को सारा महसूल शुरू ही में दे डालना पड़ता था चाहे वह कितनी ही दूर जाने वाला हो और तब कहीं आगे बढ़ने को उसे परवाना मिलता था। उन्होंने अधिक से अधिक दूर माल ले जाने के सब महसूलों का जोड़कर इकट्ठा बेबाक कर देने का परिमाण बना लिया, जिसका नाम सारी चुंगी की बेबाकी रखा। इसी के नाम पर इस महसूल को मनमाना बढ़ा लिया। पार्लियामेन्ट के एक कमेटी के सामने सं० १५०० में श्री रेनकिंग की गवाही हुई थी उन्होंने कहा था कि भारतवर्ष में जो सूती माल तैयार होता है और वहीं खपता है उसे किसी किसी जिले में १७।।) रु० सैकड़े तक राह चलते कर देना पड़ता है। कच्चे माल पर ५) रु० सैकड़ा, सूत पर ७।।) रु० सैकड़ा, कपड़े पर २।।) सैकड़ा और अगर कहीं परवाने में सफेद कपड़ा लिखा है और कपड़ा रंगीन निकला तो २।।) रु० सैकड़ा और भरना पड़ता था। जहाँ कहीं थोक कारबार होता था वहाँ इन महसूलों को बारम्बार चुकाते रहने से कुछ

आलोचना करते हुये सर जान फ्रेड रिकशोरने "भारतीय मामलों पर" जो टिप्पणियाँ लिखी हैं उनमें चुंगी के अफसरों की बुराइयों और बेइमानियों का वर्णन किया है। इस स्थल पर उसे देखना चाहिये।

बच नहीं सकता था। क्योंकि बहुत दूर दूर से थोड़ा २ सामान आये बिना काम नहीं चल सकता था। रुई पर चार बार महसूल लग लेता था तब उसका कपड़ा बनता था और कच्चे माल पर जो परवाना लिया जाता था अगर तैयार माल उसी के हिसाब से न हुआ तो और भी यात्रा-कर देने पड़ते थे। व्यापारी को चुंगीघर पर जो परवाना लेना पड़ता था वह भी एक भारी झंझट का काम था। यह परवाना एक ठहराई हुई मियाद तक चलता था। उस मीयाद के बीतने पर जो माल बे बिका रह गया तो उसे परवाना बदलवाना पड़ता था। परन्तु जब तक वह यह न सिद्ध करदे कि यह वही माल है जिस पर परवाना पहले लिया गया है तब तक परवाना बदला नहीं जा सकता था। परवानों के लेने में अधिकांश मामलों में बड़ी कठिनाई थी। और यही बात थी कि माल को छिपा कर ले जाने में और महसूल मार लेने की कोशिश करने में ज्यादा सुभीता और लालच था। इस बात को रोकने के लिये अनगिनत चौकियाँ बैठाली गयी थीं जहाँ जाँच हुआ करती थी और परवानों से माल का मिलान किया जाता था। कानून में तो यह लिखा था कि चुंगीघर से दो कोस से अधिक दूरी पर कोई चौकी न होगी! परन्तु व्यवहार में इस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता था और चौकियाँ सारे देश में चुंगीघर से तीस तीस पैंतीस पैंतीस कोस की दूरी पर फैली हुई थीं। बीच बीच में बड़ी दुःखदायक रुकावटें और छोटे २ जुल्म जो चुंगी के अफ़सर और चौकीदार देशी व्यापारियों पर करते थे, उसका फल यह होता था कि बहुत जगह व्यापार करना अपराध सा हो गया। तंग करके घूस लेना

सब जगह मामूली सी बात थी और जो चीजें कि चुंगीघर में जाँची जाती थीं और अनगिनत छोटी छोटी चौकियों पर देखी जाती थीं, उनका बारम्बार जगह जगह देर तक रोका जाना जरूरी था। उस समय भारतवर्ष में चुंगीघरों का जैसा व्यवहार था उसको जो लोग अच्छी तरह जानते थे उनका कहना था कि जितना तंग करके और जितने बेहद झंझटों में डाल कर अंगरेजों के राज में हिन्दुस्तान में चुंगी की नोचखसोट होती थी वह रूस, काबुल, पेशावर या बोखारे से कड़ाई में कहीं ज्यादा थी। जो लोग इन अत्याचारों से दरिद्र हो गये थे उन्होंने ऊँचे से ऊँचे स्वर से शिकायतें कीं पर उनकी कोई सुनाई न हुई। सर चार्ल्स ट्रेविलियन का कहना है कि नीच से नीच चुंगी के अफसर के काबू में बड़े से बड़े इज्जतदार आदमी को जब होना पड़ता था तब ऐसी दशा में निजी तौर पर व्यापार करने का पेशा अप्रिय और निन्द्य हो गया। पार्लियामेन्ट में बारम्बार अर्जियाँ पड़ीं पर चुंगीघरों की नोचखसोट ज्यों की त्यों जारी रही। बहुत तुच्छ आमदनी के लिये अत्याचार की एक भारी पद्धति का पोषण होता रहा। संवत् १८८२ की होल्टमेकेन्जी की रिपोर्ट में और फिर संवत् १८९२ की लिखी रिपोर्ट में जो चार्ल्स ट्रेविलियन और लार्ड इलिनबरा ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दी थी, इन महसूलों को वसूल करने में जितने अन्याय किये जाते थे, उनका पूरा वर्णन है।

संवत् १८९३ में बङ्गाल में और संवत् १८९५ में बम्बई में संवत् १९०१ में मदरास में और संवत् १९०४ में और जगहों से इस तरह की चुंगी उठा दी गयी। मद्रास में एक अर्जी दी गयी थी

जिसमें एक महसूल की चर्चा है जो प्रायः सभी कारबारों और पेशों पर लगाया गया था और बुनकार, बढ़ई, लोहार, सोनार, कसेरे, दुकानदार या सड़क के किनारे खोंचे लगानेवाले सबको देना पड़ता था। इसका नाम महसूल "मुतरफ़ा" था। यह संवत् १९१८ में रद् किया गया। यह कितना कष्टदायक था इसका वर्णन मिस्टर जे. डब्लू. बी. डाइक्स मैजिसट्रेट और माल के अफ़सर ने यों किया है जिनको खुद मद्रास में यह महसूल उगाहना पड़ा था।

"यह महसूल उन सभी आदमियों से लिया जाता है जो खेती नहीं करते। एक बुढ़िया बाजार में तरकारियाँ ले जाकर गली के एक कोने में बेचती है तो उसकी तरकारियों पर कूत करके महसूल लगाया जाता है। अगर कोई कपड़े बेचता है तो उसे भी कर देना पड़ता है। परन्तु फिरंगी व्यापारियों को कुछ नहीं देना पड़ता। एक आदमी साल में कुछ ही रुपये कमा लेता है उसे भारी कर देना पड़ता है और उसी के बगल में एक फिरंगी सौदागर है जो सैकड़ों रुपये कमाता है पर उसे कोई महसूल नहीं देना पड़ता।"

इस छोटे से जुल्म में भी इतने भेदभाव का एक ही फल हो सकता है और वह यह कि देश के विशाल औद्योगिक संगठन को टुकड़े टुकड़े करके बिखेर डाला गया। महसूल मुतरफ़ा व्यापार की बहुत छोटी छोटी चीजों पर और कारीगरों के सस्ते से सस्ते औज़ारों पर लगता था। यह महसूल चर्खे पर भी लगता था। भारतीय सूती माल के ऊपर जब संवत् १९०५ में पार्लियामेन्ट की ओर से एक कमेटी बैठी थी उसके सामने यह बात विशेष रूप से कही गई थी। करघों पर भी इसी प्रकार महसूल बैठाया

गया। डाक्टर बुकानन दक्षिण भारत की आलोचना के संबंध में कहते हैं कि करघों पर एक महसूली स्टाम्प लगाया गया जिस पर सत्यमंगलम्, धर्मपुरी और कई और जगह के बुनकारों ने आपत्ति की थी। मुतरफ़ा की वसूली में जाँच के बहाने घरों और दुकानों तक में घुसने का बड़ा मौका मिलता था और सब तरह के कारीगरों और बनियों को तंग किया जाता था और उनसे अनुचित रक़में वसूल की जाती थीं। संवत् १९१० में मद्रास की तरफ़ से जो पार्लियामेण्ट को अर्ज़ी दी गयी थी उसमें इस बात की चर्चा थी।

१७. गुलामी का युग

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से भारत की दासता का युग आरम्भ होता है। भारतवर्ष के प्रति इंग्लिस्तान की व्यापारिक कूटनीति ने पहले तो रुकावट डाली, फिर दबाना आरम्भ किया और फिर अत्याचार करने लगी। इस तरह धीरे धीरे भारत की कार्य्य-दक्षता को घटाते घटाते मिटा डाला। जिस दिन से भारतवर्ष में इङ्गलिस्तान ने राजनीतिक अधिकार पाया उसी दिन से भारतीय व्यापार और उद्योगों को मिटा देने के लिये दृढ़ निश्चय के साथ काम करना शुरू कर दिया गया। उसके साधन संक्षेप से यह थे।

१—इङ्गलिस्तान के मुक्तद्वार व्यापार को भारतवर्ष में ज़बरदस्ती चलाना।

२—इङ्गलिस्तान में भारतीय माल पर भारी भारी कर लगा देना।

दिया जाय या नहीं। इस कमेटी के सामने एक साक्षी के बाद दूसरे साक्षी ने बराबर एक दूसरे का समर्थन करते हुए कहा कि विलायत में भारतीय माल पर १०) सैकड़ा कर लगाना और भारत में विलायती माल पर केवल ३½ सैकड़ा कर लगाना ईमानदारी नहीं है। भारतवर्ष में जो घटनाएँ हो रही थीं उनसे यह बात बिलकुल प्रगट थी कि भारत की दस्तकारी नष्ट हुए बिना नहीं रहेगी।*

सम्वत् १८७० के बाद के वर्षों में विलायत के उद्योग ने बड़े लम्बे २ क़दम बढ़ाये। भाप के बल से चलनेवाले करघे संवत् १८९० तक एक लाख के लगभग हो गये थे। बीस वर्ष पहले दो हजार से कुछ ही अधिक रहे होंगे। उनके साथ ही दामों की दर जो पहले बहुत ऊँची थी अब बहुत गिर गयी थी। मिस्टर बेन्स का तो कहना है कि सूत और कपड़ों के दामों में संवत् १८६९ से १८९० तक में २५ से लेकर ८० तक के लगभग कमी आ गयी थी। अब माल बहुत सस्ता निकलने लगा था और भारत के सभी बाजार उनके लिये खुले हुए थे। इस तरह विलायती उद्योगों के सभी दिशाओं में पोबारह थे। ४० नम्बर के ऊपर के देशी और विलायती सूतों की जो दर संवत् १८९० में थी उनका मुक़ाबिला करने से मालूम होता है कि बीस बरस पहले जो दशा थी वह बिलकुल उलट गयी है।

---

* रमेशचन्द्रदत्त की Economic History (आर्थिक इतिहास) दूसरी जिल्द पृष्ठ १०१ पर जे. सी. मेल्विल चार्ल्सट्रेविलियन और मान्टगोमरी मार्टिन की महत्व की गवाहियाँ दी हुई हैं।

सूत का नम्बर	एक पौंड के सूत का दाम	
	अंग्रेजी	भारतीय
४०	।।।=)।।।	२।।=)
६०	१।=)।।	४।।)
८०	१।।।=)।।।	६।।।=)
१००	२।।)।	९।)
१२०	३)	१२।-)
१५०	४।।।=)	१९=)
२००	१०।।।=)	२३।।।-)

ढाके की कारीगरी पर लिखते हुए डाक्टर टेलर ने भी तीस नम्बर के ऊपर के देशी और विलायती सूतों की दरों का मुक़ाबिला किया तो इन्हीं नतीजों पर आये। भारत में महीन सूत कतने की चाल ही उठ गयी। जो कुछ रहा वह मोटा सूत कातना रह गया। डाक्टर टेलर का कहना है कि संवत् १८९२ में देसी मोटे और मझोले सूत की ही बनाई देसी करघों पर होती थी पर करघे अब रूपए में तीन आने ही चलते थे। बाकी बेकार पड़े रहते थे। इस से प्रगट है कि मोटे सूत की कताई चल रही थी। एक तरफ़ अंग्रेजी माल सस्ता होगया और बारीक विलायती सूत बड़े जोरों से देश में आने लगे और दूसरी तरफ कुछ वर्षों पीछे रेलों के जारी हो जाने से विदेशी माल की पैठ देश के कोने कोने में हो गयी और देशी उद्योग धन्धों के नाश का वेग और भी बढ़ गया। संवत १८९७ से लेकर संवत् १९३६ तक के अंक इस बात की सूचना और साक्षी देते हैं कि भारतवर्ष दिन पर दिन विदेशी कपड़ों का कैसे

मुहताज हो गया और किस तरह देशी माल होड़ के वेग को सह न सका।

संवत्	भारत में आनेवाले कपड़ों की कीमत दसलाख गिन्नियों में	भारत से भेजी जाने वाली रूई दस लाख गिन्नियों में
१८९७ से १९०१ तक	३·१९	२·३४
१९०१ से १९०२ तक	३·७५	१·६८
१९०७ से १९११ तक	५·१५	३·१४
१९१२ से १९१६ तक	६·९४	३·११
१९१७ से १९२१ तक	१०·९२	१५·९६
१९२२ से १९२६ तक	१५·७४	२५·९८
१९२७ से १९३१ तक	१७·५६	१७·४१
१९३२ से १९३६ तक	१९·२१	११·२१

अब भारतवर्ष विदेशों में रूई का भेजनेवाला देश हो गया और साथही विदेशी कपड़ों का दिन पर दिन अपने देश में ज्यादह खपानेवाला हो गया। कोई ज़माना था कि यह देश उद्योगी गुणी बुनकारों की और सूत कातनेवालों की भारी आबादी थी और भाँति भाँति के सुन्दर और बारीक कपड़े संसार में चारों ओर भेजने के लिए भूमण्डल में इसका नाम था। ज़माना पलट गया। अब वही देश रूई का खेत समझा जाने लगा। अब उसका काम यह होगया कि जब कभी इंग्लिस्तान को ज़रूरत हो तब उसे रूई भेजे और बनानेवाले मालिक जितने कपड़े तैयार करके भेजें उतने सारे कपड़े ले लिया करे।

देशी उद्योग-रक्षा के लिये कुछ भी न किया गया। उलटे जब कभी यहाँ आनेवाले सूती माल पर कर बैठाने का प्रस्ताव हुआ तो ऐसे प्रस्ताव के विरुद्ध इंग्लिस्तान में बड़ा होहल्ला मचाया गया। संवत् १९१४ में लार्ड केनिंग ने जब प्रस्ताव किया था तो यही गति हुई थी। जब बृटिशराज ने इस देश की बागडोर अपने हाथ में ली तो पहले पहल जो अर्थसचिव भारत में आया वह यही आदेश लेकर आया कि रुकावटवाले करों में ऐसा फेर-फार करे कि अंग्रेज लोगों का असंतोष दूर हो जाय। कुफल यह हुआ कि भारतवर्ष में आनेवाले विलायती माल पर जो आयात कर लगते भी थे वह आधे कर दिये गये। विदेशी सूत पर पाँच रुपया सैकड़ा आयात कर था वह घटा कर साढ़े तीन रुपया कर दिया गया। असल मतलब छिपाने की भी कोई कोशिश नहीं की गयी। सर बारटल फ्रेअर कभी बम्बई में गवर्नर थे। पार्लियामेन्ट की एक कमेटी में संवत् १९२८ में गवाही देते हुए उन्होंने कबूल किया कि "अगर विलायती सूत और कपड़े पर भारत में आयात कर बैठा दिया जायगा तो उनकी खपत कम हो जायगी और वहीं सूत और कपड़े तैयार होने लगेंगे।"

आगे के वर्षों में बम्बई के मिलों के अभ्युदय से लंकाशहर जिस तरह ईर्षा की आग से धधक उठा और जिस तरह सम्वत् १९५३ में रूई पर बम्बईवालों के लिए अत्यन्त अन्याय के साथ कर बैठा दिया गया उसका वर्णन करना हमारे प्रस्तुत विषय के बाहर है। यहाँ इतना ही कह देना काफी होगा कि भारत और इँग्लिस्तान के स्वार्थ एक दूसरे के विरुद्ध थे और इंग्लिस्तान के स्वार्थ को मोटा करने के लिए भारत के स्वार्थ का खून किया गया।

१८. विलायती माल का भारत में भरा जाना

विदेशी कपड़ों का आयात सम्वत् १९३६ में जहाँ चालीस पैंतालीस का था वहाँ पचास वर्ष से कम ही में दस गुने से भी अधिक बढ़ गया है। आयात की ऐसी अनूठी बढ़न्ती के पीछे एक जानने लायक इतिहास है। बात यह हुई कि अंग्रेज़ माल तैयार करनेवालों के लिए भारत के बाजार के फाटक अच्छी तरह खोल दिये गये कि माल ला ला कर यहाँ खूब जमा करें और भरें। भारतीय बाजारों की रत्ती से रवा तक सभी बातें बड़ी होशियारी से और चालाकी से सीखी समझी गयीं। भारत का गुणी कारीगर कैसे अपने काम में इतनी अपूर्व सफलता पाता है इस रहस्य के जानने की उत्कट इच्छा दिन पर दिन तीव्र होती गयी। लगातार और बड़े यत्न और श्रम से यह कोशिश की गयी कि लंकाशायर का माल यहाँ के लोगों की पसन्द के अनुसार बनता रहे और मतलब को गाँठने में हर मौक़े पर सरकारी अफ़सरों से भी मदद मिलती गयी। लन्दन में संवत् १९०८ में एक भारी अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शिनी की गयी। इसमें भारत की कारीगरी के उत्तम से उत्तम नमूने संग्रह किये गये थे। प्रदर्शिनी के बाद डाक्टर जान-फार्ब्स राइल को आज्ञा दी गयी कि एक संग्रहालय लन्दन में बने और उसमें भारत की कारीगरी के सभी नमूने रक्खे जायँ और यह सब खर्च भारतवर्ष के मत्थे ठोंका जाय। लंकाशायर के सभी माल को खपाने के लिए भारतीय माल की अबतक की बेहद ताक़त की खोज का यह सबसे उत्तम उपाय था। इसे एक फार्ब्स (राइल) ने शुरू किया और दूसरे फार्ब्स (वाटसन) ने जो

भारत सचिव को भारतीय पैदावारों की सूचना देने के काम पर नियुक्त थे दस वर्ष पीछे भी जारी रक्खा। उन्होंने एक भारी ग्रन्थ लिखा जिसका नाम है "The Textile Manufactures and Costumes of India"। (भारत का पहिरावा और कपड़ों की कारीगरी) शायद इसी ग्रन्थ की चर्चा के साथ ७ सितम्बर सन् १८९१ के "पानियर" में एक अंग्रेज़ अफ़सर जे. बी. कीथ ने इस तरह लिखा था—

"सभी जानते हैं कि पेशेवाले अपने अपने रहस्य को बड़ी सावधानी से छिपाये रहते हैं। कोई डोल्टन के मिट्टी के बर्तनों के कारखानों में जाय तो वह लोग बड़ी विनय से जानेवाले की अवहेलना करेंगे और अपना रहस्य न जानने देंगे। पर भारतीय कारबारियों पर जब्र डाला गया और उन्हें कपड़ों के धोने इत्यादि अनेक काम के रहस्य मांचेस्टरवालों को बताने पड़े। विलायत के भारतीय दफ्तर के एक विभाग में बहुत ख़र्च लगा कर एक ग्रन्थ तैयार किया कि जिसमें भारत के दरिद्रों से मेनचेस्टर वर्ष में दो करोड़ नब्बे लाख रुपये वसूल कर सके। विलायती व्यापार मंडलों को इस अनमोल ग्रन्थ की प्रतियाँ बेदाम बांटी गयीं और हिन्दुस्तानी रिआया को उनका ख़र्च देना पड़ा। इसको आप अर्थशास्त्र कह सकते हैं पर बड़ी अद्भुत रीति से यह कुछ और ही (अनर्थशास्त्र) मालूम होता है।"

१९. फार्ब्स वाटसन की जांच

वाटसन के ग्रंथ में अंग्रेज कारीगरों को लाभ पहुँचाने के लिए भारतीय पहिरावा और उसमें लगनेवाले कपड़ों के आकार प्रकार, रंग

रूप छाया सबका जीता जागता चित्र खींचा गया है। वाटसन ने कुल ७०० नमूने इकट्ठे किए थे। इनमें भारतवर्ष की बनी हुई सभी चीज़ों के नमूने थे। धोतियाँ, साफे, साड़ियाँ, डुपट्टे, चद्दर, छींट, मलमल, रुई और रेशम के मिले हुए कपड़े सभी कुछ थे। यह एक व्यापारी संग्रह था जिसकी रचना इसलिए की गयी थी कि अंग्रेज कारीगर को दिखाया व समझाया जाय और वैसा ही काम कराया जाय। इन नमूनों से यह प्रगट किया गया कि कपड़ों के सम्बन्ध में भारत के लोग क्या क्या अच्छा और ठीक समझते हैं, किन किन चीज़ों की ज़रूरत होती है और जिन जिन नमूनों की नकल करनी मंजूर थी वह समझने व सीखने के वास्ते कारीगरों के सामने मौजूद किए गये। यह काम बड़ी पूर्णता से और बिल्कुल ठीक ठीक रीति पर किया गया। विलायत के सूती माल के कारबारियों को यह बात ठीक ठीक और सावधानी से बतायी गयी कि भारत में क्या क्या चीज़ें बिक सकती हैं और क्या नहीं बिक सकतीं। और भारत के लिए कौन माल तैयार करना चाहिये और कौन नहीं करना चाहिए। एक भी बिन्दु बिसर्ग छोड़ा नहीं गया। साड़ी या चुनरी में जो बून्दें या बूटियाँ पड़ी हुई थीं वह उतनी ही सावधानी से गिने और देखे गये जितनी सावधानी से सूरज के धब्बे देखे जाते हैं। भारतीय कपड़ों के विवरण में से कोई बात बिसरायी नहीं गयी। पगड़ियों के भाँति भाँति के रंग, उनकी लंबाई, उनकी बुनावट, धोतियों के किनारे, मलमलों की मृदुता, हलकी और चमकीली बूटियाँ और यहाँ तक कि हर तरह के वह नाम भी याद कर लिये गये और लिख लिये गये जिनको अंग्रेज न तो समझ सकते थे और न जिनका उच्चारण कर सकते

थे। भारत में बड़े आदमी एक करोड़ से अधिक न थे। होशियार अंग्रेज कारीगर ने इन बड़े आदमियों की परवाह न की। उन्होंने तीस करोड़ भारतीय जनता को अपने ग्राहक बनाने का लक्ष्य अपने सामने रक्खा। कारीगर को समझाया गया कि सादे और सस्ते कपड़े बिक सकेंगे और वह भी जिन लोगों के पहनने के लिये बनाये जायँ उनकी पसन्द और उनकी जरूरतों का पूरा खयाल रखने से उनकी बिक्री अच्छी होगी। मिस्टर वाटसन लिखते हैं—

"आज भारतवर्ष हमारे लिए वह देश है जहाँ से कच्चा माल आता है। कुछ का हम दाम देते हैं और कुछ के बदले में हम माल देते हैं। परन्तु हम लोग भारतवर्ष से जो कुछ ख़रीदते हैं उसका दाम देने भर भारत हम से कभी नहीं खरीदता। इसका फल यह होता है कि हम लोगों क। सदा अति अधिक सोना चाँदी बदले में देना पड़ता है जो हमारे पास लौटकर नहीं आता। वहाँ जाकर ऐसा गायब हो जाता है जैसे समुद्र में डाल दिया गया हो। हम लोग यहाँ से रुई, नील, कहवा और मसाले मँगवाते हैं और कपड़े आदि यहाँ की बनी हुई चीज़ों के रूप में जितना बन पड़ता है भारत के हाथ बेच देते हैं। पर यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि एक समय था जब अधिकांश कपड़ा हमारे हाथ भारत ही बेचता था। ऐसी सम्भावना है कि कपड़े बनाकर बाहर भेजनवाले देश की स्थिति अब उसे कभी न मिल सके। यद्यपि यह कहना बहुत मुश्किल है कि भारत में मिलों का जो विस्तार हो रहा है उसका अन्त क्या होगा। भारत के मिल यह बिल्कुल नहीं चाहते कि उस देश की उन्नति में किसी तरह की बाधा डाली जाय और यह बात

तो साफ है कि चाहे कोई भी उसे दे भारत की महान जनता का कल्याण इसी में होगा कि उसे सस्ते से सस्ता कपड़ा मिले। अगर भारत को वहाँ के बुनकारों की बनायी हुई चीजों से ज्यादा सस्ती लुंगी, धोती, साड़ी और नयनसुख विलायती तैयार करके दे सके तो दोनों को लाभ होगा। भारत बहुत बड़ा उपजाऊ देश है। उसका लाभ इस बात में अवश्य होगा कि विलायत के तैयार माल को पाकर वहाँ के काम करनेवाले लोग खाली हो जायँगे और तुरन्त दूसरे और शायद इससे भी अधिक नफ़े के व्यवसाय में लग जायँगे"।

समय और अनुभव ने इस ज्योतिषी को झूठा ठहराया। अगर हम ज्यादा न कहें तो इतना तो जरूर कहेंगे कि इस अंग्रेज़ में कल्पना शक्ति बिल्कुल नहीं थी। इसके ध्यान में यह बात न आसकी कि कताई और बुनाई के विनाश से कितनी भयानक और व्यापक बरबादी का दृश्य देखने में आयेगा। लाखों दरिद्र स्त्रियाँ चरखा न कातेंगी और एक घरबैठे इज्ज़त के धन्धे से छुट कर बेकार रहजायँगी या गरीबी से लाचार होकर घर के बाहर काम ढूँढेंगी या कोई जोखिम का धन्धा उठालेंगी। हज़ारों बुनकार अपने देश में साहूकार की और विदेश के मिलवाले की दोहरी गुलामी में पड़ जायँगे और लाचारी दरजे करघों का काम छोड़ देंगे। कोई खेती करने लगेगा और कोई इससे भी कम टिकाऊ काम करने लगेगा। गाँव के संगठन की जड़ बड़े ज़ोरों से और एकाएकी उखड़ जायगी। यह सब बातें वाटसन के दिमाग़ में न आ सकीं। उन्हें एक ही बात साफ मालूम हुई कि विलायत के व्यापारी अपने यहाँ से नफ़े के साथ लुंगियाँ, साड़ियाँ, धोतियाँ और नयनसुख भेज सकते हैं। असल मतलब को छिपाने की

जरा भी कोशिश नहीं थी। भाषा में कोई बनावट नहीं है। वाटसन साहब फरमाते हैं—

"हम लोग भारत के नाम से जिस मुल्क को पुकारते हैं उसकी आबादी में लगभग २० करोड़ प्राणी हैं। उनमें अधिकांश चाहे बहुत कम कपड़े पहनते हों तो भी, जो उन सभों को कपड़े पहनाने के लिए ठेका मिल जाय तो संसार में शायद ही कोई कारीगर जाति इतने कपड़े दे सके। इसलिये यह तो बिल्कुल साफ है कि भारतवर्ष हमारा बहुत भारी ग्राहक हो सकता है। भारतवर्ष हमारा गाहक होकर भी अपने यहाँ के माल को खपा सकता है क्योंकि इतनी भारी आबादी के केवल एक छोटे से अंश को ही कपड़े पहनाने के लिये हमें लंकाशायर के करघों की संख्या दूनी कर देनी पड़ेगी। यह तो सम्भावनाओं की बात हुई परन्तु इस समय तो बिल्कुल उलटी ही बात हो रही है क्योंकि असल में तो भारतवर्ष इस समय हमारी बनायी चीज़ें बहुत कम खरीदता है।"

२०. भारतवर्ष एक भारी गाहक हो गया

इसमें क्या शक है कि भारतवर्ष को भारी गाहक होना ही था। उसके सब उद्योगों को नष्ट हो जाना ही था और जिन कारीगरों को कभी अपने इज्जतवाले रोजगार से दम लेने की फ़ुरसत नहीं मिलती थी उन्हें ही अंग्रेजी व्यापार का लगातार शिकार बनकर दरिद्रता और बेकारी में घुल घुल कर मरना ही था। परन्तु वाटसन के देशवालों के निकट तात्कालिक प्रश्न यह था कि वह सब से अच्छा उपाय क्या है कि भारत को ज्यादा

खरीदने के लिये राजी किया जाय क्योंकि सं० १९२३ में भारतवर्ष उतना नहीं खरीदता था जितना कि लोभी विदेशी उससे खरीदवाना चाहता था। कताई के काम का दीया अभी टिमटिमा रहा था, बुझ नहीं गया था। देशी सूत की फिर भी अच्छी ही विक्री होती थी। लोगों का उससे प्रेम सहज में हटाया नहीं जा सकता था। भारत का कारीगर अब भी रूप रंग बैठाने की ऐसी अद्भुत कला जानता था कि जैसे कानों के लिये मेल के स्वरों से सुननेवालों को अलौकिक आनन्द होता है, वैसे ही सुन्दर रूप-रंग आकार का वह ऐसा मेल पैदा कर देता था कि छबि देखते ही बनती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्देरी और अरनी की सी मलमल कभी कभी फ़रमाइश पर ही तैयार की जाती थी। बारीक सूत और बारीक कपड़ों का बाजार देश में प्रायः नष्ट ही हो चुका था। देश के बड़े बड़े लोग कहीं कहीं उसका आदर करते थे, इसलिये कला बिल्कुल मिट नहीं गयी थी। कैप्टेनमेडोज़ टेलर इसी जमाने की बात कहते हैं कि मैंने हैदराबाद के पास नादेर, नारायन-पेठ आदि जगहों में देखा है कि कोठरियाँ या तहखाने बन्द करके और फर्श को पानी से अच्छी तरह तर करके उसके भीतर वैसा ही बारीक सूत काता जाता है जैसा ढाके में कतता था। अरनी और कारमण्डल के किनारे पर अब भी बहुत बारीक हाथ के कते सूत और उससे बुने हुए कपड़े मिल सकते थे। सूत की दस्तकारी के सम्बन्ध में मध्यप्रान्त की सरकार की सं० १९२४ की रिपोर्ट है। उसमें लिखा है कि अकोला, जबलपुर, और नागपुर की प्रदर्शिनियों में ऐसे कपड़े और सूत दिखाये गये थे। इतना बारीक सूत किसी बड़ी मात्रा में तो

मिल नहीं सकता था। परन्तु करघे पर बने बूटीदार कपड़ों में और जरी के काम की चीजों में, चिकनदोज़ी में और गजी गाढ़ों में यह देश फिर भी अपना जोड़ नहीं रखता था। करघे पर और हाथ से बने हुए चिकन के बारे में मिस्टर वाटसन खेद के साथ लिखते हैं कि इस बात की कोई आशा नहीं मालूम होती कि यह चीजें विलायत में भारतवर्ष से सस्ती बन सकेंगी। पर उन्होंने अपने देश के कारीगरों से सिफारिश की कि चिकन-दोज़ी का काम सीखने की कोशिश करें क्योंकि कला की दृष्टि से भी यह उनके लिये बहुत उपयोगी होगा भारत को बारीक और बहुत सुन्दर सजाये हुए कपड़े तैयार करने के काम में मंजी हुई कोमल अँगुलियों की आवश्यकता थी और उनकी माँग भी आस पास की ही होती थी और वहाँ भी अत्यन्त थोड़ी होती थी पर गजी-गाढ़े की तो जनता को बड़ी जरूरत थी और यह अभी हाथ की ही कताई बुनाई से तैयार होते थे। ज्यादा सस्ते और टिकाऊ होते थे। विदेशी इसमें मुक़ाबला नहीं कर सकता था। सस्ते मोटे खद्दर की देश में बड़ी चाल थी। मिस्टर वाटसन एक बड़े महत्व की बात की चर्चा करते हैं। वह कहते हैं कि "जिन वर्षों में अमेरिका में युद्ध हो रहा था, रुई का भाव बहुत ऊँचा चढ़ा दिया गया। इसलिये देशी खद्दर भी विदेशी गजी-गाढ़े के मुकाबले दूना महँगा हो गया, पर गरीब से गरीब आदमी महँगे खद्दर को ही पसन्द करते थे।"

२१. संवत् १६२७ में मध्यप्रान्त में खद्दर

मध्यप्रान्त के अधिकारियों ने भी वही बात लिखी है। मिस्टर रिवेट कारनक पक्की तौर से कहते हैं कि "देशी खद्दर बड़ा मज-

बूत और टिकाऊ होता है। धोबी के पाटे की चोट सहज में सह-लेता है, धूप, वर्षा और सर्दी से बचाता है। इसीलिये मिलों के बने हुये कपड़े उसे बाजार से निकाल बाहर नहीं कर सके। चिम्मूर परगनेट में बहुत से अठवारी मेले लगते थे। उन्हीं में से एक मेले की चर्चा करते हुये लिखते हैं—

"यहाँ के व्यापार में खद्दर बड़े महत्व की चीज़ है। यह पूरे तौर से ढेड़ लोगों के हाथ में है, वही कातते हैं और वही बुनते हैं। कपड़ा मोटा और मजबूत होता है और उसे बरार के कुनबी किसान बहुत पसन्द करते हैं। यद्यपि अंग्रेज़ी कपड़े देखने में बड़े अच्छे लगते हैं पर उनके मुकाबले टिकाऊ नहीं होते इसीलिए कुनबी लोग उन्हें पसन्द नहीं करते। यहाँ के कुनबी दाल रोटी से खुश हैं और यद्यपि खद्दर इन दिनों महँगा हो गया है तो भी वह लोग बहुत ज्यादा खरीद रहे हैं। मेले में ११९४ दुकानें लगी थीं। उनमें से ५२१ दुकानें कपड़े की थीं। इनमें भी विदेशी कपड़ों की पाँच ही दुकानें थीं। सौ से ज्यादा दुकानें कोठियों की थीं जो महीन कपड़े वेचते थे और साढ़े तीन सौ ढेड़ों की थीं जो मोटा खद्दर वेचते थे। जिन ढेड़ों ने अपना सारा माल वेच लिया, उन्होंने अगले अठवारे की कताई और बुनाई के लिये वहीं की रुई की दूकानों से रुई खरीद ली। वहाँ विक्री के लिये रुई की पच्चीस गाड़ियाँ आयी थीं।"

बारीक कताई-बुनाई पर भी मिस्टर कारनक ने रिपोर्ट दी है। अकोले की प्रदर्शिनी का हाल लिखते हुए मिस्टर कारनक लिखते हैं कि "प्रदर्शिनी में इतना बारीक सूत दिखाया गया था कि दर्शकों को जल्दी विश्वास नहीं होता था कि यह सूत देश में ही

कता है और हाथ से कता है और उसी चकियानसी भद्दे चर्खे से कता है। यहाँ एक लच्छी दिखायी गयी थी जिसमें इतना महीन सूत था कि उसका आध सेर सूत लम्बाई में ११७ मील होता।"*

जो ढेड़ बारीक सूत कातते थे पहले बड़ी सावधानी से ठीक तरह की कपास चुनते थे। ओटी हुई रुई नहीं लेते थे। चर्खी से कपास का स्पर्श नहीं होने देते थे। वह बीज को हाथ से बड़ी सावधानी से निकाल कर अलग करते थे। बीस नम्बर से नीचे के मामूली सूत के लिये कपास चर्खी से ओटी जाती थी और फिर धुनिया धुन देता था। इस तरह बारीक और मोटा दोनों तरह का सूत कातते थे। पर हाथ की कताई-बुनाई की स्थिति बहुत अच्छी न थी। युरोप की बनी चीजें देशी व्यापार का स्थान ले रही थीं और जहाँ कहीं रेल की पटरी बिछती थी, देशी चीजों का बाजार पटरा पड़ जाता था। संवत् १९२० से १९२३ तक के मध्यप्रान्तों के अङ्कों से प्रकट होता है कि यद्यपि धीरे धीरे विदेशी कपड़े का आना बढ़ रहा था तोभी देशी कपड़े बहुत ज्यादह बनते थे और बाहर भेजे जाते थे।

संवत्	कितने मन देशी कपड़ा भेजा गया	कितने मन युरोप से आया
१९२०	७५३६२	२२५९१
१९२१	५४२७७	५८४९६
१९२२	५५०५२	२८४७०
१९२३	५२८९३	५९४०२

* यह सूत २४५ नम्बर के ऊपर का होगा।

संवत् १९२५ के मध्यप्रान्त के गजेटीयर में कुछ जिलों के अंक दिये हुए हैं जो मिलाने लायक हैं।

ज़िला	आयात		निर्यात	
	खद्दर की कीमत	विलायती कपड़े की कीमत	खद्दर की कीमत	विलायती कपड़े की कीमत
१—वर्धा	५३६६७)	३२६५०)	२५६२५)	१६३००)
२—वर्धा में देवली	१२३२८१)	१२७२२)	३७१०)	×
३—हींगनघाट	२५९७०६)	४४६१३)	१७७११४)	२६१६१)

बरहामपुर का जिला और शहर कपड़े के भारी बाजार थे। हाँ के आंकड़े तो नहीं मिलते हैं पर यह लिखा हुआ है कि वहाँ के बुनकार पाँच रुपये से दस रुपये महीने तक कमा लेते थे *। इसके सिवाय उनके परिवार के लोग कताई, रंगाई आदि बुनाई से सम्बद्ध मजूरी से और भी पैदा कर लेते थे। बुनकार को जब कोई काम न होता था तो वह साड़ियाँ या धोतियाँ बनाया करता था क्योंकि इनकी माँग बराबर रहती थी और पूंजी बहुत थोड़ी लगती थी। गजेटीयर में लिखा है कि "शहरवालों के लिए तो बुनकारों के परिवारवाले और दूसरे लोग भी सूत कातते थे। सब से अच्छा सूत ढेड़ लोग काता करते थे। पर मोटा सूत तो मामूली तौर से देश भर में हर जाति बिरादरी की स्त्रियाँ काता करती हैं। अब मोटा सूत बहुत ज्यादह कतने लगा है और

* उस समय के ५) से १०) मासिक, आजकल के कम से कम ३०) से ६०) तक समझे जाना चाहिये।

कहा जाता है कि बारीक सूत के लिये माँग दिन पर दिन घटती जाती है।"

२२. संवत् १६२७ में बम्बई की दशा

बम्बई की दशा तो उतनी अच्छी नहीं थी। कुछ जिलों में हाथ की कताई रह गयी थी बाकी में एक दम बन्द हो गयी थी। अहमदाबाद में भाफ के बल से चलनेवाली मिलें खुल गयी थीं। इसलिये गुजरात में हाथ के कते सूत की मांग बहुत घट गयी थी। खान्देश में चर्खा कातना गरीब औरतों का मुख्य रोजगार था। वह प्रायः लुप्त हो गया था।

परन्तु सूरत और धारवार के जिलों में फिर भी यह देखा गया कि शहर और देहात सभी जगह प्रायः सभी स्त्रियाँ घर के खर्च और बिक्री दोनों कामों के लिये चरखा कातने में लगी रहती थीं। सूत मोटा खद्दर बुनने के काम में आता था। निवाड़ और रस्सियाँ भी बनती थीं। और देहात के लोग तो मोटा खद्दर ही पहनते थे। कुछ तो यह बात थी कि हाथ की कती चीज़ बड़ी मजबूत होती थी और कुछ इसलिये कि अपने पहिरावे में फेरफार पसन्द नहीं था। शहर की स्त्रियाँ भी बराबर देशी कपड़ा पहनती थीं। अधिकांश स्त्रियाँ नित्य पाँच घंटे से ज्यादा कातती थीं और घर की कताई के लिये विशेष करके बड़ी सावधानी से साफ़ की हुई रूई लेती थीं। वह अच्छी तरह से देख लेती थीं कि बीज, मिट्टी या पत्तियाँ रूई में बिलकुल न रह जायँ।*

---

* देखो बम्बई का गजेटियर संवत् १९३१। कहा जाता है कि धारवाड़ में नूलूरती का दाम २।) लगता था।

२३. संवत् १६२७ में बंगाल की दशा

मिस्टर मेडलीकाट ने संवत् १९२७ के कुछ वर्ष पहले हाथ के करघों पर एक पुस्तक लिखी थी। उसमें वह लिखते हैं कि बंगाल में कपास की खेती वहीं स्थानीय कामों के लिये होती थी। यहाँ तक कि गावों के बाज़ारों में भी बिक्री के लिये नहीं आती थी। जो खेती करते थे वही कातते थे और पास के बुनकार से बिनवाकर आप पहनते थे और परिवारवालों को पहनाते थे।

मैनचस्टर की होड ने तो बहुत पहले ही ढाके की मशहूर मलमल को नष्ट कर दिया था। और अब तक बहुत जगह स्थानीय बुनाई को निकाल बाहर कर रहा था और बुनकार लोग बड़ी तेजी से खेती की ओर चले जा रहे थे। उसी समय के लगभग की बात पंजाब के बारे में लिखते हुए सर आर. बेडन-पावल का कहना है कि मैंने सभी जगह बुनकारों की दूकानें देखीं जो कम से कम गज़ी गाढ़ा तैयार करने में लगे हुए थे जिन की ज़रूरत बड़ी मात्रा में सब तरह के लोगों को पड़ती थी।

२४. मद्रास में हाथ के करघे के काम पर होड़ की प्रतिक्रिया

मालूम होता है कि सारे भारत में साधारण स्थिति यह थी कि मोटे खद्दर की चाल भीतरी ज़िलों में बराबर बनी रही। सभी जगह अब तक खद्दर का रिवाज था। पर उसमें भी अब कमी प्रगट हो रही थी और हाथ के कार्य के उद्योग पर इस अवस्था से भी विशेष प्रभाव पड़ा था। मद्रास के बोर्ड माल ने

सं० १९२७ में वहाँ के हाथ करघों की गिनाई की थी उसका स्थिति पत्र मौजूद है। संवत् १९७८ की मर्दुमशुमारी से जो गिनती मिलती है उसका मुक़ाबला संवत् १९२७ वाली गिनती से करने पर यह बात पूरे तौर पर सिद्ध हो जाती है कि कम से कम एक प्रान्त में संवत् १९२७ से सम्वत् १९७८ तक में किस हद तक हाथ के करघे पर बुननेवालों का रोज़गार छिन गया है।

संवत्	मद्रास हाते की आबादी	करघों की कुल संख्या	देहात में करघों की संख्या	शहर में करघों की संख्या	कहाँ का सूत काम आया
१९२७	३,००,००,०००	२,७९,२२०	२,२०,०१५	५९,२०५	$\frac{1}{3}$ विदेशी $\frac{2}{3}$ स्थानीय
१९७८	४,१०,००,०००	१,६६,४०३	(विवरण अप्राप्य)		लगभग सभी विदेशी या मिल का

इस तरह से मद्रास हाते में एक लाख से ज्यादा हाथ के करघे घट गये। आबादी में जो बढ़ती हुई है उसका हिसाब लगाने से करघों की संख्या की कमी सैकड़ा पीछे ६० के हो जाती है। इन संख्याओं पर और भी विचार किया जाता तो और भी काम की बात निकलती और पता लगता कि शहर के और गाँव के करघों की संख्या की निष्पत्ति आजकल क्या है। संवत् १९६८ के मद्रास की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में श्री मिस्टर चैटर्टन ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि संवत् १९२७ से देशी करघे के बुनकारों की संख्या प्रायः घटी बढ़ी नहीं हैं, स्थायी है। हाँ, उनमें से अधिकांश को पेट भर रोटी मात्र के लिये घोर परिश्रम करते रहना पड़ता है। परन्तु उनके निष्कर्ष भ्रमात्मक हैं। उसका कारण यह है कि भिन्न २ वर्षों की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में

व्यवसाय के खाने में जाति लिख दी गयी है या इसी तरह का भ्रमात्मक और अशुद्ध वर्गीकरण कर दिया गया है और उनके निष्कर्ष इन्हीं खातों की संख्या पर अवलंबित हैं। इसलिये वह भी भ्रमात्मक हैं।

करघों की संख्या की घटी पर वह कोई विचार नहीं करते हैं। यद्यपि यह उन्हें मालूम होना चाहिये था कि बुनाई के कारबार का सच्चा हाल जानने का सच्चा साधन करघों की संख्या ही है। यह प्रकट है कि प्रायः गाँव के बुनकारों को लाचार हो कर या तो अपना रोजगार छोड़ देना पड़ा है या गाँव छोड़ कर शहर में जाकर दूसरों के पंजों में फँस जाना पड़ा है। खबर तो यह है कि बहुत से लोग अपना घर छोड़ कर भाग गये और दूर देश में बस गये या कुली बनकर शहरों में या चाह आदि की खेतियों में मजूरी करने लगे। मद्रास के बुनकारों को सब से ज्यादह चोट लगी है और यदि उनमें से बहुत से अपने करघों में लगे हुए हैं और किसी तरह पेट पाल लेते हैं तो इसका कारण यह है कि अब तक उस प्रान्त के नरनारियों में मिल की बनी धोतियाँ और साड़ियाँ पहिनने की चाल बहुत ज्यादा नहीं फैली है। विदेशी कपड़े की आमद से हर साल बराबर अपने यहाँ का बुनकारी का धंधा वस्तुतः घटता गया है। विदेशी या मिल के सूत के आने से भी हाथ करघे पर बुननेवाले का कोई लाभ नहीं हुआ है और उस से वह खुशहाल नहीं रहा है, बल्कि उलटे इसी सूत की बदौलत स्थानीय लाभ उठानेवाले चालाक व्यापारियों के फंदे में फँसना पड़ा है। हाथ की बुनाई की घटी के कारण ढूँढने को दूर नहीं जाना होगा। संवत् १९३६ के शासन

रिपोर्ट में मदुरा में बुनाई की दशा की चर्चा करते हुए मद्रास की सरकार ने इन कारणों को गिनाया है। देखिये, बुनकार की आमदनी क्यों घट गयी, इस पर बहस करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है—

"स्थानीय बुनाई के व्यवसाय पर विलायत से बनकर आये हुए माल का किस तरह प्रभाव पड़ा है इसका एक अद्भुत उदाहरण है। वह यह है कि मदुरा नगरी के बुनकार अपने बुने हुए कपड़े खुद नहीं पहनते। मामूली तौर पर यह कहा जा सकत है कि दिन पर दिन यह व्यवसाय काम करनेवाली जातियों के लिये भी कम लाभकर होता जाता है। उसके कारण तो प्रत्यक्ष हैं। कुछ बरस हुए जब विदेशों से कता हुआ सूत नहीं आता था तब शायद दो से तीन हजार तक ऐसे परिवार जो जो सूत की कताई ही में लगे हुए थे। अब तो यह व्यवसाय बिलकुल बंद हो गया है। जब तक लैस या कलाबत्तू आदि बाहर से नहीं आते थे तब तक पाँच सौ मुसलमान परिवार इसी के व्यवसाय में लगे रहा करते थे। अब उनकी जगह पर देशी कलाबत्तू बनाने वाले दस ही परिवार रह गये होंगे। अभी साल ही दो साल बीता होगा कि रंग के पदार्थ इसी ज़िले में बनते थे। परन्तु अब इनकी जगह बम्बई के रंगों ने ले ली। जब यह सब व्यवसाय बंद हो गये तो उसका आवश्यक फल यह हुआ कि सब लोग एक ही दिशा में केवल बुनने के काम में लग गये, इसीलिये बुनाई बहुत सस्ती हो गयी। बुनकार की असल मजूरी बहुत गिर गयी और बहुत से बुनकार खेती करने लगे, क्योंकि उन्हें बुनकारी व्यवसाय से खाने को नहीं मिलता था। कुछ बुनकार गाड़ी और बैल रखने लगे और इमारती काम के लिये नदी से बालू ढो ढो कर पहुँचाने लगे।"

आज भी सेलम ज़िले के भीतरी भाग के बड़े होशियार बुनकार त्रिचनापल्ली में गाड़ी खींचते दिखाई पड़ते हैं।

२५. विदेशों में रुई भेजनेवाला भारतवर्ष

जिन परिस्थितियों ने कताई बंद करा दी अधिकांश उन्हीं परिस्थितियों से करघों की संख्या भी घट गयी। इस तरह कताई और बुनाई के व्यवसाय के अत्यन्त घट जाने पर देश में जो रुई की खेती होती थी उसका उपयोग इतना ही रहा कि या तो विदेशों में भेजने के लिये या मिलों के हाथ बेंचने के लिये कच्चा माल समझा जाय। रुई का घर-गिरस्ती के कामों में जो महत्व था वह अब नष्ट हो गया। कताई का घरेलू धंधा लोग भूल गये। इसके विचित्र परिणाम हुए। संवत् १५२३ के बाद के तीस वर्षों में यद्यपि कपास तिगुने क्षेत्रफल में बोयी जाने लगी तथापि विशेष क्षेत्रों में फ़सलें स्थानीय हो गयीं। फल यह हुआ कि कुछ भागों में जहाँ कपास बोयी जा सकती थी और बोयी जा रही थी वहाँ उसकी बोवाई बंद हो गयी और दूसरे भागों में उसी का उलटा हुआ। और चीज़ों की खेती की जगह कपास की खेती होने लगी। बंगाल में पहले कपास की खेती बहुत ज़ोरों से होती ही थी यद्यपि व्यापार के ढंग पर नहीं होती थी। वहाँ एक या दो ज़िलों को छोड़ कर कपास होती ही न थी। मध्यप्रान्त के गजेटियर में लिखा है—

"मामूली तौर पर वरधे के ज़िले में और बरार के ज़िलों में जहाँ हमेशा कपास बोयी जाती थी संवत् १९२३ के लगभग ही इसकी खेती अत्यन्त बढ़ गयी। यहाँ तक कि

२ जगह बेचने के लिये लेता था। जापान और चीन में तो भारतीय रुई के लिये बहुत जल्दी नये बाजारों का विकास हो गया। देश में मिलों का व्यवसाय बढ़ रहा था, उसमें भी रुई खपने लगी। इंग्लिस्तान तो अब तक भारतवर्ष की परीक्षाओं के लिये बड़ा विशाल क्षेत्र समझा जाता था। आज भी यद्यपि अपने काम के लिये अमेरिका और मिश्र की रुई का सब से अधिक भरोसा करता है तोभी उसने यह विचार छोड़ नहीं दिया है कि अपने यहाँ के मिलों के उपयुक्त लम्बे रेशेवाली रुई पैदा करावे। संवत् १९६६ में जो भारतीय रुई पर कमेटी बैठी थी, उसका एक मात्र उद्देश्य इसी प्रश्न का निपटारा था कि जब किसी न किसी दिन अमेरिका से रुई मिलने में कठिनाई पड़ने वाली ही है तो कौनसा उपाय सब से उत्तम होगा कि जिससे विलायत को इस विषय में आगे अमेरिका का अवलम्बन न ढूंढना पड़े। कमेटी के सामने जो गवाहियाँ गुजरीं उनका सारांश तो यह था कि भारतीय किसान को लम्बे रेशे की रुई उपजाने में कोई लाभ नहीं है इसलिये वह ऐसी रुई की खेती न करेगा, क्योंकि वह जिन कपासों की खेती करता है वह छोटे रेशेवाली होने पर भी ज्यादा होती हैं और ज्यादा पैसे लाती हैं। इतने पर भी कमेटी ने यही निश्चय किया कि ऐसे उपाय और साधन ढूँढ़ निकालने चाहिये कि लम्बे रेशेवाली कपास की खेती होने लग जाय। केवल लंकाशायर के ही लाभ के लिये सिंध और पंजाब में विदेशी कपासों की खेती की परीक्षा हो रही है। मद्रास में भी कुछ भाग पर बहुत कुछ ध्यान दिया जा रहा है और इसी मतलब से अच्छी देशी कपासों की उन्नति

करायी जा रही है। भारत को विलायत की जरूरतें पूरी करनी हैं और हमारा यही काम होना चाहिये और अभी तो कल की बात है कि लम्बे रेशे की कपास की खेती के विषय पर सम्वत् १९७६ के औद्योगिक कमीशन ने तो कह ही डाला कि "संसार के कपड़े के रोज़गार की दृष्टि से और विशेष करके महाब्रिटानिया की दृष्टि से इस परीक्षा के फल की प्रतीक्षा में हम ठहर नहीं सकते, क्योंकि यह बहुत आवश्यक और शीघ्रता का काम है।"

२६. 'रेलों की' ओर से धक्का

भारत को विदेशी कपड़ों का एक बहुत भारी ग्राहक और रुई का एक भारी उपजाने और भेजनेवाला बनाने में अंगरेजी सरकार ने जितने काम किये हैं उनका हमने दिग्दर्शन कराया है। परन्तु सूत और कपड़े के व्यवसाय के ऊपर रेलों के चलने का जो प्रभाव पड़ा है, उसका वर्णन बिना दिये यह दिग्दर्शन अपूर्ण रह जायगा। जब लार्ड डलहौज़ी ने भारतीय रेलों पर अपनी प्रसिद्ध रिपोर्ट लिखी उस समय उन्होंने यह उद्देश्य नहीं छिपाया कि यहाँ रेलों के चलाने का ख़ास मतलब यही था कि उनके द्वारा आसानी से रुई विलायत भेजी जा सके और विलायत के बुने कपड़े हिन्दुस्तान में लाये जा सकें और देश के कोने २ में फैलाये जा सकें। जी. आई. पी. रेलवे की पहिली नींव रखने वाला जान चैपमेन था। उसने संवत् १९०८ में भारतीय रेलों के ऊपर एक पोथी ही लिख डाली। इस पुस्तक का एक मात्र उद्देश्य यही था कि इस बात पर अच्छी तरह विचार हो कि रेल की पटरियाँ कैसे बिछाई जायँ कि भारत की रुई ले जाने में सबसे ज्यादा

सुभीता हो। संवत् १९०८ में इसी देश में सवा करोड़ से लेकर पौने चार करोड़ मन तक रुई खर्च हो जाती थी और केवल साढ़े सैंतीस लाख मन तक बाहर जाती थी, अर्थात् रुपये में आने दो आने से ज्यादा बाहर नहीं जा पाती थी। रेलों के चलने के बाद ही रुई की खपत भारतवर्ष में बड़ी जल्दी २ घट गयी और जब रेलों ने व्यापार को बढ़ा दिया और रुई तेजी से बाहर भेजी जाने लगी तो उसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि रुई की दर बहुत जल्दी चढ़ गयी। दर चढ़ जाने से किसानों के हाथ में पैसा ज्यादा आने लगा और वह बाहर भेजने में मुनाफ़ा समझने लगे। चैपमैन ने लिखा है कि संवत् १९०० में रुई तीन आने सेर बिकती थी। संवत् १९०८ में चार आने सेर हो गयी और बारह बरस पीछे छः आने सेर हो गयी। रेलों ने उनका और भी लाभ निकाला। देश के बिलकुल भीतरी भागों में उन्हीं की बदौलत विलायती कपड़ों ने सहज में बाजारों को हथिया लिया। इङ्गलिस्तान का बना हुआ माल रेलें कोने कोने में और दूर दूर पहुँचाने लगीं और देशी कला, कौशल और व्यवसाय का सर्वनाश कर डाला। अक्सर यह बहस की जाती है कि रेलों ने जो इस देश में एक तरह का आर्थिक विप्लव किया है उससे उन्होंने कोई हानि नहीं की है बल्कि उलटे उसके व्यापार को लाभ ही पहुँचाया है। पर इस बहस की माया आसानी से दूर की जा सकती है। श्री एच० के० कार्नवेल ने इंगलिस्तान के आर्थिक विप्लव का भारतवर्ष के आर्थिक विप्लव से मोकाबिला करके इस बात की बड़ी योग्यता से अटकल की है कि भारतवर्ष को कितनी हानि पहुँचायी गयी। उन्होंने लिखा है—

इंगिलस्तान में जो आर्थिक विप्लव हुआ है वह वहां की स्वदेशी शक्तियों के बल से हुआ है। देश में गड़बड़ी की अवस्था में पूंजीवाले अपने पुराने क्षेत्र को छोड़ कर नये क्षेत्र में गये और मजदूर भी पुराना काम छोड़ कर नया करने लगे। बाहरी फेर बदल के साथ साथ भीतरी व्यवसाय भी बदल गया। इस गड़बड़ के युग के बीत जाने पर नयी स्थिरता की दशा स्थापित हो गयी है। यह सच है कि इंगिलस्तान के पूंजीवालों के हाथ से उनका पुराना कारबार निकल गया। पर साथ ही उन्हें नया और अधिक अच्छा कारबार मिल गया। मजदूर लोग पुराने व्यवसाय से निकल कर नये और अधिक विस्तीर्ण क्षेत्र में काम करने लगे। परन्तु भारतवर्ष में क्या हुआ? यहाँ बड़े लोग पहले हाकिम, सिपाही, बड़े २ अफसर आदि की हैसियत से काम करते थे और उनकी अच्छी आमदनी थी। वह सब खो बैठे। रेलें जो नयी नयी चलीं तो उससे किसानों को तो कोई बदले की आमदनी नहीं हुई। वह लोग सारे देश में कई करोड़ों की संख्या में खेतीबारी के सिवाय जो पुराने उद्योग और व्यवसाय में लगे थे विदेशी होड़ उसे धीरे धीरे नष्ट कर रहा है। इसके सिवाय विदेशी होड़ की बदौलत उनके ऊपर सहज ही अड़तालीस करोड़ रुपये का कर लगाया जा सका और यह कर इस बहाने से उनकी जेब से निचोड़ा गया कि आवाजाई की आसानी पैदा की जायगी और देश का फाटक अबाध व्यापार के लिये खोल दिया जायगा। परन्तु इन नयी गाड़ियों के सहारे असहाय ग़रीबों का जो रूपया उन्हें सब्ज़बाग दिखा कर ठग लिया गया यद्यपि रेलों ने किसी तरह पर उनके दुःखों को नहीं घटाया।"

२७. रुई का निर्यात और अनाज का भाव

यह भूलना नहीं चाहिये कि जहाँ बरसों तक बराबर रुई का भाव चढ़ता रहा है वहाँ बहुत कुछ उसी के कारण उसी अनुपात से अनाज़ों का भाव भी चढ़ता रहा है। संवत् १९४७ से संवत् १९८१ तक कपास और अनाज की खेती में जितने एकड़ ज़मीन लगी थी उनका मिलान करने से यह मालूम होगा कि कपास की खेती अनाज की अपेक्षा कितनी बढ़ गयी है।

संवत्	दस लाख एकड़ों की इकाई में कपास	औसत खेती अनाज
१९४९	८·९४५	१८६·७६१
१९७७	१५·३१८	१९९·६६७
१९८१	२६·४८	२१०·०००

सम्भव है कि ज्यों ज्यों आबादी बढ़ी है त्यों त्यों अनाज की खेती भी बढ़ी है। पर भारतवर्ष संवत् १९४९ में जिस तरह आधा पेट खाता था, वैसे ही आज भी आधा ही पेट खाता है। रुई और दूसरी व्यापारी फसलें बढ़ती ही जा रही हैं और ऐसे समय भी आ गये हैं कि लोग कपास, पटसन आदि की खेती करके भूखों मरे हैं। इङ्गलिस्तान के सराफ़े और रुई के बाज़ार की ऐंचपेंच की चालों का प्रभाव भारतवर्ष के दूर दूर के कोनों में भी पड़ा है और बाहर भेजने के लिये फसल उपजाने का पागलपन हर साल बढ़ता जा रहा है।

२८. गांवोंकी बरबादी

भारतवर्ष के आर्थिक जीवन की सच्ची नींव गाँवों में थी। वह बदल कर शहरों में आ गयी। गाँवों की घर-गिरस्ती बरबाद हो गयी। हर तिजारती शहर के लिये जो भारतवर्ष में पैदा हो गये, गाँवों के सैकड़ों घर उजड़ गये और गिरकर मिट्टी में मिल गये। भारतवर्ष में जब बृटिश राज्य हो गया तो कताई का व्यवसाय बरबाद हो गया। मतलब गाँठनेवाले विदेशियों की बेई-मानी और लालच का शिकार हो गया। चरखे कोने में पड़े सड़ने लगे या चूल्हे में जला दिये गये। जब विदेशी और विशेषकर अंगरेजी कपड़ा बिना रोकटोक के देश में भरने लगा और दस्त-कारों के ऊपर जुल्म किये जाने लगे तो कताई का अंत हो गया। बाजार करने और लाने ले जाने की अत्यन्त आसानी हो जाने से अवस्थाएँ इतनी तेजी से बदलने लगीं कि कताई को सँभलने का मौका न मिला। यह परिणाम अनिवार्य्य था। इतिहासकार विलसन ने लिखा है—

"बहुत पहले संवत् १८६३ में ही पार्लियामेण्ट में कम से कम एक अंगरेज़ ने तो ऐसी अपूर्व बात कह डाली थी जो आज दिन बिलकुल सच्ची ठहर रही है। उसने पार्लियामेन्ट में कहा कि जब भारतवर्ष से बहुत काफी कच्चा माल आने लगेगा तो जो जमाना मैं धीरे धीरे आता देखता हूँ वह जल्दी आ जायगा। उस जमाने में भारत के रहनेवाले विलायत से अपनी ही रुई के बने कपड़े पावेंगे और बनवाई, बीमा, कमीशन, एजन्सी और ढुलाई आदि सभी कामों के नफे इङ्गलिस्तान को देंगे।"

अगर गवर्नमेण्ट की नीति देशी कारीगरी की रक्षा की होती तो

पच्छाही बुद्धि कितनी ही उत्तम कलें तैयार करके सामना करतीं तब भी चरखे की कताई हमारे यहाँ जीवित रहती । पर यह तो होनी ही न थी । करोड़ों की दरिद्रता की नींव पर ही अङ्गरेजी व्यापार के महल को खड़ा होना था । एक समय में बर्क सरीखे अँगरेजों को आशा थी कि वृटिश राज्य की स्थापना से गरीब मेहनती किसान की हाँडी में नित्य एक मुट्ठी चावल पड़ जाया करेगा । परन्तु आज जो परिणाम प्रकट है, वह तो यह है कि वृटिश राज्य के पहले जो चावल हाँड़ी में था वह भी मृगतृष्णा की तरह गायब हो गया ।

तीसरा अध्याय



हाथ की कताई बुनाई से क्या क्या हो सकता है? भारत के मिल व्यवसाय से उसका मिलान

१. बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आरम्भ

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम ज्योंहीं कदम रखते हैं तो देखते हैं कि भारत विदेशी और भारतीय मिल के बने कपड़ों में डूब रहा है। लोगों का रोजगार हाथ की कताई नष्ट हो गयी है। कहीं कहीं जो चरखा चलता भी है तो वह इस बात की गवाही देता है कि हम किस भारी बरबादी से बची हुई पुरानी निशानी हैं। जो सुन्दर हाथ के कते हुए सूत के बने कपड़े किसी ज़माने में बहुत लोकप्रिय थे वह बाज़ार से निकाल बाहर कर दिये गये हैं। हमारे गाँव के कारीगरों का व्यवसाय और कारबार अब कहीं देखने में नहीं आता। आज भारतवर्ष संसार का वह पहलेवाला भारी कारीगर नहीं रह गया है। अब वह दूसरे को कपड़े नहीं पहनाता। अब उसे खुद विदेशों से मोटा, महीन, सफेद, रंगीन सभी तरह का कपड़ा बहुत बड़ी मात्रा में मिलता है। विदेशी शिकारियों के लिए यह भूमि अहेर की जगह हो गयी है। बड़े

भारी २ राजनीतिज्ञ लोगों ने किताबें लिखीं और गरीब की झोंपड़ी की बरबादी का रोना रोये पर उनमें से किसीने देखने में पुराने व्यवसाय को फिर से जिलाने का प्रश्न अपने सामने नहीं रक्खा। जो अर्थशास्त्रीय विचार रवाज की तरह चल रहे थे उनमें इस बात की गुंजाइश न थी कि जिनको वह भद्दे दकियानूसी और गयेबीते औजार कहते थे उन्हें फिर से काम में लाने का विचार करें। ख्याल तो यह किया गया कि किसी बीते युग की बात को फिर से चलाने में कोई लाभ नहीं है। चरखे के ऊपर आँसू गिराना बेकार है। अब तो हमें अपनी वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल रीतियों से स्वदेशी का निर्माण करना चाहिये और कमर कस लेना चाहिये। वह हमारी वर्तमान अवस्थाएँ क्या हैं? वह यह हैं कि यंत्र के संसार में इस समय बहुत नयी २ ईजादें हुई हैं और बाज़ार में हाल में जो साख के सुभीते पैदा हुए हैं उन्हीं के साधनों से भरसक काम लेना और यंत्रों के सहारे स्वदेशी को चलाना वर्तमान काल के अनुकूल है।

२. चरखे का पुनर्जीवन

इसमें संदेह नहीं कि स्वदेशी आन्दोलन से राष्ट्र को यह मौक़ा मिला कि अपनी स्थिति के भीतर निगाह डाले, असलियत को टटोले। लोगों को लाचार हो समझना पड़ा कि जैसी हमारी प्रवृत्ति और परिस्थिति है ठीक उसी के अनुकूल हम बढ़ भी सकते हैं। लोग इस बात से भी खबरदार हो गये कि अब हम सीधे सर्वनाश के गड्ढे में न गिरें और जिस तरह पर हमको ज्यों त्यों जीता रक्खा जाता है उस विधि से बचें। राष्ट्र को धक्का लगा

और उसे चेतना पड़ा कि अपने ही बल पर निर्भर रहें। फल यह हुआ कि राष्ट्र में स्वावलम्बन के नये विचार फैलने में भारी प्रोत्साहन मिला। बहुत गंभीरता से इस बात पर विचार होने लगा कि भारत की कला और कारीगरी फिर से किस प्रकार जिलायी जाय। हाथ के करघे के व्यवसाय को सहायता पहुँचाने के उपायों का बड़ी योग्यता और बहुत ज़ोर से समर्थन किया गया। कला के प्रसिद्ध प्रेमी हावेल और आनन्दकुमार स्वामी के लेख इसके उदाहरण हैं। बस, इतनी बात के सिवा जहाँ तक कपड़ों का नाता है, देश में सब लोगों की निगाहें केवल स्वदेशी मिल के व्यवसाय की ओर लगी हुई थीं। अर्थ-शास्त्र पर जितने ग्रंथ थे इसी मिल-व्यवसाय को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिये बाधक कर, लेनदेन और साख संबंधी क़ानून और दूसरे चालाकी के ढंग, विस्तार से बताये गये थे और उन पर विचार किया गया था। राष्ट्र की निगाह में तो अभी चरखा आया ही न था, भारत के राष्ट्रीय जीवन में चरखे का प्रवेश कराना महात्मा गांधी का ही अनोखा और विशिष्ट काम है। महात्माजी का चित्त सदैव खोज और आत्म-परीक्षा की ओर लगे रहने का आदी है। वह निरंतर करोड़ों गरीबों की स्थिति में अपने को रख कर सोचा करते हैं और उनकी पीड़ा घटाने की सदा उनकी इच्छा रहती है। ऐसी दशा में उनके आत्मदेव का चरखे का ओर रुजू होना स्वाभाविक ही है। सम्भव है कि बहुत बरस हुए जब उन्होंने रसकिन और टाल्स्टाय की पुस्तकों का अनुशीलन किया था उसी समय जनता के लिये कोई व्यवसाय ढूँढ़ने का विचार उदय हुआ हो। वह विचार चरखे के पुनरुज्जीवन से कुछ मिलता जुलता रहा होगा।

मन में एकाएकी कोई अच्छी बात बैठ गयी और उनकी ज्ञान की दृष्टि के सामने रोग और उसका इलाज दोनों ही एक साथ चित्रित हो गये। करोड़ों आदमियों की दिन पर दिन बढ़ती हुई दरिद्रता को दूर करने के लिए एकमात्र सबको लाभ पहुँचानेवाला इलाज चरखे का सार्वभौम प्रचार ही सूझा होगा। संवत् १९६५ की छपी हुई उनकी पोथी हिन्दस्वराज्य में पहले पहल कताई की चरचा उनके लेखों में पायी जाती है। उसमें महात्माजी वकीलों व्यापारियों और मिलमालिकों को कातने की आज्ञा देते हैं। महात्मा गाँधी में शुद्ध स्पष्ट स्वरों में मनुष्यता बोल उठी कि सारे संसार को एक ही माँग और खपत के नियम कहलाने वाली लाठी से हाँकने से काम न चलेगा। जो बातें मनुष्यता से सम्बंध रखती हैं वह आर्थिक भी होनी चाहियें और व्यवहार-साध्य भी। और इसी विश्वास पर चरखे की बात पर ज़ोर दिया गया।

३. चरखा और अर्थशास्त्र

अब यह बात देखी जा रही है कि राष्ट्र के कार्यक्रम में चरखा सब से ऊँचा स्थान लेने को आया है।❀

❀ संवत् १९७७ के विशेष कांग्रेस में हर नर नारी और बच्चे के लिये स्वार्थ-त्याग और आत्मसंयम के उपाय के रूप में हाथ की कताई-बुनाई और खद्दर का पहनना निश्चित हुआ, उसी साल नागपूर के कांग्रेस में यही मन्तव्य दोहराया गया। फिर वैजवाड़े में संवत् १९७८ में यह निश्चय किया गया कि बीस लाख चरखे चलवाने के लिये पूरी कोशिश की जाय। कुछ छः महीने बाद दिल्ली में जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमीटी

परन्तु प्रश्न यह है कि राष्ट्र के लिये चरखे में योग और क्षेम दोनों ही है या नहीं। क्या खद्दर उपयोगी व्यवहार-साध्य अर्थ-शास्त्र के अनुकूल प्रस्ताव है ? क्या यह जीती जागती और अनिवार्य्य राष्ट्रीय आवश्यकता का रूप है ? इन प्रश्नों के उत्तर पर और इन्हीं की तरह और प्रश्नों के उत्तर पर चरखे का भविष्य निर्भर करता है। यदि अर्थशास्त्र को योग और क्षेम के विज्ञान के रूप में निर्माण करना है तो निश्चय उसका यही एक निर्विवाद सिद्धान्त हो सकता है कि सम्पत्ति उपजानेवाली देश की सारी ताक़तें पूरा पूरा काम करें और इन्हीं का विकास और इन्हीं की रक्षा की जाय। परन्तु जितने आर्थिक काम किये जाते हैं उनका विशेष उद्देश्य केवल सम्पत्ति को जैसे तैसे रूप में ही उपजाना न होना चाहिये,

---

की बैठक हुई उसमें स्वेच्छा सेवकों के लिए हाथ की कताई जानना अनिवार्य कर दिया गया और यह भी निश्चय किया गया कि जो ज़िले या प्रान्त सत्याग्रह की तैयारी करना चाहते हों उन्हें यह दिखाना चाहिये कि उन्हीं के यहाँ के बने हुए खद्दर उनकी आबादी में सैकड़ा पीछे साठ आदमी पूरी तौर पर पहनते हैं। जब महात्मा गांधी जेल से छूट कर आ गये थे उस समय संवत् १९८१ के जून के अन्त में अहमदाबाद में यह निश्चय किया गया कि कांगरेस के जितने अंगों का चुनाव होता है उनका हर सदस्य नित्य आधा घंटा चरखा काते और अखिल भारतीय खद्दर बोर्ड को साल में बराबर और अच्छा कता हुआ दो हजार गज सूत दे। तर्क से अपनी खुशी से कातने का जो परिणाम हो सकता था वही हुआ और कांगरेस ने मेम्बरी की शर्त में क़ातना दाखिल कर लिया। अब वही शर्त अखिल भारतीय चरखा संघ के सदस्यता की है और कांगरेस ने अपनी मेम्बरी की शर्तों में कताई की शर्त ऐच्छिक रखी है।

वरिक सम्पत्ति को ऐसे रूपों में ही पैदा करना होना चाहिये जिनसे देश की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। हमारे यहाँ के लोगों की परिस्थितियों के अनुकूल जो आवश्यकताएँ मामूली तौर पर हुआ करती हैं और जैसा इस देश का सामाजिक संगठन है और जैसी प्रवृत्तियाँ हैं वैसे ही हमारे क्षेम के भी आदर्श हैं। आवश्यकता पूरी करनेवाली सम्पत्ति पैदा करना बहुत कुछ इन्हीं आदर्शों पर अवलम्बित होगा। हर राष्ट्र के विशेष रूप रंग होते हैं और उन्हें व्यक्त करने का अपना अपना अनोखा ढंग होता है, उसकी सामाजिक शक्तियाँ जटिल होती हैं। यही सब बातें मिलकर राष्ट्र की विशेष प्रकृति बनाते हैं। असल बात यह है कि अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त से जो मालियत और परिमाण ठहरा लिये जायँ वे ऐसे न होने चाहियें जो इस प्रकृति की नींव को ही हिला दें। जिन दशाओं में जिस काल में मनुष्य रहता है या रहने को लाचार किया जाता है, साधारण आर्थिक उपाय भरसक उन्हीं दशाओं से अनुकूल और मिले जुले होने चाहियें। इस बात को तय करने में कि राष्ट्र को क्या चाहिये या वह क्या चाहता है आर्थिक और नैतिक दोनों तरह के मानव भाव और शक्तियाँ निरंतर भीतर ही भीतर काम करती रहती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो परिमाण एक राष्ट्र के मामलों में लगते हैं दूसरे राष्ट्र के मामलों में भी वही खामखाह लग जायँ। यह हो सकता है कि हमारे राष्ट्र की तरह और भी किसी राष्ट्र के लिये सबसे ज्यादा जरूरी और पहला प्रश्न यही है कि हम कैसे जीते रहें, जीवन की रक्षा कैसे करें। सुख से जीना और आराम से रहना तो पीछे के सवाल हैं और जीने का उपाय हो जाने पर ही उठते हैं। भार-

तीय घरों में तो आज एक ही चिन्ता है कि हम कैसे जीते रहें ? अगर देहात के घर या झोंपड़े के भीतर रोटी कपड़े से वे फिकरी हो या योगक्षेम की नींवँ पड़ जाय तो समझ लेना चाहिये कि भारत का सवाल लगभग हल ही हो गया। अगर घरों में रोटी-कपड़े से लोग निश्चिन्त हो जायँ और काम करने से मन जो भागता है, यह दोष मिट जाय तो राष्ट्रीय योगक्षेम तो अपने हाथ में समझना चाहिये। अपने ऊपर निर्भर करना, वह काम करना जिससे कुछ उपजे और हर मनुष्य की सब ताक़तों को काम में लाना हो, हमें इन बातों को आगे की उन्नति की जड़ बुनियाद बनाना पड़ेगा। असल प्रश्न यह नहीं है कि कुछ लोग अपने पड़ोसियों के मत्थे अमीर हो जायँ। वह तो इस बात का प्रश्न है कि एक दूसरे की मदद और मिलजुल कर काम करने के सिद्धान्त पर सारे राष्ट्र की किस विधि से रक्षा करें। और हमारे उद्देश को वह सभी उपाय लाभ पहुँचा सकते हैं जिनसे कि उपजाने की योग्यता राष्ट्र की बढ़ जाय, राष्ट्र का कुल मुनाफ़ा बढ़ जाय, और इस मुनाफ़े की ठीक ठीक बँटाई भी सारे राष्ट्र में हो जाय, किसी तरह की रुकावट न पड़े।

यह भी याद रहे कि पैदा करने कि योग्यता बढ़ाने में लोगों के ऊपर बेजा दबाव या जब्र न डाला जाय कि लोग अपनी इच्छा और स्वार्थ को छोड़ कर और किसी ढंग पर काम करने लगें।

४. चरखे पर आपत्ति

इस उदार और सार्वजनिक दृष्टि से जब हम देखते हैं तो दर और चरखे की छिपी शक्तियाँ देश के सबसे उत्तम विचार

तीय घरों में तो आज एक ही चिन्ता है कि हम कैसे जीते रहें। अगर देहात के घर या झोंपड़े के भीतर रोटी कपड़े से वे फिकरी हो या योगक्षेम की नीवँ पड़ जाय तो समझ लेना चाहिये कि भारत का सवाल लगभग हल ही हो गया। अगर घरों में रोटी-कपड़े से लोग निश्चिन्त हो जायँ और काम करने से मन जो भागता है, यह दोष मिट जाय तो राष्ट्रीय योगक्षेम तो अपने हाथ में समझना चाहिये। अपने ऊपर निर्भर करना, वह काम करना जिससे कुछ उपजे और हर मनुष्य की सब ताकतों को काम में लाना हो, हमें इन बातों को आगे की उन्नति की जड़ बुनियाद बनाना पड़ेगा। असल प्रश्न यह नहीं है कि कुछ लोग अपने पड़ोसियों के मत्थे अमीर हो जायँ। वह तो इस बात का प्रश्न है कि एक दूसरे की मदद और मिलजुल कर काम करने के सिद्धान्त पर सारे राष्ट्र की किस विधि से रक्षा करें। और हमारे उद्देश को वह सभी उपाय लाभ पहुँचा सकते हैं जिनसे कि उपजाने की योग्यता राष्ट्र की बढ़ जाय, राष्ट्र का कुल मुनाफ़ा बढ़ जाय, और इस मुनाफ़े की ठीक ठीक बँटाई भी सारे राष्ट्र में हो जाय, किसी तरह की रुकावट न पड़े।

यह भी याद रहे कि पैदा करने कि योग्यता बढ़ाने में लोगों के ऊपर बेजा दबाव या जब्र न डाला जाय कि लोग अपनी इच्छा और स्वार्थ को छोड़ कर और किसी ढंग पर काम करने लगें।

४. चरखे पर आपत्ति

इस उदार और सार्वजनिक दृष्टि से जब हम देखते हैं तो खद्दर और चरखे की छिपी शक्तियाँ देश के सबसे उत्तम विचार

करनेवालों को बरबस ही अपने पक्ष में कर लेती हैं। फिर भी कताई की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचारों और अटकलों में बहुत कुछ अंतर है। कुछ लोगों के लिये चरखे में कोई राजनीति नहीं है, केवल कटी और चिरी हुई लकड़ियाँ हैं। कुछ और लोग हैं जिनको उसकी आर्थिक उपयोगिता में भी संदेह है। महा-माननीय श्री श्री निवासशास्त्री ने एक बार कताई को ऐसा आर्थिक भ्रम ठहराया था जो परीक्षा की कसौटी पर कसा नहीं गया है। इस तरह उन्होंने असल में थोड़ा बहुत शुद्ध ही रूप से उन लोगों का भी विचार प्रगट किया था जो संदेहवादी हैं। क्या चरखा एक टोटका मात्र है या उसमें ऐसी आर्थिक या दूसरी शक्तियाँ हैं जो राष्ट्र के लिए बहुत लाभदायक और व्यापक उपयोगिता रखती हैं जिसके लिये उस पर ध्यान दिये बिना काम नहीं चल सकता। इस प्रश्न का परिशीलन आरम्भ करने का उत्तम उपाय यही जान पड़ता है कि पहले पहल उन्हीं प्रधान आपत्तियों की जाँच की जाय जो अर्थशास्त्रीय और दूसरे लोग चरखे के विरुद्ध पेश करते हैं। कताई को फिर से जिलाने के विरोध में अब तक जो कुछ कहा गया है सबका विश्लेषण करने से मालूम होगा कि विशेष बहस इन्हीं रीतियों पर की गयी है।

(१) कताई दिन भर मजूरी करने का रोजगार नहीं हो सकता और यह कि अत्यन्त मर्यादित रूप में अगर यह कुछ हो सकता है तो फुरसत की घड़ी का एक गौण काम हो सकता है।

(२) और ऐसा अगर सम्भव भी हो तो गरीब लोगों को काम में लगाने के लिए और भी सुभीते के रोजगार हैं, जिनमें ज्यादा किफायत है और अधिक आमदनी है।

(३) अगर थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि चरखे से राष्ट्र के लिए कुछ बचत होगी तो वह बचत अत्यन्त थोड़ी और बहुत महँगी भी होगी।

(४) इन तीनों बातों के सिवाय एक और भी विचार है कि चरखे में अगर सब तरह के लाभ भी मान लिए जायँ तो भी मिलों की होड़ को चरखा सह नहीं सकता। इन सब आपत्तियों को एक एक करके जाँचना और विचार करना उपयोगी होगा।

५. पहली आपत्ति पर विचार

चरखे के अधिक से अधिक उत्साही समर्थकों ने भी अब तक कभी यह बात नहीं सुझाई है कि दूसरे व्यवसायों और मजूरियों के बराबर दिन भर की मजूरी चरखा कातने से मिल सकेगी। कताई की मजूरी शायद कभी दो तीन आने रोज़ से ज़्यादा नहीं हो सकती। निश्चय ही अकाल के कष्टों से बचाने के लिए चरखा जरूर काफी है क्योंकि अकाल की मजूरी का सरकारी परिमाण दो आने रोज से भी कम है। इसलिए इस हद तक तो चरखे की उपयोगिता निर्विवाद है। परन्तु हमारे देश के किसान आदिकों की भारी आबादी के लिए क्या बचे समय के लिए चरखा एक सहायक रोजगार हो सकता है और उनकी आमदनी में कुछ अच्छी रकम जोड़ सकता है? यही मतभेद है अ र यहीं विवादों का आरम्भ होता है।

६. भारत की दरिद्रता

जो हो, कुछ बातें तो अवश्य ही निर्विवाद हैं। यह तो निर्वि-

चाद ही है कि हमारी जनता ऐसे हद तक दरिद्र होगयी है कि बाहरी सुननेवाले को सहसा विश्वास नहीं होता। जब से दादाभाई नौरोजी ने भारतीय आवादी की सिर पीछे आमदनी निकालने की कोशिश की तब से एक दर्जन के लगभग अटकलें की गयी हैं। भिन्न २ अर्थ-शास्त्रियों ने भिन्न भिन्न समयों पर अटकलें निकाली हैं वह सब नीचे दी जाती हैं।

इस सारिणी के सभी अंक ब्रिटिश भारत के लिये हैं। जिन पुस्तकों के अंक हैं, वह सभी अंग्रेजी के ग्रन्थ हैं।

किताबों का नाम	वर्ष जिसका अटकल लगाया गया है संवत्	कुल आमदनी इतने करोड़ रुपये में	आमदनी सिर पीछे रुपये में
(१) Poverty and un-British rule in India (Dadabhai Naoroji)	१९२४	३४०	२०
(२) Financial Statement for 1882	१९३८	५२५	२७
(३) Prosperous British India (William Digby)	१९५५	४२९	१७·५
(४) financial Statement for 1901–2 (Lord Curzon)	१९५८	६७५	३०
(५) The Wealth of India (Prof P. A. Wadia & G. N. Joshi)	१९७०	२२१०	४४
(६) Wealth and Taxable			

(३) अगर थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि चरखे से राष्ट्र के लिए कुछ बचत होगी तो वह बचत अत्यन्त थोड़ी और बहुत महँगी भी होगी।

(४) इन तीनों बातों के सिवाय एक और भी विचार है कि चरखे में अगर सब तरह के लाभ भी मान लिए जायँ तो भी मिलों की होड़ को चरखा सह नहीं सकता। इन सब आपत्तियों को एक एक करके जाँचना और विचार करना उपयोगी होगा।

५. पहली आपत्ति पर विचार

चरखे के अधिक से अधिक उत्साही समर्थकों ने भी अब तक कभी यह बात नहीं सुझाई है कि दूसरे व्यवसायों और मजूरियों के बराबर दिन भर की मजूरी चरखा कातने से मिल सकेगी। कताई की मजूरी शायद कभी दो तीन आने रोज़ से ज़्यादा नहीं हो सकती। निश्चय ही अकाल के कष्टों से बचाने के लिए चरखा ज़रूर काफी है क्योंकि अकाल की मजूरी का सरकारी परिमाण दो आने रोज से भी कम है। इसलिए इस हद तक तो चरखे की उपयोगिता निर्विवाद है। परन्तु हमारे देश के किसान आदिकों की भारी आबादी के लिए क्या बचे समय के लिए चरखा एक सहायक रोज़गार हो सकता है और उनकी आमदनी में कुछ अच्छी रकम जोड़ सकता है? यही मतभेद है और यहीं विवादों का आरम्भ होता है।

६. भारत की दरिद्रता

जो हो, कुछ बातें तो अवश्य ही निर्विवाद हैं। यह तो निर्वि-

बात ही है कि हमारी जनता ऐसे हद तक दरिद्र होगयी है कि बाहरी सुननेवाले को सहसा विश्वास नहीं होता। जब से दादाभाई नौरोजी ने भारतीय आबादी की सिर पीछे आमदनी निकालने की कोशिश की तब से एक दर्जन के लगभग अटकलें की गयी हैं। भिन्न २ अर्थ-शास्त्रियों ने भिन्न भिन्न समयों पर अटकलें निकाली हैं वह सब नीचे दी जाती हैं।

इस सारिणी के सभी अंक ब्रिटिश भारत के लिये हैं। जिन पुस्तकों के अंक हैं, वह सभी अंग्रेजी के ग्रन्थ हैं।

किताबों का नाम	वर्ष जिसका अटकल लगाया गया है संवत्	कुल आमदनी इतने करोड़ रुपये में	सिर पीछे आमदनी रुपये में
(१) Poverty and un-British rule in India (Dadabhai Naorcji)	१९२४	३४०	२०
(२) Financial Statement for 1882	१९३८	५२५	२७
(३) Prosperous British India (William Digby)	१९५५	४२९	१७·५
(४) financial Statement for 1901-2 (Lord Curzon)	१९५८	६७५	३०
(५) The Wealth of India (Prof P. A. Wadia & G. N. Joshi)	१९७०	२२१०	४४
(६) Wealth and Taxable			

Capacity of India	१६५७	११०६	३६
(prof. Shah &			
Khambatta)	१६७१	१८६२	५८·५
	१६५७	१३८०	४४·५
	१६७८	२३६४	७४
(७) Reconstructing India	१६६८		३६
(Sir M. Visweswarayya)			
(८) The Average Income of			
India (Prafull Chandra			
Ghose)	१६७६		५१·८
(६) Indian Economics			
(prof V. G. Kale)			४० से ४८
(१०) Industrial Decline of			
India (Dr. Balkrishna)	१६६८	५३६	२१
(११) The Science of public			
Finance	१६७८	२५६८	१०७
(Findlay Shirras)*	१६७६	२६६८	११६

* श्रीफिन्डली शिरस की अटकल घोर अतिशयोक्ति है। उनके हिसाब करने के ढंग बिलकुल मनमाने हैं, जैसे, वह फसिल की मालियत दूसरे समसामयिक अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा दूनी लगाते हैं। उन्होंने जो कुछ रुपया जमा हुआ सब को जोड़ लिया। वह भी केवल एक साल का, मालगुजारी आदि का देना चुका कर कई साल का औसत लगा कर आमदनी नहीं निकाली है। फिर जो आमदनी खेती के द्वारा नहीं हुई उसके लिये अलग अलग कोई अंक नहीं दिये हैं, बल्कि अपने मन से उसे आठ अरब तिरासी करोड़ रख दिया है अर्थात् खेती से जो कुछ आमदनी होती है उसको सैकड़ा मान कर चालीस रखा है।

इन सब में जिन लोगों ने भारतीय आबादी की आमदनी सिर पीछे ५०) से अधिक रखी है उनका अन्दाजा ठीक नहीं है।*

यह तो निर्विवाद रीति से मानी हुई बात है कि भारतवर्ष संसार में आज सब से दरिद्र देश है। यहाँ के गरीबों की दशा देखकर अकल चकरा जाती है। प्रोफ़ेसर शाह ने लिखा है कि "भारत के सारे धन की तिहाई को उसकी सारी आबादी में सौ में से एक भाग ही भोग रहा है। और अगर इन भोगनेवालों के भरोसे बैठे खानेवालों को भी गिन लिया जाय तो भी सौ में पाँच से अधिक नहीं ठहरते। तिहाई धन से कुछ थोड़ा अधिक या सैकड़ा पीछे लगभग पैंतीस के कुल आबादी की एक तिहाई

---

* थोड़ी देर के लिए दूसरे देशों के लोगों की आमदनी की अटकल पर अगर कोई निगाह डाले तो वह यह समझ सकेगा कि भारतवर्ष की दरिद्रता कैसी भयानक है।

नीचे जो सारिणी हम देते हैं उसमें युद्ध के पहले की सभी देशों की सिर पीछे आमदनी गिन्नीयों में और रुपयों में दिखायी गयी है।

देश	सिर पीछे आमदनी	
विलायत (महाब्रिटेन)	५० गिनी	७५०) रु०
अमेरिका के संयुक्तराज्य	७२ "	१०८०) "
जरमनी	३० "	४५०) "
फ्रांस	३८ "	५७०) "
इटली	२३ "	३४५) "
कनाडा	४० "	६००) "
आस्ट्रेलिया	५४ "	८१०) "
जापान	६ "	९०) "
भारतवर्ष	२·४ "	३६) "

संवत् १९७८ के अंकों से १९६८ के अंकों का मिलान

दलाली, कमीशन, और निर्यातवाले	२४,२६,२८
) कपड़े के व्यापारी	१२,८६,२७ ७
) खाल, चमड़े और समूर के व्यापारी	२८,३८,६२
) काठ के व्यापारी	२२,७६,६७
) धात के व्यापारी	६४,१६,८८
) मिट्टी के बरतन, खपरों, ईंटों के व्यापारी	६२,४२ ८
) रासायनिक पदार्थों के व्यापारी	१२,००,२८
) होटल, चाय काफी और शरबतवाले	७०,६३,३२
) भोजन के पदार्थों के और व्यापारी	९२,८२,६५,१
) कपड़े और शृङ्गार की वस्तुओं के व्यापारी	२८,५८ ६८
) सजावट के असबाब के व्यापारी	१७,३१,८८
) इमारती सामान के व्यापारी	७६,८१,०
) ढुलाई के साधनों के व्यापारी	३३,१९,००
) ईंधन के व्यापारी	५१,९२,९६
) व्यसन की और कला, विज्ञान और साहित्य की वस्तुओं के व्यापारी	४५,९८,६८
) और तरह के व्यापारी	३०,४८,५७,०
ञ) शासन-विभाग और उदार कलायें	९८,४३,०५,०
ज	
१) थल-सेना	२१,८१,५९,७
२) जल-सेना	५७,१
३) वायु-सेना	१०,३२
४) पुलीस	१४,२२,६१,०

किया जाय तो ज्ञात होगा कि कुल आबादी में किसानों की संख्या ज़रा जल्दी बढ़ी है। उद्योग व्यवसाय बहुत अच्छी तरह घट गये हैं और उनमें से विशेष कर कपड़ों का काम करने वाले बहुत घट गये हैं। लकड़ी और धातु के काम करने वालों में और मिट्टी के बरतन बनाने वालों में भी बहुत घटी आयी है। गाँवों के रहनेवालों में बड़ी तेज़ी के साथ ऐसे लोगों की संख्या बहुत बढ़ रही है जिन के पास अपनी जमीन नहीं है जो किसानों की दी हुई मजूरी पर निर्भर करते हैं और वह भी खेती से ही

७—(४५) राजशासन में नौकरी करनेवाले	२६,४३,८८,२
८—पेशे और साहित्यिक कलाएँ	
(४६) सम्प्रदायों में नौकरी करनेवाले	५०,२०,५७,१
(४७) कानून पेशा	२४,५२,६१,४
(४८) चिकित्सा व्यवयी	३३,६५,१०
(४९) शिक्षा व्यवसायी	६५,९५,८३
(५०) साहित्य, कला और विज्ञान व्यवसायी	८०,५२,२८
(घ) विविध	७६,१६,३६
९—(५१) अपनी आमदनी पर बसर करनेवाले	४७,९८,३५
१०-(५२) घरेलू नौकर	४५,७०,१५,१
११-(५३) वह कारबारी जिनका वर्गीकरण नहीं हुआ	११,०९,८५,३३
१२-निष्फल काम करनेवाले	
(५४) जेल, पागलखाने अनाथालय और खैरातखाने के रहनेवाले	१४,५४,६७
(५५) भिखमंगे, आवारा, और वेश्याएँ	३०,२०,६८,०
(५६) दूसरे निष्फल पेशेवाले	८७,३८,५

१२. कताई असल में खेती का ही बढ़ा हुआ काम है

कुछ ऐसे आलोचक भी हैं जो यह दिखाते हैं कि कताई से सभी तरह की उन्नतियों में बाधा पड़ती है। यहाँ तक कि खेती में भी रुकावटें पड़ती हैं। बेचारे किसान के अभाग्य पर छोह दिखाने का ढोंग रचते हुए ऐसी ही आलोचक सरकार भी बन जाती है और समझदार लोक सेवा करनेवाले को उपदेश दिया करती है कि आप अपना ध्यान कताई की अपेक्षा खेती की उन्नति पर अधिक दीजिए। और उन्नतियों में कताई बाधक है ऐसा मान लेने में जो तर्क-दोष है उसकी पोल आसानी से खोली जा सकती है। यह तो सचमुच बिना कठिनाई के सिद्ध किया जा सकता है कि जब कताई से घर की नेंव मजबूत हो जाती है और उसकी छिपी हुई पैदा करने की ताकत पूरे तौर से काम में आने लगती है तो कताई से सचमुच और सभी के उन्नति के कामों में मदद मिलती है। अभी तक जितने ध्यान से हमने जाँच की है उससे अधिक ध्यान देकर हम विचार करेंगे कि खेती की स्थिति हमारे देश में ठीक ठीक क्या है।

संवत् १९७८ में खेती की दशा का संक्षिप्त स्थिति पत्र

(१) १९१८ में पैमाइश करनेवाले को पैमाइश से रकबा	६६,६६,१९,००,० एकड़
(२) गाँव के कागजों के हिसाब से रकबा	६६,३५,०८,००,० एकड़
(३) जंगल का रकबा	८,५४,१९,००,० एकड़

बढ़ा सकतीं। पिछले कुछ बरसों में जो खेती में सुधार किये गये उनसे पैदावार में कोई बढ़ती नहीं हुई। मेकेन्ना ने लिखा है* कि दस बरस के लगातार काम करने का फल यह हुआ कि साढ़े तीन करोड़ की आमदनी बढ़ी। परन्तु यह किसी गिनती में आने लायक़ नहीं है क्योंकि साधारण वार्षिक आमदनी जो खेती से होती है १० अरब रुपयों के लगभग है। इसी के मुक़ाबिले हम लोग दूसरी ओर यह देखते हैं कि किसान अधिकाधिक ऋणी होता जा रहा है। सर एडवर्ड मकलगन ने संवत् १९६८ में भारत-वर्ष के किसानों के ऋण को तीन अरब के लगभग कूता था। यह अटकल वस्तुतः अत्यन्त थोड़ी है। परन्तु यहाँ उसकी शुद्धता पर विचार करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। आज जो दशा है वह स्पष्ट रूप से बिगड़ी हुई है और बिगड़ते जाने के मार्ग पर है। ऋण तो दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है और उसके ऊपर का व्याज प्रजा को पीसे डाल रहा है।

हमने संक्षेप से यहाँ तक खेती की दशा का दिग्दर्शन कराया है और इन सब बातों का प्रत्यक्ष फल यह है कि करोड़ों प्राणी निरंतर भूख से तबाह हो रहे हैं। देश की परिस्थिति ऐसी विचित्र हो रही है कि खेती के सुधार का वेग अवश्य ही धीमा रहेगा। इस विदेशी राज्य में जो ज़मीन को राज के लिये आमदनी का अच्छा द्वार समझता है और व्यापारी उद्देश्यों और स्वार्थों को साधने के लिए उपाय बनाये हुए है, खेती का सुधार इतना जल्दी नहीं हो सकता कि उससे लाभ हो। निश्चय ही

* Mackenna "Agriculture of India"

उसे पद पद पर कार्य्यदक्षों की सहायता और सलाह की आवश्यकता पड़ेगी। इतना सब होते हुए भी बेकारी की घड़ियों में काम पहुँचाने का सवाल बना रहेगा और अपने उचित हल के लिए चिल्लाता रहेगा। किसान और उसके परिवार के लिए कोई न कोई काम खोज निकालना पड़ेगा। उस काम को भी ऐसे ढँग का होना होगा कि जिससे अकाल और सूखे के समय के लिए वह कुछ बचा भी सके और उससे जीवन के लिए एक बड़ी आवश्यक चीज़ अर्थात् कपड़ा भी उसे मिल सके। बस, यहीं कताई खेती का बहुत ही उपयोगी विस्तार बन जाती है और गरीबी से सताये हुए घर की कामकाजी मददगार हो जाती है। घर में एक चरखे का होना मानो खेती की जोत का बढ़ जाना है। पानी बरसे या न बरसे घरवालों के लिए चरखा कमाई करता रहेगा।

१३. क्या कताई से मजूरी मिल सकती है?

फिर से कताई की तरफ रुजू होना जीवन की एक व्यावहारिक आवश्यकता को मान लेना है। न इससे कम न इससे ज्यादा। पर यहाँ फिर यह पूछा जा सकता है कि क्या कताई से काफ़ी मजूरी निकल आती है? क्या कताई से राष्ट्र की आमदनी में गिनने लायक बढ़न्ती हो सकती है? काले महाशय ने बहुत जी लगा के यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि यदि चरखा सफल भी हुआ तो उससे जो आमदनी होगी वह गिनने लायक न होगी और यदि पूरी आबादी में बाँट दी जाय तो सिर पीछे १।=) मात्र पड़ेगी। यह कहना बहुत भ्रमात्मक है और चरखे के विरोध में इसका कोई मूल्य नहीं है। कालेजी के कथन में अर्थ-

बिलकुल अनुकूल सब से उत्तम धंधा अगर हो सकता है तो कताई है जो आसानी से सीखी जा सकती है, जिसके करने में शारीरिक परिश्रम बहुत कम है और जिसमें कोई पूंजी नहीं लगानी पड़ती। सबसे महत्व की बात तो यह है कि देहात के लिए ऋतु के अनुकूल बहुत उत्तम धंधा है जिससे किसान के परिवार को अच्छी ऊपरी आमदनी हो जाती है जो यद्यपि भारी नहीं है तो भी इतनी काफ़ी है कि सूखे और दुर्भिक्ष के दिनों में किसान को उससे विपत्ति झेलने की ताक़त हो जाती है। यदि सब मिला जुलाकर सारे राष्ट्र की दृष्टि से देखा जाय तो कताई का अर्थ बहुत विशाल हो जाता है। तब कताई का अर्थ होता है भारी से भारी पैमाने पर नयी सम्पत्ति पैदा करना और देश को बरबाद करके बाहर की ओर बराबर बहती जानेवाली धन की धारा को रोकना। व्यक्ति की दृष्टि से भी इसका परिणाम बहुत लाभदायक है। सम्पत्ति जिस तरह से वर्तमान समय में व्यक्तियों में बँटती है उससे अधिक समानता और न्याय से बँटेगी जिससे गरीब आदमी की हालत सुधरेगी और उसकी सामाजिक दशा पहले से अच्छी हो जायगी।

संक्षेप में हाथ-कताई और हाथ के कते सूत की बुनाई को फिर से लोक में रवाज देने से जो लाभ होंगे और सुभीते हैं वह यह हैं।

१४. चरखे से जो सुभीते होंगे उनका संक्षिप्त वर्णन

(१) किसानों में से एक बहुत भारी संख्या को बरस में तीन महीने से लेकर छः महीने तक कोई काम नहीं रहता और सुस्ती

१५. प्रोफेसर शाह का चरखे से विरोध

भारतवर्ष का अर्थशास्त्र वस्तुतः देहात का अर्थ-शास्त्र है और देहात की भारी आबादी में हाथ के काम करने की जो छिपी समाई है उसका जिस किसी उपाय से सदुपयोग हो, भारतीय अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से वह बड़ा अनमोल हथियार और भारी सम्पत्ति होगी। दो भिन्न भिन्न पुस्तकों में दो जगह बम्बई के प्रोफेसर के० टी० शाह ने चरखे की चर्चा की है। उनकी पहले की छपी पोथी में जो चर्चा है उसमें करघे और चरखे के बीच लगातार गड़बड़ है जो उनकी योग्यता के अनुकूल नहीं दिखाई पड़ता। उनकी दूसरी पुस्तक भारत की सम्पत्ति और कर देने की समाई पर लिखी गयी है। उसमें फिर वह चरखे पर चढ़ाई करते हैं और यद्यपि वह बहुत ही मर्य्यादित अर्थ में सहायक धंधे के तौर पर उसकी उपयोगिता को क़बूल भी करते हैं, तब भी वे कहते हैं कि—

"मेरे विचार में चरखा यदि राष्ट्र को निराशा की दशा नहीं प्रगट करता तो अवश्य ही उसकी निस्सहायता को प्रगट करता है। अगर ऐसा न होता तो राजनीतिक लोग केवल इसलिए कि इस धंधे को किसी प्रकार चलते रहने का मौक़ा मिले बढ़ी हुई आबादी को खेती से निकाल कर कताई में लगानेवाले लाभहीन और दक़ियानूसी तरीक़े पर क्यों ज़ोर देते।"

इसका सीधा जवाब तुरंत दिया जा सकता है कि चरखा ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता जिससे बढ़ी हुई आबादी को खेती से निकलकर चरखे में लगना पड़े। वह आबादी तो खेत के काम में ही रहेगी। परन्तु जिन समयों में उसे खेत में

यह शुरू ही में कहा जा सकता है कि एक माने में तो खद्दर में और मिल के कपड़ों में किसी तरह की पारस्परिक होड़ हो नहीं सकती। जिस तरह घरों की रसोई व्यापारी चढ़ा ऊपरी से कोई सरोकार नहीं रखती उसी तरह हाथ की कताई भी व्यापारी चढ़ा ऊपरी से बाहर है। यह वह क्रिया है जो बाहरी ताक़तों से विचलित न होगी। जैसे रुपया भोजन का स्थान नहीं ले सकता वैसे कल पुर्जे कताई का स्थान नहीं ले सकते। बिल्कुल दूसरे मानी में मशीन के कपड़े और खद्दर में सच्ची होड़ होनी सम्भव है। परन्तु यहाँ भी यह याद रखना चाहिये कि कताई को फिर से जिलाने का ख़ास मतलब यह है कि देहातों में राष्ट्र की जो हाथ की कारीगरी की ताक़त सो रही है उसे जगा दिया जाय। कताई छूट गई तो मानों प्रजा का एक अंग बेकार हो गया। इस समय जतन यही है कि वह फिर काम करने लगे। "क्या मशीन की ताक़त के सामने भी कताई सफल हो सकेगी?"* इस प्रश्न का उत्तर अधिकांश इस बात पर निर्भर करेगा कि हम यह विचार

---

* ८ वीं मार्च सन् १९२२ की यंग इन्डिया में सर डानियल हेमिल्टन ने एक बड़े काम की बात लिखी है जो इस संबंध में इस पुस्तक के पाठकों के पढ़ने योग्य है। "भारतीय देहाती जीवन के अपने व्यक्तिगत अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि आजकल के धन की सहायता से अगर मौक़ा दिया जाय तो चरखा ही नहीं करघा भी भाप के ताक़त से होड़ में जीत सकता है। कारण यह है कि चार महीने अभी बेकार जाते हैं। उनमें कोई खर्च नहीं है पर उनमें काम बहुत हो सकता है। जिस अनाज और कपड़े में केवल कच्चे माल का दाम लगे उससे ज्यादा सस्ता और क्या हो सकता है।

हैं। राष्ट्रीय दृष्टि से इस में सभी सुभीते हैं और विस्तृत जाँचके लिए यही बात रह जाती है कि क्या यह हर भारतीय घर में जारी किया जा सकता है।

१७. चरखे और करघे की ताकत की अटकल

आरम्भिक जाँच के लिए यह प्रश्न होगा कि किसी हद तक अभी तुरन्त ही इस काम को व्यापार साध्य करने के लिए क्या काफ़ी चरखे और करघे देश में हैं। यहाँ पर विशेष कठिनाई विचार के लिए ज्ञातव्य अङ्कों की है। हम लोग अधिकांश काल्पनिक अटकल लगाया करते हैं। जितनी संख्या में चरखे इस समय चल रहे हैं उससे ठीक ठीक यह कल्पना नहीं हो सकती कि उनको काम में लाने के लिए कैसे और किस तरह के साधन हमारी पहुँच में हैं। पंजाब, तामिलनाडू, आंध्र, बिहार, कर्नाटक और राजपूताना चरखे के लिए सोने की खानें हैं। यद्यपि इन प्रान्तों की ताकत की अटकल अभी तक ठीक ठीक नहीं लगायी जा सकी है तो भी यह कहा जा सकता है कि इनकी ताकत भारी और बहुत ज़्यादह है। खद्दर के बहुत से अनुभवी काम करने वालों ने अपनी कल्पना से जो अटकल लगायी है वह बहुत घटा कर लगायी है। उनके अनुसार सारे देश के लिए पचास लाख चरखे देश में मौजूद हैं। हमलोग उसी अटकल को अपनी जाँच के लिए प्राथमिक साधन मान लेते हैं। यह पचास लाख चरखे यदि चार से पाँच घंटे तक रोज़ चलें और धीरे चलने और बिगड़ जाने आदि का अंदाज़ बाद देकर हिसाब लगावें तो औसत १६८० गज़ या दो अट्टियाँ पन्द्रह नम्बर के लगभग ज़रूर निकलेंगी। या यों

८—पंजाब	२,७०,५०७
९—बड़ौदा	१०,८५७
१०–हैदराबाद	१,१५,४३४
११–राजपूताना	८९,७४१
कुल जोड़	१९,३८,१७८

जो अंक दिये हुए हैं उनमें बरार, मध्यप्रान्त और संयुक्त प्रान्त की गिनती नहीं है। इन्हें अगर गिनती से निकाल भी दें तो देश में २० लाख हाथ के करघे हैं जिन पर अगर करघा पीछे एक हज़ार गज खद्दर निकले तो जितना कपड़ा विदेश से आता है उससे कहीं अधिक बढ़ जाय। हमने एक हज़ार गज़ तो कम आंका है, बहुत से करघे १½ हजार गज़ निकाल सकते हैं। अब पाठक देखेंगे कि हमारे देश में हाथ के करघे और चरखे इतने काफी हैं कि हम हर तरह पर खद्दर को व्यापक कर देने की कोशिश कर सकते हैं। देश के पास एक और चीज़ की बड़ी जरूरत समझनी चाहिये यानी जिन कपड़ों की आवश्यकता है उनके बुनने की कुशलता, सो भी देश में मौजूद है। कातनेवाले और बुननेवाले दोनों ही बाट जोह रहे हैं कि उनका संगठन किया जाय और दोनों में पुरानी कारीगरी इतनी तेजी के साथ फिर से जी सकती है और बढ़ सकती है कि मशीन पर बने हुए कपड़े का स्थान तुरंत लेने के लिए खद्दर का तैयार हो जाना असम्भव नहीं है।

१८. धंधे की आदर्श अवस्था

देश में इस काम के लिए जो बड़े२ साधन मौजूद हैं उनको काम में लाने के लिए पूँजी के लगाने की भी बड़ी आवश्यकता है। परन्तु

लेता है और आधा उसे मिलता है जिसने कपास दी है। आन्ध्र प्रान्त में और तामिलनाडू के कुछ भागों में भी आज तक दस्तूर है कि विशेष परिमाण के ताने खुले बाजार में विकते हैं। यह दस्तूर आसाम की अपेक्षा भद्दा है। यहाँ भरनी के सिवाय बाकी कुल काम कातनेवाली झोपड़ी ही में हो जाता है। आसाम की विशेष दशा ऐसी है कि हर घर कताई का कारखाना हो गया है। यहाँ तो मामला हद को पहुँच गया है और यह आशा नहीं की जाती कि भारत के और भागों में ऐसी ही दशा हो सकेगी। विकेन्द्रीकरण अर्थात् जगह जगह काम बँटने की और पूरा काम होने की वहाँ हद हो गयी। परन्तु इससे कम दरजे की अवस्था यह है कि कातनेवाले अट्टियाँ,लच्छियाँ या गोले बना कर या सीधी खुखड़ी ही बुनकार को दे देते हैं। वह परेते पर चढ़ाता है और ताना तनने तक सारा काम करता है। यह बात पंजाब बिहार, और दक्षिण भारत के अधिकांश भागों में देखी जाती है। यह हो सकता है कि किसी के बिचवई पड़े बिना ही बुनकार सूत सीधे खरीद ले और बाजार में बेंच दे। इससे भिन्न अब तक चाल जारी है कि कातनेवाला आप ही धुन भी लेता है। परन्तु इतना ग़रीब है कि काफ़ी रुई अपने लिए न तो जमा कर सकता है और न आप सूत ही बेंच सकता है। इससे भी कम विकेन्द्रित दशा यह है कि कातनेवाले घर को धुनिया पूनियाँ दे जाता है। वह कात कर सूत धुनियाँ को देते हैं। इन विविध रूपों में कताई अब तक जी रही है और देश में चल रही है। हाँ, इस हद तक नहीं चलती कि टिकाऊ रोज़गार समझी जाय। हमारे काम का आरम्भ इन्हीं हदों के भीतर होना चाहिए और अगर हर प्रान्त या क्षेत्र की विशेष रीति और रवाज

के अनुसार धीरे धीरे विकेन्द्रीकरण किया जाय, काम को जगह जगह बाँटा जाय तो आज के खद्दर के आन्दोलन को नित नये सुभीते मिलते जाने में कोई सन्देह नहीं है।

२०. कातनेवाले का कपास जमा करना बेकारी का बीमा है।

कताई के धंधे को जगह जगह बाँटने की क्रिया में सब से पहला काम यह है कि कातनेवाले के लिए रुई अलग किसी केन्द्र में जमा करने की जरूरत को उड़ा दिया जाय। यह केवल पहला कदम ही नहीं है बल्कि यह वह नींव है जिसके ऊपर सारी इमारत मजदूरी के साथ टिक सकती है। भारतवर्ष में हमारे कातनेवालों में भारी आबादी उन्हीं लोगों की है जो या तो आप ही कपास उपजाते हैं या कपास के खेतों में मजूरी करते हैं। कुछ लोगों को तो मजूरी के बदले कपास ही मिलती है। जिनके ज़मीन है कपास की फसिल काटते हैं और जिन प्रान्तों में या जिलों में कपास नहीं होती उनमें कातनेवालों की गिनती भी बहुत नहीं है। यह तो हम मानते हैं कि ऐसी जगहें हैं कि जहाँ कातनेवाले इतने ग़रीब हैं कि अपने लिए कपास नहीं जमा कर सकते और कुछ दिनों तक मदद की जरूरत होगी तभी वह अपने पाँवों पर खड़े हो सकेंगे। जहाँ जहाँ ऐसा बन्दोबस्त हो जाय कि कातनेवाला अपने लिये कपास आप ही जमा कर लिया करे, वहाँ तो भारी सुभीते होंगे। इन सुभीतों पर विचार करना चाहिये। पहिला लाभ तो यह होगा कि अभी जो भारी भारी रक़में रूई के बटोरने

और जमा करने में लगतीं हैं और उनमें से जितना बे मतलब खर्च होता है वह बच जायगा। और यह ढंग बन्द हो जायगा। अगर हमें देश के लिये ५० या ६० करोड़ रुपए का खद्दर तैयार करना मंजूर है तो निश्चय ही हमें रुई बटोरने और जमा करने के लिए आरम्भ ही में कई करोड़ रुपयों की पूँजी लगानी पड़ेगी। पर अगर हर कातनेवाला अपनी कपास जमा करने लगेगा तो इस बड़ी पूँजी के लगाने की जरूरत न पड़ेगी। इसके सिवाय इन कामों के लिये जो बन्दोबस्त और दफ्तर रखना पड़ता है, रुई के गोदाम की बीमा कराई देनी पड़ती है और इसी तरह के जो और खर्च होते हैं बच जायँगे। इन्हीं बेकाम खर्चों के कारण तो कताई घटानी पड़ती है। ऐसी अवस्था पर हम तुरन्त ही चाहे न पहुँच सकें परन्तु अभी से इस बात की कोशिश करनी चाहिये कि रुई के भारी भारी गोदाम रखने की जरूरत भरसक कम पड़े। इसके सिवाय रुई जमा करने में भाव के आये दिन के चढ़ाव उतार का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। जिस मौसिम में दर चढ़ती रहती है उस समय बड़े पैमाने पर माल तैयार करने-वाले अपने मुनाफे की चाल पर अपने काम को बेहद घटाये रहते हैं। गोदाम से घड़ी घड़ी रुई लेकर कातनेवाले भी भाव की चंचलता से बचे नहीं रह सकते। संवत् १९८० में क्या हुआ? उस समय एकाएकी रुई का भाव चढ़ गया। तो कई खद्दर बनानेवालों को अपना काम घटाना पड़ा। जब ऐसी दशा आजाती है तब रुई न मिलने से कातनेवाला बेकार हो जा सकता है। परन्तु यह आये दिन की ज़बरदस्ती की बेकारी उस कातनेवाले को नहीं सताती जो फसिल पर अपने

लिए कपास जमा कर रखता है। कपास जमा कर लेना इस तरह बेकारी का बीमा है। जिसने फसिल के ऊपर कपास जमा कर ली है वह आप ओट लेता है और ओटाई की मजूरी और बीज उसी की चीज हो जाती है। अच्छी कपास के बीज संग्रह करना किसान की गृहस्थी में थोड़ा फ़ायदा नहीं है। इस तरह संग्रह करके और ओट के कातनेवाला रुई के चढ़े हुए भाव के समय में अपना सूत महँगा बेच कर ज्यादा फ़ायदा उठा सकता है। और जब भाव गिर जाय उस समय जो कुछ मेहनत करे और सूत काते सब अपने परिवार के काम में ला सकता है। चाहे किसी दृष्टि से देखा जाय लाभ कातनेवाले ही का है। इस तरह कातनेवाले ही के लाभ के लिये एक बहुत बड़े सिखानेवाले और फैलानेवाले आन्दोलन की ज़रूरत है कि उसके मन में यह बात अच्छी तरह से बैठा दी जाय कि कच्चे माल के लिये वह किसी दूसरे का भरोसा न करे। बल्कि वह आप ही चुन करके उत्तम से उत्तम कपास फसिल पर अपने काम भर इकट्ठा कर ले। अभी जब हम कुछ साल इस रीति को चला रहे हैं इतने समय भर तो निश्चय ही गरीब कातनेवालों को किसी हद तक सुभीता देना पड़ेगा और उनके लिये रुई इकट्ठी करनी पड़ेगी।

परन्तु बराबर ऐसा करते ही रहने से कातनेवाला बेचारा पराधीन हो जायगा *। जहाँ कातनेवाला अत्यन्त दरिद्र है वहाँ

* गाँव का धुनियाँ कभी कभी रुई जमा करनेवाला भी बन जाता है। दक्षिण के करनूल ज़िले के नगलापुरम् केन्द्र के गाँवों में धुनियाँ या पिंजारी ने ऐसा काम करना शुरू कर दिया है। वह कारीगर भी है और

तो बाहर से उसकी मदद होनी ही चाहिये। परन्तु अपने भाई की तरह उसे भी शिक्षा मिलनी चाहिये कि कपास को एक तरह के आहार की फसिल समझे क्योंकि कपड़ा शरीर के बाहर का वैसा ही आहार है जैसे अन्न शरीर के भीतर का और एक दफे जब कातनेवाले परिवार के दिल में यह बात जम गयी कि कपास की खेती की भी वैसे ही विवेक से सेवा करनी चाहिये जैसे अन्न की खेती की की जाती है तो फिर उस परिवार को इस बात में देर न लगेगी कि सूत के मेलों और बाजारों के पुराने बन्दोबस्त की ओर फिर से झुक जाय।

२१. माल की चोखाई और भाव, कपास जमा करना

जब कातनेवाला कपास इकट्ठा करना सीख जायगा तो हाथ के कते सूत की चोखाई भी बड़े जोरों से बढ़ेगी। कपास तो कातनेवाले की सम्पत्ति होगी। फिर तो कातनेवाला बड़ी देख भाल रखेगा, बड़ी किफायत बरतेगा और कच्चे माल से उत्तम से उत्तम काम लेगा। सूत की तैयारी में वह स्वाधीन है। अपने माल का मालिक है। उसे अधिकार है कि अपने माल को अच्छे से अच्छे दामों पर बेचे। फिर तो सूत बहुत उत्तम कतने लगेगा।

बिचवई भी है और दोनों तरह से लाभ कमाता है। दो चार मन रुई अपने पास रख लेता है और धुन कर उनकी पूनियाँ बना लेता है और कातनेवालों से बाँट देता है और फिर कता हुआ सूत भी इकट्ठा कर लेता है। इस तरह वह विक्रेता भी हो गया और व्यापारी भी बन गया है। अब वह निष्फल मेहनत पर जीनेवाला और बैठे नफा खानेवाला आदमी नहीं रह गया।

उसमें तुरन्त ही सुधार होने लगेगा। कपास की ओटाई और सफाई बहुत ध्यान से होने लगेगी। जिस समय कपास की फसिल नहीं है, भाव चढ़ा हुआ है और उसके पास शायद काफ़ी कपास जमा नहीं है तो वह अत्यन्त बारीक और एक रस सूत इसलिये कातेगा कि दोहरा फ़ायदा हो। उसके पास की जमा रुई कम लगे या सँभल कर खर्च हो, और उत्तम से उत्तम सूत भी कते जिसमें भारी दामों को बिके। आजकल कातनेवालों को जो रुई बाँटने की विधि है उससे सूत के खराब होने में कोई रुकावट नहीं होती। कातनेवाला अपनी मजूरी भरपर निगाह रखता है और अपने को केवल मजूर समझता है। हम थोड़ी सी अनुभव की बातें यहाँ लिखते हैं। पाठकों को जान कर लाभ होगा। तिरुप्पुर कताई का एक क्षेत्र है। वहाँ की दशा से हम इस बात का मुकाबला करते हैं कि जब कातनेवाला अपनी ओर से रोजगार करने लगेगा तो क्या अवस्था होगी।

"संवत् १६८२ की स्थिति"

आध सेर सूत का दाम		इस तरह हुआ
१) बारह नम्बर के लिये।	॥~)॥	करुनगन्नी रुई का दाम बाजार भाव पर।
	।~)	कताई
	~)॥	दफ़तर और बन्दोबस्त खर्च
	——	

जब कातने वाला स्वाधीन होगा

आधा सेर सूत का दाम इस तरह हुआ

|||-)|| बारह नम्बर के लिये। |≡)||| दाम ३० छटांक कपास का गाँव के फुटकर भाव पर

|=) कताई और ओटाई

(इससे अच्छा सूत होगा तो और अधिक लाभ होगा।)

नोट—इस दूसरी दशा में कातनेवाले के पास सवा सेर कपास के बीज बच रहे जिसके वह दाम खड़े कर सकता है।

जो अंक ऊपर दिये हैं वास्तविक अनुभव से लिखे गये हैं। यह बात बहुत पक्की है कि कातनेवाला जब कपास जमा करने लगेगा तो सूत और कपड़े की दर बहुत जल्दी गिर जायगी। और अपने साथ साथ इस रीति में इतने तरह की किफायत है कि बहुत बड़ी बड़ी मात्राओं में बाजार में सूत और खद्दर आने लगेगा। कातनेवाले की आमदनी बढ़ जाती है और राष्ट्रीय संगठन में कातनेवाला स्वाधीन और अपना कारबारी बन जाता है। वह न केवल अपने लिये बल्कि राष्ट्र के लिए भी। इस ढंग पर खद्दर की तैयारी अवश्य ही ज्यादा सस्ती होगी, और सब लोगों के लिये लाभकारी होगी, एक ओर तो पहिरनेवाले के लिए और दूसरी ओर खद्दर बुननेवाले के लिये।

२२. रुई के काम में किफ़ायत

रुई को काम में लाने में ही बड़ी किफायत की गुंजाइश है। इसी सम्बन्ध में महीन और मॅझोली कताई की किफायत को बड़ी सावधानी से समझना चाहिये। यह सब को मालूम है कि

सूत की बारीकी उसके नम्बर से समझी जाती है। एक हैंक या अट्टी ८४० गज़ों की होती है। पौंड भर तौल * के बराबर गिनती में इस तरह की जितनी अट्टियाँ चढ़ें उतना ही सूत का नम्बर होता है। बीस बीस चढ़े तो बीस नम्बर हुआ। चालीस चढ़े तो चालीस नम्बर हुआ। यह न समझ लेना चाहिये कि किसी तरह की रुई लेकर जितना बारीक और जिस तरह का चाहिये उस तरह का सूत काता जा सकेगा। हर तरह की रुई के लिए एक हद होती है जिस हद तक वह बारीक काती जा सकती है। अगर उस हद के बाहर कताई की जाय तो सूत कमजोर हो जायगा और बुनाई के काम का न रहेगा। मिल की कताई के जो प्रमाण हैं वह प्रमाण हाथ की कताई में नहीं लग सकते। मिल में रुई के रेशों पर कताई के पहिले इतनी विविध क्रियाएँ होती हैं कि जो नतीजा चरखे से कातने पर देखने में आता है वह मिलों की कताई में नहीं देखने में आता। जैसे चरखे पर जिस रुई से हम बीस नम्बर तक का अच्छा सूत कात ले सकते हैं मिलों में उसी रुई से दस या बारह नम्बर से अधिक नहीं कात सकते। मिलों में जिन छोटे रेशेवाली रुइयों से केवल मोटी ही कताई हो सकती है उन्हीं रुइयों से चरखे से मझोली कताई भी हो सकती है क्योंकि हाथ से कातनेवाला रेशों को बड़ी कोमलता से पकड़ता है। लम्बे रेशोंवाली रूई में तो हाथ से कातनेवालों को ही सुभीता है। लम्बे रेशोंवाली रुई से मोटा सूत कातना और छोटे रेशोंवाली रुई से मझोला या बारीक सूत

* अंग्रेजी तौल पौंड आध सेर के लगभग होता है। आधसेर ४०) भर होता है, परन्तु पौंड ३८·८९ रुपये या ३८।।।=) भर होता है।

कातना यह दोहरी भूल है *। इस दोहरी भूल से बचना बहुत ज़रूरी है। अर्थशास्त्र का नियम है कि अच्छी रुई से जो कोई मोटा सूत काते उसे सजा दी जाय, बहुत ही लाभकारी है। और ऐसा अच्छा है कि हमारे देश में जितने खद्दर संगठन हैं उनके दफ़्तरों के फाटक पर मोटे मोटे सुनहरे अक्षरों में लिख देना चाहिये।

२३. बारीक और मझोले नम्बरों का सुभीता

इस बात पर विचार करते हुए कि दस नम्बर से ऊँचे नम्बर की कताई अधिक लाभकारी है, श्रीसतीशचन्द्रदास गुप्त अपनी खादी की पुस्तक में यों कहते हैं—

"हम लोगों को किस नम्बर का सूत कातना चाहिये इस पर हमें विशेष रूप से ध्यान देना उचित है। इस समय ऊँचे नम्बर के कातने की धुन है। लेकिन बहुत ऊँचे नम्बरों के लिये कोशिश करना हम लोगों के लिये पागलपन है। इस आन्दोलन का

---

* जिस प्रदेश में जिस तरह की रुई पैदा होती होगी उस प्रदेश में वैसी ही कताई भी होगी। संभव है कि इस समय रुई की खेती की पहिचान कताई न हो क्योंकि इस समय तो केवल बाहर भेजने के लिये ही कपास की खेती होती है जैसे, बुकानन के समय में कोयम्बतूर जिले में अधिकांश नादन कपास होती थी जो किसानों की मोटी कताई के लिए उपयुक्त थी परन्तु आज वहाँ अधिकतर करुनगन्नी और कम्बोडिया की खेती होती है, क्योंकि यह बाहर भेजी जाती है। कताई के फिर से जारी होने से यह आशा की जा सकती है कि नादन कपास भी होने लग जायगी।

उद्देश्य यह है कि सैकड़ा पीछे ६० आदमी अपने काम के लिये सूत कात लें और ये आदमी साधारण देहाती होंगे। इसलिये बहुत बारीक कातने की धुन उल्टी समझ का फल मालूम होता है। ६ से १० तक और १० से २० तक और २० से ३० तक कताई में नम्बर को बढ़ाते जाना बारीक कताई का उदाहरण अवश्य है और इससे लाभ है। परन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि स्थिति को फिर से बता देने को ज़रूरत है। बारीक सूत कातने में बहुतसी और बातें भी शामिल समझी जानी चाहिये। मामूली रुई जो मिलती है उससे अच्छी रूई चाहिये। अधिक परिश्रम से उसकी तैयारी चाहिये और उसकी कताई भी लम्बाई में कम होगी, कठिन होगी और बुनाई में ज्यादा खर्च पड़ेगा। बारीक कताई में यह सब बातें शामिल हैं।"

ऊपर लिखी बातों में कुछ थोड़ी सच्चाई जरूर है परन्तु इसकी अच्छी छानबीन होनी चाहिये। क्या जैसा कि दासगुप्त भी कहते हैं, देश के सामने कम समय में ज्यादा से ज्यादा लम्बाई में कातने का प्रश्न है या जो माल तय्यार होता है उसकी अच्छाई के विचार से किसी हद तक इस कथन को सुधारना भी होगा? जाँच के लिये यह एक जरूरी बात है। और इस तरह की सुधार वाली बात अगर ठीक है तो कताई के राष्ट्रीय औसत को इस समय की अवस्था से बहुत ऊँचे उठाना होगा और तब जो नयी परिस्थिति स्थापित होगी उसमें मझोली और बारीक कताई को यदि मर्यादित स्थान भी मिला तब भी अन्तिम स्थान मिलेगा।

२४. बारीक और मझोली कताई का मामला

हमने जब महीन और मझोली कताई की चर्चा की तो ऐसी

कताई में जो दो एक भीतरी और मुख्य बातें हैं जिनके बिना ऐसी कताई हो नहीं सकती उन पर भी विचार करना जरूरी है। ऐसी कताई के लिये बहुत उत्तम प्रकार की रुई लेनी पड़ेगी और देश के किसी किसी भाग में ऐसी अच्छी रुई मिल ही न सकेगी। यह पहिली रुकावट हुई। परन्तु यह कोई अमिट रुकावट नहीं है क्योंकि इस बात की उचित आशा की जा सकती है कि जब कताई की चाल फिर से चल पड़ी तो अच्छी रुई के उपजाने की चाल भी जरूर चल पड़ेगी। इसके सिवाय और भी विशेष शर्तें हैं जो सभी महीन कताई के साथ चलती हैं। पहले तो कातने वाले का वेग ही महीन कताई के लिये घट जायगा अर्थात् चरखा पीछे पहले जितना मोटा सूत कतता था, बारीक सूत उससे बहुत कम हो जायगा। सूत के तैयार होने में जो यह फर्क होता है वह इस बात से और भी ज्यादा बढ़ जाता है कि जिस चाल से सूत का नम्बर ऊँचे उठता है उसी चाल से उससे तैयार खद्दर की लम्बाई नहीं बढ़ती। सूत की अच्छाई खद्दर की अच्छाई ज़रूर है पर उसके साथ लम्बाई की बहुत कमी भी अनिवार्य है। पृष्ठ १९८ पर एक सारिणी दी गई है जिसमें चरखे पर महीन मझोली और मोटी कताई के फल दिखाए हैं और इस बात को मान लिया गया है कि चरखा तीसों दिन आठ घन्टे रोज के हिसाब से चलता रहा है।

इस सारिणी में जो कताई के वेग दिये हुए हैं वह पेशेवर कातनेवालों के हैं। मद्रास गवर्नमेन्ट के कताई-बुनाई के दक्ष अफसर श्री अमलसाद ने भी हाथ की कताई पर एक पुस्तिका लिखी है। उसमें जो अंक दिये हैं उससे हमारे अंक थोड़े बहुत मिलते हैं।

सूत का नंबर	तोला पीछे कितने गज़	१६० तोलों की कुल कताई	एक वर्ग इंच ताने-बाने में सूत की संख्या	कितने वर्ग गज़ कपड़ा बना	ड्योढ़ा बाद देकर रुई का दाम (सं० १९८२)		कातने की मज़दूरी ८८० गज़ की गुंडी पीछे (पाइयों में)	कताई का कुल खर्च	वर्ग गज़ पीछे बुनाई की दर	दफ़्तर आदि के खर्च को छोड़ कर गज़ पीछे लागत
१	२	३	४	५	६		७	८	९	१०
					अधसेरे	दाम रुपयों में	पाई			
८	५००	१,२०,०००	५६	५८	१८ ६/९	९।)	४॥	३।=)	-)॥	।-)।
१०	५००	१,२०,०००	६४	५०	१५ ३/७	८॥)	५	३।=)	-)॥	।-)।
१५	४५०	१,०८,०००	७७	३७	९	५॥=)	५॥	३॥=)	=)	।-)।
२०	४२०	१,००,८००	९२	२८ ५/७	६	४)	६	३।॥)	=)॥	।=)
२५	४००	९६,०००	१००	२५	४ ४/७	३॥)	६॥	३॥।-)	=)॥।	।=)॥।
३०	३७५	९०,०००	११०	२२	३ ६/७	२॥।=)	७	३॥≡)	≡)	।≡)
४०	३५०	८४,०००	१२८	१७ ५/७	२ ५/७	१॥।=)	८	४=)	≡)॥	।≡)॥।
५०	३२०	७६,८००	१४२	१४ २/७	१ ३/७	१॥)	९	४।-)	।)	॥=)
६०	३००	७२,०००	१५४	१२ ५/७	१ ५/१४	१=)	१०	४॥≡)	।)	॥≡)॥।

श्री अमलसाद* ने ३० और ४० नम्बरों के लिये ऊँचे अंक लिखे हैं परन्तु इस तरह के फर्जी हिसाबों में भूल से बचे रहने के लिये मध्य अंक ही यहाँ रखे गये हैं। कताई की मजूरी देने में लम्बाई का ही हिसाब रखा गया है। सभी नम्बरों के लिये कुछ कमबेश वही मजूरी सारिणी में रखी गयी है जो अच्छी तरह से संगठित केन्द्रों में चल रही है। तामिलनाडू में मझोली कताई के सूत रुपए में १६ से १८ अट्टियाँ तक बिकते हैं और हमारे हिसाब में भी वैसी ही मजूरी पड़ती है। ४० और ४० से ऊपर के नम्बर तो अभी अत्यन्त कम मिलते हैं। इसलिये उन का मोल साधारण से अत्यन्त ऊँचा होगा। पर यह बात थोड़े

---

* श्रीअमलसाद ने अपनी पुस्तिका में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि चरखे का प्रस्ताव अर्थशास्त्र के काँटे पर ठीक नहीं उतरता। चरखे के विरुद्ध उनकी प्रधान आपत्तियाँ यही मालूम होती हैं कि हाथ का कता सूत मिल के सूत की तरह अच्छा नहीं होता है और अधिकांश बराबर नहीं होता। इसीलिये बाज़ार में मिल के सूत की तरह इसी ढंग पर बेचा नहीं जा सकता। यह कहना व्यर्थ है कि हाथ की कताई के विरुद्ध तो यह कोई आपत्ति न हुई। यह तो वस्तुतः राष्ट्र की एक तरह की

ही दिनों के लिये है। पोंदूर और गंजाम के बारीक सूत का मामला और है। इनमें ऐंठन विशेष रूप से भारी है और वहीं की उपजी रुई से कता है और वह रुई भी कातनेवाले ने लगभग उसी मेहनत से कताई के लिये तैयार की है जैसे प्राचीन काल में ढाके की कातनेवालियाँ तैयार करती थीं। पोंदूर के सूत की अच्छाई पर शायद उसे कहीं ज्यादा दाम मिलता जितना कि यहाँ रखा गया है। लेकिन इस बात को हम काट नहीं सकते कि उस तरह के सूत की तैयारी पोंदूर में अभी इतनी कम है और उसकी इतनी भारी माँग है कि उसका दाम बहुत चढ़ा हुआ है।

२५. नफे का घटता जाना और लागत का बढ़ता जाना

हम जब सारिणी को देखते हैं तो पहले एक यही बात बहुत साफ दिखाई पड़ती है कि नम्बर जितने ऊँचे उठता है तैयार माल की मात्रा उतनी ही घटती जाती है। यह साफ मालूम होता है कि ज्यों ज्यों हम दस नम्बर से साठ नम्बर को उठते हैं त्यों त्यों उतने ही घन्टों तक के काम में तैयार माल की मात्रा धीरे धीरे घटती जाती है। यहाँ तक कि जोड़ की संख्या, आरम्भ वाली जोड़की संख्या से मुकाबला करने पर चौथाई के लगभग रह जाती है। सुनने में यह दलील बड़ी अच्छी मालूम होगी कि मोटा सूत जल्दी कतता है इसलिये इसमें जो कुछ काम होगा अधिक मुनाफे का होगा। श्रीयुत् लक्ष्मीदास पुरुषोत्तम ने सितम्बर सन् १९२१ के यंग इंडिया में एक लेख में महीन और मझोले नम्बरों के विरुद्ध यही दलील पेश की थी। लेकिन उन्हें दो एक बातों का ख्याल न रहा जो व्यवहार में माल की घटतीवाली दलील को बहुत कुछ घटा देती है।

(१) पहिली बात यह है कि बारीक कपड़े की तैयारी में जो लागत लगती है वह बहुत ज्यादा ऊँची नहीं होती। यद्यपि कताई और बुनाई की मजूरी ज्यादा दी जाती है। अर्थात् तैयारी माल में जितनी घटती होती है लागत में उसी के अनुसार बढ़ती नहीं होती और वह भी ऐसी दशा में जब कि कताई और बुनाई बराबर बढ़ती जाती है। यह बात समझ में आ सकती है कि कोई साहसी खद्दर का व्यापारी बीस नम्बर का साढ़े अट्ठाईस गज तैयार कराना ज्यादा पसन्द करे और कताई काफी ऊँची दे परन्तु वही दस नम्बर के सूत के बुने ५० गज कपड़े तैयार न करावे यद्यपि कम मजूरी पर इसमें ज्यादा जल्दी काम होगा। इसके लिये एक कारण यह हो सकता है कि वह मोटे खद्दर की अपेक्षा इस महीन खद्दर को सहज में बेच सकेगा। उसको एक और भी प्रोत्साहन होगा कि वह मझोला सूत कातनेवाले चरखों को बढ़ावे जिसमें मझोले की ज्यादा कताई हो। इस तरह कमती माल का उतरना जो मझोली कताई के विरुद्ध एक दोष समझा जाता था वह व्यवहार में उतना बड़ा दोष न रहेगा। क्योंकि मझोली कताई की शर्तें ऐसी हैं कि उसमें अधिक कातनेवालों को काम मिल जायगा। इसके सिवाय यह भी बात है कि कुछ क्षेत्रों में, जैसे दक्षिण भारत के कुछ ज़िलों में, केवल महीन कताई हो सकती है। जिन कातनेवालों को पीढ़ियों से बारीक और मझोली कताई की शिक्षा मिली है वह अपनी बान छोड़ नहीं सकते और ऐसे ज़िलों के विकास की ओर ध्यान न देना जिनमें बारीक और मझोली कताई के अच्छे फल निकल सकते हैं अत्यन्त बुरा होगा। चरखे की बढ़ाई छोटाई, बुनाई

और सफ़ाई की रीतियाँ और मनमानी फ़ुरसत जो इस तरह के कातनेवालों की विशेषताएँ हैं, वह सब मोटे सूत की तैयारी के विरुद्ध पड़ेंगी। और राष्ट्र के हित की दृष्टि से यह केवल उचित ही नहीं बल्कि आवश्यक होगा कि जहाँ मझोली कताई बड़े पैमाने पर हो सकती है उन केन्द्रों पर पूरा ध्यान दिया जाय।

२६. रुई के भाव का चढ़ जाना

(२) सूत की तैयारी में रुई के भाव के चढ़ जाने का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। परन्तु बारीक खद्दर पर उसका प्रभाव उतना नहीं पड़ता जितना मोटे पर पड़ता है। बारीक कपड़े का भाव उतना ऊँचा नहीं उठता जितना मोटे कपड़े का उठता है। जैसे, अगर आध सेर पीछे रुई के भाव में चार आना बढ़ा तो दस नम्बर के कपड़े के भाव में एक आना चारपाई गज बढ़ जायगा, बीस नम्बर के कपड़े में केवल ९ पाई गज बढ़ेगा और चालीस नम्बर के कपड़े में ७ पाई गज बढ़ेगा। गरीब कातनेवाला जो अपनी कपास जमा रखता है और खुले बाजार अपना सूत बेचता है, चढ़े भाव के दिनों में अपना नम्बर ऊँचा कर देगा। इस तरह रुई में किफायत करेगा और अपनी रोज की मजूरी भी न खोवेगा, इसी तरह कतवानेवाला जो रुई देता है और सूत खरीदता है यही बात अधिक पसन्द करेगा कि उसको मोटे सूत की अपेक्षा मझोला सूत मिले, जिसमें उसको अधिक लाभ है।

२७. वेग की जाँच और मजूरी के प्रमाण

(३) मझोले सूतों की तैयारी में वेग बढ़ाने से बड़ी सहायता मिलेगी। कातने के खर्च को भी यह दबाये रहेगा।

कातनेवाले की मजूरी तो अट्टियाँ गिन कर दी जाती है। इसलिये उसकी पूरी आमदनी को घटाये बिना ही वेग बढ़ने से मजूरी कम की जा सकेगी। यह आवश्यक है कि मझोले सूतों का वेग बढ़ाया जाय इस सम्बन्ध में कताई की मजूरी ठहराने की रीति की जाँच करना अच्छा होगा। लम्बाई की नाप से मजूरी देने में कई सुभीते हैं। इसमें एक साथ ही गुण और मात्रा दोनों की परख हो जाती है। कातनेवाले को ज्यादा मजूरी पैदा करने का हौसला होता है। साथ ही मझोले नम्बर का सूत निकालने में उसे कताई के घन्टे घटा देने का भी मौक़ा मिलता है। कातनेवालों के हाथों धोखा उठाना लगभग असम्भव हो जाता है। जब सूत तौल से ख़रीदा जाता है तो किसी तरह का विवेक नहीं किया जा सकता और कातनेवाले का मन बहुत करके इस बेइमानी की ओर झुक सकता है कि वह अच्छा बुरा सूत मिला कर बेचे और उस पर औसत मजूरी वसूल करले। इससे भी ज्यादा बुराई कुकड़ी के रूप में बिकने में है जिसमें कि मोटे सूत की भीतरी तहें ऊपर के बारीक सूत की तहों से छिपायी जा सकती हैं। इसी तरह की धोखेबाज़ी कुछ काल तक ऐसी चली कि मद्रास हाते के कई ज़िलों के खादी के भारी केन्द्रों को भारी नुकसान हुआ और वह ऐसी बुरी दशा में पड़ गये कि लगभग बन्द से हो गये। कुछ भी हो लम्बाई नाप करके दाम देने के नियम में एक शर्त है। महीन और मझोले नम्बरों के लिये नियम बहुत उपयोगी हैं परन्तु मोटे सूत के लिये बिल्कुल अनावश्यक है। देश में यह रवाज भी है कि बारीक सूत अट्टियों के हिसाब से बिकता है और मोटा सूत तौल कर बिकता है। इस

बारह नम्बर के लिये अटेरने पर बहुत जोर देना व्यर्थ है। इसके सिवा जहाँ रवाज है कि कातनेवाला तौल से बेचता है वहाँ इस रीति को बिगाड़ना बुद्धिमानी नहीं है।

२८. महीन कताई और अपनी इच्छा से कोशिश

(४) मझोली और महीन कताई में सबसे बड़ी मार्के की किफ़ायत एक एक आदमी के अपने मन से कातने में है। एक आदमी को साल में २४० घण्टे कातने को मिलें तो वह अपने लिए नाम मात्र के खर्च से बारीक और अच्छी बुनावट का कपड़ा बनवा सकेगा। इसी स्थल पर हाथ के कते सूत का कपड़ा मिल के बने कपड़े पर बाज़ी मार ले जाता है। क्योंकि रोज पौन घण्टे की मेहनत में एक ही आदमी अपनी कपड़े की जरूरत पूरी कर सकता है, बल्कि अधिक भी कपड़े तैयार कर सकता है और वह भी मिलों की अपेक्षा अत्यन्त थोड़ी लागत पर। यहाँ सूत के नम्बरवाली सारिणी को जहाँ तक लागत का संबंध है दोहराना ज़रूरी है।

सूत का नम्बर	कताई न देनी पड़े ऐसी दशा में गज़ पीछे कपड़े की लागत
८	।)५ पाई
१०	।)।
१५	।)॥
२०	।)॥।
२५	।)॥।
३०	।=)

४०	।-)
५०	।-)।
६०	।-)॥

इस तरह मालूम होगा कि जो आदमी कातेगा उसके लिए कपड़े की लागत हर नम्बर के लिए लगभग बराबर के हुई। बिहार सरकार के एक अधिकारी मिस्टर टालेंट्स संवत् १९७८ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में यह विचित्र बात लिखते हैं कि अगर चरखे की कताई कुछ भी न लगे तो भी विदेशी या मिल के कपड़े से खद्दर ज्यादा महँगा पड़ेगा। ऐसी बात का अनर्गल होना तो स्पष्ट ही है। यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि भारत के पाँच पाँच प्राणी के हर परिवार में अगर चरखा दो ढाई घंटा रोज चले तो भारतवर्ष कपड़े के बारे में बिलकुल स्वाधीन हो सकता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि ऐसी दशा में एक आदमी या एक परिवार जो घर के खर्च के लिए कातेगा वह ऐसा नम्बर कातेगा जिससे सबसे अधिक सुभीते से काफी कपड़े मिल जायँ और उनका बहुत ज्यादा समय भी न लगे। जिन परिवारों को बड़ी फुरसत रहा करती है वह अपने २ शौक के लिए अत्यन्त महीन कातेंगे और उससे घर के लिए कपड़े भी बनवावेंगे। पर किसान और उन्हीं के वर्ग के लोग जिनके औसत के घंटे अमीरों की अपेक्षा कम हैं वह शायद मोटे नम्बर का कातें। संवत् १८६३ में डाक्टर बुकानन के कथनानुसार यहाँ की कताई की ऐसी ही दशा थी। उस समय मझोले और महीन सूत बाजार में कसे पड़े थे और इनके कातने वाले किसानों के वर्ग के लोग भी थे। इन सब बातों

पर विचार करके हम यह कह सकते हैं कि कताई का राष्ट्रीय औसत बीस नम्बर के ऊपर कहीं पास ही पास पड़ेगा। हमारा तैयार किया हुआ कुल खद्दर औसत में अगर इसी मध्य अंक के लगभग पड़े तो देश के लिए निश्चय ही बहुत लाभ की बात है। इसका यह मतलब नहीं है कि जितना सूत कते वह सब इसी नम्बर का हो बल्कि जरूरत यह है कि कुल माल का औसत बीस पचीस नम्बर के लगभग आवे।

२६. खुले बाजार में बिक्री

व्यवसाय के जगह जगह बँटने में ही जैसे और सब दस्तकारियों में सुभीता और किफायत है उसी तरह कताई में भी है। हम पहली बात पर, अर्थात् कातनेवाले के खुद कपास जमा करने पर विचार कर चुके हैं। अब हम दूसरी बात पर अर्थात् कातने और बुननेवालों के माल को बाजार में रखने पर विचार करते हैं। यह तभी होगा जब देश में पुरानी अठवारी पेठ या बाजार चल पड़ेंगे। दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में कातनेवालों में सूत बेचने की चाल तेज़ी से बढ़ रही है। इस आन्दोलन के आरम्भ में जैसी दशा थी उससे यह एक क़दम ज्यादा तरक्की है। आदर्श के अधिक समीप है। अभी ऐसा खुला बाजार जहाँ कातने और बुननेवाले सहज में मिल सकें और सौदा पटा सकें बहुत दूर हैं। और सम्भव है कि उस समय तक यह बात न हो सके जब तक कि अधिकांश क्षेत्रों में खद्दर देश का साधारण पहिरावा न हो जाय। इन्हीं अवस्थाओं के आने पर बिचवई व्यापारी की जरूरत न रह [illegible]ी। यह निश्चय ही सच है कि इस समय बीच के व्यापारी

से लाभ होता है क्योंकि वह कातनेवाले, बुननेवाले, पहिननेवाले और रुई के व्यापारी को मिलाता है। लेकिन ज्योंही खुले बाजारों का ढंग चल पड़ेगा—देश उसी राह जा भी रहा है—तो वह बहुत जल्दी गायब हो जायगा। बुननेवाले और कातनेवालों को निरंतर पास लाते रहने से सूत की अच्छाई में जल्दी जल्दी सुधार होता रहेगा। जब सूत के मेले आमतौर पर होने लगेंगे तब बुनकार के लिए वह घड़ी आवेगी जब उसे खादी आन्दोलन में आज से ज्यादा रस आने लगेगा और यह ज्यादा काम करने लगेगा।

३०. सूत के दामों का मुकाबला

जहाँ सूत सीधे बेंच लिया जाता है या उन जगहों में जहाँ कातनेवाला आप ही धुनता और कातता है वहाँ सूत का भाव ज्यादा सुभीते का मालूम होता है। परन्तु वहाँ जहाँ खादी का अभी आरम्भ हुआ है और जहाँ सभी क्रियायें अलग अलग की जाती हैं, सूत महँगा पड़ता है।

जगह	सूत का नंबर	संवत् १९८२ में आध सेर का दाम	मजदूरी कैसे दी जाती है	विशेष
नगलापुरम् (करनूल में)	२०	१॥=)	ताने के रूप में	कातने वाला कपास जमा रखता है और ताने तनने तक स्वयं कुल काम करता है।

२ तिरुप्पुर १०–१२ तक (कोयम्बतूर में)	१)	तौल से	कातनेवाला धुन भी लेता है।
३ अमरियाली ६–१० तक (गुजरात में)	१)	तौल से	विकेन्द्रीकरण का अभाव
४ कालोकेरी ८–१० तक (चित्तूर में)	१)	तौल से	,,

अंतिम केन्द्रों में जो कि बिना किसी विशेष चुनाव के नये खादी तैयार करनेवाले केन्द्रों के प्रतिनिधि के रूप में रख लिए गये हैं सूत के दाम ऊँचे हैं, क्योंकि जो कताई दी जाती है उसमें धुनाई शामिल नहीं है और नम्बर एक और दो में धुनाई कातनेवालों की आमदनी में मिल गयी है। इसलिए हमारा उद्देश्य यह होना चाहिये कि उन तमाम कामों के दाम जो कातनेवाला कर सकता है, बिलकुल उड़ा दिये जायँ।

३१. स्वेच्छा-कताई

हमारा आन्दोलन एक प्रकार का विदेशी कपड़े के आने में रुकावट डालने वाला स्वेच्छा-कर की तरह पर है; इसलिए राष्ट्र को यह देखना होगा कि अपनी प्राथमिक अवस्थाओं में इस स्वेच्छा-बाधक कर का ठीक ठीक विकास हो रहा है या नहीं। इस धंधे को अच्छी तरह सफल अवस्था तक उठाने में राष्ट्र को केवल खद्दर के पक्ष में अनुराग पैदा करना और पुष्ट करना ही नहीं है बल्कि उसे पारितोषिकों और पुरस्कारों आदि से सहायता पहुँचाना भी आवश्यक है। वह सहायता या पारितोषिक क्या है जो इस

आन्दोलन को सफलता से बढ़ा सकेगा? खद्दर का खरीदने वाला इस समय जो माल ले रहा है उसमें ज्यादा दाम देता ही है और इस अर्थ में वह जो कुछ खरीदता है उस पर मानों एक तरह का थोड़ा सा चन्दा दे डालता है। जब तक कि राज्य विरोधी है और इस धंधे की रक्षा और सहायता करने को तैयार नहीं है तब तक ऊपर के और मध्यवर्ग के लोगों को लोकहित के भाव से उसकी रक्षा करनी पड़ेगी, परन्तु सबसे अच्छा पारितोषिक तो स्वभावतः वही है जो सीधे उपज को बढ़ाता है और साथ ही साथ सस्ता कर देता है अर्थात् अधिक खद्दर से ही खद्दर सस्ता हो सकता है।

अपने आप स्वेच्छा से कातना ही सच्चे से सच्चा राष्ट्रीय पारितोषिक है। एक एक मनुष्य का अलग अलग प्रयत्न जब इकट्ठा होता है तो "मिला जुला प्रभाव बहुत बड़ा हो जाता है। फुही फुही ताल भर जाता है" इस कहावत का बहुत अच्छा उदाहरण स्वेच्छा कताई है। भारत की जनता के लिए स्वेच्छा कताई ही जनता का परितोषिक है। इससे आजकल जो जगह जगह पर कताई विरीसी है, केन्द्र सा बन गया, उस दशा से छूट कर फैल जाती है, उसका विस्तार बढ़ जाता है। स्वेच्छा कताई से कुल मिला कर खादी के काम का आयतन ही नहीं बढ़ता बल्कि सारे देश में उसका प्रचार हो जाता है। स्वेच्छा कताई में कताई का काम स्थिर रूप से निरंतर चलता रहता है। स्वेच्छा-प्रयत्न से देश में भारी मात्राओं में बारीक सूत तैयार हो सकता है और जब वह दशा आवेगी तब बारीक सूत का इतना ऊँचा दाम न रह जायगा।*

* स्वेच्छा कताई का प्रश्न और दृष्टियों से भी विचारा जा सकता है।

३२—फुटकर बिक्रियों पर इनाम

स्वेच्छा कताई के सिवाय तैयार माल और बिक्री को बढ़ाने के लिए और तरह की भी सहायता हो सकती है। फुटकर माल की बिक्री के ऊपर इनाम दिये जा सकते हैं जैसा कि अखिल भारतीय खादी-मण्डल ने एक प्रस्ताव से देना निश्चय किया है। व्यापारियों और कारबारियों को एक प्रकार का निमंत्रण है कि अपनी पूँजी बढ़ावें और खद्दर की बिक्री में अधिक रस लें। इस तरह के इनामों का परिणाम अच्छी से अच्छी दशा में अप्रत्यक्ष ही हो सकता है। थोड़ी पूँजी लगानेवाला उसे बढ़ा कर इनाम से कुछ थोड़ी हद तक लाभ उठा सकता है परन्तु भारी कारबारी व्यापार के जोखिमों के लिए इनाम को केवल आंशिक बीमासा समझेगा। इनाम से इस बात में भी शायद सफलता मिल जाय कि खद्दर की बिक्री का भाव इतना ठहराया जा सके जो लागत के भाव से कुछ निश्चित संबंध रख सके। परन्तु यदि इनाम की दर बहुत हलकी हुई तो उसकी तरफ किसी का ध्यान ही नहीं जायगा। इनाम से अगर कुछ फल चाहा जाय तो उसका काफी होना जरूरी है। सूत के मेलों के साथ ही साथ खद्दर के

मिस्टर के० सन्तानम् ने २२ जनवरी सन् १९२५ के यंग इन्डिया में अपना एक लेख छपवाया था। उसमें बड़ी योग्यता से यह दर्शाया है कि अगर ठीक तरह पर संगठन किया जाय तो स्वेच्छा कताई के बल पर कांग्रेस का काम स्वाधीनता से चल सकता है। उससे इतनी आमदनी हो सकती है कि कांग्रेस को चन्दे की जरूरत न पड़े।

बाज़ार के विचार का भी विकास होना चाहिये। गाँव के मेलों में खद्दर को ले जाकर बेचने के लिये कमीशन या दस्तूरी के रूप में जो इनाम आदमियों को राजी कर सके उससे बड़ी सहायता मिल सकेगी। बड़े घने बसे हुए शहरों में खद्दर की बिक्री का प्रचार सहज हो सकता है। परन्तु उसे गाँवों में ले जाना जहाँ उसकी भारी से भारी बिक्री हो सकती है बहुत भारी और लगातार जतन का काम है और अगर एक बार अपने देहातों में देश-भक्ति का भाव पैदा कर दिया जाय तो वह आसानी से दूर नहीं किया जा सकेगा। जिन काम करनेवालों का मुख्य कर्तव्य यही है कि गाँव के खेतिहरों, किसानों और कारीगरों में इस भाव को जगावें उनको किसी न किसी तरह के इनाम से ठोस मदद पहुँचाने की जरूरत है। गाँव में चिल्ला कर बेचनेवाले को केवल कारबारी और व्यापारी ही नहीं बनना पड़ेगा बल्कि अगर उसे सफलता पानी है तो उत्साही प्रचारक भी बनना पड़ेगा।*

३३. कातनेवाले का इनाम

बिक्री पर जो इनाम देने की चर्चा की गयी है, इन्हीं के मुकाबले में और भी इनाम हो सकते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध कातनेवालों और बुननेवालों से हो। जो इनाम कातनेवालों के

---

* बिक्री के बड़े मंदे दिनों में भी माल की तैयारी बराबर जारी रहेगी अगर साख के सुभीतों का विस्तार रहेगा और बारे करजे और खरीदारी की नियमित पद्धति जारी रहेगी। लेकिन इन बातों पर इस निबंध में कोई विस्तार इस लिए नहीं किया गया कि यह बातें लेन देन के सुभीते के विकास और अधिक पूंजी के लगाने से सम्बन्ध रखती हैं।

छू भी नहीं गयी है। वह अब तक विदेशी या मिल के कपड़े पहनते हैं। कातनेवाले अपने घर के खर्च के लिए कात कर कपड़े का बन्दोबस्त कर लेना अपना कर्तव्य समझते थे। बड़े खेद की बात है कि उस पुरानी चाल को हम लोग भूल गये हैं, कातनेवालों में वही चाल फिर से चलानी होगी। यह केवल हमारे लिए उचित ही नहीं है, बल्कि हमारा प्रधान कर्तव्य है कि वर्तमान काल में हमारे आन्दोलन में जो सब से कमजोर जगह है, जिस पर कि चढ़ाई करके वैरी हमें नीचा दिखा सकता है उस जगह को हम दृढ़ बनावें और भीतर ही से उसके सुधार का उपाय करें। जब घर के जरूरी काम और नित्य के कर्तव्य की तरह पर चरखा कातने से खद्दर पहनने की ओर कातनेवाले परिवार की रुचि जग जायगी चाहे खद्दर कितना ही खराब और मोटा हो। इसलिए अगर गाँवों में खादी की जड़ जमाना मंजूर है तो इस आन्दोलन को बढ़ाने के लिए हम जितने सुभीते दें वह ऐसे होने चाहिए कि उनके पहले अंग कातनेवालों और बुननेवालों पर उसका सीधा असर पड़ सके।

३४—बुननेवाले का इनाम

जो दशा कातनेवाली की है वही बुननेवाले की भी है! करघे पर का बुननेवाला देश की एक भारी सम्पत्ति युगों से रहा है और आज भी है। खेती के बाद आज भी इस देश में हाथ के करघे की बुनाई सब से अधिक महत्व का व्यवसाय है। क्योंकि इससे लगभग साठ लाख प्राणियों को काम मिलता है। देश के करघों से हमें जितने कपड़ों की जरूरत होती है उसका चौथाई हिस्सा आज

वह अभी इस फ़ायदे को समझ नहीं रहा है। और भी बातें हैं जिनसे उसकी आमदनी घट जाती है जिन्हें वह नहीं समझा रहा है। उसकी असली मजूरी बराबर घटती ही गयी है। इसका असर इतना बुरा हुआ है कि देश में करघे भी घटते गये हैं। बुनकार के पास अपनी कोई पूँजी नहीं है। उसके लिए उसे किसी पूँजीवाले या साहुकार का भरोसा करना पड़ता है। उसको नित्य विदेशी और देशी मिलों की निरन्तर होड़ का सामना करते रहना पड़ता है। और यह बराबरी का मुकाबला भी नहीं है। वह पहले स्वतन्त्र कारबारी था और अपने माल का दाम अपनी इच्छा से पटाता था। पर अब वह बात नहीं है। कुछ लोग यह सलाह देते हैं कि सहकार समितियाँ खोलकर बुनकारों को माली मदद पहुँचानी चाहिये। यह किसी हद तक अच्छा है पर यह उपाय कठिनाई की जड़ तक नहीं पहुँचता। बुनकारों को जिस बात की ज़रूरत है वह है काम और उसे ऐसे अवसर चाहिये कि वह अपने परिवारवालों की मेहनत को भी काम में लगा सके और उसे लगातार काम भी मिलता रहना चाहिये। वह अभी बिक्री के मौक़े ही पर माल तैयार करते हैं और इस मौक़े की कठिनाइयों और जोखिमों को झेलते हैं। यह सब उलझनें एक ही रीति से सुलझ सकती हैं कि बुनकार और बुनकार के कुटुम्बी भी अपने बचे समय में चरखा कातें। वैसे तो जब गाँव, घर घर में चरखे की गूंज सुनाई देने लगेगी तो बुनकार को बेकारी कभी न सतायेगी। आगे तो उसे सौदा बेचने में भी कोई कठिनाई न होगी। क्योंकि खरीदार तो उसके यहाँ आप ही आवेगा। मद्रास के गवर्नमेन्ट के मिस्टर अमलसाद की तरह जो लोग यह सोचते हैं कि ताना

तनने, माड़ी देने, पाई करने आदि कामों को सहज करने के लिये छोटी मोटी कलों का प्रचार करना अच्छा होगा, वह लोग बुनकार की दशा नहीं सुधारना चाहते वल्कि उलटे उसके सहायक परिवारवालों को थोड़ा बहुत बेकार कर देना चाहते हैं। बुनकार की असल मजूरी तो आज बहुत कम है ही। भारत में पुराने ज़माने में रँगाई का सारा काम बुनकार करता था। यह उसके हाथ से निकल गयी है। अगर परेतना, ताना तनना, पाई करना उससे छीन लिया जायगा तो उसकी वह हानि होगी जो कभी पूरी न हो सकेगी। उसे और काम देने के लिये हम उससे भी चरखा चलवाना चाहते हैं। इससे उसे अवश्य ही अधिक काम मिल जायगा और बन्धनों से छुटकारा होगा। उसकी मजदूरी बढ़ जायगी। और आज जो वह मिलवाले और साहूकार दोनों चक्की के पाटों के बीच में पिस रहा है, सूत की कताई से वह बाहर खिंच आवेगा। उसके लिये तो केवल दृढ़ संकल्प चाहिये कि वह समझदारी के साथ छोटी रक़में जमा करता जाय और अपने चरखे के आसपास एक भारी सहकार-समिति रच डाले और इस तरह वह चाहे तो हाथ की कताई को वह खास अपना रोजगार बना ले, जैसे तिरुप्पुर प्रदेश में यह बात अभी देखी जा रही है कि खद्दर आन्दोलन में उसकी अपनी लगायी हुई पूंजी करघा पीछे औसत २५) तक आती है। इस तरह की थोड़ी थोड़ी सी बचत और जमा के ढंग को फैलाने से बुनकारों और कातनेवालों दोनों को भारी लाभ है। इसके प्रभाव से गाँवों में खादी की तैयारी पक्की और पोढी हो जायगी। फिर तो गाँवों में और भी बुनकार बस जायँगे। और जिस तरह छोड़

छोड़कर भाग रहे हैं वैसी बात देखने में न आयेगी, यहाँ भी हाथ कते सूत से बुनने के लिये उनका हौसला बढ़ाया जाय तो अच्छा हो। जहाँ वह चरखे का सूत काम में न लाना चाहते हों वहाँ उनके पाने योग्य इनाम रखा जाय। कुछ केन्द्रों में करघा पीछे गजों की कुछ निश्चित संख्या तैयार करने पर इकट्ठा कुछ इनाम रखा जाय और परीक्षा की जाय तो अच्छा हो। लेकिन इसकी जरूरत न पड़े, अगर कताई के जोरों से फैलने पर और प्रचार के बल से हर जगह के स्थानीय सुभीतों को हाथ के सूत की बिनाई में लगाया जाय।*

३५. नकली खद्दर

हमारे देश के कुछ भागों में यह कठिन सवाल आ पड़ा है कि हम नकली खद्दर से किस तरह बचें। इस ठगी को मिलों से या मिल के मोटे सूत के बुननेवालों से मदद मिलती है। इस तरह जो कपड़ा बनता है, उसे अच्छी तरह विचार-पूर्वक देखा जाय तो शायद पोल खुल जाय। लेकिन इससे इस ठगी के बराबर चलते रहने में कोई रुकावट नहीं होती। कांग्रेस के दफ्तरवाले जिन मालों पर अपना प्रमाण या छाप दे देते हैं उसमें भी इस ठगी से बचने की कोई सूरत नहीं है। बचने का सब से अच्छा

---

* कातने और बुननेवालों के सिवाय इस काम को फिर से जिलाने में और लोग भी सहायता कर सकते हैं। जो लोग गाँवों में कपास उपजाते हैं वह कपास के रूप में इनाम दें या दान दें और जो लोग शहरों में रहते हैं और रुपयेवाले हैं वह इस धन्धे के लिये पूंजी देकर मदद कर सकते हैं।

उपाय जिससे कि खद्दर बदनामी से दूर रहेगा यही है कि जहाँ खद्दर तैयार किया जाता है वहीं जाकर माल की जाँच कर ली जाय। बुनकार जिस जगह से सूत लेता है उसी का ठीक और शुद्ध होना बहुत ज़रूरी है, नहीं तो यह बुराई बराबर चलती रहेगी। जब यह मालूम हो जाय कि अमुक स्थान में बेचनेवाले या बुनकार इस तरह ठगते हैं तो नीचे लिखी चार बातों का निश्चय कर लेना बहुत उपयोगी होगा।

(१) उस प्रदेश में कुल कितने चरखे चलते हैं और कुल कितना सूत तैयार कर सकते हैं। इन बातों की एक मोटी अटकल लगा लेनी चाहिये।

(२) बाहर से वहाँ सूत आता है या नहीं और अगर आता है तो कहाँ कहाँ से आता है यह बातें मालूम कर लेनी चाहियें।

(३) बुनकारों की रीति रस्म क्या हैं और उनके संगठनों की कैसी दशा है यह भी जान लेना चाहिये।

(४) उस प्रदेश में व्यापारी लोग किस हद तक खद्दर बाहर भिजवाते हैं यह भी मालूम कर लेना चाहिये।

अन्त की बात यह है कि बुनकार को ही ठीक करना चाहिये। उनका ही ऐसा संगठन कर देना चाहिये कि नकली सूत के मिलाने में उन के संगठन की ओर से ही देख-भाल और रुकावट रहे। जिस कठिनाई पर विचार किया गया है वह हमारे नये आन्दोलन में थोड़े दिनों के लिये आ गयी है जो अवश्य ही उस की बाढ़ के सामने अपने आप ग़ायब हो जायगी।

२६. व्यापारी संग्रहालय और चरखा-पीठ

बाहरी और नकली सहायताओं से कोई आन्दोलन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। कोई व्यवसाय चला भी तो बहुत थोड़े काल तक निरंतर चलने के लिए उसे अपने भीतरी बल और भीतर से पोषण की ज़रूरत होगी। सभी दशाओं में पुरानी अवस्थाओं का फिर से दोहराना शायद सम्भव न पाया जाय। यद्यपि देशव्यापी कताई को फिर से जिलाने के लिए वह बहुत जरूरी हो सकती है। शायद उनके ऊपर सुधार की आवश्यकता हो। यह बात जल्दी समझ में आ सकती है कि चरखे के वेग में जितनी ही बढंती की जायगी या धुनकी की अच्छाई जितनी बढ़ायी जायगी उतना ही हमारे आन्दोलन को लाभ पहुँचेगा। क्योंकि इन विधियों से अपने काम में बिना उलझन डाले हुए माल की अच्छाई में हम सुधार कर सकते हैं। विविध औजारों को समझने की कोशिश और उस पर खोज और उनकी क्रिया में सुधार हर प्रान्त में करना है। हम लोग अधिकांश इस बात पर ध्यान नहीं देते कि जो देखने में अत्यन्त छोटे सुधार हैं मिल-जुल कर उनका फल कितने बड़े महत्व का हो जाता है। मान लीजिये जो तकुआ हम चरखे में लगाते हैं उसकी अच्छाई में कुछ थोड़ा सा ऐसा सुधार कर दिया जाय कि देश भर में चरखा पीछे ५० गज बढ़ती सूत कतने लगे तो लगभग २ करोड़ गज सूत या साढ़े सत्रह मन सूत रोज हमारी वर्तमान तैयारी में बढ़ जायगा। यह हिसाब केवल यह मान कर लगाया गया कि देश में १ लाख ही चरखे चलते हैं। ऐसे ही चौंकानेवाले फल

धुनकी के सुधार से भी मिल सकते हैं। देश की हर धुनकी की समाई बढ़ा देने का अर्थ यही है कि कताई भी उसी परिमाण में बढ़ गयी। जिन जिन स्थानों में कातनेवाला अपने लिए नहीं धुनता उनमें इस बात के प्रचार की जरूरत है। क्योंकि अगर वह आप धुन ले तो धुनाई भी उसकी होगी और साथ ही सूत भी सुधरे हुए प्रकार का कतेगा। महीन और मझोले नम्बर कातने में अच्छी धुनाई का बहुत भारी महत्व है। इस बात पर जितना ज़ोर दिया जाय थोड़ा है कि जो लोग देहातों में काम के लिए भेजे जायँ उनके लिए धुनाई अच्छी तरह से सीखना बहुत उपयोगी ही नहीं बल्कि बहुत ज़रूरी है। सभी ज़िलों में कताई-बुनाई के शिक्षालय तुरंत खड़े नहीं किये जा सकते। परन्तु इस बात की कोशिश ज़रूर होनी चाहिये कि हर प्रान्त में इन कामों में कुशल लोगों का दल घूम घूम कर सिखावे और उन सब लोगों को भरसक घर बैठे ओटाई, धुनाई और कताई सीखने के सुभीते मिलें। इसी के साथ ही साथ हर प्रान्त को अपना एक संग्रहालय बनाना चाहिये। उस संग्रहालय में हर तरह की प्रान्त की पैदा की हुई कपास, रुई, सूत और कपड़े के हर तरह के नमूने रहने चाहियें कि उन्हें परखा जाय, उन पर प्रयोग किये जायँ। वह प्रान्त के व्यापारियों के लिये ठीक मार्ग दिखाने का काम भी करेंगे, प्रतिवर्ष वह आसानी से हमारे दोषों को पकड़ सकेंगे। हमारे सुधारों को देखेंगे और भरसक दोषों के इलाज बतावेंगे। ऐसे दक्ष दलों के दौरे जगह जगह और बारबार की प्रदर्शनियाँ, नमूने और काम करके दिखाना और नमूनों का संग्रह निश्चय ही यह सब बड़े काम की चीजें हैं।

३७. मिलों से मिलान

यहाँ तक जितनी बातें कही गयी हैं निकट भविष्य में कताई से जितनी आशा की जा सकती है, उतने से ही उसका सम्बन्ध है। परन्तु हाथ की कताई की इन्हीं आशाओं का मिलान मिल के व्यवसाय से करें तो और भी बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं जिन से कि भारतीय राष्ट्र सूत की कताई और भी ज्यादा पसन्द करेगा। यहाँ दो तरह के उद्योग हमारे सामने हैं दोनों एक दूसरे के बिलकुल विरोधी। मिल का उद्योग सब कामों को एक जगह बटोरता है और चरखे का उद्योग काम को देश में फैलाता है और जगह जगह बाँटता है। हाथ की कताई को फैलाने से वही नतीजा होता है जो पानी बरसने से देखने में आता है, चारों ओर फैल कर बँटना। मिलों को खड़ा करना और कपड़े के उद्योग को एक ही जगह बटोर रखना एक नदी के भीतर बाँध उठाना है कि बहता हुआ पानी रुक जाय जिसमें उसका एक भाग किसी अच्छे काम के लिए खास तरफ बहाया जा सके। इन दोनों तरह के व्यवसायों की उन्नति बिलकुल विरोधी दिशाओं में होती है और जो दिशाएँ पसंद की जाती हैं उन्हीं के अनुसार आर्थिक फल भी होता है।

३८. मिलों की उन्नति

इस बात को निश्चय करने के पहले कि दोनों में से किस प्रकार का उद्योग अधिक फलदायक और लाभकारी होगा भारत में मिलों के आरम्भ और बढ़न्ती का एक संक्षिप्त दिग्दर्शन आव-

श्यक है। जिसमें अपने राष्ट्रीय योगक्षेम पर हम उसके सच्चे प्रभावों का अन्दाज़ा कर सकें। यद्यपि कताई की पहली मिल भारतवर्ष में संवत् १८९५ में कलकत्ते में खड़ी की गयी, तथापि बम्बई में संवत् १९१० में जब पहला पुतलीघर पाँच हज़ार तकुओंवाला खड़ा किया गया तो भारतीय औद्योगिक जीवन में भाप के बल से कपड़ा बुनने का रूप पहले पहल खड़ा हुआ। एक तरह से घर घर के उस पुराने कपड़े के व्यवसाय के बदले सूत की मिलें चलायी गयीं जो विदेशी कपड़ों के आयात के बढ़ने से मारा गया था। अमेरिका के युद्ध के दिनों में इस नवजात उद्योग ने अपने विकट संकटकाल को झेल लिया। उस समय रुई का भाव अत्यन्त ऊँचा उठ गया था। ३८२ सेर के एक गट्ठे का दाम छः सौ रुपये हो गये थे। परन्तु युद्ध के बाद जब दामों पर उसका प्रभाव नहीं रह गया, मिलों की संख्या बढ़ चली। यहाँ तक कि संवत् १९३९ में ६२ मिलें थीं, जिनमें १६ लाख ५४ हजार १०३ तकुए थे। और १५११६ करघे थे जिनमें कुल ५३६२४ प्राणी काम करते थे। तब भी लंकाशायर इस उद्योग से लड़ने को कमर कसे खड़ा था और उसके आन्दोलन का फल यह हुआ कि भारत में विदेशी कपड़ों पर जितना आयात कर लगता था, सब उठा दिया गया, तो भारतीय मिलें चलती रहीं। उस समय उनका माल, सूत और कपड़ा दोनों, विदेशों में भी जाने लगा था। पीछे के वर्षों में तो और जल्दी विकास हुआ और नीचे की सारिणी से यह पता लगेगा कि संवत् १९३७ से लेकर १९८१ तक मिलों ने कितनी उन्नति की।

संवत्	मिलों की संख्या	अधिकृत पूंजी	तकुओं की गिनती	करघों की गिनती	काम करने वालों की गिनती
१९४०	७४	८१६७७२५०	१८९५२८४	१६२५१	६१८२५
१९५०	१३८	११३३००८४०	३५३९६८१	२९३९२	१३०५७०
१९६०	२०६	१५४८७८०५०	५१६७६०८	४५२८१	१८६१४४
१९७०	२६४	२१५०२३०५०	६६२०५७६	९६६६८	२६०८४७
१९८०	३३३	करीब ४० करोड़	७९२७९३८	१४४७९४	३४३८७६

पिछले चालीस वर्षों में मिलों का व्यवसाय कितना वढ़ा, इस पर वहुत विस्तार की जरूरत नहीं है। वर्तमान शताव्दी के उत्तरार्द्ध के लगते लगते विशेष कर मिलों को वहुत से संकटों का सामना करना पड़ा है। लंकाशायर के जलन के कारण देश के भीतर ही रूई पर कर वैठाया गया। वम्वई में प्लेग भी फैला, कुछ दिनों तक इसी से मजूरी भी वहुत महँगी रही। संवत् १९५७ में ऐसा सूखा पड़ा कि कपास कम मिल सकी। और सर्राफे में भी भॉज या वदलौना का वहुत उतारचढ़ाव होता रहा। इन सभी वातों से इस वढ़ते हुए व्यवसाय के ऊपर वुरा प्रभाव पड़ा, तो भी मिलों ने लगातार उन्नति की। संवत् १९७० में सूत ८५,३४,६०० मन तैयार हुआ और कपड़ा डेढ़ अरव गज से ज्यादा वना। दस वरस पीछे सं० १९७९ में सूत ८८,२३,१०० मन के ऊपर कता और कपड़ा एक अरव साढ़े वहत्तर करोड़ गज तैयार हुआ। यह युद्ध जिन वर्षों में हुआ मिलों को ज्यादा माल तैयार करने का अच्छा मौका मिला। वात यह थी कि लंकाशायर से माल का आना कुछ दिनों के लिए घट गया था और अपने देश का वाज़ार देशी कपड़ों

की खपत के लिये खुल गया था। परन्तु साथ ही साथ सुभीते में एक कमी यह भी थी कि नयी मिलें कुछ गिनती लायक नहीं बन सकीं। जो हो लड़ाई के बाद के वर्षों में भारतवर्ष में मिलों के लिए अच्छा बाजार मिल गया और दस वर्ष पहले से मिलान करने से मालूम होगा कि कपड़े की तैयारी सौ में ४० भाग बढ़ गयी है।

संवत्	गज़	
१९६९–७१	१,१७,२०,००,०००	औसत तैयारी
१९७२–७४	१,५४,४०,००,०००	,,
१९७५–७७	१,२५,७०,००,०००	,,
१९७८–८०	१,६७,००,००,०००	,,

जिनका सूत भारतवर्ष में खपा कुल को १०० माना जाय तो ९२ भाग मिलों का था, और सब तरह के कपड़ों की तैयारी में विदेशी कपड़ों की आमद की अपेक्षा मात्रा में मिलों के कपड़े कुछ अधिक ही ठहरते हैं और मालियत में कुछ कम और देश में जितना कपड़ा खपा उसका लगभग चौथाई भाग देशी मिल का कपड़ा ठहरता है। इतने पर भी यह व्यवसाय विलायत में जितना अधिक बढ़ा हुआ है, उस दरजे तक नहीं पहुँचा है। संवत् १९७८ के अंत की ही बात लीजिये। विलायत में दस करोड़ से ज्यादा तकुए थे और ७ लाख ९० हजार करघे थे। अर्थात् हमारे देश की मिलों के तकुओं की अपेक्षा दसगुने और करघे की अपेक्षा सात गुने के लगभग थे। इंग्लिस्तान की ही नकल बम्बई में हुई है और यद्यपि बड़ाई में भारत का मिल-उद्योग वहाँ के सामने कुछ नहीं है, तो भी देश में यह मत ज़ोर पकड़ रहा है

कि मिल व्यवसाय के फैलाने से ज्यादा अच्छे नतीजे निकलेंगे और देश का बहुत ज्यादा भला होगा और हाथ की कताई और बुनाई को फिर से जिलाने में कम। इस मत की अच्छी तरह जाँच होने की जरूरत है कि कम से कम यह मालूम हो जाय कि राष्ट्र का किसमें ज्यादा फ़ायदा है, पुतलीघरों की कताई और मिल की बुनाई में या हाथ की कताई और हाथ की बुनाई में। जितने कारबार उठाये जाते हैं सब की नींव में चार पाँच आवश्यक बातें होती हैं—कितनी पूँजी की ज़रूरत होगी—फैलाने में कितना समय लगेगा—माल की तैयारी में कितना खर्चा पड़ेगा—राष्ट्र को सब जोड़ कर कितनी बचत होगी और अंत की बात यह कि दोनों की सामाजिक प्रतिक्रिया सारे राष्ट्र के ऊपर अलग अलग कैसी होगी? इन सब बातों पर अलग अलग भी विचार हो सकता है और हर एक का बाकी सब बातों से क्या सम्बन्ध है इस पर भी विचार हो सकता है।

३९. कितनी पूँजी चाहिये

पहले हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि मिलों के संगठन और हाथ-कताई के संगठन में दोनों में कितनी कितनी पूँजी लगेगी और दोनों को फैलाने में कितना कितना समय लगेगा। इस समय मिलों की पूंजी लगभग ४० करोड़ रुपये हैं और इसके बल पर साढ़े सत्तासी हज़ार मन सूत तैयार हो रहा है। इससे हमको तकुआ पीछे लगभग सवा मन * के साल भर में

* भारतीय मिलों में औसत तैयारी शायद ही कभी साल पीछे सवा मन से ज्यादा हुई हो। किसी किसी साल तो कम ही हुई है। मन से ज्यादा अंक जो कभी पहुँचा होगा तो डेढ़ मन से अधिक न होगा।

मिलों में मिलता है। यहाँ यह बात जरूर समझ लेनी चाहिये कि भारत के मिलों में औसत कताई किन नम्बरों में होती है। संवत् १९७९ के अंकों से हमें मालूम होता है कि उस साल का सूत की पूरी कताई में सैकड़ा पीछे तेरह भाग १ से लेकर १० नम्बर तक के थे और ५६ भाग ११ से २० तक के थे और २८ भाग २१ से ३० नम्बर तक के थे और ३ भाग ३० नम्बर से ऊंचे के थे। इन अंकों का औसत लगाया जाय तो १५ से १८ नम्बर तक पहुँचता है। चरखे में तकुआ पीछे औसत निकासी मृत की हमें खूब मालूम है। हम अगर मान लें कि सूत का नम्बर १५ होगा तो नित्य आधपाव से कुछ कम कतेगा और साल में १ मन सूत मिलेगा।* अब साढ़े सत्तासी हज़ार मन सूत जो मिलों से निकलता है देश में पूरे समय तक चरखा कते तो नब्बे लाख चरखों से कत जायगा। यद्यपि देश में लाखों पुराने चरखे अब तक फैले हुए हैं तो भी हम मान लेते हैं कि उन सब चरखों को फिर से नये सिर से बनाना और चलाना पड़ेगा। तो भी इस काम में जितनी पूँजी लगेगी वह मिलों में लगायी हुई का दसवाँ भाग भी नहीं होगी। चरखे तो मौजूद हैं। अधिकांश किसानों के घरों में ही हैं। देहाती चरखों को चलाने में ऐसी भारी रकमों की कोई ज़रूरत नहीं है जैसी कि मिलों में खर्च हो चुकी है। अब भी हरसाल कल पुर्जे और उनके सामान में कितनी रकमें लगी

---

* हम मान लेते हैं कि चरखा आठ घंटे रोज़ चलेगा। अगर सूत १० नम्बर का हुआ तो चरखा पीछे साल में डेढ़ मन से ज़्यादा उतरेगा। पर यहाँ हम ठीक तरहसे मिलान करने के लिए ऊँचे ही नम्बरों को लेते हैं।

जा रही हैं और हाथ की कताई का संगठन जब पक्का हो गया तब देहात के चरखों के लिए कपास सहज ही मिल जाया करेगी और मिलों में जो ढुलाई, बीमा कराई, ओटाई आदि में बहुत सा खर्च होता है सब बच जायगा। चरखों के लिए यह सब कुछ न करना पड़ेगा और जब अनुकूल दशा स्थापित हो जायगी तब देहातों के अठवारे बाजार में या कातनेवाले के घर ही कपास और रुई मिल जाया करेगी।

४०. वेग की भूल

युरोप की बड़ी लड़ाई के पहले मिल के तकुए और करघे का औसत खर्चा ६५) से लेकर ९००) तक बैठता था। पर आजकल तो १००) से लेकर ११००) तक बैठता है। इसे यों समझिये कि मिल के चरखे पर जहाँ लगभग उतना ही सूत कतता है जितना हाथ के चरखे से, वहाँ खर्च हाथ के चरखे के मुकाबले पच्चीस गुना बैठ जाता है। जो हो, यह न भूलना चाहिये कि मिल के तकुए से जितना काम किया जाता है उससे और भी ज्यादा काम लेना सम्भव है। बारीक नम्बर के सूत निकालने में मिल के तकुए में निश्चय ही लाभ है। मिल के तकुए पर २० नम्बर का सूत दिन भर में ३'६ छटाँक तक निकल सकता है, जो कि चरखे की समाई का लगभग दूना होता है। फिर भी मिल के तकुए के बैठाने में जो पच्चीस गुना खर्च पड़ जाता है, वही अत्यन्त भारी है क्योंकि मिल के एक तकुए के बदले उतने ही रुपये में हम बीस पच्चीस चरखे गाँव में दे सकते हैं और २० नम्बर का ही सूत कतवावें तो दस बारह गुना अधिक कतवा

भी सकते हैं। जो बात मिल के तकुए के लिये कही जाती है वही मिल के करघे की भी है। मिल में बिजली या भाप के बल से चलनेवाले करघे से साल में लगभग १२ हजार गज़ बुना जाता होगा। पर उसके बैठाने में जितना खर्च पड़ता है, अगर उससे मुकाबला किया जाय तो हाथ के करघे पर की तैयारी से (जो शायद वर्ष भर में १२०० गज़ से ज्यादा ही होगी) मिल का करघा लाभदायक न ठहरेगा। करघों की तैयारी के खर्च का हिसाब करके मिल के और हाथ के करघों से जितना कपड़ा तैयार हो सकता है, नीचे की सारिणी में हम खर्चे के मुकाबले सैकड़ा पीछे लाभदायकता का हिसाब दिखाते हैं।

	मिल के बल से	हाथ के बल से
साल में कितने घण्टे का काम	२९२०	२९२०
तकुआ पीछे कते हुये		
सूत की तौल	सवा मन से डेढ़ मन तक	एक मन पाँच सेर
सूत का नम्बर	१५	१५
तकुआ पीछे खर्च	१००)	३) से ४) तक
खर्च से मुकाबला करके		
काम का सैकड़ा	१००	२४००
करघा पीछे कुल बुनाई		
साल भर में	१२००० गज़	१२०० गज़
करघे का खर्चा	९००)	२०)
खर्चे का मुकाबला करके		
काम का सैकड़ा	१००	४५०

४१. मिल के व्यवसाय के आगे क्या होगा

हाथ की कताई और मिल की कताई के मुक़ाबले के काम में चाहे जो अन्तर हो, यह बहस की जा सकती है कि दोनों में सहज में फैल सकनेवाला व्यवसाय मिल का है। यद्यपि मिल का व्यवसाय वर्षों से बढ़ रहा है और आगे वह किस तरह से बढ़ेगा, इस पर अच्छी तरह से विचार करने की जरूरत है। हाल में सचमुच बाहर माल भेजनेवाला व्यापार एशिया में मन्दा पड़ गया है, परन्तु अगर मिल व्यवसायी भारत के बाज़ार पर सोलह आना इजारा कर लेना चाहें तो उन्हें बढ़ने के लिये अब भी भारी क्षेत्र पड़ा हुआ है, शर्त यह है कि अपनी चीज़ों को फैला कर बाहर से आनेवाले माल की जगह ले लें।

थोड़ी देर के लिये हम यह भी मान लें कि विलायती कपड़े और देशी मिल के बने हुए कपड़े जिन भावों पर बिक रहे हैं उनसे देशी मिलों की उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़ती और यह बात भी हम मान लें कि अपनी उपज से इस समय जो विदेशों से डेढ़ अरब गज कपड़ा और सवासात लाख मन सूत आता है उतना ही यहाँ के बाजार में खपने के लिये भारतीय मिलों को तैयार करना है और मिल के तकुओं की योग्यता बढ़ा कर बरस में डेढ़ से दो मन तक सूत निकलने लगे तो भी इतनी बड़ी मांग को पूरा करने के लिये मिल के जितने तकुए आज चल रहे हैं उनके अलावा तीस चालीस लाख और तकुए भारत में चलवाने पड़ेंगे। इसी हिसाब से मिल के बल से चलनेवाले करघे भी दूने कर देने होंगे। तो क्या यह सुधार किसी समझने

मुद्दत के अन्दर हो सकेगा। संवत् १९६० से १९६९ तक के दस वर्षों में जिस दर से उन्नति हुई है और जो कुछ हम को अनुभव है उससे तो हमें इस बात में भारी सन्देह है। संवत् १९७० से जो मिलों में उन्नति हुई है उसका मुकाबला पहले के बरसों से करके देखना चाहिये। नीचे की सारणी से इसका अन्दाजा हो जायगा।

संवत्	मिलों की गिन्ती	तकुओं की गिन्ती	करघों की गिन्ती
१९४५	१०९	२४६३६४२	२२१५६०
१९५१-१९५६	१७४	४५४६३३४२	३७२२८
१९६६	२४५	६१४२५५१	८०१७१
१९७०	२६४	६६२०५७६	९६६६८
१९७१	२५५	६५९८१०८	१०३३११
१९७२	२६७	६६७५६८८	१०८४१७
१९७३	२६७	६६७०१६२	११०८१२
१९७४	२६९	६६१४२६९	११४८०५
१९७५	२६४	६५९०९१८	११६०९४
१९७६	२६३	६७१४२६५	११७५५८
१९७७	२५५	६७५२४७४	११७९५३
१९७८	२७१	६८१४२२३	१२८३१४
१९७९	२८९	७२४५११९	१३७२३८

इस सरिणी के पढ़ने से पता चलता है कि पहले दस सालों में उन्नति अच्छी हुई थी। संवत् १९७० से आगे तकुए और करघे की वैसी बढ़ती नहीं हुई है जैसी पहले होती आयी थी। संवत् १९७४ से तो तकुओं की गिन्ती लगभग ठहरी सी रह

गयी है। हाँ! सं० १९८० में चार लाख की ज़रा सी बढती हुई है। इसका थोड़ा सा कारण यह भी हो सकता है कि लड़ाई के दिनों में नई मिलों का खड़ा करना मुश्किल हो गया था। जो हो यह रुकावट अब तक दूर नहीं हुई है क्योंकि कल पुर्जों का भाव चढ़ गया है और अधिक तकुए और करघे बढ़ाने और लगाने का खर्च तो इतना बढ़ गया है कि किसी में समाई उतने खरचे की नहीं है। इसके सिवाय और भी कठिनाइयाँ है। सर्राफे की दर बिगड़ी हुई है। व्यवसाय पर रुपये और गिन्नी के भाव का बुरा असर पड़ रहा है और कारबार में ज्यादा पूंजी लगाने में ज्यादा जोखिम देख पड़ता है। होनहार बहुत अच्छा दिखाई पड़ता है। पिछले दो, तीन बरस मिलों के लिये तो बड़े ही खराब रहे हैं और उनसे पहले के बरसों में जो रोजगार चमका हुआ था और खूब नफ़ा होता था उन्हीं के बदले मानों पिछले दो तीन बरस से खराबी चल पड़ी है। संवत् १९७९ में १९७८ के मुकाबले ५०) सैकड़े से अधिक मुनाफ़ा गिर गया। संवत् १९८१ में लाभ इतना घट गया कि बहुत से मामलों में तो बहुत गहरा टोटा आया है। व्यवसाय में इस समय जैसा धक्का लगा है वैसा पहले कभी नहीं लगा था और संभलने में कई बरस लगेंगे। सं० १९७० से १९८० तक के दस बरसों में जिस ढंग से उन्नति हुई है आज कल की दशा देख कर यह कोई न कहेगा कि आगे इससे ज़रा भी ज्यादा उन्नति हो सकेगी। वह आजकल की दशा क्या है नयी मिलें खड़ी करने का खर्च असम्भव है। पूंजी की जोखिम भारी है, सर्राफे की दशा हमारे लिये उलटी है। संवत् १९८० तक के दस साल में तो करघे चालीस हज़ार तक

में खर्च घटाने के लिये तो कम कोशिश होती है पर जहाँ तक हो सकता है, खर्च को उड़ा ही दिया जाता है। कारीगरी में तो उपजानेवाला माल का खपानेवाला भी होता है और जब ऐसा होता है कि कातनेवाला अपने या अपने परिवार के लिये काम करता है तो तैयारी के खर्च का कुछ भाग उड़ जाता है। तब कताई कुछ नहीं लगती और कपड़े की तैयारी में रुई का दाम बुनाई की मजूरी ही जोड़ी जाती है। हमने यह हिसाब दिखा दिया है कि कातनेवालों के लिए सभी नम्बरों के सूत के कपड़े का भाव लगभग बराबर ही रहता है। इस अनोखे सस्तेपन को भारतीय या विलायती मिल कभी पहुँच नहीं सकतीं परन्तु यह तो खर्च को बिलकुल उड़ा देना है घटाना नहीं है, घर के कामकाज के लिये मेहनत लगा देना है और जल्दी माल तैयार करनेवाली कलों को लगाकर मेहनत मजूरी को हटाना नहीं है। हाथ कताई की सब से भारी अच्छाई इसी बात में है कि इस तरह पर एक खर्च को बिल्कुल उड़ा देने का इसमें मौका मिलता है, जिसका अन्त में फल यह होता है कि देश में उपजाने की योग्यता जितनी छिपी हुई है वह पूरे तौर पर काम में आती है। इस मामले में हाथ कताई का मुकाबला कोई व्यवसाय नहीं कर सकता।

४३. खर्चों का मुकाबला

इस बात से किसी को इनकार नहीं हो सकता कि मिलों में जो माल की इकट्ठी तैयारी होती है उसके कारण आज थानों के दाम खद्दर की अपेक्षा बहुत कम हैं, खद्दर के सब से बड़े अच्छे

केन्द्रों में भी सफेद थानों की तैयारी ३६ इंच के पनहे के लिये ।=)॥ ४५ इंच के पनहे के लिये ॥)॥। ५० इञ्च के लिये ॥=) और ५४ इंच के लिये ॥=)॥। है। इसी नम्बर और बुनावट के मिल के कपड़े बहुत कम लागत पर बनते हैं और शायद दोनों में मिलान करने से एक या पौने दो गुना या इससे अधिक अन्तर पड़ेगा। सूत के भाव में जो भेद है उससे बात साफ हो जाती है।

सूत का नम्बर	हाथ के सेर भर सूत का दाम	मिल के सेर भर सूत का दाम
१० से १२ तक	१॥=) से १॥।)※ तक	१) से १।) तक
२०	३)	२) से कम
३०	३॥।)	२।) से कम

कताई में असल में जो खर्च लगता है उसकी दृष्टि से भी भाव में यह भारी अन्तर समझने लायक है। देशी मिलों में भी कताई का औसत खर्चा ।=) सेर के लगभग आता है। मिल में कताई में जो कुछ खर्च लगता है उसकी अटकल यों है।

कताई विभाग	सेर पीछे खर्च पाइयों में
इंजन, वैलट, आदि का मिस्त्री और फुटकर खर्च	६·१६
फूँकने और मिलानेवाले विभाग का खर्च	२·००
धुनकनेवाले विभाग का खर्च	१·५
फ्रेम में खींचने, कंघी करने आदि का खर्च	६·५

※ इस सूत के चरखे पर कातने के लिये जो रुई काम में आती है, वह मिलों की रुई की अपेक्षा बहुत अच्छे दर्जे की होती है।

यह सेर पीछे ।≡)।।। की लागत हुई । लेकिन हाथ के करघे पर बुननेवाले सेर पीछे ।।।) से अधिक पाते हैं । इससे यह मतलब नहीं निकलता कि खद्दर के भाव को घटाना बिल्कुल असम्भव है । कताई और बुनाई की मजूरी की दर का परिमाण जब बँध जायगा, और कातनेवाला आप अपनी कपास जमा करने लगेगा, जब करघे और चरखे से तैयार किया हुआ माल अधिक चोखा उतरने लगेगा और मामूली तौर से माल ज्यादा तैयार होने लगेगा तो बहुत ऊँचे दर्जे की किफायत हो जायगी, और खद्दर का भाव मिल से मिलाने के लायक़ हो जायगा । पिछले ही दो बरसों में खादी के भाव में बहुत सुधार हो गया है । संवत् १९७९ में जहाँ ३६ इंच के पनहे का भाव ।।≡) गज़ था, वहाँ अब सात आने गज हो गया है । ४५ इंच के पनहे का भाव जहाँ ।।।) था वहाँ ।।–) हो गया है और ५० इंच के पनहे का भाव ।।।=) से ।।=) हो गया है, ५४ इंच के पनहे का भाव लगभग १) से ग्यारह आना हो गया है । इसका कारण थोड़ा बहुत रुई का सस्ता हो जाना भी है । जिन केन्द्रों में सस्ता माल बनता था, उनमें खर्च घटाने की बहुत कोशिश हुई, परन्तु बात इतनी ही नहीं है । भाव का विचार टिकाऊपन के साथ होना चाहिये । इस बात को कट्टरता से मान लेना कि खादी टिकाऊ ही होती है, सहज नहीं है । यह तो साफ़ है कि सिद्धान्त के अनुसार विचार किया जाय तो धुनकी से धुनकर और चरखे से कता हुआ सूत मिल के सूत से अच्छा होना ही चाहिये । इस सम्बन्ध में इन्दौर रियासत के कताई बुनाई के सरकारी अफसर की लिखी हुई एक पोथी बड़े काम की देखने में आयी है । यह बड़ी योग्यता से लिखी गयी है । इसमें

संभव है कि अधिकांश पहननेवाले जिन्हें मिल का कपड़ा पहनना पड़ता है बड़ी भारी रकमें बाहर उड़ा देते हों और शायद हाथ के बने कपड़े से यह हानि बच जाय। जो जो खर्च हर साल मिल के काम में लग जाते हैं और जिन्हें बिलकुल उड़ा देना सहज है उनसे देश का धन असल में बरबाद होता है। ऐसे बन्द कर देने लायक खर्च यह हैं।

खर्च की मद	खर्च की रकम	हाथ की कताई में कितने सैकड़ा हट सकता है
१—मिल के सूत को और कपड़े को भेजने में भाड़ा-बीमा-और बिचवई के खर्चे	साढ़े तीन करोड़ रुपया	सैकड़ा पीछे पचास
२—रुई की बीस लाख गाँठों को मिल तक पहुँचाने बीमा कराने और बिचवई का खर्च	साढ़े चार करोड़ रुपया	सैकड़ा पीछे पचास
३—मिल के सामान कल, पुरजों के मँगवाने का खर्च	इसके अंक घटते बढ़ते रहते हैं इससे पिछले ४ बरस संवत् १९७६ से ८० तक का औसत देते हैं पचास लाख	सैकड़ा पीछे सौ
४—भारत में रुई पर का कर [जो उठा लिया गया]	दो करोड़ दस लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ

५—आमदनी पर साधारण और असाधारण कर	पचास लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ
६—स्थानीय और चुङ्गी के कर	बारह लाख	सैकड़ा पीछे पचहत्तर
७—म्यूनिसिपल कर और पानी का महसूल	पंद्रह लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ
८—ईंजन खर्च	औसत सत्तर लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ

मद १, २, ३, ५ और ८ से तो बहुत भारी खर्चा जाहिर है और भारत को भयंकर हानि होती है। कपड़े बुनने के काम में मिलों में जो कल पुर्जे लगते हैं उसके मँगवाने का खर्च जो पिछले ४ साल में हुआ है समझने लायक है। वह यों है—

१९७६	१९७७	१९७८	१९७९
२,७८,५२,२६०)	६,४५,०५,८१०)	१२,०६,३३,०५६)	४७,०८,०३०)

कल पुर्जों के मामले में मिलों को विदेशी कारखानों और इञ्जिनियरों के भरोसे रहना पड़ता है इसीलिये उनमें सुधार के लिये या समय समय पर पुर्जे बदलने के लिये भारी भारी रकमें लगानी पड़ती हैं। एक बात और भी ध्यान में रखने लायक है कि किसी मिल के खड़े करने में इंगिलस्तान में जो खर्चा लगता है, भारत में उसके दूने से अधिक लग जाता है। कठिनाई इतनी ही नहीं है। मिलों की आगे होनेवाली बढ़ती का भी सीधा मतलब यही है कि सदा के लिये विदेशों की मदद का मुहताज रहना पड़ेगा और यह बहुत भारी बाधा है। सरकार को और दूसरे विभागों को साल में तीन करोड़ के लगभग कर देना पड़ता है। और

अगर रुई पर का कर बिलकुल हटा हुआ मान लिया जाय तो भी एक करोड़ रुपये देना रह ही जाता है। माल के आने जाने और इसी तरह के और खर्चा अभी सात से आठ करोड़ रुपये तक जो पड़ता है, हाथ की कताई के भारत में व्यापक हो जाने पर बिल्कुल उड़ जायगा। इनके सिवाय खर्चा के और भी मद हैं जैसे विज्ञापन और ऊपर के मदों के खर्चा। यह भी हाथ की कताई से अत्यन्त कम किये जा सकते हैं। सब मिला जुला कर राष्ट्र की बचत के ऊपर और तरह पर भी विचार किया जा सकता है। मिलों में काम होने से जो कुछ खर्च लगता है उसके भिन्न भिन्न मदों को अच्छी तरह से छानबीन कर देखें तो यह समझ में आ सकता है कि हाथ की कताई में देश को मिल के खर्चा का सैकड़ा पीछे कितना भाग बच जा सकता है। अहमदाबाद शहर की पाँच नमूने की मिलों के अंक नीचे दिये जाते हैं।

कपड़ा तैयार करने में खर्च	गुजरात स्पिनिंग मिल	भारतखण्ड काटनमिल	अहमदाबाद मनूचन्द्रमिल	अहमदाबाद न्यूकाटनमिल	राजनगर मिल्स	सैकड़ा पीछे औसत
१ मजूरी	१५. ६	१७ ६	१६. ५	१४. ८	२१. २	१७%
२ खर्च होने की सामिग्री	१८. ३	८. ८	९. ७	११. ४	११. २	१२%
३ ईंधन	३. ६	४. १	३. ४	३. १	३. ६	३. ५%
४ सूद	१. २	२. ६	२. ६	३. ४	——	२. ५%
५ कमीशन	१. ३	२. ६	४. ३	४. ०	——	२. ५%
६ कर	६. ६	५. ६	७. १	३. १	४. २	५. ५%
७ रुई	४४. २	५०. ०	४८. ०	५३. ५	६.४०	५३%
८ झोजन	५. १	२. ६	२. ३	२. ८	——	३%

और उनकी तो कोई चरचा ही नहीं है जो वेकार पड़े हुए हैं और चरखे की तरह के किसी सहायक धंधे की वाट देख रहे हैं। देश में दरिद्रों की गिनती इतनी भारी है कि मिलों की गिनती दूनी हो जाने पर भी उनके लिये ऐसा रोज़गार देने में विल्कुल असमर्थ होगी जिसका कोई शुमार हो सके। असल वात तो यह है कि मिल-व्यवसाय के वढ़ जाने से और मेहनत वचाने वाली हिकमतों के लगाने से आगे और ज्यादा कुलियों का भरती होते रहना वरावर घटता ही जायगा। भारतवर्ष यह नहीं चाहता कि थोड़े लोगों के हाथों में धन सिमट कर इकट्ठा हो जाय। उसकी भलाई तो इसी में है कि वहुत से लोगों में या जनता में उचित रीति से वँटे। भारतवर्ष को इस समय वड़ी ज़रूरत इस वात की भी है जो असंख्य लोग वेकार हैं उन्हें काम मिले। सारे देश में फैली हुई जो किसानों की आवादी है उनकी दशा और हैसियत के अनुसार फ़ुर्सत की घड़ी के लिये काम मिलना ही चाहिये। राष्ट्र के यही उद्देश्य हैं और यह मिलों से पूरे नहीं हो सकते। माल की तैयारी कितनी ही अच्छी हो देश में सम्पत्ति के वरावर वरावर और न्याय से वँटने में मिलें कभी मदद नहीं दे सकती। फैलाने के वदले, और गरीवों के घर जा जा कर खिलाने पहनाने वाले रोजगार को द्वार द्वार पहुँचाने के वदले, मिलें सारे कामों को समेट कर एकस्थानीय कर देती हैं। कताई के फिर से जारी करने से ही ऐसे करोड़ों आदमियों की मेहनत का इकट्ठा लाभ उठाने का अवसर मिलता है जो लाचारी से दरिद्र और वेकार पड़े रहते हैं। और परम्परा से कताई वुनाई की हाथ की कुशलता जो युगों से चली आयी है और वड़े वेग से नष्ट होती जा रही है वह फलदायक

काम में लगा दी जाती है। तब करोड़ों बेकारों को ऐसा काम मिल जायगा जिससे उनको किसी तरह की नैतिक या वास्तविक असुविधा न रह जायगी। मिलों के बहुत बढ़ जाने से कुलियों की आबादी बढ़ जाती है और मिलों के जीवन में उनके शरीर का ह्रास हो जाता है और वह नैतिक पतन से किसी तरह बच नहीं सकते। उनके रहने की जगहें बड़ी भयानक हो जाती हैं। यह सब विपत्तियाँ गाँव की कारीगर आबादी को नहीं मालूम हैं। मिलों में जो कड़ी मेहनत करनी पड़ती है, अपनी इच्छा के विरुद्ध मशीनों की भी गुलामी करनी पड़ती है, उससे उसके शरीर की दशा ऐसी बिगड़ जाती है कि वह जीते जी मुर्दा सा हो जाता है। उसे सदा मशीन के शोरगुल में जीवन बिताना पड़ता है। मशीनों के अत्याचार से वह बच नहीं सकता। उसे बड़े बुरे मकानों में रहना पड़ता है जिनमें हवा और रोशनी का गुज़र नहीं होता। वह साफ़ हवा के लिये तरस जाता है। उसे अच्छी संगति नहीं मिलती जिससे कि वह नशे आदि बुरी लतों से बच सके। मिल के मजूरों के कष्ट अनगिनत हैं। उन्हें दूर करने के लिये बड़े धीरज से सामाजिक काम करने की आवश्यकता है। परन्तु कितना ही कुछ परिश्रम किया जाय मिल की मजूरी से उसके ऊपर जो प्रभाव पड़ जाता है वह मरते दम तक मिटाये नहीं मिटता। गाँव का कारीगर मिल के मजूरों के मुकाबले ज्यादा तगड़ा और भला चंगा रहता है। अच्छे जल वायु में जीवन बिताता है। अपने झोंपड़े में रह कर रूखे सूखे पर संतोष करता है, थोड़ी मजूरी पाता है पर अधिक खुश रहता है। देश की आगे की भलाई सचमुच कारीगर के हाथ में है। मिस्टर हैवेल ने ठीक ही कहा है कि गाँव के कारीगर को अपनी

कला और शक्ति से अपनी घर गृहस्थी और सारे अड़ोस पड़ोस को भर देना है। हाथ के बुननेवाले को भाँति भाँति के बुनाई के काम में अपनी अद्भुत कला दिखानी होगी और अपनी कारीगरी का छाप लगाना पडेगा। भविष्य में ऐसा ही होगा इस बात की बड़ी आशा है। आगे का कारीगर बड़े नाजुक स्वभाव का होगा। जो कपड़ा बुनेगा उसकी चोखाई के सम्बन्ध में उसे अपनी इज्जत का ख़याल रहेगा। वह समझेगा कि मैंने इसमें अपनी इज्ज़त और चतुराई लगायी है और तैयार माल मेरे हाथ की बनी हुई चीज़ है। ऐसा न हो कि कोई नाम धरे और जब वह स्वाधीन कारबारी की हैसियत से माल तैयार करेगा तो वह राष्ट्र की रुचि को बहुत सुन्दर बना देगा। और इस बात की कोशिश में रहेगा कि यह रसिकता नष्ट न होने पावे। उसके हाथ में काफ़ी काम रहेगा कि वह अपनी योग्यता को सोलहों आना काम में ला सके। मिल वाले की तरह वह शरीर से क्षीण न होगा। उसकी आत्मा दुर्बल न होगी। वही राष्ट्र का भावी नागरिक होगा और राष्ट्र के वीरों को पैदा करेगा। उस समय एक ऐसा व्यवसाय फिर से जीवित हो चुकेगा उसके सामने सम्पत्ति और संस्कार का एक नया भविष्य दिखाई पड़ेगा। और तभी यह राष्ट्र सौन्दर्य का घर हो जायगा और फिर इसे यह दो जोड़ुवां रोग नहीं सतावेंगे, एक यह कि विदेशी ढाँचे का ढला दिमाग़ न होगा और दूसरे यह कि विदेशी छाप और आदर्श का हमारा सामान न होगा।

चौथा अध्याय



चरखे से विदेशी कपड़े के बहिष्कार पर विचार

१. बहिष्कार के दो रूप

सच्चा बहिष्कार इसी में है कि जिस चीज़ का बहिष्कार किया जाय उसमें शुद्ध भाव से रुकावट डाली जाय। प्रकृति का एक नियम है कि जो कुछ एक आदमी या पूरे समाज के लिये हानि-कारक है उसे छोड़ देना चाहिये और दूर कर देना चाहिये। बहिष्कार भी इसी नियम पर चलता है। पीड़ित प्रजाओं को अपनी रक्षा के लिये यह रीति युग युग में बराबर काम में लानी पड़ी है। और इसी रीति ने पीड़ित जातियों को फिर से स्वाधीन जीवन के मूल सिद्धान्तों और जातियों के प्रथम कर्त्तव्यों की ओर बराबर जगाया है। बहिष्कार की विधि रुकावट ही डालनेवाली नहीं है, रचना करनेवाली भी है। जब जातियाँ बाहर से रसद का आना बन्द करना चाहती हैं और स्वावलम्बी होना चाहती हैं तो उनको लाचार होकर बेईमानी से चढ़ा ऊपरी करनेवाले लोगों को और बीच बीच में आ पड़नेवालों को रोकने के लिये, और अपनी बात रखने के लिये अपने देश में रसद तैयार करनी पड़ती है। जब इँगलिस्तान् को ज़रूरत पड़ी तो उसने भी

इसी नीति के ऊपर बाहर के माल का बहुत ज़ोरों से बहिष्कार किया। ईसा की अठारहवीं शताब्दी में अँग्रेज़ी व्यवसाय की उन्नति पर इतिहासकार लेकी यों लिखता है—

"इंगलिस्तान में कोई हाथ की कारीगरी ऐसी नहीं थी जिसकी मदद रुकावटों से न की गयी हो, या जिस पर सरकारी इनाम न मिले हों। कारीगरी के व्यवसाय में हद दर्जे की नीचता और परले सिरे का स्वार्थ था जो किसी समय इतना चढ़ गया कि राष्ट्र विप्लव हो गया और अमेरिका अलग हो गया। आयरलैंड का उठता हुआ व्यवसाय बरबाद हो गया। भारतवर्ष के नयनसुखों की कारीगरी कुचल डाली गयी। और इंगलिस्तान के घर के ग्राहकों को सभी चीज़ों पर लाचार होकर इजारे के भावों से दाम देने पड़े"।

जब अमेरिका में स्वतन्त्रता का महायुद्ध हुआ वहाँ भी इसी कूटनीति से काम लिया गया। यहाँ भी इतिहासकार लेकी उन उपायों का अच्छा चित्र खींचता है—

"राजधानी के सौदागरों ने प्रतिज्ञा लिख दी कि हम इंगलिस्तान से अब से कोई माल न मँगावेंगे। और जो माँग हम भेज चुके हैं उनको रद्द कर देंगे और जब तक स्टाम्प का कानून रद्द न हो जाय तब तक अपने ऋणों को चुकाने के लिये इंग्लिस्तान को कोई रकम न भेजेंगे। अपने यहाँ की कारीगरी को बढ़ाने के लिये भारी कोशिश की गयी कि जिसमें उपनिवेश इंगलिस्तान की मदद का मुहताज़ न रहे। अमीर से अमीर शहरियों ने इँगलिस्तान से मँगाये नये नये कपड़ों को छोड़कर पुराने या घर के कते सूत के कपड़े पहने कि दूसरों के लिये उदाहरण हों और इसलिये कि ऊन की कमी पूरी होती रहे सब ने निश्चय कर लिया कि हम भेड़ का मांस नहीं खायेंगे"।

अमेरिका के उपनिवेशों ने, और उनसे भी पहले बृटिश जातियों ने, जो रुकावट और बहिष्कार की नीति स्पष्ट और ठीक ठीक चलायी, वह और ही बात थी जब उन्होंने यों देखा तब इसका अवलम्बन किया। और वह स्वाधीन राज्य थे इसलिये वहाँ की सरकारों ने जाति के कहने के अनुसार तुरन्त ही मुस्तैदी से कार्रवाई की पर भारतवर्ष की वैसी अच्छी दशा नहीं है, नहीं तो उसकी सरकार भी देशी कारीगरी का हौसला बढ़ाती, बाहर के माल के ऊपर भरोसा न करती, भारत की सरकार जिस काम को करने की हिम्मत नहीं कर सकती, राष्ट्र को वही काम करना पड़ेगा। देश ने बेजाने ही भारतीय कारीगर और कातनेवाले का उसकी दक्षता और उसकी होशियारी का, उसके कामों और उसके आदर्शों का इतने दिनों से अब तक जो बहिष्कार कर रखा है, अगर उस बहिष्कार को हम उठा लेना चाहते हैं, और अपने देश के कारीगरों को काम के नये मौके फिर से देना चाहते हैं तो इस समय की सब से बड़ी जरूरत यही है कि विदेशी कपड़ों का जोरों से बहिष्कार किया जाय। मनुष्य के जीवन की, एक पहली जरूरत कपड़ा है। अगर कपड़े के लिये कोई जाति दूसरे की मुहताज रही तो वह और किसी बात में उन्नति नहीं कर सकती। सबसे पहले अपने राष्ट्र के हित के लिये बहिष्कार की पूरी ताकतवाली नीति को अपने राष्ट्र के सामने रखना होगा। यह बात ठीक ही कही गयी है कि भारतवर्ष के व्यवसायों को फिर से जिलाना केवल व्यापारी प्रश्न नहीं है। यह तो आदि से लेकर अन्त तक पहला और आखिरी, सब से अधिक महत्व की नीति और समझदारी का प्रश्न है। उसका आदि और अन्त विधियों और कलपुर्जों

में नहीं है, उसका आदि और अन्त हर नरनारी और बच्चे के मन में होना जरूरी है। हमारे आन्दोलन का सब से नुकीला और पैना सिरा यह दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि हम विदेशी कारीगरी के मुहताज अब से नहीं रहेंगे। और हम अपने व्यवसायों को फिर से जिलावेंगे, फिर पैदा करेंगे।

२. विदेशी आयात

तो अब भारतीय बहिष्कार को बाधक और साधक दोनों होना है। आन्दोलन से और अपनी २ ज़रूरतों को अधिक से अधिक घटा देने से निश्चय ही बहिष्कार को मदद मिलेगी। परन्तु इससे भी अधिक निश्चित उपाय यह होगा कि हम कपड़े की उपज को इतना बढ़ा दें कि जितना कुछ विदेशों से आता है देश में तैयार हुआ करे और ऐसे भी उपाय करें कि वह सब देश के भीतर खप भी जाय। विदेशी माल की जगह को भारतीय माल ले ले। इस समय बड़ी योग्यता और सफलता से जो दो तरह के काम हो रहे हैं उनमें से एक का ही अवलम्बन करने से काम चलेगा। अर्थात् यह तय करना होगा कि मिल की कताई और बुनाई या हाथ की कताई और बुनाई दोनों में से कौन सा हमारा मतलब साधने को सबसे अच्छा है। इन दोनों में से कौन से उपाय से हमारी चाही हुई बात जल्दी पूरी होगी। इन दोनों प्रश्नों से, हमें इस बात पर विचार करना जरूरी मालूम होता है कि दोनों तरह के व्यवसायों में जल्दी से जल्दी कौन से व्यवसाय का विकास हो सकता है? जो हो, अपने यहाँ के माल को विलायती माल की जगह दिलवाने के उपाय सोचने के पहले यह

	संवत् १९६८ से १९७१ तक का औसत	संवत् १९७२ से १९७४ तक का औसत	संवत् १९७५ से १९७७ तक का औसत	संवत् १९७८ का औसत	संवत् १९७९ का औसत
१. विदेश से कपड़े की आयात (गज़ों में)	२८८५० लाख गज़	१८४४० लाख	१२१६० लाख	१०८०० लाख	१५७७० लाख
२. कुल कपड़ा जो भारत में खपा (गज़ों में)	४६,१७० लाख गज़	३८८४० लाख	३२६५० लाख	३५३१० लाख	४१८९० लाख
३. पहले को सौ मानकर दूसरे की निष्पत्ति	५७½%	४७%	३७½%	३०%	३७%
४. आयात की मालियत कितने करोड़ रुपये हुई	५०	४१	५६·	६०·७	५९·३

बाहर से आनेवाले सूती माल की मात्रा बहुत घट गयी है। अब भारतवर्ष में जितना कपड़ा खर्च होता है उसको सौ मान लें तो केवल ३७ भाग विलायती सूती माल आता है। तो भी विदेश से आनेवाले सूती माल की मालियत में कमी नहीं आयी है। बल्कि कपड़े के रूप में जो धन खिंच कर बाहर विदेशों में चला जाता था अभी उसी तेज़ी से जारी है। इसी बात से हम यह पता लगा सकते हैं कि किन कारणों से आयात की मात्रा में कमी आगयी है। उन कारणों को विस्तार से वर्णन करना जरूरी नहीं है। परन्तु उन कारणों में पिछले चार बरसों में बहिष्कार सम्बन्धी प्रचार, देशी माल और विशेष कर खद्दर को अधिक पसन्द करना, देश में कपड़े का साधारण तौर पर कम खर्च होना, सर्राफे की चंचलता और बड़ी आवश्यकता, विदेशी कपड़े का मँहगा होना भी शामिल हैं। विदेशी माल के आयात के घटाने इनमें से हर एक कारण रहा है। यह तो सहज ही मान लिया जा सकता है कि विदेशों से माल की आमद अब उस दर पर नहीं पहुँच सकती जिस पर युद्ध के पहले पहुँची थी। यह उस बहिष्कार आन्दोलन की बदौलत है, जो बहुत ही उचित रूप में देश में चलाया गया है। लेकिन अगर यह निश्चय हो कि विदेशी माल यहाँ पर आवे ही नहीं या बिल्कुल आना बन्द हो जाय तो इसके लिये देश में माल पैदा करने के जो साधन हों उनका तुरन्त विकास होना चाहिये, या कोई नया साधन तुरन्त काम में लाना चाहिये जिससे डेढ़ अरब गज विलायती कपड़ा और सवा छः लाख मन से ऊपर सूत जो विदेशों से मँगाया जाता है, अपने ही यहाँ तैयार हो जाय।

३. वहिष्कार पर कुछ आपत्तियाँ

इस बात पर हम पीछे विचार करेंगे कि इस नये साधन से कैसे काम लिया जाय और यह किस तरह का हो। पहले तो हम उन आपत्तियों पर विचार करेंगे जो, वहिष्कार की नीति पर की जाती हैं। यह कहा गया है कि वहिष्कार एक तरह की आत्म-हत्या की नीति है क्योंकि न तो इस से विलायतवालों पर कोई प्रभाव पड़ेगा और न देशी कारीगरी बढ़ेगी। काले साहब का कहना है कि "युद्ध में जिस जाति ने सवा खरब रुपयों का ऋण सह लिया वह निश्चय ही साठ करोड़ सालाना की हानि सह सकती है। यह पोच दलील है। वहिष्कार का जो कुछ राजनैतिक प्रभाव इंग्लिस्तान पर पड़ेगा उसे हम विचार से अलग भी करदें तो भी भारतवर्ष में अगर विदेशी कपडे का सफल वहिष्कार हो जाय तो उसके वाणिज्य की इतनी भारी हानि होगी कि उस के पावँ लड़खड़ा जायँगे। जहाँ एक बार ब्रिटेन के मूल व्यवसाय ने पलटा खाया उसके व्यवसाय पद्धति की सारी शक्ति पर बड़ा गहरा धक्का लगेगा। उसका साहूकारा साख और व्यापार के सुभीते जहाजों का कारबार और बन्दरगाहों पर के रोजगार सब की नींव हिल जायगी। लार्ड पेंटलेण्ट जैसे लेखकों ने भारतवर्ष में वहिष्कार हो जाने पर यह अन्दाजा किया है कि ब्रिटेन की हानि लगभग सवा अरब रुपये के होगी। कुछ करोड़ रुपये साल की हानि की तो कोई बात नहीं है। हानि तो इस बात की है कि सूती माल के लिये संसार का सबसे बड़ा बाजार ब्रिटेन के हाथों से निकल जायगा और ब्रिटेन उसे खुशी से कभी छोड़ना

न चाहेगा। काले साहब का यह मान लेना कि बहिष्कार से देशी कारीगरी बहुत नहीं बढ़ेगी बिलकुल निराधार है। यह तो एक बहिष्कार की नीति की ही बदौलत है कि हमारे देश पर दबाव डाल कर अपने मतलब का कच्चा माल उपजवाया और बढ़वाया जाता है और देश का धन खींच कर उससे अपना स्वार्थ साधा जाता है। हाँ, यह बहस की जा सकती है कि ऐसा बहिष्कार व्यवहार में नहीं आ सकता। मिस्टर कूत्रो की तरह के लेखक ऐसी ही दलील पेश करते हैं। मिस्टर कूत्रो कहते हैं कि बाहर से आनेवाले मालों में तीन चौथाई तो ऐसे हैं जिनमें चढ़ाऊपरी का तो कोई सवाल नहीं है। इसलिये बहिष्कार व्यवहार में आने वाली चीज नहीं है।* इसका जवाब बिलकुल साफ़ है कि बहिष्कार के साथ साथ राष्ट्र की रुचि भी जरूर बदल जायगी। और यह कठिनाई बहुत कुछ अपने आप दूर हो जायगी। जहाँ राष्ट्र के मन में बात बैठ गयी और दृढ़ संकल्प हो गया फिर तो जिन विदेशी मालों पर चढ़ा-ऊपरी का सवाल नहीं है वह भी चढ़ा-

---

* मिस्टर कूत्रो यह भी कहते हैं कि बहिष्कार से मिलवालों को देश लूटने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद मिलेगी। परन्तु यह विश्वास नहीं होता कि मिलवाले ज्यादा लोभ दिखायेंगे और बहिष्कार में सहायता देने से इनकार करेंगे। देश के साथ उन्हें भी बहुत कुछ अनुराग है और भारी सम्बन्ध है और अपने व्यवसाय में तो उनको अधिक रस है। कपड़े के बाजार के और और भी हथियाने का अच्छा मौका देख कर वह छोड़ न देंगे। पर केवल नफ़े के पीछे न मरेंगे। फिर बहिष्कार का फल यह होगा कि हर साल बराबर चरखे का कारबार बढ़ता जायगा। जिससे मिलों के भाव के ज्यादा चढ़ने में कुछ थोड़ी सी रुकावट रहेगी।

ऊपरी वालों में आ जायँगे। कहते हैं कि जो माल लंकाशायर से आता है वह भारतीय मिलों और हाथ के करघों से नहीं निकल सकता पर इसका मतलब यह नहीं है, कि जब तक भारत में उसी तरह का माल न बने तब तक भारतीय माल लंकाशायर के माल की जगह ले ही नहीं सकता। अगर बात ऐसी ही हो तो मिल और चरखा संगठन दोनों की जुड़ी हुई ताक़त भी दशा को कभी सुधार नहीं सकती। खद्दर का एक थान जिसका सूत दस नम्बर या उससे कम का भी हो अगर अत्यन्त महीन नम्बर के सूत के बड़े अच्छे बुने कपड़े की जगह पर खरीदा जा सकता है, तो वह ज़रूर ही विलायती कपड़े का मुकाबला कर रहा है। मिस्टर कूत्रो ने देश को एक चेतावनी दी है कि बहिष्कार का फल यह होगा कि जिस विलायती माल पर चढ़ाऊपरी नहीं है वह सस्ता हो जायगा और देश में उसकी खपत बढ़ जायगी। यह दलील इसलिये उठायी गयी है कि मिस्टर कूत्रो ने यह भ्रमपूर्ण बात मान ली है कि जिस माल पर चढ़ा-ऊपरी नहीं है वह बहिष्कार आन्दोलन से सदा बचा रहेगा। बहिष्कार विदेशों के कपड़े को अवश्य रोकता है, चाहे वह मुक़ाबले के हों या न हों, और उससे देशी कारीगरी अधिकाधिक उन्नति और प्रोत्साहन पाती है।

४. मिल या चरखे का कार्यक्रम

बहिष्कार को व्यवहार में लाने के लिये कुछ लोगों की सीधी सी सलाह यह है कि मिलों का बेठिकाने विस्तार कर दिया जाय। बारम्बार यही दलील पेश की गयी है कि विदेशी का सफल बहिष्कार तभी होगा जब देशी मिलों को कपड़े तैयार करने की पूरी

समाई भर फैलने का मौका मिलेगा। मिलों के विस्तार की संभावनाओं पर हम अच्छी तरह विचार कर ही चुके हैं। पर हम जिस नतीजे पर पहुँचे थे उसी को यहाँ दुहरा देना काफ़ी होगा कि मिल व्यवसाय के लिये यह सम्भव ही नहीं है कि अगले दस पाँच बरस में भी उनका ऐसा विकास हो सके कि कपड़े के बारे में भी उनके बल पर राष्ट्र स्वावलम्बी हो जाय। परन्तु तो भी मिलों को बहुत कुछ मदद करनी चाहिये और करेंगी। जहाँ संवत् १९७० में मिलों में एक अरब दस करोड़ तीस लाख गज कपड़ा बना था, संवत् १९८० में एक अरब उन्नासी करोड़ चालीस लाख गज कपड़ा बना। दस बरस में सैकड़ा पीछे पचास उन्नति हुई। वह अपने उपज को बढ़ाते जा सकते हैं या जिस हद तक उन्होंने पहुँचाया है कम से कम उसी हद तक रखें। इसके सिवाय मिलों से यह बड़ी मदद मिल सकती है कि जब तक बहिष्कार जारी रहे वह अपने भाव न बढ़ावें। देश के साथ उनका भी भारी कर्तव्य है और अगर वह अपना भाव घटाये रहेंगे, केवल नफ़े की ओर नहीं ध्यान देंगे और इस समय जो देश की बाजी लगी हुई है उसकी तरफ ख्याल रखेंगे, तो अपने कर्तव्य में नहीं चूकेंगे। देश से विदेशी कपड़ों का पूरा बहिष्कार जो अपना उद्देश्य है उसे अगर मिलवाले अकेले पूरा न कर सकें, तो मिल वालों के साथ साथ किसी और साधन का पूरा विकास इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये करना ही होगा। यह साधन होगा हाथ की कताई-बुनाई, चरखा और करघा*। हाथ-कताई से क्या क्या

* देश में जितना कपड़ा चाहिये उसका एक भाग तो हाथ के करघे

हो सकता है इस पर हम साधारण विचार कर ही चुके हैं, परन्तु अभी हमें विस्तार से इस बात की जाँच करनी है कि हमारे व्यवसायी जीवन में किस हद तक चरखे का विकास करना होगा कि हम सफलता से विदेशी कपड़ों का वहिष्कार कर सकें। अभी तो डेढ़ अरव गज कपड़ा और साढ़े सात लाख मन सूत जिससे कि तीस करोड़ गज कपड़ा और बनेगा † विदेशों से आता है। देश में एक अरव ८० करोड़ गज कपड़े की तैयारी के लिये पंद्रह लाख के लगभग हाथ के करघों की ज़रूरत होगी, अगर हम यह मान लें कि करघा पीछे, साल में औसत सौ गज कपड़ा बुना जायगा और जितने सूत की आवश्यकता होगी उतना तैयार करने के लिये लगभग एक करोड़ ❀ के चरखे चलने लगेंगे। जितने

तैयार कर ही रहे हैं परन्तु लगभग सब के सब विदेशी या मिल का सूत काम में लाते हैं। संवत् १९७२ से लेकर अब तक हाथ के करघों पर कपड़ों का बुनना बढ़ता जा रहा है।

हाथ के करघे से कितना कपड़ा बुना गया

सम्वत् १९७२ से १९७४ तक	७२,३०,००,००० गज
सम्वत् १९७५ से १९७७ तक	७२,३०,००,००० गज
सम्वत् १९७८ में	९४,४०,००,००० गज
सम्वत् १९७९ में	१,१०,३०,००,००० गज

† विदेशी सूत महीन होता है इसलिये आधसेर में पाँच गज कपड़े का औसत रखा गया है।

❀ साल में सवा मन के लगभग अगर चरखा पीछे कताई की कूत की जाय तो पचास लाख चरखों से साढ़े बासठ लाख मन सूत साल में कतेगा। जिससे कि दो अरव गज कपड़ा बन सकता है। पर अगर चरखे

चरखे और करघे देश में मौजूद हैं उनसे तो बहुत कुछ आशा की जा सकती है, पर सवाल यह है कि अपनी मनचाही बात पूरी करने के लिये उनसे किस तरह काम लिया जाय। एक कोई कार्य-क्रम बनाया जाय कि जितना कुछ राष्ट्र हमारे गाँवों में रहता है उसकी उपजाने की पूरी ताक़त पूरे तौर पर काम में आवे और उसी कार्यक्रम पर हम लोग बराबर डटे रहें।

५. खद्दर की मांग को बढ़ाना चाहिये

बहिष्कार के समय में अपने कपड़े की जरूरतों को भरसक घटाये रहने से राष्ट्र के काम में बड़ी सहायता मिलेगी। बहिष्कार का प्रश्न कम कठिन हो जाय यदि वह लोग जो कीमती और भड़कीले वस्त्र पहन सकते हैं उन्हें छोड़ दें और अपनी रुचि को बसमें रखकर ऊँचे देशानुराग को क़बूल करें।

बहुत अमीर लोगों में, जो राष्ट्रीयता का नाश हो रहा है और मध्य वर्ग के अमीरों में भी जो बड़ी तेज़ी के साथ फैल रहा है उसे तुरन्त रोकने की ज़रूरत है। खद्दर के प्रचार से कुछ थोड़ा सा परिवर्तन हो गया है। लोग ज्यादा सादगी से रहने लगे हैं और फजूल खरची कम हो गयी है। परन्तु जितना ही सादे जीवन का प्रचार बढ़ेगा और आरामतलबी के झूठे ख़याल जितने दूर होंगे उतना ही खद्दर का प्रचार सहज होता जायगा। पर रचनात्मक पक्ष में करोड़ों कपड़े के पहननेवालों को अभी यह बात

पूरे समय तक न चलें, औसत ४ घन्टे रोज का ही रहे तो एक करोड़ चरखे या हर तीस प्राणी पीछे एक चरखा की जरूरत होगी कि विदेशी कपड़े का बहिष्कार हो सके।

सिखानी पड़ेगी कि मिल आदि देशी कपड़ों को भी छोड़कर एकदम खद्दर ही पहनें। उनको यह भी अच्छी तरह समझाना है कि विदेशी कपड़ा एकदम छुएँ नहीं। बड़ी मेहनत और आग्रह से लगातार आन्दोलन करना पड़ेगा कि इस बहिष्कार को राष्ट्र पूरा कर सके। जहाँ कहीं इस दिशा में पूरा संगठन किया गया है वहाँ ऐसे नतीजे देखे गये हैं कि आश्चर्य होता है। हर खद्दर पहनने वाले को कुछ काल के लिये प्रचारक बन जाना पड़ता है। राष्ट्र को सब की आवश्यकता है। उद्देश्य यह है कि राष्ट्र की रुचि एकदम उलट जाय। बारीक बुनावट और सस्ते दामों का लोभ बाजारों में जिन करोड़ों आदमियों को खींच ले जाता है उन्हें घोर दरिद्रता से बचाना है और राष्ट्रीय योगक्षेम की ऊँची आवश्यकताओं के अनुसार राष्ट्र की रुचि को फिर से ढालना पड़ेगा। जहाँ कहीं स्थानीय बिक्री के लिये ज़ोरों से आन्दोलन लगातार होता रहा है वहाँ चरखे को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला है। निदान हाथ की कताई को कहीं भी हानि नहीं हुई है। इस बात पर अकसर ज़ोर दिया जाता है कि हम लोगों को ख्याल रखना चाहिये कि ऐसा न हो कि ज़रूरत से ज्यादा खद्दर तैयार हो जाय, परन्तु असल बात तो यह है कि जिसे ज़रूरत से ज्यादा तैयारी कहते हैं वह तो कोई चीज़ नहीं है। सारे देश में खादी के लिये मांग है और इस माँग को काम में लाने के लिये और बढ़ाने के लिये अगर पूरा पूरा ध्यान दिया जाय तो अधिक खद्दर तैयार करने से किसी प्रकार का आर्थिक संकट नहीं पैदा हो सकता। हमारे देश में अमीर, रईस लोग और मध्य वर्ग के लोग अभी खद्दर पहनने को बिलकुल बाकी हैं। खद्दर के लिये यह बाज़ार बहुत विस्तृत है।

इस भारी माँग को पूरा करने के लिये बड़ी कोशिश करनी है। बहुत से प्रान्तों के बड़े बड़े शहरों में और छोटे छोटे कस्बों में भी कपड़ों के पहननेवालों में बहुत देशानुराग है और जी से खद्दर पहनना चाहते हैं पर उन्हें मिलता नहीं। ऐसी जगहों पर दूकानें खोलने की बड़ी ज़रूरत है या और दुकानों का खद्दर बेचने का हौसला बढ़ाने की ज़रूरत है। एक योजना इस तरह की बन सकती है और शहरों और कसबों के रहनेवालों में विस्तार से फैलायी जा सकती है जिसके मेम्बर खद्दर के खरादने में एक प्रकार से एक दूसरे की मदद कर सकते हैं। मध्यम वर्ग और छोटे वर्ग के लोगों के लिए और मामूली तौर से विद्यार्थियों के लिये जो महीने महीने की आमदनी रखते हैं, बड़ा सुभीता है। बीस, तीस गाहक मिल कर खद्दर मण्डली बना लें जिसमें हर मेम्बर ३) या ४) मासिक देता हो। खद्दर भण्डार की ओर से इस मण्डली को एक निश्चित मासिक रक़म के लिये परवाना या पास मिले। मान लो कि २० आदमी ३) मासिक चन्दा देते हैं तो महीने में ६०) रु० जमा होते हैं। इस साठ रुपये में लगभग दो मेम्बरों के लिये तीस तीस रुपयों का खद्दर आ जायगा। जो शायद साल भर के लिये काफ़ी होगा। इस तरह बारी बारी से साल भर में सब मेम्बरों को खद्दर मिलता जायगा और हर मेम्बर की जरूरत के अनुसार उसका खद्दर मिलेगा और उसका हिसाब रहेगा। हिसाब रखनेवाली मण्डली होगी और खद्दर भण्डार से मण्डली की मार्फ़त लेनदेन होगा। खद्दर भण्डार ऐसी मण्डलियों से भाव में कुछ रिया-यत करेगा तो ऐसी मण्डलियों के अधिक बनने में सहायता

मिलेगी। साल भर का खद्दर इकट्ठा मिल जायगा और आपस के समझौते से सदस्य लोग सुभीते के साथ थोड़ा थोड़ा करके मंडली को रुपया चुकाते रहेंगे। जो लोग महीना पाते हैं उन्हें इस तरह थोड़ा थोड़ा खर्च करना नहीं खलेगा। पर यह केवल शहरों की बात हुई। गाँवों में तो फसलों पर आमदनी होती है और कपड़ा भी फसल ही पर खरीदा जाता है। देहातों में सदा के लिये दूकान रखना तो अभी सम्भव ही नहीं है, फेरीवालों के द्वारा बेचने की कोशिश करनी होगी। फेरीवालों को भी चाहे कमीशन देकर लुभाया जा सकता है या चाहे देहातों में इनाम की रीति से काम लिया जा सकता है। समय समय पर मेला तमाशा करके और घूम घूम कर जगह जगह माल पहुँचा कर बेचना पड़ेगा। जहाँ भारी भारी तीर्थ हैं, और जहाँ कहीं कभी कभी तीज, त्यो-हार हो जाते हैं वहाँ भी खद्दर की अच्छी बिक्री हो सकती है।

६. कातनेवाले का कर्तव्य

खद्दर के लिये बाजारों को अपने हाथ में करने की कोशिश में केवल अमीर, शहरियों का और मध्य वर्ग का ही कर्तव्य नहीं है। जो लोग चरखा कात कर खद्दर बुनकर उसकी उपज बढ़ाने में मदद देते हैं, उन बुनकारों और कातनेवालों को भी खद्दर की बिक्री में मदद देनी चाहिये। उन्हें अपने जी जान से इस काम को बढ़ाना चाहिये। और वह कितने ही गरीब हों उनको यह चाहिये कि खुद ज़रूर खद्दर पहनें।

७. स्थानीय संस्थाएँ भी मदद करें

खद्दर की सब से अच्छी उन्नति तभी होती है जब यह मालूम रहे कि कितनी माँग है। अगर राज्य राजा हो जाय तो

वह इस बात का हमको विश्वास दिला सकता है कि सरकार की ओर से जितने कपड़े खरीदे जायँगे खद्दर ही के होंगे। इस तरह से खद्दर की उपज की कुछ थोड़े भाग के लिये माँग बनी रहेगी। इसके सिवा स्थानीय संस्थायें भी जैसे म्यूनिसिपैलिटी, तअल्लुका बोर्ड, ज़िलाबोर्ड आदि अपने अपने अस्पतालों में, स्कूलों में और दूसरी संस्थाओं में खद्दर को सीधे फैला सकते हैं और खद्दर की उपज का बहुत बड़ा भाग खर्च कर सकते हैं *। वह केवल खरीदारी नहीं होगी बल्कि बिना कुछ खर्च किये ही बहुत बड़ा प्रभाव डालनेवाला प्रचार होगी।

८. उपज को किस तरह जारी रखना चाहिये

जहाँ कहीं यह व्यवसाय फ़ैला हुआ है वहाँ तो भरसक खद्दर की तैयारी के संगठन में पूरा ज़ोर लगाना चाहिये। जहाँ सूत खुले बाज़ार कातनेवाले बेचा करते हैं वहाँ ऐसे सुभीते कर देने की जरूरत है कि उनका काम बरबार जारी रहे। कताई बढ़ाने का सब से उत्तम निश्चित उपाय सूतों के मेले हैं। जिन कताई के केन्द्रों में कातनेवाले ऐसे गरीब हैं कि अपने लिये कपास जमा नहीं कर सकते वहाँ फसल पर रुई खरीद कर जमा कर लेनी चाहिये और उसका गोदाम भरसक कातनेवालों के इतने निकट

---

* कई स्थानीय संस्थाओं ने अपने स्कूलों में चरखा और तकली चलवाना शुरू कर दिया है और कुछ ने अपने यहाँ के नौकरों में खद्दर को फैलाया है। अभी हाल में अखिल भारतीय चरखा संघ की ओर से जो रिपोर्ट छपी है उसमें चरखा और खद्दर को फैलाने में जिन संस्थाओं ने सहायता की है उनकी नामावली दी हुई है।

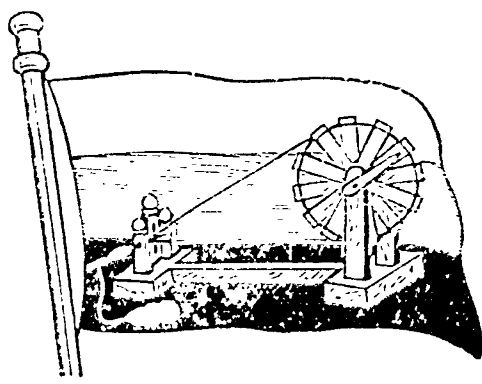
होना चाहिये कि वह आसानी से रुई पा सकें। पर यहाँ भी बड़े ज़ोरों से आन्दोलन करना होगा कि कातनेवाले खुद अपनी कपास इकट्ठा करने को राजी हो जाय। असल में उद्देश्य यह होना चाहिये कि जो कपास इस समय रोजगार के लिये बोयी जाती है और जिससे अधिक लाभ का लालच किया जाता है वह आगे पहनने के लिये बोयी जाय। और जैसे अनाज की फसल में किसान अपने खाने को रखकर तभी बेचता है उसी तरह अपने खर्च भर कपास रखकर तब बेचे। या जैसे अनाज अपने खाने भर के लिये ज़रूर उपजाता है वैसे कपास भी अपने खर्च भर ज़रूर उपजावे और जैसे अपने घर रोटी के लिये अनाज न होने पर वह रोटी नहीं खरीदने जाता बल्कि अनाज ही मोल लेता है उसी तरह वह कपड़ा न होने पर कपास ही मोल ले और अपने कपड़े की तैयारी में मदद दे। पर बात इतनी ही नहीं है। कातनेवाले को कपास के काम में किफायत भी सिखाने की बड़ी ज़रूरत है जिसमें वह जितनी कुछ कपास रखता है सब को अच्छे से अच्छे काम में लगावे। ऐसे ही मौक़े पर यह भारी बात समझ में आती है कि जितने खद्दर के काम करनेवाले हैं सब को चरखे बनाने और बिगड़े हुए की मरम्मत करने की कला सीखे रहना चाहिये, उसके सामान को ठीक ठीक करने, रुई को उत्तम रीति से धुनने और बुनकारी का सारा काम अच्छी तरह से जानने की ज़रूरत है। खादी की उपज को दृढ़ नींव पर रखना तभी सम्भव है जब उसके काम करनेवाले इस तरह से सीखे हुए अच्छे और होशियार हों। बड़े पैमाने पर की कताई के साथ साथ जो लोग अपने मन से अपने लिये कातते हैं उनकी भी हर तरह से सहायता होनी चाहिये। बहुत से लोग इस बात

आ सकती है जिसमें खद्दर का बनानेवाला और पहननेवाला एक ही था। न कोई बीच का व्यापारी था और न कपड़े की तैयारी के लिये कोई पूंजी इकट्ठी करने की ज़रूरत पड़ती थी। घर की कताई में जो किफायत है एक बार जहाँ समझ में आ गयी और मन में बस गयी तो फिर उसकी तरफ शौक हो जाता है और वह बराबर जारी रहती है। कातने की कला तो लोगों की सुस्ती से खो गयी। पर अब से ऐसा न होने पावे कि घर की कताई के लोगों को वही सुस्ती फिर अपनी आड़ में छिपा ले।

९. परिणाम

आज तक की सारी जानी हुई शक्तियों से संगठित एक नियामक संस्था बनाने की जरूरत है जो इस आन्दोलन की हर तरह पर सहायता करे, रुपया इकट्ठा करे, ऋण दे, जरूरत की घड़ी पर मदद करने की विधि निकाले, प्रतिज्ञा-पत्र लिखने के नियम बनावे, व्यवसाय की स्थिति की पूरी जाँच करे और अंक रखे और उसकी जानकारी और दक्षता का ऐसे लोगों के द्वारा प्रचार करावे जो गाँवों की दशा खुद अच्छी तरह अपने अनुभव से जानते हैं। ऐसी संस्था को शायद पहले एक केन्द्र में विकासित करना पड़े लेकिन ज्यों ज्यों वह व्यवसाय फैले, त्यों त्यों धीरे धीरे एक के बाद दूसरा काम छोड़ता जाय यहाँ तक कि इस भारी संस्था की कोई ज़रूरत ही न रह जाय। आदर्श अवस्था तो खद्दर की तब ही होगी जब जगह जगह जहाँ जहाँ खद्दर खपता है वहीं बनने भी लगेगा। और इस तरह यह स्थानीय कारबार होने पर भी व्यापक कारबार हो जायगा और वह इस अर्थ में कि कातनेवाले और

ग्रेटब्रिटेन का वह बढ़िया ग्राहक नहीं रहेगा—जिसका बना रहना ग्रेटब्रिटेन चाहता है-बल्कि वह स्वावलम्बी और संतोषी देश होगा जहाँ का व्यवसाय और जहाँ की उपज संसार को फिर चकरा देगी और तब यह देश न तो ताकत के लिये तरसेगा और न धन बिना दुखी रहेगा। इसके पास औरों को लूटने के लिये लोभ न होगा। अपनी प्रभुता बढ़ाने के लिये दूसरों पर प्रभुत्व जमाने की अभिलाषा न होगी और जो इस देश का परम उद्देश्य है उस उद्देश्य को पाकर यह सतत् प्रयत्न और असीम साहस का उज्ज्वल उदाहरण होगा। एवमस्तु।



नीचे लिखी पुस्तकें छप गई हैं

(१) ब्रह्मचर्य-विज्ञान—मनुष्य-जाति की सुख-शान्ति का सच्चा साधन, वेदादि शास्त्रों का सार, दोनों लोकों की उन्नति तथा उद्धार का आधार ब्रह्मचर्य्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस पुस्तक में है। प्रत्येक स्त्री, पुरुष को इसे पढ़ना चाहिये। पृष्ठ ३७६ मूल्य केवल ।॥=)

(२) स्त्री और पुरुष—[महर्षि टाल्सटाय] पृष्ठ १५६। मूल्य ।=)

(३) तामिल वेद—[कुरल नामक तामील ग्रंथ का अनुवाद] इस ग्रंथ का वेद के बराबर उस प्रांत में आदर है। धर्म और अर्थ पर पूर्ण विवेचन है। पृष्ठ २४८ मूल्य ॥=)

यह पुस्तकें छप रही हैं

(१) आत्म चरित्र—[महात्मा गांधी लिखित] पृष्ठ ४०० । मू. लगभग १)

(२) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह, दूसरा भाग—[लेखक महात्मा गांधी] पृष्ठ लगभग २५० मूल्य लगभग ॥-)

(३) यूरोप का इतिहास दो भाग—पृष्ठ लगभग ७०० मू. लगभग १।॥)

(४) भारत के स्त्री-रत्न—दूसरा भाग पृष्ठ लगभग ४०० मूल्य १)

(५) गोरों का प्रभुत्व—[लेखक बाबू रामचंद्र वर्म्मा] 'The rising tide of colour against white world supremacy' के आधार पर इस पुस्तक में यह दिखलाया गया है कि संसार के कितने बड़े अंश और आबादी पर गोरी जातियों ने किस छल बल से अधिकार जमा रखा है और उनके अत्याचारों से तंग आकर किस प्रकार लोग स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे हैं। पुस्तक में एक प्रकार से समस्त संसार की राजनैतिक समस्याओं का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। पृष्ठ संख्या लगभग २५० मूल्य ॥=)

(६) चीन की आवाज़—बहुत ही अनूठी पुस्तक—पृष्ठ लगभग १२०.

नोट—ये सब पुस्तकें सन् १९२७ के अंतिम मास में प्रकाशित हो जावेंगी

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर